योगवाशिष्ठ



श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा

द्वितीय भाग

(निर्वाण-प्रकरण-पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध)
श्रीमत्पटियाला नगर-नरेश की परम जिज्ञासु
भक्ता दोनों बहनों के इस अपार संसार
से उद्धरण हेतु कथा श्रवण प्रसंग से
साधु राम प्रसाद जी महाराज
निरंजनी जी-कृत

❖

❖

प्रकाशक
तेजकुमार-बुक डिपो (प्रा०) लिमिटेड, लखनऊ

उत्तराधिकारी
नवलकिशोर-बुक डिपो, लखनऊ

❖

श्रीमती स्मिता पटवर्धन,, प्रबन्ध संचालक
द्वारा प्रकाशित
1, त्रिलोकनाथ रोड, हजरतगंज, लखनऊ में मुद्रित।

बीसवीं बार
4000 प्रतियाँ

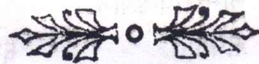
सन्-2011 ई०

मूल्य
द्वितीय भाग - 280 रूपये

योगवाशिष्ठ की अनुक्रमणिका।



द्वितीय भाग।

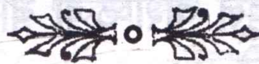


श्रीगणेशाय नमः

श्रीयोगवाशिष्ठ

द्वितीय भाग

निर्वाण प्रकरण प्रारम्भ



वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज ! उपशम प्रकरण के अनन्तर अब तुम निर्वाण प्रकरण सुनो, जिसके जानने से तुमको निर्वाणपद प्राप्त होगा। मुनिनायक ने रामजी से बड़े उत्तम वचन कहे और रामजी ने सब ओर से मन खींचकर मुनीश्वर के वाक्यों में लगाया। राजा लोग भी निस्पन्द हो गये, मानों कागज पर चित्र लिखे हैं—और वशिष्ठजी के वचनों को विचारने लगे। राजकुमार भी विचारते, गर्दन हिलाते और अपने सिर पर हाथ फेरते विस्मय-मग्न हो गये। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता के साथ ही आश्चर्य भी हुआ कि जिस जगत् को सत्य जानकर वे तल्लीन हो रहे थे वह है ही नहीं। तब दिन का चतुर्थ भाग रह गया और सूर्य अस्त हुए—मानों वशिष्ठजी के वचन सुनकर सूर्य भी कृतार्थ हुए। उनका ताप घट गया और शीतलता प्राप्त हुई। स्वर्ग से जो सिद्ध और देवता आये थे, उनके गले में मन्दार आदि वृक्षों के फूलों की मालाएँ थीं। उनसे पवन के द्वारा सब स्थान सुगन्धित हो गये। भँवरे फूलों पर गुञ्जार करने लगे। झरोखों के मार्ग से सूर्य की किरणें जो आती थीं, उनसे सूर्यमुखी कमल, जो राजा और देवताओं के सीस पर थे, वैसे ही सूख गये, जैसे मन से जगत् की सत्ता निवृत्त हो जाती है और वृत्ति सकुचती जाती है। सभा में जो बालक और पिञ्जरों में जो पक्षी बैठे थे, उनके भोजन का समय हुआ। बालकों को भोजन कराने के निमित्त माताएँ उठी। जब चौथे पहर

राजद्वार पर नौबत, नगाड़े, भेरी, शहनाई आदि बाजे बजने लगे और वशिष्ठजी, जो बड़े ऊँचे स्वर से कथा कहते थे, उनका शब्द नगाड़े और बाजों से दब गया, तब—जैसे वर्षाकाल का मेघ गरजता है और मोर बोलकर चुप हो जाते हैं, वैसे ही वशिष्ठजी चुप हो गये। ऐसा शब्द हुआ जो आकाश, पृथ्वी और सब दिशाओं में भर गया। पिञ्जरों में पक्षी पखों को फैलाकर भड़-भड़ शब्द करने लगे—जैसे भूकम्प में लोग काँपते और शब्द करते हैं। बालक माताओं के शरीर से लपट गये।

इसके अनन्तर मुनिशार्दूल वशिष्ठजी बोले कि हे निष्पाप, रघुनाथ ! मैंने तुम्हारे चित्तरूपी पक्षी को फँसाने के निमित्त अपना वाक्‌रूपी जाल फैलाया है, इससे अपने चित्त को वश में करके तुम आत्मपद में लगो। हे राम ! यह जो मैंने तुमको उपदेश दिया है, उसके सार में, दुर्बुद्धि को त्यागकर, चित्त लगाओ। जैसे हंस जल को त्यागकर दूध पान करता है, वैसे ही आदि से अन्त पर्यन्त सब उपदेश बारम्बार विचारकर सार को अङ्गीकार करो। इस प्रकार संसार-समुद्र से तरकर परमपद को प्राप्त होगे। अन्यथा नहीं। हे राम ! जो इन वचनों को अङ्गीकार करेगा, वह संसारसमुद्र तर जावेगा और जो अङ्गीकार न करेगा वह नीच गति को प्राप्त होगा। जैसे विन्ध्याचल पर्वत की खाई में हाथी गिरकर कष्ट पाता है वैसे ही वह संसार में कष्ट पावेगा। हे राम ! ये जो मेरे वचन हैं, इनको ग्रहण न करोगे तो वैसे ही नीचे गिरोगे जैसे पथिक हाथ से दीपक त्याग कर रात को गढ्ढे में गिरता है। जो असंग होकर व्यवहार में विचरोगे तो आत्मसिद्धि को प्राप्त होगे। यह जो मैंने तुमको तत्त्वज्ञान, मन का दमन और वासना का क्षय कहा है, इसके अभ्यास से सिद्धि को प्राप्त होगे। यह शास्त्र का सिद्धान्त है। हे सभासदो ! हे महाराजो, हे राम, लक्ष्मण और भूपति लोगो, जो कुछ मैंने तुमसे कहा है उसको तुम विचारो; जो कुछ और कहना है उसे मैं प्रातःकाल कहूँगा।

इतना कह वाल्मीकिजी बोले, हे साधो ! इस प्रकार जब मुनीश्वर ने कहा तब सब सभा उठ खड़ी हुई और वशिष्ठजी के वचनों को सुनकर

सब वैसे ही खिल उठे, जैसे सूर्य को पाकर कमल खिल उठता है। वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों एक साथ उठे। वशिष्ठजी विश्वामित्र को अपने आश्रम में ले गये। आकाशचारी देवता और सिद्ध वशिष्ठजी को नमस्कार करके अपने-अपने स्थानों को गये। राजा दशरथ अर्घ्य और पाद्य से वशिष्ठजी का पूजन करके अपने अन्तःपुर में गये। श्रोता लोग भी आज्ञा लेकर और वशिष्ठजी का पूजन करके अपने-अपने स्थान को गये। राजकुमार अपने मण्डल को गये, मुनीश्वर वन में गये और राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न वशिष्ठजी के आश्रम को गये। फिर पूजा करके अपने गृह में आये। सब श्रोता अपने-अपने स्थान में जाकर स्नानसन्ध्यादिक कर्म करने लगे। पितरों और देवताओं की पूजा और ब्राह्मणों से लेकर भृत्यपर्यन्त् सबको भोजन कराकर उन्होंने अपने-अपने मित्रों और भाइयों के साथ भोजन किया और यथाशक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म को साधा। सूर्य भगवान् अस्त हुए और दिन की क्रिया निवृत्त हो गई। रात्रि हुई और निशाचर विचरने लगे। तब भूचर, राजऋषि और राजपुत्र आदि जो श्रोता थे वे रात्रि को एकान्त में अपने-अपने आसन पर बैठकर विचारने लगे। राजकुमार और राजा अपने-अपने स्थान पर बैठे। ब्राह्मण, तपस्वी कुशासन आदि बिछाकर बैठे विचारते थे कि वशिष्ठजी ने संसार से उद्धार का क्या उपाय कहा है। वशिष्ठजी ने जो कहा था उसमें चित्त को एकाग्र कर और भले प्रकार विचार कर सब सो गये। जैसे सूर्य उदय होने पर कोकाबेली मुँद जाती हैं, वैसे ही वे सब निद्रित हुए। पर राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तीन पहर वशिष्ठजी के उपदेश को विचारते रहे और आधे पहर सोकर फिर उठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे दिवसरात्रिव्यापारवर्णनं नाम प्रथमस्सर्गः ।। १ ।।

वाल्मीकिजी बोले, हे साधो ! इस प्रकार सब रात व्यतीत हुई और तम का नाश हुआ तब राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि स्नान और सन्ध्या आदि कर्म करके वशिष्ठजी के आश्रम में उपस्थित हुए। वशिष्ठजी भी

संध्यादिक करके अग्निहोत्र करने लगे। जब वह नित्यकर्म कर चुके तब राम आदि ने उनकी अर्घ्य पाद्य से पूजा की और चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। जब रामजी गये थे, तब वशिष्ठजी के पास कोई न था; पर एक घड़ी में अनेक सहस्त्र प्राणी आ गये। वशिष्ठजी राम आदि को साथ लेकर राजा दशरथ के भवन में आये। तब राजा दशरथ उनके स्वागत और अगवानी को आगे आये। उन्होंने वशिष्ठजी का आदर व पूजन किया। दूसरे लोगों ने भी बहुत पूजन किया। निदान नभचर और भूचर जितने श्रोता थे, वे सब आये और नमस्कार करके निस्पन्द और एकाग्र होकर बैठे। जैसे वायु के न चलने पर कमलों की पंक्ति अचल होती है वैसे ही निश्चल होकर वे सब बैठे। भाटजन जो स्तुति करने वाले थे वे भी एक ओर बैठे। सूर्य की किरणें झरोखों के मार्ग से आईं-मानों किरनें भी वशिष्ठजी के वचन सुनने को आईं हैं। तब वशिष्ठजी की ओर रामजी ने वैसे ही देखा, जैसे स्वामिकार्त्तिक शंकर की ओर, कच बृहस्पति की ओर और प्रहलाद शुक्र की ओर देखें। जैसे भ्रमर भ्रमता-भ्रमता आकाशमार्ग से कमल पर आ बैठता है वैसे ही रामजी की दृष्टि औरों को देखते-देखते वशिष्ठजी पर आकर टिक गई।

तब वशिष्ठजी ने रामजी की ओर देखा और बोले, हे रघुनन्दन ! मैंने जो तुमको उपदेश किया है, वह तुमको कुछ स्मरण है ? वे वचन परमार्थबोध के कारण, आनन्दरूप और महा गम्भीर हैं। अब और भी बोध देने वाले और अज्ञानरूपी शत्रु के नाशक वचनों को सुनो। निरन्तर आत्मसिद्धान्त शास्त्र मैं तुमसे कहता हूँ। हे रामजी ! जीव वैराग्य और तत्त्व के विचार से संसारसमुद्र को तरता है। सम्यक्तत्त्व के बोध से जब दुर्बोध निवृत्त हो जाता है, तब वासना का आवेश नष्ट हो जाता है और परमानन्द पद प्राप्त होता है। वह पद देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है। वही एकमात्र ब्रह्म जगत्रूप होकर स्थित है और भ्रम से द्वैत की भाँति प्रतीत होता है। वह सब भावों से अविच्छिन्न सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म है, इस प्रकार महत् स्वरूप जानकर शान्ति पाओ। हे राम ! केवल

ब्रह्मतत्त्व अपने आप में स्थित है। न कुछ चित्त है, न अविद्या है, न मन है, न जीव है। यह सब कलना ब्रह्म में भ्रम से फुरती है। जो स्पन्द फुरना दृश्य और चित्त है सो कलनारूप संभ्रम है। केवल ब्रह्म में कोई पदार्थ नहीं। हे राम ! स्वर्ग, पाताल और भूमि में सदाशिव से तृण पर्यन्त जो कुछ दृश्य है वह सब परब्रह्म है—चिद्रूप से अन्य नहीं। उदासीन और मित्र बांधव से लेकर सब कुछ ब्रह्म ही है। जब तक अज्ञान कलना से जगत् में बुद्धि स्थित है और ब्रह्मभाव में नानात्व है, तभी तक चित्तादि की कलना होती है। जब तक देह में अहंभाव है और अनात्मदृश्य में ममत्व है तभी तक चित्त आदि का भ्रम होता है और जब तक सन्त जन और सत्-शास्त्रों के उपदेश से ऊँचे पद को जीव नहीं पाता और मूर्खता क्षीण नहीं होती तभी तक चित्त आदि का भ्रम होता है।

हे राम ! जब तक देहाभिमान शिथिल नहीं होता, संसार की भावना नहीं मिटती और सम्यक्ज्ञान द्वारा स्थिति नहीं प्राप्त होती, जब तक चित्र आदिक प्रकट हैं, तभी तक जीव अज्ञान से अन्धा होकर विषयों की आशा के आवेश से मूर्च्छित रहता है और मोह मूर्च्छा से नहीं उठ पाता, तभी तक चित्त आदि की कलना होती है। हे राम ! जब तक आशारूपी विष की गन्ध हृदयरूपी वन में होती है तब तक विचाररूपी चकोर नहीं प्राप्त होता और भोगवासना नहीं मिटती। जब भोगों की आशा मिट जाती है और सत्य शीतलता और सन्तोष हृदय में उत्पन्न होता है, तब चित्तरूपी भ्रम निवृत्त हो जाता है। जब जीव का मोह और तृष्णा निवृत्त होकर नित्य अभ्यास हो जाता है, तब चित्त शान्त भूमिका को प्राप्त होता है। हे राम ! जो पुरुष स्वरूप में स्थित होता है वह अपने को देह से भिन्न देखता है। उस सम्यक्दर्शी के चित्त की भूमिका सुनो। जब अनन्त चेतनतत्त्व की भावना होती है और जीव दृश्य को त्यागकर आत्मरूप को जान लेता है, तब वह सब जगत् को अपना अंग ही देखता है अर्थात् सर्वत्र अपना स्वरूप देखता है। ऐसे जो आत्मरूप देखता है, उसको जीवत्वादिक भ्रम कहाँ है ? जब अज्ञान भ्रम निवृत्त होता है तब परम अद्वैत पद उदय होता

है। जैसे रात्रि के क्षीण होने पर सूर्य उदय होता है वैसे ही मोह के निवृत्त होने पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है और जेब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब चित्त नष्ट हो जाता है। जैसा सूखा पत्ता अग्नि में जल जाता है वैसे ही ज्ञानवान् की चित्त उपाधि नष्ट हो जाती है।

हे राम ! जो जीवन्मुक्त महात्मा और परावरदर्शी पुरुष हैं, जिसको सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है। उसका चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है। वह चित्त सत्य कहाता है और उसमें वासना भी नहीं देख पड़ती। वह चैतन्य मन है और वह चित्त सत्यपद को प्राप्त हुआ होता है। यह जगत् ज्ञानवान् को लीलामात्र भासित होता है। वह हृदय से शान्तिरूप और नित्य तृप्त है। उसको सर्वदा आत्मज्योति भासित होती है। विवेक द्वारा उसके चित्त से जगत् की सत्ता निवृत्त हो गई है और उसने स्वरूप में स्थिति पाई है। यह चित्तसत्ता कहाती है। फिर वह कर्म-चेष्टा करता भी देख पड़ता है और मोह को नहीं प्राप्त होता। जैसे भुना बीज नहीं उगता, वैसे ही ज्ञानी की चेष्टा जन्म का कारण नहीं होती। पर जो अज्ञानी हैं उनकी वासना मोहसंयुक्त है। जैसे कच्चा बीज उगता है, वैसे ही अज्ञानी वासना से फिर-फिर जन्म लेता है। पर जिस चित्त की आसक्ति निवृत्त हो गई है उसकी वासना जन्म का कारण नहीं होती। वह चित्तसत्ता कहाती है। हे राम ! जिन पुरुषों ने पाने योग्य पद पाया है और ज्ञानाग्नि से चित्त दग्ध किया है वे फिर जन्म नहीं लेते। जो कुछ जगत् है, वही सब उनकी दृष्टि में ब्रह्मरूप है, जैसे वृक्ष और तरु नाममात्र को दो हैं पर वास्तव में एक ही हैं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् नाममात्र को दो हैं पर वास्तव में एक ही हैं। जैसे जल में तरंग और बुलबुले जलरूप हैं वैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है। चैतन्य आत्मारूपी मिरच में जगत्रूपी तीक्ष्णता है।

हे राम ! ऐसे ब्रह्म तुम हो। जो तुम कहो कि मैं चित्त नहीं, तो यह कुछ माना जाता है, क्योंकि जो तुम कहो कि मैं जड़ हूँ तो तुम आकाशवत् हुए। तुम में फिर कलना का उल्लेख कैसे हो ? जो चैतन्य हो तो शोक किसका करते हो और जो चिन्मय हो तो निरायास आदि अन्त से रहित

हुए। निदान सब तुम ही हो। अपने स्वरूप को स्मरण करो, तब शान्ति पाओगे। तुम सब भावों में स्थित हो और सबको उदय करने वाले शान्तरूप, चैतन्य ब्रह्मरूप हो। हे रामजी ! ऐसी जो चैतन्यरूपी शिला है उसके उदय में वासनारूपी फुरना कहाँ हो ? वह तो महाघनरूप है। हे राम ! जो तुम हो वही ब्रह्म है, उसमें और तुम में कुछ भेद नहीं। वही ब्रह्म सत् और असत्रूप होकर भासता है। उसके भीतर सब पदार्थ हैं, उसमें नानात्व और 'अहं' 'त्वं', 'अज्ञ', 'तज्ञ' की कुछ कलना नहीं। ऐसा जो सत्यरूप चिद्घन ब्रह्ममय आत्मा है, उसको नमस्कार है। हे राम ! तुम्हारी जय हो। तुम आदि और अन्त से रहित विशाल हो, शिला की तरह ठोस चिद्घनस्वरूप और आकाश की भाँति निर्मल हो। जैसे समुद्र में तरंगे हैं, वैसे ही तुम में जो जगत् है सो लीलामात्र है। तुम अपने घनस्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रामदृढ़ीकरणं
नाम द्वितीयस्सर्गः ।। २ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे निष्पाप राम ! जिस चैतन्यरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरंग उठते और लीन हो जाते हैं उस अनन्त आत्मभाव की भावना से मुक्त और भाव-अभाव से रहित तुम हो। ऐसा जो चिदात्म तुम्हारा स्वरूप है वही सब जगतरूप है; तब वासनादिक आवरण कहाँ है ? जीव और वासना सब आत्मा का किञ्चन है दूसरी वस्तु कुछ नहीं, तब और कथा और प्रसंग कैसे हो ? हे राम ! महासरल गम्भीर और प्रकाशरूप जो चैतन्य समुद्र है वह तुम्हारा रूप है और रामरूपी एक तरंग उठ आया है। सो समुद्र तुम हो। ऐसा जो आत्मतत्त्व है वह जगत्रूपी होकर व्यापारयुक्त भासित होता है। जैसे अग्नि से उष्णता, फूल से सुगन्ध, कज्जल से कालापन, बरफ से सफेदी, गुड़ से मधुरता और सूर्य से प्रकाश भिन्न नहीं, वैसे ही ब्रह्म से अनुभव भिन्न नहीं। वह नित्य रूप है। अनुभव से अहं भिन्न नहीं, अहं जीव से भिन्न नहीं, जीव से मन भिन्न नहीं, मन से इन्द्रियाँ भिन्न नहीं, इन्द्रियों से देह भिन्न नहीं और देह से

जगत् भिन्न नहीं। इस प्रकार महाचक्र जो प्रवृत्त हुआ है सो कुछ हुआ नहीं। न शीघ्र प्रवर्तन है न चिरकाल का प्रवर्ता है। न कोई न्यून है और न अधिक है। सर्वदा एक अखण्डसत्ता परमात्मतत्त्व है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। वही सत्ता वज्रभूत और वही पूर्ण होकर स्थित है। द्वैतकल्पना कुछ नहीं। ऐसे जो पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हैं, वह जीवन्मुक्त हैं। ऐसा जो ज्ञानवान् है वह मन, इन्द्रिय और शरीर की चेष्टा भी करता है, पर उसको कर्तव्य का लेप नहीं लगता।

हे राम ! ज्ञानवान् को न कुछ त्यागने योग्य रहता है और न ग्रहण करने योग्य। यह सब पदार्थों से निर्लिप्त रहता है। जब तक इसको ग्रहण और त्याग की बुद्धि होती है तब तक यह संसार के सुख-दुःख का भागी होता है। जिसके लिए हेय (त्यागने योग्य) और उपादेश (ग्रहण करने योग्य) कुछ नहीं रहता, वह सुख-दुख का भागी नहीं होता। हे राम ! जो कुछ जगत् है, वह एक अद्वैत आत्मतत्त्व है, अन्य कुछ नहीं। जैसे घट मठ की उपाधि से आकाश नाना प्रकार का और समुद्र तरंगों से अनेक रूप भासित होता है पर नानात्वभाव को नहीं प्राप्त होता, वैसे ही आत्मा में नाना प्रकार का जगत् भासता है और नानात्व को नहीं प्राप्त होता। तुम ऐसे स्वरूप को जानकर उसमें स्थित हो, बाहर से अपने वर्णाश्रम का व्यवहार करो, पर हृदय से पत्थर की नाईं हर्षशोक से रहित स्थित हो। संवित्मात्र आत्मा को जो अपना रूप देखता है वही सम्यक्दर्शी है, उसका अज्ञान और मोह नष्ट हो जाता है। जैसे नदी का वेग मूलसहित तट के वृक्ष को काटता है वैसे ही आत्मज्ञान मोहसहित अज्ञान को काटता है। मित्रता, वैर, हर्ष, शोक, राग, द्वेष आदिक जो विकार हैं वे चित्त में रहते हैं, उसका तो चित्त नष्ट हो जाता है।

हे राम ! ज्ञानी सोता भी देख पड़ता है, पर कदाचित् नहीं सोता। जिसका अनात्मा में अहंभाव निवृत्त हुआ है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह पुरुष चाहे इस लोक को मार डाले तो भी उसने किसी को नहीं

मारा और न उसे कर्मबन्धन होता है। हे राम ! जो वस्तु न हो और न भासित हो उसको मायामात्र जानिये। ज्ञान से वह नष्ट हो जायगी। जैसे तेल के बिना दीपक शान्त हो जाता है वैसे ही ज्ञान से वासना का क्षय हो जाता है और चित्त अचित्त हो जाता है। जिसके लिए सुख-दुःख का ग्रहण-त्याग नहीं, वह जीवनमुक्त आत्मस्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकप्रतिपादनं
नाम तृतीयस्सर्गः ।। ३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रिय आदिक जो दृश्य पदार्थ हैं, वे सब वही अचिन्त्य चिन्मात्र है और जीव भी उससे अभिन्न है। जैसे सुवर्ण और भूषण में कुछ भेद नहीं, वैसे ही चिन्मात्र और जीवादिक अभिन्न हैं। जब तक चित्त अज्ञान में होता है तब तक जगत् (जन्म-मरण) का कारण होता है; पर जब ज्ञान अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब चित्तादिक का अभाव हो जाता है। अध्यात्म-विद्या जो वेदान्तशास्त्र है उसके अभ्यास से अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे अग्नि के तेज से शीत का अभाव हो जाता है वैसे ही अध्यात्म-विद्या के विचार और अभ्यास से अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब तक अज्ञान का कारण तृष्णा उपशम को नहीं प्राप्त होती तभी तक अज्ञान है। जब तृष्णा नष्ट हो तब जानिये कि अज्ञान का अभाव हुआ। हे राम ! तृष्णारूपी विशूचिका रोग नष्ट करने का मन्त्र अध्यात्मशास्त्र ही है। उसके अभ्यास से तृष्णा क्षीण हो जाती है। जैसे शरत्काल में कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्म अभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है; और जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही विचार से मूर्खता नष्ट हो जाती है। जब चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है तब वासना-भ्रम क्षीण हो जाता है। जैसे तागे से मोती पिरोये होते हैं और तागे के टूटने से मोती भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने पर मन आदिक सब नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष अध्यात्मशास्त्र के अर्थ को नहीं धारण करते और न प्रीति ही करते हैं वे पापी कीटादिक नीचयोनि को प्राप्त होंगे।

हे कमलनयन ! तुममें जो कुछ मूर्खता और चञ्चलता थी, वह नष्ट हो गई है और जैसे पवन के ठहरने से जल अचल होता है, वैसे ही तुम स्थिर और भाव-अभाव से रहित परम आकाश के समान निर्मल पद को प्राप्त हुए हो। हे राम ! मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे वचनों से तुमको बोध हुआ है और विस्तृत अज्ञानरूपी निद्रा से तुम जागे हो। साधारण जीव भी मेरी वाणी से जग जाते हैं। फिर तुम तो अति उदार-बुद्धि हो। तुम्हारे जागने में क्या आश्चर्य है ? हे राम ! जब गुरु दृढ़ होता है और शिष्य भी शुद्धपात्र होता है, तब गुरु के वचन उसके हृदय में प्रवेश करते हैं। सो मैं गुरु भी समर्थ हूँ, मुझको अपना स्वरूप सदा प्रत्यक्ष है और सत्शास्त्र के अनुसार मैंने वचन कहे हैं। तुम्हारा हृदय भी शुद्ध है, उसमें वे प्रवेश कर गये हैं। जैसे तप्त पृथ्वी के खेत में जल प्रवेश कर जाता है, वैसे ही तुम्हारे हृदय में हमारे वचनों ने प्रवेश किया है। हे राघव ! हम महानुभाव रघुवंशकुल के बड़े गुरु के गुरु हैं; तुमको हमारे वचन ग्रहण करना आता है। अब खेद से रहित होकर अपने प्रकृत आचार को करो। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा। तब सूर्य अस्त होने लगे और सब सभा परस्पर नमस्कार करके अपने-अपने स्थान को गई। रात्रि व्यतीत होने पर सूर्य की किरणों के निकलते ही सब फिर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तभावाभाववर्णनं
नाम चतुर्थस्सर्गः ।। ४ ।।

राम जी बोले, हे मुनीश्वर ! मैं परम स्वस्थ होकर अपने स्वरूप में स्थित हूँ और आपके वचनों की भावना से जगज्जाल के रहते भी मुझको शान्ति मिल गई है। आत्मानन्द से मैं तृप्त हुआ हूँ—जैसे बड़ी वर्षा से पृथ्वी तृप्त होती है—और प्रसन्नता को पाकर स्थित हूँ। सब ओर से केवल आत्मरूप मुझको भासता है और नानात्व का अभाव हुआ है। जैसे कुहरे से रहित दिशा और आकाश निर्मल भासता है वैसे ही सम्यक्ज्ञान से मुझको शुद्ध आत्मा भासता है और मोह-निवृत्त हो गया है। मोहरूपी

जङ्गल में जो तृष्णारूपी मृग और राग-द्वेष आदिक धूल और कुहरा था सो सब निवृत्त हो गया है और ज्ञान-रूपी वर्षा से वह शान्त हो गया है। अब मैं आत्मानन्द को प्राप्त हुआ हूँ, जो आदि अन्त से रहित और अमृत है; बल्कि अमृत का स्वाद भी उसके आगे तुच्छ लगता है। ऐसे आनन्द से मैं अपने स्वभाव में प्राप्त हुआ हूँ। मैं राम अर्थात् सबमें रमनेवाला हूँ; मेरा मुझको नमस्कार है।

अब मैं सब सन्देह से रहित हूँ और सब संशय और विकार मेरे नष्ट हो गये हैं। जैसे प्रातःकाल होने से निशाचर और वैताल आदिक छिप जाते हैं, वैसे ही राग-द्वेषादिक विकारों का अभाव हुआ है और निर्मल विस्तीर्ण हिम की नाईं हृदयकमल में मैं स्थित हूँ। जैसे भँवरा फिरता-फिरता कमल में आकर टिकता है, वैसे ही मैं आत्मरूपी सार में स्थित हूँ। अविद्यारूपी कलंक आत्मा को कहाँ था ? मैं तो निश्चय से निर्मल हूँ। जैसे सूर्य के उदय होने पर तम का अभाव हो जाता है वैसे ही मेरा संशय और अविद्या नष्ट हुई है। अब मुझे सर्वत्र आत्मा भासता है और कलना कोई नहीं है। भावित आकार अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ। मैं पूर्व प्रकृति को देखकर हँसता हूँ कि क्या जानता था और क्या करता था। मैं तो नित्य शुद्ध, ज्यों का त्यों, आदि-अन्त से रहित हूँ। हे मुनीश्वर ! तुम्हारे वचनरूपी अमृत के समुद्र में मैंने स्नान किया है और उससे अजर अमर आनन्दपद को पाकर सूर्य से भी ऊँचे पद को प्राप्त हुआ हूँ। मैं वीतशोक होकर परम शुद्धता, समता, शीतलता और अद्वैत अनुभव को पा गया हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमस्सर्गः ।। ५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम श्रेष्ठ वचन सुनो; यह तुम्हारे हित की कामना से मैं कहता हूँ। अब तुम आत्मपद को प्राप्त हुए हो; परन्तु बोध की वृद्धि के निमित्त फिर सुनो। इसके सुनने से अल्पबुद्धि भी आनन्दपद को प्राप्त होता है। हे राम ! जिसको अनात्म में आत्माभिमान है और आत्मज्ञान नहीं हुआ, उसको इन्द्रियरूपी शत्रु दुःख

देते हैं; जैसे निर्बल पुरुष को चोर दुःख देते हैं। पर जो आत्मपद में स्थित हुआ है, उसको इन्द्रियाँ दुःख नहीं देतीं। जैसे दृढ़ राजा के शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानवान् के इन्द्रियगण मित्र होते हैं। जिन पुरुषों की देह में स्थिति-बुद्धि है और इन्द्रियों के विषय का सेवन करते हैं उनको बड़े दुःख प्राप्त होते हैं। हे राम ! आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कुछ नहीं है। जैसे तम और प्रकाश परस्पर विलक्षण स्वभाव हैं, वैसे ही आत्मा और देह का परस्पर विलक्षण स्वभाव है।

आत्मा सब विकारों से रहित, नित्यमुक्त, उदय-अस्त से रहित और सबसे निर्लिप्त है और सदा ज्यों का त्यों प्रकाशरूप भगवान् आत्मा सत्रूप है। उसका सम्बन्ध किससे हो ? देह जड़ और असत्य, अज्ञान-रूप, तुच्छ, विनाशी और अकृतज्ञ है। उसका उससे संयोग किसी भाँति हो ? आत्मा चैतन्य, ज्ञान, सत् और प्रकाशरूप है। उसका देह के साथ कैसे संयोग हो ? अज्ञान से देह और आत्मा का संयोग भासता है। सम्यक्ज्ञान से संयोग का अभाव जान पड़ता है। हे राम ! ये मैंने निपुण वचन कहे हैं; बारम्बार इनका अभ्यास करने से संसारकृत मोह का अभाव हो जायगा। जब संसार का कारण मोह निवृत्त हुआ, तब फिर उसका सद्भाव न होगा। जब तक जीव अज्ञानरूपी निद्रा से दृढ़ होकर नहीं जागता, तब तक आवरण रहता है। जैसे निद्रा से जागने पर फिर निद्रा घेर लेती है, पर जब दृढ़ होके जागे तब फिर नहीं घेरती, वैसे ही दृढ़ अभ्यास से अज्ञान निवृत्त होने पर फिर आवरण न करेगा। इससे मोह और दुःख की निवृत्ति के अर्थ दृढ़ अभ्यास करो।

हे राम ! आत्मा देह के गुण को अङ्गीकार नहीं करता। यदि देह के गुण अङ्गीकार करे तो आत्मा भी जड़ हो जाय। पर यह तो सदा ज्ञानरूप है और जो देह आत्मा का गुण परमार्थ से अङ्गीकार करे तो देह भी चेतन हो जाय। पर वह तो जड़रूप है। उसको अपना ज्ञान कुछ नहीं। जब यथार्थ ज्ञान होता है, तब शरीर तुच्छ और जड़ भासित होता है। हे राम ! देह और आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं। सम-वायसम्बन्ध भी नहीं।

फिर इससे मिलकर वृथा दुःख को ग्रहण करने से बढ़के और मूर्खता क्या है ? जब कुछ भी इसका समान लक्षण न हो, तब सम्बन्ध भी हो। पर जिसका कुछ भी समान लक्षण न हो, उसका सम्बन्ध कैसे हो ? आत्मा चैतन्य है, देह जड़ है, आत्मा सत्‌रूप है, देह असत्‌रूप है; आत्मा प्रकाशरूप है, देह तमरूप है; आत्मा निराकार है, देह साकार है; आत्मा सूक्ष्म है और देह स्थूल है। तो फिर आत्मा और देह का सम्बन्ध कैसे हो ? और जब इनका संयोग ही नहीं, तब दुःख किसको हो ? जैसे सूक्ष्म और स्थूल, दिन और रात्रि, ज्ञान और अज्ञान, धूप और छाया, सत् और असत् का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही आत्मा और देह का संयोग नहीं होता। देह के सुख-दुःख से आत्मा को सुखी या दुखी मानना मिथ्या भ्रम है। जरा-मरण, सुख-दुःख और भाव-अभाव आत्मा में रञ्चमात्र भी नहीं। यदि देह में अभिमान होता है तो जीव ऊँच-नीच जन्म पाता है। वास्तव में कुछ नहीं। केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और उसमें विकार कोई नहीं। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में होता है और जल के हिलने से प्रतिबिम्ब भी हिलता है, वैसे ही देह के सुख-दुःख से आत्मा में सुख-दुःखरूप विकार मूर्ख देखते हैं।

आत्मा सदा निर्लेप है। जब यथाभूत सम्यक् आत्मज्ञान हो तब देह में स्थित होकर भी वह भ्रम को न प्राप्त हो। हे राम ! जब यथाभूत ज्ञान होता है, तब सत् को सत् और असत् को असत् जानता है। जैसे दीपक हाथ में होता है, तब सत्-असत् पदार्थ भासते हैं, वैसे ही ज्ञान में मनुष्य सत् असत् यथार्थ जानता है, और वैसे ही अज्ञान से मोह में भ्रमता है। जैसे वायु से पत्र भ्रमता है, वैसे ही मोहरूपी वायु से अज्ञानी जीव भ्रमता है और कदाचित् स्वस्थ नहीं होता। जैसे यन्त्र की पुतली तागे से चेष्टा करती है, वैसे ही अज्ञानी जीव प्राणरूपी तागे से चेष्टा करते हैं। और जैसे नट अनेक स्वाँग भरता है वैसे ही कर्म से जीव अनेक शरीर रखता है। जैसे काठ की पुतली तृण, काष्ठ, फूल आदि को लेती, छोड़ती और नृत्य करती है, वैसे ही ये प्राणी भी चेष्टा करते हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

को ग्रहण करते हैं। जैसे वे पुतलियाँ जड़ हैं, वैसे ही ये भी जड़ हैं। यदि कहिये कि इनमें तो प्राण है तो जैसे लुहार की धौकनी श्वास को लेती और छोड़ती है, वैसे ही ये जीव भी चेष्टा करते हैं।

हे राम ! अपना वास्तव स्वरूप जो है सो ब्रह्म है। उसके प्रमाद से जीव मोह और कृपणता को प्राप्त होते हैं। जैसे लुहार की खाल वृथा श्वास लेती है, वैसे ही इनकी चेष्टा व्यर्थ है। इनकी चेष्टा और बोलना अनर्थ के निमित्त है। जैसे धनुष से जो बाण निकलता है, वह हिंसा के निमित्त है उससे और कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही अज्ञानी की चेष्टा और बोलना अनर्थ और दुःख के निमित्त है सुख के निमित्त नहीं और उसकी संगति भी कल्याण के निमित्त नहीं। जैसे जंगल के ठूँठ वृक्ष से छाया और फल की इच्छा करनी व्यर्थ है, उससे कुछ फल नहीं होता और न विश्राम के निमित्त छाया ही प्राप्त होती है; वैसे ही अज्ञानी जीव की संगति से सुख नहीं होता। उनको दान देना व्यर्थ है। जैसे कीचड़ में घृत डालना व्यर्थ होता है, वैसे ही मूर्खों को दिया दान व्यर्थ होता है। उनसे बोलना भी व्यर्थ है। जैसे यज्ञ में कुत्ते को बुलाना निष्फल है, वैसे ही उनसे बोलना निष्फल है। हे राम ! जो अज्ञानी जीव हैं, वे संसार में आते-जाते और जन्मते-मरते हैं और शरीर में आस्था करते हैं, वे पुत्र , दारा, बान्धव, धनादिक से ममत्व बुद्धि करते हैं। पर इस मिथ्यादृष्टि से वे दुःख पाते हैं और मुक्ति कदाचित् नहीं होती; क्योंकि वे अनात्मा में आत्मबुद्धि का त्याग नहीं करते और ममताबुद्धि में दृढ़ रहते हैं।

हे राम ! जो अज्ञानी हैं वे असत् पदार्थ को देखते हैं और वस्तुरूप की ओर से अन्धे हैं, इससे वे परमार्थ धन से विमुख रहते हैं। नरक का सार जो स्त्री आदि हैं, उनमें वे प्रीति करते हैं और उनको देखकर प्रसन्न होते हैं। जैसे मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होता है, वैसे ही स्त्री आदि को देखकर मूर्ख प्रसन्न होते हैं। हे राम ! मूर्ख को मारने के निमित्त स्त्री विष की बेलि है। नेत्र उसके फूल हैं, होंठ पत्ते हैं, स्तन गुच्छे हैं और अज्ञानरूपी भँवरे वहाँ विराजमान होते हैं और उसका नाश करते हैं।

मतिरूपी तालाब में हर्षरूपी कमल और चित्तरूपी भँवरे सदा रहते हैं और अज्ञानरूपी नदी में दुःखरूपी लहरें और तृष्णारूपी बुलबुले उठते हैं। यह नदी मरणरूपी बड़वाग्नि में जा पड़ेगी।

हे राम ! जब जन्म होता है, तब जीव महागर्भ अग्नि से जलता हुआ निकलता है और महामूर्ख अवस्था में निकलकर दुखी होता है। वह जब यौवन अवस्था को प्राप्त होता है तब विषयों का सेवन करता है। वे भी दुःख के कारण होते हैं। फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। तब शरीर अशक्त होता है और हृदय को तृष्णा जलाती है। इस प्रकार जन्म-मरण अवस्था में जीव भटकते हैं। हे राम ! संसाररूपी कूप में मोहरूपी घटों की माला है और तृष्णा और वासनारूपी रस्सी से बँधे हुए जीव भ्रमते हैं। ज्ञानवान् को संसार कोई दुःख नहीं देता, गोपद की नाईं तुच्छ हो जाता है। पर अज्ञानी को समुद्र की तरह उससे उबरना कठिन होता है। वह अपने भीतर ही भ्रम देखता है और निकल नहीं सकता-थोड़ा भी उसको बहुत हो जाता है। जैसे पक्षी को पिंजड़े में और कोल्हू के बैल को घर ही में मार्ग दुस्तर हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी को तुच्छ संसार बड़ा दुस्तर भासता है। हे राम ! जगत् को रमणीय जानकर जीव उसके जिन पदार्थों की इच्छा करता है, वे सब पञ्चभौतिक पदार्थ हैं। पर वह मोह से उनको सुन्दर जानता है, उनमें प्रीति करता है और उन्हें स्थिर जानता है। वे सब अनर्थ के निमित्त होते हैं।

हे राम ! अज्ञानरूपी चन्द्रमा के उदय से भोगरूपी वृक्ष पुष्ट होते हैं। वे जन्मों की परम्परारूपी रस को पाते हैं, कर्मरूपी जल से सिंचते हैं और पुण्य और पापरूपी मञ्जरी उनमें होती है। अज्ञानरूपी चन्द्रमा का अमृतवासना है और आशारूपी चकोर उसको देखकर प्रसन्न होता है। आशारूपी कमलिनी पर अज्ञानरूपी भँवरा बैठकर प्रसन्न होता है, इसलिए सब जगत् अज्ञान के कारण रमणीय भासता है। हे राम ! जिस ज्ञान से यह जगत् स्थित है, उसका प्रवाह सुनो। जब अज्ञानरूपी चन्द्रमा पूर्ण होकर स्थित होता है तब कामनारूपी क्षीरसमुद्र उमड़ता है और उसमें

अनेक तरंगे उठती हैं। उसके रस से तृष्णारूपी मञ्जरी पुष्ट होती है और काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी चकोर उसको देखकर प्रसन्न होते हैं। देहाभिमानरूपी रात्रि के निवृत्त होने पर विवेकरूपी सूर्य का उदय होता है। तब अज्ञानरूपी चन्द्रमा का प्रकाश निवृत्त हो जाता है। हे राम ! अज्ञान से जीव भ्रमते हैं और उनकी चेष्टा उल्टी हो जाती है। जो तुच्छ और नीच दुःखरूप पदार्थ हैं, उसको देखकर वे उनको सुखदायक और रमणीय जानते हैं और स्त्री को देख प्रसन्न होते हैं।

कवीश्वर कहते हैं कि उसके कपोल कमल से, नेत्र भँवरे से, होठ हँसते हुए और भुजा बेलि की नाईं हैं। कञ्चन के कलश से स्तन हैं। उदर और वक्षःस्थल बहुत सुन्दर हैं। जंघाएँ केले के खंभे सी हैं। कवि जिस स्त्री की स्तुति करते हैं, वह रक्तमांस की पुतली है। कपोल भी रक्तमांस हैं। होठ भी रक्तमांस हैं। भुजा विष के वृक्ष की शाखा-सी हैं। स्तन भी रक्तमांस हैं और संपूर्ण शरीर भी रक्तमांस अस्थि से पूर्ण एक मूर्ति है। उसको जो रमणीय जानते हैं वे मूर्ख मोह से मोहित हुए हैं और अपने नाश की इच्छा करते हैं। जैसे सर्पिणी से जो कोई हित करेगा वह नष्ट होगा, वैसे ही इस स्त्री से प्रेम करने से नाश होगा। जैसे कदलीवन का महाबली हाथी काम से नीच गति पाता और संकट में पड़ता है और अंकुश सहकर अपमान को प्राप्त होता है। वह एक स्त्री की चाह से ही ऐसी गति को प्राप्त होता है। वैसे ही यह जीव स्त्री की इच्छा करके अनेक दुःख पाता है। जैसे दीपक को रमणीय जानकर पतंगा उस पर गिरता और नष्ट होता है, वैसे ही यह जीव स्त्री की इच्छा करता है और उसके संग से नाश को प्राप्त होता है। लक्ष्मी का आश्रय करके जो सुख की इच्छा करता है वह भी सुखी न होगा। जैसे पहाड़ दूर से देखने पर सुन्दर लगता है, वैसे ही यह भी देखने में सुन्दर लगती हैं। पर स्त्री का आश्रय करके जो सुख की इच्छा करे तो सुख न मिलेगा, अन्त में दुःख ही प्राप्त होगा। लक्ष्मी का भी यही हाल है। जब लक्ष्मी प्राप्त होती है, तब मनुष्य अनर्थ और पाप करने लगता है और दुःख का पात्र होता है। और जब वह जाती

है तब दुःख दे जाती है और वह उससे जलता रहता है। हे राम ! जगत् में सुख की इच्छा करना व्यर्थ है। जीव जब पहले जन्म लेता है, तब भी दुःख सहता है। फिर जन्म लेकर जब मूर्ख और नीच बाल अवस्था को प्राप्त होता है तब कुछ विचार नहीं होता। उसमें दुःख पाता है। और कुछ शक्ति नहीं होती, उससे भी दुःख पाता है। जब यौवन अवस्थारूपी रात्रि आती है तब उसमें काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी निशाचर विचरते हैं और तृष्णारूपी पिशाचिनी घेरती है; क्योंकि उस अवस्था में विवेकरूपी चन्द्रमा नहीं उदय होता। इससे अन्धकार में वे सब क्रीड़ा करते हैं।

हे राम ! यौवन अवस्थारूपी वर्षाकाल में बुद्धि आदि नदियाँ मलिनभाव को प्राप्त होती हैं। कामरूपी मेघ गर्जता है और तृष्णारूपी मोरनी उसको देख प्रसन्न होकर नृत्य करती है। फिर यौवन अवस्थारूपी चूहे को बुढ़ापारूपी बिल्ली खा लेती है और शरीर महाजर्जरीभूत हो निर्बल हो जाता है। तृष्णा बढ़ती जाती है और हृदय जलता है। निदान फिर मृत्युरूपी सिंह जरारूपी हिरणी को भक्षण कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य उपजता और मरता है और आशारूपी रस्सी से बँधा हुआ घड़ी के लटकन की तरह भटकता है। शान्ति कदापि नहीं पाता । हे राम ! यह ब्रह्माण्ड एक वृक्ष है। उसमें जीवरूपी पत्ते लगे हैं। वे कर्मरूपी वायु से हिलते हैं। उसमें अज्ञानरूपी जड़ता है। चित्तरूपी ऊँचा वृक्ष है, उस पर लोभादिक उलूक बैठते हैं। जगत्रूपी सरोवर में शरीररूपी कमल है; उस पर जीवरूपी भँवरे आ बैठते हैं और कालरूपी हाथी आकर उनको चट कर जाता है।

हे राम ! जनतारूपी जीर्ण पक्षी आशारूपी फंदे से बँधे हुए वासनारूपी पिंजड़े में पड़े हैं। वे रागद्वेषरूपी अग्नि में जल-भुनकर कालरूपी पुरुष के मुख में पड़े प्रवेश करते हैं। जनरूपी पक्षी उड़ते फिरते हैं। किसी दिन जब कालरूपी व्याध जाल फैलावेगा तब उनको फँसा लेगा। हे राम ! संसाररूपी तालाब में जीवरूपी मछलियाँ हैं, और कालरूपी बगुला उनको भोजन

करता है। कालरूपी कुम्हार जनरूपी मृत्तिका के बर्तन बनाता है और वे शीघ्र ही फूट जाते हैं। जीवरूपी नदी कर्मरूपी तरंगों को फैलाती है और कालरूपी बड़वाग्नि में जा पड़ती है। जगत्रूपी हाथी के मस्तक में जीवरूपी मोती हैं। उस हाथी को कालरूपी सिंह भोजन कर जाता है। वह कालरूपी भक्षक ऐसा है कि उसने ब्रह्मा को भी नहीं छोड़ा। इस तरह सबको खाकर भी वह तृप्त नहीं होता। जैसे घृत की आहुति से अग्नि तृप्त नहीं होती वैसे ही काल जीवों के भोजन से तृप्त नहीं होता। हे राम ! एक निमेष में अनेक जगत् उपजते हैं और निमेष में लीन हो जाते हैं। सबके अभाव में जो शेष रहता है वह रुद्र है। फिर वह भी निवृत्त होता है और सबके पीछे एक परमतत्त्व ब्रह्मसत्ता रहती है। हे राम ! जो कुछ जगत् है वह अज्ञान से भासता है जन्म, मरण, बाल अवस्था, यौवन और वृद्धादिक विकार अज्ञान से भासते हैं और अज्ञान के नष्ट होने पर सब नष्ट हो जाते हैं। जब तक आत्मविचार नहीं उपजता तब तक अज्ञान रहता है और जब आत्मविचार उपजता है तब अज्ञानरूपी रात्रि निवृत्त हो जाती है, केवल ब्रह्मपद भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अज्ञानमाहात्म्य वर्णनन्नाम षष्ठस्सर्गः ।। ६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह संसाररूपी यौवन चेतनरूपी पर्वत के श्रृंङ्ग पर स्थित है और अविद्यारूपी बेलि उसमें बढ़कर विकास को प्राप्त हुई है। सुख, दुःख, भाव, अभाव और अज्ञान उसके पत्र, फूल और फल हैं। जहाँ अविद्या सुखरूप होकर स्थित होती है वहाँ ऊँचे सुख का भोग कराती है और सत्य प्रतीत होती है, और जहाँ दुःखरूप होकर स्थित होती है वहाँ दुःखरूप भासती है। वे ही सुख व दुःख इसके फल हैं। दिन फूल हैं और रात्रि भँवरे हैं। जन्म अंकुर हैं और यह भोगरूपी रस से पूर्ण है। जब विचार का घुन अविद्यारूपी वृक्ष को खाने लगता है, तब नष्ट हो जाती है। जब तक विचाररूपी घुन नहीं लगा तब तक वह दिन-दिन बढ़ती और दृढ़ होती जाती है।

हे राम ! अविद्यारूपी बेलि का मूल संवित् का फुरना है। उससे यह फैली है। तारागण उसके फूल हैं, चन्द्रमा और सूर्य उसका प्रकाश और दुष्कृत कर्मरूपी नरकस्थान कंटक हैं। शुभ कर्मरूपी स्वर्ग उसके फूल हैं और सुख-दुखरूपी फल इसमें लगते हैं। जीव उसके पत्ते हैं जो कालरूपी वायु से हिलते और जीर्ण होकर गिर पड़ते हैं। पृथ्वी उसकी त्वचा है, पर्वत पीड़ हैं। उसमें मरणरूपी छिद्र, जन्मरूपी अंकुर और मोहरूपी कलियाँ हैं, जिनके महासुन्दर गोरे अंग हैं। उनसे जीव मोहित होते हैं—जैसे स्त्री को देखकर पुरुष मोहित होते हैं। यह सात समुद्रों के जल से सींची जाती है और उससे पुष्ट होती है। उस बेलि में एक विषधर सर्पिणी रहती है। जो कोई उसके निकट जाता है, उसको काटती है और वह मूर्च्छित हो गिर पड़ता है। संसाररूपी मूर्च्छा की देनेवाली तृष्णारूपी सर्पिणी है। वह बेलि अन्यथा नष्ट नहीं होती; जब विचाररूपी घुन उसको लगे तो नष्ट हो जाती है। हे राम ! जो कुछ प्रपञ्च तुमको भासता है सो सब अविद्यारूप है, कहीं अविद्या जलरूप हुई है, कहीं पहाड़, कहीं नाग, कहीं देवता, कहीं दैत्य, कहीं पृथ्वी, कहीं चन्द्रमा, कहीं सूर्य, कहीं तारे, कहीं तम, कहीं प्रकाश, कहीं तेज, कहीं पाप, कहीं पुण्य, कहीं स्थावर, कहीं मूढ़रूप। कहीं अज्ञान से दीन और कहीं ज्ञान से आप ही क्षीण हो जाती है। कहीं तप-दान आदि से क्षीण होती है, कहीं पापादि से बढ़ती है, कहीं सूर्यरूप होकर प्रकाश करती है, कहीं स्थानरूप होती है, कहीं नरक में लीन है, कहीं स्वर्गनिवासी है, कहीं देवता होती है, कहीं क्रिमि होती है, कहीं विष्णुरूप होकर स्थित हुई है, कहीं ब्रह्मा होकर स्थित है, कहीं रुद्र है, कहीं अग्निरूप है, कहीं पृथ्वीरूप हुई है और कहीं आकाश व कहीं भूत, भविष्यत् और वर्तमान हुई है। हे राम ! जो कुछ देखने में आता है वह सब महिमा इसी की है। ईश्वर से तृणपर्यन्त सब अविद्यारूप है। जो इस दृश्यजाल से अतीत है, उसको आत्मलाभ जानो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यालता-
वर्णनन्नाम सप्तमस्सर्गः ॥ ७ ॥

राम ने पूछा, हे ब्रह्मन् ! विष्णु और हर आदिक तो शुद्ध आकार आकाश जाति हैं, इनको अविद्या तुम कहते हो ! यह सुनकर मुझको संशय उत्पन्न हुआ है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम यह सुनो कि अविद्या और तत्त्व किसको कहते हैं। जो अविद्यमान हो और विद्यमान भासे वह अविद्या है और जो सदा विद्यमान है उसको तत्त्व कहते हैं। हे राम ! शुद्ध संवित् और कलना से रहित जो चिन्मात्र आत्मसत्ता है वही तत्त्व है। उसमें जो अहं उल्लेख से संवेदनकलना पूर्णरूप से फुरी है वही चिन्मात्र संवित् का आभास है। वही संवेदन फुरकर स्थानभेद से सूक्ष्म, स्थूल और मध्यमभाव को प्राप्त हुआ है और फिर वही दृढ़ स्पन्द से मनन भाव को प्राप्त हुआ है। सात्त्विक, राजस और तामस तीनों उसी के आकार हैं। वह अविद्या त्रिगुण प्राकृतधर्मिणी हुई है। और तीन गुण जो तुमसे कहे हैं, वे भी एक एक गुण तीन तीन प्रकार के हैं, जिससे अविद्या के गुण नव प्रकार के भेद को प्राप्त हुए हैं। जो कुछ तुमको दृश्य भासता है, वह अविद्या के नव गुणों में है। ऋषीश्वर, मुनीश्वर सिद्ध, नाग, विद्याधर और देवता अविद्या के सात्त्विकभाग हैं और उस सात्त्विक के विभाग में नाग सात्त्विक-तामस हैं, विद्याधर, सिद्ध, देवता और मुनीश्वर, अविद्या के सात्त्विक भाग में सात्त्विक-राजस हैं और हरिहरादिक केवल सात्त्विक हैं।

हे रामजी ! सात्त्विक जो प्रकृतभाग है उसमें जो तत्त्वज्ञ हुए हैं वे मोह को नहीं प्राप्त होते, क्योंकि वे मुक्तिरूप होते हैं। हरिहरादिक शुद्ध सात्त्विक हैं और सदा मुक्तिरूप होकर जगत् में स्थित हैं। वे जब तक जगत् में हैं, तब तक जीवन्मुक्त हैं और जब देहमुक्त हुए, तब परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। हे राम ! अविद्या के दो रूप हैं। एक अविद्या विद्यारूप होती है—जैसे बीज फल होता है और फल बीज होता है। जैसे जल से बुलबुला उठता है वैसे ही अविद्या से विद्या उपजती है। और विद्या से अविद्या लीन होती है। जैसे काष्ठ से अग्नि उपजकर काष्ठ को जलाती है, वैसे ही विद्या अविद्या से उपजकर अविद्या का नाश करती है। वास्तव में सब चिदाकाश है। जैसे जल में तरंग कलनामात्र है, वैसे ही विद्या

अविद्या की भावनामात्र है। इसको त्याग कर शेष आत्मसत्ता ही रहती है।

अविद्या और विद्या आपस में प्रतियोगी हैं—जैसे तम और प्रकाश। इससे इन दोनों को त्यागकर आत्मसत्ता में स्थित हो। विद्या और अविद्या कल्पनामात्र हैं। विद्या के अभाव का नाम अविद्या है और अविद्या के अभाव का नाम विद्या है। यह प्रतियोगी कल्पना मिथ्या है। जब विद्या उपजती है, तब अविद्या को नष्ट करती है और फिर आप भी लीन हो जाती है—जैसे काष्ठ से उपजी अग्नि काष्ठ को जलाकर आप भी शान्त हो जाती है। उससे जो शेष रहता है, वह अनिर्वचनीय पद सर्वव्यापी है। जैसे वटबीज में पत्र, शाखा, फूल, फल और पत्ते होते हैं, वैसे ही सबमें एक अनुस्यूत सत्ता व्याप्त है। वही ब्रह्मतत्त्व सर्वशक्तिमान है। उसी से सब शक्तियों का स्पन्दन है। वह आकाश से भी शून्य है। जैसे सूर्यकान्तमणि में अग्नि होती है और दूध में घृत है, वैसे ही सब जगत् में ब्रह्म व्याप्त हो रहा है। जैसे दधि के मथे बिना घृत नहीं निकलता, वैसे ही विचार बिना आत्मा नहीं भासता। जैसे अग्नि से चिनगारी और सूर्य से किरणें निकलती हैं, वैसे ही यह जगत् आत्मा का किंचनरूप है। जैसे घट का नाश होने पर भी घटाकाश अविनाशी है, वैसे ही जगत् के अभाव में भी आत्मा अविनाशी है।

हे राम ! जैसे चुम्बक पत्थर की सत्ता से जड़ लोहा चेष्टा करता है परन्तु चुम्बक सदा अकर्ता ही रहता है, वैसे ही आत्मा की सत्ता से जगत् देहादिक चेष्टा करते हैं और चेतन होते हैं, परन्तु आत्मा सदा अकर्ता है। इस जगत् का बीज चैतन्य आत्मसत्ता है और उसमें संवित्, संवेदन आदि शब्द भी कल्पनामात्र हैं, जैसे जल को कहते हैं कि बहुत सुन्दर और चञ्चल है और जल ही जल है, वैसे ही संवेदन आदि सब चैतन्यरूप हैं। जहाँ न किञ्चन है, न अकिञ्चन है, वही तुम्हारा स्वरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यानिराकरणं नामष्टमस्सर्गः ।। ८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! स्थावर-जंगम जो कुछ जगत् तुमको भासता है, वह आधिभौतिकता को नहीं प्राप्त हुआ। वह सब चिदाकाशरूप है। उसमें कुछ भाव-अभाव की कल्पना नहीं और जीवादिक भेद भी नहीं। हमको तो भेदकल्पना कुछ नहीं भासती। जैसे रस्सी में सर्प का अभाव है, वैसे ही ब्रह्म में भेदकल्पना का अभाव है। हे राम ! आत्मा के अज्ञान से भेदकल्पना भासती है और आत्मा के जाने से भेदकल्पना मिट जाती है। वही सर्वसंपदा का अन्त है। शुद्ध चैतन्य में चित्त का सम्बन्ध होने का नाम अविद्या है। जो पुरुष चित्त की उपाधि से रहित चिन्मात्र है, वह शरीर का नाश होने पर नष्ट नहीं होता और शरीर के उपजे से नहीं उपजता। शरीर के उपजने और नष्ट होने में वह सदा एकरस ज्यों का त्यों स्थित है। जैसे घट के उपजने और मिटने में घटाकार ज्यों का त्यों रहता है वैसे ही शरीर के भाव-अभाव में आत्मा ज्यों का त्यों है। जैसे बालक दौड़ता है तो उसको सूर्य भी दौड़ता जान पड़ता है और स्थित होने में स्थित लगता है, परन्तु सूर्य ज्यों का त्यों है, वैसे ही चित्त की चंचलता से मूर्ख जन आत्मा को व्याकुल देखते हैं, चित्त की अचलता में अचल देखते हैं और चित्त के उपजने में उपजता देखते हैं, परन्तु आत्मा सदा ज्यों का त्यों है। जैसे मकड़ी अपने जाले से आप ही घिरती है और निकल नहीं सकती, वैसे ही जीव अपनी वासना से ही बँधते हैं।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! अत्यन्त मूर्खता के अधिष्ठान जो स्थावर आदिक हैं उनकी वासना कैसी होती है, सो कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो स्थावर जीव हैं, वे अमनसत्ता को नहीं प्राप्त हुए। वे केवल मन अवस्था में भी प्रतिष्ठित नहीं, पर मध्य अवस्था में हैं। उनकी पुर्यष्टका सुषुप्तिरूप है। वह केवल दुःख का कारण है। उनका मन नहीं नष्ट हुआ, वे सुषुप्ति अवस्था में जड़रूप स्थित हैं। वे काल पाकर जागेंगे अभी उनकी सत्ता मूकजड़ होकर स्थित है। राम ने पूछा, हे देवताओं में श्रेष्ठ ! यदि उनकी सत्ता अद्वैतरूप होकर स्थावर शरीर में स्थित है तो मुक्त अवस्था उनके निकट है, यह सिद्ध हुआ। वशिष्ठजी

बोले हे राम ! मुक्ति कैसे निकट होती है ? मुक्ति तब होती है, जब बुद्धिपूर्वक वस्तु को विचारे और यथाभूत अर्थ देख पड़े। जब सत्ता समान का बोध हो तब केवल आत्मपद प्राप्त होता है। हे राम ! जब ज्यों का त्यों पदार्थ जानकर वासना को त्याग करे, तब सत्ता समान पद प्राप्त होता है।

प्रथम अध्यात्मशास्त्र को विचारे और उसमें जो सार है उसकी बारम्बार भावना करे, तब उससे जो प्राप्त हो वही सत्ता समान परब्रह्म कहाता है। स्थावर के भीतर वासना है; परन्तु बाहर नहीं दिखती; क्योंकि उनकी सुषुप्ति वासना है। जैसे बीज में अंकुर होता है और फिर उगता है, वैसे ही उनके जन्म होंगे और वासना जगेगी। उनके भीतर जगत् की सत्ता है, पर बाहर नजर नहीं आती। वे सुषुप्ति के समान जड़धर्मा हैं। वे अनन्त जन्मों में दुःख पावेंगे। हे राम ! स्थावर जो अब जड़धर्मी सुषुप्तिपद में स्थित हैं, वे बारम्बार जन्म पावेंगे। जैसे बीज में पत्र, टास, फूल और फल अवस्थित होते हैं और मृत्तिका में घट बनने की शक्ति है, वैसे ही स्थावर में वासना स्थित है। जिसमें वासनारूपी बीज है, वह सुषुप्तिरूप कहाता है और वह सिद्धता, जो मुक्ति है, उसे नहीं प्राप्त होती। जहाँ निर्जीव वासना है, व तुरीय पद है और वह सिद्धता को प्राप्त करती है।

हे राम ! जब चित्तशक्ति दृढ़ वासना से मिली होती है, तब स्थावर होती है और वह फिर जगती है। जैसे कोई कर्म करता हुआ सो जाता है तो सुषुप्ति से उठकर फिर वही कर्म करने लगता है, क्योंकि कर्मरूपी वासना उसके भीतर रहती है, वैसे ही स्थावर वासना से फिर जन्म पावेंगे। जब वह वासना हृदय से दग्ध हो, तब जन्म का कारण नहीं होती। आत्मसत्ता समानभाव से घट पट आदि सब पदार्थों में स्थित है। जैसे वर्षाकाल का एक ही मेघ नानारूप होकर स्थित होता है, वैसे एक ही आत्मसत्ता सब पदार्थों में स्थित है। सबमें आत्मा ही व्याप रहा है। ऐसी दृष्टि से जो रहित है, उसको विपर्यय उल्टी दृष्टि भ्रमदायक होती है। जब आत्मदृष्टि प्राप्त होती है, तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। हे राम !

असम्यक्दृष्टि को ही बुद्धिमान् लोग अविद्या कहते हैं। वह अविद्या जगत् का कारण है और उससे सब प्रपंच का पसारा होता है। जब उससे रहित अपना स्वरूप भासित हो, तब अविद्या नष्ट होती है। जैसे बरफ की कणिका धूप से नष्ट हो जाती है वैसे ही शुद्ध स्वरूप के अभ्यास से अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे स्वप्न से उठकर जीव जब अपना स्वरूप देखता है, तब फिर स्वप्न की ओर नहीं जाता वैसे ही शुद्ध स्वरूप के अभ्यास से सम्पूर्ण भ्रम निवृत्त हो जाते हैं।

हे राम ! जब जीव वस्तु को वस्तु जानता है, तब अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है। पर दीपक को हाथ में लेकर देखिये तो अन्धकार की कोई मूर्ति नजर नहीं आती, और जैसे उष्णता से घृत का पिंड गल जाता है, वैसे ही आत्मा के दर्शन होने पर अविद्या नहीं रहती। वास्तव में अविद्या कोई वस्तु नहीं। वह अविचार से सिद्ध है और विचार करने से लीन हो जाती है। जैसे प्रकाश से तम लीन हो जाता है, वैसे ही विचार से अविद्या लीन हो जाती है। अज्ञान से अविद्या की प्रतीति होती है। जब तक आत्मतत्त्व को नहीं देखता, तब तक अविद्या की प्रतीति होती है और जब आत्मा को देखता है, तब अविद्या का अभाव हो जाता है। प्रथम यह विचार करे कि रक्त, मांस और अस्थि का बना जो शरीर है, उसमें "मैं क्या वस्तु हूँ ? सत्य क्या है ? और असत्य क्या है ?" इस विचार से जिसका अभाव होता है, वह असत्य है और जिसका अभाव नहीं होता, वह सत्य है। फिर अन्वय व्यतिरेक से विचारे। कार्यकल्पित के होने पर भी हो और उसके अभाव में भी जो हो सो अन्वय सत्य है। देहादि के भाव में भी जो आत्मा का अधिष्ठान है और इनके अभाव में भी निरुपाधि सिद्ध है, वह सत्य है और देहादिक व्यतिरेक असत्य है।

ऐसे विचार कर आत्मतत्त्व का अभ्यास करे और असत् देहादिक से वैराग्य करे, तब निश्चय ही अविद्या लीन हो जाती है, क्योंकि वह वास्तव नहीं है, असत्‌रूप है। उसके नष्ट होने पर जो शेष रहे, वह

निष्किंचन है, सत्य है, ब्रह्म निरन्तर है। वह तत्त्ववस्तु ग्रहण करने योग्य है। हे राम ! ऐसे विचार करने से अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे ऊख का रस जब जिह्वा से लगता है, तब अवश्य स्वाद आता है, वैसे ही आत्मविचार से अविद्या अवश्य नष्ट हो जाती है। यदि वास्तव में कहिये तो अविद्या भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं, एक अखंड ब्रह्मतत्त्व है। जिससे घट, पट, रथ आदिक पदार्थ भिन्न-भिन्न भासते हैं, उसको अविद्या जानो और जिससे सबमें एक ब्रह्मभावना होती है उसको विद्या जानो। इस विद्या से अविद्या नष्ट हो जायगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्याचिकित्सावर्णनं नाम नवमस्सर्गः ।। ९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बोध के निमित्त मैं तुमसे बारम्बार सत्य का सार कहता हूँ। वह यही है कि भावना के अभ्यास बिना आत्मा का साक्षात्कार न होगा। यह जो अज्ञान अविद्या है, वह अनन्त जन्म से दृढ़ हुआ भीतर बाहर दिखाई देता है। आत्मा सब इन्द्रियों से अगोचर है। जब मन सहित षट् इन्द्रियों का अभाव हो, तब केवल शान्ति प्राप्त होती है। हे राम ! जो कुछ वृत्ति बहिर्मुख फुरती है, वह अविद्या है; क्योंकि वह वृत्ति प्रपंच को आत्मतत्त्व से भिन्न जानकर फुरती है और जो अन्तर्मुख आत्मा की ओर फुरती है, वह विद्या है। वही अविद्या का नाश करेगी। अविद्या के दो रूप हैं-एक प्रधान रूप और दूसरा निकृष्ट रूप। उस अविद्या से विद्या उपजकर अविद्या का नाश करती है और फिर आप भी नष्ट हो जाती है, जैसे बाँस से अग्नि उपजती और बाँस को जलाकर आप भी शान्त हो जाती है, वैसे ही जो अन्तर्मुख है, वह प्रधान रूप विद्या है और जो बहिर्मुख है, वह निकृष्ट रूप अविद्या है। इससे अविद्याभाव का नाश करे।

हे राम ! अभ्यास के बिना कुछ सिद्ध नहीं होता। जो कुछ किसी को प्राप्त होता है वह अभ्यासरूपी वृक्ष का ही फल है। चिरकाल अविद्या का दृढ़ अभ्यास होने से अविद्या दृढ़ हुई है। जब आत्मज्ञान के निमित्त यत्न करके दृढ़ अभ्यास करोगे, तब अविद्या नष्ट हो जायगी। हे राम !

हृदयरूपी वृक्ष में जो अविद्यारूपी विषबेलि फैल रही है उसको ज्ञानरूपी खङ्ग से काटो और जो कुछ अपना प्रकृत आचार है, उसको करो, तब तुमको दुःख कोई न होगा। जैसे जनक राजा ज्ञेय को ज्ञात होकर व्यवहार को करते थे, वैसे ही आत्मज्ञान का दृढ़ अभ्यास कर तुम भी विचरो। हे राम ! जैसा निश्चय पवन, विष्णु, सदाशिव, ब्रह्मा, बृहस्पति, चन्द्रमा, अग्नि, नारद, पुलह, पुलस्त्य, अङ्गिरा, भृगु, शुकदेव और ज्ञात-ज्ञेय ब्राह्मणों का है, वही तुमको भी प्राप्त हो।

राम ने पूछा, हे ब्राह्मण ! जिस निश्चय से बुद्धिमान् विशोक हुए हैं, वह मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे सम्पूर्ण ज्ञानवानों का निश्चय है और जैसे वे व्यवहार में सम रहे हैं, वह सुनो। विस्ताररूप जो कुछ जगज्जाल तुमको भासित होता है, वह निर्मल ब्रह्मसत्ता अपनी महिमा में स्थित है जैसे समुद्र में तरङ्ग स्थित होते हैं और नाना प्रकार के उत्पन्न होते हैं, वे एक जलरूप हैं, जल से भिन्न नहीं, वैसे ही जो ग्रहण करनेवाला है वह भी ब्रह्म है और जिसको भोजन करता है, वह भी ब्रह्म है। मित्र भी ब्रह्म है, शत्रु भी ब्रह्म है। ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। ज्ञानवान् को सदा यह निश्चय रहता है। ब्रह्म को ब्रह्म स्पर्श करता है, तब किसको स्पर्श किया ? हे रामजी ! जिनको सदा यही निश्चय रहता है, उनको रागद्वेष कुछ दुःख नहीं दे सकते। ब्रह्म ही ब्रह्म में फुरता है, भावरूप भी ब्रह्म है, अभावरूप भी ब्रह्म है, कुछ भिन्न नहीं, तब फिर रागद्वेष की कलना कैसे हो ? ब्रह्म ही ब्रह्म का चिन्तन करता है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म ही अहं अस्मि है, ब्रह्म ही सम है, ब्रह्म ही आत्मा है और घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, ब्रह्म ही से सारा जगत् विस्तार को प्राप्त हुआ है।

हे राम ! जब सर्वत्र ब्रह्म ही है, तब राम-विराग की कलना कैसे हो ? मृत्यु भी ब्रह्म है, शरीर भी ब्रह्म है; मरता भी ब्रह्म है और मारता भी ब्रह्म है। जैसे भ्रम से रस्सी में सर्प भासित होता है, वैसे ही आत्मा में सुख-दुःख मिथ्या है। भोग भी ब्रह्म है, भोगनेवाला भी ब्रह्म है और भोक्ता देह भी ब्रह्म है, निदान सर्वत्र ब्रह्म ही है। जैसे समुद्र में जो तरंग उपजते और मिट जाते

हैं, वे जल से भिन्न नहीं, वैसे ही शरीर उपजते और मिट जाते हैं, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। हे राम ! जल के तरंग जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो क्या हुआ, वे तो जल ही हैं, वैसे ही मृतक ब्रह्म ने जो मृतक देह ब्रह्म को मारा, तब कौन मुआ और किसने मारा ? जैसे एक तरंग जल से उपजा और दूसरे तरंग से मिल दोनों इकट्ठे होकर मिट गये सो सब जल ही जल है—वहाँ मैं, तू इत्यादि दूसरा कुछ नहीं—वैसे ही आत्मा में जो जगत् है तो आत्मा ही अपने आपमें स्थित है, तेरा, मेरा भिन्न कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण में भूषण और जल में तरंग अभिन्नरूप है, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं।

हे राम ! जो पुरुष यथार्थदर्शी है, उसको सदा यही निश्चय रहता है। और जिनको सम्यक्ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, उनको विपर्ययरूप, और का और, भासित होता है पर वास्तव में ब्रह्म सदा एक रूप है; ज्ञान और अज्ञान का भेद है। जैसे रस्सी एक होती है; परन्तु जिसको सम्यक्ज्ञान होता है उसको रस्सी प्रतीति होती है और जिसको सम्यक्ज्ञान नहीं होता, उसको सर्प जान पड़ती है, वैसे ही जो ज्ञानवान् पुरुष है, उसको सब ब्रह्मसत्ता ही भासती है, और जो अज्ञानी है, उसको जगत् नानारूप भासित होता है और दुःखदायक होता है, पर ज्ञानवान् को सुखरूप है। जैसे अन्धे को सब ओर अन्धकार और नेत्रवान् को प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही सब जगत् आत्मरूप होने पर भी ज्ञानी को आत्मसत्ता सुखरूप भासती है और अज्ञानी को दुःखदायक है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में बैतालबुद्धि होती है और उससे वह भय पाता है, पर बुद्धिमान् निर्भय होता है, वैसे ही अज्ञानी को यह जगत् दुःखदायक और ज्ञानी को सुखरूप है। यदि मेरा निश्चय पूछो तो यों है कि मैं सर्वमय ब्रह्म, नित्य, शुद्ध, सर्वव्यापी हूँ। न कोई मरता है, न उपजता है। जैसे जल में तरंग न उपजते हैं और न मिटते हैं, सब जल ही जल है, वैसे ही पंचभूत भी आत्मा में है और जगत् भी आत्मरूप है। आत्मब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। शरीर का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। मृतकरूप भी ब्रह्म है, शरीर भी ब्रह्म है। ब्रह्म ही अनेकरूप होकर भासता है। ब्रह्म भिन्न

शरीर आदिक कुछ सिद्ध नहीं होते। जैसे तरंग, फेन और बुलबुले जलरूप हैं, वैसे ही देह, कलना, इन्द्रियाँ, इच्छा, देवतादिक, सब ब्रह्मरूप हैं। जैसे भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं होता-सुवर्ण ही भूषणरूप होता है-वैसे ही ब्रह्म से अलग जगत् नहीं होता, ब्रह्म ही जगत्‌रूप है। जो मूढ़ हैं उनको द्वैतकलना भासित होती है।

हे राम ! मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा और इन्द्रियाँ, सब ब्रह्म ही के नाम हैं। और सुख-दुःख कुछ नहीं। अहं आदि जो शब्द हैं, उनमें भिन्न-भिन्न भावना करना व्यर्थ है, अपना अनुभव ही अन्य की नाईं प्रतीत होता है-जैसे पहाड़ में शब्द करने से प्रतिध्वनि जो सुन पड़ती है, वह अपना ही शब्द है उसमें और की कल्पना मिथ्या है। जैसे स्वप्न में कोई अपना सिर कटा देखता है, वह व्यर्थ होने पर भी उस समय सत्य जान पड़ता है। जिसको असम्यक्ज्ञान होता है, उसको ऐसे ही भ्रम होता है। हे राम ! ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, उसमें जैसी भावना होती है, वही भासित होता है। जिसको सम्यक्ज्ञान होता है, वह उसे निरहंकार, सुप्रकाश और सर्वशक्तिमान् देखता है। कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान अपादान, अधिकरण, यह जो षट्कारक बुद्धि है सो सब सर्वत्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अर्पण, ब्रह्म ही हवि, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्म ही होत्र, ब्रह्म ही होमनेवाला और ब्रह्म ही फलदाता है। ऐसा जाननेवाले का नाम ज्ञानी है और ऐसा न जानना अज्ञान है। जाननेवाले का नाम ब्रह्मवेत्ता है। हे राम ! यदि चिरकाल का बान्धव हो और उसको देखिये तो जानिये कि बान्धव है और जो देखने में न आये और उसका अभ्यास दूर हो गया हो तो बान्धव भी अबान्धव की नाईं हो जाता है, वैसे ही अपने ब्रह्मस्वरूप को जानो। जब भावना होती है, तब ऐसा ही भासित होता है कि मैं ब्रह्म हूँ और द्वैत कल्पना लीन हो जाती है-सर्वत्र ब्रह्म ही भासता है। जैसे जिसने अमृत पान किया है, वह अमृतमय हो जाता है और जिसने नहीं पान किया, वह अमृतमय नहीं होता, वैसे ही जिसने जाना है कि मैं ब्रह्म हूँ, वह ब्रह्म ही होता है और जिसने नहीं जाना, उसको नानात्व-कल्पना-रूप जन्म-मरण

भासित होता है और ब्रह्म अप्राप्त सा प्रतीति होता है।

हे राम ! जिसको ब्रह्मभावना का अभ्यास है, वह अभ्यास के बल से शीघ्र ही ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्मरूपी बड़े दर्पण में जैसी कोई भावना करता है, वैसा ही रूप देख पड़ता है। मन भावनामात्र है। दुर्वासना से स्वरूप का आवरण हुआ है। जब वासना नष्ट होती है, तब निष्कलंक आत्मतत्त्व ही भासित होता है। जैसे शुद्ध वस्त्र पर केसर का रंग शीघ्र ही चढ़ जाता है, वैसे ही वासना से रहित चित्त में ब्रह्म का निश्चय होता है। हे राम ! आत्मा सब प्रकार की कलना से रहित है और तीनों काल में नित्य, शुद्ध, सम और शान्तरूप है। जिसको ज्ञान होता है, वह जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ और सर्वदा सबमें सब प्रकार सब घट पटादिक जो जगज्जाल है, उसमें मैं ही ब्रह्म आकाशवत् व्याप रहा हूँ। न कोई मुझको दुःख है, न कर्म है, न किसी का त्याग करता हूँ और न वाञ्छा करता हूँ और सर्वकलना से रहित निरामय हूँ। मैं ही रक्त, पीत, श्वेत और श्याम हूँ और रक्त, मांस, अस्थि का शरीर भी मैं ही हूँ। घट-पटादिक जगत् भी मैं ही हूँ और तृण, बेलि, फूल, गुच्छे, टास, वन, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, ग्रहण, त्याग, संकोच, भूत आदि शक्ति सब मैं ही हूँ। मैं ही विस्तार को प्राप्त हुआ हूँ, वृक्ष बेलि, फल, गुच्छे जिसके आश्रय से फुरते हैं, वह चिदात्मा मैं ही हूँ और सबमें रसरूप मैं ही हूँ। जिसमें यह सब है और जिससे यह सब है; जो सर्वरूप है और जिसके लिए सब है, ऐसा चिदात्मा ब्रह्म मैं ही हूँ। जिसके चैतन्य, आत्मा, ब्रह्म, सत्य, अमृत, ज्ञानरूप इत्यादिक नाम हैं, ऐसा सर्वशक्तिमान्, चिन्मात्र, चैत्य से रहित प्रकाशमात्र, निर्मल, सब भूतों का प्रकाशक और मन, बुद्धि, इन्द्रियों का स्वामी मैं हूँ। जो कुछ भेद कलना है, सो मन आदि ही की थी और अब इनकी कलना को त्यागकर मैं अपने प्रकाश में स्थित हूँ। शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध आदिक जो सब जगत् का कारण हैं, उन सबका चैतन्य आत्मरूप ब्रह्म, निरामय, अविनाशी, निरन्तर स्वच्छ आत्मा, प्रकाशरूप, मन के उत्थान से रहित, मौनरूप मैं ही हूँ और परम अमृत, निरन्तर सब भूतों में सत्तारूप से मैं

ही स्थित हूँ। सदा निर्लेप, साक्षी, सुषुप्ति की नाईं और द्वैतकला से रहित अक्षोभरूप अनुभव मैं ही हूँ। शान्तरूप जगत् में मैं ही फैल् रहा हूँ और सब वासना से रहित अक्षोभरूपी अनुभव मैं ही हूँ।

जिससे सब स्वादों का अनुभव होता है, वह चैतन्य ब्रह्म आत्मा मैं ही हूँ। जिसका चित्त स्त्री में आसक्त है, जिसको चन्द्रमा की कान्ति से अधिक मुदिता है और जिससे स्त्री का स्पर्श और मुदिता का अनुभव होता है, ऐसा चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ। सुख-दुःख की कलना से रहित मनहीन सत्ता और अनुभवरूप जो आत्मा है, वह चैतन्यरूप आत्मा ब्रह्म मैं ही हूँ। खजूर और नीम आदिक में स्वादरूप मैं ही हूँ। खेद और आनन्द, लाभ और हानि मुझको तुल्य है। मैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और साक्षी तुरीयरूप आदि, अन्त से रहित चैतन्य ब्रह्म निरामय हूँ। जैसे एक खेत की ऊखों में एक ही सा रस होता है, वैसे ही अनेक मूर्तियों में एक ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। वह सत्य, शुद्ध, सम शान्तरूप और सर्वज्ञ है। जो प्रकाशक और सूर्य की भाँति है, वह प्रकाशरूप ब्रह्म मैं ही हूँ और सब शरीरों में व्याप रहा हूँ। जैसे मोती की माला में तागा गुप्त होता है, जिसमें मोती पिरोये हैं, वैसे ही मोती-रूप शरीर में तन्तुरूप गुप्त मैं ही हूँ। जगत्रूपी दूध में ब्रह्मरूपी घृत मैं ही व्याप रहा हूँ।

हे राम ! जैसे सुवर्ण में जो नाना प्रकार के भूषण बनते हैं, सो सुवर्ण से भिन्न नहीं होते, वैसे ही सब पदार्थ आत्मा में स्थित हैं-आत्मा से भिन्न नहीं। पर्वत, समुद्र और नदियों में सत्तारूप आत्मा ही है। सब संकल्पों का फलदाता और सब पदार्थों का प्रकाशक आत्मा ही है। वही सब पाने योग्य पदार्थों की चरम सीमा है। उस आत्मा की उपासना हम करते हैं, जो घट, पट, तट और कन्ध में स्थित है। जाग्रत् में जो सुषुप्तिरूप स्थित है और जिसमें कोई फुरना नहीं, ऐसे चैतन्यरूप आत्मा की उपासना हम करते हैं। मधुर में जो मधुरता और तीक्ष्ण में तीक्ष्णता और जाग्रत् में चलना शक्ति है; उस चैतन्य आत्मा की हम उपासना करते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत में जो

समतत्त्व हैं, उसकी हम उपासना करते हैं। त्रिलोकी के देहरूपी मोतियों में जो तन्तु की नाईं अनुस्यूत् है और फैलने और सिकुड़ने का कारण है, उस चैतन्यरूप आत्मा की हम उपासना करते हैं। जो षोड़श कलासंयुक्त और षोड़श कला से रहित और अकिंचन तथा किंचनरूप है, उस चैतन्य आत्मा की हम उपासना करते हैं। चैतन्यरूप अमृत जो क्षीरसमुद्र से निकला है और चन्द्रमा के मण्डल में रहता है, ऐसा जो स्वतः सिद्ध अमृत है, जिसको पाकर कदापि मृत्यु नहीं होती, उस चैतन्य अमृत की हम उपासना करते हैं। जो अखण्ड प्रकाश है और सब भूतों को सुन्दर करता है, उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं, जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकटते हैं, और जो आप इससे रहित है, उस चैतन्य आत्मा की हम उपासना करते हैं। सब मैं हूँ और सब मैं नहीं, और भी कोई नहीं, इस प्रकार विदित वेद अपने अद्वैतरूप में विगतज्वर होकर स्थित होते हैं। यही निश्चय ज्ञानवानों का है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तनिश्चयोपदेशो नाम दशमस्सर्गः ।। १० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो निष्पाप पुरुष है, उसको यही निश्चय रहता है कि सत्यरूप आत्मतत्त्व है। यह पूर्ण बोधवान् का निश्चय है। उसको न किसी में राग होता है और न किसी में द्वेष। उसको जीना और मरना सुख-दुःख नहीं देते। वह एक समान रहता है। वह विष्णुनारायण का अंग है, अर्थात् अभिन्न और सदा अचल है। जैसे समुरु पर्वत वायु से चलायमान नहीं होता, वैसे ही वह दुःख से चलायमान नहीं होता। ऐसे जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे वन में विचरते हैं और नगर द्वीप आदिक नाना प्रकार के स्थानों में भी फिरते हैं; परन्तु दुःख नहीं पाते। कोई स्वर्ग में फूलों के वन और बगीचों में फिरते हैं, कोई पर्वत की कन्दराओं में रहते हैं, कोई राज्य करते हैं और शत्रुओं को मारकर शासन करते हैं। कितने ही श्रुति-स्मृति के अनुसार कर्म

करते हैं। कोई भोग भोगते हैं; कोई विरक्त होकर स्थित हैं। कोई दान, यज्ञादिक कर्म करते हैं। कोई स्त्रियों के साथ लीला करते, कहीं गीत सुनते और कहीं नन्दनवन में गन्धर्व गायन करते हैं। कोई गृह में स्थित हैं। कोई तीर्थ और यज्ञ करते हैं। कोई नौबत, नगाड़े और तुर्रही इत्यादिक बाजे सुनते और नाना प्रकार के स्थानों में रहते हैं, परन्तु आसक्त नहीं होते। जैसे सुमेरु पर्वत तालाब में नहीं डूबता, वैसे ही ज्ञानवान् किसी पदार्थ में लिप्त नहीं होते। वे इष्ट को पाकर हर्षित नहीं होते और अनिष्ट को पाकर दुःखी नहीं होते। वे आपदा और सम्पदा में तुल्य रहते हैं और प्रकृत आचार (कर्म) करते हैं, परन्तु उनका हृदय सब आरम्भों से रहित है।

हे राघव ! इसी दृष्टि का आश्रय करके तुम भी विचरो। यह दृष्टि सब पापों का नाश करती है। अहंकार से रहित होकर जो इच्छा हो सो करो। जब यथार्थदर्शी हुए, तब निर्बन्ध हुए, फिर जो कुछ प्रवाह से प्राप्त होगा, उसमें सुमेरु की नाईं तुम अटल रहोगे। हे राम ! यह सब जगत् चिन्मात्र है। न कुछ सत्य है, न असत्य है। वही इस प्रकार होकर भासता है। इस दृष्टि को आश्रम करके अन्य तुच्छ दृष्टि को त्यागो। हे राम ! असंसक्तबुद्धि होकर, सब भाव-अभाव में स्थित होकर, रागद्वेष से चलायमान न हो। अब सावधान हो।

राम बोले, हे भगवन् ! बड़े हर्ष की बात है। कि मैंने आपके प्रसाद से जानने योग्य पद जाना और प्रबुद्ध हुआ हूँ। जैसे सूर्य की किरणों से कमल प्रफुल्लित होते हैं, वैसे ही मैं प्रफुल्लित हुआ हूँ और जैसे शरत्काल में कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपके वचनों से मेरा संदेह और मानमोह-मद-मत्सर सब नष्ट हो गये हैं। मैं अब सब क्षोभ से रहित शान्त को प्राप्त हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तनिश्चयवर्णनं नामैकादशस्सर्गः ।। ११ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! सम्यक्ज्ञान के पश्चात् जीवन्मुक्त पद में किस प्रकार विश्राम पाते हैं, सो कहो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! संसार

तरने की युक्ति को योग कहते हैं। वह युक्ति दो प्रकार की है-एक सम्यक्ज्ञान और दूसरी प्राणायाम। फिर राम ने पूछा, हे भगवन् ! इन दोनों में सुगम कौन है, जिससे दुःख भी न हो और फिर क्षोभ भी न हो ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यद्यपि दोनों अर्थ योग शब्द के हैं, तथापि योग प्राणवायु के रोकने का ही नाम है। योग और ज्ञान, दोनों संसार से तरने के उपाय हैं। इन दोनों का फल एक ही सदाशिव ने कहा है। हे राम ! किसी को योग करना कठिन होता है और ज्ञान का निश्चय सुगम होता है, और किसी को ज्ञान का निश्चय कठिन होता है और योग करना सुगम है। यदि मुझसे पूछो तो दोनों में ज्ञान सुगम है; क्योंकि इसमें यत्न और कष्ट थोड़ा है। जानने योग्य पदार्थ के जाने से फिर सपने में भी भ्रम नहीं होता; क्योंकि वह साक्षीभूत होकर देखता है। जो बुद्धिमान योगीश्वर है, उनको भी कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, वे स्वाभाविक ही चले जाते हैं और गुरु की युक्ति समझकर उनका चित्त शान्त हो जाता है। हे राम ! दोनों की सिद्धि अभ्यासरूप यत्न से होती है। अभ्यास के बिना कुछ नहीं प्राप्त होता। वह ज्ञान तो मैंने तुमसे कहा है। जो हृदय में विराजमान ज्ञेय है, उसका जानना ही ज्ञान है। वह प्राण अपान के रथ पर आरूढ़ है और हृदयरूपी गुहा में स्थित है। हे राम ! उस योग का भी क्रम सुनो। वह भी परम सिद्धि के निमित्त है। प्राणवायु जो नासिका और मुख के मार्ग से आती जाती है, उसको रोकने का क्रम कहता हूँ। उससे चित्त का उपशम हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ज्ञानज्ञेयविचारो
नाम द्वादशस्सर्गः ।। १२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ब्रह्मरूपी आकाश के किसी अणु में यह जगत्रूपी स्पन्दन आभास फुरा है—जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणों में मृगतृष्णा का जल फुरा आता है। वह जगत् के कारणभाव को प्राप्त हुआ है, जो ब्रह्म के नाभिकमल से उत्पन्न हुआ है। वही पितामह कहाता

है। उसका मानस पुत्र श्रेष्ठ आचारी मैं वशिष्ठ हूँ। नक्षत्र और ताराचक्र में मेरा निवास है और युग-युग प्रति मैं वहाँ रहता हूँ। एक समय मैं नक्षत्रचक्र से उड़ा और इन्द्र की सभा में गया तो देखा कि वहाँ, ऋषीश्वर, मुनीश्वर बैठे थे। इतने में नारद आदिक चिरंजीवियों का जो प्रसंग चला तो शातातप नाम के एक बुद्धिमान ऋषीश्वर ने कहा कि हे साधो ! सबमें चिरंजीवी एक है। समेरु पर्वत के कोण में पद्मपराग नाम की कन्दरा के शिखर पर एक कल्पवृक्ष है। वह महासुन्दर और अपनी शोभा से पूर्ण है। उस वृक्ष की दक्षिण दिशा की डाल पर बहुत पक्षी रहते हैं। उन पक्षियों में एक महाश्रीमान् कौआ रहता है जिसका नाम भुशुण्डि है। वह वीतराग और बुद्धिमान् है। उसका आलय उस कल्पवृक्ष के टास पर बना हुआ है। जैसे ब्रह्मा नाभिकमल में रहते हैं, वैसे ही वह उस आलय में रहता है। जैसे वह जिया है वैसे न कोई जिया है और न जियेगा। उसकी बड़ी आयु है। वह महाबुद्धिमान्, विश्रान्तिमान्, शान्तरूप और काल का ज्ञाता है। हे साधो ! बहुत जीना भी उसी का फल है और पुण्यवान् भी वही है। उसको आत्मपद में विश्रान्ति हुई है और संसार की आस्था जाती रही है।

इस प्रकार जब उन देवताओं के देव ने कहा, तब सारी सभा में ऋषीश्वरों ने दूसरी बार पूछा कि उसका वृत्तान्त फिर कहो। तब उसने फिर वर्णन किया तो सब आश्चर्य को प्राप्त हुए। जब यह कथा-वार्त्ता हो चुकी, तब सब सभा उठ खड़ी हुई और सब अपने-अपने आश्रम को गये, पर मुझे आश्चर्य हुआ कि ऐसे पक्षी को किसी प्रकार देखना चाहिए। ऐसा विचार कर मैं सुमेरु पर्वत की कन्दरा की ओर चला और एक क्षण में वहाँ जा पहुँचा, तो क्या देखा कि महाप्रकाशरूप वह कन्दरा का शिखर रत्नमणियों से पूर्ण है और उसका गेरू की नाईं रंग हैं। जैसे अग्नि की ज्वाला होती है, वैसे ही उसका प्रकाश था, जैसे प्रलयकाल में अग्नि की ज्वाला जलती हो, बीच में नीलमणि धूम्र के समान था। ऐसा प्रकाश था, जैसे संध्या के लाल बादल इकट्ठे हुए हो; जैसे योगीश्वरों के ब्रह्मरन्ध्र से

अग्नि निकलकर इकट्ठी हुई हो या जैसे बड़वानल समुद्र से निकलकर मेघ को ग्रहण करने के निमित्त स्थित हुए हो। निदान उसकी महासुन्दर रचना थी। वृक्ष फल और रत्नमणि संयुक्त प्रकाशमान था। ऊपर गंगा का प्रवाह चला जाता था, जो यज्ञोपवीतरूप था। गन्धर्व गीत गाते थे, देवियों के रहने के स्थान बने थे और हर्ष उपजाने को महासुन्दर लीला के स्थान विधाता ने वहाँ रचे थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने सुमेरुशिखर-
लीलावर्णनं नाम त्रयोदशस्सर्गः ।। १३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ऐसे शिखर पर मैंने कल्पवृक्ष देखा। वह महासुन्दर फलों से पूर्ण था और रत्न और मणियों के गुच्छे और स्वर्ण की बेलें लगी हुई थीं। तारों से दूने फूल देख पड़ते थे। मेघ की बूँदों से दूने पत्ते नजर आते थे और सूर्य की किरणों से दुगने त्रिवर्ग भासते थे, जिनका बिजली की नाईं चमत्कार था। मैंने देखा, पत्तों पर देवता, किन्नर, विद्याधर और देवियाँ बैठी हैं और अप्सराएँ नृत्य और गान करती हैं-जैसे भँवरे गुञ्जार करते फिरते हों। हे राम ! रत्नों के गुच्छे और कलियाँ और मणि के फूल-फल-पत्ते बहुत घने देख पड़ते थे। सब स्थान फूल-फल-गुच्छों से पूर्ण थे और छहों ऋतुओं के फूल-फल वहाँ पाये जाते थे। उस वृक्ष की एक शाखा पर पक्षी बैठे कहीं फूल-फलादिक खाते थे, कहीं ब्रह्माजी के हंस बैठे थे, कहीं अग्नि के वाहन तोते, कहीं अश्विनीकुमार और भगवती के शिखावाले मोर, कहीं बगले, कहीं कबूतर और कहीं गरुड़ बैठे ऐसे शब्द करते थे, मानों ब्रह्मा कमल से उपजकर ॐकार का उच्चारण करते हों। कई ऐसे पक्षी देखे कि उनकी दो-दो चोंचे थीं।

फिर मैं आगे देखने को गया तो जहाँ उस वृक्ष की शाखा थी, वहाँ अनेक कौए बैठे देखे। जैसे महाप्रलय में मेघ लोकालोक पर्वत पर आ बैठते हैं, वैसे ही वहाँ अनेक कौए अचल बैठे थे, सो सोम, सूर्य, इन्द्र, वरुण और कुबेर के यज्ञ की रक्षा करनेवाले और पुण्यवान् स्त्रियों को प्रसन्नता

देनेवाले भर्ता के संदेश पहुँचानेवाले हैं। उनके मध्य में एक महा श्रीमान् और कान्तिमान् कौआ ऊँची ग्रीवा किये हुए बैठा था। जैसे नीलमणि चमकती है, वैसे ही उसकी ग्रीवा चमकती थी। पूर्ण मन और मानी अर्थात् मान करने योग्य, सुन्दर और प्राणवायु को जीतनेवाला, नित्य अन्तर्मुख और नित ही सुखी वह चिरंजीवी पुरुष वहाँ बैठा था, जिसने जगत् में दीर्घ आयु और जगत् की आगमापायी गति देखते-देखते बहुत कल्पों का स्मरण किया है, इन्द्र की कई परम्परा देखी हैं, और लोकपाल, वरुण, कुबेर, यमादिक के कई जन्म और देवताओं और सिद्धों के अनेक जन्म जिस पुरुष ने देखे हैं, जिसका अन्तःकरण प्रसन्न और गम्भीर है, जिसकी सुन्दर वाणी वक्रता से रहित हैं जो निर्मल और निरहंकार सबका सुहृद मित्र है, जो पिता समान हैं उनको पुत्र की नाईं है और जो पुत्र के समान हैं उनको उपदेश करने के निमित्त पिता और गुरु की नाईं समर्थ है, जो सर्वथा, सब प्रकार, सब समय, सबमें समर्थ और प्रसन्न, महामति, सहृदय; पुण्डरीक, व्यवहार का वेत्ता है। गम्भीर और शान्तरूप महाज्ञात-ज्ञेय उस पुरुष को मैंने देखा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डिदर्शनं नाम
चतुर्दशस्सर्गः ।। १४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसके अनन्तर मैं आकाशमार्ग से वहाँ आया और महातेजस्वी दीपकवत् प्रकाशमान मेरा शरीर था। जब मैं उतरा, तब जितने पक्षी वहाँ बैठे थे, वे सब जैसे वायु से कमल की पंक्ति और भूकम्प से समुद्र क्षोभ को प्राप्त होता है, वैसे ही क्षोभ को प्राप्त हुए। उनके मध्य में जो भुशुण्डि था, उसने मुझको यद्यपि अकस्मात् देखा तो भी जान गया कि यह वशिष्ठ है। वह खड़ा होकर बोला—हे मुनीश्वर ! स्वस्थ हो ? कुशल तो है ? हे राम ! ऐसे कहकर उसने संकल्प की हाथ की मुद्रा से मेरा अर्घ्यपाद्य कर भावसंयुक्त पूजन किया और नौकरों को दूर करके आप ही वृक्ष के बड़े पत्र ले और उनका आसन रचकर मुझको बैठाकर बोला—अहो आश्चर्य है ! हे भगवन् ! आपने बड़ी कृपा की, जो

दर्शन दिया। चिरपर्यन्त दर्शनरूपी अमृत से हम वृक्षसहित पूर्ण हो रहे हैं। हे भगवन् ! मेरे पुण्य इकट्ठे होकर प्रसन्नता के निमित्त आपको प्रेरित कर ले आये हैं। हे मुनीश्वर ! देवता जो पूजने योग्य हैं, उनके भी आप पूज्य हो। कृपा करके कहो कि आप किस निमित्त आये हैं, और आपका क्या मनोरथ है ? आपके चरणों के दर्शन करके मैंने तो सब कुछ जाना है। स्वर्ग की सभा में जब चिरंजीवियों का प्रसंग चला था, तब मैं भी शरण में आया था, इससे आप मुझको पवित्र करने आये हैं। अब प्रभु के वचनरूपी अमृत के स्वाद की मुझको इच्छा है, इस निमित्त मैं प्रभु के मुख से कुछ सुनना चाहता हूँ।

हे राम ! जब इस प्रकार चिरंजीवी भुशुण्डि नाम पक्षी ने मुझसे कहा, तब मैंने कहा, हे पक्षियों के महाराज ! जो कुछ तुमने कहा सो सच है। मैं अभ्यागत तुम्हारे आश्रम पर इस निमित्त आया हूँ कि चिरंजीवियों की कथा चली थी और उसमें तुम्हारा वर्णन हुआ था। तुम मुझको शान्त-चित्त देख पड़ते हो, और मंगलमूर्ति हो। तुम संसाररूपी जाल से निकले हुए दीखते हो। इससे मेरे इस संशय को दूर करो कि कब तुमने जन्म लिया था, ज्ञात-ज्ञेय कैसे हुए तुम्हारी आयु कितनी है, तुमको कौन-कौन देखा हुआ वृत्तान्त स्मरण है और तुमने किस कारण यहाँ निवास किया है।

भुशुण्डि बोले, हे मुनीश्वर ! जो कुछ तुमने पूछा, वह सब कहता हूँ, शनैः शनैः श्रवण करो। तुम तो स्वयम् साक्षात् प्रभु, त्रिलोकी के पूज्य और त्रिकालदर्शी हो; परन्तु जो कुछ तुमने आज्ञा की है, वह मानने योग्य है। तुम जैसे महात्मा पुरुषों के दर्शन से अपने में जो कुछ ताप होता है, वह भी निवृत्त हो जाता है—जैसे मेघ के आने पर सूर्य की गर्मी मिट जाती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डिसमागमनं
नाम पञ्चमदशस्सर्गः ।। १५ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! इस जगत् में सब देवताओं के बड़े

देव सदाशिवजी हैं, जिन्होंने अर्धाङ्गिनी भगवती को शरीर में धारण किया है और जो महासुन्दर मूर्ति और त्रिनेत्र हैं। उनकी बड़ी-बड़ी जटा हैं और मस्तक पर चन्द्रमा है, जिससे अमृत टपकता है। जटा के चहुँ ओर गंगा फिरती हैं, जैसे फूलों की माला कण्ठ में होती है। कालकूट के पीने से नीलकंठ के विषविभूषण हो गया है। कण्ठ में मुण्ड-माला है और सारे शरीर में भस्म लगी हुई है। दिशा उनके वस्त्र हैं; श्मशान में गृह है। वह महाशान्तरूप बिचरते हैं। उनके साथ जो सेना है, उसके महाभयानक आकार हैं। किसी के तो रुद्र की नाईं तीन नेत्र हैं; किसी का तोते की नाईं मुख है; किसी का ऊँट का मुख है; कोई गर्दभमुख है; किसी का बैल का मुख है। कोई जीवों के हृदय में प्रवेश करके रक्तमांस के भोजन करने वाले हैं, कोई पहाड़ में रहते हैं; कितने ही वन, कन्दरा और श्मशान में रहते हैं। उनके साथ देवियाँ भी ऐसी हैं, जिनकी महाभयानक चेष्टा और आचार हैं।

उन देवियों में जो मुख्य देवियाँ हैं उनका जिस-जिस दिशा में निवास है, वह सुनो। जया, विजया, जित और अपराजित वामदिशा की ओर तुम्बुरु रुद्र के आश्रित हैं। सिद्धा, मुखका, रक्तका, और उतला, भैरव रुद्र के आश्रित हैं, सब देवियों के मध्य ये अष्टनायिका और शतसहस्त्र देवियाँ हैं—रुद्राणी, वैष्णवी, ब्रह्मणी, वाराही, वायवी, कौमारी, वासवी, सौरी इत्यादिक। इनके साथ मिली हुई आकाश में उत्तम देव, किन्नर, गन्धर्व, पुरुष, सुरसंभव स्त्रियाँ इनके साथ हुई हैं। भूचर पृथ्वी में कोटियों हैं और नाना प्रकार के रूप, नाम रखकर पृथ्वी में जीवों को भोजन करती हैं। उनके वाहन, ऊँट, गर्दभ, काक, वानर, तोते इत्यादिक हैं। उन देवियों में कई पशुधर्मिणी हैं, जो क्षुद्रकर्म में रत हैं और कई विदितवेद जीवन्मुक्तपद में स्थित हैं। उनके मध्य नायिका अलम्बुषा देवी हैं। जैसे विष्णु का वाहन गरुड़ है, वैसे ही उस देवी का वाहन काक है। यह देवी अष्टसिद्धि के ऐश्वर्य से युक्त है।

उन देवियों ने एक समय जगत् के पूज्य तुम्बुरु और भैरव की पूजा

कर विचार किया कि सदाशिव हमसे प्रेम से नहीं बोलते और हमको तुच्छ जानते हैं, इससे हम इनको कुछ अपना प्रभाव दिखावें, क्योंकि प्रभाव दिखाये बिना कोई किसी को नहीं जानता। ऐसे विचार कर उमा को वश करके वे उड़ा ले गईं और उत्साह करके मद्य, मांसादिक भोजन किया। निदान माया के बल से पार्वती को मारकर चावल की नाईं पकाया और उनके कुछ पकाये हुए अंग सदाशिव को भोजन के लिए दिये। तब सदाशिव ने जाना कि मेरी प्यारी पार्वती को इन्होंने मारा है। यह निश्चय करके वह कुपित हुए। तब उन देवियों ने अपने-अपने अंग से उमा के अंग निकाले। सौरी ने नेत्र, कौमारी ने नासा और इसी प्रकार सबने अपने-अपने अंग निकालकर वैसी ही पार्वती की मूर्ति ला दी और नये सिरे से विवाह कर दिया। तब सदाशिव प्रसन्न हुए। सब जगह उत्साह और आनन्द हुआ और सब देवियाँ अपने-अपने स्थानों को गईं। चन्द्र नाम का काक, जो अलम्बुषा देवी का वाहन था, उसने ब्रह्माणी की हंसिनी के साथ क्रीड़ा की और इसी प्रकार सबने क्रीड़ा की जिससे सबको गर्भ रह गया।

निदान वह हंसिनी ब्रह्माणी के पास गई। ब्रह्माणी ने कहा कि अब तुममें मुझे उठाने की शक्ति नहीं है। तुम गर्भवती हो—जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ, फिर आना। हे मुनीश्वर ! ऐसे कहकर ब्रह्माणी निर्विकल्प समाधि में स्थित हुई और नाभिसरोवर, जो ब्रह्माणी का उत्पत्तिस्थान है, वहाँ जा स्थित हुई और उस तालाब के कमलपत्र पर उन्होंने निवास किया। जब कुछ काल व्यतीत हुआ, तब उन हंसिनियों ने तीन-तीन अण्डे दिये। जैसे बेल से अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही उनसे इक्कीस अण्डे क्रम से उत्पन्न हुए। कुछ काल उपरान्त जब उनको फोड़ा तो उन अण्डों से हमारे अंग उत्पन्न हुए और क्रमशः जब हम बड़े हो उड़ने योग्य हुए, तब माता हमको ब्रह्माणी के पास ले गई। उनके आगे हमने मस्तक टेका। तब ब्रह्माणी ने, जो कि उसी समय समाधि से उठी थीं, हमको देखकर कृपा करके हमारे सिर पर हाथ रक्खा। उनके हाथ रखने से हमारी अविद्या

नष्ट हो गई और हमारा मन तृप्त और शान्तरूप हो गया और हम जीवन्मुक्त पद में स्थित हुए। तब हमको यह वृत्ति स्फुरित हुई कि किसी प्रकार एकान्त में जाकर ध्यान में स्थित हो। देवी ने आज्ञा दी कि अब तुम जाओ। तब देवी की आज्ञा से हम पिता के पास आये। पिता ने हमको गले से लगाया और मस्तक चूमा।

फिर हमने अलम्बुषा देवी की पूजा की। तब पिता ने हमसे कहा, हे पुत्रो ! तुम संसाररूपी जाल में तो नहीं फँसे और यदि फँसे हो तो मैं भगवती की प्रार्थना करता हूँ वह भृत्यों पर दयालु है--जैसे तुम चाहोगे वैसे ही तुमको प्राप्त करेगी। तब हमने कहा, हे पिता ! हम तो ज्ञात-ज्ञेय हुए हैं; जो कुछ जानने योग्य था, वह जान लिया है और जो पाने योग्य था, वह हमने ब्रह्माणी देवी के प्रसाद से पा लिया है। अब हमको एकान्त स्थान की इच्छा है जहाँ एकान्त हो, वहाँ जा बैठें। तब पिता चन्द्र ने कहा, हे पुत्रो ! सुमेरु पर्वत निर्दोष, महापावन, निर्भय और क्षोभरहित सुन्दर स्थान है। वह सब रत्नों की खानि है, सब देवताओं का आश्रयरूप है और सूर्य-चन्द्रमा उसके दीपक हैं, जो चारों ओर फिरते हैं। ब्रह्माण्डरूपी मण्डप का वह खम्भा है और सुवर्ण का है। चन्द्र-सूर्य उनके नेत्र हैं और कण्ठ में तारों की माला है। दशों दिशा उसके वस्त्र हैं। रत्नमणियों के भूषण हैं और वृक्ष और बेल रोमावली हैं। उसकी त्रिलोकी में पूजा होती है। वह षोडश सहस्त्र योजन पाताल में है, जहाँ नाग और दैत्य उसकी पूजा करते हैं। चौरासी सहस्त्र योजन ऊपर है, जहाँ गन्धर्व, देवता, किन्नर, राक्षस, मनुष्य उसकी पूजा करते हैं, ऐसा पर्वत जम्बूद्वीप के एक स्थान में स्थित है और उसके आश्रय में चतुर्दश प्रकार के भूतजाति रहते हैं। वह बड़ा ऊँचा पर्वत है।

पद्मराग नाम उसका एक शिखर सूर्य जैसा उदय है। शिखर पर एक बड़ा कल्पवृक्ष है, जो मानों जगत्रूपी शिखर का प्रतिबिम्ब है। उस कल्पवृक्ष की दक्षिणदिशा की ओर जो डाल है, उसमें महारत्न के गुच्छे, सुवर्ण के पत्ते और चन्द्रमा के बिम्ब जैसे फूल हैं। सघन और रमणीय गुच्छे

लगे हैं। वहाँ एक आलय बना हुआ है। वहाँ मैं भी पहले रह आया हूँ। जब देवीजी समाधि में स्थित हुई थीं, तब मैं वहाँ आलय बनाकर रहा था। चिन्तामणि की उसमें शलाका लगी हैं और वह महारत्नों से बना है। वहाँ जाकर तुम निवास करो। वहाँ और कौओं के बच्चे भी रहते हैं, जिनका हृदय आत्मज्ञान से शान्त है और बाहर से भी वे शान्त हैं। तुमको वहाँ भोग भी हैं और मोक्ष भी है। हे वशिष्ठजी ! जब इस प्रकार पिता ने हमसे कहा, तब हम सबने पिता के चरण छुए और पिता ने हमारा मस्तक चूमा। निदान हम विन्ध्याचल पर्वत से उड़े और आकाशमार्ग से मेघ, नक्षत्र-चक्र और लोकान्तर होकर ब्रह्मलोक में पहुँच देवीजी को प्रणाम किया। उन्होंने भली प्रकार हमारे ऊपर कृपादृष्टि की। दया और स्नेहसहित गले लगाया और मस्तक चूमा। हम भी माथा टेककर सुमेरु को चले और सूर्य और चन्द्रमा के लोक और तारागण, लोकपाल और देवताओं के लोक मेघ और पवन के स्थान लाँघकर सुमेरुपर्वत के कल्पवृक्ष पर पहुँचे। हे मुनीश्वर ! जिस प्रकार हम उपजे और जिससे ज्ञान प्राप्त हुए हैं और जिस प्रकार यहाँ आकर रहे हैं, वह सब समाचार हमने तुम्हारे आगे सम्पूर्ण कहा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने अस्ताचललाभो नाम षोडशस्सर्गः ।। १६ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! यह चिरकाल की वार्ता तुमसे कही है। वह सृष्टि इस सृष्टि से बहुत पहले की है, परन्तु मैंने तुमको वर्तमान की नाईं अभ्यास के बल से सुनाया है। हे मुनीश्वर ! मेरा कोई पुण्य था, जो फला है, जिससे तुम्हारा निर्विघ्न दर्शन हुआ और यह आलय, शाखा और वृक्ष आज पवित्र हुए। अब जो कुछ संशय हो तो पूछो, मैं कहूँ। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार कहकर उसने मेरा भली प्रकार अर्घ्यपाद्य से आदर सहित पूजन किया। तब मैंने उससे कहा, हे पक्षियों के ईश्वर ! तुम्हारे वे भाई कहाँ हैं, जो तुम्हारे समान तत्त्ववेत्ता थे ? वे तो देख नहीं पड़ते, अकेले तुम्हीं दीखते हो।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! यहाँ मुझको बहुत युगों की परम्परा

व्यतीत हुई है। जैसे सूर्य को कई दिन-रात्रि व्यतीत हो जाते हैं, वैसे ही मुझको युग व्यतीत हुए हैं। कुछ काल वे मेरे भाई भी रहे थे, पर समय पाकर उन्होंने शरीर त्याग दिये और तृण की नाईं तनु त्यागकर शिव आत्मपद को प्राप्त हुए। हे मुनीश्वर ! बड़ी आयुवाला हो अथवा सिद्ध महन्त हो, बली हो, अथवा ऐश्वर्यवान् हो, काल सबको ग्रस लेता है। तब फिर मैंने पूछा, हे साधो ! जब प्रलयकाल आता है, तब सूर्य, चन्द्रमा, वायु, मेघ ये सब अपनी-अपनी मर्यादा त्याग देते हैं और बड़ा क्षोभ होता है। पर उस समय तुमको खेद किस कारण नहीं होता ? सूर्य की तपन से अस्ताचल, उदयाचल आदि पर्वत भस्म हो जाते हैं, पर उस क्षोभ में तुम खेदयुक्त क्यों नहीं होते ?

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! कई जीव जगत् में आधार से रहते हैं और कई निराधार रहते हैं जिनके सेना आदि ऐश्वर्य के पदार्थ होते हैं, वे आधारसहित हैं और जो इन पदार्थों से रहित हैं, वे निराधार हैं। पर दोनों को हम तुच्छ देखते हैं, सत् कोई नहीं। बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान् और बली भी हैं, परन्तु सत्य कोई नहीं। उनमें पक्षी की जाति महातुच्छ है। उनका उजाड़ वन में निवास है और वहीं उनका दाना-पानी है। ये निरालम्ब या बेसहारे हैं और उनकी जीविका दैव ने ऐसे ही बनाई है। हे भगवन् ! मैं तो सदा सुखी हूँ और अपने आप में स्थित, आत्मसन्तोष से तृप्त हूँ। कदापि इस जगत् के क्षोभ से खेद को नहीं प्राप्त होता और स्वभावमात्र में सन्तुष्ट और कष्टचेष्टा से मुक्त हूँ। हे ब्राह्मण ! अब मैं केवल काल को व्यतीत करता हूँ और जगत् के इष्ट-अनिष्ट मुझको विचलित नहीं कर सकते। न मरने की मुझको इच्छा है और न जीने की; क्योंकि जीना और मरना शरीर की अवस्था है; आत्मा की नहीं। मुझे जीने का राग नहीं और मरने में द्वेष नहीं-जैसी अवस्था प्राप्त हो, उसी में सन्तुष्ट हूँ। हे मुनीश्वर ! ऐसे-ऐसे देखे हैं कि वे फिर भस्म हो गये हैं; उनकी अवस्था देखकर मेरे मन की चपलता जाती रही है। मैं इस कल्पवृक्ष पर बैठा हूँ, जिसमें रत्नों की बेलि लगी हैं। इस पर बैठकर मैं

प्राण-अपान की गति को देखता हूँ। इनकी कला की जो सूक्ष्म गति है, उसका मैं ज्ञाता हूँ और दिन-रात्रि का मुझको कुछ ज्ञान नहीं। सत्बुद्धि से मैं काल को जानता हूँ और सार-असार को भी भली प्रकार जानता हूँ। हे मुनीश्वर ! जो कुछ विस्तार भासित होता है, वह सब झूठ है, सत् कुछ नहीं। इसी कारण मुझे किसी दृश्य पदार्थ की इच्छा नहीं। मैं परम उपशमपद में स्थित हूँ और सब जगत् भी मेरे लिए शान्तरूप है। जो कोई इस जगज्जाल का आश्रय करता है, वह सुखी नहीं होता यह सब जगत् चञ्चल है और स्थिर कदापि नहीं होता। इसकी अवस्था में मैं पत्थर सा अचल हूँ; न किसी का मुझे राग फुरता है और न द्वेष है। न मैं किसी की इच्छा करता हूँ। सब जगत् मुझको तुच्छ भासित होता है। यह सब भूतरूपी नदियाँ कालरूपी समुद्र में जा पड़ती हैं। पर हम किनारे खड़े हैं, इससे कदापि नहीं डूबते, और जितने जीव हैं वे डूब जाते हैं। पर कई एक तुम जैसे उससे निकले हुए हैं। तुम्हारी कृपा से हम भी निर्विकारपद को प्राप्त हुए हैं।

हे मुनीश्वर ! मैं निर्विकार और सब जगत् के क्षोभ से रहित हूँ और आत्मपद को पाकर उपशमरूप हूँ। हे मुनीश्वर ! तुम्हारे दर्शन से मैं अब पूर्ण आनन्द को प्राप्त हुआ। सन्त की संगति चन्द्रमा की चाँदनी सी शीतल और अमृत की नाईं आनन्द को देनेवाली है। ऐसा कौन है, जो सन्त के संग से आनन्द को न प्राप्त हो ? अर्थात् सब आनन्द को प्राप्त होते हैं। हे मुनीश्वर ! सन्त का संग चन्द्रमा के अमृत से भी अधिक है; क्योंकि वह शीतल गौण है, हृदय की तपन नहीं मिटाता और सन्त का संग अन्तःकरण की तपन मिटाता है। वह अमृत क्षीरसमुद्र मंथन के क्षोभ से निकला है और सन्त का संग सहज में सुख से प्राप्त होता है और आत्मानन्द को प्राप्त कराता है-इससे यह परम उत्तम है। मैं तो इससे उत्तम और कोई वस्तु नहीं मानता। सन्त का संग सबसे उत्तम है। सन्त भी वे ही हैं, जिनकी आरंभ में रमणीय सब इच्छाएँ निवृत्त हुई हैं, अर्थात् अविचार से जो दृश्य पदार्थ सुन्दर जान पड़ते हैं और नाशवान् हैं, वे

उनको तुच्छ प्रतीत होते हैं। वे सदा आत्मानन्द से तृप्त रहते हैं। वे अद्वैतनिष्ठ हैं; उनकी द्वैतकलना नहीं रही, वे सदा आत्मानन्द में स्थित हैं। ऐसे पुरुष सन्त कहाते हैं।

उन सन्तों की संगति ऐसी है, जैसे चिन्तामणि होती है; जिसके पाने से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। हे मुनीश्वर ! त्रिलोकीरूपी कमल के भँवरे और सब ज्ञानवानों से उत्तम तुम्हीं देख पड़े हो। तुम्हारे वचन स्निग्ध, कोमल और आत्मरस से पूर्ण, हृदयगम्य और उचित है। तुम्हारा हृदय महागम्भीर, उदार, धैर्यवान् और सदा आत्मानन्द से तृप्त है; इसलिए तुम सबसे उत्तम मुझको दीखते हो। तुम्हारे दर्शन से मेरे सब दुःख नष्ट हैं और आज मेरा जन्म सफल हुआ है। तुम जैसे सन्तों का संग आत्मपद को प्राप्त कराता है। उससे दुःख और भय नष्ट होते हैं और मनुष्य निर्भय हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सन्तमाहात्म्यवर्णनं
नाम सप्तदशस्सर्गः ।। १७ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! तुमने जो पूछा था कि सूर्य, वायु और जल को क्षोभ होता है तो तुमको क्षोभ क्यों नहीं होता, उसका उत्तर सुनो। जब जगत् को क्षोभ होता है, तब भी मेरा यह कल्पवृक्ष स्थिर रहता है, क्षोभ को नहीं प्राप्त होता। हे मुनीश्वर ! यह मेरा वृक्ष सब प्राणियों के लिए अगम्य है। प्राणी नष्ट होते हैं तब भी मैं सुखी रहता हूँ। जब हिरण्याक्ष द्वीपों सहित पृथ्वी को समेटकर पाताल ले गया था, तब भी मेरा वृक्ष कम्पायमान नहीं हुआ। जब देवता और दैत्यों का युद्ध हुआ, तब और सब पर्वत चलायमान हुए, पर मेरा वृक्ष स्थिर रहा। जब क्षीरसमुद्र के मथने के निमित्त विष्णुजी सुमेरु को भुजा से उखाड़ने लगे, तब भी मेरा वृक्ष कम्पायमान नहीं हुआ, तब वह मन्दराचल को ले गये और उससे क्षीरसमुद्र को मथने लगे। प्रलयकाल के पवन और मेघ को क्षोभ हुआ तब भी मेरा वृक्ष कम्पायमान नहीं हुआ। फिर एक दैत्य आकर सुमेरु को उखाड़ने लगा और उसने कुछ उखाड़ा भी, परन्तु मेरा वृक्ष कम्पायमान

नहीं हुआ। हे मुनीश्वर ! जब बड़े-बड़े उपद्रव हुए और प्रलयकाल के मेघ पवन और सूर्य तपे, तब भी मेरा वृक्ष स्थिर रहा है।

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! फिर मैंने उससे पूछा कि हे साधो ! जब प्रलयकाल के वायु और मेघ क्षोभ को प्राप्त होते हैं, तब तुम विगतज्वर कैसे रहते हो ? भुशुण्डिजी ने कहा, हे साधो ! जब प्रलयकाल के वायु, मेघादिक क्षोभ को प्राप्त होते हैं, तब मैं कृतघ्न की नाईं अपने आलय को त्यागकर सब क्षोभ से रहित आकाश में स्थित होता हूँ और सब अंगों को समेट लेता हूँ। जैसे वासना को रोकने से मन सकुच जाता है, वैसे ही मैं भी अंग को समेट लेता हूँ। हे मुनीश्वर ! जब प्रलयकाल का सूर्य तपता है, तब मैं जल की धारणा से जलरूप हो जाता हूँ। जब वायु चलती है, तब पर्वत की धारणा बाँधकर स्थित हो जाता हूँ। जब बहुत तत्त्वों का क्षोभ होता है, तब सबको त्यागकर ब्रह्माण्ड के पार जो निर्मल परमपद है, वहाँ मैं सुषुप्ति सा अचल गम्भीर हो जाता हूँ। जब ब्रह्मा उपजकर फिर सृष्टि रचते हैं, तब मैं सुमेरु के वृक्ष पर इसी आलय में स्थित होता हूँ। फिर मैंने पूछा, हे पक्षियों के ईश्वर ! जैसे तुम अखण्ड स्थित होते हो, वैसे ही और योगीश्वर क्यों नहीं स्थित होते ? भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! परमात्मा की यह नीति किसी से नाँघी नहीं जाती। उन योगीश्वरों की नीति इसी प्रकार बनाई गई है और मेरी उत्पत्ति इसी प्रकार है। ईश्वर की नीति अतुल है। उसकी तुलना किसी से नहीं की जाती। जहाँ जैसी नीति बनी है वहाँ वैसी ही है; अन्यथा किसी से नहीं होती। मुझको इसी प्रकार है कि कल्प-कल्प में इसी पर्वत के वृक्ष पर मेरा आलय होता है और मैं आकर निवास करता हूँ।

वशिष्ठजी बोले, हे पक्षियों के नायक ! तुम्हारी अत्यन्त दीर्घ आयु है। तुम ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न योगेश्वर हो। तुमने अनेक आश्चर्य देखे हैं। उनमें जो स्मरण हों, उन्हें कहो। भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! ऐसा याद आता है कि एक बार पृथ्वी पर तृण और वृक्ष ही थे और कुछ न था। फिर एक बार एकादश सहस्त्र वर्ष पर्यन्त भस्म ही भस्म देख पड़ती

थी। जो वृक्ष और तृण थे, सब जल गये थे, एक बार ऐसी सृष्टि हुई कि उसमें चन्द्र और सूर्य न उपजे और दिन और रात्रि की गति कुछ जानी न जाती थी। पर कुछ सुमेरु के रत्नों का प्रकाश होता था। एक कल्प ऐसा हुआ है कि जिसमें देवताओं और दैत्यों का युद्ध हुआ था। जब दैत्यों की जीत हुई तो उन्होंने सब देवताओं को मनुष्यों की भाँति मार डाला। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों देवताओं के सिवा और सब सृष्टि उन्होंने जीती और बीस युग पर्यन्त उन्हीं की आज्ञा चली। एक बार ऐसा स्मरण आता है कि दो युग पर्यन्त पृथ्वी पर वृक्ष ही वृक्ष थे, और कुछ सृष्टि न थी। एक बार दो युग पर्यन्त पृथ्वी पर पर्वत ही पर्वत सघन हो रहे थे, और कुछ न था। एक बार ऐसा हुआ कि सब जल ही जल हो गया, और कुछ न देख पड़ता था, केवल सुमेरु पर्वत खंभे की नाईं खड़ा था। एक बार अगस्त्य मुनि दक्षिण दिशा से आये। तब विन्ध्याचल पर्वत बढ़ा और उसने सब ब्रह्माण्ड चूर्ण कर दिया।

हे मुनीश्वर ! बहुत कुछ स्मरण है, परन्तु संक्षेप में सुनो। एक समय सृष्टि में मनुष्य, देवतादिक कुछ न दीखते थे। एक बार ऐसी सृष्टि हुई कि ब्राह्मण मद्यपान करते थे, शूद्र बड़े हो बैठे थे और सब जीवों के धर्म उलट-पलट गये थे। एक बार ऐसी सृष्टि स्मरण आती है कि पृथ्वी में कोई पर्वत न देख पड़ता था। एक बार ऐसी सृष्टि उत्पन्न हुई कि सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, लोकपाल आदि कोई न उपजा। एक सृष्टि ऐसी हुई कि सभी उपजे। एक सृष्टि ऐसी हुई कि उसमें स्वामिकार्त्तिक नहीं उपजे, दैत्य बढ़ गये और दैत्यों ही का राज्य हो गया। मुझको बहुत स्मरण है, कहाँ तक कहूँ। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, इन्द्र, उपेन्द्र और लोकपालों के बहुत जन्म मुझको स्मरण हैं। जब हिरण्याक्ष को, जो वेदों को चुरा ले आया था, हरि ने मारा था वह भी स्मरण है और क्षीरसमुद्र मथना भी स्मरण है। ऐसी सृष्टि भी देखी है, जिसमें विष्णुजी का वाहन गरुड़ नहीं हुआ। ब्रह्माजी हंस वाहन के बिना और रुद्र बैल वाहन के बिना हुए हैं। इसी

प्रकार बहुत कुछ देखा है, क्या-क्या तुम्हारे आगे वर्णन करूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने जीवित-वृत्तान्तवर्णनं नामाष्टादशस्सर्गः ।। १८ ।।

भशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! जब फिर सृष्टि उत्पन्न हुई, तब तुम भारद्वाज, पुलस्त्य, नारद, इन्द्र, मरीचि, उद्दालक, क्रतु, भृगु, अङ्गिरा, सनत्कुमार, भार्गवेश आदि उपजे। फिर सुमेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय आदि पर्वत उपजे। अत्रि, वासुदेव, बाल्मीकि इत्यादि तो अल्पकाल के उपजे हैं। हे मुनीश्वर ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो और तुम्हारे आठ जन्म मुझको स्मरण हैं। कभी तुम आकाश से उपजे हो, कभी जल से उपजे, कभी पहाड़ से उपजे, कभी पवन से उपजे और कभी अग्नि से उपजे हो। हे मुनीश्वर ! मन्दराचल पर्वत को क्षीरसमुद्र में डालकर जब देवता और दैत्य मथने लगे और उन्हें क्षोभ हुआ कि मन्दराचल नीचे चला जाता है, तब विष्णुजी ने कच्छपरूप धारणकर पर्वत को रोका और सागर से अमृत निकाला था, यह घटना मुझको द्वादश बार स्मरण आती है। तीन बार हिरण्याक्ष पृथ्वी को पाताल में समेट ले गया है और छः बार परशुराम रेणुका माता के पुत्र हुए हैं। यह सृष्टि के बहुत पीछे हुए हैं। जब क्षत्रियों में दैत्य उपजने लगे तो उनके नाश निमित्त विष्णु ने परशुराम का अवतार लिया था।

हे मुनीश्वर ! एक सृष्टि ऐसी हुई है, जिसमें शास्त्र और पुराणों के अर्थ पहले के विपरीत उलटे लगाये जाने लगे। एक कल्प में शास्त्र के और ही पाठ, और ही युक्ति, और ही अर्थ हुए; क्योंकि युग-युग प्रति और ही पुराण होते हैं। किसी को देवता बनाते हैं और किसी को ऋषीश्वर-मुनीश्वर कहते हैं। कथा और इतिहास भी मुझे बहुत स्मरण हैं। बाल्मीकिजी ने द्वादश बार रामायण बनाई और विलय हो गई। व्यास जी ने दो बार महाभारत बनाई और उन्होंने सात बार अवतार लिया है। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार आख्यान, कथा, इतिहास और शास्त्र जो जो हुए हैं, वे सब मुझको अच्छी तरह स्मरण हैं। हे साधो ! दैत्यों के मारने के निमित्त विष्णुजी युग युग प्रति अवतार लेते

हैं। मुझको एकादश बार रामजी स्मरण आते हैं। वसुदेव के गृह में पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त कृष्णजी ने सोलह बार अवतार लिया है, सो भी मुझको स्मरण है। तीन बार नरसिंह अवतार धारण कर विष्णु ने हिरण्यकशिपु को मारा है। हे मुनीश्वर ! इसी प्रकार मुझको अनेक सृष्टि स्मरण हैं, परन्तु सभी भ्रममात्र हैं, कोई उपजी नहीं। जब आत्मतत्त्व मैं देखता हूँ, तब कोई सृष्टि नहीं भासती, सब सत्तामात्र है। जैसे जल में बुलबुले उपजकर लीन हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में मन के फुरने से अनेक सृष्टि उपजती हैं और लीन हो जाती हैं। उस स्फुरण से मैंने कई सृष्टि देखी हैं। कोई सदृश ही उपजती हैं, कोई अर्धसदृश और कोई विपर्ययरूप हैं। हे मुनीश्वर ! किसी-किसी सृष्टि में एक से ही आकार और कर्म-आचार होते हैं। मन्वन्तर मन्वन्तर प्रति कोई और ही सृष्टि होती है। किसी में ऐसा होता है कि पुत्र पिता हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाता है, बान्धव अबान्धव और अबान्धव बान्धव हो जाते हैं। इस प्रकार भी विपर्यय होते देख पड़े हैं। कभी इसी कल्पवृक्ष पर मेरा घर होता है, कभी मन्दराचल में, कभी हिमालय पर्वत में, और कभी मालव पर्वत में होता है। इसी प्रकार कभी वन, वृक्ष और बेलों पर होता है और कभी इस कल्पवृक्ष के ऊपर होता है। पर अब तो बहुत काल से इसी कल्पवृक्ष पर रहता हूँ।

जब सृष्टि का नाश हो जाता है, तब भी मेरा यही शरीर रहता है। मैं आसन लगाकर अपने पुर्यष्टक को ब्रह्मसत्ता में स्थिर करता हूँ, इसी कारण मुझको फिर यही शरीर प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! यह सब जगत् संकल्पमात्र है। जैसा संकल्प फुरता है, वैसा ही आगे भासित होता है। यह जगत् सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं, केवल भ्रमरूप है। इस भ्रममय जगत्-प्रपंच में अनेक आश्चर्य देखे जाते हैं; पिता पुत्र हो जाता है, मित्र शत्रु हो जाता है स्त्री पुरुष हो जाती है और पुरुष स्त्री हो जाता है। कभी कलियुग में सतयुग और कभी सतयुग में कलियुग बर्तने लगता है, कभी द्वापर में त्रेता और त्रेता में द्वापर बर्तता

है। कभी वेद विद्या के अर्थ अदृश्य ही होते हैं और नाना प्रकार के आश्चर्य भासित होते हैं। हे मुनीश्वर ! जब इन युगों की एक सहस्त्र चौकड़ी व्यतीत होती है, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है। एक बार दो दिन तक ब्रह्मा समाधिस्थ रहे और सृष्टि शून्य हो रही—यह भी स्मरण है। और भी कई देश क्रिया आदि विचित्र रूप स्मरण आते हैं; क्या-क्या कहूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिरातीतवर्णनन्नामैकोन-
विंशतितमस्सर्गः ।। १६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार जब भुशुण्डिजी ने कहा, तब मैंने फिर जिज्ञासा से पूछा कि हे पक्षियों के ईश्वर ! तुम तो चिरकाल पर्यन्त जगत् में व्यवहार करते रहे हो, तो तुम्हारे शरीर को मृत्यु ने किस कारण नहीं नष्ट किया ? भुशुण्डि बोले, हे मुनीश्वर ! तुम सब जानते हो, परन्तु ब्रह्मजिज्ञासा के कारण पूछते हो। इसलिए जैसे विद्यार्थी वेदार्थ पढ़कर फिर गुरु के आगे दुहराते हैं, वैसे ही मैं आज्ञा मानकर कहता हूँ। हे मुनीश्वर ! मृत्यु किसको मारती है और किसको नहीं मारती, सो सुनो। दुःखरूपी मोती वासनारूपी सूत से पिरोये हैं। यह माला जिसके हृदयरूपी गले में पड़ी हुई है उसको मृत्यु मारती है। जिसके कण्ठ में यह माला नहीं पड़ी, उसको मृत्यु नहीं मारती। शरीररूपी वृक्ष में चित्तरूपी सर्प बैठा है। आशारूपी अग्नि जिस वृक्ष को नहीं जलाती, वह मृत्यु के वश नहीं होता। जिसका रागद्वेषरूपी विष से पूर्ण चित्तरूपी सर्प तृष्णा से चूर्ण होता है और लोभरूपी व्याधि से नष्ट होता है, उसी को मृत्यु मारती है और ग्रस लेती है। जिसको इनका दुःख नहीं स्पर्श करता, उसको मृत्यु भी नहीं नष्ट करती। हे मुनीश्वर ! शरीररूपी समुद्र क्रोधरूपी बड़वाग्नि से जलता है। जिसको क्रोधरूपी अग्नि नहीं जलाती, उसको मृत्यु भी नहीं मारती। जिसका मन परम पावन और निर्मल पद में दृढ़ विश्रान्त और स्थित हुआ है, उसका नाश मृत्यु नहीं करती। हे मुनीश्वर ! जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय,

तृष्णा, चिन्ता, चंचलता, अभिमान, प्रमाद इत्यादि दुःख होते हैं, उसको मृत्यु मारती है और जिसको संसारबन्धन का कारण काम, क्रोध, लोभादिक रोग बाँध नहीं सकते और जो इनसे लिप्त नहीं होता, उसको आधि-व्याधिरूपी मल नहीं स्पर्श करता।

जो मनुष्य लेता है देता है और सब कार्य करता है, पर जिसके चित्त को अनात्म अभिमान स्पर्श नहीं करता, उसको समाहितचित्त कहते हैं। जो पुरुष इष्ट की कामना नहीं करता और अनिष्ट में दुःखी नहीं होता, दोनों अवस्थाओं में सम रहता है, उसको समाहितचित्त कहते हैं। हे मुनीश्वर ! जो कुछ ऐश्वर्यसूचक सुन्दर पदार्थ हैं, वे सब असत्रूप हैं। पृथ्वी पर चक्रवर्ती राजा और स्वर्ग में गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, देवता और उनकी स्त्रियाँ और सुरों की सेना आदि सब नाशवान् हैं। मनुष्य, दैत्य, देवता, असुर, पहाड़, सरोवर, नदियाँ जो कुछ बड़े पदार्थ हैं, वे सभी नाशवान् हैं। स्वर्ग, पृथ्वी और पाताललोक में जो कुछ भोग हैं, वे सब असत् और अशुभ हैं। कोई पदार्थ श्रेष्ठ नहीं। न पृथ्वी का राज्य श्रेष्ठ है, न देवताओं का रूप श्रेष्ठ है, न नागों का पातालोक श्रेष्ठ है, न शास्त्रों का पठन-मनन श्रेष्ठ है, न काव्य का जानना श्रेष्ठ है, न पुरातन कथाक्रम वर्णन करना श्रेष्ठ है, न बहुत जीना श्रेष्ठ है, न मूढ़ता से मर जाना श्रेष्ठ है, न नरक में पड़ना श्रेष्ठ है और न इस त्रिलोकी में और कोई पदार्थ श्रेष्ठ है; जहाँ सन्त का मन स्थित है, वही श्रेष्ठ है। यह नाना प्रकार का जगत्क्रम चल है। जो ज्ञानवान पुरुष हैं, वे मूढ़ होकर चल पदार्थ में नहीं मरते और बहुत जीने की इच्छा भी नहीं करते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने संकल्प-निराकरणन्नाम विंशतितमस्सर्गः ।। २० ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! केवल एक आत्मदृष्टि सबसे श्रेष्ठ है; जिसे पाने से सब दुःख नष्ट होते हैं और परमपद प्राप्त होता है। वह आत्मचिन्तन सब दुःखों का नाशक है। वह चिरकाल के तीनों तापों से तपे और जन्म-मरण के मार्ग में चलने से थके हुए जीवों के श्रम को दूर करता

और तपन मिटाता है। अनर्थकारिणी समस्त दुःखों की खानि अविद्या को यह आत्मचिन्तन नष्ट करता है। जैसे अन्धकार को प्रकाश नष्ट करता है, वैसे ही यह जीव के हृदय में शीतल प्रकाश उपजाता है। हे भगवन् ! सब संकल्पों से रहित ऐसा आत्मचिन्तन है। तुम जैसों को सुगम है और हम जैसों को कठिन है; क्योंकि वह समस्त कलना से अतीत है। हे मुनीश्वर ! उस आत्मचिन्तन की और भी कोई सखी यदि प्राप्त हो तो सब ताप मिट जायँ और परम शान्ति प्राप्त हो। उनमें से मुझको एक सखी प्राप्त हुई है। वह सब दुःखों का नाश करती है, सब सौभाग्य देनेवाली और जीने का मूल है। उसका नाम प्राणचिन्तन है। हे राम ! जब काकभुशुण्डि ने इस प्रकार मुझसे कहा, तब मैंने जानकर भी क्रीड़ा के निमित्त फिर उनसे पूछा कि हे सब संशयों को निवृत्त करनेवाले, चिरंजीवी पुरुष ! सच कहो, प्राणचिन्ता किसे कहते हैं ?

भुशुण्डिजी बोले, हे सब वेदान्त के ज्ञाता और सब संशयों को मिटानेवाले ! मेरे उपहास के निमित्त तुम मुझसे यह पूछते हो। तुम तो सब कुछ जानते हो। तथापि मैं तुमसे शिष्य की भाँति कहता हूँ, क्योंकि गुरु के आगे कहना भी कल्याण के निमित्त है। मेरे चिरजीवन का कारण और मुझको आत्मलाभ देनेवाली प्राणचिन्ता ही है। हे भगवन् ! इसी दृष्टि का आश्रय लेकर मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूँ। मुझको बन्धन नहीं होता। सब अवस्थाओं में, बैठते, चलते, जागते, सोते सब ठौर, मेरा चित्त सावधान रहता है, इस कारण मुझे कोई बन्धन नहीं होता। हे मुनीश्वर ! मैंने प्राण और अपान के संसरण की गति पाई है; उस युक्ति से मुझको आत्मबोध हुआ है और उस बोध से मेरे मद, मोहादिक सब विकार नष्ट हो गये हैं और मैं शान्तरूप होकर स्थित हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! जिसको प्राण-अपान की गति प्राप्त हुई है वह चाहे सब आरब्ध कर्म करे अथवा सबका आरम्भ त्याग करे, परन्तु सदा शान्तरूप रहता है; उसका काल सुख से व्यतीत होता है।

हे मुनीश्वर ! अब प्राण-अपान का संसरण कहता हूँ, सुनो। प्राण

हृदय से उपजकर द्वादश अंगुल पर्यन्त बाहर जाता है और वहाँ जाकर स्थित होता है ; फिर उस स्थान से अपानरूप हो हृदय में आकर स्थित होता है। हे मुनीश्वर ! बाहर आकाश के सम्मुख जो प्राण जाता है, वह अग्नि-सा उष्ण होता है और जो हृदयाकाश के सम्मुख आता है, वह शीतल नदी के प्रवाह-सा आता है। अपान चन्द्रमारूप है और बाहर से भीतर आता है और जो प्राण भीतर से बाहर जाता है, वह अग्नि, उष्ण और सूर्यरूप है। प्राणवायु हृदयाकाश को तपाता है और अन्न को पचाता है और अपान हृदय को चन्द्रमा की तरह शीतल करता है। हे मुनीश्वर ! अपानरूपी चन्द्रमा जब प्राणरूपी सूर्य में जहाँ तत्त्व है, लीन होता है तो उसमें स्थित हुआ मन फिर शोक को नहीं प्राप्त होता। और प्राणरूपी सूर्य जब अपानरूपी चन्द्रमा के घर में लीन होता है, उस अवस्था में स्थित हुआ मन फिर जन्म का भागी नहीं होता।

हे मुनीश्वर ! सूर्यरूपी प्राण अपने सूर्यभाव को त्यागकर अपानरूपी चन्द्रमा को जब तक नहीं प्राप्त हुआ, उस अवस्था के देशकाल को विचारे तो फिर शोक नहीं पाता और सब भ्रम नष्ट हो जाते हैं। द्वादश अंगुल पर्यन्त जो आकाश है, उससे अपानरूपी चन्द्रमा उपजकर हृदय के प्राणरूपी सूर्य में लीन होता है। पर सूर्यभाव को जब तक नहीं प्राप्त होता उस मध्यभाव की अवस्था में जिसका मन लगा है, वह परमपद को प्राप्त होता है। हृदय में चन्द्रमा और सूर्य के अस्त और उदय होने का ज्ञाता और इसका आधारभूत जो आत्मा है, उसको जानकर फिर मन नहीं उपजता। हे मुनीश्वर ! प्राण और अपानरूपी जो सूर्य और चन्द्रमा हृदयाकाश में उदय और अस्त होते हैं, उनके प्रकाश से हृदय में जो भास्कर देव है उसको जो देखता है, वही यथार्थ में देखता है। बाहर सूर्य कभी प्रकाश और कभी अंधकार करता है। उस प्रकाश के उदय और तम के क्षीण होने से कुछ सिद्ध नहीं होता। जब हृदय का तम दूर होता है, तभी परमसिद्धता प्राप्त होती है। बाहर का तम नष्ट होने से लोकों में प्रकाश होता है और हृदय का तम नष्ट होने से

आत्मप्रकाश का उदय और अज्ञान-अन्धकार का अभाव होता है, उसी प्रकाश में परमपद को जानकर जीव मुक्त होता है। प्राणअपान की युक्ति जानने से तम नष्ट हो जाता है।

हे मुनीश्वर ! प्राण अपानरूपी जो चन्द्रमा और सूर्य हैं, वे यत्न बिना उदय और अस्त होते हैं, जब प्राणरूपी सूर्य हृदयकोट से उपज कर बाहर जाता है तब उसी क्षण अपानरूपी चन्द्रमा में लीन होता है और अपानरूपी चन्द्रमा उदय हो आता है। और जब अपानरूपी चन्द्रमा हृदयकोट के प्राणवायुरूपी सूर्य में स्थित होता है, तब उसी क्षण में प्राणरूपी सूर्य उदय होता है। प्राण के अस्त होने पर अपान का उदय होता है और अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है। जैसे छाया के अस्त होने पर धूप निकलती है और धूप के अस्त होने पर छाया प्रकट होती है, वैसे ही प्राण-अपान की गति है। हे मुनीश्वर ! जब हृदयकोट से प्राण का उदय होता है, तब प्राण का रेचक और अपान का पूरक होने लगता है, और जब प्राण अपान में स्थित होता है, तब अपान का कुम्भक होता है, उस कुम्भक में जब स्थित होती है, तब फिर तीनों ताप नहीं तपाते। जब अपान का रेचक होता है, तब प्राण का पूरक होने लगता है और जब अपान जाकर स्थित होता है, तब प्राण का कुम्भक होता है। उसमें जब मन स्थित होता है, तब भी तीन तापों से तप्त नहीं होता। हे मुनीश्वर ! प्राण-अपान के भीतर जो शान्तरूप आत्मतत्त्व है उसमें जब स्थिति होती है, तब मन तप्त नहीं होता। जब अपान आकर स्थित होता है और प्राण का उदय नहीं हुआ होता उस अवस्था में जो साक्षीभूत सत्ता है, वह आत्मतत्त्व है। उसमें जब स्थिति होती है, तब फिर वह साधना कठिन नहीं होती। जब अपान के स्थान में प्राण जाकर स्थित होता है, और अपान जब तक उदय नहीं हुआ होता, वहाँ जो देश, काल, अवस्था है उसमें जब मन स्थित होता है, तब मन का मनत्व जाता रहता है और फिर नहीं उपजता। हे मुनीश्वर ! प्राण जब अपान में स्थित हुआ होता है और अपान का उदय नहीं हुआ

होता, वह कुम्भक है। अपान जब प्राण में स्थित हुआ और प्राण का जब उदय नहीं हुआ, उस कुम्भक में जो शान्त तत्त्व है, वह आत्मा का स्वरूप, शुद्ध और परम चैतन्य है। जो उसको प्राप्त होता है वह फिर शोकयुक्त नहीं होता। जैसे पुष्प में गन्ध से प्रयोजन होता है वैसे ही प्राण-अपान के भीतर जो अनुभवतत्त्व स्थित है, उससे प्रयोजन है। वह न प्राण है, न अपान, उस अनुभवस्वरूप आत्मतत्त्व की हम उपासना करते हैं। प्राण अपानकोट में क्षय को प्राप्त होता है और अपान प्राणकोट में क्षय को प्राप्त होता है; उस प्राण-अपान के मध्य में जो चिदात्मा है, उसकी हम उपासना करते हैं।

हे मुनीश्वर ! जो प्राण का प्राण अपान का अपान, जीव का जीव और देह का आधारभूत है, उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जिसमें सर्व है, जिससे यह सर्व है और जो यह सर्व है, ऐसा जो चिदात्मा है उसकी हम उपासना करते हैं। जो सब प्रकाशों का प्रकाश है, सब पावनों का पावन है और सब भाव-अभाव पदार्थों का अपना आप है, उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जो पवन परस्पर हृदय में संपुटरूप है, उसमें स्थित जो साक्षीरूप और भीतर बाहर सब जगह है, उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जब अपान अस्त हुआ और प्राण नहीं उपजा, उस क्षण में जो कलंक से रहित है, उस चैतन्यतत्त्व की हम उपासना करते हैं। जब प्राण अस्त हुआ और अपान नहीं उपजा, ऐसा जो नासिका के अग्र भाग में शुद्ध आकाश है और उसमें जो सत्यता है, उस चित्तसत्ता की हम उपासना करते हैं। जो प्राण-अपान की उत्पत्ति का स्थान, भीतर बाहर सब ओर व्याप्त और सब योगकला का आधारभूत है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं। जो प्राण-अपान के रथ पर आरूढ़ है और शक्ति का शक्तिरूप है; उस चित्ततत्त्व की हम उपासना करते हैं। हे मुनीश्वर ! जो सम्पूर्ण कला-कलंक से रहित है और सब कला जिसके आश्रय में हैं, ऐसा जो अनुभवतत्त्व है, और सब देवता जिसकी

शरण को प्राप्त होते हैं, उस आत्मतत्त्व की हम उपासना करते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डूयुपाख्याने समाधिवर्णनं नाम एकविंशतितमस्सर्गः ।। २१ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! इस प्रकार मैंने प्राणसमाधि प्राप्त की है और इस क्रम से मैं आत्मपद को पहुँचा हूँ। इसी निर्मल दृष्टि का आश्रय लेकर स्थित हूँ और एक पल भी इससे चलायमान नहीं होता। सुमेरु पर्वत की भाँति स्थित हूँ और चलता हुआ भी स्थित हूँ। जाग्रत् में सुषुप्ति स्वप्न में स्थित हूँ और सर्वदा आत्मसमाधि में लगा रहता हूँ; विक्षेप कभी नहीं होता। हे मुनीश्वर ! नित्य-अनित्य भाव से जो जगत् स्थित है, उसको त्यागकर मैं अन्तर्मुख अपने आपमें स्थित हूँ। प्राण-अपान की कला जो तुम्हारे सामने कही है, उसका सदा ऐसे ही प्रवाह चला जाता है; उसमें मेरी अयन्त्र समाधि है, इससे मैं सदा सुखी रहता हूँ, कुछ कष्ट नहीं होता। जिसको यह कला नहीं प्राप्त हुई, वही कष्ट पाता है। हे मुनीश्वर ! अज्ञानी जीव महाप्रलय-पर्यन्त संसार-समुद्र में गोते खाते हैं। उभर कर फिर डूबते हैं और इसी प्रकार गोते खाते रहते हैं। जिन पुरुषों ने पुरुषार्थ करके आत्मपद पाया है, वे सुख से बिचरते हैं। हे मुनीश्वर ! भूतकाल की मुझको चिन्ता नहीं और भविष्य की इच्छा नहीं; वर्तमान में यथाप्राप्त राग-द्वेष से रहित होकर बिचरता हूँ। मैं सुषुप्त की तरह स्थित हूँ , इससे केवल 'स्वरूप' में भाव-अभाव पदार्थों से रहित हूँ और इसी कारण चिरंजीवी हो दुःख से रहित हूँ। प्राण-अपान की कला को शान्त करके स्वरूप में स्थित हूँ। आज यह कुछ पाया है और कल यह पाऊँगा; यह चिन्ता मेरी दूर हो गई है, इसी कारण दुःखरहित होकर जीता हूँ। न किसी की प्रशंसा करता हूँ और न किसी की निन्दा करता हूँ ; सब आत्मस्वरूप देखता हूँ, इसी कारण सुखी जीता हूँ। मुझे इष्ट की प्राप्ति में हर्ष और अनिष्ट प्राप्ति में शोक नहीं होता। मैंने परम त्याग किया है, सर्वत्र आत्मभाव देखता हूँ और मेरा जीवभाव दूर हो गया है, इसी कारण दुःखरहित जीता हूँ। हे मुनीश्वर ! मेरे मन की चपलता मिट गई है और

राग-द्वेष दूर हो गये हैं, मन शान्त हुआ है। इस कारण अरोग जीता हूँ। मैं काष्ठ, सुन्दर स्त्री, पहाड़, तृण, अग्नि और सुवर्ण को सम देखता हूँ।

हे मुनीश्वर ! मैं जरामरण के दुःख और राजलाभ के सुख और शोक से रहित समभाव में स्थित हूँ और दुःखरहित जीता हूँ। ये मेरे बांधव हैं, ये अन्य हैं, यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह सब कलना मुझको नहीं, इसीसे सुखी जीता हूँ। आहार-व्यवहार करता, बैठता, चलता, सूँघता, स्पर्श करता और श्वास लेता हूँ ; परन्तु यह जो अभिमान है कि मैं 'देह हूँ', इस अभिमान से रहित हो सुखी जीता हूँ। इस संसार की ओर से मैं सुषुप्तरूप हूँ और इस संसार की गति को देखकर हँसता हूँ कि वास्तव में यह है ही नहीं। इस कारण शान्ति से जीता हूँ। हे मुनीश्वर ! मैं सब कालों में सब प्रकार, सभी पदार्थों में समबुद्धि हूँ; विषमता मुझको नहीं भासित होती। न किसी से सुखी होता हूँ और न दुखी। जैसे हाथ फैलाइये तो भी शरीर है और सिकोड़िए तो भी शरीर है, इसी प्रकार मैंने सर्वात्मा आपको जाना है। इसी से मुझको कोई दुःख नहीं। मेरी बोली और निश्चय स्निग्ध, कोमल और सबको हृदयगम्य है। सर्वत्र इसी दृष्टि के कारण मैं दुःखरहित जीता हूँ। चरण से मस्तक पर्यन्त देह में मुझको ममता नहीं है। अहंकाररूपी कीच से मैं निकल गया हूँ, इस कारण अरोग जीता हूँ। मैं कार्यकर्ता और भोजनकर्ता भी देख पड़ता हूँ, परन्तु मेरे मन में दृढ़ निष्कर्मता है।

हे मुनीश्वर ! सामर्थ्य करके कार्य करूँ तो भी मुझको अभिमान नहीं और दरिद्री होऊँ तो भी संपत्ति और सुख की इच्छा नहीं; अर्थात् किसी से आसक्त नहीं होता। इस असत्‌रूप शरीर का नाश होने पर भी अभिमान नष्ट नहीं होता। भूतों का समूह सब असत्‌रूप है, केवल आत्मा सत्‌रूप है, ऐसा जानकर मैं स्थित हूँ। आशारूपी फाँसी से मेरे मुक्तचित्त की वृत्ति समाहित हुई है। मुझे अनात्म में आत्माभिमान की वृत्ति नहीं फुरती।

हे मुनीश्वर ! मैंने जगत् को असत्य जाना है और आत्मा को

सत्य और हाथ में रक्खे बिल्वफल सा प्रत्यक्ष जाना है। इस जगत् में मैं सुषुप्त, प्रबुद्ध हूँ। सुख पाकर मैं सुखी नहीं होता और दुःख पाकर दुःखी नहीं होता। सबका परममित्र हूँ, इसी कारण मैं दुःखरहित जीता हूँ। आपदा में अचलचित्त हूँ ; संपदा में सब जगत् का मित्र हूँ और भाव-अभाव से ज्यों का त्यों हूँ ; इस कारण सदा सुखी जीता हूँ। न मैं परिच्छिन्न अहं हूँ ; न मेरी दृष्टि में कोई अन्य है; न कोई मेरा है न मैं किसी का हूँ ; यह भावना मेरे चित्त में दृढ़ है। मैं जगत् हूँ ; मैं ही आकाश, देश, काल, क्रिया, सब हूँ ; मुझे यह दृढ़ निश्चय है। घट भी चैतन्य है, पट भी चैतन्य है, रथ भी चैतन्य है और यह सब प्रपंच चैतन्य तत्त्व है; यह मुझको दृढ़ निश्चय है, इसी कारण दुःखरहित जीता हूँ। हे मुनिशार्दूल ! यह सब जो मैंने तुमसे कहा, सो भुशुण्डि नाम काक ने, जो त्रिलोकीरूपी कमल का भँवरा है, मुझसे कहा था।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने चिरञ्जीविहेतु-कथनं नाम द्वाविंशतितमस्सर्गः।। २२।।

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! जैसा मैं हूँ , सो तुम्हारी आज्ञा का पालन करने के लिये कहा है; नहीं तो गुरु के आगे कहना भी ढिठाई है। तुम ज्ञान के पारगामी हो। फिर मैं बोला, हे भगवन् ! आश्चर्य है और आश्चर्य से भी आश्चर्य है कि तुमने श्रवण का भूषण इस कथा को कहा। आत्मउदितरूप जो वचन तुमने कहे, वे परम विस्मय-जनक हैं। हे भगवन् ! तुम धन्य हो। तुम महात्मा पुरुष हो और चिरंजीवियों में तुम मुझको साक्षात् दूसरे ब्रह्मा जान पड़ते हो। आज मैं भी धन्य हूँ कि तुम जैसे महापुरुष के मुख से इस प्रकार आत्मतत्त्व सुना। जैसे मैंने पूछा, वैसे ही तुमने कहा। हे साधो ! मैंने सब भूतल के लोक, दिशाएँ, आकाश और पाताल के लोक भी देखें हैं; त्रिलोकी में तुम सा कोई बिरला ही होगा। जैसे बाँस बहुत हैं, पर मोती उपजाने वाला बिरला ही होता है, वैसे ही तुम जैसे बिरले हैं। हे साधो ! आज मैं पुण्यरूप हुआ, आज मेरी देह पवित्र हुई, जो तुम जैसे मुक्त आत्मा का दर्शन हुआ।

हे साधो ! अब सप्तर्षियों के बीच जाता हूँ ; मेरी मध्यान्ह संध्या का समय हुआ है।

जब मैंने ऐसे कहा, तब भुशुण्डि कल्पवृक्ष से उठ खड़ा हुआ। उसने सुवर्ण का पात्र मोती और रत्नों से भरा और अर्घ्यपाद्य से पूजन किया। जैसे सदाशिव की पूजा करते हैं, वैसे ही उसने चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त मेरा पूजन किया और बहुत नम्र होकर प्रणाम किया। मैंने भी उसको प्रणाम किया। इस प्रकार परस्पर नमस्कार करके मैं वहाँ से उठ खड़ा हुआ और आकाशमार्ग को चला। जैसे पक्षी उड़ता है, वैसे ही मैं उड़ा और वह भी मेरे साथ उड़ा। परस्पर हम दोनों हाथ मिलाये जब एक योजन पर्यन्त चले गये, तब मैंने उससे कहा, हे साधो ! तुम अब यहाँ से लौट जाओ। इस प्रकार बारम्बार कहकर मैंने उसको रोका और मैं चला गया। जब तक मैं उसको देख पड़ता रहा, तब तक वह देखता रहा। जब मैं न दीखा, तब वह अपने स्थान में जा बैठा। मैं सप्तर्षियों के मण्डल में जा पहुँचा और अरुन्धती ने मेरा पूजन किया।

हे राम ! भुशुण्डि के आश्चर्यजनक वचन मैंने तुमको सुनाये। अब भी सुमेरु के शिखर पर उस कल्पवृक्ष की लता में वह कल्याणरूप वैसे ही स्थित है। वह शान्तिरूप मान करने के योग्य और सदा समाधिस्थ है। हे राम ! यह मेरा और उसका समागम सतयुग के दो सौ वर्ष व्यतीत होने पर हुआ था। अब सतयुग बीत गया और त्रेतायुग चल रहा है, जिसमें तुम उपजे हो। हे राम ! अभी आठ वर्ष पहले मेरा और उसका फिर समागम हुआ था। वह उसी वृक्षलता पर है। हे राम ! यह इतिहास जो मैंने तुमसे कहा है, सो परम उत्तम है। जब इसको विचारोगे, तब संसारभ्रम निवृत्त हो जायगा। मुनि वशिष्ठ और भुशुण्डि की कथा को जो निर्मल बुद्धि से विचारेगा, वह भवरूप संसार के भय से छूट जायगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्यानसमाप्तिर्नाम त्रयोविंशतितमस्सर्गः ।। २३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे अनघ ! यह जो मैंने तुमसे भुशुण्डि का वृत्तान्त कहा, इसे बोध करके भुशुण्डि महासंकट से तरा है। इस दशा को तुम भी आश्रय करके प्राणों की युक्ति से अभ्यास करो। तब तुम भी भुशुण्डि की नाईं भवसमुद्र से पार होगे। जैसे भुशुण्डि ने ज्ञानयोग द्वारा पाने के योग्य पद पाया है, वैसे ही तुम भी पाओ और जैसे प्राण-अपान के अभ्यास से भुशुण्डि को परमतत्त्व प्राप्त हुआ, वैसे ही तुम भी अभ्यास करके पाओगे। विज्ञानदृष्टि जो तुमने सुनी है, उसकी ओर चित्त को लगाकर आत्मपद को पाओ, फिर जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! पृथ्वी में आपके ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के प्रकाश से मेरे हृदय से अज्ञानरूपी तम दूर हो गया और अब प्रबुद्ध होकर अपने आनन्दरूप में स्थित हुआ हूँ। मैंने जानने योग्य पद को जान लिया, मानों दूसरा वशिष्ठ हो गया हूँ। हे भगवन् ! यह भुशुण्डि का चरित्र आपने परमार्थबोध के निमित्त कहा, अब, मेरा प्रश्न यह है कि रक्त, मांस और अस्थि का शरीररूपी गृह किसने रचा है, कहाँ से उपजा है, कैसे स्थित हुआ है और कौन इसमें स्थित है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! परमार्थतत्त्व के बोध और दुःख की निवृत के अर्थ ये मेरे वचन हैं, सुनो। अस्थि इस शरीररूपी गृह का खम्भा है और इसके नव द्वार हैं। रक्त-मांस से जो यह लेपन किया है, सो किसी ने बनाया नहीं आभासमात्र है और मिथ्या भ्रम से भासित होता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासित हो, वैसे ही असत्रूप यह शरीर भी भ्रम से भासित होता है। हे राम ! जब तक अज्ञान है, तब तक देह सत्य भासित होता है, और जब ज्ञान होता है, तब देह असत्रूप भासित होता है। जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न के पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं और जाग्रत्काल में स्वप्न असत्य लगता है, वैसे अज्ञानकाल में अज्ञान की देहादिक पदार्थ सत्य लगते हैं, और ज्ञानकाल में असत्य हो जाते हैं। जैसे जल में बुलबुला जल के अज्ञान से सत्य लगता है और जल के जाने से असत्य लगता है, यह सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी दिखती है, वैसे ही आत्मा में देह की भावना होती है। हे राम ! जो कुछ जगत्-प्रपंच भासित

होता है वह सब आभासमात्र है और अज्ञान से भासित होता है और 'अहं', 'त्वं' आदिक कल्पना सब मनोमात्र मन में फुरती हैं। तुम जो कहते हो कि देह अस्थि और मांस का गृह रचा है, सो अस्थि-मांस से नहीं रचा, केवल संकल्पमात्र है। संकल्प से भासित होता है और संकल्प के अभाव में देह नहीं पाई जाती। हे राम ! स्वप्न में जो देह रखकर दिशा, तट, पर्वत इत्यादि तुम देखते फिरते हो, जाग्रत् में वह तुम्हारी देह कहाँ जाती है ? जो देह सत्य होती तो जाग्रत् में भी रहती। जीव मनोराज्य से स्वर्ग को जाता है तथा सुमेरु और भूमिलोक में फिरता है। हे राम ! इन स्थानों में जैसे मन का फुरना देह होकर भासित होता है सो असत्यरूप है, वैसे ही यह शरीर मन के स्फुरणमात्र है, इससे असत्य जानो।

यह मेरा धन है, यह मेरी देह है, यह मेरा देश है इत्यादिक कल्पना मन की रची हुई है—सबका बीज चित्त ही है। हे राम ! जगत् को दीर्घकाल का सपना जानो या दीर्घ चित्त का भ्रम जानो अथवा दीर्घ मनोराज्य जानो। वास्तव में जगत् कुछ नहीं है। जब जीव अपने वास्तव परमात्मस्वरूप को अभ्यास करके जानता है, तब जगत् असत्यरूप भासित होता है। हे राम ! मैंने पहले भी तुमसे ब्रह्माजी के वचनों से कहा है कि सब जगत् मन का रचा हुआ है—इससे संकल्पमात्र है। चिरकाल के अभ्यास से सत् प्रतीत होता है। जब दृढ़ प्रयत्न से पुरुष को आत्म-अभ्यास हो तब असत्य जान पड़ेगा। हे राम ! जो भावना हृदय से दृढ़ होती है, उसका अभाव भी सुगम नहीं होता; पर जब उसके विपरीत भावना का अभ्यास करिये, तब उसका अभाव हो जाता है। यह मैं हूँ, यह और है इत्यादिक कलना जो हृदय में दृढ़ हो रही है, जब इसके विपरीत आत्मभावना हो, तब वह मिटे और सर्वत्र सब आत्मा ही देख पड़े। हे राम ! जिसकी तीव्र भावना होती है, वही रूप उसका हो जाता है। जैसे कामी पुरुष को सुन्दर स्त्री की कामना रहती है, वैसे ही जीव को जब आत्मपद की चिन्ता रहे; तब वही रूप होता है। जैसे कीट भृंगी हो जाता है और जैसे दिन में जिस व्यापार का

अभ्यास होता है तो रात्रि को स्वप्न में भी वही देख पड़ता है, वैसे ही जीव को जिसका दृढ़ अभ्यास होता है, वही अनुभव होता है। जैसे सूर्य आकाश में तपता है और मरुस्थल में जल होकर भासित होता है, पर वहाँ जल का अभाव है, वैसे ही भाव से रहित पृथ्वी आदिक पदार्थ भ्रम से भावरूप भासित होते हैं। जैसे दृष्टि-दोष से आकाश में तारे मोर-पुच्छ जैसे भासित होते हैं, वैसे ही अज्ञान से यह जगज्जाल भासित होता है। हे राम ! यह सब जगत् आभासरूप है। स्वरूप के प्रमाद से जीव भय और दुःख को प्राप्त होता है, पर वह जब स्वरूप को जानता है, तब भ्रम, भय और दुःख से रहित होता है। जैसे स्वप्न में चित्त के भ्रम से सिंहों से भय पाता है, और जब जाग्रत् स्वरूप में चित्त आता है तब सिंह का भय निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान से निर्भय होता है। जब वैराग्य का अभ्यास करके जीव निर्मल आत्मपद पा जाता है, तब फिर क्षोभ को नहीं प्राप्त होता और रागद्वेषरूपी मल उसको नहीं स्पर्श करते। जैसे ताँबा जब पारस के स्पर्श से सुवर्ण होता है, तब वह ताँबे के भाव को नहीं ग्रहण करता, वैसे ही जीव फिर मलिन नहीं होता। अहं, त्वं आदिक जो कुछ जगत् भासता है, वह सब आभासमात्र ही है।

हे राम ! प्रथम सत्य और असत्य को जानकर असत्य का निरादर करो और सत्य का अभ्यास करो। तब चित्त सब कलनाओं से रहित होकर शान्तपद प्राप्त होता है। जो तत्त्वज्ञान से सम्यक्दर्शी हुआ है, उसको जगत् के इष्ट पदार्थ पाने से हर्ष नहीं होता और अनिष्ट को पाने से शोक नहीं होता। वह न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निंदा। वह हृदय में शीतल और शान्तरूप हो जाता है। जब कोई बान्धव मृतक हो, तब उससे दुःख क्यों होता है ? वह तो अवश्य ही मरता। जब अपनी मृत्यु आवे, तब अवश्य शरीर छूटता है। फिर वृथा क्यों संताप होता है। जब सम्पदा प्राप्त हो तो उससे उसे हर्ष नहीं होता; क्योंकि जो कुछ भोगना था सो भोगा; हर्ष किससे हुआ ? दुःख आकर प्राप्त हो, तब शोक क्यों करना ? शरीर का व्यवहार सुख-दुःख आता

जाता है और अमिट है। जब अपना किया कर्म उदय होता है, तब शोक क्यों करे ? हे राम ! जो सत्य है, वह असत्य नहीं और जो असत्य है सो सत्य नहीं। फिर रागद्वेष किस निमित्त करना ? जिसको ऐसा निश्चय हुआ है कि न मैं हूँ, न जगत् है और न पृथ्वी है, वह शोक किसका करे ? जब देह अन्य है और मैं चैतन्य हूँ तो चैतन्य का तो नाश नहीं होता। तब शोक किसका करना ? हे राम ! दुःख तो किसी प्रकार नहीं है ; पर जब तक विचार नहीं तब तक दुःख होता है और विचार किये से कोई दुःख नहीं रहता। जो सम्यक्‌दर्शी मुनीश्वर है, वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानता है, इस कारण दुःख नहीं पाता। जो असम्यक्‌दर्शी है वह अज्ञान से दुःख पाता है। जैसे दिन के अन्त में पृथ्वी–मण्डल शीतल हो जाता है, वैसे ही सम्यक्‌दर्शी का हृदय शीतल होता है। जिसको कर्तव्य में कर्तृत्व का अभिमान नहीं है, वही सम्यक्‌दर्शी है।

हे राम ! जितने जगत् के पदार्थ हैं, उनको हृदय से आभासमात्र जानो और बाहर जैसे आचार हो वैसे करो। अथवा उसका भी त्याग करो और निराभास होकर स्थित होओ। मैं चिदाकाश, नित्य, सर्वज्ञ और सबसे रहित हूँ, ऐसा अभ्यास करके अपने को एकान्त और निर्मल देखोगे। अथवा ऐसी धारणा करो कि न मैं हूँ, न ये भोग हैं, न अर्थरूप जगत् का आडम्बर है। अथवा ऐसे सोचो कि मैं ही नित्य,शुद्ध, चिदात्मा और आकाशरूप सब कुछ हूँ, मुझसे कुछ भिन्न नहीं। मैं अपने आपमें स्थित हूँ। इन दोनों पक्षों में जो इच्छा हो सो ग्रहण करो तो तुमको सिद्धि प्राप्त होगी। जगत् को आभासमात्र जानो, परन्तु यह भी कलंकरूप है अतः इस चिन्तना को भी त्यागकर निराभास हो। तुम चिदाकाश, नित्य, सर्वव्यापी और सबसे रहित हो; आभास को त्यागकर निर्मल अद्वैत हो रहो, अथवा विधिनिषेध दोनों दृष्टियों का आश्रय करो। हे राम ! क्रिया को करो, परन्तु रागद्वेष से रहित हो। जब रागद्वेष से रहित होगे, तब उत्तम पदार्थ ब्रह्मानन्द को पाओगे; जो सबका अधिष्ठान है, उसको पाओगे। हे राम ! जिसका हृदय रागद्वेषरूपी अग्नि

से जलता है, उसको सन्तोष वैराग्य आदिक गुण नहीं प्राप्त होते। जैसे दग्ध भूतल के वन में हिरण प्रवेश नहीं करते, वैसे ही रागद्वेषादिकयुक्त हृदय में सन्तोषादिक नहीं प्रवेश करते।

हे राम ! हृदय कल्पतरु है। ऐसा वृक्ष, जो रागद्वेषादिक सर्पों से रहित है, उससे कौन पदार्थ है, जो प्राप्त न हो—शुद्ध हृदय से सब कुछ प्राप्त होता है। हे राम ! जो बुद्धिमान् है और शास्त्र का ज्ञाता भी है, परन्तु रागद्वेष-संयुक्त है, वह सियार की तरह नीच है। उसको धिक्कार है। जिन पदार्थों को पाने के निमित्त लोग यत्न करते हैं, वे तो आते-जाते रहते हैं। धन, को इकट्ठा कोई करता है और ले कोई जाता है। तब रागद्वेष किसका करिये ? जो कुछ प्रारब्ध है सो अवश्य होता है, धन का व्यर्थ यत्न क्यों करिये ? बान्धव और वस्त्र आते हैं, और फिर जाते भी हैं। जैसे समुद्र में जलजन्तुओं का आश्रय बुद्धिमान् नहीं लेते, वैसे ही जगत् के पदार्थों का आश्रय ज्ञानवान् नहीं लेते। भाव-अभावरूप परमेश्वर की माया है। संसार की रचना स्वप्न की तरह है। उसमें जो आसक्त होते हैं, उनको वह सर्पिणी की तरह डसता है। धन, बान्धव और जगत् वास्तव में मिथ्या ही हैं, अज्ञान से सत्य भासित होते हैं। हे राम ! जो आदि में न हो और अन्त में भी न रहे, पर मध्य में भासित हो, उसको भी असत्य जानिये। जैसे आकाश में फूल असत्य हैं, वैसे ही, संसार-रचना असत्य है। जैसे संकल्प की रचना असत्य है, जैसे गन्धर्वनगर सुन्दर भासित होता है, पर भ्रमरूप है, वैसे ही यह जगत् असत्यरूप और भ्रममात्र है; केवल संकल्परूप अभ्यास के वश से दृढ़ता को प्राप्त हुआ है। दीवार जो साकार भासित होती है, वह आकार से रहित प्रकाशरूप है और आत्मपद सुषुप्ति की तरह अद्वैतरूप है। उस सुषुप्ति पद से जीव जब गिरता है, तब दीर्घ स्वप्न को देखता हैं।

हे राम ! अज्ञानरूपी निद्रा में जो अपने स्वभाव से गिरा है, वह संसाररूपी स्वप्नभ्रम को देखता है। जब अज्ञानरूपी निद्रा का अभाव

हो, तब यह आत्मराज्य और निर्विकल्प मुदित आत्मपद को प्राप्त होता है। जैसे सूर्य को देखकर कमल प्रफुल्लित होते हैं वैसे ही ज्ञान से शुभगुण विकसित होते हैं। आत्मरूपी सूर्य सब दुःखों से रहित है। जो पुरुष निद्रा में होता है, वह सूक्ष्म वचनों से नहीं जागता, पर बड़े शब्द करने और जल डालने से जागता है, वैसे ही मैंने मेघ की तरह गर्जकर तुम पर वचनरूपी जल की वर्षा की है। ज्ञानरूपी शीतलता सहित ये वचन हैं उनसे अब तुम ज्ञानरूपी जाग्रत् बोध को प्राप्त हुए। ऐसे ज्ञानरूपी सूर्य से जगत् को भ्रमरूप देखोगे। हे राम ! तुमको न जन्म है, न मृत्यु है, न कोई दुःख है, न भ्रम है। तुम सब संकल्पों से रहित आत्मपुरुष अपने आपमें स्थित हो। तुम्हारी वृत्ति सम, शान्त और सुषुप्ति की भाँति है। तुम अति विस्तृत, सम, शुद्ध और अपने स्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थ योगोपदेशो
नाम चतुर्विंशतितमस्सर्गः ।। २४।।

इतना कहकर, वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा, तब रामजी, सम, शान्त और चेतनतत्त्व में विश्राम पाकर परमानन्द को प्राप्त हुए। समस्त सभा जो बैठी थी, वह भी वशिष्ठजी के वचन सुनकर सम और आत्मसमाधि में स्थित हुई और बोलने का व्यवहार शान्त हो गया। पिंजड़े में जो पक्षी बोलते थे; वे भी शान्त हो गये। वन के जो वानर थे, वे भी वचन सुनकर स्थित हो रहे। सब ओर शान्ति छा गई। जैसे अर्द्धरात्रि के समय भूमि शान्त हो जाती है, वैसे ही सभा के लोग चुप हो रहे और वचनों पर विचारने लगे कि क्या उपदेश मुनीश्वर ने किया है। एक घड़ी तक शान्ति रही।

उसके अनन्तर फिर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अब तुम सम्यक् प्रबुद्ध हुए हो और अपने आपमें स्थित हो। जो कुछ तुमने जाना है, उसके अभ्यास का त्याग न करना, इसी में दृढ़ रहना। हे राम ! संसाररूपीं चक्र का नाभिस्थान चित्त है। उसी चित्तनाभि के स्थिर होने पर संसारचक्र भी स्थिर हो जाता है। इस संसाररूपी चक्र का बड़ा तीव्र वेग है। रोकने से

भी नहीं रुकता। इससे दृढ़ प्रयत्न करके इसको रोकिये। सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के वचनों से शुद्ध हुई बुद्धि ही इसे रोक सकती है। हे राम ! अज्ञान से जो दैव कल्पा है, उसका त्यागकर अपने पुरुषार्थ का आश्रय लो। इसी से परम शान्तपद प्राप्त होता है। ब्रह्मा से लेकर चींटी तक यह अज्ञानरूपी संसारचक्र असत्रूप है और भ्रम से सत् की नाईं भासित होता है। इसका त्याग करो। हे राम ! असत्रूप पदार्थों में जो राग या द्वेष रखते हैं, वे मूर्ख हैं। उनसे तो चित्रलिखित पुरुष भी श्रेष्ठ हैं। जब इष्टविषय प्राप्त होता है, तब ये हर्ष से प्रफुल्लित होते और अनिष्ट की प्राप्ति से द्वेष करते हैं; पर चित्र के पुरुष को किसी में रागद्वेष नहीं होता। इस कारण मैं कहता हूँ कि चित्र का पुरुष भी इनसे श्रेष्ठ है। ये आधि-व्याधि से जलते हैं, पर वह सदा ज्यों-का-त्यों है। चित्र का पुरुष तब नष्ट होता है, जब उसके आधार का नाश करिये; अधिष्ठान के नाश बिना उसका नाश नहीं होता। पर मनुष्य का आधार अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता। वह मूर्खता से अपने को नष्ट होता मानता है और रागद्वेष से संयुक्त है, इस कारण चित्र के पुरुष से भी तुच्छ है। मनोराज्य संकल्प रूप देह भी इस देह से श्रेष्ठ है; क्योंकि जो कुछ दुःख इसको होते हैं वे बहुत काल तक रहते हैं, पर दुःख और संकल्प के आने से मनोराज्य का अभाव हो जाता है, इससे वह थोड़ा है। संकल्पदेह से भी स्थूलदेह तुच्छ है। हे राम ! जो थोड़े समय से देह हुई है; उसमें दुःख भी थोड़ा है और जो दीर्घ संकल्परूपी देह है, वह दीर्घ दुःख को ग्रहण करती है, इससे महानीच है।

हे राम ! यह देह भी संकल्पमात्र है। न सत् है, न असत् है; उसके भोग के लिये यत्न मूर्ख करते हैं और क्लेष पाते हैं। देह का अभिमान करके इसके सुख से वे सुखी होते हैं और दुःख से दुःखी। इसके नष्ट होने से आपको नष्ट हुआ मानते हैं। जैसे मनोराज्य का नाश होने से पुरुष का और दूसरे चन्द्रमा का नाश होने से चन्द्रमा का नाश नहीं होता, वैसे ही इस देह का नाश होने पर देही पुरुष का नाश नहीं होता। जैसे संकल्प-पुरुष का नाश होने से पुरुष का नाश नहीं होता और जैसे स्वप्नभ्रम के नाश से पुरुष का

नाश नहीं होता, वैसे ही देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे घनी धूप के कारण रेणुका में जल भासित होता है और भली प्रकार जाकर देखिये, तब जल का अभाव हो जाता है, परन्तु देखनेवाले का अभाव नहीं होता, वैसे ही संकल्प से रचा नश्वर देह के नाश से तुम्हारा नाश तो नहीं होता। हे राम ! दीर्घकाल का रचा जो स्वप्नमय देह है, उसके दुःख और नाश से आत्मा को दुःख या उसका नाश नहीं होता। चैतन्य आत्मसत्ता नष्ट नहीं होती और स्वप्न से चलायमान भी नहीं होती; न विकार को प्राप्त होती है। वह तो सर्वदा शुद्ध और अच्युतरूप अपने आपमें स्थित है और देह के नाश से उसका नाश नहीं होता। अज्ञान के दृढ़ अभ्यास से देह के धर्म अपने में भासित होने लगे हैं। जब आत्मा का दृढ़ अभ्यास हो तो देहाभिमान और देह के धर्मों का अभाव हो जायगा। जैसे कोई चक्र पर चढ़कर घूमता है तो उतरने पर कुछ काल तक घूमता सा लगता है। पर जब चिरकाल व्यतीत होता है, तब स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार देहरूपी चक्र पर चढ़ा हुआ जीव अज्ञान से भरमा हुआ अपने को भ्रमता देखता है और जब अज्ञान का वेग निवृत्त होता है, तब भी कुछ काल तक देहभ्रम भासित होता है, जिससे जानता है कि मेरा नाश होता है, मुझको दुःख होता है इत्यादिक। यह कल्पना अज्ञान से होती है। पर जब उस भ्रमदृष्टि को धैर्य से निवृत्त करते हैं, तब उसका अभाव हो जाता है।

हे राम ! जैसे भ्रम से रस्सी में सर्प भासता है, वैसे ही आत्मा में देह भासती है। वह असत् और जड़ है। न कर्म करती है और न मुक्त होने की इच्छा करती है। दैव परमात्मा भी कुछ नहीं करता। वह सदा शुद्ध द्रष्टा और प्रकाशक है। जैसे निर्वात दीप अपने आपमें स्थिर होता है, वैसे ही तुम भी शुद्ध स्वरूप अपने आपमें स्थित हो। जैसे सूर्य आकाश में स्थित होता है, पर सब जगत् को प्रकाशित करता है और उसके आश्रय से लोग चेष्टा करते हैं, परन्तु सूर्य कुछ नहीं करता, वह केवल सबका साक्षी है, वैसे ही आत्मा के आश्रय से देहादिक की चेष्टा

होती है। परन्तु आत्मा साक्षीरूप और पापपुण्य से रहित है। हे राम ! इस देहरूपी शून्य गृह में अहंकाररूपी पिशाच कल्पित है। जैसे बालक परछाहीं में वैताल की कल्पना करके भय पाता है, वैसे ही अहंकाररूपी पिशाच की कल्पना कर जीव भय पाता है। वह अहंकाररूपी पिशाच महानीच है। सब संतजन उसकी निन्दा करते हैं। जब अहंकाररूपी वैताल निकले, तब आनन्द हो। देहरूपी शून्य गृह में इसका निवास है जो पुरुष इसका दास हो रहा है, उसको यह नरक में ले जाता है। इससे तुम इसके दास न होना। जब इसके नाश का उपाय करोगे, तब आनन्द पाओगे। हे राम ! यह चित्तरूपी उन्मत्त वैताल जिसको स्पर्श करता है, उसको अशुद्ध करता है, अर्थात् उसका धैर्य और निश्चय अस्त-व्यस्त करके उसे दुःख देता है और निज स्वरूप से गिरा देता है। जो बड़े-बड़े साधु-महन्त हैं, वे भी इसके भय से समाधि में स्थित होते हैं कि किसी प्रकार अहंकार का अभाव हो।

हे राम ! अहंकाररूपी पिशाच जिसको स्पर्श करता है, उसको आप-सा कर लेता है। यह जैसे आप तुच्छ हैं, वैसे ही और को भी तुच्छ बनाता है। जहाँ सत्संग, सत्शास्त्र का विचार और आत्मज्ञान का निवास नहीं होता, उस शून्य और उजाड़ देहमंदिर में यह रहता है, और जो कोई ऐसे स्थान में प्रवेश करता है उसमें प्रवेश कर जाता है। हे राम ! जिसको अहंकाररूपी पिशाच लगा है, उसका धन से कल्याण नहीं होता, और न मित्र-बान्धव से कल्याण होता है। अहंकार-पिशाच से मिला हुआ जो कुछ कर्म वह करता है, वह अपने नाश के निमित्त करता है और विष की बेलि को उपजाता और बढ़ाता है। हे राम ! जो पुरुष विवेक और धैर्य से रहित है उसको अहंकाररूपी पिशाच शीघ्र ही खा जाता है। वह सर्वरूप है और जिसको स्पर्श करता है, उसको मुर्दा करके छोड़ता है। जिसको अहंकाररूपी पिशाच लगा है, वह नरकरूपी अग्नि में काष्ठ की नाईं जलेगा। अहंकाररूपी सर्प देहरूपी वृक्ष के छिद्र में विष से भरा बैठा है। उसके निकट जो जायगा, उसको वह मार डालेगा। जो अहं-मम भाव को प्राप्त

होगा, वह मृतक-समान होगा और जन्म-मरण पावेगा। अहंकाररूपी पिशाच जिसको लगता है, उसे मलिन करता है और स्वरूप से गिराकर संसाररूपी गढ़े में डालता है। बड़ी आपदाएँ उस पर ढाता है। जितनी आपदाएँ हैं, उन्हें अहंकार ढाता है। बहुत वर्षों तक भी उन आपदाओं का वर्णन न हो सकेगा।

हे राम ! यह जो मलिन कल्पनाएँ उठती हैं कि 'मै हूँ', 'मैं मरता हूँ', 'मैं दग्ध होता हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', उनका मूल अहंकाररूपी पिशाच की शक्ति है। आत्मस्वरूप नित्य, शुद्ध, चिदाकाश, सर्वगत, सच्चिदानन्द, जीव सबका अपना है, पर अहंकार के वश होकर यह जीव अपने को परिच्छिन्न और निर्लिप्त होकर भी दुःखी मानता है। जैसे आकाश सर्वगत और निर्लेप है, वैसे ही आत्मा सबमें निर्लेप है और सबका सम्बन्धी, पर अहंकार के सम्बन्ध से रहित है। हे राम ! ग्रहण, त्याग, चलना, बैठना इत्यादिक जो कुछ कर्म हैं, उन्हें देहरूपी यन्त्र और वायुरूपी रस्सी से अहंकाररूपी यन्त्री कराता है। आत्मा सदा निर्लेप, सबका अधिष्ठान और कारणकार्य भाव से रहित है। जैसे वृक्ष की ऊँचाई का कारण यह आकाश निर्लेप है, वैसे ही आत्मा सर्वचेष्टा का कारण, अधिष्ठान और निर्लेप है। जैसे आकाश और पृथ्वी का सम्बन्ध नहीं, वैसे ही आत्मा और अहंकार का सम्बन्ध नहीं है। चित्त को जो 'आप' जानते हैं वे महामूर्ख हैं। आत्मा प्रकाशरूप, नित्य और सर्वगत विभु है; चित्त मूर्ख, जड़ और आवरण करता है। हे राम ! आत्म सर्वज्ञ और चैतन्यरूप है; पर चित्त मूढ़ और पत्थर सा जड़ है। इसको दूर करो। इसका और तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं। तुम इस मोह को त्यागो। देहरूपी शून्य गृह में चित्तरूपी वैताल का निवास है। जिसको वह अपने वश करता है, जिसको बान्धव नहीं छुड़ा सकते, और शास्त्र भी नहीं छुड़ा सकते। जिसका देहाभिमान क्षीण हो गया है, उसको गुरु और शास्त्र ही छुड़ा सकते हैं, जैसे थोड़ी कीचड़ से हिरण को निकाल लेते हैं वैसे ही गुरु और शास्त्र उसे निकाल लेते हैं।

हे राम ! जितने देहरूपी शून्य मंदिर हैं, उन सबमें अहंकाररूपी

पिशाच रहता है। कोई देहरूपी गृह अहंकार-पिशाच से खाली नहीं है। उस पर भय सवार है। जैसे पिशाच अपवित्र स्थान में रहता है, पवित्र स्थान में नहीं, वैसे ही जहाँ सन्तोष, विचार, अभ्यास, सत्संग से रहित देह है, उसी स्थान में अहंकार निवास करता है। जहाँ सन्तोष, विचार, अभ्यास और सत्संग होता है, वहाँ से वह मिट जाता है। जितने शरीररूपी श्मशान हैं, वे चित्तरूपी वैताल से पूर्ण हैं। अपरिमित मोहरूपी वैताल के वश जीव जगत्‌रूपी महावन में मोह को प्राप्त होते हैं, जैसे बालक मोह के वश होता और डरता है। हे राम ! तुम आप अपना उद्धार करो और सत्य विचार करके धैर्य धरो। इस जगत्‌रूपी पुरातन वन में जीवरूपी मृग विचरते हैं और भोगरूपी तृण चरते हैं। पर वे भोगरूपी तृण देखने में तो सुन्दर लगते हैं, परन्तु उनके नीचे गड्ढा है। जैसे हरियाली और तृण से ढका हुआ गड्ढा देख मृग के बालक घास चरने लगते हैं और गड्ढे में गिर पड़ते हैं, वैसे ही जीवरूपी मृग भोगों को रमणीय जानकर भोगने लगते हैं और उनकी तृष्णा से नरक आदिक में गिरते और दुःख की अग्नि में जलते हैं। हे राम ! तुम ऐसे न होना। जो कोई भोगों की तृष्णा करेगा, वह नरकरूपी गड्ढे में गिरेगा। इससे तुम मृग-बुद्धि को त्यागकर सिंहवृत्ति को धारण करो। मोहरूपी हाथी को सिंह होकर अपने नखों से विदीर्ण करो और भोग की तृष्णा से रहित बनो। भोग की तृष्णावाले जीव जम्बूद्वीपरूपी जंगल में मृग की तरह भटकते हैं-उनकी तरह तुम न विचरना। हे राम ! स्त्री जो रमणीय लगती है, उसका स्पर्श अल्पकाल ही शीतल और सुखदायक लगता है। परन्तु वह कीचड़ की तरह है। कीचड़ का लेप भी शीतल लगता है, परन्तु तुच्छ है। जैसे दलदल में फँसा हुआ हाथी उससे निकल नहीं सकता, वैसे ही यह भोगरूपी दलदल में फँसा हुआ जीव नहीं निकल सकता। इससे तुम सन्त की वृत्ति को ग्रहण करो। ग्रहण करना किसको कहते हैं और त्याग किसका नाम है, ऐसे विचार से असत्‌वृत्ति को त्याग करो और आत्मतत्त्व का आश्रय लो।

हे राम ! यह अपवित्र देह अस्थि, मांस, रुधिर से पूर्ण और तुच्छ

है। इसका आचार दुष्ट है। देह के निमित्त भोग की इच्छा करने से परमार्थ नहीं सिद्ध होता। देह रची और ने है, यह चेष्टा और से करती है और इसमें प्रवेश और ने किया है। दुःख **को** ग्रहण और करता है, जो दुःख का भागी होता है। संकल्प ने देह रची है, प्राण से यह चेष्टा करती है, अहंकार-पिशाच ने इसमें प्रवेश किया है और गर्जता है। मन की वृत्ति सुख-दुःख को ग्रहण करती है और जीव दुःखी होता है। यह आश्चर्य है। हे राम ! परमार्थसत्ता एक है और सर्वत्र समान है। इससे भिन्न सत्ता नहीं। जैसे पत्थर घनजड़ होता है और उसमें और कुछ नहीं उपजता, वैसे ही सत्तामात्र से भिन्न दूसरी सत्ता किसी पदार्थ की नहीं है। जैसे पत्थर घनरूप है, वैसे ही परमात्मा घनरूप है। जड़ और चेतन भिन्न नहीं है। यह मिथ्या संकल्प की रचना है। जैसे बालक को परछाहीं में वैताल भासता है, वैसे ही सब कल्पना मन की है। जैसे एक ऊख के रस से गुड़, शक्कर इत्यादि बनती है, वैसे ही एक परमोत्तम सत्तासमान सब है। उसमें जड़-चेतन की कल्पना मिथ्या है। जब तक सम्यक्दृष्टि नहीं प्राप्त हुई, तब तक जड़-चेतन की दृष्टि होती है और जब यथार्थदृष्टि प्राप्त होती है; तब सब भेदकल्पना मिट जाती है। जैसे सीपी में जो चाँदी भासती है सो न सत्य होती है और न असत्य होती है, वैसे ही आत्मा में जड़-चेतन; सत्य-असत्य की विलक्षण कल्पना है। हे राम ! जो सत्य है वह असत्य नहीं होता और जो असत्य है वह सत्य नहीं होता। आत्मा सदा सत्यरूप और अपने आपमें स्थित है। उसमें द्वैत और एक का अभाव है। जैसे पत्थर में अन्य सत्ता का अभाव है, वैसे ही आत्मा में द्वैतसत्ता का अभाव है। नानारूप भासित होने पर भी द्वैत कुछ नहीं है वह सदा अनुभवरूप है। उसमें विभागकल्पना कुछ नहीं—सदा अद्वैतरूप है। भेदकल्पना चित्त से भासती है। जब चित्त का अभाव होता है, तब जड़-चेतन की कल्पना मिट जाती है। जैसे वन्ध्या के पुत्र और आकाश में वृक्ष का अभाव है, वैसे ही आत्मा में कल्पना का अभाव है।

हे राम ! यह चेतन है, यह जड़ है, यह उपजता है, यह मिट जाता

है इत्यादि सब कल्पना मिथ्या है। जैसे रस्सी में सर्प मिथ्या है, वैसे ही केवल निर्विकल्प चिन्मात्र आत्मा में कल्पना मिथ्या है। गुरु और शास्त्र भी जो आत्मा को चैतन्य और अनात्मा को जड़ कहते हैं, वह भी बोध के निमित्त कहते हैं और दृष्टान्त युक्ति से दृश्य की आत्मस्वरूप में स्थिति कराते हैं। जब स्वरूप में दृढ़ स्थिति होगी, तब जड़-चेतन की भेद-कल्पना जाती रहेगी; केवल अचिंत्य चिन्मात्र सत्ता भासित होगी, जो तत्त्व है। इस प्रकार गुरु जड़-चेतन के विभाग का उपदेश करते हैं। तो भी मूर्ख नहीं ग्रहण कर सकते। जब प्रथम ही अचिंत्य-चिन्मात्र-अवाच्यपद का उपदेश करे, तब कैसे ग्रहण करे। हे राम ! और आश्चर्य देखो। चित्त और है, इन्द्रियाँ और हैं, देह और है, देह का कर्ता कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। देह अहंकार से घिरी है। यह जीव ऐसा मूर्ख है कि देह को अपना रूप जानता है और दुःख पाता है। पर जो विचारवान् पुरुष आत्मपद में स्थित हुए हैं उन महानुभावों को कोई क्रिया दुःखबन्धन में नहीं डाल सकती। जैसे मन्त्र जाननेवाले को सर्प दुःख नहीं दे सकता, वैसे ही ज्ञानवान् को कर्म बन्धन नहीं करते। हे राम ! न तुम शीश हो, न नेत्र हो, न रक्त हो, न मांस हो, न अस्थि आदिक हो, न मन हो और न भूतजात हो। तुम चित्त से रहित चैतन्य केवल चिन्मात्र साक्षीरूप हो। इसीलिये शरीर की ममता त्यागकर नित्य शुद्ध और सर्वगत आत्मस्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देहसत्ताविचारो नाम पञ्चविंशतितमस्सर्गः ।। २५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसी दृष्टि को ऐसे ग्रहण करो और भेद कष्टदृष्टि का त्याग और नाश करो। जब कष्टदृष्टि नष्ट होगी, तब ऐसा आत्मानन्द प्रकट होगा, जिस आनन्द के पाने से अष्टसिद्धि का ऐश्वर्य भी अनिष्ट जानकर त्याग दोगे। अब और ऐसी दृष्टि का वर्णन सुनो जो महामोह का नाश करती है और दुर्लभ कठिन आत्मपद को सुखपूर्वक प्राप्त कराती है, जिसका नाश कभी नहीं होता। इस दृष्टि का वर्णन दुःख से रहित आनन्दरूप शिवजी से मैंने सुना है। इसे पूर्वकाल

में कैलास की कन्दरा में संसारदुःख की शान्ति के लिए अर्द्धचन्द्रधारी सदाशिव ने मुझसे कहा था। हे राम ! पूर्ण चन्द्रमा की तरह शीतल और प्रकाशमान हिमालय पर्वत का एक शिखर कैलास है; जहाँ गौरी के रमणीय स्थान और मन्दिर हैं, गंगा का प्रवाह झरनों से चलता है, पक्षी शब्द करते हैं और मन्द-मन्द सुखदायक पवन चलता है। कुबेर मोर वहाँ विचरते हैं, कल्पवृक्ष लगे हुए हैं और महाउज्ज्वल, शीतल, सुन्दर कन्दरा में मन्दार और तमाल के वृक्ष लगे हुए हैं, जिनमें ऐसे फूल लगे हैं, जैसे श्वेत मेघ हों। वहाँ गन्धर्व और किन्नर आते और गाते हैं और देवताओं के रमणीय सुन्दर स्थान हैं। उस पर्वत पर त्रिनेत्र सदाशिव हाथ में त्रिशूल लिये, गणों से घिरे हुए, अर्धांग में भगवती को लिए विराजते हैं। सब लोकों के कारण ईश्वर, जिन्होंने कामदेव का गर्व नष्ट किया, षट्मुख सहित स्वामिकार्त्तिक जिनके पास बैठे हैं और महाभयानक शून्य श्मशानों में जिनका निवास है, उन देव की मैंने पूजा की। फिर एक कुटी बनाकर, एक कमण्डलु और फूल और माला पूजन के निमित्त रक्खे, यथाशास्त्र पुण्य क्रिया से उस कंदरा में तप करने लगा। जलपान करता, फूल भोजन करता, विद्यार्थी जो साथ थे उनको पढ़ाता और शास्त्र का अर्थ विचारता था।

ब्रह्मविद्या की पुस्तकों का समूह आगे था। आसपास मृग और उनके बालक विचरते थे। इस प्रकार वेद पढ़ता, ब्रह्मविद्या को विचारता और शास्त्र के अनुसार तप करता मैं कैलास वनकुञ्ज में रहता था। निदान श्रावण बदी अष्टमी की अर्द्धरात्रि को जब मैं समाधि से उठा तो क्या देखता हूँ कि दसो दिशा काष्ठवत् मौन और शान्तरूप हैं। महातम घिरा है और मन्द-मन्द पवन चलता है। ओस के कन गिरते हैं जैसे पवन हँस रहा हो। उसी समय महाशीतल अमृतरूपी किरणों से चन्द्रमा प्रकाशित होकर औषधियों को रस से पुष्ट करने लगा। चन्द्रमुखी कमल खिल आये। चकोर अमृत की किरणों को पानकर मानों चन्द्रमारूप हो गये। प्रातःकाल के तारों की तरह मणियाँ ऊपर आकर गिरने लगीं और सप्तर्षि सिर पर स्थित हुए-मानों मेरे तप को

देखने आये हों। सप्तर्षियों में पिछले जो तीन तारे हैं, उनके मध्य में मेरा मन्दिर है; वहाँ मैं सदा विराजता हूँ। चन्द्रमा से सब स्थान शीतल हो गये और पवन से फूल गिरने लगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठआश्रमवर्णनं
नाम षड्विंशतितमस्सर्गः।। २६।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तब मुझको तेज का प्रकाश देख पड़ने लगा। जैसे मन्दराचल पर्वत के मन्थन से क्षीरसमुद्र उछल पड़ा है; या हिमालय पर्वत मूर्तिमान स्थित है; या माखन का पहाड़ खड़ा है; या सब शंखों की उज्जवलता स्पष्ट स्थित हुई है; या मोतियों का समूह इकट्ठा होकर उड़ने लगा है। वह महातीव्र प्रकाश ऐसा था, मानो गंगा का प्रवाह उछलने लगा हो। उस प्रकाश की शीतलता से सब दिशाएँ और उनके किनारे भर गये और मैं देखकर आश्चर्य करने लगा कि क्या असमय ही प्रलय होने लगा। तब मैं बोधदृष्टि से मन में विचारने लगा कि यह क्या है। तब देखा कि देवताओं के गुरु ईश्वर सदाशिव चन्द्रकला को धारण किये और गौरी भगवती का हाथ पकड़े गणों के समूह में घिरे चले आते हैं। उनके कानों में सर्प पड़े थे। कण्ठ में मुण्डों की माला थी, शीश पर जटा थी और उन पर कदम्ब वृक्ष और तमाल वृक्ष के फूल पड़े हुए थे। उनको प्रथम मैंने मन से देखा। मन ही से मन्दार वृक्ष के पुष्प लेकर अर्घ्य पाद्य किया। मन ही से प्रणाम किया और मन ही से प्रदक्षिणा कर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। फिर अपने शिष्य को जगाकर अर्घ्य पाद्य लेकर चला और त्रिनेत्र शिवजी को पुष्प अञ्जली दे और प्रदक्षिणा कर प्रणाम किया।

तब चन्द्रधारी ने मुझको कृपादृष्टि से देखा और सुन्दर मधुरवाणी से कहा—हे ब्राह्मण ! अर्घ्य पाद्य ले आओ, हम तुम्हारे आश्रम में अतिथि आये हैं। हे निष्पाप ! तुमको कल्याण तो प्राप्त है ? तुम मुझको महाशान्तरूप देख पड़ते हो और महासुन्दर उज्जवल तप की शोभा तथा तेज से शोभित हो। चलो, हम तुम्हारे आश्रम को चलें। हे राम ! फूलों से आच्छादित स्थान में सदाशिव बैठे थे; सो ऐसे कहकर उठ खड़े हुए और अपने गणों सहित

मेरी कुटी में आये। वहाँ मैंने पुष्प और अर्घ्य से उनके चरणों की पूजा करके फिर हाथों की पूजा की। इसी प्रकार चरणों से लेकर शीश पर्यन्त सब अंगों की पूजा की। फिर गौरी भगवती का पूजन करके उनकी सखियों और शिव के गणों को पूजा। हे रामजी ! इस प्रकार भक्तिपूर्वक जब मैं पार्वती परमेश्वर का पूजन कर चुका, तब शशिकलाधारी शिवजी ने शीतल वाणी से मुझसे कहा कि हे ब्राह्मण ! नाना प्रकार की चिन्तनेवाली जो चित्तवृत्ति है, वह तुम्हारे स्वरूप में विश्रान्ति को प्राप्त हुई है और तुम्हारी संवित् आत्मपद में स्थित हुई है। तुम्हारे शिष्यों का कल्याण तो है और तुम्हारे पास जो हिरण विचरते हैं, वे भी सुख से हैं ? मन्दार वृक्ष तुमको पूजा के निमित्त फूल-फल भली प्रकार देते हैं और गंगाजी तुमको भली प्रकार स्नान कराती हैं ? देह के इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में तुमको खेद तो नहीं होता ? इस पर्वत में कुबेर के अनुचर यक्ष और राक्षस जो रहते हैं, वे तुमको दुःख तो नहीं देते और मेरे गण जो निशाचर हैं, वे तो तुमको कष्ट नहीं पहुँचाते ?

हे रघुनन्दन ! इस प्रकार जब देवेश ने मुझसे वाञ्छित प्रश्न किये, तब मैंने उनसे कहा-हे कल्याणरूप महेश्वर ! जो तुमको सदा स्मरण करते हैं, उनको इस लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो पाना कठिन हो। उनको भय भी किसी का नहीं। जिनका चित्त तुम्हारे स्मरण के आनन्द में सब ओर से पूर्ण हुआ है, वे जगत् में दीन नहीं होते। वही देश उन्हीं जनों के चरण और वही दिशा तथा पर्वत वन्दना करने के योग्य हैं, जहाँ एकान्त बुद्धि से बैठकर तुम्हारा स्मरण होता है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण पूर्वपुण्यरूपी वृक्ष का फल है, जो वर्तमान कर्मों से सिंचता है। तुम मन के परम मित्र हो। तुम्हारा स्मरण सब आपदाओं को हरनेवाला है। वह सर्व सम्पदारूपी लता को बढ़ानेवाला वसन्तऋतु है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण बड़ी महिमा और बड़े से बड़े कर्मों के कारण का भी कारण है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण विवेकरूपी समुद्र में परमार्थरूपी रत्न हैं; अज्ञानरूपी तम का नाशकर्ता सूर्य का समूह है; ज्ञान-अमृत का

कलश, धैर्यरूपी चाँदनी का चन्द्रमा और मोक्ष का द्वार है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण अपूर्व उत्तम दीपक है। वह चित्त का मन्दिर जो संसार है, उस सबको प्रकाशित करता है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण उदार चिन्तामणि की नाईं सब आपदाओं को निवृत्त करनेवाला और बड़े उत्तम पद को देनेवाला है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण एक क्षण भी चित्त में स्थित हो तो सब दुःख और भय नष्ट करता है और वरदायक है। उसके बल से मैं भी तुम्हारी भाँति सुख से बसता हूँ।

वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब मुनीश्वर ने कहा, तब दिन का अन्त हुआ। सब लोग परस्पर नमस्कार करके अपने-अपने स्थान को गये और सूर्य की किरणों के उदय के साथ फिर अपने-अपने आसन पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रुद्रवशिष्ठसमागमो नाम सप्तविंशतितमस्सर्गः।। २७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब मैंने इस प्रकार कहा, तब गौरी भगवती जगत्-माता, जैसे माता पुत्र से कहे, मुझसे बोलीं-हे वशिष्ठ ! पतिव्रताओं में मुख्य अरुन्धती कहाँ है ? उसको ले आओ। वह मेरी प्यारी सखी है। उससे मैं कथा-वार्ता करूँगी। हे रामजी ! इस प्रकार जब मुझसे पार्वती ने कहा, तब मैं शीघ्र ही जाकर अरुन्धती को ले आया। वे दोनों परस्पर कथा-वार्ता करने लगीं। मैंने विचारा कि मुझको ईश्वर मिले हैं और पूछने का अवसर भी पाया है, इससे सर्व ज्ञान के समुद्र से पूछकर संदेह दूर करूँ। हे राम ! ऐसे विचार करके मैंने गौरीश से जो पूछा और जो कुछ चन्द्रकलाधारी ने मुझसे कहा, वह तुमसे कहता हूँ। मैंने पूछा, हे भगवन् ! तुम भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों के ईश्वर और सब कारणों के कारण हो। तुम्हारे प्रसाद से मैं कुछ पूछने को समर्थ हुआ हूँ। हे महादेव ! जो कुछ मैं पूछता हूँ, उसे प्रसन्नबुद्धि हो, उद्वेग को त्यागकर, शीघ्र ही कहो। हे सब पापों के नाशक और सब कल्याण की वृद्धि करनेवाले !

देव-अर्चन का विधान मुझसे कहो।

ईश्वर बोले, हे ब्राह्मण ! जो उत्तम देव-अर्चन है और जिसके किये से संसारसमुद्र से जीव तर जाता है, सो सुनो। हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! पुण्डरीकाक्ष विष्णु देव नहीं और त्रिलोचन शिव भी देव नहीं। कमल से उपजा ब्रह्मा भी देव नहीं और सहस्त्रनेत्र इन्द्र भी देव नहीं। न देव पवन है, न सूर्य है, न अग्नि है, न चन्द्रमा है, न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न तुम हो, न मैं हूँ, न देह है, न चित्त है और न कलनारूप है। अकृत्रिम, अनादि, अनन्त और संवित्रूप ही देव कहाता है। आकारादिक परिच्छिन्नरूप हैं, वे वास्तव में कुछ नहीं। एक अकृत्रिम, अनादि, अनन्त, चैतन्यरूप देव है। वही देव शब्द का वाचक है और उसी का पूजन पूजन है। उस देव को, जिससे यह सब हुआ है और जो सत्ताशान्त-आत्मरूप है, सर्वत्र व्याप्त देखना ही उसका पूजन है पर जो उस संवित्तत्त्व को नहीं जानते, उनके लिये साकार की अर्चना का विधान है। जैसे जो पुरुष योजनपर्यन्त नहीं चल सकता, उसको एक कोस दो कोस का चलना भी भला है, वैसे ही जो पुरुष अकृत्रिम देव की पूजा नहीं कर सकता, उसको साकार का पूजना भी भला है। हे ब्राह्मण ! जिसकी भावना कोई करता है, उसके फल उसी के अनुसार भोगता है। जो परिच्छिन्न (खंडित) की उपासना करता है, उसको फल भी परिच्छिन्न प्राप्त होता है और जो अकृत्रिम, आनन्दरूप, अनन्त देव की उपासना करता है, उसको वही परमात्मरूपी फल प्राप्त होता है। हे साधो ! अकृत्रिम फल को त्याग कर जो कृत्रिम को चाहते हैं, वे ऐसे हैं जैसे कोई मन्दार वृक्ष के वन को त्याग कर कंटक के वन को प्राप्त हो। वह देव कैसा है, उसकी पूजा क्या है और क्योंकर होती है, सो सुनो।

बोध, साम्य और शम, ये तीन फूल हैं। बोध सम्यक्ज्ञान का नाम है; अर्थात् आत्मतत्त्व को ज्यों का त्यों जानना। साम्य सबमें पूर्ण देखने को कहते हैं और शम का अर्थ यह है कि चित्त को निवृत्त करना और आत्मतत्त्व से भिन्न कुछ न देखना। इन्हीं तीनों फूलों से चिन्मात्र शुद्ध देव

शिव की पूजा होती है; आकार की अर्चना से अर्चा नहीं होती। चिन्मात्र आत्मसंवित् को त्यागकर और जड़ की जो अर्चना करते हैं, वे चिरकाल पर्यन्त क्लेश के भागी होते हैं। हे ब्राह्मण ! जो ज्ञात-ज्ञेय पुरुष हैं, आत्म-ध्यान से भिन्न पूजन-अर्चन को बालक की क्रीड़ा सा मानते हैं। आत्मा भगवान् एक देव है। वही शिव और परम कारणरूप है। उसका सर्वदा ज्ञान-अर्चन से पूजन करो। और कोई पूजा नहीं है। चैतन्य, आकाश और निरवयव स्वभाव एक आत्मदेव को जानो। पूज्यपूजक और पूजा त्रिपुटी से आत्मदेव की पूजा नहीं होती। मैंने पूछा, हे भगवन् ! चैतन्य, आकाशमात्र आत्मा को कैसे जगत् और चैतन्य को कैसे जीव कहते हैं, सो कहो।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! चैतन्य आकाश प्रसिद्ध है। वह प्रकृति से रहित है। जो महाकल्प में शेष रहता है, वह आप ही किंचनरूप होता है। उसी किंचन से यह जगत् होता है। जैसे स्वप्न में चिदात्मा ही सर्वगत जगत्रूप होकर भासता है, वैसे ही जाग्रत् जगत् भी चिदाकाशरूप है। आदि सर्ग से लेकर इस काल पर्यन्त आत्मा से भिन्न पदार्थ का अभाव है। जैसे स्वप्न में जो जगत् भासता है सो भी सब चिदाकाशरूप है, भिन्न कल्पना कोई नहीं। चिन्मात्र ही पहाड़रूप है, चिन्मात्र ही जगत् है, चिन्मात्र ही आकाश है, चिन्मात्र ही सब जीव है, और चिन्मात्र ही सब भूत है, चिन्मात्र से भिन्न कुछ नहीं। सृष्टि के आदि से अन्त पर्यन्त जो कुछ द्वैतकल्पना भासती है, सो भ्रममात्र है। जैसे स्वप्न में कोई किसी के अंग काटे सो वास्तव में काटता तो नहीं, निद्रा-वेश से ऐसा लगता है, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी भ्रममात्र है। हे मुनीश्वर ! आकाश, परमाकाश और ब्रह्माकाश, तीनों एक ही के पर्याय हैं। जैसे स्वप्न में संकल्परूप माया से जो अनुभव होता है सो सब चिदाकाश है, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् चिदाकाशरूप है। जैसे स्वप्नपुर आकाश से भिन्न नहीं होता, वैसे जाग्रत् स्वप्न भी आत्मतत्त्व होकर भासित होता है, आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है। हे मुनीश्वर ! जैसे स्वप्न में चिदाकाश

ही घट, पट आदि के रूप में भासित होता है, वैसे ही स्थिति-प्रलयादि जगत् चिदात्मा से भिन्न नहीं है; आत्मा ही ऐसे भासित होता है। जैसे शुद्ध संवित् मात्र से भिन्न स्वप्न में नगर नहीं पाया जाता, वैसे ही जाग्रत् में अनुभव से भिन्न कुछ नहीं पाते। हे मुनीश्वर ! जगत् जो तीनों कालों में भाव-अभावरूप पदार्थ होकर भासित होता है, सो सब चिदाकाशरूप है, आत्मा से भिन्न नहीं। हे मुनीश्वर ! यह देव का रूप मैंने तुमसे परमार्थ कहा है। तुममें और सर्वभूत जाति जगत् में सबका जो देव है, वह चिदाकाश परमात्मा है—उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे संकल्पपुर में चिदाकाश ही शरीररूप से भासित होता है, उससे भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह सब चिदाकाशरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने जगत्परमात्मरूपवर्णनन्नामाष्टविंशतितमस्सर्गः ।। २८ ।।

ईश्वर बोले, हे ब्राह्मण ! इस प्रकार यह सब विश्व केवल परमात्मारूप है। परमात्माकाश ब्रह्म ही एक देव कहाता है, उसी का पूजन सार है और उसी से सब फल प्राप्त होते हैं। वह देव सर्वज्ञ है और सब उसमें स्थित हैं। वह अकृत्रिम देव अज, परमानन्द और अखण्डरूप है। उसको साधना करके पाना चाहिए, जिससे परम सुख प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! तुम जागे हुए हो, इस कारण मैंने तुमसे इस प्रकार की देव अर्चना कही है। पर जो असम्यक्दर्शी बालक हैं, जिनको निश्चयात्मक बुद्धि नहीं प्राप्त हुई, उनके लिए धूप, दीप, पुष्प, चंदन आदिक से अर्चना कही है और आकार कल्पित करके देव की मिथ्या कल्पना की है। हे मुनीश्वर ! अपने संकल्प से जो देव बनाते हैं और उसको पुष्प, धूप, दीपादिक से पूजते हैं, सो भावनामात्र है। उससे उनको संकल्परचित फल की प्राप्ति होती है। यह बाल-बुद्धि की अर्चना है। तुम जैसों की वही पूजा है, जो तुमसे सर्व आत्म-भावना से मैंने कही है। हे मुनीश्वर ! हमारे मत में तो देव और कोई नहीं; एक परमात्मा देव ही तीनों भुवनों में है। वही देव शिव और सर्वपद से अतीत है। वह सब संकल्पों से रहित है। सब संकल्पों का अधिष्ठान भी वही है। वह देश-काल

और वस्तु के परिच्छेद से रहित और सब प्रकार शान्तरूप एक चिन्मात्र निर्मलस्वरूप है। वही देव कहाता है। हे मुनीश्वर ! जो संवित्सत्ता पञ्चभूतकला से अतीत और सब भावों के भीतर स्थित है, वही सबको सत्ता देनेवाला देव है। सबकी सत्ता हरनेवाला भी वही है।

हे ब्राह्मण ! जो ब्रह्म सत्य-असत्य के मध्य और सत्य-असत्य के परे कहाता है, वही देव परमात्मा है। जो परम स्वतः सत्तास्वभाव से सबको प्राप्त हुआ है और महाचित्त कहाता है, वही परमात्म देव सत्ता है। जैसे सब वृक्षों व लताओं के भीतर रस स्थित है, वैसे ही समान सत्ता रूप से परमचेतन आत्मा सर्वत्र स्थित है। जो चैतन्यतत्त्व अरुन्धती का है और चैतन्यतत्त्व तुम निष्पाप मुनि का और पार्वती का है, वही चैतन्यतत्त्व मेरा है। वही चैतन्यतत्त्व त्रिलोकी मात्र का है, वही देव है और कोई देव नहीं। हाथ-पाँव से युक्त जिस देव की कल्पना करते हैं, वह चिन्मात्र सार नहीं है। चिन्मात्र ही सब जगत् का सारभूत है और वही अर्चना करने योग्य है। उससे सब फलों की प्राप्ति होती है। वह देव कहीं दूर नहीं और किसी प्रकार किसी को प्राप्त होना भी कठिन नहीं। जो सबकी देह में स्थित और सबकी आत्मा है, वह दूर कैसे हो और कठिनता से कैसे प्राप्त हो। सब क्रिया वही करता है। भोजन, भरण और पोषण वही करता है। वही श्वास लेता है। सबका ज्ञाता भी वही है। वह पुर्यष्टका में प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशित होता है। जैसे पर्वत पर जो चर-अचर की चेष्टा होती है और चलते बैठते और स्थित होते हैं, उन सबका आधारभूत पर्वत है, वैसे ही मन सहित षट्इन्द्रियों की चेष्टा आत्मा के आश्रय में होती है। उसी की संज्ञा व्यवहार के निमित्त तत्त्ववेत्ताओं ने देव कल्पित की है। एकदेव, चिन्मात्र, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, निरंजन, आत्मा, ब्रह्म इत्यादि नाम ज्ञानवानों ने उपदेशरूप व्यवहार के निमित्त रक्खे हैं। हे मुनीश्वर ! जो कुछ विस्तार सहित जगत् भासता है, उस सबका वह प्रकाशक है और सबसे रहित भी है। वह नित्य, शुद्ध और अद्वैतरूप है और सब जगत् में अनुस्यूत है। जैसे बसन्तऋतु में नाना प्रकार के फूल और वृक्ष दिखते हैं, पर सबमें एक

ही रस व्याप रहा है और अनेक रूप भासित होता है, वैसे ही एक ही आत्मसत्ता अनेक रूप देख पड़ती है।

हे मुनीश्वर ! जो कुछ जगत् है सो सब आत्मा का चमत्कार है और आत्मतत्त्व में ही स्थित है। कहीं आकाश, कहीं जीव, कहीं चित्त और कहीं अहंकाररूप है। कहीं दिशारूप, कहीं द्रव्य, कहीं भाव-विकार, कहीं तम, कहीं प्रकाश और कहीं सूर्य, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक स्थावर जंगमरूप होकर स्थित है। जैसे समुद्र में तरंग और बुलबुले होते हैं, वैसे ही एक परमात्मा देव में त्रिलोकी है। हे मुनीश्वर ! देवता, दैत्य, मनुष्य आदि सब एक देव में रहते हैं। जैसे जल में तृण बहते हैं, वैसे ही परमात्मा में जीव रहते हैं। वही चैतन्यतत्त्व चतुर्भुज होकर दैत्यों का नाश करता है, जैसे जल मेघरूप होकर धूप को रोकता है। वही चैतन्यतत्त्व त्रिनेत्र, मस्तक पर चन्द्र धारण किये, वृषभ पर आरूढ़, पार्वतीरूप कमलिनी के मुख का भँवरा बना रूद्र होकर स्थित होता है। वही चेतना विष्णुरूपसत्ता है, जिसके नाभिकमल से ब्रह्मा, त्रिलोकी, वेदत्रयरूप कमलिनी की लता बड़ी होकर स्थित हुई है। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार एक ही चैतन्यतत्त्व अनेक रूप होकर स्थित हुआ है। जैसे एक ही रस अनेक रूप होता है और जैसे एक ही सुवर्ण से अनेक भूषण बनता है, वैसे ही एक ही चैतन्य अनेक रूप होकर दिखता है। इससे सब देह एक चैतन्यतत्त्व की हैं। जैसे एक वृक्ष के अनेक पत्ते होते हैं, वैसे एक ही चैतन्य की सब देह हैं। वही चैतन्य मस्तक पर चूड़ामणि धारनेवाला त्रिलोकपति इन्द्र है। देवतारूप होकर वही स्थित हुआ है और दैत्यरूप होकर भी वही स्थित है। मरने और उपजने का रूप भी वही रखता है। जैसे एक समुद्र में जो तरंग के समूह उपजते और मिट जाते हैं, सो सब जलरूप ही हैं, वैसे ही उत्पत्ति और विनाश चैतन्य में होता है। वह चैतन्यरूप परमात्मा एक ही वस्तु है।

हे मुनीश्वर ! चैतन्यरूपी आदर्श में जगत्रूपी प्रतिबिम्ब पड़ता है और अपनी रची हुई वस्तु को आप ही ग्रहण करके अपने में धारण

करता है। जैसे गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ को धारण करती है, वैसे ही चैतन्यतत्त्व जगत्रूप प्रतिबिम्ब को धारण करता है। हे मुनीश्वर ! सब क्रियाएँ उसी देव से सिद्ध होती हैं और सूर्यादिक उसी से प्रकाश देते और प्रफुल्लित होते हैं। जैसे नील और रक्त कमल सूर्य से प्रफुल्लित होते हैं, वैसे ही आत्मा से अन्धकार और प्रकाश, दोनों सिद्ध होते हैं। हे मुनीश्वर ! त्रिलोकीरूप धूल चेतनरूपी वायु से उड़ती है। जो कुछ जगत् के आरम्भ हैं, उन सबको चैतन्यरूपी दीपक प्रकाशित करता है। जैसे जल सींचने से बेल प्रफुल्लित होती है और फूल-फल उत्पन्न करती है वैसे ही चैतन्यसत्ता सब पदार्थों को प्रकट और सबको सत्ता देकर सिद्ध करती है। हे मुनीश्वर ! चैतन्य ही में जड़ की सिद्धि और चेतन ही में जड़ का अभाव होता है। जैसे प्रकाश ही से अन्धकार सिद्ध होता है और प्रकाश ही से अन्धकार का अभाव होता है, वैसे ही सब देह चैतन्य से सिद्ध होते हैं और चैतन्य ही देहों का अभाव होता है। विष्णु भी उसी से होते हैं और शिवजी भी उसी से होते हैं। हे मुनीश्वर ! ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो चैतन्य बिना सिद्ध हो। जो कोई पदार्थ है सो आत्मा ही से सिद्ध होता है।

हे मुनीश्वर ! शरीररूपी सुन्दर वृक्ष की बड़ी ऊँची डालें हैं, परन्तु चैतन्यरूपी मंजरी बिना वह नहीं सोहता। जैसे रस बिना वृक्ष नहीं सोहता, वैसे ही चैतन्य बिना शरीर नहीं सोहता। बढ़ना, घटना आदि जो विकार हैं, वे एक आत्मा से ही सिद्ध होते हैं। यह सब जगत् चैतन्यरूप है और चैतन्यमात्र ही अपने आपमें स्थित है। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार अमृतरूपी वाणी से त्रिनेत्र ने मुझसे कहा, तब मैंने नम्रता से पूछा—हे देव ! जब सब जगत् चैतन्य व्यापकरूप देव है और चैतन्य ही बड़े विस्तार को प्राप्त हुआ है, तब यह प्रथम चेतन था, अब यह चेतनता से रहित है, इस कल्पना का सब लोकों में प्रत्यक्ष अनुभव कैसे होता है ? ईश्वर बोले, हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! यह महाप्रश्न तुमने किया है। इसका उत्तर सुनो। इस शरीर में दो चेतन स्थित हैं। एक चैतन्योन्मुखत्वरूप है और दूसरा निर्विकल्प आत्मा। जो चेतन चैतन्योन्मुखत्व दृश्य से मिला

हुआ है, वह जीव संकल्प के फुरने से अन्य की भाँति हो गया है, पर वास्तव में और कुछ नहीं हुआ, केवल दृश्य संकल्प के अनुभव को ग्रहण करने से वही जीवरूप हुआ है। जैसे स्त्री अपने शीलधर्म को त्यागकर दुराचारिणी हो जाती है तो उसकी शीलता जाती रहती है, परन्तु स्त्री का स्वरूप नहीं जाता, वैसे ही चैतन्योन्मुखत्व से अनुभवरूपी जीवरूप हो जाता है, परन्तु चैतन्यस्वरूप का त्याग नहीं करता। जैसे संकल्प के वश से पुरुष एक क्षण में और रूप हो जाता है, वैसे ही चित्तसत्ता फुरने के भाव से अन्य रूप हो जाती है।

हे मुनीश्वर ! आदि में चित्त का स्पन्दन चित्‌कला में हुआ है। तब शब्द के चेतने से आकाश हुआ। फिर स्पर्श तन्मात्रा चित्तकला के चेतने से वायु प्रकट हुआ। इसी प्रकार पाँचों तन्मात्राओं के चेतने से पंचतत्त्व हुए। फिर देश आदि का विभाग हुआ, उसमें जीव प्रतिबिम्बित हुआ। फिर निश्चयवृत्ति हुई। उसका नाम बुद्धि हुआ। फिर अहंवृत्ति चेती। उसका नाम अहंकार हुआ। फिर संकल्प-विकल्पवृत्ति चेती। उसका नाम मन हुआ। चिन्तना से चित्त हुआ। फिर संसार की भावना हुई। तब संसार का अनुभव हुआ और अभ्यास-वश संसार भासित होने लगा। जैसे विपर्ययभावना करके ब्राह्मण अपने को चाण्डाल जाने, वैसे ही भावना के विपर्यय से वही चैतन्य अपने को जीव मानने लगा है। संकल्प की दृढ़ता से वही चैतन्य चेतनरूपी जीवरूप को ग्रहण कर संकल्प में बरतता है और अनन्त संकल्पों से जड़ता तीव्रता को प्राप्त होकर जड़भाव को ग्रहण कर देहभाव को प्राप्त होती है। जैसे जल दृढ़ जड़ता से बरफ बन जाता है, वैसे ही चैतन्य जब अनन्त संकल्पों से जड़ देहभाव को प्राप्त होता है, तब चित्त मन मोहित हो जड़ता का आश्रय करके संसार में जन्म लेता है और मोह के कारण तृष्णा से पीड़ित होता और काम, क्रोधसंयुक्त भाव-अभाव को प्राप्त होता है। एवं अपनी अनन्तता को त्यागकर परिच्छिन्न व्यवहार में बरतता है; दुःखदायक अग्नि से तप्त हो शून्यभाव को प्राप्त होता है और भेद को

ग्रहण करके महादीन हो जाता है।

हे मुनीश्वर ! मोहरूपी गड्ढे में जीवरूपी हाथी फँसा है और भाव-अभाव से सदा चलायमान होता है। जैसे जल में तृण बहता है, वैसे ही असाररूप संसार में विकारसंयुक्त जीव रागद्वेष से तपता रहता है, शान्ति कभी नहीं पाता। जैसे जत्थे से बिछुड़ा मृग कष्ट पाता है, वैसे ही आवरणरूप जन्म-मरण से जीव कष्ट पाता है और अपने संकल्प से आप ही भय पाता है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना कर आप ही भय पाता है, वैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भयभीत होता है और संकट में पड़ता है। आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ जीव कष्ट पर कष्ट पाता है और कर्मों को करके संतप्त होता हुआ अनेक जन्म पाता है और भयातुर रहता है। बालपन में महादीन और परवश होता है। यौवन की अवस्था में कामादिक के वश हुआ स्त्री में रत रहता है और वृद्ध अवस्था में चिन्ता-मग्न होता है। जब मृतक होता है, तब कर्म-वश फिर जन्म लेता और गर्भ में दुःख पाता है। फिर बालक, यौवन, वृद्ध और मृतक अवस्था को पाता है। स्वरूप से गिरा हुआ जीव इसी प्रकार भटकता है, कदापि स्थिर नहीं होता।

हे मुनीश्वर ! एक चित्सत्ता स्पन्दनभाव से अनेक भावों को प्राप्त होती है। कहीं दुःख से रुदन करती है, कहीं दुःख भोगती है। कहीं स्वर्ग में देवागंना, पाताल में नागिनी, असुरों में असुरी, राक्षसों में राक्षसी, वनकोट में वानरी, सिंहों में सिंही, किन्नरों में किन्नरी, हिरणों में हिरणी, विद्याधरों में विद्याधरी, गन्धर्वों में गन्धर्वी, देवताओं में देवी इत्यादि जो रूप रखती है सो चैतन्योमुखत्व जीवकाल है। क्षीरसमुद्र में वह विष्णुरूप होकर स्थित होती है। ब्रह्मपुरी में ब्रह्मारूप होती है। पंचमुख होकर रूद्र होती है और स्वर्ग में इन्द्र होती है। तीक्ष्णकला से दिन का कर्ता सूर्य होती है और क्षण, दिन, मास, वर्ष का विभाग करती है। वही चन्द्रमा होकर रात्रि करती और काल होकर नक्षत्रमंडल को घुमाती है। कहीं प्रकाश, कहीं तम, कहीं बीज, कहीं पाषाण, कहीं मन

होती है। कहीं नदी होकर बहती है, कहीं फूल होकर फूलती है, कहीं भँवर होकर सुगन्ध लेती है, कहीं फल होकर दिखती है, कहीं वायु होकर चलती है, कहीं अग्नि होकर जलाती है, कहीं बरफ बनती है और कहीं आकाश होकर देख पड़ती है। हे मुनीश्वर ! इसी प्रकार सर्वगत सर्वात्मा सर्वशक्तिसत्ता से एक ही रूप चित्‌शक्ति और आकाश से भी निर्मल है। जीव जैसे चेतता है, वैसा ही होकर स्थित हुआ है। जैसी-जैसी भावना करता है, शीघ्र ही उसका वैसा रूप हो जाता है। परन्तु वह स्वरूप से भिन्न नहीं होता। जैसे समुद्र में फेन तरंग होकर बहते हैं, परन्तु जल से भिन्न नहीं-जल ही जल हैं, वैसे ही चित्‌शक्ति अनेक रूपों को रखती है, परन्तु चैतन्य से भिन्न नहीं होती। चित्‌शक्ति ही कहीं हंस, कहीं काक, कहीं शूकर, कहीं मक्खी, चिड़िया इत्यादि रूप रखकर संसार में प्रवृत्त होती है। जैसे जल में पड़ा तृण भ्रमता है, वैसे ही भ्रमती है और अपने संकल्प से आप ही भय पाती है। जैसे गधा अपना शब्द सुन आप ही दौड़ता है और भय पाता है, वैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भय पाता है।

हे मुनीश्वर ! यह मैंने जीवशक्ति का आचार तुमसे कहा। इसी आचार को ग्रहण करके बुद्धि नीच पशुधर्मिणी हुई है और स्वरूप के प्रमाद से जैसा-जैसा संकल्प करती है वैसी ही वैसी कर्मगति को प्राप्त हो शोकातुर होती है, अनन्त दुःख पाती है और अपने मोह से ही मलिन होती है। जैसे भूसी से ढका चावल-कूटा पीटा जाता है; फिर-फिर बोया जाता है; फिर-फिर उगता है और काटा जाता है, वैसे ही स्वरूप के आवरण से, दुर्भाग्य से जीवकला जन्म-मरण के दुःख को प्राप्त होती है। जैसे भर्ता रहित स्त्री शोक से व्याकुल होती है, वैसे ही जीवकला कष्ट पाती है। हे मुनीश्वर ! जड़दृश्य और अनात्मरूप में प्रीति करने और जिन स्वरूप के विस्मरण से आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ चित्त जीव को नीच योनि में पहुँचाता है। जैसे घटीयन्त्र कभी नीचे जाता है और कभी ऊपर को, वैसे ही जीव आशा के वश कभी पाताल

और कभी आकाश को जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठेश्वरसंवादे चैतन्योन्मुखत्वविचारो नामैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २९ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! स्वरूप के विस्मरण से जो इस प्रकार होता है कि मैं मारनेवाला हूँ, मैं दुःखी हूँ, सो अनात्मा में अहं प्रतीति करके ही जीव दुःख का अनुभव करता है। जैसे स्वप्न में पुरुष अपने को पर्वत से गिरता देख दुःखी होता है और अपने को मृतक देखता है, वैसे ही जीव स्वरूप के प्रमाद से अनात्मा में आत्म-अभिमान करके आपको दुखी देखता है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चैतन्यतत्त्व में जो चित्तभाव हुआ है, वही चित्तकला चेतने से जगत् का कारण हुआ है, परन्तु वास्तव में स्वरूप से भिन्न नहीं है। जैसे-जैसे चित्तकला चेतती गई है, वैसे ही वैसे जगत् होता गया है। वह चित्त का कारण भी नहीं हुआ और जब कारण ही नहीं हुआ, तब कार्य किसको कहिये ? हे मुनीश्वर ! न वह चित्त है, न चेतन है, न चेतनेवाला है, न द्रष्टा है, न दृश्य है और न दर्शन है; जैसे पत्थर में तेल नहीं होता। न कारण है, न कर्म है और न कारण इन्द्रियाँ हैं; जैसे चन्द्रमा में श्यामता नहीं होती। न वह मन है और न मानने योग्य दृश्य वस्तु है, जैसे आकाश में अंकुर नहीं होता। न वह अहंता है, न तम है और न दृश्य है; जैसे शंख को श्यामता नहीं होती। हे मुनीश्वर ! न वह विविध या अनेक है, न विविधतारहित एक है; जैसे अणु में सुमेरु नहीं होता। न वह शब्द है, न स्पर्श का अर्थ है; जैसे मरुस्थल में बेल नहीं होती। न वस्तु है, न अवस्तु है; जैसे बरफ में उष्णता नहीं होती। न शून्य है, न अशून्य है, न जड़ है, न चेतन है; जैसे सूर्यमण्डल में अन्धकार नहीं होता। हे मुनीश्वर ! शब्द और अर्थ इत्यादि की कल्पना भी उसमें नहीं; जैसे अग्नि में शीतलता नहीं होती। वह तो केवल केवलीभाव अद्वैत चिन्मात्र तत्त्व है स्वरूप से किसी को कुछ भी दुःख नहीं होता।

हे मुनीश्वर ! जगत् और असत् जानकर अभावना करना और आत्मा को सत् जानकर भावना करना। इस भावना से सब अनर्थ निवृत्त हो जाते

हैं। पर यह और किसी उपाय से नहीं प्राप्त होती अपने आप ही प्राप्त होती है और अनादि ही सिद्ध है। जब उस आत्मा की ओर भावना होती है, तब सब भ्रम मिट जाते हैं और जब अनात्म भावना होती है, तब उसका पाना कठिन होता है। जो यत्न के साथ है सो यत्न बिना नहीं पाया जाता। आत्मा निर्विकल्प, अद्वैत और सबसे अतीत है, उसे अभ्यास बिना कैसे पा सकते हैं ? आत्मतत्त्व परम, एक स्वच्छ, तेज का भी प्रकाशक, सर्वगत, निर्मल, नित्य सदा उदित, शक्तिरूप, निर्विकार और निरंजन है। घट, पट, वट, वृक्ष, गादी, वानर, दैत्य, देवता, समुद्र, हाथी इत्यादि स्थावर-जंगमरूप जो कुछ जगत् है, सबका साक्षीरूप होकर आत्मतत्त्व स्थित है और दीपक की तरह सबको प्रकाशित करता है। आप सर्वक्रियातीत है, पर उसी से सब कार्य सिद्ध होते हैं। वह सर्वक्रियासंयुक्त भासित होता है और सर्वविकल्प से रहित जड़वत् भी भासित होता है। परन्तु वास्तव में परम चैतन्य है। आत्मतत्त्व सब चेतन का सार चेतन, निर्विकल्प और परमसूक्ष्म है और अपने आपमें किञ्चन हो भासित होता है। अपने ही प्रमाद से रूप, अवलोक और नमस्कार की त्रिपुटी भासित होती है; जब बोध होता है तब ज्यों का त्यों आत्मा भासित होता है। नित्य, शुद्ध, निर्मल और परमानन्दरूप के प्रमाद से चैतन्य चित्तभाव को प्राप्त होता है। जैसे साधु भी दुर्जन के संग से असाधु हो जाते हैं, वैसे ही अनात्मा के संग से यह नीचता को प्राप्त होता है। जैसे सोना दूसरी धातु के मेल से खोटा हो जाता है और जब शोधा जाता है, तब शुद्धता को प्राप्त होता है, वैसे ही अनात्मा के संग से यह जीव दुःखी होता है। जब अभ्यास और यत्न करके अपने शुद्ध रूप को पाता है, तब वही हो जाता है। जैसे मुख के श्वास से दर्पण मलिन हो जाता है तो उसमें मुख नहीं देख पड़ता, पर जब मलिनता मिट जाती है तब शुद्ध होता है और उसमें मुख स्पष्ट देख पड़ता है, वैसे ही चित्त संवेदन के प्रमाद से चेतने के कारण जगत्-भ्रम भासित होने लगता है और आत्म-स्वरूप नहीं भासित होता। जब यह

जगत्सत्ता स्फुरण सहित दूर होगी, तब आत्मतत्त्व ज्ञात होगा और जगत् की असत्यता प्रतीत होगी।

हे मुनीश्वर ! जब शुद्ध संवित् में चेतनता का चेतना निवृत्त होता है, तब जीव अहंताभाव को प्राप्त होता है और अहंकार को प्राप्त होने से अविनाशीरूप को विनाशी जानता है। हे मुनीश्वर ! स्वरूप से कुछ भी उत्थान होता है तो उससे स्वरूप से गिरकर कष्ट पाता है। जैसे पहाड़ से गिरी चीज नीचे चली जाती है और चूर्ण हो जाती है, वैसे ही जब जीव स्वरूप से उत्थान होता है और अनात्मा में अभिमान और अहं प्रतीति होती है, तब जीव अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! सब पदार्थों की सत्ता आत्मरूप में है। उसके अज्ञान से जीव दैवत्व को प्राप्त होता है। जब उसका बोध होगा, तब दैवतभाव निवृत्त हो जायगा। वह आत्मा शुद्ध और चिन्मात्र स्वरूप है। उसी की सत्ता से देह-इन्द्रियादिक भी चेतन होते और अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से सब जगत् का व्यवहार होता है, प्रकाश के बिना कोई व्यवहार नहीं होता, वैसे ही आत्मा की सत्ता से देह, इन्द्रियादिक का व्यवहार होता है और वे अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। हे मुनीश्वर ! जो नेत्र में मुख्य श्यामता है; वह अपने आपमें रूप को ग्रहण करती है। उसका बाहर के विषय से संयोग होता है और उस रूप का जिसमें अनुभव होता है, वही परम चैतन्यसत्ता है। त्वचा इन्द्रिय और स्पर्श का जब संयोग होता है, तब इन जड़ों का जिससे अनुभव होता है, वही साक्षीभूत परम चैतन्यसत्ता है। नासिका इन्द्रिय का जब गंध तन्मात्रा से संयोग होता है, तब उसके संयोग में जो अनुभवसत्ता है, वही परम चैतन्य है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इन पाँचों विषयों को श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना, नासिका, इन पाँचों इन्द्रियों से मिलकर जाननेवाला साक्षीभूत परम चैतन्य आत्मतत्त्व है। वह मुख्य संवित् परम चैतन्य कहाता है, और जो बहिर्मुख चेतकर दृश्य से मिला है, वह मलिन चित्त कहाता है। जब वही मलिनरूप अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है, तब शुद्ध होता है।

हे मुनीश्वर ! यह सब जगत् आत्मस्वरूप है और शिलाघन की नाईं अद्वैत और सब विकारों से रहित है। इसका न उदय होता है और न अस्त। संकल्प के वश से जीवभाव को प्राप्त होता है और संकल्प के निवृत्त होने पर परमात्मारूप हो जाता है। हे मुनीश्वर ! आदि चित्तकला जीवरूपी रथ पर आरूढ़ है; जीव अहंकाररूपी रथ पर आरूढ़ है; अहंकार बुद्धिरूपी रथ पर आरूढ़ है; बुद्धि मनरूपी रथ पर आरूढ़ हैं; मन प्राणरूपी रथ पर चढ़ा है और प्राण इन्द्रियरूपी रथ पर चढ़े हैं। इन्द्रियों का रथ देह है और देह का रथ पदार्थ है। जो कर्म इन्द्रियाँ करती हैं, उसी के वश हो जरामरणरूपी संसार-पिंजड़े में भ्रमती हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता है और उसमें प्रमाद करके जीव भटकता है। हे मुनीश्वर ! आत्मा का आभास यह चक्र विरूप है। जैसे स्वप्नपुर में जो नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं, वे वास्तव में कुछ नहीं हैं, वैसे ही यह जगत् वास्तव में कुछ नहीं है। जैसे मृगतृष्णा की नदी भ्रम से भासित होती है, वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासित होता है। हे मुनीश्वर ! मन का रथ प्राण है। जब प्राणकला चेतना से रहित होती है, तब मन भी स्थिर हो जाता है और मन के स्थिर होने पर मन का मनन भी शान्त हो जाता है। जब प्राणकला चेतती है, तब मन का मनन भी चेतता है और जब प्राणकला स्थिर होती है, तब मनन निवृत्त हो जाता है। जैसे प्रकाश बिना पदार्थ नहीं दीखते और वायु के बिना धूल नहीं उड़ती, वैसे ही प्राण के स्फुरण से रहित मन शान्त हो जाता है। जैसे जहाँ पुष्प होते है वहाँ गंध होती है और जहाँ अग्नि है वहाँ उष्णता होती है, वैसे ही जहाँ प्राणस्पन्दन होता है, वहाँ मन भी होता है। हृदय में जो नाड़ी है, उसमें प्राण स्वतः चेतते हैं और उसी से मनन होता है। संवित् स्वच्छ रूप है। वह जड़-चेतन सर्वत्र भासती है और संवेदन प्राणकला में चेतती है।

हे मुनीश्वर ! आत्मसत्ता सर्वत्र अनुस्यूत होने पर भी जहाँ प्राणकला होती है, वहीं भासित होती है और जहाँ प्राणकला नहीं होती,

वहाँ नहीं भासित होती। जैसे सूर्य का प्रकाश सब जगह होता है, परन्तु जहाँ उज्जवल स्थान, जल अथवा दर्पण होता है, वहीं प्रतिबिम्ब पड़ता है और जगह नहीं, वैसे ही आत्मसत्ता सर्वत्र है परन्तु जहाँ प्राणकला पुर्यष्टका होती है वहीं भासित होती है, और जगह नहीं। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दीखता है, शिला में नहीं दीखता, वैसे ही पुर्यष्टका जो मनरूप है सो सबका कारण है और अहंकार, बुद्धि, इन्द्रियाँ उसी के भेद हैं, जो आप ही से कल्पित हैं, सब दृश्यजाल उसी से उदय होता है, और किसी वस्तु से नहीं। यह भली प्रकार अनुभव किया गया है। इससे मन ही देहादिक कर्मों में प्रवृत्त होता है, और सब वस्तुएँ उसी से भासित होती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने
मनप्राणोक्तप्रतिपादनम् नाम त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३०।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! आत्मसत्ता बिना जीव जड़वत् होता है और आत्मसत्ता से चेतन होकर चेष्टा करता है। जैसे चुम्बक पाषाण की सत्ता से जड़ लोहा चेष्टा करता है, वैसे ही सर्वगत आत्मा की सत्ता से जीव चेतता है और आत्मसत्ता भी जीवकला में भासती है, और जगह नहीं भासती। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण ही में देख पड़ता है और जगह नहीं, वैसे ही परमात्मा सर्वगत और सर्वशक्तिमान् भी है परन्तु जीवकला ही में है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध वास्तव स्वरूप से दृश्य की ओर जो इस जीवकला का उत्थान हुआ है इससे वह चित्तभाव को प्राप्त हुआ है। जैसे शूद्र की संगति करके ब्राह्मण भी अपने को शूद्र मानने लगता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीवकला अपने को चित्त जानने लगी है। अज्ञान से घिरा हुआ जीव महादीन भाव को प्राप्त होता है, जड़देह के अभ्यास से कष्ट पाता है और काम, क्रोध, वात, पित्तादिक से जलता है। जैसी-जैसी भावना होती है, वैसा ही वैसा कर्म वह करता है और उन कर्मों की भावना से मिला भटकता है। जैसे रथ पर आरूढ़ होकर रथी चलता है, वैसे ही जीवआत्मा मन, प्राण और कर्मों से चलता है।

हे मुनीश्वर ! चैतन्य ही जड़ दृश्य जो अंगीकार करके जीवत्व को प्राप्त होता है; और मन प्राणरूपी रथ पर चढ़कर पदार्थ की भावना से नाना प्रकार के भेद को प्राप्त हुआ सा स्थित होता है। जैसे जल ही तरंगभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही चैतन्य ही नाना प्रकार का होकर स्थित होता है। निदान यह जीवकला आत्मा की सत्ता को पाकर वृत्ति में स्फुरणरूप होती है। जैसे सूर्य की सत्ता को पाकर नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं वैसे ही परमात्मा की सत्ता पाकर जीव वृत्ति में चेतता है और परमात्मा चित्त में स्थित हुआ स्फुरणरूप दीखता है; जैसे घर में दीपक होता है, तब प्रकाश होता है; दीपक बिना प्रकाश नहीं होता। अपने स्वरूप को भुलाकर जीव दृश्य की ओर लगा है, इसी कारण आधि-व्याधि से दुःखी होता है। जैसे जब कमल डंडी के साथ लगता है, तब उस पर भौंरे आकर बैठते हैं, वैसे ही जब जीव दृश्य की ओर लगता है तब दुःख होता है और उससे जीव दीन हो जाता है। जैसे जल तरंगभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही जीव अपनी क्रिया से बंधन को प्राप्त होता है। जैसे बालक अपनी परछाहीं को देखकर आप ही अविचार से भय पाता है, वैसे ही अपने स्वरूप के प्रमाद से जीव आप ही दुख पाता है और दीनता को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! चित्‌शक्ति सर्वगत और स्वयं सिद्ध है। उसकी अभावना करके जीव दीनता को प्राप्त होता है। जैसे सूर्य बादल से घिर जाता है, वैसे ही मूढ़ता से आत्मा का आवरण होता है। पर जब प्राणों का अभ्यास करता है, तब जड़ता निवृत्त होती है और अपने आत्मरूप का स्मरण हो आता है। जिनकी वासना निर्मल हो चुकी है, वह स्थिर और एक रूप हो जाती है। वे जीव जीवन्मुक्त होकर चिरकाल तक जीते हैं और हृदयकमल में प्राणों को रोककर शान्ति को प्राप्त होते हैं। जब काष्ठ और मिट्टी के ढेले की तरह देह गिर पड़ती है, तब पुर्यष्टका आकाश में लीन हो जाती है। जैसे आकाश में पवन लीन होता है, वैसे ही उसका मन पुर्यष्टका वहीं लीन हो जाती है।

हे मुनीश्वर ! जिनकी वासना शुद्ध नहीं हुई, उनकी पुर्यष्टका मृत्युकाल में आकाश में स्थित होती है और उसके अनन्तर फिर स्फुरित होती है। तब उस वासना के अनुसार जीव स्वर्ग-नरक को देखने लगता है। जब यह शरीर मन और प्राण से रहित होता है, तब शून्यरूप हो जाता है। जैसे पुरुष घर को त्यागकर दूर चला जाय, वैसे ही मन और प्राण शरीर को त्यागकर और जगह चले जाते हैं और शरीर शून्य हो जाता है। हे मुनीश्वर ! चित्तसत्ता सर्वत्र है, परन्तु जहाँ पुर्यष्टका होती है, वहीं भासित होती है और चेतन का अनुभव होता है; अन्यत्र नहीं होता। हे मुनीश्वर ! जब यह जीव शरीर को त्यागता है, तब पञ्चतन्मात्रा को ग्रहण करके अपने संग ले जाता है, और जहाँ इसकी वासना होती है वहीं पहुँचता है। प्रथम इसका अन्तवाहक शरीर होता है, फिर दृश्य के दृढ़ अभ्यास से वह स्थूलभाव को प्राप्त हो जाता है और अंतवाहकता भूल जाती है। जैसे स्वप्न में भ्रम से स्थूल आकार देखता है, वैसे ही जब मोह करके मरता है, तब अपने साथ स्थूल आकार देखता है। फिर स्थूल देह में अहं की प्रतीति करता है और उससे मिलकर कर्म करता है, तब असत्य को सत्य मानता है और सत्य को असत्य जानता है। इस प्रकार भ्रम को प्राप्त होता है। जब सर्वगत चिदंश से जीव मनरूप होता है, तब जगत्‌भाव को प्राप्त होता है। जब देह से पुर्यष्टका निकल जाती है तब आकाश में जाकर लीन होती है। जब देह चेतना से रहित होती है, तब उसको मृतक कहते हैं और वह अपनी स्वरूपशक्ति को विस्मरण करके जर्जरीभाव को प्राप्त होती है। जब जीवशक्ति हृदयकमल में मूर्च्छित होती है और प्राण रोके जाते हैं, तब यह मृतक होता है। ऐसे ही बार-बार जन्म लेता और मरता है। हे मुनीश्वर ! जैसे वृक्ष में पत्ते लगते हैं काल पाकर नष्ट हो जाते हैं और फिर नवीन लगते हैं, वैसे ही यह जीव शरीर को धारण करता

है और छोड़ता है; फिर शरीर ग्रहण करता है और वह भी नष्ट हो जाता है। जो वृक्ष के पत्ते की तरह उपजते और नष्ट होते हैं, उनका शोक करना व्यर्थ है।

हे मुनीश्वर ! चैतन्यरूपी समुद्र में शरीररूपी अनेक तरंग बुलबुले उपजते और नष्ट होते हैं। उनका शोक करना व्यर्थ है। जैसे दर्पण में जो अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है; वह दर्पण से भिन्न नहीं होता, वैसे ही चैतन्य में अनेक पदार्थ भासित होते हैं। वह चैतन्य निर्मल आकाश की तरह विस्तीर्ण है। उसमें जो पदार्थ फुरते हैं, वे अनन्य रूप हैं और विधि-शरीर भी वही रूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देहपातविचारो नामैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे अर्द्धचन्द्रधारी ! चैतन्यतत्त्व परमात्मा पुरुष तो अनन्त और एक रूप है, उसको यह द्वैत कहाँ से प्राप्त हुआ ? भूत और भविष्य काल कहाँ से दृढ़ हो रहे हैं ? एक में अनेकता कहाँ से प्राप्त हुई है ? बुद्धिमान दुःख को कैसे निवृत्त करते हैं और वह कैसे निवृत्त होता है ? ईश्वर बोले; हे ब्राह्मण ! ब्रह्मचैतन्य सर्वशक्तिमान् है। जब वह एक अद्वैत ही होता है, तब निर्मलता को प्राप्त होता है। एक के भाव से द्वैत कहाता है और द्वैत की अपेक्षा से एक कहाता है, पर ये दोनों कल्पनामात्र हैं। जब चित्त चेतता है, तब एक और दो की कल्पना होती है। चित्तस्पन्दन का अभाव होने पर दोनों की कल्पना मिट जाती है। कारण से जो कार्य भासित होता है, सो भी एक रूप है। जैसे बीज से लेकर फल पर्यन्त वृक्ष का जो विस्तार है, वह एक ही रूप है और बढ़ने-घटने की उसमें कल्पना होती है, वैसे ही चैतन्य में चित्त की कल्पना होती है। तब जगत्रूप होकर भासता है, परन्तु उस काल में भी वही रूप है।

हे मुनीश्वर ! वृक्ष समेत बीज भी एक वस्तु है और कुछ नहीं परन्तु जब बीज उगता है, तब वृक्ष के रूप में भासित होता है वैसे ही जब शुद्ध चैतन्य में चेतनकलना फुरती है, तब वह जगत्रूप भासित होता है। हे

मुनीश्वर ! कारण-कार्य विकाररूप जगत् असम्यक्दृष्टि से भासित होता है। जैसे जल में तरंग जो उठते हैं, वे जलरूप हैं-जल से भिन्न नहीं, जैसे खरगोश के सींग असत् है और जल में द्वैततरंगकलना असत् है-अज्ञान से भासित होती है। वैसे ही आत्मा में अज्ञान से जगत् भासित होता है। जैसे द्रवरूप से जल ही तरंगरूप हो भासता है, वैसे ही फुरने से आत्मतत्त्व जगत्रूप हो भासता है। उसमें द्वैत नहीं है। चैतन्यरूपी बेल जो फैली है, उसमें पत्ते, फूल और फल एक ही रूप हैं। जैसे एक बेल अनेकरूप हो भासती है, वैसे ही एक चैतन्य अहं, त्वं, देश, काल आदिक विकार होकर भासित होता है। ये सब उसी का रूप है। हे मुनीश्वर ! जब सब ही एक चैतन्य हैं तब तुम्हारे प्रश्न के लिए अवसर कहाँ रहा ? देश, काल, क्रिया, नीति आदिक जो शक्तिपदार्थ हैं, वे एक ही चिदात्मा है। जैसे जल में जब द्रवता होती है, तब वह तरंगरूप हो भासता है और उसका नाम तरंग होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् जब फुरता है, तब अहं, त्वं आदिक नाना प्रकार के नाम होते हैं। पर वह ब्रह्म, शिव, परमात्मा, चैतन्यसत्ता, द्वैत, अद्वैत आदिक नामों से अतीत है; वाणी का विषय नहीं। ऐसा निर्विकल्प निर्विषय तत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। यह जगत् जो कुछ भासता है, वह भी वही चैतन्यतत्त्व है। जैसे बेल ही फूल और पत्ते होकर फैलती है, वैसे ही चैतन्य सर्वरूप होकर फैलता है।

हे मुनीश्वर ! महाचैतन्य में जब किंचन होता है, तब जीवरूप होकर स्थित होता है और फिर द्वैतकलना को देखता है। जैसे जीव स्वप्न में अपना स्वरूप त्यागकर परिच्छिन्न शरीर को धारण करता है और द्वैतरूप जगत् को देखता है, पर जब जागता है, तब अपने अद्वैतरूप को देखता है—परन्तु जागे बिना भी द्वैत कुछ नहीं हुआ, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी कुछ नहीं है, भ्रम से भासित होता है। जब यह जीव अपने वास्तव स्वरूप की ओर सावधान होता है, तब उसके अभ्यास से वही रूप हो जाता है। हे मुनीश्वर ! इस जीव का आदि शरीर अन्तवाहक है और संकल्प ही उसका रूप है। जब उसमें अहं भावना तीव्र होती है, तब वही

आधिभौतिक होकर भासित होता है। जब उसमें सत्यता दृढ़ हो जाती है तो उसकी भावना करके रागद्वेष से क्षुब्ध होता है, पर जब काकतालीय न्याय से अकस्मात् हृदय में विचार उपजता है तब संकल्परूषी आवरण दूर हो जाता है और जीव अपने वास्तव स्वरूप को प्राप्त होता है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना कर भय पाता है, वैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भय पाता है।

हे मुनीश्वर ! यह जो कुछ जगत् भासित होता है, सो सब संकल्पमात्र है। जैसा संकल्प हृदय में दृढ़ होता है, वैसा ही भासित होने लगता है। प्रत्यक्ष देखो कि जो पुरुष कुछ कार्य करता है तो कर्तृत्वभाव उसके हृदय में दृढ़ होता है और कहता है कि यह कार्य मैं न करूँ। जब यही संकल्प दृढ़ होता है, तब यह उस कार्य का अपने को अकर्ता जानता है वैसे ही दृश्य की भावना से जगत् दृढ़ सत्य हो गया है। जब दृश्य का संकल्प निवृत्त होता है और जीव आत्मभावना में लगता है, तब जगत् का भ्रम निवृत्त हो जाता है और आत्मा ही देख पड़ता है। हे मुनीश्वर ! परमार्थ दृष्टि से द्वैत कुछ है ही नहीं, सब संकल्प की रचना है। संकल्प से रचा जो दृश्य है उसका संकल्प के अभाव से अभाव हो जाता है। मनोराज्य और गन्धर्व-नगर मन से रचित होता है, और संकल्प के अभाव से उसका अभाव हो जाता है। तब कुछ क्लेश नहीं रहता। हे मुनीश्वर ! जगत् संकल्प की तुष्टि से जीव दुःख का भागी होता है, जैसे स्वप्न में संकल्प करके जीव दुःखी होता है। इस संकल्पमात्र की इच्छा त्यागने में क्या कृपणता है ? जैसे स्वप्न में जो सुख भोगता है, वह सुख भी कुछ वस्तु नहीं, भ्रममात्र है, वैसे ही यह सुख भी भ्रममात्र है। हे मुनीश्वर ! संकल्प-विकल्प ने जीव को दीन किया है। जब वह संकल्प-विकल्प का त्याग करता है, तब चित्त अचित्त हो जाता है और ऊँचे पद में विराजमान होता है। जिस पुरुष ने विवेकरूपी वायु से संकल्परूपी मेघ को दूर किया है, वह परम निर्मल हो जाता है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही संकल्प-विकल्परूपी मल से रहित जीव उज्ज्वलभाव को प्राप्त होता है। संकल्प के त्याग से जो शेष रहता

है, वह सत्तामात्र परमानन्द तुम्हारा स्वरूप है। हे मुनीश्वर ! आत्मा सर्वशक्तिरूप है। जैसी भावना होती है, वैसा ही मनुष्य उसे अपनी भावना से देखता है। इस कारण सब संकल्पमात्र है; भ्रम से उदय हुआ है और संकल्प के लीन होने से सब लीन हो जाता है। हे मुनीश्वर ! संकल्परूपी लकड़ी और तृष्णारूपी घृत से जन्मरूपी अग्नि को यह जीव बढ़ाता है और फिर उसका अन्त कदापि नहीं होता। जब असंकल्परूपी वायु और जल से इसको बुझावे, तब शान्त हो जाती है। जैसे दीपक का निर्वाण हो जाता है, वैसे ही जन्मरूपी अग्नि बुझ जाती है। जीव संकल्परूपी वायु से तृष्णा की नाईं भ्रमता है। हे मुनीश्वर ! तृष्णारूपी कंज की बेलि को जीव संकल्परूपी जल से सींचता है। जब असंकल्परूपी शोषण और विचाररूपी खंग से इसे काटे, तभी इसका अभाव होता है। जो अभावमात्र है, उसका आभास का क्षय होने पर अभाव हो जाता है। जैसे गन्धर्वनगर होता है, वैसे ही यह जगत् असम्यक् ज्ञान से भासित होता है और सम्यक्ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे कोई राजा स्वप्न में अपने को रंक देखे और पहले का स्वरूप भूलकर दीनता को प्राप्त हो, पर जब पहले का स्वरूप स्मरण आता है, तब अपने को राजा जानता है और दुःख मिट जाता है, वैसे ही जीव को जब अपना वास्तव पूर्व स्वरूप भूल जाता है, अपने को परिच्छिन्न, दीन और दुःखी जानता है, पर जब स्वरूप का ज्ञान होता है, तब सब दुःख मिट जाता है और जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही निर्मल हो जाता है। जैसे वर्षाकाल के मेघ न रहने पर आकाश निर्मल होता है, वैसे ही अज्ञानरूपी मल से रहित जीव निर्मल होकर शुद्धपद को प्राप्त होता है जो ऐसी युक्ति से भावना करता है कि मैं एक आत्मा और द्वैत से रहित हूँ, वह वही होता है और द्वैत का अभाव हो जाता है। तब उत्तमपद ब्रह्म देव पूज्य, पूजक और पूजा का भेद मिटकर किञ्चित् निष्किचन की भाँति चित्त एकरूप हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोदेवप्रतिपादनन्नामद्वात्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३२ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! वह देव निरन्तर स्थित है। वह द्वैत और एक पद से रहित है; द्वैत और संयुक्त एक भी वही है। संकल्प से मिलकर चेतनरूप संसार को प्राप्त हुआ है। जो संकल्प के मल से रहित है, वह संसार से रहित है, 'मैं हूँ' इसी संकल्प से बन्धन होता है जब इस भाव से मुक्त होता है, तब सुख-दुःख का अभाव हो जाता है और शुद्ध निरञ्जन एकसत्ता सर्वात्मा आकाश सा व्यापक होता है। इसी का नाम मुक्ति है। ब्रह्म आकाश सा व्यापक है। वशिष्ठजी बोले, हे प्रभो ! जब मन में मन क्षीण होता है और इन्द्रियाँ मन में लीन होती हैं तब वह द्वितीय और तृतीयपद किसकी भाँति शेष रहता है ? जो महासत्ता आत्मसत्ता सबको अपने में लीन करती है, वह किसकी तरह है ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जब मन से मन को, जिसके अंग इन्द्रियाँ हैं, विचार करके वश में करता है, अथवा उपासना करके आत्मबोध प्राप्त करता है, तब द्वैत व एक की कल्पना नष्ट होती है और जगज्जाल की सत्ता नष्ट हो जाती है। उसके पीछे जो शेष रहता है, वही आत्मतत्त्व प्रकाश पाता है। जैसे भुने बीज से अंकुर नहीं उपजता, वैसे ही जब मन का उपशम होता है, तब उसमें जगत् की सत्ता का अभाव हो जाता है और चैतन्यसत्ता चित्तसत्ता को अपने में लीन कर लेती है। जब मनरूपी मेघ की सत्ता नष्ट होती है, तब शरत्काल के आकाश सी निर्मल आत्मसत्ता भासित होती है। जब चित्त की चञ्चलता मिट जाती है, तब परम निर्मल पावन चिन्मात्रतत्त्व प्राप्त होता है। एक और द्वैत तथा भाव-अभावरूपी संसार की कल्पना मिट जाती है और सम सत्तारूप तत्त्व, जो सर्वव्यापक और संसारसमुद्र से पार करने वाला है, प्राप्त होता है। तब सुषुप्त की तरह निर्भय बोध हो जाता है और शान्तिरूप आत्मा को पाकर जीव शान्तरूप हो जाता है। हे मुनीश्वर ! मन की क्षीणता का यह प्रथमपद तुमसे कहा है। अब द्वितीयपद सुनो।

जब चित्तशक्ति मन के मनन से मुक्त होती है, तब चन्द्रमा के प्रकाश सा शीतल हो जाता है; आकाश सा विस्तृत अपना रूप आप भासता है

और घन सुषुप्तरूप हो जाता है। जैसे पत्थर की शिला में पोल नहीं होती, वैसे ही वह दृश्य से रहित घन सुषुप्त उसका रूप होता है। तब वह नमक के सदृश रसमय ब्रह्म हो जाता है। जैसे आकाश में शब्द लीन हो जाता है, वैसे ही वह चित्त आत्मा में लीन हो जाता है, और जैसे वायु गति-रहित अचल होती है, वैसे ही चित्त अचल हो जाता है। जैसे गन्ध पुष्प में स्थित होती है, वैसे ही चित्तवृत्ति आत्मतत्त्व में विश्राम पाती है। वह आत्मसत्ता न जड़ है, न चेतन। वह सब कल्पनाओं से रहित, अचैत्य, चिन्मात्र, बीजरूप, सब सत्ताओं को धारण करनेवाली और देश-काल के परिच्छेद से रहित है। जिसको वह प्राप्त होती है, उसको तुरीयपद भी कहते हैं। वह सब दुःख और कलंक से रहित पद है। उस सत्ता को पाकर जीव साक्षी की नाईं स्थित होता है और सर्वत्र, सर्वदा सम होता है। वही सर्वप्रकाश और शान्तिरूप है। जिसको आत्मतत्त्व से उस आत्मसत्ता का अनुभव होता है, उसको द्वितीय पद प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! यह द्वितीय पद भी तुझसे कहा, अब तृतीय पद सुनो।

जब आत्मतत्त्व में वृत्ति की अत्यन्त परिणति होती है, तब ब्रह्म, आत्मा आदि नामों की भी निवृत्ति हो जाती है, भाव-अभाव की कोई कल्पना नहीं चेतती। तब स्थान की नाईं अचल-वृत्ति होकर परम शान्त और निष्कलंक सबसे परे परम तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है। वह सबका अन्त, सबका आधाररूप, एक, अद्वैत, नित्य, चिन्मात्रतत्त्व तुरीया से भी आगे है। उसमें वाणी की गति नहीं। हे मुनीश्वर ! यह सर्वकल्पना-रहित अतीतपद जो मैंने तुमसे कहा, उसमें स्थित हो। वही सनातन देव है और विश्व भी उसी का रूप है। वही तत्त्व संवेदन के वश हो ऐसे रूप में भासित होता है, पर वास्तव में न कुछ प्रवृत्त है और न कुछ निवृत्त है। आकाशरूप समसत्ता अद्वैततत्त्व अपने आप में स्थित और आकाशवत् निर्मल है। उसमें द्वैतभ्रम का अभाव है। एक चिद्घनसत्ता पाषाण की तरह अपने आप में स्थित है। उसमें और जगत् में रञ्चक भी भेद नहीं। जैसे जल और तरंग में कुछ भेद नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म और

जगत् में कुछ भेद नहीं। सम सत्ता शिव शान्ति-रूप और अनिर्वचनीय है। इसकी चतुर्मात्रा तुरीयपद परमशान्त है।

इतना कह वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज ! इस प्रकार जब ईश्वर ने कहा और परम शान्तिरूप आत्मतत्त्व का प्रसंग वशिष्ठजी ने सुना, तब दोनों की वृत्ति आत्मतत्त्व में स्थित हो गई और वे मौन हो गये, मानो चित्र लिखे हों। एक मुहूर्त पर्यन्त दोनों के चित्त की वृत्ति ऐसी ही रही। फिर ईश्वर जागे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने परमेश्वरोपदेशो नाम त्रयत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३३ ।।

वाल्मीकिजी बोले कि एक मुहूर्त्त उपरान्त सदाशिवजी ने तीनों नेत्र खोले तो जैसे पृथ्वीरूपी संपुट से सूर्य निकले वैसे ही उनके नेत्र निकले और जैसे द्वादश सूर्य का प्रकाश इकट्ठा हो, वैसे ही उनका प्रकाश हुआ। उन्होंने देखा कि वशिष्ठजी के नेत्र मुँदे हुए हैं। तब कहा कि हे मुनीश्वर ! जागो, अब नेत्र क्यों मूँदे हो ? जो कुछ देखना था सो तो तुमने देखा, अब समाधि लगाने का श्रम किसलिए करते हो ? तुम सरीखे तत्त्ववेत्ताओं को कुछ हेय या उपादेय नहीं होता। तुम जैसे बुद्धिमान् हो, वैसे ही आत्मदर्शी भी। जो कुछ पाने योग्य था, सो तुमने पाया और जानने योग्य जाना। बालकों के बोध के निमित्त जो तुमने मुझसे पूछा था, सो मैंने कहा। अब तुम चुप क्यों हो ?

हे राम ! इस प्रकार कहकर सदाशिव ने मेरे भीतर प्रवेश करके चित्त की वृत्ति से जगाया और जब मैं जागा तब फिर ईश्वर ने कहा, हे वशिष्ठ! इस शरीर की क्रिया का कारण प्राणस्पन्दन है। प्राणों से ही शरीर की चेष्टा होती है। उसमें आत्मा उदासीन की तरह स्थित है। वह न कुछ करता है, न भोगता है। जब जीव को अपने स्वरूप का प्रमाद होता है, तब देह में अभिमान होता है और वह अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानता है, इससे दुःख पाता और इस लोक-परलोक में भटकता है। जब आत्मविचार उपजता है, तब आत्मा का अभ्यास होता है; देहाभिमान मिट

जाता है और दुःख से मुक्त होता है। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर चेतन होकर प्राणों से चेतता है; जब प्राण निकल जाते हैं, तब शरीर मूक जड़रूप हो जाता है। चलाने और पवित्र करनेवाली जो संवित्‌शक्ति है, वह आकाश से भी सूक्ष्म है। वह शरीर का नाश होने पर नष्ट नहीं होती और जब नाश नहीं होती तब नाश का भ्रम कैसे हो ? हे मुनीश्वर! आत्मतत्त्व ब्रह्मसत्ता सर्वत्र है, परन्तु वहीं भासित होती है जहाँ सात्त्विक गुण का अंश मन और प्राण होते हैं। मन और प्राणों सहित देह भासित होती है। जैसे निर्मल दर्पण में जब मुख का प्रतिबिम्ब दिखता है और आदर्श मलिन होता है, तब मुख विद्यमान भी होता है, परन्तु नहीं भासित होता, वैसे ही मन और प्राण जब देह में होते हैं, तब आत्मा भासित होती है और जब मन और प्राण निकल जाते हैं तब मलिन शरीर में आत्मसत्ता नहीं भासित होती। हे मुनीश्वर ! आत्मसत्ता सब जगह पूर्ण है, परन्तु भासित नहीं होती। जब उसका अभ्यास होता है, तब सर्वात्मरूप होकर भासित होती है। वही सर्वकलना से रहित शुद्ध शिवरूप सबकी सत्तारूप है। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवता, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, सूर्यादिक सब जगत् का आदिशरीर वही है। वह एक देव शुद्ध चैतन्यरूप सब देवों का देव है। सब उसके दास और उसके चित्त का उल्लास हैं।

हे मुनीश्वर ! इस जगत् में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जो बड़े देवता हैं, वे उसी तत्त्व से प्रकट हुए हैं। जैसे अग्नि से चिनगारी उपजती हैं और समुद्र से तरंगे प्रकट होती हैं, वैसे ही हम उससे प्रकट हुए हैं। यह अविद्या भी उसी से प्रकट है और अनेक शाखाएँ उसकी हुई हैं। देव, अदेव, वेद और वेद के अर्थ और जीव सब उस अविद्या की जटा है। ये अनन्त हैं, फिर-फिर उपजती और मिटती हैं। देश, काल, पृथ्वी आदिक भी सब उसी से उत्पन्न हैं। वही सर्वसत्तारूप आत्मदेव है। हम ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र का परमपिता आत्मा ही है। सबका मूल बीज वही देव है, सब उससे उपजे हैं। जैसे वृक्ष से पत्ते उपजते हैं, वैसे ही सब उसी महादेव से उपजते हैं।

सबका अनुभवकर्ता, सबको सत्ता देनेवाला और सब प्रकाशों में प्रकाशक वही है। वह तत्त्ववेत्ताओं का पूज्य है, सबमें प्रत्यक्ष है और सर्वदा सब प्रकार सबमें उदित आकार चैतन्य अनुभवरूप है। उसके आवाहन में मन्त्र, आसन आदि सामग्री न चाहिए, क्योंकि वह सर्वदा अनुभवरूप से प्रत्यक्ष है और सब प्रकार सब जगह विद्यमान है। जहाँ-जहाँ उसके पाने का यत्न करिये, वहाँ-वहाँ पहले से ही विद्यमान है। वह शिवतत्त्व आदि से ही सिद्ध है और मन वाणी में तीनों रूपों से वही भासित होता है। वह सबका आदि पूज्य, नमस्कार करने और जानने योग्य है। हे मुनीश्वर ! जरा, मृत्यु, शोक और भय को मिटानेवाला ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसको जीव आपसे आप ही देखता है और उसका साक्षात्कार होने पर चित्त भूने बीज की नाईं हो जाता है, फिर उसमें कोई कर्मवासना नहीं उगती। वह शिवतत्त्व जीव का भी बीज है। सब पदों का पद वही है। अनुभवरूप आत्मा ही परम-पद है। भिन्नदृष्टि का त्याग करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देवनिर्णयो नाम चतुर्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३४ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! वह चित्रूप तत्त्व सबके भीतर स्थित है। अनुभवरूप शुद्ध देव ईश्वर और सब बीजों का बीज वही है। सब सारों का सार, कर्मों का कर्म और धर्मों का धर्म, चैतन्यतत्त्व, निर्मलरूप, सब कारणों का कारण और आप अपना कारण वही है। वह सब भाव और अभाव का प्रकाशक और परम प्रकाशरूप सब चेतनों की चैतन्यसत्ता है। वह भौतिक प्रकाश से रहित अलौकिक प्रकाश सब जीवों का जीव है। चैतन्य घन निर्मल आत्मा अस्ति-तन्मयरूप, सत्-असत् से रहित महासत्रूप है। सब सत्ताओं की सत्ता वही है। वही चिन्मात्रतत्त्व नानारूप हो रहा है। जैसे एक ही आत्मसत्ता स्वप्न में आकाश, स्कन्ध, पहाड़ आदि होकर भासित होती है। वैसे ही नाना रंग-रूप से वही भासित होता है। जैसे सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी अनेक कोटि किरणों से अनेक तरंग संयुक्त जान पड़ती है, वैसे ही यह जगत् उसमें भासित होता है।

हे मुनीश्वर ! उसी आत्मतत्त्व का आभास यह प्रकाश है, उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं—वही है, वैसे ही आत्मा से जगत् भिन्न नहीं, वही है। सुमेरु भी उसके आगे परमाणुरूप है। सम्पूर्ण काल उसका एक निमेषरूप है। कल्प भी उसकी पलकों के निमेष और उन्मेष की तरह उदय और लय होते हैं। सप्त-समुद्र-संयुक्त पृथ्वी उसके रोम के अग्र भाग की तरह तुच्छ है। ऐसा वह देव है। वह संसार की रचना नहीं करता और कर्तृत्व को प्राप्त होता है। बड़े कर्मों को करता प्रतीत होता है, तो भी कुछ नहीं करता। द्रव्यरूप देख पड़ता है तो भी द्रव्य से रहित है। निर्द्रव्य होकर भी द्रव्यवान् है। देहधारी नहीं, तो भी देहधारी है और बड़ा देहधारी होकर भी अदेह है। सबकी सत्तारूप वही देव है। ठंढी, भोलि, घले, मतचुल, पिंढली, माँगले, बेल, विलिमिला, लोबलाग, युगुल, सभस इत्यादि वाक्य निरर्थक हैं, इनका अर्थ कुछ नहीं, तो भी उस देव से सिद्ध होते हैं। ऐसा कुछ नहीं, जो उस देव में असत् नहीं, और ऐसा भी कुछ नहीं, जो उस देव से सत् नहीं। हे मुनीश्वर ! जिससे यह सब है, जो यह सब है और सबमें नित्य है, उस सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महेश्वरवर्णनन्नाम
पञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३५ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! शब्द की सत्ता वही है। सर्वसत्ता रत्नों का संपुट वही है। वही तत्त्व चमत्कार करके प्रकट होता है। जैसे जल ही तरंग, फेन बुलबुले आदि के आकार से देख पड़ता है, वैसे ही वह देव नाना प्रकार के आकार रखकर प्रकट होता है। वही फल और गुच्छे के रूप में स्थित होता है और वही उनमें सुगन्ध है। घ्राण इन्द्रिय में स्थित होकर आप ही उसे सूँघता है। आप ही त्वचा इन्द्रिय होता है। आप ही पवन होकर चलता है। आप ही ग्रहण करता है। आप ही जलरूप होता है। आप ही वायु होकर सुखाता है। आप ही श्रवणइन्द्रिय और आप ही शब्द होकर ग्रहण करता है। इसी प्रकार जिह्वा, त्वचा, नासिका कर्ण और

नेत्र होकर आप ही स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और शब्द को ग्रहण करता है। उसी ने सब पदार्थ रचे हैं। उसी ने नीति रची है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिव और पञ्चम ईश्वर सदाशिव तक वही देव इस प्रकार हुआ है। आप ही साक्षी की तरह स्थित होता है। जैसे दीपक के प्रकाश से मन्दिर की सब क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही संसाररूपी मण्डप की सब क्रियाएँ उसी साक्षी से होती हैं। उसमें उसकी शक्ति नृत्य करती है और वह आप साक्षीरूप होकर देखता है।

वशिष्ठजी बोले कि फिर मैंने पूछा, हे जगत् के नाथ ! शिव की शक्ति क्या है, कैसे स्थित है ? देव को साक्षात् कैसे करते हैं और उसका नृत्य कैसे होता है ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! आत्मतत्त्व स्वभाव से अचल और शान्तरूप है। शिव परमात्मा निर्मल चिन्मात्ररूप और निराकार है। उसकी शक्ति इच्छा और काल, नीति, मोह, ज्ञान, क्रिया कर्तृत्व आदि शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों का अन्त नहीं। वह अनन्त रूप चिन्मात्रदेव है। यह जो मैंने तुमसे शक्ति कही, वह भी शिवरूप है, भिन्न नहीं। शिव और शक्ति एकरूप हैं, और बहुत भासित होते हैं। जैसे पदार्थों में अर्थ-शक्ति और आत्मा में साक्षी-शक्ति कल्पित है, वैसे ही कालशक्ति नर्तक की नाईं ब्रह्माण्डरूपी नृत्यमण्डल में नृत्य करती है। क्रिया-शक्ति भी कर्तृत्व से नृत्य करती है। वही शक्ति कहाती है। जैसे आदि नीति हुई है, ब्रह्मा से लेकर तृण तक वैसे ही स्थित है—अन्यथा नहीं होती। हे मुनीश्वर! यह सम्पूर्ण जगत् नृत्य करता है। संसाररूपी नटिनी की प्रेरणा करनेवाली नीति है और परमेश्वर परमात्मा साक्षीरूप है। वह सदा उदित प्रकाशरूप और एकरस स्थित है। नीति आदिक शक्तियाँ भी उससे भिन्न नहीं। वे उसी का रूप हैं—इससे सब कुछ देव ही जानो, द्वैत नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरपाख्याने नीति-
नृत्यवर्णनन्नाम षट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३६ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! उसी एक देव परमात्मा की साधु-सन्त-भक्त-पूजा करते हैं। वह चिन्मात्र अनुभव आत्मा घटपटादिक

सबमें स्थित है, ब्रह्मा, इन्द्रादिक देवता और जीव, सबके भीतर-बाहर भी वही स्थित है। उस सर्वात्मा शान्तरूप देव का पूजन दो प्रकार से होता है। उस इष्टदेव का पूजन ध्यान है, और ध्यान ही पूजन है। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ लक्ष्यरूप आत्मा का ध्यान करो। सबका प्रकाशक आत्मा ही है। वह चिद्रूप अनुभव से हृदय के भीतर स्थित और अहंता से सिद्ध है। वही सबका सार और सबका आश्रयरूप है। उसका जो विराट्रूप है, अब सुनो। वह अनन्त है। परमाकाश उसकी ग्रीवा है। अनेक पाताल उसके चरण हैं। अनेक दिशाएँ उसकी भुजा हैं। सब प्रकाश उसके शास्त्र हैं। हृदयकोश कोण में स्थित है। ब्रह्माण्ड समूह को परंपरा से वह प्रकाशित करता है। परमाकाश अपाररूप है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि देवता और जीव उसकी रोमावली है। त्रिलोकी में जो देहरूपी यन्त्र हैं, उनमें इच्छादिक शक्तिरूप सूत्र व्याप्त है, जिससे सब चेष्टा करते हैं। वह देव एक भी है और अनन्त भी। सत्तामात्र उसका स्वरूप है, सब जगज्जाल उसका विवृत्त है, काल उसका द्वारपाल है और पर्वतादिक ब्रह्माण्ड जगत् उसकी देह के किसी कोण में स्थित है। उस देव का चिन्तन करो। उसके सहस्त्र चरण, सहस्त्र नेत्र, शीश, भुजा और भुजाओं के विभूषण हैं। सर्वत्र उसकी नासिका इन्द्रिय है, सर्वत्र रसना इन्द्रिय है, सर्वत्र त्वचा इन्द्रिय है, सब ओर मन है, पर वह सब मननकला से अतीत है। सब ओर वही शिवरूप सर्वदा और सबका कर्ता है, सब संकल्पों के अर्थ का फलदायक है और सर्वभूत के भीतर स्थित और सब साधनों को सिद्ध करता है। ऐसा देव सबमें सब प्रकार और सर्वदा स्थित है। उसी देव का चिन्तन करो और उसी देव के ध्यान में सावधान रहो। सदा उसी के आश्रय रहना उस देव का बाहरी पूजन है। अब भीतर का पूजन सुनो।

हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! संवित्मात्र जो देव है, वह सदा अनुभव से प्रकाशित होता है। उसका पूजन दीपक से नहीं होता; न धूप, पुष्प, चंदनलेप और केसर से होता है। अर्घ्य, पाद्यादिक पूजा की सामग्रियों से भी उस देव का पूजन नहीं होता। उसका पूजन तो अनायास नित्य ही

होता है। हे मुनीश्वर ! एक अमृतरूपी जो बोध है, उससे उस देव का सजातीय प्रत्यय ध्यान करना ही उसका परम पूजन है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चिन्मात्र देव अनुभवरूप है। उसका सर्वदा और सब प्रकार पूजन करो; अर्थात् देखना, स्पर्श करना, सूँघना, सुनना, बोलना, देना, लेना, चलना, बैठना इत्यादि जो कुछ क्रियाएँ हैं, सब चैतन्य साक्षी में अर्पण करो और उसी के परायण बनो। इस प्रकार आत्मदेव का पूजन करो। हे मुनीश्वर! आत्मदेव का ध्यान करना ही धूप-दीप है और पूजन की सब सामग्री यही है। ध्यान ही उस देव को प्रसन्न करता है और उससे परमानन्द प्राप्त होता है। और किसी प्रकार से वह देव नहीं प्राप्त होता। हे मुनीश्वर, मूढ़ भी इस प्रकार ध्यान से उस ईश्वर की पूजा करे तो त्रयोदश निमेष में जगत्-दान के फल को पाता है। सत्रह निमेष के ध्यान से प्रभु को पूजे तो अश्वमेधयज्ञ के फल को पाता है। और केवल ध्यान से आत्मा का एक घड़ी पर्यन्त पूजन करे तो राजसूययज्ञ के फल को पाता है। जो दो प्रहर पर्यन्त ध्यान करे तो लक्ष राजसूययज्ञ के फल को पाता है और जो दिन भर ध्यान करे तो असंख्य अमित फल पाता है। हे मुनीश्वर ! यह परम योग है यही परम क्रिया है और यही परम प्रयोजन है। हे मुनीश्वर ! दोनों पूजाएँ मैंने तुमसे कहीं। जो ये परमपूजा करता है, वह परमपद को पाता है। उसको सब देवता नमस्कार करते हैं और वह पुरुष सबका पूजनीय होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने अन्तर्बाह्य-पूजावर्णनन्नाम सप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३७ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! अब तुम अभ्यन्तर का पूजन सुनो। वह सर्वत्र पवित्र करनेवाले को भी पवित्र करता है और सब तम और अज्ञान का नाश करता है। मैं वह आत्मपूजन तुमसे कहता हूँ, जो सब प्रकार से सर्वदा होता है और व्यवधान कभी नहीं पड़ता; चलते, बैठते, जागते, सोते सब व्यवहारों में नित्य ध्यान में रहता है। हे मुनीश्वर ! इस संसार में संवित्रूप चिन्मात्र नित्य स्थित है। इसका पूजन करो। जो सब प्रत्यायों

का कर्ता और सदा अनुभव से प्रकाशित होता है, उसका अपने में आप पूजन करो। उठते, चलते, खाते, पीते जो कुछ बाहर के लिए त्याग, ग्रहण और भोग हैं, सबको करते रहते भी उस देव की पूजा करो। हे मुनीश्वर! शरीर में शिवलिंग चिन्ह से रहित बोधरूप देव है। यथाप्राप्ति में सम रहना उस देव का पूजन है । यथाप्राप्ति के समभाव में स्नान करके शुद्ध होकर बोधरूप लिंग का पूजन करो। जो कुछ प्राप्त हो, उसमें रागद्वेष से रहित होना और सर्वदा साक्षीरूप अनुभव में स्थित रहना ही उसका पूजन है। हे मुनीश्वर ! सूर्य के भुवन आकाश में वही सूर्य होकर प्रकाश करता है और चन्द्रमा के भुवन में चन्द्रमा होकर स्थित होता है। इनसे लेकर और भी जो पदार्थ समूह हैं, उनमें जैसी-जैसी भावना से स्फुरण हुआ है, वही रूप होकर वह देव स्थित है। हे मुनीश्वर ! जो नित्य, शुद्ध, बोधरूप और अद्वैत है, उसको देखना और किसी में वृत्ति न लगाना ही उस देव का पूजन है। प्राण अपानरूपी रथ पर आरूढ़ जो हृदय में स्थित है, उसका ज्ञान ही पूजन है। वही सब कर्म करता है। सब भोगों का भोक्ता, सब शब्दों को श्रवण करनेवाला, भागवतरूप और सबकी भावना करनेवाला वही परम प्रकाशरूप है। ऐसा जो संवित्‌तत्त्व है, उसको सर्वज्ञ जानकर उसका चिन्तन करना ही उसका पूजन है।

वह देव सब देहों में स्थित है तो भी आकाश सा निर्लिप्त निर्मल है। वह जाता भी है और नहीं जाता। प्राणरूपी आलय में प्रकाशित है; हृदय, कण्ठ, तालु, जिह्वा, नासिका और पीठ में व्यापक है, शब्द आदि विषयों को करता और मन का प्रेरक है। जैसे तिल के आश्रय तेल है, वैसे ही आत्मा सबका आश्रय है। वह कलनारूपी कलंक से रहित और कलनाओं से संयुक्त भी है। सम्पूर्ण देहों में वही एक देव व्याप रहा है। हृदय में जो प्रत्यक्ष होता है वही निर्मल चिन्मात्र प्रकाशरूप और कलनारूपी कलंक से रहित सदा प्रत्यक्ष है और अपने में आप ही उसका अनुभव किया जाता है। सर्वदा सब पदार्थों का प्रकाशक, प्रत्यक्‌ चैतन्य जो आत्मतत्त्व अपने हृदय में स्थित है, वही अपने फुरने से शीघ्र ही द्वैत की तरह हो जाता

है। हे मुनीश्वर ! जो कुछ साकाररूप जगत् देख पड़ता है, सो सब विराट् आत्मा है। इससे अपने में इस प्रकार विराट् की भावना करो कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरी देह है; हाथ, पॉव नख, केश हैं। मैं ही प्रकाशरूप एक देव हूँ। नीति इच्छादिक मेरी शक्ति हैं। सब मेरी ही उपासना करते हैं। जैसे स्त्री श्रेष्ठ भर्ता की सेवा करती है, वैसे ही शक्ति मेरी उपासना करती है। मन मेरा द्वारपाल है, जो त्रिलोकी का निवेदन करनेवाला है। चिन्तन मेरा आने-जानेवाला प्रतिहारी है। नाना प्रकार के ज्ञान मेरे अंग के भूषण हैं। कर्म-इन्द्रियाँ मेरे द्वार और ज्ञान-इन्द्रियाँ मेरे गण हैं । ऐसा मैं एक अनन्त आत्मा, अखण्डरूप, भेद से रहित,अपने आपमें स्थित परिपूर्ण हूँ।

हे मुनीश्वर ! इसी भावना से जो एक देव की पूजा करता है, वह परमात्मदेव को प्राप्त होता है। दीनता आदि उसके सब क्लेश नष्ट हो जाते हैं। उसे अनिष्ट की प्राप्ति में शोक और इष्ट की प्राप्ति में हर्ष नहीं उपजता। न तोष होता है और न कोप होता है। विषय की प्राप्ति से वह तृप्ति नहीं मानता और न इसके वियोग से खेद मानता है। न अप्राप्त की वाञ्छा करता है, न प्राप्त के त्याग की इच्छा करता है। सब पदार्थों में उसका समभाव रहता है। ऐसा पुरुष उस देव का परम उपासक है। ग्रहण-त्याग न करना, सबमें तुल्य रहना और भेदभाव को प्राप्त न होना ही उस देव का उत्तम अर्चन है। हे मुनीश्वर ! मैंने चैतन्यतत्त्व देव तुमसे यह कहा। वह सब देहों में स्थित है। जो वस्तु प्राप्त हो, उसका अर्चन करके उसी के आगे रखना, सबके साक्षी आत्मा को देखना, किसी से खिन्न न होना, उसमें अंहप्रतीत रखकर भिन्न दृश्य की भावना न करना ही उस देव की अर्चना है। हे मुनीश्वर ! जो कुछ प्राप्त हो, उसमें यत्न बिना समदर्शी रहना और भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, भोजन जो प्राप्त हो, उसे देव के आगे रखके उसमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि न करना, यही उस देव का पूजन है। सब पदार्थों की प्राप्ति में देव की पूजा करने से अनिष्ट भी इष्ट हो जाता है। मृत्यु आवे तो वह देव की पूजा, जन्म हो तो वह देव की पूजा, दरिद्र आवे तो वह देव की पूजा, राग प्राप्त हो तो वह देव

की पूजा। नाना प्रकार की विचित्र चेष्टाएँ सब देव के आगे पुष्पांजलि चढ़ाना है। रागद्वेष में सम रहना ही उस देव की पूजा है। सन्तों के हृदय में रहने वाली मैत्री, अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का मित्र होना भी उस देव का पूजन है। भोग, त्याग, राग से जो कुछ प्राप्त हो, उससे भी उस देव का पूजन करो। जो नष्ट हुआ सो हुआ और जो प्राप्त हुआ सो हुआ। दोनों में निर्विकार रहकर उससे उस देव का अर्चन करो। ये भोग आपात रमणीय हैं, होते भी हैं और नष्ट भी हो जाते हैं। इनकी इच्छा न करना, सदा सन्तुष्ट रहना। जैसे जो आकार प्राप्त हो, उसमें राग-द्वेष से रहित होना भी उस देव का अर्चन है।

हे मुनीश्वर ! जो कुछ प्रारब्ध से प्राप्त हो, उससे आत्मा का अर्चन करो। इच्छा-अनिच्छा को त्यागकर जो प्राप्त हो, उससे उस देव का अर्चन करो। हे मुनीश्वर ! ज्ञानवान् न किसी की इच्छा करता है और न त्याग करता है। जो अनिच्छित अनायास प्राप्त हो, उसको भोगता है जैसे समुद्र में नदी जा मिलती है पर वह उससे न कुछ हर्ष मानता है, न शोक करता है, वैसा ही ज्ञानवान् इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में राग-द्वेष से रहित यथाप्राप्त को भोगता है। वह भी उस देव का पूजन है। देश, काल, क्रिया, शुभ अथवा अशुभ जो प्राप्त हो, उसमें संरक्षण विकार को प्राप्त न होना उस देव की अर्चना है। यदि द्रव्य अनर्थरूप हो तो भी समत्व रस मिला होने से वह अमृत हो जाता है। जैसे षट्रसों के स्वाद शक्कर से मिलकर मधुर हो जाते हैं, वैसे ही अनर्थरूपी रस समत्व रस से मिलकर अमृत हो जाते हैं। समदर्शी को उससे खेद नहीं होता। वे अनन्त रूप हो जाते हैं। चन्द्रमा की नाईं सब भावना अमृतमय हो जाती है। जैसे आकाश निर्लेप है, वैसे ही समत्व भाव पाकर चित्त राग-द्वेष से रहित निर्मल हो जाता है। द्रष्टा को दृश्य से मिला न देखना, साक्षीरूप रहना ही देव की अर्चना है। जैसे पत्थर की शिला निस्पन्द होती है, वैसे ही विकल्प से रहित चित्त अचल होता है। वही देव की अर्चना है।

हे मुनीश्वर ! भीतर से आकाश सा असंग रहना और बाहर से

प्रकृति आचार में रहना किसी के संग का हृदय में स्पर्श न होने देना और सदा समभाव विज्ञान से पूर्ण रहना ही उस देव की उपासना है। जिसके हृदयरूपी आकाश से अज्ञानरूपी मेघ नष्ट हो गया है, उसको स्वप्न में भी विकार नहीं होता। जिसके हृदयरूपी आकाश से अहंतारूपी कुहिरा मिट गया है, वह शरतकाल के आकाश सा उज्जवल होता है। हे मुनीश्वर! जिसको समभाव प्राप्त हुआ है, और उससे उसने देव को पाया है, वह पुरुष ऐसा हो जाता है जैसा छोटा बालक राग-द्वेष से रहित होता है। जीवरूपी चेतना को उलंघकर पदम चैतन्यतत्त्व जो प्राप्त होता है और सकल की इच्छा और सुख-दुःख भ्रम से शरीर की मुक्ति होती है, वही देव की अर्चना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देवार्चनाविधान-
न्नामाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। ३८ ।।

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जैसी कामना हो और जो कुछ आरम्भ करो अथवा न करो, उससे अपने में चिन्मात्र संवित्तत्त्व की अर्चना करो। इससे वह देव प्रसन्न होता है, और जब प्रसन्न हुआ, तब वह प्रकट होता है। जब उसको पाया और स्थित हुआ तब रागद्वेषादिक शब्दों का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। जैसे अग्नि में बर्फ का कण नहीं पाया जाता, वैसे ही फिर उसमें रागद्वेषादिक नहीं पाये जाते। इससे उस देव की अर्चना करनी चाहिए। यदि राज्य अथवा दारिद्र व सुख-दुःख प्राप्त हो तो उसमें सम रहना ही देव की अर्चना है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चिन्मात्र से प्रमादी न होने का नाम ही अर्चना है। जो कुछ घटपट आदिक जगत् भासित होता है, सो सब आत्मरूप है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह आत्मा शिव शान्तिरूप, अनाभास, एक, प्रकाशरूप है। सम्पूर्ण जगत् प्रतीतिमात्र है; आत्मा से भिन्न किसी द्वैत वस्तु का आभास नहीं है। सर्वात्मारूप अद्वैततत्त्व जब भासित होता है, तब उसमें प्राप्त होकर बड़ा आश्चर्य होता है। घटपटादिक रूप सब वही है, और कुछ नहीं। हे मुनीश्वर ! यह सब सर्वात्मा अनन्त शिवतत्त्व है,

ऐसा निश्चय जिसको हुआ है, उसने देव की पूजा जानी है। घटपट आदि पदार्थ और पूज्य-पूजा-पूजकभाव, सब ब्रह्मरूप है। निर्मलदेव आत्मा में कुछ भेद-भाव नहीं है।

हे मुनीश्वर ! आत्मदेव सर्वशक्तिमान् और अनन्तरूप है। जगत् में उससे भिन्न कुछ नहीं। निर्मल प्रकाश संवित्रूप आत्मा स्थित है। हमको तो ईश्वरदेव से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। सर्वत्र, सब प्रकार वही सर्वात्मा सम्पूर्ण देख पड़ता है। जिनको देश-काल के परिच्छेद सहित ईश्वर भासित होता है, वे हमारे उपदेश के पात्र नहीं, वे ज्ञानबन्धु नीच हैं। उनकी दृष्टि को त्यागकर मेरी दृष्टि का आश्रय जो ले तो स्वस्थ, वीतराग और निरामय होकर प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख-दुःख आकर प्राप्त हो उसे खेद से रहित होकर भोगे और उस देव का अर्चन करे, तब शान्ति प्राप्त हो। हे मुनीश्वर ! सब प्रकार सर्वात्मारूप से उस देव की भावना करो-यही उसका पूजन है। वृत्ति का सदा अनुभवरूप में स्थित रहना और यथाप्राप्त में खेद से रहित विचरना ही उस देव की अर्चना है। जैसे स्फटिक के मन्दिर में जो प्रतिबिम्ब झलकते हैं, वे और कुछ नहीं निष्कलंक स्फटिक ही है, वैसे ही सब ओर से शुद्ध और जन्मादिक दुःख से रहित निष्कलंक आत्मा की प्राप्ति से तुम में जन्मादिक कलंक या दुःख कुछ न रहेगा ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देवपूजाविचारो नामैकोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः।। ३९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे देव ! शिव किसे कहते हैं और ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, तत्सत्, निष्किञ्चन, शून्य, विज्ञान इत्यादिक किसे कहते है ? ये भेदसंज्ञाएँ किस निमित्त हुई हैं ? कृपा करके कहो। ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जब सबका अभाव होता है, तब अनादि, अनन्त, अनाभास सत्तामात्र शेष रहता है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं, उसे निष्किञ्चन कहते हैं। फिर मैंने पूछा, हे ईश्वर ! जो इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि का विषय नहीं, उसे क्योंकर पा सकते हैं ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जो मुमुक्षु हैं और

जिनको वेद के आश्रयसंयुक्त सात्त्विकी वृत्ति प्राप्त हुई है, उनको सात्त्विकीरूप जो गुह्य शास्त्रनाम की विद्या प्राप्त होती है, उससे अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है, जैसे साबुन से धोबी वस्त्र का मैल उतारता है, वैसे ही गुरु और शास्त्र अविद्या को दूर करते हैं। जब कुछ काल में अविद्या नष्ट होती है, तब अपना रूप आप ही दिखता है। हे मुनीश्वर ! जब शास्त्रों का विचार मिलकर प्राप्त होता है, तब स्वरूप की प्राप्ति होती है, द्वैतभ्रम मिट जाता है और सर्वत्र आत्मा ही झलकता है। और जब विचार द्वारा आत्मतत्त्व का निश्चय हुआ कि सर्वत्र सब कुछ आत्मा ही है, उससे कुछ भिन्न नहीं, तब अविद्या जाती रहती है।

हे मुनीश्वर ! आत्मा की प्राप्ति में गुरु और शास्त्र प्रत्यक्ष कारण नहीं; क्योंकि जिनके क्षय होने से वस्तु को पाइये, उनके विद्यमान होते वह वस्तु कैसे मिल सकती है ? देह इन्द्रियों सहित गुरु होता है और ब्रह्म सब इन्द्रियों से अतीत है; इनसे कैसे उसे पाइये ? ज्ञान अकारण है, परन्तु उसके कारण भी हैं क्योंकि गुरु और शास्त्र के क्रम से ज्ञान की सिद्धि होती है और गुरु और शास्त्र के बिना बोध की सिद्धि नहीं होती। आत्मा निर्देश और अदृश्य होकर भी गुरु और शास्त्र से मिलता है, और गुरु और शास्त्र से भी नहीं मिलता, आप ही से आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकार में पदार्थ हो और दीपक के प्रकाश से दीखे तो दीपक से उसे नहीं पाया, अपने आप से पाया है, वैसे ही गुरु और शास्त्र भी है। यदि दीपक हो और नेत्र न हों, तब कैसे वस्तु को पाइये और नेत्र हों और दीपक न हो तो भी नहीं पाया जाता। जब दोनों हो, तब पदार्थ पाया जाता है। वैसे ही गुरु और शास्त्र भी हों और अपना पुरुषार्थ और तीक्ष्णबुद्धि हो, तब आत्मतत्त्व मिलता है, अन्यथा नहीं पाया जाता। जब गुरु, शास्त्र और शिष्य की शुद्ध बुद्धि, तीनों इकट्ठे मिलते हैं, तब संसार के सुख-दुःख दूर होते हैं और आत्मपद की प्राप्ति होती है। जब गुरु और शास्त्र आवरण को दूर कर देते हैं, आपसे आप ही आत्मपद मिलता है, वैसे ही जैसे जब वायु बादल को दूर करती है, तब नेत्रों से सूर्य देख पड़ता है।

अब नाम के भेद सुनो। जब बोध के प्रभाव से कर्म-इन्द्रियों और ज्ञान-इन्द्रियों का क्षय हो जाता है, तब उसके पीछे जो शेष रहता है, उसके नाम संवित्‌तत्त्व, आत्मसत्ता आदिक हैं। जहाँ ये सम्पूर्ण नहीं और इनकी वृत्ति भी नहीं, उसके पीछे जो सत्ता शेष रहती है, वह आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल अनन्त परम शून्यरूप है-वहाँ शून्य का भी अभाव है। हे मुनीश्वर ! जो शान्तरूप मुमुक्ष मनन-कलना से संयुक्त हैं, उनको जीवन्मुक्तपद के बोध के निमित्त मोक्ष उपाय ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, लोकपाल, पण्डित, पुराण, वेद शास्त्र और सिद्धान्त रचे गये हैं और उनमें शास्त्रों ने चैतन्य ब्रह्म, शिव, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, सत्, चित्, आनन्द आदि भिन्न-भिन्न अनेक संज्ञाएँ कही हैं, पर ज्ञानी को यह कुछ भेद नहीं।

हे मुनीश्वर ! ऐसा जो देव है, उसका ज्ञानवान् इस प्रकार अर्चन करते हैं और जिस पद के हम सब दास या कर्मचारी हैं, उस परमपद को वे प्राप्त होते हैं। फिर मैंने पूछा, हे भगवन् ! यह सब जगत् अविद्यमान है और विद्यमान की तरह स्थित है, सो यह कैसे हुआ ? यह तुम्हीं कह सकते हो। ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जो ब्रह्म आदिक नाम से कहा जाता है, वह केवल शुद्ध संवित्‌मात्र और आकाश से भी सूक्ष्म है। उसके आगे आकाश भी ऐसा स्थूल है, जैसा अणु के आगे सुमेरु स्थूल। उसमें जब वेदनाशक्ति आभास होकर चेतती है, तब उसका नाम चेतन होता है। फिर वह अहंताभाव को प्राप्त हुआ, जैसे स्वप्न में पुरुष अपने को हाथी देखने लगे, वैसे अपने को अहं मानने लगा। फिर देश, काल, आकाश आदि देखने लगा। तब चेतनकला जीव अवस्था को प्राप्त हुई और वासना करनेवाली हुई। जब जीवभाव हुआ, तब बुद्धि निश्चयात्मक होकर स्थित हुई और शब्द और क्रियाज्ञान से संयुक्त हुई। जब इनसे मिलकर कल्पना हुई, तब मन हुआ, जो संकल्प का बीज है। तब अन्तवाहक शरीर में अहं रूप होकर ब्रह्मसत्ता स्थित हुई। इस प्रकार यह उत्पन्न हुई है। फिर वायुसत्ता स्पंदित हुई, जिससे स्पर्शसत्ता त्वचा प्रकट हुई। फिर तेज-सत्ता

हुई, जिससे प्रकाशसत्ता प्रकट हुई। आकाश से नेत्रसत्ता प्रकट हुई। फिर जलसत्ता हुई, जिससे स्वादरूप-रससत्ता हुई। उससे जिह्वा प्रकट हुई। फिर गन्धसत्ता से भूमि, भूमि से घ्राणसत्ता और उससे पिण्डसत्ता प्रकट हुई। फिर देशसत्ता, कालसत्ता और सर्वसत्ता हुई, जिनको इकट्ठा करके अहंसत्ता प्रकट हुई। जैसे बीज, पत्र, फूल, फल आदिक का आश्रय होता है, वैसे ही इस पुर्यष्टका को जानो। यही अन्तवाहक देह है। इन सबका आश्रय ब्रह्मसत्ता है। वास्तव में कुछ उपजा नहीं, केवल परमात्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जैसे तरंगादि में जल स्थित है, वैसे ही आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है।

हे मुनीश्वर ! संवित् में जो संवेदन पृथकरूप होकर स्फुरित और उसे निःस्पन्दन करके जब स्वरूप को जाने, तब वह नष्ट हो जाती है। जैसे संकल्प का रचा नगर संकल्प के अभाव से अभाव हो जाता है, वैसे ही आत्मा के ज्ञान से संवेदन का अभाव हो जाता है। हे मुनीश्वर ! संवेदन तब तक भासित होता है, जब तक उसको जाना नहीं, जब जान लिया, तब संवेदन का अभाव हो जाता है और वह संवित् में लीन हो जाता है, भिन्न सत्ता इसकी नहीं रहती। हे मुनीश्वर ! जो प्रथम अणु तन्मात्र थी, वह भावनावश स्थूल देह को प्राप्त हुई और स्थूल देह होकर भासित होने लगी। आगे जैसे-जैसे देश-काल-पदार्थ की भावना होती गई, वैसे-वैसे भासित होने लगी। जैसे स्वप्न में गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर देख पड़ता है, वैसे ही भावना के कारण ये पदार्थ भासित होने लगे हैं। मैंने पूछा, हे भगवन् ! गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर के समान इसको कैसे कहते हो ? यह जगत् तो प्रत्यक्ष देख पड़ता है ?

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! संसार का दुःख वासना-वश दीखता है। अविद्यमान में स्वरूप के प्रमाद से विद्यमान बुद्धि हुई है। जगत् के पदार्थों को सत् जानकर जो वासना जागती है,उससे दुःख होता है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् अविद्यमान है। जैसे मृगतृष्णा का जल असत्य होता है, वैसे ही यह जगत् असत्य है। उसमें वासना, वासक और वास्य तीनों मिथ्या हैं।

जैसे मृगतृष्णा का जल पान करके कोई तृप्त नहीं होता, क्योंकि जल ही असत् है, वैसे ही यह जगत् स्वयं ही असत् है, अतः इसके पदार्थों की वासना करना वृथा है। ब्रह्मा से तृणपर्यन्त सब जगत् मिथ्या है। वासना, वासक और वास्य पदार्थों का अभाव होने पर केवल आत्मतत्त्व रहता है और सब भ्रम शान्त हो जाता है।

हे मुनीश्वर ! यह जगत् भ्रममात्र है—वास्तव में कुछ नहीं। जैसे बालक को अज्ञान से अपनी परछाहीं में वैताल देख पड़ता है और जब विचार करके देखे तब वैताल का अभाव हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से यह जगत् भासित होता है और आत्मविचार से इसका अभाव हो जाता है। जैसे मृगतृष्णा की नदी और आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासित होता है, वैसे ही आत्मा में अज्ञान से देह भासित होती है। जिसकी बुद्धि देहादिक में स्थिर है, वह हमारे उपदेश के योग्य नहीं है। जो विचारवान् है, उसको उपदेश करना उचित है। जो मूर्ख भ्रान्त असत्वादी और सत्कर्म से रहित अनार्य है, उसको ज्ञानवान् कभी उपदेश न करे। जिनमें विचार, वैराग्य, कोमलता और शुभ आचार हों, उनको उपदेश करना चाहिए। जो इन गुणों से रहित हों उनको उपदेश करना ऐसे होता है, जैसे कोई महासुन्दर और सुवर्ण सदृश्य कान्तिवाली कन्या को नपुंसकपुरुष के साथ ब्याह देने की इच्छा करे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं नाम चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे भगवन् ! वह जीव, जो आदि में उत्पन्न हुआ और अपने साथ देहभ्रम देखने लगा, उसके अनन्तर वह कैसे स्थित हुआ ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! उस जीव ने स्वप्न की तरह सर्वगत् चिद्घन आत्मा के आश्रय से उपजकर अपने शरीर को देखा। हे मुनीश्वर! जो आदि जीव प्रकट होकर प्रमाद को नहीं प्राप्त हुआ और अपने स्वरूप ही में अहंप्रत्यय रहा, वह इस कारण ईश्वर होकर स्थित हुआ। उसको यह निश्चय रहा कि मैं सनातन, नित्य, शुद्ध, परमानन्द

और अव्यक्तरूप परमपुरुष हूँ। आत्मा की अपेक्षा से उसको जीव कहा है और सृष्टि जगत् की अपेक्षा करके उसको ईश्वर कहा । हे मुनीश्वर ! वह जो आदि जीव है सो कभी विष्णुरूप होकर ब्रह्मा को नाभिकमल से उत्पन्न करता है। वह किसी सृष्टि में प्रथम ब्रह्मा हुआ है और विष्णु और रुद्र उससे उत्पन्न हुए हैं। किसी सृष्टि में वह प्रथम रुद्र हुआ, उससे विष्णु और ब्रह्मा हुए। चैतन्य आकाश में जैसा-जैसा संकल्प प्रकट हुआ है, वैसा ही वैसा होकर वह स्थित हुआ है। आदि जीव ने उपजकर जिस-जिस प्रकार का संकल्प किया, वैसा-वैसा होकर स्थित हुआ। वास्वत में सब असत्रूप है और अज्ञानरूप भ्रम से भासित हुआ है। जैसे परछाहीं में वैताल होता है। वैसे ही अज्ञान से यह सत्रूप भासित होता है। आदि-पुरुष से लेकर सारी सृष्टि परमाकाश के एक निमेष में हुई है और उन्मेष में लय भी हो जाती है। एक निमेष के प्रसाद से कल्प के समूह व्यतीत हो जाते हैं और परमाणु परमाणु में सृष्टियाँ प्रकट होती हैं। उनमें कल्प और महाकल्प भासित होते हैं। कुछ सृष्टियाँ परस्पर दिखती हैं और कुछ अन्योन्य अदृश्यरूप हैं। इसी प्रकार सृष्टियाँ उसकी स्पन्दनकला में उपजी हैं और चमत्कार हुआ है। जब स्पन्दनकला स्वरूप की ओर आती है, तब उसमें लीन हो जाती है। जैसे स्वप्न का देखा पर्वत जागने पर लीन हो जाता है, वैसे ही जाग्रत् की सृष्टि लीन हो जाती है।

हे मुनीश्वर ! जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टियाँ हैं। उन सृष्टियों को कोई देश या काल रोक नहीं सकता; क्योंकि वे अपने-अपने संकल्प में स्थित हैं, और यह सब आत्मा का चमत्कार है। जैसा स्फुरण स्फुरित होता है, वैसा चमत्कार भासित होता है। हे मुनीश्वर ! न कुछ उपजा है, न कुछ नष्ट होता है; स्वतः चैतन्यतत्त्व अपने आपमें चमकता है। जैसे स्वप्ननगर उपजकर नष्ट हो जाता है और संकल्प का पहाड़ उपजकर मिट जाता है, वैसे ही जगत् उपजकर नष्ट हो जाता है। जैसे स्वप्न और संकल्प के पहाड़ को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही अपनी-अपनी सृष्टि को देश या काल रोक नहीं सकता। क्योंकि और

जगह इनका सद्‌भाव नहीं है, इससे यह जगत् अपने-अपने काल में सत्‌रूप है। आत्मा में सद्‌भाव नहीं, वह संकल्परूप है। हे मुनीश्वर ! जैसे आदि तत्त्व से जीव ईश्वर निकले हैं, वैसे ही कर्म भी रुद्र से लेकर वृक्ष तक सब एक क्षण में उसी तत्त्व से निकल आये हैं। सुमेरु आदि भी अपनी स्थिति में अपने को रोकते हैं, अन्य अणु को भी नहीं रोक सकते; क्योंकि वहाँ अस्तित्व है ही नहीं। इस कारण आत्मा में सृष्टि आभासरूप है। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार सब जगत् मायामात्र है और भावना से भासित होता है। जब आत्मा का अभ्यास होता है, तब भेदकल्पना मिट जाती है और केवल उपशमरूप शिवतत्त्व भासित होता है।

हे मुनीश्वर ! निमेष का जो शत भाग है उसका अर्द्धभाग प्रमाद होने से नाना प्रकार का जगत् प्रकट भासित होता है। सत्-असत्‌रूप जगत् मनरूपी विश्वकर्मा बनाता है। आत्मतत्त्व न दूर है, न निकट है, न नीचे है, न ऊपर है, न पूर्व में है और न पश्चिम में है। सत्-असत् के मध्य वह अनुभवरूप सर्वज्ञ है। उसको प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण अपना विषय नहीं बना सकते—जैसे जल से अग्नि नहीं निकलती। हे मुनीश्वर ! जो कुछ तुमने पूछा था सो मैंने कहा। उसमें चित्त लगाने से तुम्हारा कल्याण न होगा। इतना कह सदाशिव बोले कि अब हम अपने वाञ्छित स्थान को जाते हैं। चलो पार्वती, अपने स्थान को चलें।

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार ईश्वर ने कहा, तब मैंने अर्घ्य-पाद्य से पूजन किया और ईश्वर भी पार्वती और गणों को लेकर आकाशमार्ग को चले। जब तक मुझको देख पड़ते रहे, तब तक मैं उनकी ओर देखता रहा। फिर अपने स्थान में कुशासन पर आकर बैठा और जो कुछ ईश्वर ने उपदेश किया था, वह मैं अपने मन में विचारने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थविचारो नामैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः।। ४१।।

वशिष्ठ बोले, हे राम ! जो कुछ ईश्वर ने मुझसे कहा सो मैं आप भी जानता था और तुम भी जानते हो। यह जगत् भी असत् है और देखनेवाला भी असत् है। इस मायारूप जगत् में मैं तुमसे सत् क्या कहूँ और असत् क्या कहूँ ? जैसे जल में द्रवता है वैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे पवन में स्पन्दन और आकाश में शून्यता है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। हे राम ! जो कुछ पतित प्रवाह से प्राप्त होता है, उसी से मैं देवअर्चन करता हूँ। इस क्रम से मैं निर्वासनिक हूँ और जगत् की क्रिया से मैं दुःख-हीन होकर चेष्टा करता हूँ। व्यवहार करता देख पड़ता हूँ, तो भी शान्तरूप हूँ और यथाप्राप्त आचाररूपी फूल से आत्मदेव की अर्चना करता हूँ, मुझको छेद-भेद कोई नहीं होता। हे राम ! विषयों और इन्द्रियों का सम्बन्ध सब जीवों को बराबर है, पर जो ज्ञानवान् हैं, वे सावधान रहते हैं, और जो कुछ देखते, सुनते, बोलते, खाते, सूँघते और स्पर्श करते हैं, उससे आत्मतत्त्व का अर्चन करते हैं और अपने को आत्मा से भिन्न नहीं जानते। अज्ञानियों को कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान होता है और उससे वे दुखी होते हैं।

हे राम ! तुम भी ऐसी दृष्टि का आश्रय लेकर संसाररूपी वन में निःसंग होकर विचरो तो तुमको कुछ खेद न होगा। जिसकी वृत्ति इस प्रकार समान हो गई है, उसको चाहे बड़ा कष्ट प्राप्त हो, चाहे धन और बांधवों का वियोग हो, तो भी उसको खेद नहीं होता। यह जो दृष्टि मैंने तुमसे कही है, उसका जब आश्रय ग्रहण करोगे, तब तुमको कोई दुःख न होगा। हे राम ! सुख, दुःख, धन और बान्धवों का वियोग, ये सब पदार्थ अनित्य हैं। ये आते भी हैं और जाते भी हैं। इनको 'आगमापायी' जानकर बिचरो। यह संसार विषमरूप है, एकरस कभी नहीं रहता। इसको स्थिर या सत् जानकर दुखी न होना। हे राम ! पदार्थ और काल जैसे जाय तैसे जाय और जैसे सुख-दुःख आवें वैसे आवें ये सब आगमापायी पदार्थ हैं, अर्थात् आते भी हैं और जाते भी हैं। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति में हर्षित न होना अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट के वियोग से खिन्न

न होना। जैसे जो आवे, उसे निर्लिप्त रहकर भोग करो। जिसको आना है आवेगा और जिसको जाना है वह जावेगा। ये सुख–दुःख प्रवाहरूप हैं। इनमें आस्था करके संतप्त न होना। हे राम ! यह सब जगत् तुम्हीं हो और तुम्हीं जगत्रुप हो। चिन्मात्र विस्तृत आकार भी तुम्हीं हो। जब सब तुम्हीं हो, तब हर्ष या शोक किसलिए करते हो ? इसी दृष्टि का आश्रय करके जगत् में सुषुप्त होकर बिचरो तो तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त होगे, जो सम प्रकाशरूप है। हे राम ! जो कुछ मुझे तुमसे कहना था सो कहा है, आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। पीछे तुमने पूछा था कि अनन्तरूप ब्रह्म में कलंक कैसे प्राप्त हुआ है ? सो अब फिर प्रश्न करो कि मैं उत्तर दूँ।

रामजी ने कहा, हे ब्रह्मन् ! अब मुझको कुछ संशय नहीं रहा; मेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं और जो कुछ जानना था सो मैंने जान लिया। अब मैं परम अकृत्रिम तृप्ति को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! आत्मा में न मैल है, न द्वैत है और न एक दो आदि की कोई कल्पना है। पहिले मुझमें अज्ञान था तब मैंने पूछा था; अब तुम्हारे वचनों से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है, इससे कुछ दोष नहीं भासित होता। आत्मा को न जन्म है, न मरण है। सब ब्रह्म ही है। हे मुनीश्वर ! प्रश्न संशय से उपजता है, सो मेरा संशय नष्ट हो गया है। जैसे यन्त्री की कठपुतली न हिलाने से अचल होती है, वैसे ही संशय से रहित मेरा मन स्थिर निश्चल हो गया है। सर्व सारों का सार मुझको प्राप्त हुआ है। जैसे सुमेरु अचल है, वैसे ही मैं अचल हूँ। मुझको कोई क्षोभ नहीं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो मेरे लिए त्यागने योग्य हो और ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं, जो ग्रहण करने योग्य हो। किसी पदार्थ की मुझको न इच्छा है, न अनिच्छा। मैं शान्तरूप स्थित हूँ। न स्वर्ग की मुझको इच्छा है, न नरक से द्वेष है। सब ब्रह्मरूप मुझको भासित होता है। मन्दराचल पर्वत की तरह मैं आत्मतत्त्व में स्थित हूँ।

हे मुनीश्वर ! जिसको अवस्तु में वस्तु-बुद्धि होती है और हृदय में कलना स्थित होती है, वह किसी को ग्रहण करता है; किसी का त्याग

करता है और दीनता को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! यह संसार महासमुद्ररूप है। उसमें राग द्वेषरूपी लहरें हैं और शुभ-अशुभरूपी मच्छ रहते हैं। ऐसे भयानक संसारसमुद्र से अब मैं आपके प्रसाद से तर गया हूँ और चरम-परम सम्पदा को प्राप्त होकर मेरे दुःख नष्ट हो गये हैं। सबके सार को प्राप्त होकर मैं पूर्ण आत्मा हूँ। अदीन पद और परम शान्त अभेदसत्ता मुझे मिल गई है। आशारूपी हाथी को मैंने सिंह बनकर मारा है। अब मुझको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देख पड़ता। मेरे सब विकल्प-जाल कट गये हैं, इच्छादिक विकार नष्ट हो गये हैं और दीनता जाती रही है। तीनों जगत् में मेरी जय है और मैं सदा उदितरूप हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रान्ति आगमनं
नाम द्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४२।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो केवल देह और इन्द्रियों से करता है और मन से नहीं करता, वह जो कुछ करता है सो कुछ नहीं करता। जो कुछ इन्द्रियों से इष्ट प्राप्त होता है, उससे क्षणमात्र सुख प्राप्त होता है। उस क्षणभर की प्रसन्नता में जो बँध जाता है, वह बालबुद्धि मूर्ख है। जो ज्ञानवान् है, वह उसमें कभी नहीं बँधता। हे राम ! वाञ्छा ही इसको दुखी करती है। सुन्दर विषयों की वाञ्छा होने पर जब जीव यत्न से उसको प्राप्त करता है, तब क्षणभर सुख होता है और जब उनका वियोग होता है, तब दुखी होता है। इस कारण इन विषयों की वाञ्छा त्यागना ही उचित है। इनकी वाञ्छा तब होती है, जब स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और देहादिक में सद्भाव होता है। जब देहादिक में अहंभाव होता है, तब अनेक अनर्थ उपस्थित होते हैं। इससे हे राम ! ज्ञानरूपी पर्वत पर चढ़े रहना और अहंतारूपी गढ़े में न गिरना। हे राम ! आत्मज्ञानरूपी सुमेरु पर्वत पर चढ़कर फिर अहंता (अभिमान) के गढ़े में गिरना बड़ी मूर्खता है। जब दृश्यभाव को त्यागोगे, तब अपनी स्वभावसत्ता को प्राप्त होगे। वह सम और शान्तरूप है और उससे

विकल्पजाल सब मिट जायगा। तब समुद्र की तरह पूर्ण होगे और द्वैतरूप न प्रतीत होगा।

हे राम ! जब हृदय में विषय को विष जाने, तब मन भी नीरस हो जाता है और चित्त निस्संग होता है। वास्तव में देखो तो सबमें सत्ता ब्रह्म चिद्‌घन समानरूप से स्थित है, पर अद्वैतस्वरूप के प्रमाद से वह नहीं भासित होता। हे राम ! आत्मा का अज्ञान ही बन्धन और आत्मा का बोध ही मुक्ति है। इससे बलपूर्वक मोह-निद्रा को छोड़ आप ही जागो, तब इस बन्धन से मुक्त होगे। हे राम ! जिसमें विषय का स्वाद नहीं और जिसमें आत्मतत्त्व का अनुभव होता है, वह आकाशसदृश निर्मल सत्ता वासना से रहित है। वासना से रहित होकर जो पुरुष कर्म करता है, वह विकार को नहीं प्राप्त होता। यदि अनेक क्षोभ आकर प्राप्त हों तो भी उसको विकार नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ये तीनों आत्मरूप भासित होते हैं। जब ऐसा ज्ञान होता है, तब किसी का भय नहीं रहता। चित्त के चेतन से जगत् उत्पन्न होता है और चित्त के मिटने पर लीन हो जाता है। जब वासना-सहित प्राण उदय होते हैं, तब जगत् का उदय होता है और जब वासना-सहित प्राण लीन होते हैं, तब जगत् भी लीन हो जाता है। अभ्यास करके वासना और प्राणों को स्थित करो। जब मूर्खता उदय होती है तब कर्म उदय होते हैं और मूर्खता के लीन होने पर कर्म भी लीन होते हैं। इससे सत्संग और सत्‌शास्त्रों के विचार से मूर्खता को नष्ट करो। जैसे वायु के संग से उड़कर धूल बादल का आकार धारण करती है, वैसे ही चित्त के चेतन से जगत् स्थित होता है। हे राम ! जब चित्त जगता है, तब नाना प्रकार का जगत् प्रकट होता है, और चित्त के न जगने पर जगत् लीन हो जाता है।

हे राम ! वासना शान्त हो अथवा प्राणों का निरोध हो, तब चित्त अचित्त हो जाता है और जब चित्त अचित्त हुआ तब जीव परमपद को प्राप्त होता है। हे राम ! दृश्य और दर्शन सम्बन्ध के बीच में जो परमात्मसुख और एकान्तसुख है, वह संवित् ब्रह्मरूप है। उसका साक्षात्कार

होने पर मन का क्षय हो जाता है। जहाँ चित्त नहीं उपजता, वह जो चित्त से रहित अकृत्रिम सुख है। ऐसा सुख स्वर्ग में भी नहीं होता जैसे मरुस्थल में वृक्ष नहीं होते, वैसे ही चित्त-सहित विषयों से सुख नहीं होता। चित्त के उपशम में जो सुख है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। उसके समान या उससे बढ़कर कोई भी सुख नहीं है। सुख का नाश हो जाता है, पर आत्मसुख का नाश नहीं होता। वह अविनाशी है और उत्पत्ति-विनाश से रहित है। हे राम ! अबोध से चित्त का उदय होता है और आत्मबोध से वह शान्त हो जाता है। जैसे मोह से बालक को वैताल दिखाई देता है और मोह के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से चित्त का उदय होता है और अज्ञान के नष्ट होने पर वह नष्ट हो जाता है। यदि चित्त विद्यमान भी भासित होता है, तो भी बोध से वह निर्बीज हो जाता है। जैसे पारस से मिलकर ताँबा सुवर्ण हो जाता है तो उसका आकार तो वही देख पड़ता है, पर ताँबे के भाव का अभाव हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से जगत् भासित होता है और अज्ञान से चित्त अचित्त हो जाता है; जड़जगत् नहीं भासित होता, ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है और वह सत्पद को प्राप्त होता है, परन्तु नामरूप वैसे ही भासित होते हैं। हे राम ! ज्ञानी का चित्त भी कर्म करता देख पड़ता है, परन्तु चित्त अचित्त हो जाता है। जो अज्ञान से भासित होता है, वह ज्ञान से शून्य हो जाता है। जो जगत् अबोध से भासित था, वह बोध से शान्त हो जाता है, फिर नहीं उपजता। वह चित्त शान्तपद को प्राप्त होता है। कुछ समय तक तो वह भी तुरीयावस्था में स्थित बिचरता है, पर फिर तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है। अधः, ऊर्ध्व, मध्य, सर्वत्र ब्रह्म ही इस प्रकार अनेक होकर स्थित हुआ है। अनेक भ्रम होने पर भी एक ही है और सर्वात्मा ही है- चित्तादिक कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तसत्तासूचनन्नाम
त्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४३।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अब तुम संक्षेप से एक अपूर्व और

आश्चर्यरूप बोध देनेवाला दृष्टान्त सुनो। एक बेलफल है, जिसका विस्तार अनन्त योजन पर्यन्त है। जिसे अनन्त युग व्यतीत हो गये हैं। पर वह जर्जर कभी नहीं होता। वह अनादि है, उसमें अविनाशी रस है, इससे कभी नाश नहीं होता। वह चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। सुमेरु आदिक जो बड़े पहाड़ हैं उनको महाप्रलय का पवन तृण की तरह उड़ाता है; पर वह पवन भी उसको नहीं हिला सकता। हे राम ! योजनों की अनन्त कोटि संख्या है, पर उसकी संख्या नहीं की जा सकती। वह बेलफल ऐसा और बहुत बड़ा है। जैसे सुमेरु के आगे राई का दाना सूक्ष्म और तुच्छ लगता है, वैसे ही उस बेलफल के आगे ब्रह्माण्ड सूक्ष्य और तुच्छ लगता है। वह बेल रस से पूर्ण है, कभी गिरता नहीं और पुरातन है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादिक भी उसका आदि, अन्त और मध्य नहीं जान सकते। न उसके मूल को कोई जान सकता है, न मध्य को कोई जान सकता है। उसका अदृष्ट आकार है और अदृष्ट फल है। वह अपने प्रकाश से प्रकाशित है। उसका घन आकार है। वह सदा अचल है, किसी विकार को नहीं प्राप्त होता। वह सत्, निर्मल, निर्विकार, निरन्तररूप, नीरन्ध्र और चन्द्रमा की तरह शीतल, सुन्दर है। उसमें ज्ञान-संवित्रूपी रस है। वह अपना रस आप ही पीता है और सबको देता है। सबका प्रकाशक भी वही है। उसमें अनेक चित्ररेखाओं ने निवास किया है, परन्तु वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। अनेकरूपी भासित होता है। उसमें स्पन्दनरूपी रस भरा है। तत्त्वं, इदं, देश, काल, क्रिया, नीति, राग, द्वेष, हेयोपादेय, भूत, भविष्यत्, काल, प्रकाश, तम, विद्या, अविद्या इत्यादि कलना-जाल उस रस के चेतने से चेतते हैं। वह बेल आत्मरूप है। उसमें अनुभवरूपी रस है। वह सदा अपने आपमें स्थित और नित्य शान्तरूप है। उसको जानकर पुरुष कृतकृत्य होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बिल्वोपाख्यानं नाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४४ ।।

रामजी बोले, हे भगवन् ! सब धर्मों के जाननेवाले आपने यह बेलरूपी महाचिद्घन सत्ता कही। सो मुझे ऐसा निश्चय हुआ कि चैतन्य ही अहंतादिक जगत् हो भासित होता है, भेद रंचक भी नहीं एक या द्वैत कलना सब वही है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे ब्रह्माण्ड की मज्जा सुमेरु आदिक पृथ्वी है, वैसे ही चैतन्य बेल की मज्जा यह ब्रह्माण्ड है। सब जगत् चैतन्य बेलरूप है-भिन्न नहीं, और उस चैतन्य का विनाश नहीं हो सकता। हे राम ! चैतन्यरूपी मिरचे के बीज में जो जगत्रूपी चमत्कार तीक्ष्णता है सो सुषुप्तवत् निर्मल और शिला के अन्तरवत् अमिश्रित है। हे राम ! अब और आश्चर्यरूप एक आख्यान सुनो। महासुन्दर प्रकाशसंयुक्त स्निग्ध और शीतल स्पर्शवाली विस्तृतरूप एक शिला महानीरन्ध्र और घनरूप है। उसमें कमल उपजते हैं और उसकी ऊर्ध्व बेल है, अधः मूल है और अनेक शाखाएँ हैं। रामजी बोले, हे भगवन् ! सत्य कहते हो, यह शिला मैंने भी देखी है। वह नदी में विष्णु की मूर्ति शालग्राम है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ऐसे तो तुम जानते हो और तुमने देखा भी है। परन्तु जो शिला मैं बताता हूँ, वह अपूर्व शिला है उसके भीतर ब्रह्माण्ड समूह हैं और कुछ भी नहीं। हे राम ! चैतन्यरूपी शिला जो मैंने तुमसे कही है, उसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं। उस घनचैतन्यता से शिला वर्णन की है। वह अनन्तघन और नीरन्ध्र है। आकाश, पृथ्वी, पर्वत, देश, नदियाँ समुद्र इत्यादि सभी विश्व उस शिला के भीतर स्थित है। जैसे शिला के ऊपर जो कमल खिले होते हैं वे शिलारूप हैं, शिला से भिन्न नहीं, वैसे ही यह जगत् आत्मरूपी शिला में हैं; आत्मा से भिन्न नहीं। हे राम ! भूत, भविष्यत् और वर्तमान, तीनों काल उस शिला की पुतलियाँ हैं। जैसे शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, वैसे ही यह जगत् आत्मा में है, उपजा नहीं, क्योंकि मनरूपी शिल्पी कल्पना करता है और उससे नाना प्रकार का जगत् भासित होता है; आत्मा में कुछ उपजा नहीं। जैसे सुषुप्तरूप शिला के ऊपर जो कमल-रेखा खिंची होती है, वह शिला से भिन्न

नहीं, वैसे ही यह जगत् आत्मा में है, आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे शिला में जो पुतली बनी होती है, उनका उदय-अस्त नहीं होता, शिला ज्यों की त्यों रहती है, वैसे ही आत्मा में जगत् का उदय-अस्त नहीं होता; क्योंकि वास्तव में वह कुछ नहीं है। आत्मा में द्वैतकल्पना अज्ञान से होती है, और जब बोध होता है, तब शान्त हो जाती है। जैसे समुद्र में पड़ी जल की बूँद समुद्ररूप हो जाती है, वैसे ही बोध से कल्पना आत्मा में लीन हो जाती है।

हे राम ! चैतन्यआत्मा अनन्त है। उसमें कोई विकार और कल्पना नहीं है, पर अज्ञान से कल्पना उदित होती है और ज्ञान से लीन हो जाती है। विकार भी आत्मा के आश्रय से प्रतीत होते हैं, पर आत्मा विकार से रहित है। ब्रह्म से विकार उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म ही में स्थित हैं, पर वास्तव में कुछ नहीं होता-सब आभासमात्र हैं। जैसे किरणों में जलाभास होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत्-विकार का आभास होता है। जैसे बीज में पत्र, डाल, फूल और फल का विस्तार होता है और बीजसत्ता सबसे मिली होती है, बीज से कुछ भिन्न नहीं होता, वैसे ही चिद्घन आत्मा के भीतर जगत् का जो विस्तार है, वह चिद्घन आत्मा से भिन्न नहीं; वही अपने आपमें स्थित है और जगत् भी उसी का रूप है। यदि एक मानिये तो द्वैत भी होता है और यदि एक नहीं कहा जाता तो द्वैत कहाँ हो ? जगत् और आत्मा में कुछ भेद नहीं; अद्वैत आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। जैसे शिला में लिखी मूर्ति शिलारूप होती है, वैसे ही जगत् आत्मारूप है। और जैसे शिला में भिन्न-भिन्न विषम मूर्तियाँ होती हैं और आधाररूप शिला भिन्न है, वैसे ही आत्मा में जगन्मूर्ति भिन्न-भिन्न विषमरूप भासती है और उसका चैतन्यरूप आधार अभिन्न है, ब्रह्मसत्ता समान सुषुप्तवत् समवस्थित है। उसमें बड़े विकार भी देख पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में वह सुषुप्तवत् विकार से रहित है। फुरने से रहित चैतन्यरूप शिला नित्य शान्त चिद्घनरूप सत्ता है, उसी में यह जगत् कल्पित है। अधिष्ठान सत्ता

सर्वदा शान्तरूप है। उसमें भेद कदापि नहीं। जैसे जल में तरंग और सुवर्ण में भूषण अभिन्नरूप हैं वैसे आत्मा में जगत् अभिन्नरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिलाकोशउपदेशोनाम पञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४५।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बीज के भीतर फूल, फल और सम्पूर्ण वृक्ष होता है। उस वृक्ष का आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है। जब फल पकता है, तब बीज भी होता है। वैसे ही आत्मा भी जगत् में है, परन्तु सदा अच्युत और सम है, कभी भेद, विकार और परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ, अपनी सत्ता से स्थित है। जगत् के आदि, मध्य, अन्त में वही है, किसी और भाव को नहीं प्राप्त हुआ। देश, काल, कर्म आदि जो कुछ कलना भासित होती है, सो वही है। जो कुछ शब्द और अर्थ हैं, वह आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे वृक्ष का आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है और मध्य में जो कुछ विस्तार देख पड़ता है, वह भी वही है, भिन्न कुछ नहीं, वैसे जगत् का आदि भी आत्मसत्ता है, अन्त भी आत्मसत्ता है और जो कुछ मध्य में भासित होता है, वह भी वही है। हे राम ! चैतन्यरूपी बड़े दर्पण में सम्पूर्ण जगत् प्रतिबिम्बित होता है। सम्पूर्ण जगत् संकल्प-मात्र है। जैसा-जैसा किसी में उसका स्फुरण दृढ़ होता है, वैसे ही वैसे आत्मसत्ता के आश्रित होकर वह भासित होता है। जैसे चिन्तामणि में जैसा कोई संकल्प रखता है, वैसा ही वह पदार्थ प्रकट होता है, और वह वास्तव में संकल्पमात्र ही होता है, वैसे ही जैसी-जैसी भावना कोई करता है, वैसी ही वैसी आत्मा के आश्रय से भासित होता है। अनन्त जगत् आत्मरूपी मणि के आश्रय में स्थित होते हैं। जैसी कोई भावना करता है, वैसी ही उसको देख पड़ती है। हे राम ! आत्मरूपी संपुट से जगत्रूपी रत्न निकलते हैं। जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही जगत् भासित होता। जैसे शिला के ऊपर रेखाएँ होती हैं और उनसे जो नाना प्रकार के चित्र उभरते हैं सो अनन्यरूप हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् अनन्यरूप है। जैसे शिला के ऊपर शंख-चक्रादिक रेखाएँ उभरती हैं, वैसे ही आत्मा में

यह जगत् प्रकट है, और वह आत्मारूप है। आत्मरूपी शिला नीरन्ध्र है, उसमें कोई छिद्र नहीं। जैसे जल में तरंग जलरूप होते हैं तैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है। वह ब्रह्म सम, शान्तरूप और सुषुप्तवत् स्थित है। उसमें जगत् कुछ उपजा नहीं, वह शिला की रेखाओं सा है। जैसे बेल के भीतर मज्जा होती है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् स्थित है। जैसे आकाश में शून्यता, जल में द्रवता और वायु में स्पन्दता होती है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् है। ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे शाखा और वृक्ष में कुछ भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं-ब्रह्म ही जगत् है और जगत् ही ब्रह्म है।

हे राम ! इसमें भाव-अभाव या भेद-कल्पना कोई नहीं। ब्रह्मसत्ता ही प्रकाशती है और ब्रह्म ही जगत्रूप होकर देख पड़ता है। जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणें जल के समान चमकती हैं, वैसे ही ब्रह्म जगत्रूप होकर दिखता है। हे राम ! सुमेरु आदि पर्वत, तृण, वन और चित्त जगत्-परिणाम से लेकर सब प्राणियों को विचार देखिये तो सर्वत्र परमसत्ता ही देख पड़ती है और सब पदार्थों में सूक्ष्मभाव से वही सत्ता व्यापी है। जैसे जल का रस वनस्पति में व्यापा हुआ है, वैसे ही सब जगत् में सूक्ष्मरूप से आत्मसत्ता व्यापी हुई है। जैसे एक ही रस-सत्ता, वृक्ष, तृण और गुच्छों में व्यापी हुई है। और एक ही अनेकरूप भासित होती है, वैसे एक ही ब्रह्मसत्ता अनेकरूप भासती है। हे राम ! जैसे मोर के अण्डे में अनेक रंग होते हैं और जब अण्डा फूट जाता है तब उससे शनैःशनैः अनेक रंग प्रकट होते हैं और वह एक ही रस अनेक रूप हो भासित होता है, वैसे एक ही आत्मा अनेकरूप से जगत् के आकार में भासित होती है। जैसे मोर के अण्डे में एक ही रस होता है, परन्तु जो दीर्घसूत्री अज्ञानी हैं, उनको भविष्य के अनेक रंग जो उसमें भासित होते हैं सो बिना उपजे ही उपजे भासते हैं, वैसे ही यह जगत् अनउपजा ही अज्ञानी के हृदय में नानात्व युक्त स्थित होता है और जो ज्ञानवान् हैं उनको एकरस ब्रह्मसत्ता ही देख पड़ती है। जैसे मोर का रस परिणाम को न प्राप्त होने पर एकरस है, और परिणाम को प्राप्त होकर नानारूप होने पर भी एकरस है, वैसे ही यह

जगत् जब परमात्मा में भासित होता है तब भी परमात्मा ही है और जब नानारूप प्रतीत होता है, तब भी भिन्न नहीं है, परिणाम् को नहीं प्राप्त हुआ, परन्तु अज्ञानी को नानात्व भासित होता है और ज्ञानी को एकसत्ता ही भासित होती है। अथवा इस दृष्टान्त का दूसरा अर्थ यह है कि जैसे मोर के अण्डे में नानात्व कुछ नहीं हुआ, पर जिसकी दुर्दृष्टि है, उसे उसमें अनउपजा नानात्व भासित होता है और जिसकी दुर्दृष्टि नहीं, उसमें बीज ही भासित होता है, नानात्व नहीं भासता, वैसे ही जिनको अज्ञानरूपी दुर्दृष्टि है उनको अनउपजा ही जगत् नानात्वयुक्त देख पड़ता है और जो ज्ञान-दृष्टि से युक्त हैं, उनको एक ही ब्रह्म दिखता है और कुछ नहीं। हे राम ! नानात्व जब भासित होता है तब भी वह कुछ नहीं है। जैसे मोर के अण्डे में नानारंग होने पर भी वह एकरूप है, वैसे ही इस जगत ! में भिन्न-भिन्न पदार्थ भासित होने पर भी एक ब्रह्मसत्ता है; द्वैत कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सत्ताउपदेशो नाम
षट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे अनउपजे रंग जो मयूर के अण्डे में होते हैं, वे बीज से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही अहं-त्वं आदि जगत् आत्मा में अप्रकट होकर भी प्रतीत होता है। जैसे बीज में उन रंगों का उदय भी अनुदयरूप है, वैसे ही आत्मा में जगत् का उदय भी अनुदयरूप है। आत्मसत्ता अनिर्वचनीय अशब्द पद है, वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता। ऐसा सुख स्वर्ग तथा और किसी स्थान में भी नहीं है जैसा सुख आत्मा में स्थित होकर पाया जाता है। हे राम ! आत्मसुख में विश्रान्ति पाने के निमित्त मुनीश्वर, देवता, सिद्ध और महाऋषि दृश्यदर्शन का सम्बन्ध चेतने को त्यागकर स्थित होते हैं, इससे वह उत्तम सुख है। संवित् में संवेदन का फुरना जिनका निवृत्त हुआ है, उन पुरुषों को कोई दृश्यभावना नहीं होती और न कोई कर्म उनको स्पर्श करता है। प्राण भी उनके निःस्पन्द होते हैं। वे चित्तचेतन के सम्बन्ध से रहित चित्र की मूर्ति से निश्चल शान्तरूप स्थित होते हैं। हे राम ! जब चित्तकला फुरती है,

तब संसारभ्रम प्राप्त होता है और जब चित्त का फुरना मिट जाता है तब शान्तरूप अद्वैत स्थित होता है। जैसे युद्ध राजा की सेना करती है और जीत-हार राजा की होती है, वैसे चित्त के स्फुरण द्वारा आत्मा में बन्धन व मोक्ष होता है। यद्यपि आत्मा सत्‌रूप और अच्युत है, तथापि मन, बुद्धि और अन्तःकरण के द्वारा आत्मा में बन्धन व मोक्ष भासित होता है। आत्मा सबका प्रकाशक है-जैसे चन्द्रमा की चाँदनी वृक्षादि को प्रकाशित करती है, वैसे ही आत्मा सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।

वह आत्मा न दृश्य है, न उपदेश का विषय है, न विस्ताररूप है, न दूर है; केवल चैतन्यरूप अनुभव आत्मा है। वह न देह है, न इन्द्रिय है, न गुण है, न चित्त है, न वासना है, न जीव है, न स्पन्दन है, न और को स्पर्श करता है। न आकाश है, न सत् है, न असत् है, न मध्य है, न शून्य है, न अशून्य है, न देश, काल, वस्तु है, न अहं है, न इतर इत्यादिक है। वह सब शब्दों से परे और केवल अनुभव गम्य है। उसका न आदि है, न अन्त है। न उसे शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है। न यह है, न वह है। न उसे वायु सोख सकती है और न किसी की सामर्थ्य उस पर चलती है। वह चित्तरूपी आत्मतत्त्व न जन्मता है और न मरता है। देहरूपी घट अनेक बार उपजते हैं और अनेक बार नष्ट होते हैं। आत्मारूपी आकाश सबके भीतर-बाहर अखण्ड अविनाशी है। जैसे अनेक घटों में एक ही आकाश स्थित होता है, वैसे ही अनेक पदार्थों में एक ही ब्रह्मसत्ता आत्मरूप से स्थित है।

हे राम ! जो कुछ स्थावर-जंगम जगत् देख पड़ता है सो सब ब्रह्मरूप है। ब्रह्म निर्धर्म, निर्गुण, निरवयव, निराकार, निर्मल, निर्विकार, आदि-अन्त से रहित, सम और शान्तरूप है—ऐसी दृष्टि का आश्रय लेकर स्थित होओ। हे राम ! इस दृष्टि का आश्रय ग्रहण करोगे तो बड़े-बड़े कर्म भी तुमको स्पर्श न करेंगे। जैसे आकाश को बादल स्पर्श नहीं करते, वैसे ही तुमको कर्म स्पर्श न करेंगे। यह काल, क्रिया, कारण,

कार्य, जन्म, स्थिति, संहार आदि संसरणरूप संसार सब ब्रह्म रूप है-इसी दृष्टि का आश्रय ग्रहण करके विचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे, निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मएकताप्रतिपादनं नाम सप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४७ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यदि ब्रह्म में कोई विकार नहीं तो भावअभावरूप जगत् कैसे भासित होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम तो यह सुनो कि विकार किसको कहते हैं। वस्तु अपने पूर्वरूप को त्यागकर विपरीत रूप को प्राप्त हो और फिर पूर्व के स्वरूप को न प्राप्त हो, उसको विकार कहते हैं। जैसे दूध से दही होकर फिर दूध नहीं होता, जैसे बालक अवस्था बीत जाती है तो फिर नहीं आती और जैसे युवा अवस्था गई हुई फिर नहीं आती; इसका नाम विकार है। परब्रह्म निर्मल है। आदि में निर्विकार है, अन्त में भी निर्विकार है। मध्य में जो उससे कुछ विकार या मल भासित होता है, उसका मूल अज्ञान है। मध्य जो भी ब्रह्म ज्यों का त्यों अविकारी है। हे राम ! जो पदार्थ विपर्ययरूप हो जाता है, वह फिर अपने रूप को नहीं प्राप्त होता। ब्रह्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों अद्वैतरूप है और आत्मानुभव से प्रकाशित होती है। जो कभी अन्यथारूप को प्राप्त न हो, उसको विकार कैसे कहिये ? हे राम ! जो वस्तु विचार और ज्ञान से निवृत्त हो जाय, उसको भ्रममात्र जानिये। वह वास्तव में कुछ नहीं। जो कुछ विकार है, वह अज्ञान से भासित होता है और जब आत्मबोध होते है तब निवृत्त हो जाता है। जिसके बोध से विकार नष्ट हो जाय, उसे विकार कैसे कहिये ? ब्रह्म शब्द से जिसका निरूपण होता है, वह निर्वेदरूप आत्मा है। जो आदि अन्त में सत् हो, उसे मध्य में भी सत् जानिये। जो इससे भिन्न हो, उसे अज्ञान जानिये। आत्मरूप सदा सर्वदा समरूप है। आकाश और पवन भी अन्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आत्मतत्त्व कदापि अन्यभाव को नहीं प्राप्त होता। वह तो प्रकाशरूप एक नित्य और निर्विकार ईश्वर है; भाव अभाव विकार को कभी नहीं

प्राप्त होता। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जब एकतत्त्व विद्यमान और ब्रह्म सर्वदा निर्मलरूप है तो उस संवित् ब्रह्म में यह अविद्या कहाँ से आई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम यह सब ब्रह्म है; आगे भी ब्रह्म था और पीछे भी ब्रह्म होगा। उस निर्विकार और आदि, अन्त, मध्य से रहित ब्रह्म में अविद्या कभी नहीं रहती, यह निश्चय है। जो वाच्य-वाचक शब्द से उपदेश के निमित्त ब्रह्म कहता है, उसमें अविद्या कहाँ है ? हे राम ! 'अहं' 'त्वं' आदिक जगत् भ्रम और अग्नि, वायु आदिक सब ब्रह्मसत्ता है, अविद्या रञ्चकमात्र नहीं। जिसका नाम ही अविद्या है, उसे भ्रममात्र और असत् जानो। जो विद्यमान ही नहीं, उसका नाम क्या कहिये ?

फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! उपशम प्रकरण में आपने क्यों कहा था कि अविद्या है और अब कैसे कहते हो कि वह विद्यमान नहीं है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इतने काल तक तुम अबोध थे, इस निमित्त मैंने तुम्हें जगाने के निमित्त युक्ति कल्पना कर वैसा कहा था और अब तुम प्रबुद्ध हुए हो, इसलिए मैंने कहा कि अविद्या अविद्यमान है।

हे राम ! अविद्या, जीव और जगत् आदिक का क्रम अप्रबुद्ध को जगाने के निमित्त वेदवादियों ने वर्णन किया है। जब तक मन अप्रबुद्ध होता है, तब तक अविद्या का भ्रम बना रहता है और युक्ति के बिना अनेक उपायों से भी उसे बोध नहीं होता। जब बोधवान् होता है, तब सिद्धान्त को उपदेश की युक्ति के बिना भी पाता है। पर अबोध मन युक्ति के बिना नहीं पा सकता। हे राम ! जो कार्य युक्ति से सिद्ध होता है, वह और यत्न से नहीं सिद्ध होता। जैसे युक्तिरूपी दीपक से अन्धकार दूर होता है, और बल यत्न से नहीं निवृत्त होता, वैसे ही युक्ति के बिना अन्य यत्न से अज्ञान की निद्रा निवृत्त नहीं होती। यदि अप्रबुद्ध को सर्वब्रह्म सिद्धान्त का उपदेश कीजिये तो वह उपदेश व्यर्थ होता है। जैसे कोई दुखी अपना दुःख दीवाल के आगे जाकर कहे तो उसका कहा वह नहीं सुनती और उसका कहना वृथा होता है, वैसे ही अप्रबुद्ध को सर्वब्रह्म का उपदेश

व्यर्थ होता है। मूढ़ युक्ति से जगता है और बोधवान् को प्रत्यक्ष तत्त्व का उपदेश होता है। हे रामजी ! अब तुम यह धारणा करो कि ब्रह्म, तीनों जगत् और अहं, त्वं आदिक सब ब्रह्म हैं, द्वैत कल्पना कोई नहीं। फिर जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो, दृश्य-संवेदन न होगा, सदा आत्मा में स्थित रहोगे। इस प्रकार अनेक कर्मों में भी लिप्त न होगे।

हे राम ! चैतन्यतत्त्व परमात्मा प्रकाशरूप है। वह सदा अहंभाव से स्फुरित होता है। ऐसा जो अनुभवरूप है उसी में चलते, बैठते, खाते, पीते, चेष्टा करते स्थित रहो, तुम्हारा अहं-ममभाव निवृत्त हो जायगा। सब प्राणियों में रिक्त शान्तरूप ब्रह्म को तुम प्राप्त होगे और आदि अन्त से रहित शुद्ध संवित्मात्र प्रकाशरूप आत्मा को देखोगे। जैसे मृत्तिका के पात्र घट आदि सब मृत्तिका के ही हैं, वैसे ही तुम सब प्राणियों में आत्मा को देखोगे। जैसे मृत्तिका से घट भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से जगत् भी भिन्न नहीं। जैसे वायु से स्पन्दन और जल से तरंग भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से प्रकृति भिन्न नहीं। जैसे जल और तरंग शब्दमात्र से दो हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकृति शब्दमात्र से दो हैं, पर भेद कुछ नहीं। केवल अज्ञान से भेद दिखता है और ज्ञान से नष्ट हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा में प्रकृति है। हे राम ! चित्त वृक्ष है और कल्पना बीज। जब कल्पनारूपी बीज बोया जाता है, तब चित्तरूपी अंकुर उत्पन्न होता है और उससे जब भावरूप संसार उत्पन्न होता है, तब आत्मज्ञान की अग्नि कल्पनारूपी बीज दग्ध और चित्तरूपी अंकुर नष्ट हो जाता है। हे राम ! चित्तरूपी अंकुर से सुख-दुःखरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। जब चित्तरूपी अंकुर नष्ट हो, तब सुख दुःखरूपी वृक्ष कहाँ उपजे ? हे राम! जो कुछ द्वैतभ्रम है सो अबोध से उपजता और बोध से नष्ट हो जाता है। आत्मा जो परमार्थ सार है, उसकी भावना करो, तब संसारभ्रम से मुक्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्मृतिविचारयोगोनामाष्ट-चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। ४८।।

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो कुछ जानने योग्य था सो मैंने जाना और जो कुछ देखने योग्य था सो देखा। अब मैं आपके ज्ञानरूपी अमृत से सिंचकर परमपद में पूर्णात्मा हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! यह अब मुझको अनुभव हुआ है कि पूर्ण ने सब विश्व पूर्ण किया है, पूर्ण से पूर्ण प्रतीत है और पूर्ण में पूर्ण ही स्थित है—द्वैत कुछ नहीं। हे मुनीश्वर ! ऐसा जानकर भी मैं लीला और बोध की वृद्धि के निमित्त आपसे पूछता हूँ। जैसे बालक पिता से पूछता है तो पिता बुरा नहीं मानता, वैसे ही आप रुष्ट न होना। हे मुनीश्वर ! श्रवण, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण, ये पाँचों इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष देख पड़ती है, पर मरे पर विषय को क्यों नहीं ग्रहण करतीं और जीवित रहने पर कैसे ग्रहण करती है ? घटादिक की तरह बाहर से ये जड़ हैं, फिर हृदय में अनुभव कैसे होता है ? और लोहे की शलाका की तरह ये भिन्न-भिन्न हैं, फिर इकठ्ठी कैसे हुई है ? परस्पर जो एक आत्मा में अनुभव होता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, ये वृत्तियाँ क्योंकर इकट्ठी हुई हैं ? मैं सामान्यभाव से जानता भी हूँ , परन्तु विशेष रूप से आपसे पूछता हूँ।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इन्द्रियाँ, चित्त और घट, पट आदि पदार्थ निर्मल चैतन्यरूप आत्मा से भिन्न नहीं हैं। वह आत्मतत्त्व आकाश से भी सूक्ष्म और स्वच्छ है। हे राम ! जब चैतन्यतत्त्व से पुर्यष्टका (चित्त) की भावना निकली तो उसने आगे इन्द्रियगण को देखा। इन्द्रियगण चित्त से पहले हुए हैं। इनकी घनता से चैतन्यतत्त्व पुर्यष्टका को प्राप्त हुआ है। उसी में सब घटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं और पुर्यष्टका में भासमान हैं। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जिसने अनन्त जगत् रचे हैं, जो महाआदर्श में प्रतिबिम्बित हैं, पुर्यष्टका का रूप क्या है, और कैसे हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आदि-अन्त से रहित जगत् का बीजरूप जो अनादि ब्रह्म है, वह निरामय और प्रकाशरूप है वही अनादि ब्रह्म कल्पना और कलना से रहित, शुद्ध, चिन्मात्र और अचेतन जगत् का बीज है। वह जब कलना के सम्मुख हुआ, तब उसका नाम जीव हुआ। उस जीव ने जब देह को

ग्रहण किया और अहंभाव उपजा, तब अहंकार हुआ। वह जब मनन करने लगा, तब मन हुआ। जब निश्चय करने लगा, तब बुद्धि हुई। जब पदार्थों के देखनेवाली इन्द्रियों की भावना हुई, तब इन्द्रियाँ हुई। जब देह की भावना करने लगा, तब देह हुई। जब घट-पट की भावना हुई, तब घट-पट हुए। इसी प्रकार जैसी-जैसी भावना होती गई, वैसे ही पदार्थ होते गये। हे राम ! यही जिसका स्वभाव है, उसे पुर्यष्टका कहते हैं। स्वरूप से विपर्ययरूपी दृश्य की ओर भावना होने से और चित्तकला में हुए कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि की भावना, कलना और अभिमान से उसको जीव कहते हैं।

निदान जैसी-जैसी भावना का आकार हुआ वैसी ही वैसी वासना वह करता गया। जैसे जल से सींचा हुआ बीज डाल, पत्ते, फूल और फल के रूप को प्राप्त होता है, वैसे ही वासना से सींचा हुआ जीव स्वरूप के प्रमाद से महाभ्रमजाल में गिरता है और जानता है कि मैं मनुष्य-देह सहित हूँ अथवा देवता या स्थावर हूँ, पर यह नहीं जानता कि मैं चिदात्मा हूँ। वह अपने को देह से मिला हुआ परिच्छन्न और तुच्छरूप देखता है। इस मिथ्याज्ञान से डूबता है और देहाभिमान से वासना के वश चिरकाल पर्यन्त ऊँचे, नीचे और बीच में भ्रमता है जैसे समुद्र में आया हुआ काष्ठ तरंगों से उछलता है। और घटीयन्त्र का लंगर नीचे ऊपर जाता है, वैसे ही जीव वासना के वश हो नीचे और ऊपर भ्रमता है। जब विचार और अभ्यास करके आत्मबोध को प्राप्त होता है, तब संसार-बन्धन से मुक्त होकर आदि-अन्त से रहित आत्मपद को प्राप्त होता है। बहुत काल तक योनिरेखा को भोग कर फिर आत्मज्ञान से परमपद को प्राप्त होता है। हे राम ! स्वरूप से गिरे हुए जीव इस प्रकार भ्रमते और शरीर पाते हैं। अब वह सुनो कि इन्द्रियाँ मृतक होने पर विषयों को क्यों नहीं ग्रहण करतीं। हे राम ! जब शुद्धतत्त्व में चित्तकलना उठती है, तब वह जीवरूपी होती है और मन सहित षट्इन्द्रियों को लेकर देहरूपी गृह में स्थित हो बाहर के विषयों को ग्रहण करती हैं। मन सहित षट्इन्द्रियों में सम्बन्ध से विषय

का ग्रहण होता है; इनसे रहित होने पर विषयों का कदापि ग्रहण नहीं हो सकता। इस प्रकार इनमें स्थित होकर जीवकला विषय को ग्रहण करती है। यद्यपि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं, तो भी इनको जीवकला एकत्र कर लेती हैं और ये अहंकाररूपी तागे से इकट्ठी होती है। देह और इन्द्रियाँ मन की तरह है इनको इकट्ठा करके जीव कहता है कि मैं देखता, सूँघता, सुनता, फिरता, बोलता हूँ और इन्हीं के अभिमान से विषय को ग्रहण करता है।

हे राम ! देह, इन्द्रियाँ और मन आदि जड़ हैं, परन्तु आत्मा की सत्ता पाकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं। जब तक पुर्यष्टका देह में होती है, तब तक इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण करती हैं। जब पुर्यष्टका देह से निकल जाती है, तब इन्द्रियाँ भी विषयों को नहीं ग्रहण करती। हे राम ! ये जो प्रत्यक्ष नेत्र, नासिका, कान, जिह्वा और त्वचा आदि अंग देख पड़ते हैं, ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म तन्मात्रा हैं। ये तो उनके रहने के स्थान हैं। जैसे गृह में झरोखे होते हैं, वैसे ही ये स्थान हैं। हे राम ! अब जीव का रूप सुनो। आत्मतत्त्व सब जगह व्याप्त है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब वही भासित होता है, जहाँ निर्मल स्थान होता है। जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है, अथवा जैसे दो कुण्ड हों, एक जल से पूर्ण और दूसरा जल से रहित, तो सूर्य का प्रकाश तो दोनों में तुल्य होता है, पर जिसमें जल है उसमें प्रतिबिम्बित होता है और जल के डोलने से प्रतिबिम्ब भी हिलता दिखता है, पर जहाँ जल नहीं है वहाँ प्रतिबिम्ब भी नहीं, वैसे ही जहाँ सात्त्विक अंश अन्तःकरण होता है, वहाँ आत्मा का प्रतिबिम्ब जीव भी होता है और जब तक जीव शरीर में रहता है, तब तक शरीर चेतन भासित होता है; पर जब वह जीवकला पुर्यष्टकारूप शरीर को त्याग जाती है, तब शरीर जड़ भासित होता है। जैसे कुण्ड से जल निकल जाय तो कुण्ड सूर्य के प्रतिबिम्ब से हीन हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण और तन्मात्र पुर्यष्टका में आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। जब पुर्यष्टका शरीर को त्याग जाती है, तब शरीर जड़ भासित होता है।

हे राम ! जैसे झरोखे के आगे कोई पदार्थ रखिये तो झरोखे को पदार्थ का ज्ञान नहीं होता और जब उसका स्वामी देखता है तब पदार्थ को ग्रहण करता है, वैसे ही इन्द्रियों के स्थानों में जो सूक्ष्मतन्मात्रा ग्रहण करनेवाली होती है, वही विषयों को ग्रहण करती हैं, और जब तन्मात्रा नहीं होती, तब इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। हे राम ! प्रत्यक्ष देखो कि कथा का श्रोता पुरुष कथा में बैठा होता है, पर यदि उसका चित्त और जगह निकल जाता है, तब प्रत्यक्ष बैठा रहता है; किन्तु कुछ नहीं सुनता, क्योंकि उसकी श्रवण इन्द्रिय मन के साथ गई है; वैसे ही जब पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक होता है और इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। हे राम ! अहं-मम आदि दृश्य भी सर्ग के आदि में आत्मरूपी समुद्र से तरंग की तरह निकला है, उसके पश्चात् दृश्य कलना हुई है। अतएव न देश है, न काल है, न क्रिया है। यह सब असत्रूप है; वास्तव में कुछ नहीं। यह जानकर संसार के सुख, दुःख हर्ष, शोक, राग, द्वेष से रहित होकर विचरो, तब तुम माया से मुक्त हो जाओगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संवेदनविचारो नामैकोन पञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ४९।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वास्तव में इन्द्रियादिक गण कुछ उपजे नहीं हैं। आदि-ब्रह्मा की उत्पत्ति मैंने तुमसे कही और तुमने सुनी है। जैसे आदि-जीव पुर्यष्टकारूप ब्रह्मा उपजे हैं, वैसे ही और भी सब उपजे हैं। हे राम ! जीव पुर्यष्टका में स्थित होकर जैसी-जैसी भावना करता गया, वैसा ही वैसा भासित होने लगा है और फिर उसी की सत्ता पाकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने लगा है। वास्तव में इन्द्रियाँ भी कुछ वस्तु नहीं। सब आत्मा के आभास से चेतती हैं। इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय संवेदन से उपजे हैं। ये जैसे उपजे हैं, सो तुमसे कह चुके हैं। हे राम ! शुद्ध संवित् सत्तामात्र से जो अहं का उन्मेष हुआ, वहीं संवेदन है। वही संवेदन जीवरूप पुर्यष्टकाभाव को प्राप्त होकर बुद्धि, मन और पञ्चतन्मात्रा को उपजाकर आपही उनमें प्रवेशकर स्थित हुआ है। उसी

को पुर्यष्टका कहते हैं। परन्तु यह पुर्यष्टका भी स्पन्दन में उपजी है। आत्मा से कुछ नहीं उपजा। वह आत्मा न एक है, न अनेक। परमात्मतत्त्व अस्ति अनामय है, और उसमें संवेदन भी अनन्यरूप है। हे राम ! उसमें न कोई द्वैत कलना है और न कुछ मनशक्ति है; केवल शान्त सत्ता है। उसी को परमात्मा कहते हैं। वह मनसहित षट् इन्द्रियों से अतीत अ-चैत्य (चित्त से रहित) और चिन्मात्र है। उससे जीव उत्पन्न हुआ है। यह भी मैं उपदेश के निमित्त कहता हूँ ; वास्तव में कुछ उपजा नहीं, केवल भ्रममात्र है। जहाँ जीव उपजा है, वहाँ उसको अहंभावरूप विपर्यय हुआ है। यही अविद्या है, जो उपदेश से लय हो जाती है।

जैसे निर्मली से जल की मलिनता दूर हो जाती है, वैसे ही गुरु और शास्त्र के उपदेश से जब अविद्या मिट जाती है, तब भ्रमरूप आकार शान्त हो जाते हैं, और ज्ञानरूप आत्मा शेष रहता है, जो आकाश से भी सूक्ष्म है। जैसे परमाणु के मुकाबले में सुमेरु स्थूल होता है, वैसे ही आत्मा के मुकाबले में आकाश स्थूल है। हे राम ! आत्मा के आगे जो स्थूलता भासित होती है, वह भी भ्रममात्र है। जो बड़े-बड़े आरम्भ दिखते हैं, वे भी असत् हैं, तब और पदार्थों की क्या बात है ? हे राम ! आत्मा में जगत् नहीं पाया जाता; क्योंकि वस्तु असम्यक् ज्ञान से भासित होती है, सम्यक्ज्ञान से नहीं रहती। जो कुछ-जगत् के प्रपंच देख पड़ते हैं, वे सब मायामात्र हैं। उनसे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जैसे मृगतृष्णा का जल पिया नहीं जाता, वैसे ही जगत् के पदार्थों से कोई परमार्थ नहीं सिद्ध होता। वे सब अज्ञान से भासित होते हैं। हे राम ! जो वस्तु सम्यक्ज्ञान से प्राप्त हो, उसे सत् जानिये और जो सम्यक्ज्ञान से न रहे, उसे भ्रममात्र जानिये। यह जीव-पुर्यष्टका अविद्धक भ्रम है, अर्थात् असत् ही सत् भासित होता है। जब गुरु और शास्त्रों का विचार होता है, तब जगत् का भ्रम मिट जाता है।

पुर्यष्टका में स्थित होकर जीव जैसी भावना करता है, वैसे ही सिद्धि होती है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है, वैसे

ही जीवकला अपने में देश, काल, तत्त्व आदि की कल्पना करती है और भावना के अनुसार उसको वे भासित होते हैं। जैसे बीज से पत्ते, डाल, फूल, फल आदि का विस्तार होता है, वैसे ही तन्मात्रा से सब प्राणी, भीतर, बाहर, देश, काल, क्रिया, कर्म आदि सब प्रकट हुआ है। आदि-जीव चेतकर जैसा संकल्प रखता है, वैसा ही भासित होता है। यह संवेदन भी आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे मिरच से तीक्ष्णता और आकाश से शून्यता अलग नहीं है, वैसे ही आत्मा से संवेदन अलग नहीं। उस संवेदन ने उपजकर निश्चय जाना है कि ये पदार्थ ऐसे हैं, ये ऐसे हैं, इसी से व वैसे ही स्थित हुए, अन्यथा कभी नहीं होते। आदिजीव ने प्रकट होकर जो निश्चय धारण किया, उसी का नाम नीति है। वह स्वरूप से सर्वव्यापी आत्मसत्ता है। आत्मसत्ता ही ये सब रूप रखकर स्थित हुई है। जैसे एक ही ऊख का रस, गुड़, शक्कर आदि के और मृत्तिका घट, पटादि के आकार को रखती है, वैसे ही आत्मसत्ता सर्व ज्ञान को पाती है। जैसे एक ही जल का रस पत्ते, डाल, फूल, फलादिक होकर भासित होता है, वैसे एक ही आत्मसत्ता घट, पट और दीवाल आदि के आकार में भासित होती है।

हे राम ! आदि-जीव ने जैसे निश्चय किया, वैसे ही स्थित है अन्यथा कदापि नहीं होता, परन्तु जगत् वास्तव में भ्रममात्र है; वास्वत में न बिम्ब है और न प्रतिबिम्ब। ये द्वैत में होते हैं और द्वैत कुछ नहीं केवल चिदानन्द ब्रह्म आत्मतत्त्व अपने आप में स्थित है। देहादिक भी सब चिन्मात्र हैं। हे राम ! जो कुछ जगत् दिखता है, सो आत्मा का किंचनरूप है। जैसे रस्सी सर्परूपी जान पड़ती है, वैसे ही आत्मा जगत्‌रूप देख पड़ता है। जैसे सुवर्ण भूषण के रूप में भासित होता है, वैसे ही आत्मा दृश्यरूप होकर भासित होता है। जैसे सुवर्ण में भूषण वास्तविक नहीं होते, वैसे ही आत्मा में दृश्य वास्तविक नहीं। जैसे स्वप्न का विषय देश असत् है, पर सत् सा लगता है, वैसे ही जीव को देह पृथक भासित होती है। हे राम ! आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है परन्तु स्फुरित होने से अनेक रूप

रखती है। जैसे एक नट अनेक स्वाँग भरता है, वैसे ही आत्मसत्ता देहादिक अनेक आकार रखती है। जैसे स्वप्न में एक ही मनुष्य अनेकरूप रखकर चेष्टा करता है, वैसे ही जगत् में आत्मसत्ता नानारूप रखती है।

हे राम ! आत्मा नित्य शुद्ध और सबका आत्मरूप है। अपने स्वरूप के प्रमाद से वह अपने जन्म-मरण को जानता है, पर वे जन्म-मरण असत् हैं। जैसे कोई पुरुष अपने को स्वप्न में श्वानरूप देखे, वैसे ही यह अपने को जन्मता-मरता देखता है। जैसे इसको पूर्वभावना है, भ्रम से असत् को सत् जानता है और जैसे स्वप्न में वस्तु को अवस्तु और अवस्तु को वस्तु देखता है, वैसे ही वह जाग्रत् में विपर्यय (उल्टा) देखता है। जैसे जाग्रत् के ज्ञान से स्वप्न का भ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्माधिष्ठान के ज्ञान से जगत् का भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे पहले का किया दुष्कृत हो तो उसके पीछे सुकृत करने से वह घट जाता है, वैसे ही पूर्व-संस्कार से जब नीच वासना होती है और फिर आत्मतत्त्व का अभ्यास करता है तो पुरुष के प्रयत्न से मलिन वासना नष्ट हो जाती है। जब तक वासना मलिन होती है, तब तक जीव उपजता, मरता और गोते खाता है। जब सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से आत्मज्ञान होता है, तब संसारबन्धन से छूटता है—अन्यथा नहीं छूटता।

हे राम ! वासनारूपी कलंक से जीव घिरा हुआ है और देहरूपी मन्दिर में बैठकर अनेक भ्रम के दृश्य देखता है। आदि-जीव को जो भ्रम हुआ है सो अपने स्वरूप को त्यागकर अनात्म भ्रम को देखने से जैसे बालक परछाहीं में भूत की कल्पना करे वैसे ही जीव ने कल्पना कर जैसी भावना की, वैसा ही भासित होने लगा। आदि-जीव पुर्यष्टका में स्थित हुआ है। बुद्धि, मन, अहंकार और तन्मात्रा का नाम पुर्यष्टका है और देह अन्तवाहक है। चैतन्य आत्मा अमूर्ति है। आकाश भी उसके आगे स्थूल है। प्राणवायु गुच्छा के और देह सुमेरु के समान है। ऐसा जीव सूक्ष्म है। सुषुप्ति से जड़रूप और स्वप्नभ्रम, दोनों अवस्थाओं में स्थावर-जंगमरूपी जीव भटकते हैं, कभी सुषुप्ति में और कभी स्वप्न में स्थित होते हैं। इसी

प्रकार दोनों अवस्थाओं में जीव भटकते हैं। हे राम ! सबकी देह अन्तवाहक है, और उसी देह से सब चेष्टा करते हैं। कभी स्थावर में जाकर वृक्ष और पत्थर आदि की योनि पाते हैं और कभी जब स्वप्न में होते हैं, जब जंगमयोनि पाते हैं। वह भी कर्मवासना के अनुसार पाते हैं। जब तामसी वासना घनी होती है, तब कल्पवृक्ष चिन्तामणि आदि स्वरूप को प्राप्त होते हैं। जब केवल तामसी वासना घनी मोहरूप होती है, तब वृक्ष और पत्थर आदि की योनि पाते हैं। इसका नाम सुषुप्ति है। सो लय घना मोह रूप है और इससे भिन्न जंगम विक्षेपरूप स्वप्न अवस्था है, कभी उसमें होता है और कभी सुषुप्तिरूप स्थावर होता है।

हे राम ! सुषुप्ति अवस्था में वासना सुषुप्तिरूप होती है। वह फिर उगती है, इससे मोहरूप है। उस सुषुप्ति से जब उतरता है, तब विक्षेप रूप स्वप्नावस्था होती है और जब बोध होता है, तब जाग्रत् अवस्था प्राप्त होती है। जाग्रत् अवस्था दो प्रकार की है। जाग्रत् वही है जो लय और विक्षेप से रहित चेतन अवस्था है। उससे रहित और मनोराज्य सब स्वप्नरूप है। एक जीवन्मुक्त जाग्रत् और दूसरी विदेहमुक्ति है। जीवनमुक्ति तुरीयारूप और विदेहमुक्ति तुरीयातीत है। यह अवस्था जीव को बोध से प्राप्त होती है और जीव को बोध पुरुष-प्रयत्न से होता है—अन्यथा नहीं होता। हे राम ! जीव का उदय ज्ञानरूप है। यदि दृश्य की ओर लगता है, तो वही हो जाता है और यदि सत् की ओर लगता है, सत्रूप हो जाता है। जब दृश्य के सम्मुख होता है, तब दीर्घ भ्रम को देखता है। जीव के भीतर जो सृष्टिरूप होकर स्फुरित होता है, वह भी आत्मसत्ता से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जैसे बटलोही में दानों के समान जल भी उछलता है और वह उस जल से भिन्न वस्तु नहीं होता, वैसे ही आत्मा के सिवा जीव के भीतर और कुछ वस्तु नहीं है। यह सृष्टि जो भासित होती है, सो मायामात्र है। हे राम ! जीव को स्वरूप को प्रमाद से सृष्टि भासित होती है और सत् जैसी लगती है। उसे नाना प्रकार का विश्व प्रतीत होता है और नाना प्रकार की वासनाएँ उठती

हैं। उससे जीव बंधन को प्राप्त हुआ है। जब वासना का क्षय हो तब मुक्ति हो। हे राम ! मोहरूप घनी वासना का नाम सुषुप्ति या जड़ अवस्था है। वह क्षीण स्वप्नरूप है। जब स्वरूप का प्रमाद होता है, तब दृश्य में सत्‌बुद्धि होती है और जब उसमें प्रतीत होती है तब नाना प्रकार की वासनाओं का उदय होता है। पर जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तब संसार की सत्यता नष्ट हो जाती है, फिर वासना नहीं उठती है।

हे राम ! घनी वासना तब तक उठती है, जब तक दृश्य में सत्‌बुद्धि होती है। जब जगत् का अत्यन्त अभाव होता है, तब वासना भी नहीं रहती। जैसे भूषण पिघलाकर जब सुवर्ण बन गया, तब भूषणबुद्धि नहीं रहती। जो वस्तु अज्ञान से उपजी है, वह ज्ञान से लीन हो जाती है। वासना का भ्रम अबोध से उपजा है, वह बोध से लीन हो जाता है। हे राम ! घनी वासना से सुषुप्तिरूप जड़ अवस्था होती है, और क्षीण वासना से जीव स्वप्न देखता है। घनी वासनारूप मोह से जीव स्थावर अवस्था को प्राप्त होता है, मध्यवासना से तिर्यक्‌योनि पाता है अर्थात् पशु, पक्षी और सर्पादिक होता है; क्षीण वासना से मनुष्यादिक शरीर और नष्टवासना से मोक्ष पाता है। हे राम! यह सब जगत ! संकल्प से रचा है। घट-पट आदि जो बाहर देखते और ग्रहण करते हो, वे ही हृदय में स्थित हो जाते हैं, और जब उनको ग्रहण करते हो, तो ग्राह्य-ग्राहक का सम्बन्ध देखते हो कि यह मैंने ग्रहण किया है और यह मैंने लिया है। जो ज्ञानवान् है, वह न ग्रहण करने का अभिमान करता है और न कुछ त्यागने का अभिमान करता है। उसको भीतर-बाहर सब चिदाकाश भासित होता है। चैतन्यसत्ता का यह चमत्कार है; तीनों जगत्‌रूप होकर वही प्रकाशती है, रञ्चकमात्र भी कुछ अन्य नहीं-केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे समुद्र में तरंग और बुलबुले उठकर भासित होते हैं, परन्तु सब जल ही जल है-जल से भिन्न कुछ नहीं। वैसे ही आत्मा जगत्‌रूप होकर भासित होता है, द्वैत नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे यथार्थोपदेशो नाम पञ्चाशत्तमस्सर्गः।। ५०।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे जीव को स्वप्न में जो संसार उदय होता है, वह कल्पनामात्र होता है, न सत् है और न असत् है, जीव के चेतने से ही भ्रम भासित होता है, वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था भ्रममात्र है—स्वप्न और जाग्रत् एकरूप है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् का एक क्षण भी दीर्घकाल होता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जाग्रत् भी एक दीर्घकाल का भ्रम हुआ है, जिससे जीव सत् को असत् और असत् को सत् जानता है; जड़ को चेतन और चेतन को विपर्यय ज्ञान से जड़ जानता है। जैसे स्वप्न में एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है, वैसे ही आदि-जीव एक से अनेक होकर भासित होता है। जैसे किसी स्थान में चोर का भ्रम भासित होता है, वैसे ही आत्मा में तीनों जगत् का भ्रम भासित होता है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्नभ्रम उदय होता है, वैसे ही अद्वैततत्त्व आत्मा में जगत् का भ्रम होता है। आत्मा अनन्त, सर्वगत जीव का बीजरूप है, जैसा उसके आश्रय में स्फुरण होता है, वैसे ही सिद्ध होकर वह भासित होता है। हे राम ! जिस पुरुष की स्वरूप में स्थिति हुई है, वह सदा निःसंग होकर विचरता है। जैसे आगे चलकर द्वापर में विष्णुजी के निस्संगता के उपदेश से अर्जुन मुक्त होकर विचरेंगे, वैसे ही हे महाबाहो ! तुम भी विचरो। हे राम ! पांडु के पुत्र अर्जुन जैसे सुख से जन्म व्यतीत करेंगे और सब व्यवहारों में भी सुखी और स्वस्थ रहेंगे, वैसे ही तुम भी निस्संग होकर विचरो।

राम ने पूछा, हे ब्राह्मण ! पांडु के पुत्र अर्जुन कब होंगे और कैसे विष्णु भगवान् उनको निस्संग होने का उपदेश करेंगे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अस्ति-तन्मात्रतत्त्व में आत्मादिक संज्ञा कल्पित ही हैं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही निर्मलतत्त्व अपने आपमें स्थित है। जैसे सुवर्ण में भूषण और समुद्र में तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में चौदह प्रकार के प्राणी फिरते हैं। जैसे जाल में पक्षी भ्रमते हैं, वैसे ही जगत् में जीव भ्रमते हैं। वही ब्रह्मा चन्द्रमा, सूर्य, लोकपाल आदि होकर स्थित हैं और उन्होंने पञ्चभूतों के कर्म रचे हैं कि यह पुण्य ग्रहण करने योग्य है

और यह पाप त्यागने योग्य है; पुण्य से स्वर्गादिक सुख प्राप्त होता है और पाप से नरक होता है। यह मर्यादा लोकपाल प्रजापति ने स्थापित की है। इस प्रकार संसाररूपी नदी में जीव बहते हैं। संसाररूपी नदी अविच्छिन्न निरंतर बहती देख पड़ती है, पर यह क्षण-क्षण में नष्ट होती है। इस जगत् में सूर्य के पुत्र यमराज बड़े प्रतापी और तेजस्वी लोकपाल है। वही सब जीवों को मारते हैं और उस प्रवाह कार्य को चलाते हैं। उनका जीवों को मारना और दण्ड देना ही नियम है; परन्तु चित्त में वह पहाड़ की तरह अचल हैं। वह यमराज हरएक चौजुगी में कभी आठ, कभी सात, कभी बारह व सोलह वर्षों का नियम रखकर किसी जीव को नहीं मारते और उदासीन की तरह स्थित होते हैं।

जब पृथ्वी में अधिक प्राणी हो जाते हैं, चलने को मार्ग नहीं रहता और कोई दुष्टजीव जीवों को दुःख देते हैं, जिससे पृथ्वी भारी और दुःखी होती है, तब पृथ्वी के भार को उतारने के निमित्त विष्णु भगवान् अवतार लेकर दुष्टजीवों के नाश और धर्ममार्ग की रक्षा करते हैं। हे राम ! इस प्रकार नियम के पालक यम को अपना काम करते अनन्त युग व्यतीत हो गये हैं। वैसे ही प्राणी और जगत् भी असंख्य हो गये हैं। इस सृष्टि का अब वैवस्वत यह (मनु) है। वह आगे द्वादशवर्ष पर्यन्त नियम करेगा और किसी को न मारेगा। तब जीव अक्रूरकर्म करने लगेंगे और पृथ्वी प्राणियों से भर जायगी। जैसे वृक्ष गुच्छों के साथ गुँथ जाते हैं, वैसे ही पृथ्वी भी प्राणियों से गुँथ जायगी, और जैसे चोर से डरकर स्त्री भर्त्ता की शरण जाती है, वैसे ही पृथ्वी भी दुःखित होकर विष्णु की शरण जायगी। तब विष्णुजी दो देह धारण कर पृथ्वी का भार उतारेंगे और सन्मार्ग स्थापित करेंगे। सब देवता भी अवतार लेकर उनके साथ आवेंगे और नरनायक होंगे। एक देह से विष्णु भगवान् वसुदेव के घर पुत्ररूप से प्रकट होंगे। उनका कृष्ण नाम होगा। और दूसरी देह से पाण्डु के गृह में अर्जुन नाम से युधिष्ठिर नामक धर्मपुत्र के भाई होंगे और समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का राज्य करेंगे। उसके चाचा के पुत्र का नाम दुर्योधन होगा। उसका और भीमसेन

आदि पाण्डवों का बड़ा युद्ध होगा। दोनों ओर संग्राम की लालसा से अठारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी और बड़े भयानक युद्ध होंगे। उनके द्वारा हरि पृथ्वी का भार उतारेंगे।

हे राम ! उस सेना के युद्ध में विष्णु का अर्जुन नाम अवतार होगा। वह अर्जुन गाण्डीव धनुष धारण कर मानव स्वभाव में स्थित हो, हर्ष-शोकादिक-विकार-संयुक्त मोहाभिभूत होंगे। युद्ध में अपने बांधवों को देखकर मूर्च्छित होंगे और मोह और करुणा से उनके हाथ से धनुष गिर पड़ेगा। वह जब आतुर होंगे, तब बोध-देह से उनको हरि उपदेश करेंगे। जब दोनों सेनाओं के मध्य में अर्जुन मोहित होकर गिरेंगे, तब हरि कहेंगे कि हे राजसिंह अर्जुन ! तुम मुनष्यभाव को प्राप्त हो क्यों मोहित हुए हो? इस कायरपन का त्याग करो। तुम तो परम प्रकाश आत्मतत्त्व हो। तुम सबकी आत्मा, आनन्द, अविनाशी, आदि-अन्त-मध्य से रहित, सर्वव्यापी, परमअंकुशरूप, निर्मल, दुःख के स्पर्श से रहित, नित्य, शुद्ध निरामय हो। हे अर्जुन ! आत्मा न जन्मता है, न मरता है; होकर भी फिर कुछ नाश नहीं होता, क्योंकि वह अजन्मा, निरन्तर, पुरातन, और सबका आदि है। शरीर का नाश होने पर उसका नाश नहीं होता। तुम क्यों वृथा कातर हो रहे हो ?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे नारायणावतारो नामैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५१ ।।

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! जो इस आत्मा को मारनेवाला और मरता मानते हैं, वे आत्मा को नहीं जानते। यह आत्मा न मरता है और न मारता है, क्योंकि जो अक्षयरूप निराकार आकाश से भी सूक्ष्म है उस आत्मा परमेश्वर को कोई किस प्रकार मार सकता है ? हे अर्जुन ! तुम अहंकाररूप नहीं हो। इस अनात्म अभिमानरूपी मल को त्याग करो। तुम जन्म-मरण से रहित मुक्तरूप हो। जिस पुरुष को अनात्म में अहंभाव नहीं और जिसकी बुद्धि कर्तृत्व-भोक्तृत्व से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष सब विश्व को भी यदि मारे तो भी उसको नहीं मारता और न उसे बन्धन

होता है। हे अर्जुन ! जिसको जैसा दृढ़ निश्चय होता है, उसे वैसा ही अनुभव होता है। इससे यह मैं, मेरा इत्यादि जो मलिन संवित् निश्चय है, उसे त्यागकर स्वरूप में स्थित होओ। जो ऐसी भावना में स्थित नहीं होते और आपको नष्ट होता मानते हैं, वे सुख-दुःख भोगते और रागद्वेष में जलते हैं। हे अर्जुन ! वे अपने त्रिगुणरूप असंख्य कर्मों में बँधते हैं। शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, इनसे पाँचों तत्त्व-आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी उपजे हैं और उन भूतों के अंश श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका अपने विषयों में स्थित हैं। ये इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। नेत्र रूप को, त्वचा स्पर्श को, जिह्वा रस को, नासिका गन्ध को और श्रवण शब्द को ग्रहण करते हैं। उसमें अहंकार विमूढ़ व्यक्ति अपने को कर्ता मानता है। सोचता है कि मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्पर्श करता हूँ, स्वाद और गन्ध लेता हूँ।

हे अर्जुन ! ये सब कर्म कलना से रचे गये हैं। इन्द्रियों से कर्म होते हैं और अहंभाव से जीव वृथा क्लेश का भागी होता है। बहुतों ने मिलकर कर्म किया और उनका अभिमानी होकर एक ही दुःख पाता है। बड़ा आश्चर्य है कि देह और इन्द्रियों से कर्म होते हैं और जीव उनका अभिमानी होकर सुख, दुःख और राग, द्वेष से जलता है। इससे इनका संग और अभिमान त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। योगी केवल इन्द्रियों से कर्म करता है, उनमें अभिमान वृत्ति नहीं करता। हे अर्जुन ! इस जीव को अहंकार ही दुःखदायक है, क्योंकि उससे वह अनात्म में आत्म-अभिमान करता है। जो अभिमानरूपी विष से रहित होकर चेष्टा करता है, वह दुःख का कारण नहीं होता। वह सदा सुखरूप है। हे अर्जुन! जैसे सुन्दर शरीर विष्ठा और मल से मलिन हुआ हो तो उसकी शोभा जाती रहती है, वैसे ही बुद्धिमान्, पुरुष यदि शास्त्र का वेत्ता और गुणों से सम्पन्न भी हो, पर यदि अनात्म में आत्म-अभिमान करे तो उसकी शोभा जाती रहती है। जो निर्मल, निरहंकार, सुख-दुःख में सम और क्षमावान् है, वह शुभ कर्म करे अथवा अशुभ कर्म करे, उसको कोई कर्म

स्पर्श नहीं करता। हे अर्जुन ! ऐसे निश्चयवान् होकर कर्म को करो। हे पाण्डुपुत्र ! युद्ध तुम्हारा परमधर्म है, उसे करो। अपना अतिक्रूर कर्म भी कल्याण करता है। पराया धर्म उत्तम भी दुःखदायक है और अपना धर्म अल्प भी अमृत की तरह सुखदायक है। हे अर्जुन ! चाहे जैसा कर्म करो; यदि तुम में अहंभाव न होगा तो वह तुमको स्पर्श न करेगा। संग—अभिमान को त्याग और योग में स्थित होकर कर्म करो। जो निस्संग पुरुष है, उसको कोई कर्म करना पड़े, तो वह उसको करता हुआ बन्धन को नहीं प्राप्त होता। इससे ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममय कर्म करो, तब शीघ्र ही ब्रह्मरूप हो जाओगे। जो कुछ आचार कर्म हो, उसे ब्रह्म में अर्पण करो। संन्यास योग युक्ति से कर्मों को करते हुए भी मुक्त पाओगे।

इतना सुन अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! संगत्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, और योग किसको कहते हैं ? मोह की निवृत्ति के लिए इनको पृथक्-पृथक् कहिये। श्रीभगवान् बोले हे अर्जुन ! प्रथम तुम यह सुनो कि ब्रह्म किसको कहते हैं। जहाँ सब संकल्प शान्त हैं, केवल एक घनी वेदना है, दूसरी भावना का उत्थान नहीं, केवल अचैत्य चिन्मात्रसत्ता है, उसको परब्रह्म कहते हैं। उसको जानकर उसके पाने का विचार और उद्यम करना ही ज्ञान है। उसमें स्थित होने का नाम योग है। ऐसा निश्चय करना कि यह सब ब्रह्म है ; मैं ब्रह्म हूँ और सब जगत् मैं ही हूँ ; और ब्रह्म से भिन्न कुछ भावना न करना, इसका नाम ब्रह्मार्पण है। नाना प्रकार का जो जगत् भासित होता है सो क्या है ? भीतर भी शून्य है और बाहर भी शून्य है। जिसकी शिला की उपमा है, ऐसा जो आकाशवत् सत्तारूप है, वह न शून्य है, न शिलासदृश है। उसके आश्रय से स्पन्दन कलना स्फुर्ति की भाँति अन्यवत् जगत्‌रूप होकर भासित होती है, परन्तु वह आकाश की तरह शून्य है। जैसे समुद्र में तरंग और बुलबुले अनेकरूप होकर स्थित होते हैं सो जल ही हैं, और कुछ नहीं। एक जल ही अनेकरूप होकर देख पड़ता है, वैसे एक ही वस्तुसत्ता घट, पट आदिक आकार होकर भासती है। संवित्‌सार आत्मा में भेदकलना कुछ नहीं अज्ञान से अनेकरूप भेदकलना

विकल्पजाल भासित होकर अनेकभाव को प्राप्त होते हैं। आत्मा के अनेक नाम-रूप देखना और भिन्न-भिन्न देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदिक, अनेक में अहंप्रतीति से एकत्रभाव देखना अज्ञान है। यह कलना ज्ञान से नष्ट हो जाती है।

हे अर्जुन ! संकल्पजाल को त्याग करने को असंग कहते हैं। सब कलना-जाल को भी ईश्वर से भिन्न न जानने की भावना से द्वैतभाव गलित हो जाने का नाम ईश्वरसमर्पण है। हे अर्जुन ! जब ऐसी अभेद भावना होती है, तब आत्मबोध होता है। बोध से सब शब्द-अर्थ एकरूप भासित होते हैं, सब शब्दों का एक ही शब्द भासित होता है और एक ही अर्थ सब शब्दों में भासित होता है। हे अर्जुन ! सब जगत् मैं हूँ ; दिशा और आकाश मैं हूँ। कर्म, काल, द्वैत, अद्वैत मैं ही हूँ। तुम मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरा ही भजन करो और मुझको ही नमस्कार करो, तब तुम मुझे ही प्राप्त होगे। हे अर्जुन ! मैं आत्मा हूँ और तुम मेरे ही परायण हो। अर्जुन बोले, हे देव ! आपके दो रूप हैं-एक पर और दूसरा अपर। उन दोनों रूपों में मैं किसका आश्रय करूँ, जिससे परमसिद्धि पाऊँ ?

श्रीभगवान् बोले, हे अनघ ! एक समानरूप है और दूसरा परमरूप है। यह शंख, चक्र, गदादि युक्त मेरा समानरूप है और परमरूप आदि अन्त से रहित एक अनामय है। उस ब्रह्मरूप को आत्मा और परमात्मा आदि कहते हैं। जब तक तुम अप्रबुद्ध हो और तुमको अनात्म देहादिक में आत्माभिमान है, तब तक मेरे चतुर्भुज आकार की पूजा और कर्मों को करो। जब प्रबुद्ध होगे, तब मेरे परमरूप को पाओगे, जो आदि-अन्त-मध्य से रहित है। उसको पाकर फिर जन्म-मरण में न पड़ोगे। जब तुम मोह आदि शत्रुओं के नाशक और ज्ञानवान् होगे, तब आत्मा से मेरा पूजन होगा। मैं सबकी आत्मा हूँ। हे अर्जुन ! मैं मानता हूँ कि तुम अब प्रबुद्ध हुए हो, तुमने आत्मपद में विश्राम पाया है और संकल्पकलना से रहित एक आत्मसत्ता में स्थित होकर मुक्त हुए हो। ऐसे योग से तुम सब प्राणियों

में स्थित आत्मा को देखोगे, और सब प्राणियों को आत्मा में स्थित देखोगे। जब सर्वत्र तुमको समबुद्धि होगी, तब स्वरूप में तुम्हारी दृढ़ स्थिति होगी। हे अर्जुन ! जो सब प्राणियों में स्थित आत्मा को देखता है, एकत्वभाव से भजन करता है और जिसमें आत्मा से भिन्न और भावना नहीं उठती, वह सब कर्म करके भी फिर जन्म-मरण नहीं पाता। हे अर्जुन ! जिसमें सब शब्दों का अर्थ है और जो सब शब्दों में अनर्थरूप है, ऐसी आत्मसत्ता न सत् है और न असत्। सत्-असत् से रहित जो सत्ता है, वह आत्मसत्ता है। वह सब लोगों के चित्त में प्रकाशरूप से स्थित है।

हे भारत ! जैसे दूध में घृत और जल में रस स्थित होता है; वैसे ही मैं सब लोगों के हृदय में तत्त्वरूप से स्थित हूँ। जैसे दूध में घृत स्थित है, वैसे ही सब पदार्थों के भीतर मैं आत्मा स्थित हूँ। जैसे रत्नों के भीतर-बाहर प्रकाश होता है, वैसे ही मैं सब पदार्थों के भीतर-बाहर स्थित हूँ। जैसे अनेक घटों के भीतर-बाहर एक ही आकाश स्थित है, वैसे ही मैं अनेक देहों के भीतर-बाहर अव्यक्तस्वरूप स्थित हूँ। हे अर्जुन ! ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त तब पदार्थों में मैं समान सत्ता से स्थित नित्य और अजन्मा हूँ, मुझमें जो चित्तसंवेदन हुआ है, वह ब्रह्मसत्ता की तरह हुआ है और फुरने से जगत्रूप हो भासित होता है, पर आत्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है, द्वैत कुछ नहीं है। हे अर्जुन ! आत्मा सबका साक्षीरूप है—उसको जगत् का सुख-दुःख स्पर्श नहीं करता। जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, परन्तु सबमें सम है और किसी से खिन्न नहीं होता, वैसे ही सब पदार्थों तथा अवस्थाओं का साक्षी आत्मा है, परन्तु किसी को स्पर्श नहीं करता, और शरीर के नाश में उसका नाश नहीं होता। जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है।

हे अर्जुन ! पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, पवन में स्पर्श और स्पन्दन शक्ति मैं ही हूँ। अग्नि में प्रकाश और आकाश में शब्दशक्ति मैं ही हूँ। तुमसे क्या कहूँ कि यह मैं हूँ। सर्वात्मा सबकी आत्मा मैं हूँ- मुझसे कुछ भिन्न नहीं। हे पाण्डव ! यह जो सृष्टि प्रवृत्त है, उत्पन्न और प्रलय होती

देख पड़ती है। सो मुझमें ऐसे हैं, जैसे समुद्र में तरंग उपजते और लीन होते हैं। जैसे पहाड़ पत्थररूप है; वृक्ष काष्ठरूप है और तरंग जलरूप है, वैसे ही सब पदार्थों में मैं आत्मारूप हूँ। जो सब भूतों को आत्मा में देखता है, वह आत्मा को अकर्ता देखता है। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरंग और सुवर्ण में भूषण दीखते हैं, वैसे ही आत्मा में नाना आकार भासित होते हैं। हे अर्जुन ! ये नाना प्रकार के पदार्थ ब्रह्मरूप हैं-ब्रह्म से भिन्न नहीं। तब और क्या कहिए; भावविकार क्या कहिये और जगत् द्वैत क्या कहिए ? जो सब वही है तो वृथा मोहित क्यों होते हो ? इस प्रकार सुनकर बुद्धिमान् इस लोक में समरस विचरते हैं। हे अर्जुन ! उस पद को तुम क्यों नहीं प्राप्त होते ? जो पुरुष निर्वाण और निर्मोह हुए हैं और जिनकी सब अभिलाषाएँ निवृत्त हुई हैं, वे अव्ययपद को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपदेशो नाम
द्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५२।।

श्रीभगवान् बोले, हे महाबाहो ! फिर मेरे श्रेष्ठ वचन सुनो; मैं तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त कहता हूँ, क्योंकि तुम्हारा हितकारी हूँ। ये जो शीतोष्ण विषय हैं सो इन्द्रियों से भोग्य हैं और आगमापायी अर्थात् आते हैं और फिर निवृत्त हो जाते हैं, इससे अनित्य हैं, इनको सहो, ये आत्मा को स्पर्श नहीं करते। तुम तो आदि-अन्त-मध्य में पूर्ण, निराकार, अखण्ड और व्यापक एक आत्मा हो। तुमको शीत, उष्ण, सुख, दुःख खण्डित नहीं कर सकते। ये कलना से रचे हुए हैं। जैसे सुवर्ण में भूषण का निवास है, वैसे ही आत्मा में इनका निवास असत् है। हे भारत ! जिसको इन्द्रियों के भ्रमरूप भोग और स्पर्श चलायमान नहीं कर सकते और सुख-दुःख सम है, उसी पुरुष को मोक्ष चलायमान नहीं कर सकते और सुख-दुःख सम है, उसी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे अर्जुन ! आत्मा नित्य, शुद्ध और सर्वरूप है और इन्द्रियों के स्पर्श असत्रूप हैं। इसलिए असत् पदार्थ सत् आत्मा को मोहित नहीं कर सकते। ये अल्पमात्र तुच्छ हैं और बोधरूप आत्मतत्त्व सर्वगत शुद्धरूप है; उसको इनका स्पर्श कैसे हो-सत्

को असत् स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे रस्सी में सर्प का जो अभास होता है, वह रस्सी को स्पर्श नहीं कर सकता, जैसे चित्र की अग्नि कागज को जला नहीं सकती और जैसे स्वप्न के क्षोभ जाग्रत् पुरुष को स्पर्श नहीं कर सकते, वैसे ही इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते।

हे अर्जुन ! जो सत् है वह असत् नहीं होता और जो असत् है वह सत् नहीं होता। सुख-दुःखादिक असत्रूप हैं और परमात्मा सत्रूप है। जगत् की सत् वस्तुएँ घटादिक और आकाश की असत् फलादिक त्यागने से जो निष्किञ्चन महासत् पद शेष रहे, उसमें स्थित हो। हे अर्जुन ! ज्ञानवान् पुरुष इष्ट अनिष्ट से चलायमान नहीं होता। वह इष्ट (सुख) से हर्षित और अनिष्ट (दुःख) से शोकातुर नहीं होता। चैतन्य पाषाण सदृश शरीर में स्थित होता है। हे साधो ! यह चित्त भी जड़ है और देह इन्द्रियादिक भी जड़ हैं। आत्मा चेतन है। अपने को इनके साथ मिला हुआ देह क्यों देखना ? चित्त और देह भी आपस में भिन्न-भिन्न हैं। देह के नष्ट होने पर चित्त नहीं नष्ट होता और चित्त के नष्ट होने पर देह नहीं नष्ट होता। इनके नष्ट होने पर जो अपने को नष्ट हुआ मानता है और इनके सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होता है, वह महामूर्ख है। हे अर्जुन ! स्वरूप के प्रमाद से जो देहादिक में अहंप्रतीति करता है और अपने को भोक्ता मानता है, वह निर्बुद्धि है। जब आत्मा का बोध होता है, तब अपने को अकर्ता, अभोक्ता और अद्वैत देखता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प देख पड़ता है। और रस्सी के बोध से सर्प का अभाव होता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से देह और इन्द्रियों के सुख-दुःख प्रतीत होते हैं और आत्मज्ञान से सुख-दुःख का अभाव हो जाता है।

हे अर्जुन ! यह विश्व एक अज ब्रह्मस्वरूप है। न कोई जन्मता है और न मरता है-यह सत् उपदेश है। हे अर्जुन ! ब्रह्मरूपी समुद्र में तुम एक तरंग उठे हो और कुछ काल रहकर फिर उसी में लीन हो जाओगे-इससे तुम्हारा स्वरूप निरामय ब्रह्म है। सब जगत् ब्रह्म का स्पन्दन है और समय पाकर देख पड़ता है। इससे मान, मद, शोक और सुख, दुःख सब असत्रूप हैं। तुम

शान्ति होकर रहो। हे अर्जुन ! प्रथम तो तुम ब्रह्ममय युद्ध करो और जो कुछ अक्षौहिणी सेना है, उसका अनुभव से नाश करो। यह द्वैत कुछ नहीं। सर्वदा एक ही परब्रह्म स्थित है। ब्रह्ममय युद्ध करो और सुख, दुःख, हानि, लाभ और जय, पराजय को उस युद्ध में समान मानो। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ जगत् दीखता है, सो सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं, ऐसा जानकर लाभ-हानि में सम होकर स्थित हो और कुछ चिन्ता न करो। हे अर्जुन ! जड़-शरीर से कर्म स्वाभाविक होते हैं। जैसे वायु का स्फुरण स्वाभाविक होता है, वैसे ही शरीर से कर्म स्वाभाविक होते हैं।

हे अर्जुन ! भोजन, यजन, दान इत्यादिक जो कुछ कार्य करो, सब आत्मा ही को अर्पण करो। सदा आत्मसत्ता में स्थित रहो और सबको आत्मरूप देखो। हे अर्जुन ! जो किसी के हृदय में दृढ़ निश्चय होता है, वही रूप उसको भासित होता है। जब तुम इस प्रकार अभ्यास करोगे, तब ब्रह्मरूप हो जाओगे-इसमें संशय नहीं। हे अर्जुन ! जो आत्मा को कर्मों का अकर्ता देखता है, वह मुनष्यों में बुद्धिमान् है और सम्पूर्ण कर्मों के करते भी कुछ नहीं करता। हे अर्जुन ! कर्मों के फल की इच्छा भी न हो और कर्मों से विरसता भी न हो-योग में स्थित होकर कर्म को करो ! हे धनंजय ! कर्तृत्व के अभिमान और फल की वाञ्छा को त्यागकर कर्म करो। जो कर्मों के फल और संग को त्यागकर नित्य तृप्त हुआ है, वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता। हे अर्जुन ! जिसने सब आरम्भों में कामना और संकल्प का त्याग किया है और ज्ञान-अग्नि से कर्म जलाये हैं, उसी को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं। जो आत्मा में समवस्थित है और सब अर्थों में निस्पृह और निर्द्वन्द्वसत्ता में स्थित हैं, यथा प्राप्त में बरतता है, वह पृथ्वी का भूषण है। वह समुद्र की तरह अचल और अपने में तृप्त है। जैसे समुद्र में अनिच्छित जल प्रवेश करता है, वैसे ही ज्ञानवान् में सुख प्रवेश करते हैं। वह शान्तरूप सब कामनाओं से रहित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपदेशे सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५३।।

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! तुम देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, अविनाशी और अजर आत्मा हो। परिणाम या विकार से रहित को अजर कहते हैं। हे अर्जुन ! तुम शोक मत करो। यह जगत् तुमको अज्ञान से भासित होता है। अज्ञान अपने प्रमाद को कहते हैं और प्रमाद अनात्मा में आत्माभिमान करने का नाम है। हे अर्जुन ! यह जो संसाररूपी तुम्हारी देह है, इसमें अभिमान मत करो-यह मिथ्या है—इसमें दुःख होता है। तुम असंग और अविनाशी हो; तुम्हारा नाश कदापि नहीं होता। हे अर्जुन ! जो विनाशरूप है, उसका अस्तित्त्व कभी न होगा और जो सत्य है उसका अभाव न होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने इन दोनों का निर्णय किया है। हे अर्जुन ! जिससे यह सब प्रकाशित होता है, उसको तुम अविनाशी जानो। उसका कोई विनाश नहीं कर सकता। हे अर्जुन ! तुम ऐसे हो और यह आत्मा सबका अपना है, तब उसका विनाश कैसे हो ? अज्ञानी मनुष्य उसका विनाश होता मानते हैं।

अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि आत्मा अविनाशी है और सबका अपना है तो इन प्राणियों का नाश क्यों होता है ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! तुम सत्य कहते हो। किसी का नाश नहीं होता, परन्तु अज्ञान से लोग अपना नाश होता मानते हैं। हे अर्जुन ! तुम आत्मवेत्ता बनो। वह आत्मा एक अद्वैत है, जिसको एक भी नहीं कह सकते। तब द्वैत कहाँ से हो ? अर्जुन बोले, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि आत्मा एक है, तो मृत्यु भी उससे भिन्न दूसरा न हुआ और यह भी सत्य है कि लोग मर कर नरक या स्वर्ग भोगते हैं। यदि मृत्यु नहीं तो लोग मरते क्यों हैं और पाप-पुण्य का फल कैसे भोगते हैं ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! न कोई मरता है और न जन्मता है—यह स्वप्न की तरह मिथ्या कल्पना है। जैसे स्वप्न में निद्रादोष से जन्मना और मरना जान पड़ता है, वैसे ही संसार में यह जन्म-मरण अज्ञान से दीखता है। अज्ञान स्फुरण का नाम है, उसी से नरक और स्वर्ग कल्पित हुआ है।

हे अर्जुन ! जैसे यह जीव भोगता है, सो तुम सुनो। इस जीव ने अपने स्वरूप के प्रमाद से संकल्पमय शरीर रचे हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में मन, बुद्धि और अहंकार से जीव प्रकट होता है। उस अंतःकरण से मिलकर जैसी वासना करता है, वैसा ही आगे भोगता है। वह वासना तीन प्रकार की है–एक सात्त्विकी, दूसरी राजसी और तीसरी तामसी। जैसी वासना होती है, वैसा ही स्वर्ग और नरक बन जाता है। सात्त्विकी वासना से स्वर्ग बन जाता है और राजसी–तामसी से नरकादिक बन जाते हैं। स्वर्ग–नरक केवल वासनामात्र हैं; वास्तव में न कोई स्वर्ग है, न नरक है; न कोई मरता है, न जन्मता है। केवल एक आत्मा ही ज्यों का त्यों स्थित है, परन्तु यह जगत् आभास भ्रम से होता है। इस जीव ने अज्ञान से चिरकाल तक वासना का अभ्यास किया है, उसी से भ्रम देखता है। अर्जुन बोले, हे जगत्पते ! यह जीव जो नरक, स्वर्गादिक योनि जगत् में देखता है, उसका कारण क्या है ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! अज्ञान से जो अनात्मा में आत्माभिमान हुआ है, उससे जगत् को सत् जानकर जीव वासना करने लगा है और जैसे–जैसे जगत् को सत् जानकर वासना करता है, वैसे ही वैसे जगत्भ्रम देखता है। तब आत्मविचार उपजता है, तब जगत् को स्वप्न की तरह देखता है और वासना का भी क्षय हो जाता है। जब वासना का क्षय होता है, तब कल्याण होता है।

फिर अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! चिर अभ्यास से जो संसारभ्रम दृढ़ हो रहा है, वह किस प्रकार उपजा है और किस प्रकार लीन होगा ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! मूर्खता और अज्ञान से जो अनात्म देहादिक में आत्मभावना होती है, उससे जगत् को सत् जानकर जीव वासना करता है और उस वासना कै अनुसार जगत्–भ्रम देखता है। पर जब स्वरूप का अभ्यास करता है, तब वासना नष्ट हो जाती है। इससे हे अर्जुन ! तुम स्वरूप का अभ्यास करो। अहं, मम आदिक वासना को त्यागकर केवल आत्मा की भावना करो। यह देह वासनारूप है। जब वासना निवृत्त होगी,

तब देह भी लीन हो जायगी और जब देह लीन हुई तब देश, काल, क्रिया, जन्म, मरण भी न रहेंगे। ये जीव के अपने ही संकल्प से उठे हैं और भ्रमरूप हैं। उनकी वासना से घिरा हुआ जीव भटकता है। जब आत्मबोध होता है, तब जीव वासना से मुक्त होता है और निरालम्ब असंकल्प अविनाशी आत्मतत्त्व पाता है। उसी को मोक्ष कहते हैं।

हे अर्जुन ! जब जीव को तत्त्वबोध होता है तब वासनारूपी जाल से वह मुक्त हो जाता है और जो वासना से मुक्त हुआ सो मुक्त हुआ। कोई पुरुष सर्वधर्म-परायण सर्वज्ञ और शास्त्रों का ज्ञाता भी हो, पर यदि वासना से मुक्त नहीं हुआ, तो वह सब ओर से बँधा हुआ है। जैसे दृष्टि के दोष से निर्मल आकाश में मोर की पूँछ की तरह तारे भासित होते हैं, वैसे ही मूर्ख को शुद्ध आत्मा में वासनारूपी मल यह जगत् भासित होता है। जैसे पिंजड़े में पक्षी बन्द होता है, वैसे ही वह बन्धन में पड़ता है। जिसके हृदय में वासना है, वह बन्धन में है और जिसके हृदय में वासना नहीं है, उसको मुक्त जानो। हे अर्जुन ! जिसके हृदय में जगत् की वासना है, वह यदि बड़ी प्रभुता से संयुक्त देख पड़े तो भी दरिद्र और दुःख का भागी है। जिसकी वासना नष्ट हुई है, वह यदि प्रभुता से रहित देख पड़े तो भी बड़ा प्रभुतासम्पन्न ऐश्वर्यशाली है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवनिर्णयो नाम चतुष्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५४।।

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! इस प्रकार तुम निर्वासनिक जीवन्मुक्त होकर विचरो, तब तुम्हारा अन्तःकरण शीतल हो जायगा। तुम जरामरण से मुक्त और निःसंग आकाश समान होगे और इष्ट-अनिष्ट को त्याग वीतराग होकर स्थित होगे। हे अर्जुन ! प्रवाह से जो कार्य आकर प्राप्त हो, उसको करो। युद्ध में कायरपन न करो। आत्मा अविनाशी और देह नाशवान् है। देह का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। हे अर्जुन! जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, वे रागद्वेष से रहित होकर प्रवाह से प्राप्त कार्य को करते हैं। तुम भी जीवन्मुक्त स्वभाव होकर विचरो और 'यह मैं करूँ',

'यह न करूँ' इस ग्रहण-त्याग की दुविधा को त्यागो। इसी से ज्ञानवान् बन्धन को नहीं प्राप्त होते। जो मूर्ख हैं, वे इस बन्धन में बँधते हैं और जीवन्मुक्त पुरुष सुषुप्तवत् स्थित होकर प्रवाह प्राप्त और प्रबुद्ध की तरह वासना से रहित होकर कार्य करते हैं। जैसे कच्छप अपने अंग समेट लेता है, वैसे ही ज्ञानवान् वासना को समेट लेता है और अपने को चिन्मात्ररूप जानता है। मुझमें जगत् माला के दानों की तरह पिरोया हुआ है और सब जगत् मेरा अंग है। जैसे अपने हाथ पसारे और समेटे और जैसे समुद्र से तरंग उठते और लीन होते हैं, वैसे ही विश्व आत्मा में उपजते और लीन होते हैं—उससे भिन्न कुछ नहीं।

हे अर्जुन ! जैसे चँदवे के ऊपर नाना प्रकार के चित्र लिखे होते हैं, परन्तु वे रंग और वस्त्र से भिन्न नहीं होते, वैसे ही आत्मा में मनरूपी चितेरे ने जगत् रचा है और अनउपजा होकर भी उपजा-सा लगता है। जैसे खंभे में चितेरा कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी, तब आकाशरूपी पुतलियाँ उसके मन में उदय होती हैं, वैसे ही ये तीनों जगत् कालसंयुक्त चित्त में प्रकट होते हैं। चितेरा भी मूर्तियाँ तब लिखता है, जब उसके चित्त के भीतर कल्पना होती है, पर यह आश्चर्य है कि मन आकाश में चित्र बनाता है। हे अर्जुन ! यह चित्र स्पष्ट दिखता है, तो भी आकाशरूप है। जैसे स्वप्नसृष्टि आकाशरूप होती है, वैसे ही यह भी है। आकाश और भीत में भेद नहीं, परन्तु आश्चर्य है कि भेद भासित होता है। जैसे मनोराज्य स्वप्नपुर में मन के स्फुरण से जगत् भासित होता है और मन के सुप्त होने से लय हो जाता है सो वह मनोमात्र है, वैसे ही यह मनोमात्र है और आकाश से भी अधिक शून्य है। जैसे स्वप्नपुर और मनोराज्य में एक क्षण में बड़े काल का अनुभव होता है और पूर्वरूप के विस्मरण से वह सत् सा जान पड़ता है, वैसे ही यह जगत् सत् प्रतीत होता है, जब तक प्रमाद होता है, तब तक प्रतीत होता है, पर जब इस क्रम से जीव आत्मरूप को देखता है, तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। यद्यपि प्रकट देख पड़ता

है परन्तु लीन हो जाता है और शरत्काल के आकाश की तरह आत्मा निर्मल भासित होता है। जैसे चितेरे के मन में जो चित्र जगते हैं वे आकाशरूप हैं, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है।

हे अर्जुन ! भाव-अभाववृत्ति को त्यागकर स्वरूप में स्थित होओ, तब आकाशसदृश निर्मल हो जाओगे। जैसे मेघ की प्रवृत्ति और निवृत्ति में आकाश निर्मल ही रहता है, वैसे ही तुम भी पदार्थ के भाव-अभाव में निर्मल हो। जो कुछ पदार्थ दीखते हैं, वे सब आकाशरूप हैं। जैसे चितेरे के मन में पुतलियाँ भासित होती हैं, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है। जैसे एक क्षण में मन के स्फुरण से नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं और सुप्त होने से लीन हो जाते हैं, वैसे ही प्रमाद से यह जगत् भासित होता है और आत्मा के जानने से लीन हो जाता है। आत्मा में जगत् निर्वाणरूप है, पर आत्मा में एक निमेष के स्फुरण द्वारा प्रमाद से वज्रसार की तरह दृढ़ स्पष्ट भासित होता है और चित्त के चेतन से सत् जान पड़ता है। यह सब जगत् आकाशरूप है-द्वैत कुछ हुआ ही नहीं, पर बड़ा आश्चर्य है कि आकाश पर लिखे हुए चित्र नानारूप रमणीय होकर भासित होते और मन को मोहते हैं। हे अर्जुन! यही आश्चर्य है कि कुछ नहीं है, पर नाना प्रकार के रंग भासित होते हैं। आकाशरूपी नील सरोवर में चन्द्रमा और तारे आदि फूल खिले हैं और उनमें मेघरूपी पत्ते लगे हैं। हे अर्जुन ! और आश्चर्य देखो कि चित्र भी तब होता है, जब उसका आधार भीत अथवा वस्त्र होता है। पर यहाँ चित्र प्रथम उत्पन्न होते हैं, आधार अर्थात् दीवार पीछे बनती है। प्रथम ये मूर्तियाँ और चित्र बने हैं और पीछे भीत हुई है। यही आश्चर्य है। हे अर्जुन ! यह माया की प्रधानता है कि वास्तव आकाशरूप चितेरे ने आकाश में आकाशरूप पुतलियाँ रची हैं। आकाश में आकाशरूप पुतलियाँ उपजी हैं और आकाश में लीन होती हैं; आकाश ही को भोजन करती हैं। आकाश ही को आकाश देखता है, आकाश ही यह सृष्टि है और आकाश का ही रूप आकाशरूप आत्मा

में आकाशरूप से स्थित है।

हे अर्जुन ! वास्तव में आत्मा ऐसा है। ऐसे अद्वैतरूप आत्मा में जो उत्थान हुआ है, उस उत्थान से उसको स्वरूप का प्रमाद हुआ है, जिससे दृश्य भ्रम देख पड़ता है और अनेक वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। वासनारूपी रस्सी से बँधा हुआ जीव भटकता है औरा वासना से घिरा हुआ अहं-त्वं आदिक शब्दों को जानने लगता है और नाना प्रकार के भ्रम देखता है। तो भी उसका स्वरूप ज्यों का त्यों है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है और दर्पण ज्यों का त्यों रहता है; वैसे ही आत्मा में जगत् प्रतिबिम्बित होता है और आत्मा छेद-भेद से रहित है। ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। जब सब वही है, तब छेद-भेद किसका हो ? जैसे जल में तरंग और बुलबुले जलरूप हैं, वैसे ही यह सब ब्रह्म ही से पूर्ण है। उसमें द्वैत कुछ नहीं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आत्मा में आत्मा स्थित है। उसमें वास-वासक कल्पना कोई नहीं, परन्तु स्वरूप के प्रमाद से वास-वासक भेद होता है। तब स्वरूप का ज्ञान होता है, तब वासना नष्ट हो जाती है।

हे अर्जुन ! जो वासना से मुक्त है, वही मुक्त है और वासना से बँधा हुआ बन्धन में पड़ा है। यदि सब शास्त्रों का वेत्ता भी हो और सर्वधर्मों से पूर्ण हो तो भी यदि वासना से मुक्त नहीं हुआ तो बन्धन में बँधा ही है। जैसे पिंजड़े में पक्षी बंद होता है, वैसे ही वह वासना से बँधा हुआ है। हे अर्जुन ? जिसके हृदय में वासना का बीज है, वह बीज यद्यपि बाह्य नजर नहीं आता तो भी बहुत फैल जायगा। जैसे वट का बीज फैल जाता है, वैसे ही वह वासना फैल जायगी। जिस पुरुष ने आत्मचिन्तन का अभ्यास किया है और उससे ज्ञानरूपी अग्नि उपजाकर वासना के बीज को जलाया है, उसको फिर संसार-भ्रम नहीं होता। वह न वस्तु बुद्धि से पदार्थों को ग्रहण करता है, न सुख-दुःख आदिक में डूबता है-सदा निर्लेप रहता है जैसे तोंबी जल के ऊपर ही रहती है, वैसे ही सुख-दुःख के ऊपर रहता है। हे अर्जुन ! तुम शान्त आत्मा हो। तुम्हारा भ्रम अब दूर हुआ और तुम आत्मपद को प्राप्त हुए हो। तुम्हारे मन और मोह का निर्वाण

हो गया है और तुम सम्यक्ज्ञानी हुए हो। व्यवहार करना और चुप रहना दोनों तुमको तुल्य है; क्योंकि तुम शान्तरूप और निःशंकपद को प्राप्त हुए हो। यह मैं जानता हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे श्रीकृष्णसंवादे अर्जुनविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५५ ।।

अर्जुन बोले, हे अच्युत ! मेरा मोह अब नष्ट हुआ और मुझे आत्मस्मृति प्राप्त हुई। आपके प्रमाद से मैं अब निःसंदेह हो गया हूँ ; अब जो कुछ आप कहिये, वह मैं करूँ। श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! मन की पाँच वृत्तियाँ हैं-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, अभाव और स्मृति। जब ये पाँचों हृदय से निवृत्त हों, तब चित्त शान्त हो। उसके पीछे चेत से रहित चैतन्य जो शेष रहता है, उसको प्रत्यक् चैतन्य कहते हैं। वह वस्तुरूप, उपाधियों से रहित पूर्ण और सर्वरूप है। जो उस पद को प्राप्त हुआ है, उसको आधि-व्याधि आदिक दुःख नहीं हो सकते। जैसे जाल से निकलकर पक्षी आकाश को उड़ता है, वैसे ही वह देहाभिमान से मुक्त होकर आत्मपद को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! प्रत्यक् चैतन्य सत्ता परम प्रकाशरूप, शुद्ध और संकल्प-विकल्प से रहित है और इन्द्रियों के विषय में नहीं आती, इन्द्रियों से परे है। जो पुरुष सबसे अतीत पद को प्राप्त हुआ है, उसको वासना नहीं स्पर्श कर सकती। उसके प्राप्त होने पर ये घट-पट आदिक पदार्थ शून्य हो जाते हैं और वहाँ तुच्छ वासना का कुछ बल नहीं चलता। जैसे अग्नि-समूह के निकट बरफ गल जाती है और उसकी शीतलता नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध पद का साक्षात्कार होने पर चित्त वृत्ति नष्ट हो जाती है और वासना का भी अभाव हो जाता है।

हे अर्जुन ! वासना तब तक फुरती है, जब तक मनुष्य संसार को सत्य जानता है। जब आत्मपद की प्राप्ति होती है, तब संसार और वासना का अभाव हो जाता है। इस कारण विरक्त पुरुष को सत्य जान लेने पर कुछ भी वासना नहीं रहती। नाना प्रकार के आकार और

विकार से संयुक्त अविद्या तब तक फुरती है, जब तक शुद्ध आत्मा का अपने आप से ज्ञान नहीं होता। शुद्ध आत्मा को प्राप्त होने पर जगत्-भ्रम नष्ट हो जाता है; मनुष्य स्वच्छपद आत्मतत्त्व में स्थित होता है, आकाश की तरह निर्मलभाव को प्राप्त होता है और अपने आपको सबमें पूर्ण देखता है। वह आत्मसत्ता सब आकाररूप है और सब आकाररूपों से रहित भी है। हे अर्जुन ! जो शब्द से अतीत परमवस्तु है, उसकी किससे उपमा दी जाय ? जो वासनारूपी विसूचिका को त्यागकर अपने आत्मस्वभाव में स्थित हुआ पृथ्वी में विचरता है, वह त्रिलोकी का नाथ है।

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार त्रिलोकी के नाथ कहेंगे, तब अर्जुन एक क्षण मौन हो जावेंगे और उसके उपरान्त कहेंगे कि हे भगवन् ! मेरे शोक नष्ट हो गये। जैसे सूर्य उदय होने पर कमल खिल जाते हैं, वैसे ही आपके वचनों से मेरा बोध खिल गया है—अब जो कुछ आपकी आज्ञा हो, वह मैं करूँ। इस प्रकार कहकर अर्जुन गाण्डीव धनुष ग्रहण करेंगे और भगवान् को सारथी करके निःसन्देह और निश्शंक होकर युद्ध करेंगे, जिसमें हाथी, घोड़े, मनुष्य मारकर लहू के प्रवाह बहावेंगे तो भी आत्मतत्त्व में स्थित रहेंगे और स्वरूप से चलायमान न होंगे। जैसे पवन मेघ का अभाव कर देता है, वैसे ही योद्धाओं का नाश करेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे श्रीकृष्ण अर्जुनसंवादे भविष्यद्
गीतानामोपाख्यानसमाप्तिर्नामषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः।। ५६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ऐसी दृष्टि का आश्रय करो, जो दुःख का नाश करती है। निःसंग संन्यासी होकर अपने सब कर्म और चेष्टाओं को ब्रह्म-अर्पण करो। जिसमें यह सब हैं और जिससे यह सब है, ऐसी सत्ता को तुम परमात्मा जानो ! अनुभवरूप आत्मा है। उसकी भावना से मनुष्य उसी को प्राप्त होता है-इसमें संशय नहीं। जो सत्तासंवेदन से रहित चैतन्य है, उसी को तुम परमपद जानो। वह सबका परम द्रष्टारूप और सबका

प्रकाशक है, महा उत्तम परमगुरु का गुरु है। जिसको शून्यवादी शून्य, विज्ञानवादी विज्ञान और ब्रह्मवादी ब्रह्म कहते हैं, वह परमसार शान्तरूप शिव अपने आपमें स्थित हैं। वही आत्मा इस जगत्‌रूपी मन्दिर को प्रकाश करनेवाला दीपक, जगत्‌रूपी वृक्ष का रस, जगत्‌रूपी पशु का पालनेवाला गोपाल और जीवरूपी मोतियों को एकत्र करनेवाला तागा है। हृदय और भूतरूपी मिर्चों में तीक्ष्णता है। निदान सब पदार्थों में पदार्थरूप सत्ता वही है। सत्य में सत्यता और असत्य में असत्यता वही है। जगत्‌रूपी गृह में सब पदार्थों को प्रकट, करनेवाला दीपक वही है और उसी से सब सिद्ध होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, तारे आदि जो प्रकाशरूप दीखते हैं, उनका भी वह प्रकाशक है। यह जड़ प्रकाश है और वह चैतन्य प्रकाश है, उसमें ये सिद्ध होते हैं और उसी से सब प्रकाश प्रकट हुए हैं। वह आत्मसंवित् अपने ही विचार से पाया जाता है।

हे राम ! जो कुछ भाव-अभाव पदार्थ देख पड़ते हैं, वे असत् हैं। वास्तव में कुछ हुए नहीं, प्रमाददोष से भासित होते हैं, और जब ज्ञानविवेक उपजता है, तब नष्ट हो जाते हैं। हे राम ! जिसके हृदय में अहंभाव है। उसे यह जो जगत्-जाल मिथ्याभ्रम से भासित होता है, उसको उपजा क्या कहिये और किसकी आस्था कीजिये। यह जगत् कुछ वस्तु नहीं। आदि, अन्त, मध्य की कल्पना से रहित जो देव है वह ब्रह्मसत्ता समान अपने आपमें स्थित है। और द्वैत कुछ नहीं बना। जब यह तुमको दृढ़ निश्चय होगा तो तुम व्यवहार करते भी हृदय से निःसंग और शान्तरूप होगे। हे राम ! जिस पुरुष की उस समान-सत्ता में स्थिति हुई है, वह इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेष से रहित हृदय से सदा शान्तरूप रहता है। वह न उदय होता है, न अस्त होता है; सदा समभाव में स्थित रहता है। वह स्वस्थरूप अद्वैततत्त्व में स्थित होता है और जगत् की ओर से सुषुप्त सा हो जाता है, व्यवहार भी करता है, परन्तु दर्पण के सदृश उसे क्षोभ नहीं होता। जैसे मणि सब प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, परन्तु उसका संग नहीं करती, वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष कभी कलना कलंक को

नहीं प्राप्त होता; उसका चित्त व्यवहार में सदा निर्मल रहता है। ज्ञानवान् को जगत् आत्मा का चमत्कार भासित होता है। वह न एक है, न अनेक। आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। चित्त में जो यह चेतनभाव भासित होता है, उस चित्त के चेतने का नाम संसार है और फुरने से रहित शान्तचित्त का नाम परमपद है।

हे राम ! महा चैतन्य में जो निज का अभाव है कि मैं आत्मा को नहीं जानता, इसी का नाम चित्तस्पन्दन है और यही संसार का कारण है। जब इस भावना का क्षय हो, तब चित्त शान्त हो। हे राम ! जहाँ निजभाव होता है, वहाँ पदार्थों का अभाव होता है। वह निज सत्ता सब ठौर अपने अर्थ को सिद्ध करती है, परन्तु आत्मा में नहीं प्रवृत्त हो सकती। जब जीव कहता है कि मैं आत्मा को नहीं जानता, तब भी आत्मा का अभाव नहीं होता; क्योंकि अभाव को जाननेवाला भी आत्मा ही है। जो आत्मतत्त्व न हो तो अभाव कौन कहे। वह आत्मा परमशून्य है, परन्तु अजड़रूप परम चैतन्य है। हे राम ! तुम निज का अर्थ आत्मा में करो और आत्मा का अभाव न मानो। अनात्म में जो निज का भावत्व है, उसका अभाव करो अर्थात् अनात्म को अभावरूप मानो। जब इस प्रकार दृढ़भावना करोगे, तब संसार का भ्रम निवृत्त हो जायगा और केवल आत्मभाव शेष रहेगा।

हे राम ! चित्त के फुरने का नाम संसार है। चित्त के फुरने से ही संसारचक्र चलता है। जैसे सुवर्ण से भूषण प्रकट होते हैं, वैसे ही चित्त से त्रिपुटी होती है। पर चित्तस्पन्दन भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं, आत्मा का आभासरूप है। अज्ञान से चित्त स्पन्दन होता है और ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे सुवर्ण के भूष्ण को लगाने से भूषण-बुद्धि नहीं रहती, वैसे ही चित्त अचल होने पर चित्तसंज्ञा जाती रहती है। और जैसे भूषण के अभाव पर सुवर्ण ही रहता है वैसे ही बोध से चित्त के लीन होने पर शुद्ध चैतन्यसत्ता शेष रहती है। फिर भोगों की तृष्णा लीन हो जाती है और जब भोगभावना निवृत्त होती है, तब ज्ञान का परम लक्षण सिद्ध होता है। हे राम ! जो

ज्ञानवान् पुरुष है और जिसने सतरूप को जाना है, उसको भोग की इच्छा नहीं रहती। जैसे जो पुरुष अमृतपान से अघा जाता है, उसको खली आदि तुच्छ भोजन की इच्छा नहीं रहती, वैसे ही आत्मज्ञान से जो संतुष्ट हुआ है, उसको विषय की तृष्णा नहीं रहती। यह निश्चय करके जानो कि जब चित्त फुरता है, तब जगत्-भ्रम भासित होता है और सत्य जानकर भोग की इच्छा होती है; पर जब बोध होता है, तब जगत्भ्रम लीन हो जाता है। तब फिर तृष्णा किसकी करे। यदि इन्द्रियों के विषय प्राप्त हों और कोई हठकर उनको न भोगे, तो वह मूर्ख है। वह मानों अस्त्र से आकाश को छेदता है।

हे राम ! गुरु और शास्त्रों की युक्ति से मन वश में होता है; युक्ति बिना उनकी शुद्धि नहीं होती। यदि कोई अपने अंग ही को काटे और उससे चित्त को स्थिर किया चाहे तो भी चित्त स्थिर नहीं होता और न संसारभ्रम ही मिटता है जब तक चित्त में स्थिति है तब तक जगत् भ्रम दीखता है और जब गुरु और शास्त्रों की युक्ति ग्रहण करके चित्त का अभाव होता है, तब चित्त नष्ट और अचल हो जाता है। जैसे बालक को अन्धकार में पिशाच देख पड़ता है और दीपक जलाकर देखे से अन्धकार निवृत्त होकर पिशाचभ्रम नष्ट हो जाता है, तब बालक निर्भय होता है, वैसे ही आत्मज्ञानरूप युक्ति से अज्ञान निवृत्त होता है। असम्यक्बुद्धि से जगत्भ्रम हुआ है और सम्यक्बोध से निवृत्त हो जाता है; फिर जाना नहीं जाता कि अज्ञान का जगत्भ्रम कहाँ गया ? जैसे दीपक का निर्वाण होने पर नहीं जाना जाता कि प्रकाश कहाँ गया, वैसे ही अज्ञान नष्ट होने पर नहीं जाना जाता कि जगत् कहाँ गया। चित्त के फुरने से बन्धन होता है और न फुरने से मोक्ष होता है परन्तु आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। उसमें न बन्धन है; न मोक्ष है।

हे राम ! जब मोक्ष की इच्छा होती है, तब भी उसकी पूर्णता का क्षय होता है और निःसंवेदन होने पर कल्याण होता है। जो अनाभास अजड़रूप परमपद है, वह चैतन्योमुखत्व से रहित है। हे राम ! बन्धन, मोक्ष आदिक भी कलना में होते हैं। जब कलना से रहित बोध होता है,

तब बन्धन मोक्ष दोनों नहीं रहते। जब तक विचार से नहीं देखा, तब तक बन्धन और मोक्ष भासित होता है। विचार करने से दोनों का अभाव हो जाता है। जब 'अहं', 'इदं' आदिक भावना का अभाव हुआ, तब किसको कौन बन्धन कहे और किसको कौन मोक्ष कहे। सब कलना चित्त के फुरने से होती है। जब चित्त का फुरना नष्ट होता है, तब सब कलना का अभाव हो जाता है। तभी पुरुष शान्ति पाता है, अन्यथा नहीं। इससे चित्त को आत्मपद में लीन करो। जिसके आश्रय से यह जगत् उपजता और लीन होता है, उसी अनुपमरूप प्रत्यक् आत्मप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रत्यगात्मबोधवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! परमतत्त्व परमात्मपद हमको सदा प्रत्यक्ष है, और वस्तुरूप वही है, उससे कुछ भिन्न नहीं। यह प्रत्यक् आत्मा सब सत्ता का दर्पण है; सब सत्ता इसी से प्रकट होती है। जैसे बीज से वृक्ष की सत्ता प्रकट होती है, वैसे ही आत्मा से जगत् सत्ता प्रकट होती है। हे राम! मन, बुद्धि, चित्त अहंकार जड़ात्मक हैं। परमपद इनसे रहित है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक सब उसी में स्थित हैं। जैसे चक्रवर्ती राजा निर्धन से ऊँचा है, वैसे ही उस सत्ता को पाकर जीव सब लोगों से ऊँचा हो जाता है। उस आत्मा को पाकर फिर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता। न कभी शोकवान् होता है, क्षीण। एक क्षणमात्र भी जो अप्रमादी होकर आत्मा को ज्यों का त्यों जानता है, वह संसार-कलना को त्यागकर मुक्त होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! मन, बुद्धि चित्त और अहंकार का अभाव होने पर जो सत्ता सामान्य शेष रहती है, उसका भान कैसे होता है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो सब देहों में स्थित होकर भोजन और जल-पान करता और देखना, सुनना, बोलना इत्यादि कर्म करता देख पड़ता है, वह आदि-अन्त से रहित, संवित् सत्ता, सर्वगत् अपने आप में स्थित है। सब विश्वरूप वही है। आकाश में आकाश, शब्द में शब्द, स्पर्श में स्पर्श, नासिका में गन्ध, शून्य में शून्य, नेत्रों में रूप, पृथ्वी में पृथ्वी,

जल में जल, तेज में तेज, वृक्षों में रस, मन में मन, बुद्धि में बुद्धि, अहंकार में अहंकार, अग्नि में अग्नि, उष्णता में उष्णता, घट में घट, पट में पट, वट में वट, स्थावर में स्थावर, जंगम में जंगम, चेतन में चेतन, जड़ में जड़, काल में काल, नाश में नाश, बालक में बालक, यौवन में युवा, वृद्धता में वृद्ध और मृत्यु में मृत्युरूप होकर वही परमेश्वर स्थित है।

हे राम ! इस प्रकार सब पदार्थों में वह अभिन्नरूप स्थित है। नानात्वदृष्टि भी आती है, परन्तु नानात्व नहीं है और भ्रम से भासित होती है। जैसे परछाहीं में भ्रम से वैताल जान पड़ता है, वैसे ही आत्मा में नानात्व भासित होता है। सबमें, सब ठौर, सब प्रकार, सर्व आत्मा ही स्थित है। ऐसा जो आत्मदेव सत्तासमान है, उसमें स्थित हो। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा, तब दिन अस्त होने से सब सभासद् परस्पर नमस्कार करके स्नान को गये और सूर्य के निकलते ही फिर अपने-अपने आसन पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विभूतियोगोपदेशोनामाष्ट-
पञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। ५८।।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जैसे हमारे स्वप्न में पुर, नगर और मण्डल होते हैं, वैसे ही ब्रह्मादिक ने इस देह को ग्रहण किया है। उनको असत् प्रतीति है, तब हमको दृढ़ प्रतीति कैसे उपजी है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम ब्रह्मा को सर्ग असत् सा भासित होता है, वास्तव नहीं। सर्वगत् चैतन्य संवित् संसार के दर्शन से जब सम्यक् दर्शन का अभाव हुआ और स्वप्नरूप में आपसे अहंप्रतीति उपजी, तब वह दृढ़ होकर देखने लगा। जैसे अपने स्वप्न में जगत् दृढ़ भासता है और मनुष्य उसे स्वप्न नहीं जानता, वैसे ही ब्रह्मा का जगत् भी सत्य भासित होता है, स्वप्न नहीं जान पड़ता है। जो स्वप्न पुरुष से उपजा है, सो स्वप्नरूप है। हे राम ! ऐसा जो सर्ग है, वह जीव जीव के प्रति उदय हुआ है। जैसे समुद्र में तरंग निकलते हैं, वैसे ही चैतन्यतत्त्व का आभास जगत् दिखता है। जैसे स्वप्नपुर में असत् पदार्थ होते हैं, वैसे ही ये पदार्थ भी अवास्तव हैं और

मन के संकल्प से भ्रममात्र ही स्पष्ट भासित होते हैं। हे राम ! ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो इस जगत् में सिद्ध नहीं होता, और का और नहीं भासित होता और मर्यादा नहीं त्यागता; क्योंकि सब पदार्थ मन के संकल्प से उपजे हैं।

तुम देखो कि जल में अग्नि स्थित है-जैसे समुद्र में बड़वाग्नि है, सो विपर्यय है। इसी कारण कहता हूँ कि सब मनोमात्र है। और देखो, आकाश में नगर बसते हैं, विमान प्रत्यक्ष चलते हैं और चिन्तामणि आदि से कमल उपजते हैं-जैसे हिमालय पर्वत में बरफ और सब ऋतु के फूल एक ही समय उपजते हैं, जैसे संकल्प के कल्पित वृक्ष से पत्थर निकल आते हैं; शिला में जल निकलता है, चन्द्रकान्तमणि से अमृत द्रवित होता है और निमेष में घट पट और पट घट हो जाते हैं। निदान स्वरूप के विस्मरण से जीव सत् को असत् देखता है, जैसे स्वप्न में अपना मरना देखता है; जल ऊपर को चलता देखता है; मेघ होकर स्वर्ग में गंगा बहती देखता है और पत्थर पड़ते देखता है; जैसे पंखोंवाले पहाड़ उड़ते हैं और चिन्तामणि शिलारूप से सब पदार्थ उपजते हैं। इत्यादि बातें भ्रम से नानात्व विपर्ययरूप हो दिखती हैं। इससे तुम देखो कि सब मनोमात्र हैं, और से और हो जाते हैं। हे राम ! यह इन्द्रजाल, गन्धर्व-नगर और शाम्बरी माया के सदृश है। असत् ही भ्रम से सत्रूप में भासित होता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं है, जो सत् नहीं और असत् भी नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्न विचारोनामै-
कोनषष्टितमस्सर्गः।। ५९।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह संसार मिथ्या है। जो पुरुष इसको सत्य जानता है, वह महामूर्ख है और भ्रम में भ्रम देखकर महामोह को प्राप्त होता है। जैसे कोई मृग गढ़े में गिर पड़ता है तो दुःखी होता है और फिर उससे भी बड़े गढ़े में गिरता है तो अति दुःख पाता है, वैसे ही जो मूर्ख पुरुष है, वह आत्मा के अज्ञान से संसाररूपी गढ़े में गिरता है और उससे अनेक भ्रम देखता है, एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न देखता है।

इस विषय का एक इतिहास कहता हूँ, उसे मन लगाकर सुनो। एक मननशील संन्यासी योग के आठवें अंग 'समाधि' में स्थित था। उसका हृदय समाधि करते-करते शुद्ध हो गया था। वह समाधि में दिन बिताता और जब समाधि खुलती तो फिर आसन लगाकर समाधि में लग जाता था। इसी प्रकार जब बहुत काल बीता तो एक समय समाधि खुलने पर वह एक चिन्तन करने लगा कि जैसे साधारण पुरुष विचरते और चेष्टा करते हैं, वैसे ही मैं भी कुछ चेष्टा रचूँ। ऐसा विचार कर उसने मन के संकल्प से विश्व की कल्पना की और उसमें आप भी एक बना। उसका नाम झीवट हुआ। निदान वह मद्यपान करता और ब्राह्मणों की सेवा भी करता। चेष्टा करते-करते वह सो गया। स्वप्न में उसको ब्राह्मण के शरीर का भान हुआ तो वह उस ब्राह्मण शरीर में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। ऐसी चेष्टा से जब उसे चिरकाल बीता तो फिर स्वप्न हुआ। उसमें उसने अपने को बड़ी सेना से युक्त राजा देखा और उस सेना के साथ वह राजा होकर विचरने लगा।

कुछ काल जब इसी प्रकार व्यतीत हुआ तो फिर स्वप्न हुआ और उस स्वप्न में उसने अपने को चक्रवर्ती राजा देखा। वह चक्रवर्ती होकर सारी पृथ्वी पर आज्ञा चलाने लगा। जब कुछ काल बीता तो फिर अपने को देवांगना के रूप में देखा। वह देवता के साथ बाग में विचरने लगी और जैसे बेल वृक्ष के साथ शोभा पाती है, वैसे ही वह देवता के साथ शोभा पाने लगी। इसी प्रकार जब कुछ काल देवता के साथ बीता तो फिर स्वप्न हुआ और उसमें उसने अपने को हिरणी देखा और वन में चरने लगा। कुछ काल ऐसे भी व्यतीत हुआ तो फिर स्वप्न हुआ और उसने अपने को देवताओं के बाग की बेल देखा। जब ऐसे कुछ समय बीता तो फिर स्वप्न में अपने को भँवरी देखा और सुगन्ध को ग्रहण करने लगा। उसके अनन्तर फिर उसने स्वप्न में देखा कि मैं कमलिनी हूँ। वहाँ एक दिन हाथी आकर बेल को खा गया। जैसे कोई मूर्ख बालक भली वस्तु को भी तोड़ डालता है, वैसे ही वह मूर्ख हाथी बेल को तोड़कर खा गया। उसके

उपरान्त उस बेल ने हाथी का शरीर पाकर बड़ा दुःख पाया और गढ़े में गिरा। थोड़े समय के उपरान्त हाथी को स्वप्न हुआ और वह भँवरी होकर कमलों में विचरने लगा। जब कुछ काल बीता तो फिर वह बेल हुआ और उस बेल के निकट एक हाथी आया और उस हाथी के पाँवों से वह बेल चूर्ण हो गई। तब उस बेल को एक हंस ने खाया। तब वह बेल हंस होकर बड़े मानसरोवर में विचरने लगी। फिर हंस के मन में आया कि मैं ब्रह्मा का हंस होऊँ। तब वह अपने संकल्प से ब्रह्मा का हंस बन गया जैसे जल का तरंग बन जावे। तब ब्रह्मा के उपदेश से हंस को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ।

हे राम ! अज्ञान से ऐसे भ्रम में पड़कर फिर ज्ञान से वह भ्रम शान्त हुआ। फिर विदेह और मुक्त वह होगा। वह हंस सुमेरुपर्वत में उड़ा जाता था। तब उसके मन में आया कि मैं रुद्र होऊँ। इसलिए सत् संकल्प से रुद्र हो गया। जैसे शुद्ध दर्पण में शीघ्र ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण के संकल्प से तुरन्त वह रुद्र हो गया। जिसको अनुत्तर ज्ञान हो, उसको रुद्र कहते हैं और अनुत्तर ज्ञान वह है जिसके पाने से और कुछ पाने को नहीं रह जाता। ध्यान से अपने को देख उस रुद्र के मन में विचार हुआ कि बड़ा आश्चर्य है कि मैं अज्ञान से इतने बड़े भ्रम को प्राप्त हुआ था। बड़ी आश्चर्यमयी माया है। मैं तो एक ओर पड़ा हूँ और यह विश्व मेरा स्वरूप है। पूर्व कल्पित जो मेरे शरीर हैं, उनको अब जाकर जगाऊँ। तब रुद्र उठ खड़ा हुआ और अपने स्थान को चला। प्रथम संन्यासी के शरीर को आकर देखा और चित्तशक्ति से उसे जगाया तो संन्यासी के शरीर में ज्ञान हुआ कि सबमें मैं ही स्थित हूँ। परन्तु संन्यासी ने जाना कि मुझको रुद्र ने जगाया है और इतने शरीर मेरे और भी हैं। फिर वहाँ से वह रुद्र और संन्यासी दोनों चले और झीवट के स्थान में आये तो देखा कि झीवट शव की नाईं पड़ा है; मदिरा के बर्तन पड़े हैं, चेतना भी वहीं भ्रमती है और नाना प्रकार के स्थान देखती है- जैसे झरने के छिद्र में चींटी भ्रमती है।

तब उन्होंने झीवट को चित्तशक्ति से जगाया और वह उठ खड़ा हुआ। तो उसको ऐसा स्मरण हुआ कि मुझे तो इन्होंने जगाया।

फिर झीवट के मन में विचार हुआ कि इतने शरीर मेरे और भी हैं। निदान रुद्र, संन्यासी और झीवट तीनों चले। इन्होंने विचार किया कि हमने इतने शरीर क्योंकर पाये ? आदि में तो मैं एक परमात्मा में चैतन्योन्मुख होकर संन्यासी हुआ। फिर संन्यासी झीवट हुआ और मद्यपान करने लगा। फिर ब्राह्मण होकर वेद का पाठ करने लगा और उसके पुण्य से राजा का शरीर धारण किया। उसके बाद जो बड़ा पुण्य प्राप्त हुआ, उससे चक्रवर्ती राजा हुआ। चक्रवर्ती राजा के शरीर में काम बहुत हुआ, उससे देवता की स्त्री हुआ। स्त्री के शरीर में नेत्रों में बहुत प्रीति थी, उससे हिरणी हुआ। फिर भँवरी हुआ। उसके बाद बेल हुआ और इसके बाद जो शरीर धारण किये सो मिथ्या धारण किये और अज्ञान से बहुत काल भटकता रहा। अनेक वर्ष और सहस्त्रों युग व्यतीत हो गये हैं। संन्यासी से लेकर रुद्र पर्यन्त वासना के कारण जन्म पाये हैं। इतने जन्म पाकर ब्रह्मा का हंस हुआ। तब वहाँ ज्ञान की प्राप्ति हुई, क्योंकि पूर्व में अभ्यास किया था, उससे अकस्मात् सत्संग प्राप्त हुआ। ऐसा विचार करते वे वहाँ से चले और चैतन्य आकाश में उड़कर वेदपाठ करनेवाले ब्राह्मण की सृष्टि में गये तो उसको देखा कि मरा-सा पड़ा है। चित्तशक्ति से उन्होंने उसको जगाकर रुद्र, संन्यासी, मद्यपान करनेवाला झीवट और ब्राह्मण, चारों वहाँ से चले और चित्तकाश में उड़कर राजा की सृष्टि में पहुँचे तो देखा कि राजा की देह चेष्टा करती है। राजा, जिनकी देह सुवर्ण की नाईं शोभायमान है, अपने मन्दिर में रानी समेत शय्या पर सोये हैं और सहेलियाँ चँवर डुला रही हैं। तब उन्होंने राजा को चित्तशक्ति से जगाया। उसने देखा कि सब विश्व मेरा ही स्वरूप है और इतने शरीर मैंने अज्ञान से धारण किये हैं। निदान रुद्र, संन्यासी मद्यपान करनेवाला झीवट, ब्राह्मण और राजा वहाँ से चले और हाथी आदि जितने शरीर धारण किये थे, उन सबको जगाया। उनमें यही निश्चय हुआ कि हम

चिन्मात्ररूप और आवरण से रहित हैं अर्थात् अज्ञान के स्फुरण से रहित हैं।

हे राम ! तब उनके शरीर अलग-अलग देख पड़े, परन्तु चेष्टा भिन्न-भिन्न और निश्चय सबका एक हुआ। उनका नाम शतरुद्र हुआ। हे राम ! सम्पूर्ण विश्व अज्ञान् के विकार से होता है, ज्ञान से देखिये तो कुछ नहीं। ऐसे ही उनका संवेदन और निश्चय एकसा हुआ। एक देखे तो जाने कि सब ही मेरे रूप हैं और जब दूसरा देखे तो विचारे कि सब मेरे ही रूप हैं। जैसे समुद्र से जो अनेक तरंग उठते हैं, उनके आकार भिन्न-भिन्न होते हैं और स्वरूप एक-सा ही होता है, वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष सारे विश्व को अपना ही स्वरूप देखते हैं और अज्ञानी उनको भिन्न-भिन्न और अपने को उनसे भिन्न जानते हैं। एक को दूसरा नहीं जानता और दूसरे को पहला नहीं जानता। हे राम ! यह विश्व अपना ही स्वरूप है, पर अज्ञान से भिन्न जान पड़ता है। चिन्मात्र में फुरने को अज्ञान कहते हैं। चित्त के चेतने से संसार होता है और न फुरने से वह आत्मस्वरूप ही है। इससे हे राम ! वासना का त्याग करो और कुछ नहीं, जिस प्रकार शत्रु मरे उस प्रकार मारिये—यही यत्न करो। अब मैं तुमसे ऐसा उपाय कहता हूँ, जिसमें कुछ यत्न नहीं और शत्रु भी मारा जायगा। हे राम ! यह चिन्तना ही दुःख है और चिन्तना से रहित होना ही सुख है—आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। इस चित्त के चिन्तन से संसार है और निवृत्त होने में स्वरूपबोध। जैसे पत्थर में पुरुष पुतलियों की कल्पना करता है तो उसमें पत्थर से भिन्न पुतलियों का अभाव है, वैसे ही चित्त ने विश्व की कल्पना की है। जब चित्त निवृत्त हो, तब विश्व अपना ही स्वरूप है; भिन्न नहीं। चित्त से जहाँ जाता है वहाँ पञ्चभूत ही देख पड़ते हैं, आत्मा नहीं देख पड़ता। और चित्त से रहित ज्ञानी जहाँ जाता है वहाँ आत्मा ही दीखता है। जब चित्त की वृत्ति बहिर्मुख होती है, तब संसार होता है और पञ्चभूत ही दृष्टिगोचर होते हैं और जब चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है, तब अपना ज्ञानरूप आप ही भासित होता है।

ये सब पदार्थ ज्ञानरूप आत्मा बिना सिद्ध नहीं होते। प्रथम आपको जानता है तो और पदार्थ जाने जाते हैं। इसी से ज्ञानवान् सब अपना आप जानता है।

हे राम ! ये जो कुछ पदार्थ हैं, सो चिन्तन से हैं। और जितने जीव हैं उनकी संवेदना भिन्न-भिन्न है। संवेदना में अपनी-अपनी सृष्टि है। जैसे किसी सोये हुए पुरुष को अपने स्वप्न की सृष्टि भासित होती है। और जो उसके पास बैठा होता है उसको नहीं भासित होती, क्योंकि उसकी दृष्टि विश्व-स्वप्न को नहीं जानती, वैसे ही जो ज्ञानी है, उसको अपना रूप आप ही भासित होता है और इस सब जगत् को वह अपना ही रूप जानता है। अज्ञानी जिस ओर देखता है, उसी ओर पञ्चभूत दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे पृथ्वी को खोदने से आकाश ही देख पड़ता है, वैसे ही ज्ञानी चित्तसहित जहाँ देखता है, वहाँ पञ्चभूत ही दृष्टि आते हैं। इससे हे राम ! तुम कामना से रहित हो। कामना ही से बन्धन है और कामना वासना न रहना ही मोक्ष है। आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। हे राम ! जो न चेतने से अस्त हो जाय, उसके नाश में कृपणता क्या करना है। जो वासना-विनाश से प्राप्त हो, उसको प्राप्त रूप जानो। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! ये स्वप्न में झीवट और ब्राह्मण से लेकर अनेक रूप संन्यासी के हुए, फिर उसके उपरान्त क्या हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ब्राह्मण आदि जितने शरीर थे, वे रुद्र के जगाने पर सुखी हुए। जब सब इकट्ठे हुए, तब रुद्र ने उनसे कहा, हे साधो ! तुम अपने-अपने स्थान को जाओ और कुछ काल अपने पुत्र-कलत्र के साथ भोग भोगो। तब तुम मेरे गण होकर मुझको प्राप्त होगे और महाकल्प में हम सभी विदेहमुक्त होंगे।

हे राम ! जब रुद्र ने ऐसे कहा, तब सब अपने-अपने स्थान को गये। रुद्र भी अन्तर्धान हो गये। वे अब भी तारों का आकार धारण किये कभी-कभी हमको आकाश में दृष्टिगोचर होते हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि संन्यासी ने झीवट आदि सब शरीर धारण

किये सो वे सत् कैसे हुए और उनकी सृष्टि कैसे सत् हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मा सर्वव्यापक, शुद्ध चैतन्य आकाश और अनुभवरूप है। उसमें जैसे देशकाल और वस्तु का निश्चय होता है, वैसा ही वह बन जाता है। जैसा-जैसा-स्फुरित होता है, वैसा ही वैसा आगे होता है। जिसका मन शुद्ध होता है, उसका सत् संकल्प होता है और वह जैसा संकल्प करता है, वैसा ही होता है। जो तुम कहो कि संन्यासी का अन्तःकरण शुद्ध था, अपने नीच-ऊँच जन्म कैसे पाये ? अर्थात् मद्यपान करनेवाला, भँवरी, बेल आदि नीच और ऊँच अर्थात् ब्राह्मण, राजा आदि ऐसे जन्म शुद्ध अन्तःकरण में न चाहिये, तो इसका उत्तर यह है कि संवेदन में जैसी भावना उठती है, वैसा ही होता देख पड़ता है। जैसे एक पुरुष का अन्तःकरण शुद्ध हो और उसके मन में आवे कि मेरा एक शरीर विद्याधर का और एक शरीर भेड़ का हो तो उसके भले और बुरे दोनों ही शरीर हो जाते हैं। जो तुम कहो कि बुरा क्यों बना, भला ही बनता तो उसका उत्तर सुनो। देखो, किसी भले पण्डित के घर पुत्र होता है; वह यदि संस्कार अर्थात् वासना से चोर हो जाय तो पिता को दुःख होता है। इससे हे राम ! सब वासना ही से ऊँच-नीच होते हैं। जब अभ्यास और परमयोग होता है, तब जीव शुद्ध होता है। अभ्यास, मन्त्र, जप और चित्त के स्थित करने को योग कहते हैं। इससे जैसी चिन्तना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है, और अज्ञानी को नहीं होती। जैसे वस्तु निकट पड़ी है और भावना नहीं तो दूर है, वैसे ही अज्ञानी की भावना नहीं तो न दूरवाली वस्तु प्राप्त होती है और न निकटवाली। वह सिद्ध इसलिए नहीं होती कि उसकी भावना दृढ़ नहीं और हृदय भी शुद्ध नहीं। संकल्प भी तब सिद्ध होता है, जब हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदयवाला जिसकी चिन्तना करता है वह चाहे दूर हो तो भी सिद्ध होता है, और जो निकट है, वह भी सिद्ध होता है। जो तुम कहो कि संन्यासी तो एक था, बहुत चैतन्य शरीर कैसे हुए तो इसका उत्तर सुनो। जो कोई योगीश्वर और योगिनी देवियाँ हैं उनका संकल्प

सत्य है। उनके जैसा संकल्प उठता है, वैसा ही होता है। ऐसे सत् संकल्पवाले मैंने अनेक देखे हैं।

एक राजा सहस्त्रबाहु अर्जुन था। वह अपने घर में बैठा था और उसके सिर पर छत्र झूलता और चँवर होते थे। उसके मन में संकल्प हुआ कि मैं मेघ होकर बरसूँ। उस संकल्प के करने से उसका एक शरीर तो राजा का रहा और एक शरीर से वह मेघ होकर बरसने लगा। विष्णु भगवान् एक शरीर से तो क्षीरसमुद्र में शयन करते हैं और प्रजा की रक्षा के निमित्त और शरीर भी रख लेते हैं, जो अवतार कहाते हैं। यज्ञदेवियाँ अपने-अपने स्थानों में होती हैं और बड़े ऐश्वर्य से विचरती हैं। इन्द्र एक शरीर से स्वर्ग में रहता है और दूसरे शरीर से जगत् में भी उपस्थित रहता है। योगीश्वरों का जैसा संकल्प होता है, वैसा ही सिद्ध होता है। और जो अज्ञानी मूर्ख हैं उनके मन में बड़ा भ्रम होता है और वे बड़े मोह को प्राप्त होकर मोह से नीच गति पाते हैं। जैसे बड़े पर्वत के ऊपर से पत्थर गिरता है तो वह नीचे को जाता है, वैसे ही मूर्ख आत्मपद से गिरकर संसाररूपी गढ़े में गिरते और बड़े दुःख पाते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि संसार स्वप्नमात्र है सो मैंने जाना कि अनन्त मोहरूपी विषमता है और आत्मचैतन्रूप आनन्द के प्रमाद से जीव अपने को जड़ और दुखी जानता है। यह बड़ा आश्चर्य है। हे भगवन् ! यह जो आपने संन्यासी का वृत्तांत कहा, उसके समान कोई और भी है अथवा नहीं सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! संसाररूपी मढ़ी में मैं रात्रि के समय समाधि करके देखूँगा और तुमसे प्रभात को जैसा होगा, वैसा कहूँगा।

इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! वशिष्ठजी ने जब यह कहा, तब मध्यान्ह का समय था। नौबत-नगाड़े बजने लगे, जिनका प्रलयकाल के मेघ का सा शब्द होने लगा। वशिष्ठजी के चरणों पर राजा और देवताओं ने फूल चढ़ाये और सबने बड़ी पूजा की। जैसे बड़ा पवन चलता है और उसके वेग से बाग में वृक्षों के फूल पृथ्वी पर गिर

पड़ते हैं, वैसे ही सबने बहुत फूलों की वर्षा की। इस प्रकार प्रथम तो बहुत पूजा होती रही, फिर वशिष्ठजी, को नमस्कार करके सब उठ खड़े हुए और आपस में नमस्कार किया। फिर जैसे मन्दराचल पर्वत में सूर्य उदय होता है, वैसे ही वशिष्ठजी आदि ऋषि और राजा दशरथ आदि सब राजा उठे। तब पृथ्वी के राजा और प्रजा पृथ्वी पर अपने स्थान को चले और आकाश के सिद्ध और देवता आकाश को चले। सब अपने-अपने कामों में जा लगे और जैसा शास्त्रोक्त व्यवहार है उसे करने लगे। जब रात्रि हुई, तब विचार करते रहे कि वशिष्ठजी ने कैसे ज्ञान उपदेश किया है और उस विचार में उनकी रात्रि एक क्षण की तरह बीत गई। इतने में सूर्य की किरणें निकलते ही राम-लक्ष्मण आदि सब आये और परस्पर नमस्कार कर अपने-अपने आसन पर शान्तरूप होकर बैठे, जैसे पवन न चलने पर कमल स्थिर होते हैं।

तब वशिष्ठजी ने अनुग्रह करके आप ही कहा, हे राम ! तुम्हारी प्रीति के लिए मैंने संसार में बहुत खोजा और आकाश, पाताल और सप्तद्वीप सब ढूँढ़ डाले; परन्तु ऐसा कोई संन्यासी न देखा और न अन्य किसी का संकल्प उसका जैसा भासित होता है। जब एक पहर रात्रि रही तब मैंने फिर ढूँढ़कर उत्तर दिशा में एक प्राचीन चिन्माचीन नाम के नगर में एक मढ़ी देखी। उसके दरवाजे भीतर से बंद थे। उसमें पके बालोंवाला एक संन्यासी बैठा था। बाहर उसके चेले बैठे थे। वे इस डर से दरवाजा नहीं खोलते थे कि कहीं ऐसा न हो कि हमारे गुरु की समाधि खुल जाय। वह मुनि उस स्थान में दूसरे ब्रह्मा के समान बैठा है। उसको बैठे अभी इक्कीस दिन हुए हैं, पर उसको समाधि में सहस्त्र वर्षों का अनुभव हुआ है और उसने बहुत् जन्म भी पाये हैं, जो उसको प्रत्यक्ष भासित हुए हैं। उसने सृष्टि भी प्रत्यक्ष देखी है और उसमें विचरा है। हे राम ! इसका सा एक और मुनि भी पूर्व कल्प में था। इतना सुन राजा दशरथ ने कहा, हे महामुनीश्वर ! जो आप आज्ञा दें तो मैं अपना अनुचर चिन्माचीन नगर में भेजूँ कि वह वहाँ जाकर उस संन्यासी को जगावे।

वशिष्ठजी ने कहा, हे राजन् ! वह संन्यासी अब ब्रह्मा का हंस होकर ब्रह्मा के उपदेश से जीवन्मुक्त हुआ है और यह शरीर उसका अब मृतक हुआ है। अब उसमें पुर्यष्टका अर्थात् जीव नहीं है। अब उसको क्या जगाना है ? एक महीने पीछे शिष्य उसका दरवाजा खोलेंगे तो उस नगर के लोग देखेंगे कि वह मृतक पड़ा है। इससे हे राम ! यह विश्व संकल्पमात्र ही है। और जो तुम कहो कि एक से बहुत क्योंकर हुए तो सुनो, ये मुनीश्वर, ऋषि, राजा आदि जो लोग हैं, वे अनेक बार एकसा शरीर धारण करते हैं। कभी कई बार कुछ सदृश और कुछ असदृश धारण करते हैं, कभी थोड़ा मिलता हुआ शरीर धारण करते हैं। और अनेक बार पहले से बिल्कुल न मिलता हुआ बिलक्षण शरीर धारण करते हैं। इन नारदजी के समान और भी नारद होंगे। उनकी चेष्टा भी ऐसी ही होगी और शरीर भी ऐसा ही होगा। व्यास, शुकदेव, भृगु, भृगु के पिता जनक, कर्कर ऋषीश्वर अत्रि और अत्रि की स्त्री भी जैसी कि अब है वैसी ही होगी। जैसे समुद्र में तरंग एक से और न्यून या अधिक भी होते हैं, वैसे ही यह संसार ब्रह्मलोक से लेकर पाताल तक सब मन का रचा हुआ है और सब मिथ्या है। जब यह चित्तकला बहिर्मुख होती है, तब संसार और देश काल होता है। और जब अन्तर्मुख होती है, तब आत्मपद प्राप्त होता है। जब तक बहिर्मुख होती है, तब तक दुःख प्राप्त होता है। अपना स्वरूप आनन्दरूप है। उसमें चित्तकला जानती है कि मैं सदा दुखी हूँ। देह और इन्द्रियों से मिलकर जीव दुखी होता है। इससे हे राम! इस अज्ञानरूप वासना से तुम रहित बनो। वासना से यह अवस्था प्राप्त होती है। जैसे चन्द्रमा अमृत से पूर्ण है और उसमें चर्मदृष्टि से कलंक देख पड़ता है, वैसे ही अमृतमय चन्द्रमारूप आत्मा में अज्ञानदृष्टि से जन्म, मरण, शोक, दुःख भय आदि कलंक दीखते हैं। यह माया महाआश्चर्य रूप हैं। जैसे चन्द्रमा एक है और नेत्रदोष से बहुत चन्द्रमा भासित होते हैं, वैसे ही एक अद्वैत आत्मा में नानात्वरूप विश्व का भान अज्ञान से होता है। यही माया है।

हे राम ! तुम एकरूप आत्मा हो। उसमें फुरने से विश्व कल्पित हुआ है। इससे वासना से रहित हुए बिना आत्मा का दर्शन नहीं होता। जैसे उदय हुआ सूर्य भी बादल के होते शुद्ध नहीं दिखता, वैसे ही स्फुरणरूपी बादल के दूर होने पर ही आत्मरूपी सूर्य शुद्ध भासित होता है और दृश्य, दर्शन, द्रष्टा फुरने से ही कल्पित हुए हैं। हे राम ! इस संसार का सार जो आत्मा है, जिसमें सुषुप्त की तरह मौन हो रहो। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! मैं तीन मौन जानता हूँ-एक वाणी का मौन अर्थात् चुप रहना; दूसरा इन्द्रियों का मौन और तीसरा कष्ट-मौन अर्थात् हठ करके मन और इन्द्रियों को वश करना। सुषुप्त मौन मैं नहीं जानता। आप बताइए। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये तीनों कष्टमौन तपस्वियों के हैं और सुषुप्त मौन ज्ञानी और जीवन्मुक्त का है। वे तीनों मौन जो तुमने कहे, सो अज्ञानी तपस्वियों के हैं। उनको फिर सुनो। एक वाणी का मौन कि बोलना नहीं, दूसरा मौन समाधि कि नेत्रों का मूँद लेना और कुछ न देखना और तीसरा हठकर स्थित होना और मन और इन्द्रियों को स्थिर करना। एक मौन इन्द्रियों की चेष्टा से रहित होना है। अब ज्ञानी का सुषुप्त मौन सुनो। वाणी और इन्द्रियों से चेष्टा करना, पर आत्मा से भिन्न और कुछ न भासित होना, अथवा ऐसे होना कि न मैं हूँ, न जगत् है, अथवा ऐसे होना कि सब मैं ही हूँ। ऐसे निश्चय में स्थित होना बड़ा उत्तम मौन है।

हे राम ! आत्मा की सिद्धि विधि से भी होती है और निषेध से भी। उस आत्मा में स्थित होना बड़ा मौन है। हे राम ! यह जो मैंने सुषुप्त मौन कहा है, सो क्या है, सुनो ! द्वैतरूप संसार के फुरने से सुषुप्त होना; आत्मा में जागना और ऐसे देखना कि न मुझमें जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है—इस निश्चय में स्थित होना तुरीयातीत अवस्था है। यह पञ्चम मौन है। ऐसा तुरीयातीत पद अनादि, अनन्त, जरा से रहित, शुद्ध निर्दोष है। हे राम ! ज्ञानी इन्द्रियों को रोकने की इच्छा भी नहीं करता और न विचरने की इच्छा करता है। जो स्वाभाविक आ पड़े उसी में स्थित होता

है। यह परम मौन है। ज्ञानी को सुख की इच्छा भी नहीं और दुःख का त्रास भी नहीं। वह हेय और उपादेय से रहित है। हे राम ! तुम रघुवंश में चन्द्रमा हो, अपने स्वभाव में स्थित हो। संसारभ्रम मन के फुरने से होता है, सो मिथ्या है, वास्तव नहीं। और न शरीर सत्य है, न माया सत्य है। हे राम ! तुम्हारा स्वरूप ओंकार (चैतन्य ब्रह्म) है। इस ओंकार को अंगीकार करके स्थित होना परम उत्तम मौन है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो पीछे आपने सब रुद्र कहे, वे रुद्र थे, अथवा रुद्र के गण थे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिसको रुद्र कहते हैं, उसी को गण कहते हैं। ये सभी रुद्र हैं। फिर राम ने पूछा, हे भगवन्! यह जो आपने कहा कि सब रुद्र हुए तो ये एक चित्र थे, सब क्योंकर हुए? जैसे दीपक से दीपक होता है, क्या इसी भाँति हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक सावरण है, दूसरा निरावरण। जिसका शुद्ध अन्तःकरण है, वह निरावरण है और जिसका मलिन अन्तःकरण है, वह सावरण है। शुद्ध अन्तःकरण में जैसा निश्चय होता है, वैसा ही तत्काल आगे सिद्ध होता है और मलिन अन्तःकरण का निश्चय सिद्ध नहीं होता। इससे जो शुद्ध निवारण रुद्र है, वही आत्मा और सर्वव्यापी है। जो उसका निश्चय होता है, वह सत्य है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! सदाशिव की चेष्टा तो मलिन है। रुण्डों की माला गले में धारण करते हैं और विभूति लगाकर श्मशान में विहार करते हैं। स्त्री बायें अंग में रहती है। आप क्योंकर कहते हैं कि उनका अन्तःकरण शुद्ध है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शुद्ध, अशुद्ध अज्ञानी को कहते हैं। जो शुद्ध रहे, अशुद्ध में न लिप्त हो, वह ज्ञानी है। वह अपने में क्रिया नहीं देखता और उसको शुद्ध-अशुद्ध में राग-द्वेष नहीं होता। ऐसे सदाशिवजी को ग्रहण या त्याग नहीं है। उनकी दृष्टि में जो स्वाभाविक चेष्टा होती है सो हो। वह ऐसे होती है, जैसे आदि परमात्मा विष्णु भगवान् चार भुजा धारण किये संसार की रक्षा करने के लिए शुद्ध चेष्टा से अवतार लेकर धर्म की रक्षा करते हैं और पापियों को मारते हैं। यह आदि स्फुरण हुआ है। जो क्रिया

स्वाभाविक ही आकर प्राप्त हो, उस क्रिया का रागद्वेष करके उनको हेय या उपादेश कुछ नहीं है। उनको क्रिया का अभिमान भी नहीं होता, इसी से क्रिया का बंन्धन उनको नहीं होता। इससे यह सिद्ध है कि संसार स्फुरण मात्र है। जब तुम फुरने से रहित होगे, तब तुमको त्रिपुटी न भासेगी अर्थात् आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होगा। इससे अज्ञानरूप फुरने से रहित होकर जब तुमको आत्मपद का साक्षात्कार होगा ? तब तुम जानोगे कि मुझमें स्फुरण, दृश्य, अदृश्य कुछ नहीं, केवल आत्मपद है, जिसमें एक कहना भी नहीं, तो द्वैत कहाँ से हो ?

हे राम ! दृश्य, अदृश्य, फुरना न फुरना और विद्या, अविद्या, ये सब उपदेश के निमित्त कहते हैं, आत्मा में कुछ नहीं कहा जाता। आत्मा एक है, जिसमें द्वैत का अभाव है। जब चित्त परिणाम बहिर्मुख होता है, तब विश्व का भान होता है और जब चित्त अन्तर्मुख परिणाम पाता है, तब अहंता और ममता का नाश होता है और चैतन्य शेष रहता है। जब अतिशय अन्तर्मुख परिणाम होता है, तब चैतन्य भी नहीं कहा जाता, और जब इससे भी अतिशय परिणाम पाता है, तब 'है' या 'नहीं' भी नहीं कहा जाता। हे राम! ऐसा तुम्हारा आत्मा अपना आप स्वरूप और शान्तपद है। उसमें वाणी की गति नहीं कि वह ऐसा है या वैसा है, यह कहा जाय। ऐसा कहिये तो इन्द्रियों का विषय है और वैसा कहिये तो इन्द्रियों से परे है। जब तुम अपने में स्थित होगे, तब जानोगे कि मुझमें अहं का फुरना कुछ नहीं है। आत्मरूपी सूर्य का साक्षात्कार होने से दृश्यरूपी अन्धकार का अभाव हो जायगा क्योंकि आत्मा तुम्हारा अपना रूप है जो केवल शान्तरूप और निर्मल है। जैसे गम्भीर समुद्र वायु से रहित होता है, वैसे ही आत्मरूपी समुद्र संकल्परूपी वायु से रहित गम्भीर और शुद्ध है। यह संसार चित्त का चमत्कार है। यह निरंश है, इसमें अंशाशी भाव नहीं–यह अद्वैत है। हे राम ! जब ऐसे बोध में स्थित होगे, तब इस विश्व को भी आत्मरूप देखोगे। यदि बोध बिना देखोगे तो विश्व का भान होगा। इससे

हे राम ! बोध में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकताप्रतिपादनं
नाम षष्टितमस्सर्गः ।। ६० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सदाशिव का आदि में स्फुरण हुआ है। वह त्रिनेत्र है, विश्व का संहार करते हैं और शिरों की माला धारण किये हैं। ब्रह्मा के चार मुख हैं और चारों वेद हाथ में हैं। वह संसार की उत्पत्ति करते हैं। उनकी ऐसे ही उत्पत्ति हुई है। हे राम ! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, ये तीनों एकरूप हैं। इनकी यही चेष्टा स्वाभाविक है। उन्होंने यह अपना कर्म न राग से अंगीकार किया है और न द्वेष करके उसका त्याग करते हैं। उनकी यह संज्ञा भी लोगों के देखने के लिए है। वे अपनी जान में कुछ नहीं करते; क्योंकि बोध में ही उनका जाग्रत् है। बोध में जाग्रत् क्या और कैसे होता है सो भी सुनो। बोध सांख्यमार्ग से होता है और जागृति योगमार्ग से होती है। सांख्यमार्ग है तत्त्व और मिथ्या को विचारना। तत्त्व इस ज्ञान को कहते हैं कि मैं आत्मा, सत् और चैतन्य हूँ, और सब दृश्य मिथ्या, जड़ और असत् हैं। अज्ञान मुझमें कल्पित है। असल में मैं अद्वैत आत्मा हूँ और मुझमें अज्ञान और दृश्य, दोनों नहीं हैं। ऐसे निश्चय में स्थित होना सांख्यविचार है। योग प्राणों के स्थिर करने को कहते हैं। जब प्राण स्थित होते हैं, तब मन भी स्थिर हो जाता है और जब मन स्थिर होता है तब प्राण भी स्थिर होते हैं-इनका परस्पर सम्बन्ध है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो प्राण ही स्थिर होने से जीव मुक्त होता है, तो मृतक पुरुषों के तो प्राण नहीं रहते—वे सब मुक्त होने चाहिए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम तो श्रवण करो कि प्राण क्या पदार्थ है। यह जीव पुर्यष्टका में स्थित होकर जैसी वासना करता है, शरीर को त्यागकर उसी के अनुसार आकाश में स्थित होता है। इसी का नाम प्राण है। उस वासनारूप प्राण से फिर उसको संसार का भान होता है और जब प्राण की वासना क्षय होती है तब वह मुक्त होता है। ज्ञानी की वासना क्षीण हो जाती है, इससे वह जन्म-मरण से रहित

होता है। जैसे भुना बीज फिर नहीं उगता, वैसे ही ज्ञानी को वासना के अभाव से जन्म-मरण नहीं होता। हे राम ! जन्म-मरण दोनों मार्गों से निवृत्त होता है और उसे दोनों का फल कहा है। हे राम ! ज्ञान से चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है और योग से प्राणवायु स्थिर होती है। तब वासना का क्षय हो जाता है। जब स्वरूप की प्राप्ति होती है, तब संसार के पदार्थों का अभाव हो जाता है। जैसे रसायन से ताँबा सोना हो जाता है, फिर ताँबे का भाव नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान से विश्वरूपी ताँबे की संज्ञा नहीं रहती। जैसे ताँबे का ताँबापन जाता रहता है, वैसे ही ज्ञान से जब चित्त सत्यरूप हुआ तब फिर संसारी नहीं होता। आत्मा में न बन्धन है और न मोक्ष। परमात्मा एक अद्वैत है। तब उसमें बन्ध कहाँ और मोक्ष कहाँ ? बन्धन और मुक्ति चित्त की कल्पना हैं। और जो चित्त को शान्त करने का उपाय कहा है उससे वह शान्त होता है। इसी को मुक्ति कहते हैं। और बन्धनमुक्ति कोई नहीं। चित्त के उदय होने का नाम बन्धन है और चित्त का शान्त होना ही मुक्ति है।

हे राम ! जब मन अपने वश में होता है, तब आत्मपद प्राप्त होता है। अथवा जब प्राण स्थिर होते हैं, तब आत्मपद प्राप्त होता है। यह संसार मृगतृष्णा के जल सा मिथ्या है। जब वासना निवृत्त होती है, तब आत्मपद में स्थिति होती है। जैसे मेघ जब जल-संयुक्त होते हैं, तब गर्जते हैं और वर्षा करते हैं और जब वर्षा से रहित होते हैं तब शान्त हो जाते हैं, वैसे ही जब वासना का क्षय होता है, तब चित्त शान्त हो जाता है। जैसे शरत् काल में बादल और कुहरा निवृत्त होकर शुद्ध और निर्मल आकाश ही रहता है वैसे ही वासना के निवृत्त होने से शुद्ध और केवल चैतन्य आत्मा होकर भासित होता है। जो तुम एक मुहूर्त भी चित्त बिना स्थित हो तो तुमको आत्मपद की प्राप्ति हो। जब तक चित्त की वासना क्षय नहीं होती तब तक जीव बड़े भम्र देखता है। हे राम ! यह संसार मृगतृष्णा के जल सा असत् है और आभासमात्र फुरता है। इस पर एक आख्यान जो पहले कभी हुआ है, सो कहता हूँ , मन लगाकर

सुनो। दक्षिण दिशा में एक मन्दराचल पर्वत है। उसकी कन्दरा में महाभयानक आकार का एक वैताल रहता था और मनुष्यों को खाता था। उसके मन में विचार उपजा कि किसी नगर के जीवों का भोजन करूँ। पर वह एक समय साधु का संग भी करता था, और एक साधु को खा भी जाता था। उस साधु-संग के प्रसाद से वैताल के मन में यह आया कि मेरी कौन गति होगी ? मेरा आहार मनुष्य है और मनुष्यों को भोजन करना बड़ी हत्या है। इससे मैं एक वृत्ति बाँध लूँ कि जो मूर्ख और अज्ञानी मनुष्य हों, उनका ही भोजन करूँ और जो उत्तम पुरुष हैं उनको न खाऊँ।

हे राम ! निदान वह वैताल क्षुधातुर होने पर भी भले मनुष्यों को न खाता था। इसी प्रकार एक समय वह क्षुधा से बहुत व्याकुल हो रात्रि के समय घर से बाहर निकला तो संयोगवश उस नगर के राजा से, जो वीर यात्रा को निकला था, भेंट हो गई। वैताल ने कहा, हे राजन् ! तुम मुझे भोजन मिले हो। अब मैं तुमको खाता हूँ। तुम कहाँ जाओगे ? राजा ने कहा, हे रात्रि के विचरनेवाले वैताल ! जो तू मेरे निकट अन्याय से आवेगा तो तेरा शीश हजार टुकड़े हो जायगा और तू मरेगा। वैताल ने कहा, हे राजन् ! मैं तुझसे नहीं डरता। हे अपने हत्यारे ! मैं तुझे भोजन करूँगा; तू चाहे जैसा बली हो, मैं नहीं डरता। परन्तु मेरी एक प्रतिज्ञा है कि मैं अज्ञानी का भोजन करता हूँ और ज्ञानी को नहीं मारता। जो तू ज्ञानी है तो न मारूँगा और जो अज्ञानी है तो मारूँगा, जैसे वाजपक्षी पक्षियों को मारता है। जो तू ज्ञानी है तो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे। एक प्रश्न यह है कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड त्रसरेणु के समान है वह सूर्य कौन है ? दूसरा प्रश्न यह है कि जिस पवन में आकाशरूपी अणु उड़ते हैं, वह पवन कौन है ? तीसरा प्रश्न यह है कि जिसमें केले के वृक्ष की तरह और कुछ नहीं निकलता, वह कौन वृक्ष है ? और चौथा प्रश्न यह है कि वह पुरुष कौन है, जो स्वप्न से स्वप्न और फिर उसमें और स्वप्न देखता है और एक रहता है, परिणाम को नहीं प्राप्त होता ? इन प्रश्नों का उत्तर दे। जो

तूने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया तो तुझे खा जाऊँगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वैतालप्रश्नोक्तिना-
मैकषष्टितमस्सर्गः।। ६१।।

राजा बोला, हे वैताल ! इन प्रश्नों का उत्तर सुन। ब्रह्माण्डरूपी एक मिर्च का बीज है और उसमें सत्‌पद आत्मा चैतन्यरूपी तीक्ष्णता है। एक डाल में ऐसी मिर्चें कई सहस्त्र लगी हुई हैं और एक वृक्ष में कई सहस्त्र ऐसी डालें लगी हैं। ऐसे वृक्ष एक वन में कई सहस्त्र हैं और ऐसे कई सहस्त्र वन एक शिखर पर स्थित हैं। ऐसे कई सहस्त्र शिखर एक पर्वत पर हैं और ऐसे कई सहस्त्र पर्वत एक नगर में हैं। ऐसे कई सहस्त्र नगर एक द्वीप में हैं और ऐसे कई सहस्त्र द्वीप एक भव पृथ्वी में हैं। ऐसे कई सहस्त्र पृथ्वीभव एक अण्ड में हैं और ऐसे कई सहस्त्र अण्ड एक समुद्र में लहरें लेते हैं। ऐसे कई सहस्त्र समुद्र एक समुद्र की लहरें हैं और ऐसे कई सहस्त्र समुद्र एक पुरुष के उदर में हैं। ऐसे कई पुरुषों की एक पुरुष के गले में माला पिरोई हुई है। ऐसे कई लाखकोटि सूर्य के अणु हैं, जिस सूर्य से सब प्रकाशमान है। वह सूर्य आत्मा है, जिसमें अनन्त सृष्टि स्थित है। हे वैताल ! जैसे यह सृष्टि भासती है वैसे ही सब सृष्टियाँ जान। जो यह सृष्टि सत्य है तो सब सृष्टि सत्‌ हैं और जो यह सृष्टि स्वप्न है तो सब सृष्टियों को स्वप्न सदृश्य जानो। आत्मा ऐसा सूर्य है, जिससे भिन्न और कोई अणु नहीं और वह सदा अपने आपमें स्थित है। अब बता और क्या पूछता है ? ऐसे आत्मा में स्थित हो जो आत्मसत्तामात्रपद है; जिस सत्तामात्रपद से कालसत्ता हुई है और उसी में आकाशसत्ता हुई है। उसी सत्‌पद से सब सत्ताएँ संकल्प द्वारा उदय हुई हैं और संकल्प के लय होने पर सब लय हो जाती है।

तूने जो प्रश्न किया था कि वह कौन सूर्य है, जिससे ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु होते हैं ? वह ब्रह्मसूर्य है, जिससे भिन्न और कुछ नहीं। और केले का वृक्ष जो तूने पूछा था सो केले की तरह विश्व के भीतर-बाहर आत्मा स्थित है। जैसे केले के भीतर देखने से शून्य आकाश ही निकलता है, वैसे ही विश्व के भीतर-बाहर आत्मा से भिन्न और कुछ सार नहीं निकलता।

जो अद्वैत है, उससे भिन्न द्वैत कुछ नहीं। वह पवन ब्रह्म है, जिस पवन में ब्रह्माण्ड के समूह उड़ते हैं, और वह पुरुष स्वप्न से स्वप्न और आगे और स्वप्न देखता है और एक अपने आपमें स्थित है। चित्तकला फुरने से अनन्त ब्रह्माण्डों का भान होता है। इसी को स्वप्न कहते हैं। तो भी उससे कुछ भिन्न नहीं। एक ही रूप में वह नट की तरह रहता है और ये सब उसकी आज्ञा से अपना-अपना काम करते हैं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। उसमें मन्दराचल पर्वत भी अणु है, ऐसा स्थूल है। उसमें वाणी की गति नहीं। वह अपने आप ही में स्थित है और इन्द्रियों से अगोचर है, इससे सूक्ष्म से सूक्ष्म है और पूर्णता से स्थूल से स्थूल है। हे मूर्ख वैताल ! तू किसको खाता है और क्षुधा से क्यों व्याकुल हुआ है ? तू तो अद्वैतरूप आत्मा और आनन्दरूप है, अपने आपमें स्थित हो। जब प्रश्न का उत्तर देकर राजा ने ऐसे उपदेश किया, तब वैताल वहाँ से चला और एकान्त स्थान में स्थित हो विचार करने लगा कि ऐसे मृगतृष्णा के जलसदृश झूठे संसार से मुझे क्या प्रयोजन है ? फिर एकान्त स्थान में जाकर ध्यान लगाकर आत्मा में धारा-प्रवाह सा स्थित हुआ। धारा-प्रवाह प्रवाहक इसे कहते हैं कि आत्मा का अभ्यास दृढ़ हो, आत्मा से भिन्न कुछ न फुरे और एकरस स्थित हो। ऐसे ध्यान में स्थित होकर वैताल सत् आत्मपद को प्राप्त हुआ। हे राम ! यह राजा और वैताल का आख्यान तुमको सुनाया। उस आत्मा में ब्रह्माण्ड अणु की नाईं स्थित है, इससे निर्विकल्प आत्मा में स्थित हो और इन्द्रियों को बाहर से समेटकर स्थित करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राजा वैताल वैतालब्रह्मपदप्राप्तिर्नाम द्विषष्टितमस्सर्गः ।। ६२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मैं एक और आख्यान कहता हूँ, उसे सुनो। उससे भगीरथ राजा की मूढ़ता गई; वह स्वस्थचित्त होकर आत्मपद में स्थित हुआ; अपने आपतितप्रवाह (जो सुख-दुख आ पड़े, उसे निर्लिप्त होकर भोगना आपतितप्रवाह का अर्थ है।) में विचरा और पुरुषार्थ से स्वर्गलोक से गंगा को पृथ्वी पर ले आया। तुम भी वैसे ही

विचरो। भगीरथ के पास जो कोई याचक आता था, उसका प्रयोजन वह पूर्ण करता था। जिस पदार्थ को माँगने का संकल्प करके कोई आता तो राजा उसको पूर्ण करता था। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमणि अमृत पसीजती है वैसे ही स्वभाव का दयार्द्र वह राजा था। जो उस राजा से शत्रुभाव रखते थे, उनका वह ऐसे नाश करता था, जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है। जैसे अग्नि से अनेक चिनगारियाँ उठती हैं, वैसे ही वह शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षा करता था। आपतित प्रवाह में स्थिर रहता था-अर्थात् भले-बुरे और सुख-दुःख में एक समान रहता था। राम ने पूछा, हे भगवन् ! राजा भगीरथ के मन में क्या आई, जो गंगा को ले आये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक समय उसने अपने नगर को देखा कि लोग भले मार्ग को त्यागकर बुरे मार्ग और पापकर्म में लगे हैं और मूर्ख हो रहे हैं। तब लोगों के उपकार के निमित्त उसने तप करके ब्रह्मा, रुद्र और यज्ञ ऋषि का आराधन किया और गंगा के लाने के निमित्त मन्त्र जपने लगा। गंगा का एक प्रवाह स्वर्ग में और एक पाताल में है; राजा भगीरथ ने एक प्रवाह मर्त्यलोक में भी चलाया है। उसने गंगा को लाकर समुद्र का भी उपकार किया। समुद्र को अगस्त्य मुनि ने सुखाया था, गंगा के आने से उस समुद्र का दरिद्र (जल की कमी) भी निवृत्त हुआ। उसके मन में एक विचार आया। संसार को देखकर वह कहने लगा कि एक ही काम बारम्बार करना बड़ी मूर्खता है। मनुष्य नित वही भोगते, वही खाते और फिर वही कार्य करते हैं। जिस कर्म के करने से पीछे सुख मिले, उसके करने में कुछ दोष नहीं; ऐसे वैराग्य से उसने विचार किया कि संसार क्या है ? उस समय में राजा युवा था। जैसे मरुस्थल में कमल उपजना आश्चर्य है, वैसे ही यौवन अवस्था में ऐसा विचार उपजना आश्चर्य है।

हे राम ! जब राजा के मन में ऐसा विचार उपजा, तब वह घर से निकलकर अपने गुरु त्रितल ऋषीश्वर के निकट पहुँचा और उनसे प्रश्न किया कि हे भगवन् ! वह कौन सुख है, जिसके पाने से जरा और मृत्यु

के दुःख निवृत्त होते हैं ? ये संसार के सुख तो भीतर से खोखले हैं; इनके परिणाम में दुःख है। त्रितल ऋषि बोले, हे राजन् ! एक ही ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है, जिसके जानने से शान्तपद प्राप्त होता है। वह ज्ञेय आत्मज्ञान है। यह आत्मा न उदय होता है; न अस्त होता है; ज्यों का त्यों अपने आपमें है। हे राजन् ! यह जरा और मृत्यु तभी तक है, जब तक अज्ञान है; जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होगा तब अज्ञानरूपी अन्धकार निवृत्त हो जायगा और जीव केवल शान्तपद में स्थित होगा। आत्मानन्द सर्वज्ञ है। उसके जानने से चित्‌जड़ग्रन्थि टूट जाती है, अर्थात् अनात्म देह-इन्द्रियादिक में आत्मा का अभिमान करना निवृत्त हो जाता है। सब कर्म भी निवृत्त होते और सब संशय नष्ट हो जाते हैं। ऐसे शुद्ध स्वरूप को पाकर ज्ञानी उसी में स्थित होते हैं, जो सत्ता सर्वव्यापी, सर्वगत, नित्य स्थित और उदय-अस्त से रहित है। राजा बोले, हे भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आत्मा चिन्मात्र सत्ता है और देहादिक मिथ्या है। आत्मा सर्वज्ञ, शान्त और अच्युतरूप है, यह जानता हूँ। परन्तु मुझे शान्ति नहीं मिली, क्योंकि आत्मा चिन्मात्र मुझे नहीं भासता और स्वरूप में स्थिति भी नहीं हुई। इसलिए कृपा करके उपदेश करिये कि मैं स्थित होऊँ।

ऋषि बोले, हे राजन् ! तुमसे मैं एक ज्ञान कहता हूँ, जिसके जानने से फिर कोई दुःख न रहेगा और उससे ज्ञेय में तुमको निष्ठा होगी। तब तुम सर्वात्मारूप हो स्थित होगे और तुम्हारा जीवभाव नष्ट हो जायेगा। देह और इन्द्रियों में आत्म अभिमान न करके पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब के दुःख से अपने को दुखी न जानना; नित्य समचित्त रहकर इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में एकरस रहना; चित्त को आत्मपद में लगाकर वृत्ति को और न जाने देना, एकान्तदेश में स्थित होना और अज्ञानी का संग न करके ब्रह्मविद्या का सदा विचार करना; ये ज्ञानी के लक्षण तत्त्वज्ञान के दर्शन के निमित्त तुमसे कहे हैं-इससे विपरीत अज्ञान है। हे राजन् ! यह ज्ञेय जानने योग्य है; इसके जानने से केवल शान्तपद को प्राप्त होगे और देह का अहंकार भी निवृत्त होगा। हे राजन् ! पहले अहं होता है और फिर मम होता है; इससे तुम अहं-मम भाव

का त्याग करो। जब अहं-मम का त्याग करोगे, तब अहं प्रत्यय से आत्मपद भासित होगा। वह आत्मा सर्वज्ञ है; सब कुछ आप है; स्वतः प्रकाश और आनन्दरूप है, पर सांसारिक विषय-भोग के सुख-दुःख से रहित है।

जब ऐसे गुरुजी ने कहा, तब राजा बोला, हे भगवन् ! यह अहंकार तो चिरकाल से देह में रहता है और अभिमानी है। उसका क्योंकर त्याग करूँ ? ऋषि बोले, हे राजन् ! अहंकार पुरुष के प्रयत्न से निवृत्त होता है। पहले भोगों में द्वेष-दृष्टि करना; फिर भोगों की वासना न करना; बारम्बार अपने स्वरूप की भावना करना और विचार करना। इससे तुम्हारा जीवत्व (अहंकार) निवृत्त हो जायगा। हे राजन् ! जब तुम्हारा अहंकार निवृत्त होगा, तब तुमको सर्वत्र आत्मा ही भासित होगा और दुःख से रहित शान्तरूप का प्रकाश होगा। हे राजन् ! यह लज्जा अर्थात् संग या आसक्तिरूप फाँसी जब तक नहीं कटती, तब तक आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। अहं, मम, तृष्णा, शोक, दुःख और भला कहाने की इच्छा इत्यादि जो मोह के स्थान हैं, उन्हें लज्जा कहते है। इससे तुम अहं-मम से रहित बनो। तुम्हारे शत्रु जो राज्य लेने की इच्छा करते हैं, उनको अपना राज्य दे दो और क्षोभ से रहित होकर पुत्र, स्त्री और बान्धवों के मोह से रहित बनो। अपने शरीर में जो मोह है उससे भी रहित होकर राज्य का त्याग करके एकान्तदेश में स्थित हो और उन शत्रुओं के घर में भिक्षा माँगो, जिसमें तुम्हें श्रेष्ठ या भला कहलाने की इच्छा न रहे। अब उठो और जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपदेशो नाम
त्रिषष्टितमस्सर्गः ।। ६३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार त्रितल ऋषीश्वर ने उपदेश किया, तब राजा उठ खड़ा हुआ और घर को गया। गुरु का उपदेश हृदय में रखकर, अपने राज्य में रहकर राज्य करने लगा और मन में तत्त्व-विचार भी करता रहा। जब कुछ काल बीता, तब राजा ने अग्निष्टोम यज्ञ का आरम्भ किया। धन का त्याग करने को अग्निष्टोम

यज्ञ कहते हैं। तीन दिन में धन का त्यागकर हाथी, घोड़े, रथ, भूषण, वस्त्र इत्यादिक जो ऐश्वर्य था सो लोगों को दे दिया। ब्राह्मण, अर्थी, पुत्र, स्त्री और शत्रुओं को जब पृथ्वी का राज्य दे दिया तो शत्रुओं ने जाना कि अब राजा भगीरथ में कुछ पराक्रम नहीं रहा। तब उन्होंने आकर उनका देश घेर लिया, हवेली पर चढ़ आये और राजा के सब स्थान रोक लिये। राजा के पास केवल धोती-अँगौछा रह गया। तब राजा वहाँ से निकलकर वनों में विचरने लगा और शान्तपद आत्मा में स्थित हुआ।

जब कुछ काल बीता तो भगीरथ फिर अपने देश में आया और अपने शत्रुओं के घर में भिक्षा माँगने लगा। तब शत्रुओं और दूसरे लोगों ने उसकी बहुत पूजा की और कहा, हे भगवन् ! तुम अपना राज्य लो। पर उसने राज्य न लिया। जैसे पृथ्वी पर पड़े तृण को तुच्छ समझकर कोई नहीं ग्रहण करता वैसे ही उसने राज्य नहीं ग्रहण किया। कुछ काल वहाँ रहकर त्रितल ऋषि के पास, जो उसका गुरु था, इच्छारहित होकर गया। गुरु ने आत्मदृष्टि से उसे ग्रहण किया। शिष्य ने भी गुरु को आत्मदृष्टि से ग्रहण किया। गुरु और शिष्य की भावना से रहित हो वे दोनों कुछ काल तक एक स्थान में रहे और फिर वन में इकट्ठे विचरने लगे। वे शान्त और आत्मपद में स्थित रहकर रागद्वेष से रहित केवल एकरस स्थित रहे। उनको न देह त्यागने की इच्छा थी, न देह रखने की। केवल स्वयं प्राप्त अनिच्छित प्रारब्ध में स्थित रहते थे। इतने में स्वर्गलोक के सिद्धों ने आकर उनकी पूजा की और बड़े ऐश्वर्य के पदार्थ चढ़ाये। बहुत सी अप्सराएँ आईं और जितने ऐश्वर्य के भोग पदार्थ थे, वे आये। पर उनको उन्होंने तुच्छ जाना; क्योंकि वे आत्मसुख से तृप्त और केवल आकाश-सदृश निर्मल शुद्ध थे अर्थात् प्रकाशरूप, समचित्, कलङ्कतारूपी मल से रहित थे। हे राम ! जैसे राजा भगीरथ स्थित हुए हैं, वैसे ही तुम भी स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनन्नाम

चतुःषष्टितमस्सर्गः ।। ६४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब कुछ काल बीता तो भगीरथ वहाँ से चला और एक देश में पहुँचा, जहाँ का राजा मर गया था और उसकी राजलक्ष्मी राजा को चाहती थी। राजा भगीरथ भिक्षा माँगता फिरता वहाँ पहुँचा। उस राजा के मंत्री ने भगीरथ को देखा कि जो कुछ गुण और लक्षण राजा में होने चाहिए, वे इसमें हैं। इसलिए वह राजा भगीरथ से बोला, हे भगवन् ! आप इस राज्य को अंगीकार कीजिये; क्योंकि आपको यह बिना चाहे प्राप्त हुआ है। निदान राजा ने उस राज्य को ग्रहण किया और उसे न भला जाना, न बुरा। फिर राजा हाथी पर सवार हो सेना सहित सुशोभित हुआ। देश और सब स्थान सेना से पूर्ण हुए। जैसे मेघ से सरोवर पूर्ण होते हैं, वैसे ही वह देश और स्थान सेना से पूर्ण हो गये। नगाड़े और साज बजने लगे। तब राजा राजभवन में गया और महल की सब स्त्रियाँ आईं। इतने में जहाँ का राज्य भगीरथ ने पहले किया था, उस देश से मन्त्री और प्रजा जन आये। उन्होंने भगीरथ से कहा, हे भगवन्! जिन शत्रुओं को तुमने राज्य दिया था, उनको मृत्यु ने भोजन कर लिया है। जैसे मछली मल मांस को खा लेती है, वैसे ही उनको मृत्यु ने भोजन कर लिया है। इससे अब चलकर तुम राज्य करो। यद्यपि इच्छा तुमको नहीं है, पर तो भी राज्य करो, क्योंकि जो वस्तु अनिच्छित प्राप्त हो उसका त्याग करना श्रेष्ठ नहीं।

इतना सुन राजा ने उस राज्य को भी अंगीकार किया और राज्य करने लगा। फिर राजा ने पिछला वृत्तान्त स्मरण कर कि मेरे पितर कपिल मुनि के शाप से भस्म हो कूप में पड़े हैं, यह विचार किया कि मैं उनका उद्धार करूँ; इसलिए अपने मंत्री को राज्य देकर वह अकेला वन को चला और इच्छा की कि तप करूँ। निदान एक स्थान में स्थित होकर तप करने लगा। गंगा को पृथ्वी पर लाने के निमित्त उसने ब्रह्मा, रुद्र और जगत् ऋषि का सहस्त्र वर्ष पर्यन्त आराधन किया। तब गंगा, जो विष्णु भगवान् के चरणों से प्रकट हुई हैं, मध्य मण्डल में आईं। जब राजा पितरों के उद्धार के निमित्त गंगा के प्रवाह को ले आया, तब फिर

समुचित और शान्तपद में स्थित होकर विचरने लगा। उसमें क्षोभ, भय और इच्छा न थी। वह केवल शान्त आत्मपद में स्थित हुआ। जैसे पवन से रहित समुद्र स्थिर होता है, वैसे ही संकल्प-विकल्प से रहित होकर वह राजा स्थिर हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपाख्यानसमाप्तिर्नाम पञ्चषष्टितमस्सर्गः ।। ६५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जो भगीरथ की दृष्टि तुमसे कही है उसका आश्रय करके विचरो। यह दृष्टि सब दुःखों का नाश करती है। एक और ऐसा ही प्राचीन आख्यान है। ऐसे ही एक शिखरध्वज राजा हुआ था। इतना सुन राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह शिखरध्वज कौन था और उसका आचरण कैसा था, सो कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सात मन्वन्तरों के बीतने के उपरान्त द्वापरयुग की चौथी चौकड़ी में राजा शिखरध्वज हुआ है और आगे फिर भी होगा। वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का तिलक, महाशूरवीर और सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सम्पन्न था, परन्तु उसमें बँधा हुआ या लिप्त न था। वह बड़े भोग भोगता था; बड़े ओज से सम्पन्न, उदार और धैर्यवान् था। किसी के साथ अन्याय न करता था। समचित्त, शान्तपद में स्थित और सम्पूर्ण दुःखों से रहित था। याचक की सब प्रार्थना पूर्ण करता था। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ऐसा ज्ञानवान् राजा फिर क्यों जन्म पावेगा ? ज्ञानी तो फिर जन्म नहीं पाता ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे एक समुद्र में कई समान तरंग उठते हैं, कई अर्द्धसम और कई विलक्षण भाव से उठते हैं, वैसे ही आत्मसमुद्र में कई आकार एक से कई अर्द्ध और कई विलक्षण भाव से उठते हैं, जो समान होते हैं, उनकी चेष्टा और आकार एक से दृष्टि आते हैं। इसी प्रकार शिखरध्वज की ऐसी ही उत्पत्ति होगी।

हे राम ! जब इस सर्ग में सात मन्वन्तर और चार चौकड़ी द्वापर युग की बीत जायँगी, तब जम्बूद्वीप के मालव देश में एक श्रीमान् शिखर-ध्वज राजा होगा। परन्तु वह आगे होनेवाला उस सा शिखरध्वज दूसरा

होगा, वह न होगा। प्रथम शिखरध्वज जब षोड़श वर्ष का राजकुमार था, तब एक समय शिकार को निकला। वसन्त ऋतु का समय था, राजा अपने बाग में जा ठहरा, जहाँ फूलों के विचित्र कुंजभवन बने हुए थे। कमलिनियाँ मानों स्त्रियाँ और धूलि के कण उनके भूषण थे। उनके समीप पुष्पवृक्ष लगे थे। इसी प्रकार भँवरी और भँवरों की सुन्दर लीला देख राजा को विचार उपजा कि मुझे स्त्री प्राप्त हो तो मैं भी केलि करूँ। निदान उसे अधिक चिन्तना हुई कि कब मुझे स्त्री मिलेगी और कब उसके साथ फूल की शय्या पर शयन करूँगा। जब राजा इस प्रकार भोग का चिन्तन करने लगा, तब मन्त्रियों ने, जो त्रिकाल ज्ञान रखते थे और राजा के शरीर की अवस्था जानते थे, जाना कि हमारे राजा का मन स्त्री पर है, इससे अब राजा का विवाह करना चाहिए निदान एक राजा की कन्या जो बहुत सुन्दरी थी और वर चाहती थी, उससे राजा शिखरध्वज का विवाह शास्त्र की विधि से किया गया और राजा बहुत प्रसन्न होकर अपने घर आया।

उस स्त्री का नाम चुड़ाला था। वह बहुत सुन्दरी थी। उससे राजा की बहुत प्रीति हुई और उस स्त्री का भी राजा से बहुत स्नेह हुआ। जो कुछ राजा मन में चाहता, वह रानी पहिले ही पूरा कर देती थी। उनकी परस्पर प्रीति ऐसी बढ़ी, जैसे भँवरे और भँवरी में होती है। एक समय राजा मन्त्रियों को राज्य का भार सौंपकर वन को गया और वहाँ नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए दोनों ऐसे विचरते रहे, जैसे सदाशिव और पार्वती या विष्णु और लक्ष्मी विचरें। इसके पश्चात् राजा योगकला सीखने लगे। इधर रानी राजा को भोगकला सिखाती थी। इसी प्रकार वे दोनों सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत हुए। चुड़ाला की बुद्धि राजा की बुद्धि से तीक्ष्ण थी। वह शीघ्र ही सब बातें जान लेती और राजा को सिखाती थी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वज चुड़ालोपाख्यानं नाम षट्षष्टितमस्सर्गः ।। ६६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसी प्रकार जब राजा और रानी ने अनंत भोग भोगे तो जैसे कुम्भ में छिद्र होने से शनैः शनैः जल निकलता है, वैसे ही शनैः शनैः उनके यौवन के दिन निकल गये। जब वृद्धावस्था आई, तब राजा और रानी को वैराग्य उत्पन्न हुआ। वैराग्य से वे यह विचारने लगे कि यह संसार मिथ्या और विनाशी है, एक सा नहीं रहता और ये भोग भी मिथ्या हैं। इतने काल तक हम इन्हें भोगते रहे, पर तृष्णा पूर्ण न हुई—बढ़ती ही गई। हे राम ! इस प्रकार राजा और रानी वैराग्य से विचारते रहे कि ये भोग मिथ्या हैं और हमारी यौवन अवस्था भी व्यतीत हो गई है। जैसे बिजली का चमत्कार क्षणमात्र होकर बीत जाता है, वैसे ही उनकी यौवन अवस्था व्यतीत हो गई और मृत्यु निकट आई है। जैसे नदी का वेग नीचे चला जाता है, वैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है और जैसे हाथ पर जल डालने से बह जाता है, वैसे ही यौवन अवस्था निवृत्त हो जाती है। जैसे जल में तरंग और बुलबुले उपजकर लीन हो जाते हैं, वैसे ही यह शरीर क्षणभंगुर है। जहाँ चित्त जाता है, वहाँ दुःख भी इसके साथ जाते हैं—निवृत्त नहीं होते। जैसे मांस के टुकड़े के पीछे चील दौड़ती है, वैसे ही जहाँ अज्ञान है, वहीं दुःख भी पीछे जाते हैं। यह शरीर भी नष्ट हो जायगा। जैसे पका हुआ आम का फल वृक्ष के साथ नहीं रहता, गिर पड़ता है, तैसे ही शरीर भी नष्ट हो जाता है। जो शरीर अवश्य गिरता है उसका क्या आसरा करना है। जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिर पड़ता है, वैसे ही यह शरीर गिर पड़ता है। इससे हम ऐसा कुछ करें कि संसाररूपी रोग निवृत्त हो। यह संसाररूपीरोग ब्रह्मविद्या की औषधि से निवृत्त होता है; ब्रह्मविद्या से ज्ञान उपजता है और आत्मज्ञान से सब दुःख निवृत्त हो जाते हैं। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं। इसलिए आत्मज्ञान के निमित्त हम सन्तों के पास जायँ।

ऐसा विचार करके राजा और चुड़ाला आत्मज्ञानियों के पास चले। वे आत्मज्ञान की बातें करते थे और आत्मज्ञान में ही चित्तभावना कर

आपस में उसी का विचार और चर्चा करते थे। निदान वे ऐसे सन्तों के पास पहुँचे, जो संसारसमुद्र से तारनेवाले और आत्मज्ञानी थे उनकी पूजा करके उन्होंने उनसे प्रश्न किया। राजा और रानी उनसे ब्रह्मविद्या सुनने लगे कि आत्मा शुद्ध, आनन्दरूप, चैतन्य और एक है, जिसके पाने से दुःख निवृत्त हो जाते हैं। हे राम ! तब रानी चुड़ाला तत्त्व विचार में लग गई। वह राजा की कोई सेवा टहल करती तब भी उसके चित्त की वृत्ति विचार ही में रहती थी। वह यह विचारती कि मैं क्या हूँ ? यह संसार क्या है और संसार की उत्पत्ति किससे है ? ऐसे विचार कर वह जानने लगी कि यह शरीर पञ्चतत्त्व का है अतएव मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर जड़ है और कर्म इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। जैसे शरीर है, वैसे ही शरीर के अंग भी हैं। ये चेष्टा ज्ञान-इन्द्रियों से करते हैं। ज्ञान-इन्द्रियाँ भी मैं नहीं, क्योंकि ये भी जड़ हैं, स्वयं कुछ नहीं कर सकतीं। मन से इन्द्रियों की चेष्टा होती है, सो मन भी जड़ है; इसमें संकल्प-विकल्प बुद्धि से होता है। बुद्धि भी जड़ है; क्योंकि उसमें निश्चय की चेतना अहंकार से होती है। और अहंकार भी जड़ है, क्योंकि उसमें अहं की चेतना से होती है। वह चेतनता जीव से होती है। वह जीव भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि जीवत्व स्फुरणरूप है और मेरा स्वरूप वासनाहीन, सदा उदय रूप और सन्मात्र है। मेरा बड़ा सौभाग्य है और कल्याण होनेवाला है, इसी से चिरकाल के उपरान्त मैंने अपना स्वरूप पाया है, जो अविनाशी, अनन्त और आत्मा है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही मैं निर्मल विगतज्वर, राग-द्वेषरूपी ताप रहित, चिन्मात्र और अहं-त्वं से रहित हूँ। मुझमें कोई वासना नहीं; इसी से शान्तरूप हूँ। जैसे क्षीरसमुद्र मन्दराचल के हटने से शान्तरूप है, वैसे ही मैं चित्त से रहित, निश्चल और अद्वैत हूँ। कभी मेरा स्वरूप परिणाम या विकार को नहीं प्राप्त होता। ऐसा जो चिन्मात्रपद है, उसको ब्रह्म-ज्ञानियों ने ब्रह्म, परमात्मा और चैतन्य संज्ञा दी है। यह आत्मा ही मन, बुद्धि आदिक दृश्य और संसाररूप होकर फैला है। यह स्वरूप से अच्युत है। चित्त के चेतने से इसमें नाना आकार

भासित होते हैं, पर वे सब रूप आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे बड़े पर्वत के जो पत्थर और बट्टे होते हैं, वे पर्वत से भिन्न नहीं होते, वैसे ही यह दृश्य आत्मा से भिन्न नहीं है। ये आकार ऐसे हैं जैसे गन्धर्वनगर नाना आकार का हो भासित होता है, पर ज्ञानवान् को एकरस है और अज्ञानी को भेद-भावना है। जैसे बालक मृत्तिका के खिलौने हाथी, घोड़ा, राजा, प्रजा आदि बनाता है, और जिसको मृत्तिका का ज्ञान है उसको मृत्तिका ही वे सब भासित होते हैं, भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता, वैसे ही अज्ञान से नानारूप भासित होते हैं। अब मैंने जाना है कि मैं एकरस हूँ।

हे राम ! इस प्रकार चुड़ाला अपने को जानने लगी कि मैं सन्मात्र, अच्छेद्य, अदाह्य, स्वच्छ, अक्षर और निर्मल हूँ। मुझमें 'अहं' 'त्वं' 'एक' और 'द्वैत' शब्द कोई नहीं, और जन्म, मरण भी नहीं, यह संसार चित्त से भासित होता है, वास्तव में आत्मस्वरूप है। देवता, यक्ष, राक्षस, स्थावर, जंगम आदि सब आत्मरूप हैं। जैसे तरंग और बुलबुले समुद्र से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से कोई वस्तु भिन्न नहीं। दृश्य, द्रष्टा, दर्शन ये भी आत्मा की सत्ता से चेतन हैं; इसकी अपने आपसे सत्ता नहीं है। मुझमें अहं का उत्थान कदापि नहीं होगा, क्योंकि मैं अपने आपमें स्थित हूँ। अब इसी पद का आश्रय करके चिरकाल इस संसार में विचरूँगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चुड़ालाप्रबोधो नाम
सप्तषष्टितमस्सर्गः ।। ६७।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! फिर चुड़ाला, जिसकी तृष्णा निवृत्त हो गई थी और जो दुःख, भय और भोगवासना से निवृत्त होकर केवल शान्तपद को पाकर शोभित हुई थी, पाने योग्य पद पाकर जानने लगी कि इतने काल तक मैं अपने स्वरूप से गिरी थी; अब मुझे शान्ति मिली है और सब दुःख मिट गये हैं। अब मुझे कुछ ग्रहण और त्याग नहीं करना है अब मैं अपने आत्मस्वभाव में स्थित हुई हूँ निदान एकान्त में बैठ उसने समाधि लगाई जैसे वृद्ध गऊ पर्वत की कन्दरा पाकर तृण और घास से बहुत

प्रसन्न होती है वैसे ही अपने आनन्दरूप को पाकर चुड़ाला उसी में अवस्थित हुई। हे राम ! वह ऐसे आनन्द को प्राप्त हुई, जिसको वाणी से नहीं कह सकते। तब रानी को देखकर राजा शिखरध्वज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला-हे अंगने ! अब तुम फिर यौवन अवस्था को प्राप्त हुई हो और तुमको कोई बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है। शायद तुमने अमृत का सार पान किया है, इससे अमर हुई हो। या किसी योगीश्वर से तुमने इस कला को प्राप्त किया है; अथवा त्रिलोकी का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। क्या बात है ? हे अंगने ! तुम्हें कौन वस्तु मिली है ? तुम्हारे चित्त की वृत्ति से ऐसा जान पड़ता है कि तुमने अमृत का सार पान किया है व त्रिलोकी के राज्य से भी कोई अधिक पदार्थ पाया है। तुम तो किसी ऐसे बड़े आनन्द को प्राप्त हुई हो, जिसका आदि-अन्त नहीं है। अब तुममें भोगवासना भी नहीं दीखती, शान्तरूप हो गई हो। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही तुममें निर्मलता दीखती है। और तुम्हारे श्वेत केश भी बड़े सुन्दर लगते हैं इसलिए बताओ, तुम्हें कौन सी वस्तु प्राप्त हुई है।

चुड़ाला बोली, हे राजन् ! यह जो कुछ दीखता है सो किंचन है। इससे रहित जो निष्किंचनपद है, उसको पाकर मैं श्रीमान् हुई हूँ। जिसका आकार निष्किंचन है और जिसमें दूसरे का अभाव है उसी को पाकर मैं श्रीमान् हुई हूँ। और जो कुछ भोग हैं, उनसे रहित होकर अभोग भोग भोगकर उस भोग से तप्त हुई हूँ। अर्थात् मैंने आत्मज्ञान और आत्मा में विश्राम पाया है, जिससे सदा शान्तरूप और श्रीमान् हूँ। हे राजन् ! जितने ये राजभोग्य सुख हैं, उनको त्यागकर मैं परमसुख को भोगती हूँ और राग-द्वेष से रहित होकर मैं ऐसी बनी हूँ कि 'अस्त' भी हूँ और 'नास्ति' भी हूँ। जो कुछ नेत्रों से दिखता है, इन्द्रियों से जाना जाता है और मन से चिन्तन होता है, वह सब स्वप्न सा मिथ्या है। मैं वहाँ स्थित हुई हूँ, जहाँ इन्द्रिय और मन की गति नहीं और अहंकार का उत्थान नहीं, उस पद को मैंने पाया है, जो सबका आधार,

सबकी आत्मा और सर्व अमृत है, उसका सार अमृत मैंने पान किया है। इससे मेरा कदापि नाश नहीं और कदापि मुझे कोई भय भी नहीं है। हे राम ! जब इस प्रकार रानी ने कहा तो राजा शिखरध्वज उसके वचन न समझा और हँसकर बोला, हे मूर्ख स्त्री ! यह तू क्या कहती है ? प्रत्यक्ष वस्तु को झूठ बताती है और कहती है कि मैं नहीं देखती। और असत् वस्तु , जो नहीं दीखती, उसको सत्य कहती है और कहती हैं कि मैं दीखती हूँ। ये वचन तेरे कौन मानेगा ? इन वचनोंवाला शोभा नहीं पाता। तू जो कहती है कि मैं ऐश्वर्य को त्याग कर श्रीमान् हुई हूँ , सो निष्किञ्चन को पाकर इन वचनोंवाला शोभा नहीं पाता। तू कभी कहती है कि इन भोगों को मैंने त्याग दिया है और इनसे रहित जो अभोग हैं, उनको भोगती हूँ, कभी कहती है कि मैं कुछ नहीं; फिर कहती है, मैं ईश्वर हूँ ; इससे महामूर्खा देख पड़ती है। जो इसी में तेरा चित्त प्रसन्न है, तो ऐसे ही विचर; परन्तु यह बात सुनकर इसे कोई सत्य न मानेगा और तुझे यह शोभा भी नहीं देता।

हे राम ! ऐसे कहकर राजा उठ खड़ा हुआ और मध्याह्न का समय हो जाने से स्नान के निमित्त गया। रानी के मन में बहुत शोक हुआ। उसने विचार किया कि यह बड़े कष्ट की बात है, जो राजा ने आत्मपद में स्थित न पाई और मेरे वचनों को न जाना। यही मन में सोचकर वह अपने आचार में लगी और फिर अपना निश्चय राजा को न बताया। जैसे अज्ञान-काल में चेष्टा करती थी, वैसे ही अब ज्ञान पाकर भी करने लगी। एक समय रानी के मन में आया कि प्राणों को ऊपर चढ़ाऊँ और ऊर्ध्व को लाकर उदान और अपान को वश में करूँ, जिससे आकाश और पाताल दोनों स्थानों में जाऊँ। ऐसे सोचकर रानी योग में स्थित हुई और प्राणायाम करने लगी। इतना सुनकर राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह संसार संकल्प से उत्पन्न हुआ है। स्थावर-जंगमरूप संसार वृक्ष है और संकल्प इसका बीज। वह कौन प्राणायाम पवन है, जिससे आकाश को उड़ते हैं और फिर नीचे आते हैं ? अज्ञानी पुरुष भी उसे यत्न करके कैसे सिद्ध

करते हैं और ज्ञानवान् कैसे लीला करके विचरते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तीन प्रकार की सिद्धि होती हैं-एक तो उपादेय सिद्धि है कि यह वस्तु मुझे मिले। इसके निमित्त अज्ञानी यत्न करते हैं। दूसरी सिद्धि यह है कि यह दुःख मेरा निवृत्त हो और मैं सुखी हो जाऊँ। यह चिन्ता महा अज्ञानी की रहती है और तीसरी सिद्धि यह है कि जो मैं कर्म करता हूँ, उसका फल मुझे मिले। यह विचार करनेवाला भी अज्ञानी है; क्योंकि वह अपने को कर्त्ता मानता है। ज्ञानवान् इनको नाँघकर बरतता है। वह अगर कभी इनमें बरतता भी है, तो उसको यह निश्चय रहता है कि न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ। योग करके लोग इस प्रकार सिद्ध होते हैं कि देश, काल, वस्तु और क्रिया उनके अधीन हो जाती हैं। मुख में गुटका रखके जहाँ चाहे उसी स्थान में पहुँच जाना, नेत्रों में अंजन डाल के जिसको देखा चाहे उसको देख लेना और खंग हाथ में धारण करके संपूर्ण पृथ्वी को वश में कर लेना-यह क्रिया पदार्थ है। और देश यह है कि जो सब पर्वत हैं, उनमें कितने ही पीठ हैं, जो बड़े उत्तम हैं।

जिस प्रकार ये सिद्ध होते हैं सो भी सुनो। नाभि के तले आधार-चक्र में एक कुण्डलिनी शक्ति है। सर्पिणी की नाईं उसमें कुण्डल है और वह कुण्डल मार बैठी है। वासना ही उसका विष है। जितनी नाड़ी हैं, उन सबकी यह समष्टि है। उस कुण्डलिनी में जब मनन होता है, तब मन प्रकट होता है। यह निश्चय होता है तब बुद्धि प्रकट होती है। जब अहंभाव होता है, तब अहंकार प्रकट होता है। जब स्मरण होता है, तब चित्त प्रकट होता है और जब उसमें स्पर्श की इच्छा होती है तब पवन प्रकट होता है। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्राएँ और चारों अन्तःकरण प्रकट होते हैं। जितनी नाड़ी हैं, वे सब कुण्डलिनी से प्रकट होती हैं और आत्मा का प्रकट होना भी उससे जाना जाता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! उससे आत्मा का प्रकट होना कैसे जाना जाता है ? आत्मा तो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है और सब देश, सब काल और सब वस्तुओं से पूर्ण है। वशिष्ठजी बोले, हे राम!

जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में और धूप में सब जगह दीखता है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता सर्वत्र समान है और प्रकट सात्त्विकगुण में दीखती है। जो कुछ नाड़ियाँ और इन्द्रियाँ हैं, वे कुण्डलिनी शक्ति से उदय होती हैं। जब यह जीव कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होकर पवन को स्थिर करता है, तब जो कुछ भीतर प्राणवायु हैं, वे सब इसके वश होते हैं। जैसे सब सेना राजा के वश होती है, उसी प्रकार सब इन्द्रियाँ प्राण के वश होती हैं। जो प्राणवायु वश नहीं होता तो आधि-व्याधि रोग उपजते हैं।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! आधि-व्याधि कैसे होती है, सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मन की पीड़ा का नाम आधि है और देह के दुःख को व्याधि कहते हैं। आधि तब होती है, जब संकल्प होता है कि यह सुख मुझे मिले। पर यदि वह वस्तु नहीं प्राप्त होती, तब चिन्ता करके मनुष्य दुःख पाता है। और व्याधि तब होती है, जब वात, पित्त, कफ का विकार शरीर में होता है और उससे मनुष्य दुःख पाता है। जब मन और शरीर का दुःख इकट्ठा होता है, तब आधि, व्याधि, दुःख इकट्ठे होते हैं; और जब भिन्न-भिन्न होते हैं, तब दुःख भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ज्ञानवान् को न आधि होती है, न व्याधि। यह योग की कला मैंने विस्तार से नहीं कही; क्योंकि पूर्व के ज्ञानक्रम का प्रसंग रह जायगा। जितनी कला है, उन सबको मैं जानता हूँ ; परन्तु यह कला ज्ञान-मार्ग को रोकनवाली है। वासना चार प्रकार की हैं, सो सुनो। एक वासना सुषुप्ति है, दूसरी स्वप्न, तीसरी जाग्रत् और चौथी क्षीण। स्थावर योनि को सुषुप्ति वासना है, सो आगे चेतेगी। तिर्यकयोनि की स्वप्न वासना है, उनको वासना का ज्ञान भी नहीं। जगंम अर्थात् मनुष्य, देवता आदि को जाग्रत् वासना है। वे वासना ही में लगे हैं। ये तीन वासना तो अज्ञानी की हैं। और क्षीण वासना ज्ञानी की है अर्थात् उसको वासना की सत्यता नष्ट हो जाती है। जब इस प्रकार वासना निवृत्त होती है तब आगे संसार भी नहीं रहता। जब कुण्डलिनी शक्ति से वासना उठती है, तब पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा संसार का भान होता है। संसाररूपी वृक्ष का बीज वासना ही है। दसों

दिशाएँ उस वृक्ष के पत्ते हैं, शुभ-अशुभ कर्म उसके फूल हैं और स्थावरजंगम फल हैं। जैसी-जैसी वासना पुर्यष्टक से मिलकर जीव करता है, वैसा ही आगे फल होता है।

हे राम ! इससे वासना का त्याग करो। वासना ही संसाररूपी वृक्ष का बीज है और निर्वासनिक होना ही पुरुष प्रयत्न है। तब विश्व कदापि न भासित होगा। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकाररूपी रात्रि नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर संसाररूपी अन्धकार निवृत्त हो जाता है। हे राम ! आधि-व्याधि बड़े रोग हैं। वे मन से होते हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आधिरोग तो मन से होता है, पर व्याधि तो शरीर का रोग है; वह मन से कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! व्याधि दो प्रकार की है। एक लघु और दूसरी दीर्घ। जो शरीर को कोई दुःख प्राप्त हो, उसे लघु कहते हैं। वह स्नान और जप से निवृत्त हो जाती है। दीर्घव्याधि जन्म-मरण के रोग को कहते हैं। वे बड़े रोग हैं और मन के शान्त हुए बिना निवृत्त नहीं होते । इसी से आधि-व्याधि दोनों मन से होते हैं। फिर राम ने पूछा, हे भगवन् ! व्याधि मन से कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब चित्त शान्त होता है, तब कोई रोग नहीं रहता। जब तक चित्त शान्त नहीं होता, तब तक आधि-व्याधि होती है। जो कुछ अन्न बाहर अग्नि से परिपक्व होता है, उसको जब मनुष्य भोजन करते हैं तब भीतर जो कुण्डलिनी पुर्यष्टका से मिली हुई है, वह उदान पवन को ऊर्ध्वमुख हो उठाती है और अपान पवन उसे नीचे को उठाता है। उदान और अपान का आपस में विरोध है-उनके क्षोभ से अग्नि उठती है और हृदयकमल में स्थित होती है। तब बाहर अग्नि का पका भोजन हृदय की अग्नि से फिर पकता है और सब नाड़ियाँ अपने-अपने भाग रस को ले जाती हैं। वीर्यवाली नाड़ी वीर्य को और रुधिरवाली नाड़ी रुधिर को रखती है। पर जब राग और द्वेष से चित्त कुण्डलिनी शक्ति में क्षोभ को प्राप्त होता है, तब नाड़ी अपने-अपने स्थानों को छोड़ देती हैं और अन्न भी भीतर पक्व नहीं होता। तब उस कच्चे रस से रोग उठता है। जैसे राजा

को क्षोभ होता है तो सेना को भी क्षोभ होता है और जब राजा को शान्ति होती है तब सेना को भी शान्ति होती है, वैसे ही जब मन में क्षोभ होता है, तब रोग होता है और जब मन में शान्ति होती है, तब नाड़ी अपने-अपने स्थानों में स्थित होती हैं—कोई रोग नहीं होता। इससे हे राम! आधि-व्याधि रोग तब होते हैं जब मनुष्य का चित्त निर्वासनिक नहीं होता, पर जब चित्त शान्त होता है, तब रोग कोई नहीं रहता। इससे निर्वासनिक पद में स्थित हो।

राम ने पूछा, हे भगवन्! पीछे आपने कहा है कि मन्त्रों से भी रोग निवृत्त होता है, सो कैसे निवृत्त होता है ? वशिष्ठजी ने कहा, हे राम ! प्रथम मनुष्य को श्रद्धा होती है कि इस मन्त्र से रोग निवृत्त होगा, तब पुण्यक्रिया, दान, सन्तजनों की संगति और य, र, ल, व आदिक जो अक्षर हैं इनका जप करके (क्योंकि जितने कुछ जप और मन्त्र हैं सो इन अक्षरों से सिद्ध होते हैं) व्याधिरोग निवृत्त हो जाता है। योगीश्वरों का क्रम अणु और स्थूल है सो भी सुनो। जब ये प्राण और अपान कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होते हैं तो इनको वश करके योगी गम्भीर होता है। जैसे मशक में पवन होता है इसी प्रकार पवन को स्थित करके कुण्डलिनी सुषुम्णा में प्रवेश करती है और ब्रह्मरन्ध्र में जा स्थित होती है। एक मुहूर्त पर्यन्त वहाँ स्थित हो तो मनुष्य आकाश में सिद्धियाँ देखता है। जिस प्रकार इसका क्रम है, वह भी तुमसे कहता हूँ। हे राम ! सुषुम्णा के भीतर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें जब पूरक द्वारा कुण्डलिनी शक्ति स्थित होती है, अथवा रेचक प्राण वायु के प्रयोग से द्वादश अंगुल पर्यन्त मुख से बाहर अथवा भीतर या ऊपर एक मुहूर्त तक एक ही बार स्थित है, तब आकाश में सिद्धों का दर्शन होता है।

राम ने पूछा, हे ब्रह्मन् ! जब ब्रह्मरन्ध्र में जीव-कला जाकर स्थित होती है, तो कैसे दर्शन होता है ? दर्शन तो नेत्रों से होता है, सो नेत्र आदि इन्द्रियाँ कोई नहीं होतीं; नेत्रों के बिना दर्शन कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहु राम ! पृथ्वी में विचरनेवालों को आकाश में विचरनेवालों

का दर्शन नहीं होता, परन्तु दिव्यदृष्टि से होता है—चर्मदृष्टि से वे नहीं देख पड़ते। विज्ञान के निकट जो निर्मल बुद्धिनेत्र होते हैं, उनसे दर्शन होता है। जैसे स्वप्न में चर्मनेत्रों के बिना भी सब पदार्थ देख पड़ते हैं, वैसे ही सिद्धों का दर्शन होता है। परन्तु इतनी विशेषता है कि स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में नहीं भासित होते और न उनसे कुछ अर्थ सिद्ध होता है, पर सिद्धों के समागम की चेष्टा जाग्रत् में भी स्थित प्रतीत होती है। मुख के बाहर जो द्वादश अंगुल पर्यन्त अपान का स्थान है, उसमें रेचक प्राणायाम का अभ्यास होता है, और जब बहुत देर तक वहाँ प्राण वायु स्थिर होता है, तब और पुरियों और दिशाओं के स्थानों में प्राप्त हो सकता है। राम ने पूछा, हे ब्रह्मन् ! जो पदार्थ चंचल हैं, वे क्योंकर स्थिर होते हैं ? वक्ता गुरुकृपा करके उत्तर देते हैं। वे तर्कपूर्ण दुष्ट प्रश्नों से भी नहीं ऊबते, न खेद को प्राप्त होते हैं।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसी जो वस्तु है, वैसी उसकी शक्ति स्वाभाविक होती है। आदि जगत् के प्रकट होने से जैसी नीति हुई है, वैसा ही अब तक आत्मा में स्वभाव शक्ति का स्फुरण होता है। यह जो अविद्या है, सो अवस्तुरूप है, और जो कहीं वस्तुरूप होकर भी भासित होता है, सो ऐसे हैं, जैसे वसन्त ऋतु में शरत्काल के फूल देख पड़ते हैं और वसन्त ऋतु के शरत्काल में भी। यह भी एक नीति है कि इससे इस द्रव्य की शक्ति ऐसी हो जाय। परन्तु स्वरूप से सब ब्रह्मरूप है; द्वैत या नानात्व कुछ नहीं। केवल ब्रह्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है। व्यवहार के निमित्त नानात्व की कल्पना हुई। वास्तव में द्वैत कुछ नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! सूक्ष्मरन्ध्र से स्थूलरूप वायु कैसे निकल जाती है और अणु सूक्ष्मरूप होकर फिर स्थूलभाव को कैसे प्राप्त होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे आरे से कटे काष्ठ के दो टुकड़ों को जोर से घिसिये तो उनसे स्वाभाविक अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही मांसमय जो कमल उदर में है, उसके मध्य हृदय-कमल है और उसमें सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति है। उस कमल के भीतर दो कमल हैं, एक अधः और

दूसरा ऊर्ध्व। अधः में चन्द्रमा की स्थिति है और ऊर्ध्व में सूर्य की स्थिति है। उनके मध्य में कुण्डलिनी लक्ष्मी स्थित है। जैसे पद्मराग मणि का संपुट हो या मोतियों का भण्डार हो, वैसे ही उसका महाउज्ज्वलरूप है। जैसे आवर्त में फेन के मिलने से शलशल शब्द प्रकट होता है, वैसे ही उससे शब्द निकलता है, और जैसे डण्डे के साथ हिलाने से सर्पिणी शब्द करती है, वैसे ही उस कुण्डलिनी से प्रणव शब्द का उदय होता है। हे राम ! आकाश और पृथ्वी जो ऊर्ध्व और अधःरूप दो कमल हैं, उनके मध्य में स्पन्दनरूपिणी कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। वह जीवकला पुर्यष्टका अनुभवरूप अति प्रकाशमान सूर्य की तरह हृदयरूप कमल की भ्रमरी है। वह सबका अधिष्ठान आदि-शक्ति हृदयकमल में विराजमान है। उस हृदयाकाश में कुण्डलिनी शक्ति है। उसमें से कोमल मृदुरूप स्वाभाविक वायु निकलती है। वही पवन निकलकर दो होता है, एक प्राण और दूसरा अपान। वही परस्पर मिलकर स्फुरणरूप होता है। जैसे वृक्ष के पत्तों के हिलने से उससे शीघ्र ही अग्नि प्रकट होती है, या बाँसों की रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही प्राण अपान से अग्नि प्रकट होकर जब आकाश में उदय होती है, तब सब ओर से भीतर प्रकाश होता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर सब ओर से भुवन प्रकाशित होते हैं, वैसे ही सब ओर से हृदय प्रकाशित होता है। सूर्यरूप तारा अग्निसदृश तेज के आकार हैं। हृदयकमल का भ्रमर स्वर्णरूप है और उसके चिन्तन से योगी तद्वत् होते हैं। वह प्रकाश ज्ञानरूप है और उस तेज से योगी की वृत्ति तद्वत् होती है अर्थात् एकत्वभाव को प्राप्त होती है। तब लक्ष योजन पर्यन्त जो पदार्थ हों, उनका उसे ज्ञान हो आता है और सब प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। हृदयरूपी सरोवर उस अग्नि का स्थान है। जैसे बड़वाग्नि समुद्र में रहती है और उसका जल ही ईंधन है अर्थात् वह जल को दग्ध करती है, वैसे ही हृदयरूप सरोवर, में उसका निवास है और वह रस-शीतलतारूप जल को पचाती है। उस हृदयकमल से जो अपानरूप शीतल वायु प्रकट होती है, उसका नाम चन्द्रमा है, और

प्राणरूप उष्ण पवन जो प्रकट होता है, वह सूर्यरूप है। वही उष्ण और शीतल पवन सूर्य और चन्द्रमा के नाम से देह में स्थित हैं। आदि-प्राण वायुरूप सूर्य और अपानरूप चन्द्रमा से सूर्यरूप होकर स्थित होता है। सूर्य उष्ण और चन्द्रमा शीतल है। इन दोनों से जगत् हुआ है। विद्या, अविद्या, सत्य, असत्यरूप जगत् इन दोनों से युक्त है। सत्, चित्, प्रकाश, विद्या, उत्तरायण, सूर्य, अग्नि आदिक नाम बुद्धिमान् निर्मलभाव को कहते हैं। और असत् जड़, अविद्या, तम्, दक्षिणायन आदिक नाम चन्द्रमारूप से मलिनभाव को कहते हैं।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! अग्नि, सूर्यरूप जो प्राणवायु है उससे शीतल जलमय अपानरूप चन्द्रमा कैसे उत्पन्न होता है और अपान जल चन्द्रमारूप से सूर्य कैसे उत्पन्न होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सूर्य चन्द्रमा जो अग्नीषोम कहलाते हैं, वे परस्पर कार्य-कारणरूप हैं। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है, जैसे दिन से रात्रि और रात्रि से दिन होता है और जैसे छाया से धूप और धूप से छाया होती है , वैसे ही सूर्य-चन्द्रमा परस्पर कार्य-कारण होते हैं। कभी-कभी इनकी एकत्र उपलब्धि भी होती है। जैसे सूर्य के उदय होने पर धूप और छाया दोनों एकत्र हो जाते हैं। कार्य-कारण भी दो प्रकार का है-एक कार्य सत्यरूप परिणाम से होता है, दूसरा विनाशरूप परिणाम से होता है। एक से जो दूसरा होता है वैसे ही हैं। जैसे बीज नष्ट हो गया हो तो उससे अंकुर होता है। यह विनाशरूप परिणाम हुआ। और जैसे मृत्तिका से घट उपजता है, वह सत्यरूप परिणाम कहाता है। जो कारण-कार्य के भाव में भी इन्द्रियों से देख प्रत्यक्ष पाइये, उनका नाम सत्यरूप परिणाम है। और जो कार्य में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं पाया जाता, जैसे दिन में रात्रि और रात्रि में दिन, वह विनाशरूप परिणाम कहाता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है, वैसे ही अभाव प्रमाण भी है। इससे विनाशभाव भी एक कारणरूप है। युक्तिवादी कहते हैं कि अपने संवित् में कर्तव्य नहीं बनता इत्यादि, सो वे इस अर्थ की अवज्ञा करते हैं और अपने अनुभव को नहीं जानते। अनुभव की युक्ति

उनको नहीं आती। यह अभाव प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रकट है। शीतलता का परिणाम यह है कि जैसे अग्नि के भाव से शीतलता के अभाव में उष्णता होती है। दिन के अभाव में रात्रि और छाया के अभाव में धूप इत्यादि का नाम अभाव परिणाम है। अग्नि से धूम्र-भाग निकलता है, वह मेघ बनता है, इस कारण सत्त्वरूप परिणाम से चन्द्रमा का कारण अग्नि होता है और अग्नि नष्ट होकर शीतलभाव को प्राप्त होता है, तब उसका नाम विनाश परिणाम है, जिससे अग्नि चन्द्रमा का कारण होता है। सात समुद्रों का जल पान करके बड़वाग्नि धूम्र को उगलता है सो धूम्र मेघ को प्राप्त होकर अत्यर्थ जल का कारण होता है। सूर्य जो विनाश के अर्थ चन्द्रमा का पान करता है सो अमावस्या पर्यन्त बारम्बार भक्षण करता है, और फिर शुक्लपक्ष में उसे उगलता है। जैसे सारस पक्षी भीठ की जड़ को भक्षण करके उगल डालता है। हे राम ! अमृत के समान शीतल जो चन्द्रमारूप अपान वायु है, वह मुख के अग्रभाग में रहता है। वह कणिका रूप जल जब शरीर में जाता है, तब वह जल का अणु अपान और सूर्यरूपी प्राण स्फुरण को प्राप्त होता है। इस प्रकार सत्यरूप परिणाम से जल अग्नि का कण होता है जब जल का नाश हो जाता है तब वह उष्णभाव अग्नि को प्राप्त होता है—इसका नाम विनाश परिणाम है। इस प्रकार जल अग्नि का कारण कहाता है। अग्नि का नाश होने पर चन्द्रमा उत्पन्न होता है। इसका नाम विनाश परिणाम है। और चन्द्रमा का अभाव होने पर अग्नि उत्पन्न होती है। इसका नाम भी विनाश परिणाम है। जैसे तम के अभाव से प्रकाश का उदय होता है और प्रकाश के अभाव से तम होता है; दिन के अभाव से रात्रि और रात्रि के अभाव से दिन होता है; इसके मध्य में जो विलक्षणरूप है, उसे बुद्धिमान् भी नहीं जान पाते। वह तम और प्रकाश दोनों रूपों से युक्त है। इनके मध्य में जो संधि है सो आत्मरूप है। उसमें स्थित होकर चेतन और जड़ दोनों रूपों से भूत स्फुरित होते हैं। जैसे दिन और रात्रि तम और प्रकाश से पृथ्वी में चेष्टा करते हैं सो चेतन और जड़रूप सूर्य

और चन्द्रमा दोनों रूपों से युक्त है। निर्मलरूप प्रकाश जो चिद्रूप है, उसका नाम सूर्य है। और जड़ात्मक तमरूप चन्द्रमा का शरीर है। जब निर्मल चैतन्यरूप सूर्य आत्मा का दर्शन होता है, तब संसार के दुःखरूप जो तम हैं वे नष्ट हो जाते हैं-जैसे आकाश में सूर्य के उदय से श्याम रात्रि का तम नष्ट हो जाता है। जड़ चन्द्रमा रूप देह को जब देखता है, तब चैतन्यरूप सूर्य नहीं भासित होता-असत्य की नाईं हो जाता है, और जब चैतन्य की ओर देखता है, तब देह नहीं भासित होता। केवल-लक्ष में दूसरे की उपलब्धि नहीं होती। केवल चैतन्यपद को प्राप्त होने पर द्वैत से रहित निर्वाणभाव होता है, और जड़भाव को प्राप्त होने पर चैतन्य नहीं भासित होता। इससे संसार के दर्शन का कारण दोनों हैं। चेतन सूर्य से जड़ चन्द्रमा की उपलब्धि होती है और जड़ चन्द्रमा से चेतन सूर्य की उपलब्धि होती है। जैसे अग्निरूप प्रकाश अंधकार के बिना सिद्ध नहीं होता, वैसे ही इन दोनों की संधिबिना आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। प्रकाश बिना केवल जड़ की उपलब्धि भी नहीं होती। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस दीवार पर पड़ता है, वह दीवार प्रकाश से चमकती है और प्रकाश दीवार से चमकता है, वैसे ही चित्त जब फुरता है, तब जीव को जगत् भासित होता है और फुरना जगत् से होता है। फुरने से रहित अचैत्य चिन्मात्र निर्वाण है। इससे हे राम! जगत् को अग्नि और सोम जानो। चेतन का देह से सम्बन्ध है, परन्तु जिसका आधिक्य होता है उसकी जय होती है। प्राण-अग्नि उष्णरूप है और अपान शीतल—चन्द्रमारूप है। ये दोनों प्रकाश और छायारूप हैं-इनको जानना सुख का मार्ग है। हे राम ! जब बाहर से शीतलरूप अपान भीतर को आता है, तब उष्णरूप प्राण में जाकर स्थित होता है और जब हृदयस्थान से निकलकर उष्णरूप प्राण बाहर को द्वादश अंगुल पर्यन्त जाता है; तब अपान जो चन्द्रमा का मण्डल है, उसको प्राप्त होता है। अपान प्राणरूप होकर और प्राण अपानरूप होकर उदय होता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही इनका परस्पर आपस

में प्रतिबिम्ब पड़ता है। जहाँ षोडशकला चन्द्रमा को सूर्य ग्रस लेता है, उस मध्यभाव में तुम स्थित होओ। जब अपान प्राणों के स्थान में आकर स्थित होता है और प्राणरूप होकर उदय नहीं होता सो यह शान्तिरूप भाव है-उसमें स्थित होओ। प्राण निकलकर जब मुख से द्वादश अंगुल पर्यन्त बाहर स्थित होता है और जब तक अपान भाव को प्राप्त होकर उदय नहीं होता, वह जो मध्यभाव है, उसी में तुम स्थित होओ। मेष आदिक जो द्वादश राशियाँ हैं, उनमें एक को त्यागकर दूसरी राशि को जब तक संक्रान्ति नहीं प्राप्त होती, उसका नाम संक्रान्ति है और उनके मध्य में जो सन्धि है उसका नाम पुण्यकाल है। वह पुण्यकाल भीतर और बाहर प्राण-अपान की सन्धि के समय में तृणवत् है। उन संक्रान्तियों में जो वैशाख की विषुवत् संक्रान्ति है, सो शिवरात्रि है। चैत्र की संक्रान्ति में त्रयोदश दिन होते हैं और अस्त की संक्रान्ति में त्रयोदश दिन हैं। इनका नाम विषुवत् है। जहाँ दिन और रात्रि सम होते हैं और दक्षिणायन और उत्तरायण की जो सन्धि होती हैं, इनके भीतर और बाहर भेद को जाने, तब जन्म से रहित होकर परम बोध को प्राप्त हो। हे राम ! उत्तरायण मार्ग योगीश्वरों का है उससे वे क्रम से मुक्त होते हैं। दक्षिणायन मार्ग कर्म करनेवालों का है, इससे वे फिर संसारभोगी होते हैं। उनके मध्य में जो संधि है, उसमें स्थित होने से परमपद प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अग्निसोमविचारयोगो नामाष्टषष्टितमस्सर्गः ।। ६८।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह योग की सब कला मैंने विस्तार से कही। इसमें उत्तम प्रभाव वर्णन हुआ है। प्रयोजन यही है कि तुम निर्वाण पद में स्थित हो और आत्मब्रह्म की एकता करो, जिससे फिर जन्म मरण आदि का दुःख न हो। ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वभावमात्र है। एक आत्मा में एकत्वभाव होते हैं, वही भाव रहते हैं। धनी शक्ति का धनी होता है और अविद्या नष्ट हो जाती है। इस प्रकार जब वह चुड़ाला रानी योग और ज्ञान के अभ्यास से पूर्ण हुई, तब सब शक्तियों से संयुक्त होकर

धनी बनी और अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त हुई। एक रात्रि में राजा सोया था। तब वह अवकाश पाकर आकाश के बहुत स्थानों में विचरी। फिर देवलोक में अति चञ्चल काली का रूप रखकर फिरी। फिर मध्य दिशा, देवलोक, दैत्यों, राक्षसों, विद्याधरों और सिद्धों के लोकों में होकर सूर्यलोक, चन्द्रलोक, मेघमण्डल और इन्द्रलोक में गई और वहाँ का कौतुक देखकर फिर नीचे के लोकों में आई। समुद्र में प्रवेश करके फिर अग्नि में प्रवेश कर गई। पवन में पवनरूप हुई और नागलोक की कन्याओं में क्रीड़ा की। फिर वनों, पर्वतों, भूतों, अप्सराओं और त्रिलोकी के मध्य विचरी। इसी प्रकार लीला करके फिर एक क्षण में उसी स्थान में, जहाँ राजा सोया था, आई और राजा के समीप सो रही, जैसे भँवरी भँवरा कमलिनी के मध्य में शयन करते हैं। पर राजा ने न जाना कि रानी कहीं गई थी या नहीं गई थी। जब रात्रि बीती और प्रातःकाल हुआ तब राजा ने स्नानशाला में जाकर स्नानकर वेदोक्त कर्म किये और रानी ने भी अपने स्वाभाविक कार्य किये। जैसे पिता पुत्र को मीठे वचनों से उपदेश करता है, वैसे ही रानी ने राजा को धीरे-धीरे तत्त्व का उपदेश किया और पण्डितों से भी कहा कि तुम भी राजा को उपदेश करो; बताओ कि यह जगत् स्वप्नवत् भ्रम है, दीर्घ रोग और दुःखों का कारण है। आत्मज्ञान की औषधि से इसका नाश होता है; और कोई इसकी औषधि नहीं। इसी प्रकार आप भी राजा को उपदेश करती और पण्डित लोग भी उपदेश करते थे, परन्तु राजा ने वह ज्ञान न पाया और चित्त विक्षेप में पड़ा रहा। राजा ने उस उत्तमपद में विश्राम न पाया, जो अपना आप केवल चिद्रूप, प्रत्यक् आत्मा है। राम ने पूछा, हे महामुनि ! रानी तो सर्वशक्तिसम्पन्न थी, योगकला में भी अति चतुर और ज्ञानकला में तद्रूप थी और राजा भी अति मूढ़ न था। फिर उसकी समझ में रानी का उपदेश क्यों न दृढ़ हुआ ? रानी भी उसको प्रीति से उपदेश करती थी, तब क्या कारण था जो वह अपने पद में स्थित न हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे बिना छिदे मोती

में तागा प्रवेश नहीं करता, वैसे ही चुड़ाला के उपदेश ने राजा को न बेधा। जब तक आप विचार न करे और उसमें दृढ़ अभ्यास न हो, तब तक यदि ब्रह्मा भी उपदेश करें तो उसको वह न बेधेगा, क्योंकि आत्मा आपही से जाना जाता है और इन्द्रियों का विषय नहीं है। अधिष्ठानरूप और स्वभावमात्र आत्मा आपही अपने को देखता है। वह किसी मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! यदि आत्मा अपने को आपही से देखता है तो गुरु और शास्त्र किस निमित्त उपदेश करते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! गुरु और शास्त्र जता देते हैं कि तेरा स्वरूप आत्मा है परन्तु वे 'इदं' (यह है) करके नहीं दिखाते। विचारनेत्र से आत्मा अपने को आप ही देखता है; विचार से रहित होकर उसको नहीं देख सकता। जैसे किसी पुरुष को कोई आँखोंवाला आदमी चन्द्रमा दिखाता है, पर जो वह देखनेवाला आँखोंवाला होता है तो देख पाता है और मन्ददृष्टि होता है तो नहीं देख पाता, वैसे ही गुरु और शास्त्र आत्मा का रूप वर्णन करते हैं और दिखाते हैं, पर जब शिष्य विचारनेत्र से देखता है, तभी कहता है कि मैंने देखा और फिर अन्यों को दिखाने के योग्य होता है। हे राम ! आत्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। वह अपना आप मूलरूप है। और इन्द्रियाँ कल्पित हैं। जो तुम कहो कि तुम भी तो इन्द्रिय से ही उपदेश करते हो तो सब इन्द्रियों का विस्मरण करो तो अपना मूल तुम्हें भासित होगा। हे राम ! इस पर एक क्रान्त का इतिहास है, उसे सुनो। एक क्रान्त था, जिसके पास बहुत धन और अनाज था। परन्तु वह ऐसा कृपण था कि किसी को कुछ न देता था। धन की उसे ऐसी तृष्णा थी कि चाहता था कि किसी प्रकार मुझे चिन्तामणि मिले। इसी इच्छा से एक समय घर से बाहर निकल पृथ्वी की ओर देखता जाता था कि एक स्थान में पहुँचा जहाँ घास और भुस पड़ा था। उसे उसमें एक कौड़ी देख पड़ी। वह उस कौड़ी को उठाकर देखने लगा कि कुछ और भी निकले। तो फिर दूसरी कौड़ी निकलीं। इसी प्रकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे तीन दिन व्यतीत हुये, तब चार कौड़ी निकलीं और फिर आठ निकलीं। तब तीन दिन और ढूँढ़ते

बीते, तब चन्द्रमा की नाईं चिन्तामणि प्रकट देखी और उसे लेकर अपने घर आया और अति हर्षित हुआ। हे राम ! वैसे ही गुरु और शास्त्रों से 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाना कौड़ियों का खोजना है, और आत्मा चिन्तामणिरूप है। परन्तु जैसे कौड़ियों की खोज में उसने चिन्तामणि बिना खोजे नहीं पाई, वैसे ही गुरु और शास्त्रों से आत्मपद मिलता है—गुरु और शास्त्रों के बिना नहीं मिलता। धन, तप और कर्म से आत्मा नहीं मिलता, केवल अपने आप खोजने से पाया जाता है, हे राम ! जब शिखरध्वज चुड़ाला के पास से उठकर स्नान को गया, तब राजा के मन में वैराग्य उपजा कि यह संसार मिथ्या है। हमने बहुत भोग भोगे तो भी हृदय को शान्ति न हुई। और इन भोगों का परिणाम दुःखदायक है। जब मन में ऐसा विचार उपजा, तब राजा ने गऊ, पृथ्वी, सुवर्ण, मन्दिर और दूसरी सामग्री बहुत दान की और सब ऐश्वर्य के पदार्थ ब्राह्मणों, गरीबों और अतिथियों को अधिकार के अनुसार बाँट दिये। रानी ने भी ब्राह्मणों और मन्त्रियों से कहा कि राजा को तुम यही उपदेश दिया करो कि ये भोग मिथ्या हैं, इनमें कुछ सुख नहीं। आत्मसुख बड़ा सुख है, जिनके पाने से जन्म-मरण से मुक्ति होती है। इसी प्रकार राजा ब्राह्मणों से सुने और अपने मन में भी वैराग्य उपजाता था, इस कारण विचारे कि मैं इस संसार दुःख से रहित हो जाऊँ; यह संसार बड़ा दुःखरूप है और इसमें सदा जन्म-मरण है। निदान राजा के मन में आया कि मैं तीर्थों को जाऊँ और स्नान करूँ। इसलिये तीर्थों को चला और स्नान, दान करता हुआ देवता, तीर्थों और सिद्धों के दर्शन करके गृह को आया। रात्रि के समय रानी के साथ शयन किया तो रानी से कहा कि हे अङ्गने ! अब मैं वन को तप करने के लिये जाता हूँ , क्योंकि ये भोग मुझे दुःखदायक जान पड़ते हैं और राज्य भी वन की नाईं उजाड़ प्रतीत होता है। ये भोग हम बहुत काल पर्यन्त भोगते रहे, तो भी इनमें सुख नजर न आया, इसलिये मैं वन को जाता हूँ—मुझे न अटकाना। तब रानी ने कहा, हे राजन् ! अभी तेरी कितनी

अवस्था है, जो तुम वन को जाते हो ? अब तो हमारे राज्य भोगने का समय है। जैसे वसन्त में फल शोभा पाते हैं और शरत्काल में नहीं सोहते, वैसे ही हम भी जब वृद्ध होंगे, तब वन को जायँगे और वन ही में शोभा पावेंगे। जैसे वन के फूल श्वेत होते हैं, वैसे ही जब हमारे केश श्वेत होंगे, तब शोभा पावेंगे-अभी तो राज्य करो। हे राम ! इस प्रकार रानी ने कहा, पर राजा का चित्त वैराग्य ही में रहा और वह रानी का कहना चित्त में न लाया। जैसे चन्द्रमा बिना कमलिनी शान्ति नहीं पाती, वैसे ही ज्ञान बिना राजा को शान्ति न हुई। परन्तु वैराग्य करके फिर कहने लगा-हे रानी ! अब मुझे न रोक। अब राज्य मुझको फीका लगता है, इसलिये मैं वन को जाता हूँ, यहाँ नहीं ठहर सकता। जो तुम कहो कि मैं यहाँ तेरी सेवा-टहल करती थी, वन में कौन करेगा, तो पृथ्वी ही मेरी सेवा टहल करेगी, वन की वीथियाँ स्त्रियाँ होंगी; मृगों के बालक पुत्र होंगे, आकाश हमारे वस्त्र और फूल के गुच्छे भूषण होंगे। जब दूसरी रात्रि हुई और राजा वहाँ से चला तो रानी और सेना भी पीछे चली और कोट के बीच सब स्थित हुए। राजा और रानी ने विश्राम किया-जैसे भँवरा भँवरी सोते हैं, और सेना और सहेलियाँ भी सब सो गईं। सब पत्थर की शिला सदृश्य निद्रा से जड़ हो गये। जब आधी रात्रि व्यतीत हुई तो राजा जगा और देखा कि सब सो गये हैं। निदान शय्या से उठ; रानी के वस्त्र एक ओर करके और हाथ में खंग लेकर निकला। जैसे क्षीरसमुद्र से विष्णु भगवान् लक्ष्मी के पास से उठते हैं, वैसे ही उठ, सब लोगों को लाँघता कोट के दरवाजे पर आया तो देखा आधे मनुष्य जागते थे, और आधे सो गये थे। उन्होंने जब राजा को देखा तब राजा ने कहा, द्वारपालों ! तुम यहीं बैठे रहो; मैं अकेला ही वीरयात्रा को जाता हूँ। इतना कह राजा बड़े वेग से चला गया और बाहर निकलकर कहा, हे राजलक्ष्मी ! तुमको प्रणाम है। अब मैं वन को चला। फिर एक वन में पहुँचा, जहाँ सिंह, सर्प तथा और भयानक जीव थे। उनके शब्द सुनता आगे चला तो उसके आगे और वन मिला। उसको भी लाँघ

गया। आठ पहर चलकर राजा एक जगह जा पहुँचा। जब सूर्य उदय हुआ तब स्नान करके सन्ध्यादिक कर्म किये और वृक्षों के फल भोजनकर फिर वहाँ से आगे चला। इस डर से कि कोई कहीं पीछे से आकर मुझे न रोके, बड़े वेग से चला। बड़े-बड़े पहाड़, नदियाँ और वन नाँघकर बारह दिन पश्चात् मन्दराचल पर्वत के निकट जा पहुँचा। एक वन में जाकर ठहरा और स्नान करके कुछ भोजन किया। मेघ और छाया से रक्षा के निमित्त उसने वहाँ एक झोपड़ी बनाई और पात्र बनाकर उसमें फूल और फल रक्खे। जब प्रातःकाल होता तब स्नान करके पहर भर जप करता था और फिर देवताओं की पूजा के निमित्त फूल चुनता था। दो पहर स्नान करके ऐसे व्यतीत करता था। जब तीसरा पहर होता, तब फल भोजन करता था, चौथे पहर फिर सन्ध्या और जप करता था। कुछ काल रात्रि को शयन करता और बाकी जप में बिताता था। इसी प्रकार काल को व्यतीत करता था। हे राम ! राजा की तो यह अवस्था हुई, अब रानी की अवस्था सुनो। जब अर्धरात्रि के पीछे रानी जगी तो क्या देखा कि राजा वहाँ नहीं है और शय्या खाली पड़ी है। रानी ने सहेलियों को जगाकर कहा, बड़े कष्ट की बात है कि राजा वन को निकल गये। वह बड़े भयानक वन में जायँगे। ऐसे कहकर मन में विचार किया कि राजा को देखना चाहिये। इसलिये योग में स्थित होकर आकाश को उड़ी और आकाश की तरह देह को अन्तर्धान किया। जैसे योगेश्वरी भवानी उड़ती हैं, वैसे ही उड़ी और आकाश में स्थित होकर देखा कि राजा चला जा रहा है। रानी के मन में आया कि इसका मार्ग रोकूँ, पर एक क्षणमात्र स्थित होकर भविष्यत् को विचारने लगी कि राजा का और मेरा संयोग नीति में कैसे रचा है। विचार करके देखा कि राजा का और मेरा मिलाप होने में अभी बहुत काल बाकी है। अवश्य मिलाप होगा और मेरे उपदेश से राजा जागेगा, परन्तु यह सब बहुत काल उपरान्त होगा। अभी इसके कषाय (मन के दोष) परिपक्व नहीं हुये, इससे इसका मार्ग न रोकना चाहिए। निदान

रानी फिर अपने घर आई और शय्या पर शयनकर बड़ी प्रसन्नता को प्राप्त हुई। जब रात्रि व्यतीत हुई, तब मन्त्रियों से कहने लगी कि राजा एक तीर्थ करने गये हैं और दर्शन करके फिर आवेंगे। तुम अपने कार्य करते रहो। यह सुन मंत्री अपने काम करने लगे। इसी प्रकार रानी ने आठ वर्ष तक राज्य किया और प्रजा को सुख दिया। जैसे माली कमलों और क्यारियों को पालता है, वैसे ही रानी ने प्रजा को पालकर सुख दिया। उधर राजा को आठ वर्ष तप करते बीते और उसके अंग दुर्बल हो गये। इधर रानी ने राज्य किया। पर जैसे भँवरा और ठौर हो, और भँवरी और ठौर हो, वैसे ही समय व्यतीत हुआ। तब रानी ने विचार किया कि राजा अब मेरे वचनों का अधिकारी हुआ होगा; क्योंकि अब उसका अन्तःकरण तप करके शुद्ध हो गया है। इससे अब राजा को देखिये। निदान रानी वहाँ से उड़कर आकाश को गयी और इन्द्र के नन्दनवन को देख वहाँ के दिव्यपवन का स्पर्श हुआ तो उसके चित्त में आया कि मुझे भर्ता कब मिलेगा ? फिर कहने लगी कि बड़ा आश्चर्य है ? मैं तो सत्पद को प्राप्त हुई थी तो भी मेरा मन चलायमान हुआ है तो और जीवों की क्या बात है। वहाँ से भी चली तो आगे कमल फूल देखकर कहने लगी कि मुझे भर्ता कब मिलेगा ? मैं तो कामातुर हुई हूँ। फिर मन में कहने लगी कि हे दुष्ट मन ! तू तो सत्पद को प्राप्त हुआ था; तेरा भर्ता आत्मा है, अब तू मिथ्या पदार्थों की अभिलाषा क्यों करता है ? मालूम होता है कि जब तक देह है, तब तक देह के स्वभाव भी साथ रहते हैं, इससे यह अवस्था प्राप्त हुई है, तभी मन चलायमान हुआ है। जब मेरा यह हाल है, तब इतर जीवों की क्या बात है। तब रानी मेघ, बिजली, पर्वतों, नदियों, समुद्र और भयानक स्थानों को नाँघकर मन्दराचल पर्वत के पास वन में पहुँची और देखने लगी कि मेरा भर्ता कहाँ है ? समाधि में स्थित होकर उसने देखा कि अमुक स्थान में राजा बैठा है तप से महा दुर्बल शरीर हो गया है। वह ऐसे स्थान में है जहाँ और जीवों की गति नहीं। बड़ा आश्चर्य है कि

महावैताल की तरह यह रात्रि को चला आया है। अज्ञान महादुष्ट है कि ऐसा राजा तप में लगा है और स्वरूप के प्रमाद से जड़ है। अब ऐसा हो कि किसी प्रकार यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो। परन्तु मेरे इस शरीर से इसको ज्ञान न उपजेगा, क्योंकि प्रथम तो उसको यह अभिमान होगा कि यह मेरी स्त्री है और फिर कहेगा कि मैंने इसी के निमित्त राज्य छोड़ा है और यह फिर मुझे दुःख देने आई है। इससे मैं ब्रह्मचारी का शरीर धारण करूँ। ऐसा विचार करके उसने शीघ्र ही ब्रह्मचारी का शरीर धारण किया। हाथ में रुद्राक्ष की माला, कमण्डलु और गले में मृगछाला धारण किया। जैसे सदाशिव के मस्तक पर चन्द्रमा विराजता है, वैसे ही सुन्दर विभूति लगा और श्वेत यज्ञोपवीत धारणकर पृथ्वी के मार्ग से राजा के निकट जा पहुँची। राजा उसे देखकर आगे से उठ खड़ा हुआ और नमस्कार कर चरणों पर फूल चढ़ाये। फिर अपने स्थान पर बैठाकर कहने लगा–हे देवपुत्र ! आज मेरे बड़े भाग्य हैं जो आपका दर्शन हुआ। कृपा करके कहिए कि आप किसलिए आये हैं ? देवपुत्र बोले, हे राजन् ! हम बड़े-बड़े पर्वत देखते और तीर्थ करते आये हैं, परन्तु जैसी भावना तुममें देखी है, वैसी किसी में नहीं देखी। तुमने बड़ा तप किया है और तुम इन्द्रियजित् देख पड़ते हो। मैं जानता हूँ कि तुम्हारा तप खंग की धार सा तीक्ष्ण है, इससे तुम धन्य हो, तुम्हें नमस्कार है। परन्तु हे राजन् ! आत्मयोग के निमित्त भी कुछ तप किया है अथवा नहीं ? तब राजा ने जो फूलों की माला देवपूजन के निमित्त रक्खी थी, वह देवपुत्र के गले में डाली और पूजा करके कहा, हे देवपुत्र! तुम ऐसों का दर्शन दुर्लभ है और अतिथि का पूजन देवता से भी अधिक है। हे देवपुत्र ! आपके अंग बहुत सुन्दर देख पड़ते हैं ऐसे ही मेरी स्त्री के अंग थे। नख से शिखा पर्यन्त तुम्हारे वही अंग देख पड़ते हैं। परन्तु आप तो तपस्वी हैं और आपकी मूर्ति शान्ति के लिए हुई है। मैं कैसे कहूँ कि तुम वही हो। इससे हे देवपुत्र ! आप किसके पुत्र हैं; यहाँ किस निमित्त आये हैं और आगे कहाँ जायँगे यह कहकर

मेरा संशय निवृत्त कीजिये ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! एक समय नारदमुनि सुमेरु पर्वत की कन्दरा में, जहाँ आश्चर्य के देनेवाले वृक्ष मञ्जरियों, फूलों और फलों से पूर्ण थे और ब्राह्मणों की कुटी बनी हुई थीं, समाधि लगाकर बैठे। वहाँ गंगा का प्रवाह बहता था और सिद्धों के सिवा और जीवों की गति न थी। इससे नारद मुनि वहाँ कुछ काल समाधि में स्थित रहे। जब समाधि खोली, तब उन्होंने आभूषणों का शब्द सुना और मन में महाआश्चर्य माना कि यहाँ तो कोई नहीं आ सकता, यह भूषणों का शब्द कहाँ से आया ? तब उठकर देखने लगे कि गंगा के प्रवाह में उर्वशी आदि महासुन्दरी अप्सराएँ वस्त्रों को उतारे हुए स्नान कर रहीं हैं। जब उनको नारदजी ने देखा तो उनका विवेक जाता रहा और वीर्य निकलकर उनके पास जो एक सुन्दर बेल थी, उसके पत्ते पर स्थित हुआ। इतना सुनकर शिखरध्वज ने कहा, हे देवपुत्र ! ऐसे ब्रह्मवेत्ता और सर्वज्ञ मननशील योगी नारदमुनि का वीर्य किस निमित्त गिरा ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! जब तक शरीर है; तब तक अज्ञानी और ज्ञानी के शरीरों का स्वभाव निवृत्त नहीं होता। परन्तु एक भेद है। ज्ञानवान् को यदि दुःख प्राप्त होता है तो वह दुःख नहीं मानता और यदि सुख प्राप्त होता है तो सुख नहीं मानता और उससे हर्षित नहीं होता। और अज्ञानी को यदि सुख-दुःख प्राप्त होते हैं तो वह हर्ष-शोक करता है। जैसे श्वेत वस्त्र पर केसर का रंग शीघ्र ही चढ़ जाता है, वैसे ही अज्ञानी को दुःख-सुख का रंग शीघ्र ही चढ़ जाता है। और जैसे मोम के वस्त्रों को जल का स्पर्श नहीं होता, वैसे ही ज्ञानवान् को दुःख-सुख का स्पर्श नहीं होता। जिसके अन्तःकरणरूपी वस्त्र को ज्ञानरूपी मोम नहीं चढ़ा, उसको दुःख-सुखरूपी जल स्पर्श कर जाता है। दुःख की और सुख की नाड़ी भिन्न-भिन्न है। जब सुख की नाड़ी में जीव स्थित होता है, तब कोई दुःख नहीं देखता और जब दुःख की नाड़ी में स्थित होता है तब सुख नहीं देखता। अज्ञानी को कोई दुःख का स्थान है और कोई सुख का स्थान है और ज्ञानी को एक आभासमात्र दिखाई देता है—उसे बन्धन नहीं होता। जब तक

अज्ञान का सम्बन्ध है, तब तक दुःख नहीं निवृत्त होता। तब राजा ने कहा कि वीर्य जो गिरता है सो कैसे निवृत्त होता है ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! जब चित्त वासना से क्षोभ को प्राप्त होता है; तब नाड़ियों में भी क्षोभ होता है और वे अपने स्थानों को त्यागने लगती हैं। उसी अवस्था में वीर्यवाली नाड़ी से भी स्वाभाविक ही वीर्य नीचे को चला आता है। फिर राजा ने पूछा, हे देवपुत्र ! स्वाभाविक किसे कहते हैं ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! आदि शुद्ध चैतन्य परमात्मा में जो स्फुरण हुआ है, उस क्षणमात्र शक्ति के उत्थान से प्रपञ्च बन गया है। इसमें आदि नियम यह हुआ है कि यह घट है, यह पट है, यह अग्नि है, इसमें उष्णता है, यह जल है, इसमें शीतलता है। वैसे ही यह भी नियम है कि वीर्य ऊपर से नीचे को आता है। जैसे पर्वत से पत्थर गिरता है तो नीचे को चला जाता है, वैसे ही वीर्य भी नीचे को आता है। तब राजा ने प्रश्न किया कि हे देवपुत्र ! जीव को दुःख-सुख कैसे होता है और दुःख-सुख का अभाव कैसे होता है ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! यह जीव कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होकर दृश्य में जो चारों अन्तःकरण, इन्द्रियाँ और देह हैं, उनमें अभिमान करके इनके दुःख से दुखी और इनके सुख से सुखी होता है। तब जैसा-जैसा आगे प्रतिबिम्ब होता है, वैसा-वैसा दुःख-सुख भासित होता है—जैसे शुद्ध मणि में प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह सब अज्ञान से होता है और ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है। जब ज्ञानरूप का आवरण करके आगे पटल होता है, तब प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। देहादिक के अभिमान से रहित होने को ज्ञान कहते हैं अर्थात् यह ज्ञान कि न देहादिक है और न मैं इनसे कुछ करता हूँ। जब ऐसे निश्चय हो, तब दुःख-सुख का भान नहीं होता; क्योंकि संसार का दुःख-सुख भावना में होता है। जब वासना से रहित हुआ, तब दुःख-सुख भी सब नष्ट हो जाते हैं। जैसे जब वृक्ष ही जल जाता है, तब पत्ते, फूल, फल कहाँ रहे ? वैसे ही अज्ञानरूप वासना के दग्ध होने पर दुःख-सुख कहाँ रहे ? फिर राजा ने कहा, हे भगवन् ? तुम्हारे

वचन सुनकर मैं तृप्त नहीं होता, जैसे मेघ का शब्द सुनकर मोर तृप्त नहीं होता, इससे कहिये कि आपकी उत्पत्ति कैसे हुई है ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! जो कोई प्रश्न करता है, उसका बड़े लोग निरादर नहीं करते। इससे तुम जो पूछते हो सो मैं कहता हूँ। हे राजर्षि ! यह वीर्य नारदमुनि ने एक मटकी में रक्खा और उस पर दूध डाला। वह मटकी स्वर्ण की थी, जिसमें उज्ज्वल चमक थी। उस मटकी को पूर्णकर वीर्य को एक कोने की ओर किया और फिर मन्त्रों का उच्चारण किया और आहुति देकर भले प्रकार पूजन किया। जब एक मास व्यतीत हुआ तब मटकी से बालक प्रकट हुआ—जैसे चन्द्रमा क्षीरसमुद्र से निकला हो। उस बालक को लेकर नारद आकाश को उड़े। उसे अपने पिता ब्रह्माजी के पास ले आये और नमस्कार किया। वही बालक मैं हूँ। तब मुझको पितामह ने गोद में बिठा लिया और आशीर्वाद देकर कहा कि तू सर्वज्ञ होगा और शीघ्र ही अपने स्वरूप को प्राप्त होगा। कुम्भ से मैं उपजा था, इसलिए उन्होंने मेरा नाम कुम्भज रक्खा। मैं नारदजी का पुत्र और ब्रह्माजी का पौत्र हूँ। सरस्वती मेरी माता है। गायत्री मेरी मौसी है। मैं सर्वज्ञ हूँ। तब राजा ने कहा, हे देवपुत्र ! तुम सर्वज्ञ हो, यह तुम्हारे वचनों से मैं जानता हूँ। देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! जो तुमने पूछा सो मैंने कहा। अब कहो, तुम कौन हो; क्या कर्म करते हो और यहाँ किस निमित्त आये हो ? राजा ने कहा, हे देवपुत्र ! आज मेरे बड़े भाग्य उदय हुए हैं जो तुम्हारा दर्शन हुआ। तुम्हारा दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। यज्ञ और तप से भी तुम्हारा दर्शन श्रेष्ठ है। देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! अपना वृतान्त कहो। राजा ने कहा, हे देवपुत्र ! मैं राजा हूँ, शिखरध्वज मेरा नाम है। संसार दुःखदायक भासित हुआ। बारम्बार जन्म और मरण इसमें देख पड़ता है, इससे राज्य को त्यागकर यहाँ पर मैं तप करने लगा हूँ। तुम त्रिकालज्ञ हो और जानते हो, तथापि तुम्हारे पूछने से कुछ कहना चाहिए। मैं त्रिकाल संध्या और जप करता हूँ तो भी मुझे शान्ति नहीं मिली। इसलिए जिससे मेरे दुःख निवृत्त हों वह उपाय कहिये। हे देवपुत्र ! मैंने बहुत तीर्थ किये हैं और बहुत देशों

और स्थानों में घूमा हूँ। पर अब इसी वन में आ बैठा हूँ , तो भी मुझे शान्ति नहीं प्राप्त है। तब देवपुत्र ने कहा, हे राजऋषि ! तुमने राज्य का तो त्याग किया, पर तपरूपी गढ़े में गिर पड़े। यह तुमने क्या किया ? जैसे पृथ्वी का कीड़ा फिर पृथ्वी में ही रहता है, वैसे ही तुम एक गढ़े को त्यागकर दूसरे गढ़े में आ पड़े हो और जिस निमित्त राज्य का त्याग किया, उसको नहीं जाना। यहाँ आकर तुमने जो एक लाठी, मृगछाला और फूल रक्खे हैं, इनसे तो शान्ति नहीं मिलती। इससे अपने स्वरूप में जागो; जब स्वरूप में जागोगे, तब सब दुःख निवृत्त होंगे। इसी विषय पर एक समय मैंने ब्रह्माजी से प्रश्न किया था कि हे पितामह ! कर्म श्रेष्ठ है अथवा ज्ञान श्रेष्ठ है-दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? जो मेरे लिए कर्तव्य हो सो कहिए। तब पितामह ने कहा कि ज्ञान के पाने से फिर कोई दुःखी नहीं रहता और ज्ञान सब आनन्दों का आनन्द है। अज्ञानी के लिए कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि वे पापकर्म करेंगे तो नरक को प्राप्त होंगे। यद्यपि तप और दान करने से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, तो भी अज्ञानी के लिए कर्म ही श्रेष्ठ है, जिससे नरक न भोगकर वह स्वर्ग में रहे। जैसे कम्बल से रेशम का वस्त्र श्रेष्ठ है, परन्तु यदि रेशम का न पाइये तो कम्बल ही भला, वैसे ही ज्ञान रेशम की तरह है और तप कर्म कम्बल के समान है-कर्म से शान्ति नहीं होती। इससे हे राजन् ! तुम क्यों इस गढ़े में पड़े हो ? आगे तुम राज्यवासी थे और अब वनवासी हुए। यह तुमने क्या किया कि मूर्खता-वश अज्ञान में पड़े हो। जब तक तुम्हें क्रिया का भान होता है कि 'मैं यह करूँ', तब तक प्रमाद है। इससे दुःख निवृत्त न होगा। निर्वासनिक होकर अपने स्वरूप के विषय में जागो निर्वासनिक होना ही मुक्ति है और वासना-सहित होना ही बन्धन है। निर्वासनिक होना ही पुरुषार्थ है। जीव जब तक वासना-सहित है, तब तक अज्ञानी है। जब निर्वासनिक हो तब ज्ञेयरूप होता है। सदा ज्ञेय की भावना करनेवाले को निर्वासनिक और ज्ञेय आत्मस्वरूप को कहते हैं। उसको जानकर फिर कोई इच्छा नहीं रहती। केवल चिन्मात्रपद में स्थित होने का नाम ज्ञेय है। जो

जानने योग्य है, वह जान लेने पर फिर वासना नहीं रहती। केवल स्वच्छ आप ही होता है। हे राजन् ! तुम्हें अपने स्वरूप को ही जानना था। फिर तुम और जञ्जाल में किस निमित्त पड़े हो ? आत्मज्ञान बिना और अनेक यत्न करो तो भी शान्ति नहीं प्राप्त होगी। जैसे पवन से रहित वृक्ष शान्तरूप होता है, और जब पवन होता है तब क्षोभ को प्राप्त होकर हिलता है, वैसे ही जब वासना निवृत्त होगी तब शान्तपथ प्राप्त होगा और कोई क्षोभ न रहेगा। देवपुत्र ने जब ऐसे कहा, तब राजा ने कहा, हे भगवन् ! तुम मेरे पिता हो, तुम्हीं गुरु हो और तुम्हीं कृतार्थ करनेवाले हो। मैंने वासना से बड़ा दुःख पाया है। जैसे किसी वृक्ष के पत्ते, डाल, फूल, फल सूख जावें और अकेला ठूँठ रह जाय, वैसे ही ज्ञान बिना मैं भी ठूँठ सा हो रहा हूँ। इसलिए कृपा करके मुझे शान्ति का मार्ग बताए। देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! तुम्हें त्याग करके सन्तों का संग करना चाहिए था और यह प्रश्न करना चाहिए था कि बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है ? मैं क्या हूँ और यह संसार क्या है ? संसार की उत्पत्ति किससे होती है और वह लीन कैसे होता है ? तुमने यह क्या किया कि सन्तों का नहीं, ठूँठ वन का आकर सेवन किया। अब तुम सन्तजनों का संग करके निर्वासनिक बनो। ब्रह्मादिक ने भी कहा है कि जीव जब निर्वासनिक होता है, तब सुखी होता है। फिर राजा ने कहा, हे भगवन् ! तुम्हीं सन्त हो और तुम्हीं मेरे गुरु और पिता हो। जिस प्रकार मुझे शान्ति हो सो कहो।

तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ, तुम उसे हृदय में धारण करो। जो तुम उसे हृदय में धारण करोगे तो मेरे कहने से क्या होता है ? जैसे डाल पर कौआ हो और शब्द भी सुने तो भी वह अपने कौए के स्वभाव को नहीं छोड़ता, वैसे ही जो तुम भी कौए की तरह हो तो मेरा कहना व्यर्थ है ? जैसे तोते को जो सिखाते हैं, उसे वह सीखता है वैसे ही तुम भी हो जाओ।

शिखरध्वज ने कहा, हे भगवन् ! जो तुम आज्ञा करोगे सो मैं

करूँगा। जैसे शास्त्र और वेद के कहे कर्म करता हूँ, वैसे ही तुम्हारा कहना करूँगा। यह मेरा नियम है, जो तुम आज्ञा करोगे सो करूँगा। तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! प्रथम तो तुम ऐसा निश्चय करो कि इन वचनों से मेरा कल्याण होगा। फिर ऐसे जानो कि पिता जो पुत्र को सिखाता है, तो शुभ ही होता है। मैं जो तुमसे कहूँगा, सो शुभ ही कहूँगा-उससे तुम्हारा कल्याण होगा। इसलिए निश्चय जानो कि इन वचनों से तुम्हारा कल्याण ही होगा। एक आख्यान जो पहले कभी हुआ है, कहता हूँ, उसे सुनो। एक पण्डित धन और गुणों से संपन्न था। वह सर्वदा चिन्तामणि के पाने की इच्छा करता था। इसके लिए शास्त्र में जैसे उपाय कहे हैं, वैसे ही करता था। जब कुछ काल व्यतीत हुआ, तब जैसे चन्द्रमा का प्रकाश होता है, वैसे ही प्रकाशमान चिन्तामणि उसे प्राप्त हुई। उसने उसे ऐसे निकट जाना कि हाथ से उठा लेगा। जैसे उदयाचल पर्वत के निकट चन्द्रमा उदय होता है, वैसे ही चिन्तामणि जब निकट आकर प्राप्त हुई, तब पण्डित के मन में विचार आया कि यह चिन्तामणि है अथवा कुछ और है ? जो चिन्तामणि हो तो उठा लूँ और जो चिन्तामणि न हो तो किस निमित्त उठाऊँ ? फिर कहा, उठा लेता हूँ, मणि ही होगी; फिर सोचा कि यह मणि नहीं है, क्योंकि मणि तो बड़े यत्न से प्राप्त होती है। मुझे सहज में क्यों प्राप्त होगी ? इससे विदित होता है कि यह चिन्तामणि नहीं है। जो इस तरह आसानी से प्राप्त होती तो सब लोग धनी हो जाते।

जब ऐसे संकल्प-विकल्प कर पण्डित विचारने लगा और इससे उसके चित्त पर आवरण पड़ गया, तब मणि छिप गई; क्योंकि जो सिद्धियाँ हैं, उनका मान और आदर न करिये तो शाप देती हैं। जिस दिव्य वस्तु का कोई आवाहन करता है और उसका पूजन नहीं करता तो वह उसे त्याग जाती है। तब उसे बड़ा दुःख हुआ कि चिन्तामणि मेरे पास से चली गई। निदान वह फिर यत्न करने लगा। तब काँच की मणि उसका उपहास करने को उसके आगे आ पड़ी। उसको देखकर वह कहने लगा कि यह चिन्तामणि है। अबोध के कारण वह उसको उठाकर अपने घर ले आया

और उसे ही चिन्तामणि मान लिया। जैसे मोह से जीव असत् को सत् और रस्सी को सर्प जानता है, जैसे दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा देख पड़ते हैं और मनुष्य शत्रु को मित्र और विष को अमृतरूप जानता है, वैसे ही उसने काँच को चिन्तामणि जान कर जो कुछ अपने पास धन था, वह भी लुटा दिया और कुटुम्ब का त्यागकर कहने लगा कि मुझे चिन्तामणि प्राप्त हुई है, अब कुटुम्ब से क्या प्रयोजन है ? निदान घर से निकलकर वन में गया और वहाँ उसने बड़े दुःख पाये क्योंकि काँच की मणि से कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध हुआ। ऐसे ही राजन् ! मूर्ख लोग विद्यमान वस्तु को त्यागते हैं, उसका माहात्म्य नहीं जानते और उसको नहीं पाते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिन्तामणि वृत्तान्तवर्णनं नाम नवषष्टितमस्सर्गः ।। ६९।।

देवपुत्र बोले, हे राजन् ! इसी प्रकार एक और आख्यान कहता हूँ , वह भी सुनो। मन्दराचल पर्वत के वन में सब पहाड़ियों का राजा एक हाथी रहता था। वह मानों स्वयम् विन्ध्याचल था, जिसको अगस्त्य मुनि ने बढ़ने से रोका था। उसके बड़े-बड़े दाँत इन्द्र के वज्र की तरह तीक्ष्ण थे और प्रलयकाल के बड़वानल के समान वह प्रकाशमान था। वह ऐसा बलवान् था कि सुमेरु पर्वत को दाँतों से उठा ले। निदान उस हस्ती को एक महावत ने जैसे राजा बलि को विष्णु भगवान् ने छल करके बाँधा था, लोहे की जन्जीर से बाँधा, और वह आसपास के एक वृक्ष पर चढ़ बैठा कि कूदकर हाथी के ऊपर चढ़ बैठूँ। वह हाथी जञ्जीर में महाकष्ट को प्राप्त हुआ। उसने इतना दुःख पाया जिसका वर्णन नहीं हो सकता। तब हाथी के मन में विचार आया कि जो अब मैं बल से जञ्जीर न तोड़ूँगा तो कैसे छूटूँगा ? यह सोचकर उसने उस जञ्जीर को बल करके तोड़ दिया। तब वृक्ष पर जो महावत बैठा था, वह गिरकर हाथी के पैरों के आगे आ पड़ा और भय को प्राप्त हुआ। जैसे वृक्ष का फल पवन से गिर पड़ता है, वैसे ही महावत भय से गिर पड़ा। जब इस प्रकार महावत गिरा, तब हाथी ने विचार किया कि यह

मृतक समान है, इस मरे को क्या मारना है ? यद्यपि यह मेरा शत्रु है तो भी मैं इसे नहीं मारूँगा, इसके मारने से मेरा क्या पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? इसलिये जैसे स्वर्ग के द्वार को तोड़कर दैत्य वहाँ प्रवेश करते हैं, वैसे ही जञ्जीर तोड़कर वह हाथी वन में गया और महावत हाथी को गया देख उठ बैठा और अपने स्वभाव में स्थित हुआ।

वह फिर हाथी के पीछे चला और हाथी को ढूँढ लिया। जैसे चन्द्रमा को राहु खोज लेता है, वैसे ही वन में हाथी को उसने खोज लिया। तब क्या देखता है कि वह वृक्ष के नीचे सोया पड़ा है। जैसे संग्राम को जीतकर सूरमा निश्चिन्त सोता है, वैसे ही हाथी को निश्चिन्त सोया पड़ा देख महावत ने विचार किया कि इसको वश में करना चाहिए। यह विचार उसने यह उपाय किया कि वन के चारों ओर खाईं बनाई और खाईं के ऊपर कुछ तृण और घास डाली। जैसे शरत्काल के आकाश में बादल देखने भर को होता है, वैसे ही तृण और घास खाईं के ऊपर देखने भर को देख पड़ती थी। निदान जब किसी समय हाथी उठकर चला और खाईं के बीच में गिर पड़ा, तब महावत ने हाथी के निकट आ उसे जञ्जीरों में बाँधा। तब वह हाथी बड़े दुःख को प्राप्त हुआ। जो तप करके वन में दुःख पाता है, उसने भविष्य का विचार नहीं किया। अज्ञानी को भविष्य का विचार नहीं होता, इसी से वह दुःख पाता है। हे राजन् ! यह जो मणि और हाथी के आख्यान तुमको मैंने सुनाये हैं, उनको जब तुम समझ लोगे तब आगे मैं उपदेश करूँगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हस्तिआख्यानवर्णनं नाम सप्ततितमस्सर्गः ।। ७० ।।

इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब देवपुत्र ने ऐसे कहा, तब राजा बोला, हे देवपुत्र ! यह दो आख्यान जो तुमने कहे हैं, सो तुम्हीं जानते हो, मैं तो कुछ नहीं समझा। इससे तुम्हीं इन्हें समझाकर कहो। देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! तुम शास्त्र के अर्थ में तो बहुत चतुर हो और सब अर्थों के ज्ञाता हो, परन्तु स्वरूप में तुम्हारी स्थिति नहीं है। इससे जो

वचन मैं कहता हूँ, उसे बुद्धि से ग्रहण करो। हस्ती क्या है और चिन्तामणि क्या है ? प्रथम जो तुमने सब त्याग किया था सो चिन्तामणि थी और उसके निकट प्राप्त होकर तुम सुखी हुए थे। यदि उसको तुम अपने पास रखते तो सब दुःख निवृत्त हो जाते। पर मणि का तो तुमने निरादर किया, जो उसको त्यागा और काँच की मणि तपक्रिया को ग्रहण किया, इसलिए दरिद्री ही रहे। हे राजन् ! सर्वत्यागरूपी चिन्तामणि थी और इस क्रिया का आरम्भ काँच की मणि है। उसको तुमने ग्रहण किया है। इससे दरिद्री की निवृत्ति नहीं होती—मनुष्य दुखी ही रहता है। हे राजन् ! सर्वत्याग तुमने नहीं किया, और जो किया भी था, पर कुछ शेष रह गया और वह रहकर फिर फैल गया। जैसे बड़ा बादल वायु से क्षीण हो जाता है और सूक्ष्म रह जाता है, और पवन के लगने से फिर फैल जाता है और सूर्य को छिपा लेता है। वह बादल क्या है, सूर्य क्या है और थोड़ा रहना क्या है, यह भी सुनो। स्त्रियों और कुटुम्ब आदि को त्याग कर इनमें अहंकार करना ही बड़ा बादल है। वैराग्यरूपी पवन से तुमने राज्य और कुटुम्ब का अहंकार त्याग किया; पर देहादिक में अहंकार सूक्ष्म बादल सा-रह गया था सो वह फिर बढ़ गया। तुमने जो अनात्म में अभिमान करके क्रिया का आरम्भ किया, इससे आत्मारूपी सूर्य जो अपना आप है, वह अहंकाररूपी बादल से ढक गया और ज्ञानरूपी चिन्तामणि अज्ञानरूपी काँच की मणि से छिप गई ? जब ज्ञान से आत्मा को जानोगे, तब आत्मा प्रकाशित होगा, अन्यथा न भासित होगा। जैसे कोई पुरुष घोड़े पर चढ़कर दौड़ता है तो उसकी वृत्ति घोड़े में होती है, वैसे ही जिस पुरुष की आत्मा में दृढ़ निश्चय होता है, उसको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। हे राजन् ! आत्मा को पाना सुगम है, जो सुख से ही मिलता है और उससे बड़े आनन्द की प्राप्ति होती है। तप आदिक क्रियाएँ कष्ट से सिद्ध होती हैं, उनसे स्वरूप-सुख की प्राप्ति नहीं होती।

हे राजन् ! मैं जानता हूँ कि तुम मूर्ख नहीं, बल्कि शास्त्रों के ज्ञाता और बहुत चतुर हो। तथापि तुम्हें स्वरूप में स्थिति नहीं प्राप्त हुई जैसे

आकाश में पत्थर नहीं ठहरता। इससे मैं जो उपदेश करता हूँ, उसको ग्रहण करो तो तुम्हारे दुःख निवृत्त हो जावेंगे। हे राजन् ! यह सबसे श्रेष्ठ ज्ञान कहा है। अब और कहता हूँ। तुमने जो तप का आरम्भ किया है और उसका जो फल जाना है, उस ज्ञान से यह श्रेष्ठ ज्ञान कहता हूँ। इससे तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जायगा। हे राजन् ! मैंने यह चिन्तामणि का सम्पूर्ण तात्पर्य तुमसे कहा। अब हाथी का वृत्तान्त, जो आश्चर्यरूप है, वह भी सुनो, जिसके समझने से अज्ञान निवृत्त हो जायगा। मन्दराचल का हाथी तो तुम हो और महावत तुम्हारा अज्ञान है। इस अज्ञानरूपी महावत ने तुमको बाँधा था और तुम आशारूपी जञ्जीरों से बँधे। और जञ्जीरे घिस जाती हैं, पर आशारूपी फाँसी नहीं कटती। यह दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। हे राजन् ! आशारूपी फाँसी से तुम महादुःखी थे। हस्ती के जो बड़े दाँत थे, जिनसे उसने साँकलों को तोड़ा था, वे विवेक और वैराग्य थे। तुमने विचार किया कि मैं बल करके छूटूँ। राज्य, कुटुम्ब और पृथ्वी का त्याग कर जब तुमने उस फाँसी को काटा तब आशारूपी रस्सी कटे तो अज्ञानरूपी महावत भय को प्राप्त हुआ और तुम्हारे चरणों के तले आ पड़ा। जैसे वृक्ष के ऊपर वैताल रहता है और कोई वृक्ष को काटने आता है तब वैताल भय को प्राप्त होता है, वैसे ही तुमने वैराग्य और विवेकरूपी दाँतों से आशा के फाँस काटे, तब अज्ञानरूपी महावत गिरा और तुमने एक घाव लगाया, परन्तु मार न डाला, इससे महावत वैसे ही तुमसे भाग गया, जैसे वृक्ष पर वैताल रहता है और वृक्ष को कोई काटने लगता है, तब वैताल भाग जाता है। हे राजन् ! वैसे ही वृक्ष को तुमने वैराग्यरूपी शस्त्र से काटा, तब अज्ञानरूपी वैताल भागा था; मूर्खता से उसको तुमने नहीं मारा, बल्कि उसको छोड़कर वन को गये। जब तुम वन में आये, तब अज्ञानरूपी महावत तुम्हारे पीछे चला आया और उसने तुम्हारे चारों ओर खाईं खोदी। तब आदिक क्रिया आरम्भ कर तुम उस खाईं में गिर पड़े और महादुःख को प्राप्त हुए। तब उसने तुम्हें जञ्जीरों से फिर बाँधा और बँधे हुए तुम अब तक दुःख पाते हो। अनात्म अभिमान से तुमने यहाँ

तपादिक क्रियाओं का आरम्भ किया है। ऐसी खाईं में तुम पड़े हो।

हे राजन् ! तुम जानकर खाईं में नहीं गिर पड़े। खाईं के ऊपर घास और तृण पड़ा था, उस छल से तुम गिर पड़े हो। वह छल् और तृण क्या है, यह भी तुम सुनो। प्रथम तो अज्ञानरूपी शत्रु को तुमने न मारा और जञ्जीरों के भय से भागे कि वन मेरा कल्याण करेगा; पर सन्तों और शास्त्रों के वचनों को न जाना कि वे तुम्हारे दुःख निवृत्त करेंगे। उन वचनरूपी खाईं पर तृणादिक था, इसी मूर्खता के कारण तुम गिरे। जैसे राजा बलि पाताल में छल से बाँधा हुआ है, वैसे ही तुमने भविष्य का विचार न किया कि अज्ञानरूपी शत्रु जो रह गया है, वह मेरा नाश करेगा। इस विचार के बिना तुम फिर दुखी हुए। सब त्याग तो किया, परन्तु यह न जाना कि मैं अक्रिय हूँ, इस क्रिया का आरम्भ काहे को करता हूँ ? इसी से तुम फिर फाँसी से बँधे हो। हे राजन् ! जो पुरुष इस फाँसी से मुक्त हुआ है, वही मुक्त है और जिसका चित्त अनात्म-अभिमान से बँधा है कि यह मुझे प्राप्त हो, वह उससे दुःख पाता है। जिस पुरुष ने वैराग्य और विवेकरूपी दाँतों से आशारूपी जञ्जीर को नहीं काटा, वह कदापि सुख नहीं पाता। विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य से विवेक होता है। विवेक सत्य के जानने और असत् देहादिक को असत्य जानने को कहते हैं। जब ऐसे जाना तब असत् की ओर भावना नहीं जाती, यह वैराग्य हुआ। वैराग्य से विवेक और विवेक से वैराग्य उपजता है। इन विवेक और वैराग्यरूपी दाँतों से आशारूपी जञ्जीर को तोड़ो। हे राजन्! यह हस्ती का वृत्तान्त जो तुमसे कहा है, उस पर विचार करने से तुम्हारा मोह निवृत्त हो जावेगा। हे राजन् ! वह हाथी बड़ा बली था और महावत कम बली। उस अज्ञानरूपी महावत को मूर्खता करके तुमने न मारा, इसी से दुःख पाते हो। अब तुम वैराग्य और विवेकरूपी दाँतों से आशारूपी फाँसी को तोड़ो, तब दुःख सब मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हस्तीवृत्तान्तवर्णनं नामैकसप्ततितमस्सर्गः ।। ७१।।

देवपुत्र बोले, हे राजन् ! ब्रह्मवेत्ता और सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ, साक्षात् ब्रह्मस्वरूप और सत्यवादिनी तुम्हारी स्त्री जो चुड़ाला थी, उसने तुम्हें उपदेश किया था; पर तुमने उसके वचनों का किस निमित्त निरादर किया? मैं तो सब जानता हूँ, क्योंकि त्रिकालज्ञ हूँ ; तो भी तुम अपने मुख से कहो। एक तो यह मूर्खता की कि उपदेश न अंगीकार किया और दूसरी यह मूर्खता की कि सर्वत्याग न करके फिर वन अंगीकार किया। जो सर्वत्याग करते तो सब दुःख मिट जाते। जब ऐसे देवपुत्र ने कहा, तब राजा ने कहा, हे देवपुत्र ! मैंने तो स्त्री, पृथ्वी, मन्दिर, हाथी इत्यादिक ऐश्वर्य और कुटुम्ब को त्याग किया है; आप कैसे कहते हैं कि त्याग नहीं किया ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! तुमने क्या त्यागा है ? राज्य में तुम्हारा क्या था। जैसे ऐश्वर्य आगे था, वैसे ही अब भी है और स्त्रियाँ भी जैसे और मनुष्य थे वैसे ही थीं; पृथ्वी, मन्दिर और हस्ती जैसे आगे थे, वैसे ही अब भी हैं। उनमें तुम्हारा क्या था जो त्याग किया ? हे राजन् ! सर्वत्याग तुमने अब भी नहीं किया। जो तुम्हारा हो उसको तुम त्याग करो, जिससे निर्दुःख पद को प्राप्त होओ। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा, तब शूरवीर जो इन्द्रियजित् राजा था, वह मन में विचारने लगा कि यह वन मेरा है और वृक्ष, फूल, फल मेरे हैं, इनका त्याग करूँ। ऐसा विचारकर बोला, हे देवपुत्र ! वन, वृक्ष, फूल और फल जो मेरे थे, उनका भी मैंने त्याग किया। अब तो सर्वत्याग हुआ ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ; क्योंकि वन, वृक्ष, फूल और फल तुमसे पहले भी थे। इनमें तुम्हारा क्या है ? जो तुम्हारा हो, उसको त्यागो, तब सुखी होगे।

हे राम ! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा, तब राजा ने मन में विचारा कि मेरी जलपान की बावली और बगीचे हैं, इनका त्याग करूँ, तब सर्वत्याग सिद्ध हो। फिर कहा, हे भगवन् ! मेरी यह बावली और बगीचे हैं, उनका भी मैंने त्याग किया। अब तो मेरा सर्वत्याग सिद्ध हुआ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! सर्वत्याग अब भी नहीं हुआ। जो तुम्हारा

है, उसको जब त्यागोगे, तब शान्तपद को प्राप्त होगे। हे राम ! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा, तब राजा विचारने लगा कि अब मेरी मृगछाला और कुटी है, उसका भी त्याग करूँ। ऐसे विचारकर बोला कि हे देवपुत्र ! मेरे पास एक मृगछाला और एक कुटी है। उसका भी मैंने त्याग किया। अब तो सर्वत्यागी हुआ ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! मृगछाला में तुम्हारा क्या है, यह तो मृग की त्वचा है। और कुटी में तुम्हारा क्या है, यह तो मिट्टी और शिला की बनी है। इससे तो सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता ? जो कुछ तुम्हारा है, उसको त्यागोगे, तब सर्वत्याग होगा और तभी तुम सब दुःखों से छूट जाओगे। हे राम ! जब ऐसे कुम्भज ने कहा, तब राजा ने मन में विचार किया कि अब मेरा एक कमण्डलु , एक माला और एक लाठी है, इसका भी त्याग करूँ। ऐसे विचारकर राजा शान्ति के लिए बोला, हे देवपुत्र ! मेरी लाठी, कमण्डलु और एक माला है, उसका भी मैंने त्याग किया। अब तो मैं सर्वत्यागी हुआ ?

देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! कमण्डलु में तुम्हारा क्या है ? कमण्डलु तो वन का तुम्बा है, उसमें तुम्हारा कुछ नहीं। लाठी भी वन के बाँस की है और माला भी काष्ठ की है, उनमें तुम्हारा क्या है ? जो कुछ तुम्हारा है उसका त्याग करो। जब तुम उसका त्याग करोगे, तब दुःख से रहित हो जाओगे। हे राम ! जब इस प्रकार कुम्भज ने कहा, तब राजा शिखर-ध्वज ने मन में विचारा कि अब मेरा क्या रह गया। तब देखा कि एक आसन और बासन हैं, जिसमें फूल और फल रखते हैं; अब इनका भी त्याग करूँ। तब राजा ने कहा, हे भगवन् ! आसन और बासन मेरे पास रह गये हैं, इनका भी मैं त्याग करता हूँ। अब तो सर्वत्यागी हुआ ? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ। आसन तो भेड़ों की ऊन का है और बासन मृत्तिका के हैं; इनमें तुम्हारा कुछ नहीं। जो कुछ तुम्हारा है, उसका त्याग करो, तब सर्वत्याग हो और तुम दुःख से निवृत्त होगे। हे राम ! जब इस प्रकार कुम्भज ने कहा तब राजा उठ खड़ा हुआ और वन की लकड़ी इकट्ठी करके उनमें आग लगाई। जब बड़ी

अग्नि लगी तब लाठी को हाथ में लेकर कहने लगा, हे लाठी ! मैं तेरे साथ बहुत देशों में फिरा हूँ , परन्तु तूने मेरे साथ कुछ उपकार न किया। अब मैं कुम्भज मुनि की कृपा से तरूँगा, तुझे नमस्कार है। ऐसे कहकर लाठी को अग्नि में डाल दिया। फिर मृगछाला को हाथ में लेकर कहा, हे मृग की त्वचा ! बहुत दिन मैं तेरे ऊपर बैठा हूँ, परन्तु तूने कुछ उपकार न किया। अब कुम्भज मुनि की कृपा से मैं तरूँगा, तुझे नमस्कार है। ऐसे कहकर मृगछाला को अग्नि में डाल दिया।

फिर कमण्डलु को लेकर कहने लगा, हे कमण्डलु ! तू धन्य है कि मैंने तुझे धारण किया और तूने मेरे जल को धरा। तूने मुझसे गुणगोपन नहीं किया, तो भी कमण्डलु की जैसी प्रवृत्ति त्यागनी है, वैसी ही निवृत्ति की कल्पना भी त्यागनी है। इससे तुझे नमस्कार है, तू जा। ऐसे कहकर कमण्डलु भी अग्नि में जला दिया। फिर माला को हाथ में लेकर कहने लगा, हे माले ! तेरे दाने जो मैंने घुमाये हैं सो मानों अपने जन्म गिने हैं। तेरे सम्बन्ध से जप किया है और दिशा-विदिशा गया हूँ। अब तुझको नमस्कार है। ऐसे कहकर माला को भी अग्नि में डाल दिया। इसी प्रकार फल, फूल कुटी और आसन सब जला दिये। तब बड़ी अग्नि जगी और बड़ा प्रकाश हुआ। जैसे सुमेरु पर्वत के ऊपर सूर्य चढ़े और मणि का भी चमत्कार हो तो बड़ा प्रकाश होता है, वैसे ही बड़ी अग्नि लगी और राजा ने सम्पूर्ण सामग्री का त्याग किया। जैसे पके फल को वृक्ष त्यागता है और जैसे पवन चलने से ठहरता है तब धूल से रहित होता है, वैसे ही राजा सम्पूर्ण सामग्री को त्याग निर्विध्न निर्द्वद्व हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजसर्वत्याग-
वर्णनं नाम द्विसप्ततितमस्सर्गः ।। ७२।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! निदान सम्पूर्ण सामग्री जलकर भस्म हो गई। जैसे सदाशिव के गणों ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ को स्वाहा कर दिया था, वैसे ही जितनी कुछ सामग्री थी, सो सब स्वाहा हो गई और वह वन

बड़ा प्रज्वलित हुआ। जितने वृक्ष के रहने वाले पक्षी थे, वे भाग गये और मृग, पशु जो आहार व जुगाली करते थे, वे भी सब भाग गये। जैसे पुर में आग लगने से पुरवासी भाग जावें, वैसे ही सब भाग गये। तब राजा ने मन में विचारा कि अब कुम्भज की कृपा से मैं बड़े आनन्द को प्राप्त हुआ और अब सब मेरे दुःख मिट गये। जो कुछ वस्तु मन के संकल्प से रची थी सो सब जला दी, अब उसका न मुझे हर्ष है, न शोक। ये सब दुःख ममत्व से होते हैं, सो मेरा ममत्व अब किसी से नहीं रहा, इससे कोई दुःख भी नहीं। अब मैं ज्ञानवान् हुआ हूँ, अब मेरी जय है; क्योंकि अब निर्मल होकर सबका मैंने त्याग किया है। ऐसा विचार करके राजा उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला, हे देवपुत्र ! अब तो मैंने सबका त्याग किया; क्योंकि आकाश मेरे वस्त्र हैं और पृथ्वी मेरी शय्या है।

जब राजा ने ऐसे कहा, तब कुम्भज मुनि ने कहा, हे राजन् ! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ। जो तुम्हारा है उसका त्याग करो, जिससे तुम्हारे दुःख निवृत्त हो जावें। फिर राजा ने कहा, हे भगवन् ! अब तो मेरे पास और कुछ नहीं रहा, नंगा होकर तुम्हारे आगे खड़ा हूँ। अब एक रक्त-मांस की देह इन्द्रियों को धारण करने वाली है। जो कहो तो इसका भी त्याग करूँ। पर्वत पर जाकर ढाल दूँ। ऐसे कहकर राजा पर्वत को दौड़ा, पर कुम्भज मुनि ने रोका और कहा, हे राजन् ! ऐसे पुण्यवान् देह को क्यों त्यागते हो ? इसके त्याग से सर्वत्याग नहीं होता। जिसके त्याग से सर्वत्याग हो, उसका त्याग करो। इस देह में क्या दूषण है। जैसे वृक्ष में फूल-फल होते हैं और जब वायु चलती है, तब गिरते हैं, सो फूल-फल गिरने का कारण वायु है, वृक्ष में कुछ दूषण नहीं, वैसे ही देह में कुछ दूषण नहीं। देह को पालने वाला जो अभिमान है, उसका त्याग करो तो सर्वत्याग सिद्ध हो। देह तो जड़ है, जो कुछ मनुष्य इसको देता है, वही यह लेता है; आगे से बोलता नहीं। इस जड़ के त्यागे क्या सिद्ध होता है ? जैसे हवन से वृक्ष हिलता है और भूकम्प से पर्वत काँपते हैं, वैसे ही देह आप कुछ नहीं करती; और की प्रेरणा से चेष्टा करती है। जैसे पवन से समुद्र के तरंग

तृणों को जहाँ ले जाते हैं, वहाँ वे चले जाते हैं, वैसे ही देह आपसे कुछ नहीं करती। इसको जो प्रेरणा करने वाला है, उसके बल से यह चेष्टा करती है। इससे देह के प्रेरक का त्याग करो तो सुखी होगे। हे राजन् ! जिससे सब है, जिसमें सर्व शब्द है और जो सब ओर से त्यागने योग्य है, उसका त्याग करो।

राजा ने पूछा, हे भगवन् ! वह कौन है जो सब है, जिसमें सर्व शब्द है और जो सब ओर से त्यागने योग्य है ? हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ! जिसके त्याग से जरा व मृत्यु नष्ट हो जावे, सो कहिये। तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! जिसका नाम चित्त (आकार) है उसका त्याग करो। बाहर नाना प्रकार के आकार चित्त ही से देख पड़ते हैं, इससे चित्त का ही त्याग करो। हे राजन् ! सर्प बिल में बैठा हो तो बिल का कुछ दूषण नहीं, विष-सर्प में है, जिससे वह डसता है। इसलिये उसके नाश का उपाय करो। और सर्व शब्द भी इस चित्त में ही हैं। आत्मा तो चिन्मात्र है। उसमें न एक है और न द्वैत है। सब ओर से इसी चित्त का त्याग करना योग्य है। जब इस चित्त का त्याग करोगे, तब त्यागरूपी अमृत से अमर हो जाओगे और जरा-मृत्यु से रहित होगे। जो चित्त का त्याग न करोगे तो फिर देह धारण कर दुःख भोगोगे। जैसे एक खेत में अनेक दाने उत्पन्न होते हैं, पर जब खेत ही जल जाता है, तब अन्न नहीं उपजता, वैसे ही यह जो देह और जरा-मृत्यु नामक संसार के दुःख हैं, इनका बीज चित्त ही है। जैसे अनेक दानों का कारण खेत है वैसे ही संसार के असंख्य दुःखों का कारण चित्त है। इससे हे राजन् ! चित्त का त्याग करो। जब इसका त्याग करोगे तब सुखी होगे। हे राजन् ! जिसने सर्वत्याग किया, वह सुखी हुआ है। जैसे आकाश सब पदार्थों से रहित है, किसी का स्पर्श नहीं करता और सबसे बड़ा और सुखरूप है और सब पदार्थों के नष्ट होने पर भी ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही हे राजन् ! तुम भी सर्वत्यागी हो रहो। राज्य, देह, कुटुम्ब और गृहस्थ आदिक जो आश्रम हैं, उन सबकी चित्त ने

कल्पना की है। जो एक का त्याग नहीं होता तो कुछ भी नहीं त्यागा। जब चित्त का त्याग करो, तब सर्वत्याग हो।

हे राजन् ! यह धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य तीनों चित्त की कल्पना हैं, जब चित्त पुण्यकर्म में लगता है, तब पुण्य ही प्राप्त होता है और जब पाप क्रिया में लगता है, तब पाप ही प्राप्त होकर अधर्म और दरिद्र होता है। जब पुण्य का फल उदय होता है, तब सुख प्राप्त होता है, और जब पाप का उदय होता है, तब दुःख प्राप्त होता है। इससे जन्ममरण के दुःख नहीं मिटते। जब चित्त का त्याग होता है, तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। हे राजन् ! जो पुरुष किसी वस्तु को नहीं चाहता, उसकी बहुत पूजा होती है। जो कहता है कि इस वस्तु को मुझको दे, उसको कोई नहीं देता। इससे सर्वत्याग कर सुखी हो। सर्वत्याग करने से सर्वव्यापी तुम ही होगे और सर्वात्मा होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने में देखोगे। जैसे माला के दाने में तागा होता है, और दाने भी तागे के आधार से होते हैं, उनमें और कुछ नहीं होता, वैसे ही देखोगे कि तुम सर्वमय और एकरस हो; तुम ही में ब्रह्माण्ड स्थित है। सब तुम्हीं हो, तुमसे कुछ भिन्न नहीं। हे राजन् ! जिसने सबका त्याग किया है, वह सुखी है और समुद्र की नाईं स्थित है, उसको कोई दुःख नहीं। इससे तुम चित्त का त्याग करो, जिसमें रागद्वेष मिट जावे। इस चित्त के इतने नाम हैं—चित्त, मन, अहंकार, जीव और माया। हे राजन् ! अपने ऐश्वर्य को त्यागने और औरों की भिक्षा लेने से तो चित्त वश नहीं होता, चित्त तभी वश में होता है, जब पुरुष निर्वासनिक होता है। जब तक चित्त रहता है, तब तक सर्वत्याग नहीं होता। जब चित्त की चेतना निवृत्त होती है, तब चित्त का त्याग होता है। चित्त का त्याग करने पर भी जब त्याग के अभिमान से रहित होगे, तब सर्वात्मा होगे। जब चित्त को त्यागोगे, तब उस पद को प्राप्त होगे, जो जितने ऐश्वर्य और सुख हैं उनका आधार है; जितने दुःख हैं उनका नाश करनेवाला है; जिसके जान लेने पर किसी पदार्थ की इच्छा न रहेगी; क्योंकि सब आनन्दों का आधार तेरा

स्वरूप है, फिर इच्छा किसकी रहे। जैसे आकाश के आश्रय में देवलोक आदि सब विश्व रहता है और आकाश को कुछ इच्छा नहीं वैसे ही वह ब्रह्मपद है। आकाश कोई इच्छा नहीं करता, तो भी सब कुछ आकाश ही में है। और वह सबका आधार है, वैसा ही ब्रह्म है। वही ब्रह्मरूप तुम हो।

हे राजन् ! जब तुम भी किसी की इच्छा न करोगे, तब निर्वासनिक होकर अपने स्वरूप में स्थित होगे और जानोगे कि सबकी आत्मा मैं ही हूँ , सबको धारण कर रहा हूँ और भूत भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल भी मेरे आश्रय में है। जैसे समुद्र के आश्रित तरंग हैं, वैसे ही मेरे आश्रित काल है। चित्त का सम्बन्ध तुम्हें प्रमाद से है और प्रमाद यही है कि चिन्मात्रपद में चित्त होकर फुरता है। चित्त ऐसा है कि वह जड़ भी है और चेतन भी। इसी का नाम चिद्जड़ग्रन्थि है। जब यह ग्रन्थि खुल जावेगी, तब तुम अपने को वासुदेवरूप जानोगे। जब निर्वासनिक होगे, तब संसाररूपी वृक्ष नष्ट हो जावेगा। जैसे बीज में वृक्ष होता है, वैसे ही चित्त में संसार है और जैसे बीज के जलने से वृक्ष भी जल जाता है वैसे ही वासना के दग्ध होने से संसार भी दग्ध होता है। हे राजन् ! जैसे किसी डिब्बे में रत्न होते हैं तो रत्नों के नाश होने पर डिब्बा नहीं नष्ट होता, पर डिब्बे के नष्ट होने पर रत्न नष्ट होते हैं। डिब्बा क्या है और रत्न क्या है सो भी सुनो। डिब्बा तो चित्त है और रत्न देह है। इससे चित्त के नाश होने के उपाय करो। जब चित्त नष्ट होगा, तब देह से रहित होंगे। देह के नष्ट होने पर चित्त नहीं नष्ट होता; पर चित्त के नष्ट होने पर देह नष्ट हो जाती है। जब यह देह चित्तरूपी धूल से रहित होगी, तब तुम केवल शुद्ध आकाश रहोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तत्यागवर्णनं नाम त्रिसप्तितमस्सर्गः ।। ७३।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार कुम्भज ने कहा कि चित्त का त्यागना ही सर्वत्याग है, तब शिखरध्वज ने पूछा, हे भगवन् ! मैं चित्त

को कैसे स्थित करूँ ? चित्त संसाररूपी आकाश की धूल है। संसाररूपी वृक्ष का निवासी चित्तरूपी वानर कभी स्थिर नहीं होता; ऐसे चित्त को मैं कैसे स्थिर करूँ ? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! चित्त का रोकना तो सुगम है। नेत्रों के खोलने और मूँदने में भी कुछ यत्न करना पड़ता है, परन्तु चित्त के रोकने में कुछ यत्न नहीं। हाँ दीर्घदर्शी को यह सुगम है और अज्ञानी को कठिन। जैसे चाण्डाल के लिए पृथ्वी का राजा होना और तृण के लिए सुमेरु होना कठिन है, वैसे ही अज्ञानी के लिए चित्त का रोकना कठिन है। राजा ने पूछा, हे देवपुत्र ! पर्वत तोड़ना कठिन है तो भी वह टूट जाता है; परन्तु मन का रोकना अति कठिन है। जैसे बड़े मच्छ को बालक नहीं रोक सकता, वैसे ही मैं चित्त को नहीं रोक सकता। हे देवपुत्र! तुम कहते हो कि मन को रोकना सुगम है, पर मुझको तो ऐसा कठिन लगता है, जैसे अन्धे पुरुष को लिखी हुई मूर्ति नेत्रों से नहीं देख पड़ती तो वह उसे हाथ में कैसे ले, वैसे ही मन को वश करना मुझे कठिन भासता है। प्रथम चित्त का रूप मुझसे कहिये।

कुम्भज बोले, हे राजन् ! इस चित्त का रूप वासना है। जब वासना नष्ट होगी, तब चित्त भी नष्ट हो जावेगा। इससे वासनारूपी बीज को तुम नष्ट करो तो चित्तरूपी वृक्ष भी नष्ट हो और न कोई डाल रहे, न कोई फूल-फल हों। यदि डाल को काटोगे तो वृक्ष फिर फिर होगा; क्योंकि डाल के काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता, फिर कई डालें लग जाती हैं। जब बीज को नष्ट करो तब वृक्ष भी नष्ट हो जावेगा। राजा बोले, हे भगवन् ! चित्तरूपी फूल की यह संसार सुगन्ध है; चित्तरूपी कमल का यह संसार सरोवर है; देहरूपी तृण को उठाने और उड़ानेवाला पवन चित्त है; चित्तरूपी तिल का तेल जरा-मृत्यु और आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःख हैं, चित्तरूपी आकाश का अंधेरा यह संसार है और हृदयरूपी कमल का भँवरा चित्त है। बीज क्या है, और डाल क्या है, डाल का काटना क्या है, वृक्ष क्या है और फूल-फल क्या है, सो कृपा कर कहो। कुम्भज बोले, हे राजन् ! चैतन्यरूपी खेत स्वच्छ और निर्मल है। उसमें अहंभाव बीज

है। उसी को अहंकार, चित्त, मन, जड़ और मिथ्या कहते हैं। उस अहंकार में जो संवेदन है वही देह और इन्द्रियाँ होकर फैला है और उसमें जो निश्चय है वह बुद्धि है। उस बुद्धि में जो निश्चय है कि 'यह मैं हूँ' यही संसार है और वही जीव का अहंकार है। अहंकार इस वृक्ष का बीज है; चित्तरूपी वृक्ष की डालें और सुख-दुःख इस चित्तरूपी वृक्ष के फल हैं। हे राजन् ! एकान्त में बैठकर और चिन्तना से रहित होकर एक आश्रय का त्याग करना और दूसरे को अंगीकार करना और इस प्रकार स्थित होना कि मैं ऐसा त्यागी हूँ, इसकी चिन्तना ही उस डाल का काटना है। हे राजन् ! इस डाल को काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह तो ऐसा होकर स्थित होता है कि मैं हूँ। होना यह चाहिये कि वासना त्याग करे और कुछ न फुरे। जब अहंरूपी बीज नष्ट हो जाता है, तब जगत्रूपी वृक्ष भी नष्ट हो जाता है; क्योंकि इसका बीज अहं ही है। जब अहंभाव बीज नष्ट हुआ, तब वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। इससे चित्तरूप बीज को तुम नष्ट करो।

राजा बोले, हे देवपुत्र ! तुम्हारा निश्चय मैंने यह जाना है कि जगत् के त्यागने से चित्त को नष्ट करना श्रेष्ठ है। हे भगवन् ! इतने काल तक मैं डालें काटता रहा हूँ, इसी से मेरे दुःख नहीं नष्ट हुए। आपने कहा कि अहं ही दुःखदायी है, इसलिये कृपा करके कहिये कि अहं कैसे उत्पन्न होता है ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! शुद्ध चैतन्य में जो चैतन्योन्मुखत्व अहं का स्फुरण हुआ कि 'मैं हूँ,' वही दृश्यरूप हुआ है और मिथ्या संवेदन से हुआ है। जैसे शान्त समुद्र में पवन से लहरें उठती हैं, वैसे ही शुद्ध आत्मा में अहं फुरता है और उससे संसार हुआ है। इससे अहंभाव नष्ट करो, जिससे शान्तपद में स्थित होओ। जो दुःखदायक वस्तु है, उसको नष्ट करें तो शान्त हो। राजा ने पूछा, हे भगवन् ! वह कौन वस्तु है जो जलाने योग्य है और वह कौन अग्नि है, जिसमें वह जलती है ? कुम्भज बोले, हे त्यागियों में श्रेष्ठ राजा ! तुम्हारा जो अपना स्वरूप है, उसका विचार करो कि 'मैं क्या हूँ' और

'यह संसार क्या है' इसका दृढ़ विचार करना ही अग्नि है। मिथ्या अनात्मा अर्थात् देह-इन्द्रियादिक में अहंभाव को अवास्तवरूप विचार-अग्नि में जलाओ। जब विचार-अग्नि से अहंकार-बीज को जलाओगे, तब केवल चिन्मात्र रहेगा। हे राजन् ! मेरे उपदेश से तुम अपने को क्या जानते हो, सो मुझसे कहो। राजा ने कहा-मैं राजा, पृथ्वी, पर्वत, आकाश, दसो दिशा, रूधिर, मांस, देह, कर्म-इन्द्रियाँ, ज्ञान-इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार नहीं; मैं इससे रहित शुद्ध आत्मा हूँ। परन्तु हे भगवन् ! अहंरूपी कलंक मुझे कहाँ से लगा है कि उस कलंक को मैं दूर नहीं कर सकता ?

तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! इसी अहं का त्याग करो, जो मैंने त्याग किया है। बल्कि यह फुरना भी न फुरे, नितान्त शून्य हो रहे। जब इसका त्याग करोगे, तब चैतन्य आकाश ही रहेगा। हे राजन् ! तुम अपने स्वरूप को जानो कि कौन हो। राजा ने कहा, हे भगवन् ! मैं यह जानता हूँ कि मेरा स्वरूप वही आत्मा है, जो सबका आत्मा है; मैं आनन्दरूप हूँ और सब मेरा प्रकाश है। परन्तु मैं यह नहीं जानता कि अहंभाव की कलना कहाँ से लगी है ? इसका मैं नाश नहीं कर सकता। पर यह मैंने जाना है कि संसार का बीज चित्त ही है और चित्त का बीज अहंकार है। तुम्हारी कृपा से मैंने जाना है कि मेरा स्वरूप आत्मा है और 'अहं,' 'त्वं,' मुझमें कोई नहीं। तुम भी इस अहंरूप कलंक को दूर कर रहे हो, पर मुझसे दूर नहीं होता। फिर-फिर मन में आता है कि मैं शिखरध्वज हूँ। इस अहं से मैं संसारी हूँ। इसके नाश का उपाय आप कहिए। कुम्भज बोले, हे राजन् ! कारण बिना कार्य नहीं होता। जो कारण बिना कार्य भासित हो तो जानिये कि वह भ्रममात्र और मिथ्या है, और जिसका कारण पाइये, उसे जानिये कि सत्य है। इससे तुम कहो कि इस अहंकार का कारण क्या है, तब मैं उत्तर दूँगा ? राजा बोले, हे भगवन् ! अहंकार का कारण शुद्ध आत्मा है। शुद्ध आत्मा में जो यह ज्ञान हुआ है कि मैं हूँ, यही उत्थान है। और दृश्य की ओर जो मन लगा है सो संवेदन ही

अहं का कारण है। कुम्भज बोले, हे राजन् ! इसे जानने का कारण क्या है ? प्रथम तुम यह कहो, पीछे दूर करने का उपाय मैं कहूँगा। हे राजन्! जिसका कारण सत् होता है, वह कार्य भी सत् होता है और जो कारण झूठ होता है तो कार्य भी झूठा होता है। जैसे भ्रमदृष्टि से जो दूसरा चन्द्रमा आकाश में दीखता है, उसका कारण भ्रम है। इससे इस भ्रम को ही संवेदन का कारण कहा। सो जानना ही द्रष्टा और दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है।

राजा बोले, हे देवपुत्र ! जानने का कारण देहादिक दृश्य है; क्योंकि जानना तब होता है। जब जानने योग्य वस्तु आगे होती है, और जो आगे वस्तु नहीं होती है तो वह जाना भी नहीं जाता। इससे जानने का कारण देहादिक हुए। कुम्भज बोले, हे राजन् ! ये देहादिक मिथ्या भ्रम से हुए हैं; इनका कारण तो कोई नहीं। राजा बोले, हे देवपुत्र ! देह का कारण तो प्रत्यक्ष है, क्योंकि पिता से इसकी उत्पत्ति हुई है और यह प्रत्यक्ष कार्य करता देख पड़ता है; आप कैसे कहते हैं कि कारण बिना है और मिथ्या है ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! पिता का कारण कौन है? पिता भी मिथ्या है। जैसे स्वप्न में पिता और पुत्र देखिये, वे दोनों मिथ्या हैं। इससे कहो, पिता का कारण क्या है ? राजा बोले, हे भगवन् ! पुत्र का कारण पिता और पिता का कारण पितामह है। इसी प्रकार परम्परा से सबका कारण ब्रह्मा प्रत्यक्ष है; क्योंकि सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी से हुई है। कुम्भज बोले, हे राजन् ! ब्रह्मा से काष्ठ पर्यन्त सब सृष्टि संकल्प की रची है और देह भी भ्रम करके भासित होता है। जैसे मृगतृष्णा का जल और सीपी में रूप भासित होता है, वैसे ही आत्मा में देह भासित होती है। जैसे आकाश में दो चन्द्रमा भ्रम से दीखते हैं, वैसे ही आत्मा में यह संसार भ्रम से भासित होता है। जो तुम कहो कि क्रिया कैसे दीखती है तो सुनो। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र को भूषण पहनाये हैं, तो जब वन्ध्या का पुत्र ही नहीं तो भूषण किसने पहने ! अथवा जैसे स्वप्न में सब क्रिया भ्रममात्र होती है; वैसे ही यह संसार तुम्हारे भ्रम में

है। जब भ्रम निवृत्त होगा, तब केवल आत्मा ही भासित होगा। हे राजन् ! जैसे तुम अपनी देह जानते हो, वैसे ही ब्रह्मा को भी जानो। ब्रह्मा का कारण कौन है ? इससे इस भ्रम से जागो, जिसमें तुम्हारा भ्रम नष्ट हो जावे।

राजा बोले, हे भगवन् ! मैं अब जागा हूँ और मेरा भ्रम नष्ट हो गया है। मैंने अब जाना है कि यह संसार केवल संकल्पमात्र मिथ्या है। जो कुछ दृश्य है सो मिथ्या है और एक आत्मा ही मेरे निश्चय में सत् है। हे भगवन् ! ब्रह्मा का कारण भी ब्रह्म है और वह अद्वैत अविनाशी और सर्वात्मा है। ब्रह्मा का कारण यह हुआ। कुम्भज बोले, हे राजन् ! कारण और कार्य द्वैत में होते हैं, अतः वे असत् हैं, क्योंकि इस कारण का देश, वस्तु और काल से अन्त हो जाता है, अतः यह परिणामी है। जो वस्तु परिणामी हो, वह मिथ्या है। हे राजन् ! आत्मा अद्वैत है; जिसमें न एक कहना है, न द्वैत कहना है। न वह भोगता है, न भोग है, न कर्म है, न अद्वैत है। जब वह स्वरूप से परिणाम को नहीं प्राप्त होता और सर्वात्मा है, जब सर्व देश और सर्वकाल भी है, जब वह सब वस्तुओं में पूर्ण और अद्वैत है तब यदि वह अद्वैत है तो कारण कार्य किसका हो ? कारण-कार्य का सम्बन्ध द्वैत में होता है और वह परिणामी होता है। जिसमें देशकाल का अन्त है वह अद्वैत आत्मा है। उसमें न कोई देश है, न काल है और न कोई वस्तु है; वह केवल चिन्मात्रपद है।

हे राजन् ! मैं जानता हूँ कि तुम जाग्रत् होगे, क्योंकि तुम्हारा भ्रम नष्ट हो जाता है। जैसे बरफ की पुतली सूर्य की किरणों से गल जाती है, वैसे ही तुम्हारा अज्ञान नष्ट होता जा रहा है। अज्ञान के नष्ट होने पर तुम आत्मा ही होगे। तुम अपने प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप में स्थित हो और देखो कि ब्रह्मा आदिक सब परमात्मा का किंचन हैं। परमात्मा ही इन रूपों से स्थित हुआ है। और जो देख पड़ता है, उस सबका अपना आप आत्मा है। जब जागेगा तो जानेगा, जागे बिना नहीं जान सकता। राजा बोला, हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा से अब मैं जागा हूँ और जानता हूँ कि मेरा स्वरूप आत्मा है और मैं निर्मल हूँ। अब मेरा मुझको नमस्कार है। एक मैं ही हूँ; मुझसे भिन्न कुछ

नहीं। मैंने अपने को जाना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राजविश्रान्तिवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमस्सर्गः ।। ७४।।

राजा ने पूछा, हे भगवन् ! आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्मा का कारण कोई नहीं ? आत्मा ऐसा अनन्त, अच्युत, अव्यक्त और अद्वैत ईश्वर है वह षट् परिमाणों का विषय नहीं। तब परमब्रह्म तो ब्रह्मा का कारण है ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! तुम्हीं कहते हो कि आत्मा अनन्त है। जो अनन्त है, उसको देश, काल और वस्तु का परिच्छेद नहीं होता। जो सब देश, सब काल, और सब वस्तुओं में पूर्ण है, वह कारण-कार्य किसका हो ? कारण तब हो, जब पहले द्वैत हो। सो आत्मा अद्वैत है, अतः वह नहीं हो सकता। और कारण उसको कहते हैं, जो कार्य से पूर्व हो और पीछे भी वही हो-जैसे घट के आदि में मृत्तिका है और अन्त में भी मृत्तिका होती है। वह कारण कहाता है। पर आत्मा में न आदि है, न अन्त है। वह तो अनन्त है। कारण तब होता है, जब परिणाम होता है। सो आत्मा अच्युत है, अपने स्वरूप से कदापि नहीं गिरा। और भोक्ता भी द्वैत से होता। आत्मा अद्वैत है। वह भोग और भोक्ता दोनों नहीं। और आत्मा में कर्म भी नहीं। आत्मा से आदि कौन है जिससे आत्मा सिद्ध हो ? वह किसी का कार्य भी नहीं; क्योंकि कार्य इन्द्रियों का विषय होता है। सो आत्मा अव्यक्त है। और जो कार्य होता है तो उसका कारण भी होता है। सो आत्मा सबका आदि है, उसका कारण कौन हो ? जो सर्वात्मा है और स्वच्छ आकाशवत् निर्मल है, वही तुम्हारा स्वरूप है। राजा ने पूछा, हे भगवन् ! बड़ा आश्चर्य है ! मैंने जाना है कि आत्मा अद्वैत है, वह न किसी का कारण है, न कार्य, और अनुभवरूप है। वही मैं हूँ। मैं निर्मल हूँ विद्या-अविद्या के कार्य से रहित हूँ ; निर्वाणपद हूँ और निर्विकल्प हूँ ; मुझमें स्फुरण कोई नहीं। और मैं नहीं और मैं ही हूँ। मेरा मुझको नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमस्सर्गः ।। ७५।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! राजा शिखरध्वज कुम्भज मुनि के उपदेश से प्रबुद्ध हो और ऐसे वचन कहकर केवल निर्वाणपद में स्थित हुआ। जब निर्विकल्प और स्फुरण से रहित हो एक मुहुर्त पर्यन्त स्थित रहा-जैसे वायु से रहित दीपक स्थित होता है—तब कुम्भज ने उसे जगाकर कहा-हे राजन् ! तुम्हें समाधि से क्या है और उत्थान से क्या है तुम तो केवल आत्मा हो। मैं जानता हूँ कि तुम परमज्ञान से शोभित हुए हो। जैसे डिब्बे में रत्न होता है तो उसका प्रकाश बाहर नहीं देख पड़ता और जब डिब्बे से निकालकर देखिये तब बड़ा प्रकाश दीखता है, वैसे ही अविद्यारूपी डिब्बे से तुम निकले हो और परमज्ञान से शोभित हुए हो। हे राजन् ! अब तुममें न कोई क्षोभ है और न कोई उपाधि है। अब तुम संसार के रागद्वेष से रहित, शान्तरूप, जीवन्मुक्त होकर विचारपूर्वक विचरो तो तुम्हें कोई उपाधि न लगेगी।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार कुम्भज मुनि ने कहा, तब राजा शान्तरूप हो गया और बोला, हे भगवन् ! जो कुछ आपने आज्ञा की है, उसे मैंने भली प्रकार जाना। पर अभी एक प्रश्न है और उसका उत्तर कृपा करके दो कि मैं दृढ़ स्थित होके रहूँ। हे भगवन् ! आत्मा तो एक है और शुद्ध और केवल आकाशरूप चैतन्यमात्र है; उसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य त्रिपुटी कहाँ से उपजी ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह महाप्रलय पर्यन्त है। जब महाप्रलय होता है, तब केवल आत्मा ही शेष रहता है, जो स्वच्छ और निर्मल है। वहाँ न तेज होता है, न अन्धकार है। वह केवल अपने आप स्वभाव में स्थित होता है। जो कुछ आनन्द है, उसका अधिष्ठान आत्मा है। वह सत् और असत् से रहित है। जिसको बुद्धि 'इदं' करके कहती है, उसे सत् कहिये और जिसको नहीं कहती; उसे असत् कहिये। वह सत् असत् से रहित, सब शुभ लक्षणों से संयुक्त और अपना स्वभावमात्र है। उसमें कोई उपाधि नहीं। वह सर्वदा प्रकाशमान और उदयरूप है। यह संसार उस परमात्मा का चमत्कार है। जैसे रत्न का चमत्कार लाट होती है, वैसे ही ब्रह्म का

चमत्कार यह संसार है। इससे यह ब्रह्मरूप है। जो ब्रह्म से भिन्न है, उसे मिथ्याभ्रम ही जानना। जो कुछ आकार भासते हैं, सो असत् हैं।

हे राजन् ! जो सब आकार मिथ्या हैं, तो तुम्हारा संवेदन भी मिथ्या है। आत्मा में अहं त्वं का कोई उत्थान नहीं। वह केवल ज्ञानमात्र है, केवल सत् और आनन्दरूप है और अविद्यातम से रहित प्रकाशरूप है। वह प्रमाणों से नहीं जाना जाता, क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं और मन की चिन्तना से रहित है, क्योंकि सबका द्रष्टा और सबका अपना आप अनुभवरूप है। हे राजन् ! तुम उसी में स्थित हो। आत्मा, बड़े से बड़ा है; सूक्ष्म से सूक्ष्म है और स्थूल से स्थूल है, जिसमें आकाश भी अणु सा है, उसमें ब्रह्माण्ड भी तृण-समान है। वह अपने आपसे पूर्ण है। उससे किंचित् भी उत्पन्न नहीं हुआ और नाना प्रकार करके स्थित हुआ है। स्फुरण से जगत् भासित होता है और स्फुरण के निवृत्त होने पर केवल शुद्ध आत्मा है। राजा ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि संसार स्फुरण मात्र है और आत्मा शुद्ध शान्तिरूप और निर्विकल्प है। तो उसमें संवेदन का स्फुरण कहाँ से आया ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! स्फुरण भी आत्मा का चमत्कार है। जैसे पवन में स्पन्दन और निःस्पन्द दोनों शक्ति हैं, जब वायु चेतता है, तब चलना प्रकट होता है, और जब ठहर जाता है, तब प्रकट नहीं होता, वैसे ही संवेदन जब चेतता है, तब नाना प्रकार होते हैं और जगत् भासित होता है। और जब वह स्फुरण मिट जाता है, तब केवल शुद्ध आत्मा भासित होता है। हे राजन् ! आत्मा सत्तामात्र है और संसार भी सन्मात्र आत्मा ही है। जो सम्यक्दृष्टि से देखिये तो आत्मा ही दीखता है और जो असम्यक्दृष्टि से देखिये तो दुःखदायक जगत् दीखता है। जिसके मन में संसारभावना है, उसको वह दुःखदायक लगता है और जिसके हृदय में आत्मभावना होती है, उसको आत्मा ही दीखता है और संसार सुखरूप होता है; क्योंकि आत्मा अपने आपका नाम है। जिसने जगत् को अपना आप जाना है, उसको दुःख कहाँ ?

हे राजन् ! यह संसार भावनामात्र है जैसी भावना होती है, वैसा ही

यह दीखता है। जिसकी भावना विष में अमृत की होती है, उसे विष भी अमृत हो जाता है और जिसकी भावना अमृत में विष की होती है, उसे अमृत भी विष हो जाता है। अतः संसार भावनामात्र है। मनुष्य जैसी भावना पक्की करता है, चाहे आगे वह वस्तु न हो तो भी उपस्थित हो जाती है अतएव संसार भावनामात्र और मिथ्या है। ज्ञानवान् को दुःख कभी नहीं होता और अज्ञानी को सुख कभी नहीं होता। हे राजन् ! अहंता और संवेदन, चित्त और चैत्य, से भी आत्मा ही की संज्ञा है। जैसे आकाश, शून्य, नभ ये सब संज्ञा आकाश ही की हैं, वैसे ही वे सब संज्ञा आत्मा की हैं। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। 'अहं', 'त्वं' सब आत्मा के आश्रित हैं। यद्यपि भूषण सुवर्ण के आश्रित होते हैं, परन्तु सुवर्ण से भूषण तब होता है, जब अपने पूर्वरूप को त्यागता है। आत्मा वैसा भी नहीं। वह केवल एकरस है और अपने आपमें स्थित है; कभी परिणाम या विकार को नहीं प्राप्त होता। यह संवेदन आत्मा का चमत्कार है और आत्मा सत्-असत् से परे है। जो कुछ दृश्य है, वह आत्मा में नहीं, चित्त ने रचा है, अतएव आत्मा से परे है।

हे राजन् ! वह कारण-कार्य किसका हो ? कारण-कार्य तब होता है, जब दृश्य होता है ? जब आत्मा किसी का विषय नहीं, तब कारण-कार्य किसका हो ? विश्व के आदि में भी आत्मा है और अन्त में भी आत्मा है और मध्य में भी आत्मा ही है। जो कुछ और भासित होता है, वह भ्रममात्र है—जैसे आकाश में जो घर, मण्डल और पुर दीखते हैं, उनका आदि भी आकाश है, अन्त भी आकाश है और मध्य भी आकाश है और वे सब मिथ्या हैं, जैसे अग्नि नाना आकार-प्रकार में देख पड़ती है, और वे सब आकार मिथ्या हैं, एक अग्नि ही है, वैसे ही सबके आदि, मध्य और अन्त में एक आत्मा ही सार है। हे राजन् ! जल में भी देश-काल होता है, क्योंकि वह दृश्य है और इन्द्रियों का विषय है। जैसे यह तरंग अमुक स्थान से उठा और अमुक स्थान में लीन हुआ, यहाँ स्थान देश हुआ और उपजकर इतने काल तक रहा, यह काल हुआ। पर

जिसको इन्द्रियाँ अपना विषय न कर सकें, उसमें देश-काल कैसे हो ? राजा बोले, हे भगवन् ! अब मैंने भली प्रकार जान लिया है कि आत्मा चिन्मात्र है तथा ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों से परे है। देश, काल और इन्द्रियाँ मन से जानी जाती हैं कि अमुक देश है और अमुक काल है; पर जहाँ इन्द्रियाँ और मन ही न हो, वहाँ देश-काल कहाँ है ?

कुम्भज बोले, हे राजन् ! जो तुमने ऐसे जाना तो तुम जागे हो। आत्मा में देश, काल कोई नहीं। यह जीव मन और इन्दियों से जानता है कि यह देश है और यह काल है। जो इनसे रहित होकर देखे तो आत्मा ही दीखे और जो इन सहित देखे तो संसार ही देख पड़ेगा। हे राजन् ! इनसे रहित होकर देखो, तुममें कुछ संसार न रहे कि अमुक प्रश्न किया और अब अमुक प्रश्न करूँ। संसार तब तक होता है, जब तक इनका संयोग अपने साथ होता है। हे राजन् ! ब्रह्म से ब्रह्म को देखो और पूर्ण को देखो, जिसमें तुम भी पूर्ण हो। जब तुम पूर्ण होगे, तब सब ओर अपने को ही जानोगे, सब संज्ञा तुम्हारी ही होगी और उस निर्वाच्य पद को प्राप्त होगे, जहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है। केवल आकाशरूप है। जैसे आकाश अपनी शून्यता से पूर्ण है, वैसे ही तुम भी अपने चैतन्य स्वभाव से आप पूर्ण होंगे। जब तुम मनसहित षट् इन्द्रियों से रहित होकर देखोगे, तब अपने को, फिर यदि इन सहित भी देखोगे तो भी तुम्हें चैतन्य आत्मा ही भासित होगा। संसार का शब्द और अर्थ तुम्हारे हृदय से उठ जावेगा। शब्द अर्थात् संसार है, यह कहना और अर्थ अर्थात् उसको सत् जानना। केवल आकाशरूप आत्मा ही भासित होगा। संसार संवेदन मात्र है, और संवेदन चित्तशक्ति का चमत्कार है। यही चित्तशक्ति ब्रह्मा के रूप से स्थित हुई है और संसार को देखने लगी है। जब यह शक्ति अन्तर्मुख होती है, तब आत्मा ही देख पड़ता है, जो सदा एकरस है, और जब बहिर्मुख होती है, तब संसार देख पड़ता है। जीव जैसी भावना करता है, वैसा ही आगे दीखता है। जब संसार की भावना होती है तब संसार ही भासता है। और जब आत्मा की भावना

होती है तब आत्मा ही भासता है। आत्मा सदा एकरस और असंसारी है, इससे हे राजन् ! तुम आत्मा की भावना करो कि तुम्हें आत्मा ही भासित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधनं नाम षट्सप्ततितमस्सर्गः ।। ७६ ।।

कुम्भज बोले, हे राजन् ! यह संसार जो तुम्हें भासित होता है, सो आत्मा में नहीं है। केवल शुद्ध आत्मा में जो अहं उत्थान है वही संसार है। पर अहं का वह चमत्कार न सत् है, न असत्, न भीतर है, न बाहर; न शून्य है, न अशून्य; केवल अपने आप में स्थित है। संसार का प्रध्वंसाभाव भी नहीं होता, अर्थात् पहले हो और पीछे नाश हो जावे, ऐसा नहीं होता। आत्मा में संसार उदय-अस्त नहीं होता; केवल अपने आपमें स्थित है, उससे भिन्न नहीं है। किन्तु आत्मा को यह भी नहीं कह सकते कि केवल अपने आपमें स्वाभाविक स्थित है; उसमें वाणी की गति नहीं है। वाणी उसको कहती है, जहाँ दूसरा होता है, पर जहाँ दूसरा न हो, वहाँ वाणी क्या कहे। यह कहना भी तुम्हारे उपदेश के निमित्त है; आत्मा में किसी शब्द की प्रवृत्ति नहीं। हे राजन् ! ऐसी आत्मा किसका कारण-कार्य हो ? आत्मा तो शुद्ध, निर्विकार और प्रमाणों से रहित है। जो किसी लक्षण से प्रमाण नहीं किया जाता सो आकार होकर स्थित हुआ है और शान्तरूप है।

हे राजन् ! ऐसी आत्मा किसका कारण-कार्य हो ? कारण-कार्य तब होता है, जब प्रथम कारण परिणाम और क्षोभ को प्राप्त होता है, पर आत्मा तो शान्तरूप है। और कारण तब हो जब क्रिया से कार्य को उत्पन्न करे। पर आत्मा तो अक्रिय अर्थात् क्रिया से रहित है। कारण को कार्य से जाना जाता है, पर आत्मा चिन्ह से रहित है और प्रमाणों का विषय नहीं ? इससे आत्मा किसी का कारण-कार्य नहीं है। आत्मा को कारण-कार्य मानने से मुझे आश्चर्य होता है। हे राजन् ! जो वस्तु उपजती है, वह नष्ट भी होती है, और जो नष्ट होती है वह उपजती भी है। पर

आत्मा सबकी आदि, अजन्मा और निर्विकार है। उसमें तुम स्थित हो जिससे तुम्हारा संसार निवृत्त हो जावे। यह संसार अज्ञान से भासित होता है। जब तुम स्वरूप में स्थित होकर देखोगे तब न भासित होगा; और ऐसे भी न भासित होगा कि आगे था, अब निवृत्त हुआ है। तब तो एकरस आत्मा ही दीखेगा और जीव केवल शून्य आकाश हो जावेगा। संसार से रहित होने को शून्य कहते हैं। चैतन्यस्वरूप नाना होकर भी वही है, और एक भी वही है, शून्य और शून्य से रहित भी वही है; द्वैतरूप भी वही है और अद्वैतरूप भी वही है; ऐसा भासित होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजप्रथमबोधनंनाम सप्तसप्ततितमस्सर्गः ।। ७७ ।।

कुम्भज बोले, हे राजन् ! जो कुछ तुम देखते हो, सो सब चैतन्य घन है। उसमें 'अहं', 'त्वं' शब्द कोई नहीं। 'अहं', 'त्वं' शब्द प्रमाद से होते हैं। जब आत्मा में स्थित होकर देखोगे तब आत्मा से भिन्न कुछ न दीखेगा। फिर 'अहं', 'त्वं' शब्द कहाँ भासित हो ? हे राजन् ! ये नाना प्रकार की संज्ञाएँ चित्त की कल्पना हैं। जब चित्त से रहित होगे, तब 'नाना' और 'एक', कोई संज्ञा न रहेगी। हे राजन् ! 'सब ब्रह्म' (सर्वखल्विदं ब्रह्म) है, यह वाक्य वेद का सार है। जब इस वाक्य में दृढ़ भावना वृद्धि होगी, तब एकरस आत्मा ही दृष्टिगोचर होगा और चित्त नष्ट हो जावेगा। जब चित्त नष्ट हुआ, तब केवल महाशुद्ध आकाश की नाईं स्थित होकर निर्दुःख पद को प्राप्त होगे, जो आदि पद और सर्वदा मुक्तिरूप है। राजा बोले, हे भगवन् ! आपने कहा कि चित्त के नष्ट होने से कोई दुःख न रहेगा और चित्त के नष्ट होने का उपाय भी आपने कहा। परन्तु मैं भली-भाँति नहीं समझा। मेरे दृढ़ होने के निमित्त कृपा करके फिर कहिये कि चित्त कैसे नष्ट होता है। कुम्भज बोले, हे राजन् ! यह चित्त न किसी काल का है, न किसी को है, और न यह देखता है। चित्त है ही नहीं तो मैं तुमसे क्या कहूँ और जो चित्त तुझको दृष्ट आता है तो तू आत्मा ही जान, आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं।

हे राजन् ! महासर्ग के आदि और अन्त में कोई सृष्टि नहीं, केवल आत्मा है, और आत्मा में कुछ नहीं कह सकते। मैंने तुम्हारे जानने के निमित्त ऐसा कहा है। मध्य में जो कुछ दृष्टिगत होता है, वह अज्ञानी की दृष्टि है। आत्मा में कोई सृष्टि नहीं। आत्मा किसी का उपादानकारण या निमित्तकारण भी नहीं है; क्योंकि वह अच्युत है-परिणाम को नहीं प्राप्त होता। उपादान भी परिणाम से होता है। आत्मा शुद्ध निराकार, आकाशरूप है। तब वह कारण-कार्य किसका हो ? चित्त भी वासनारूप है और वासना तब होती है, जब कोई वस्तु होती है। जब आगे सृष्टि नहीं, तब वासना किसकी जगे और चित्त में संसार की स्थिति कैसे हो ? इससे चित्त कुछ नहीं। यह विश्व आत्मा का चमत्कार है। आत्मा में कोई सृष्टि नहीं है। वह केवल निरालम्ब अपने आपमें स्थित है। हे राजन् ! संसार भी नहीं हुआ और चित्त भी नहीं हुआ, तब 'अहं' आदिक शब्द भी आत्मा में नहीं हो सकते। ये शब्द तब होते हैं, जब चित्त होता है, और चित्त तब तक है, जब तक वासना है। जब निर्वासनिक पद को प्राप्त हुआ तब कोई कल्पना नहीं रहती।

हे राजन् ! यह संसार महाप्रलय में नष्ट हो जावेगा और सत्-असत् संसार कुछ न रहेगा। एक आत्मा ही शेष रहेगा, जो निराकार और शुद्ध है। जब तक महाप्रलय नहीं होता, तब तक संसार है। महाप्रलय क्या है, यह भी सुनो। एक क्षण आत्मा का साक्षात्कार होने से सृष्टि का शेष भी न रहेगा। ज्ञान ही महाप्रलय (अत्यन्त प्रलय) है, और अब जो देख पड़ता है, सो मिथ्या है। यह क्रिया भी मिथ्या है और इसका भान होना भी मिथ्या है। जैसे स्वप्न की क्रिया भी मिथ्या है और इसका भान होना भी मिथ्या है, वैसे ही जाग्रत् संसार स्वप्नमात्र है, और कारण बिना ही भासित होता है। जो कारण बिना है, वह मिथ्या है। इसका कारण अज्ञान अर्थात् अपना रूप न जानना ही है। जब अपने रूप को जाना, तब अपना रूप आप ही भासित होगा। जैसे स्वप्न में अज्ञान से भिन्न आकार भासित होते हैं, पर जब ज्ञान से जीव जागता है, तब अपना रूप आपही जानता है कि

मैं ही था। हे राजन् ! मुझे तो एक आत्मा ही देख पड़ता है, आत्मा से भिन्न संसार नहीं भासित होता। इस संसार की स्थिति मानना मूर्खता है। यह सदा अचलरूप है। वेद, शास्त्र और लोक भी कहता है कि संसार मिथ्या है और मनुष्य आप भी जानता है कि यह नष्ट होता देख पड़ता है। तो फिर उसमें आस्था करना मूर्खता है। आत्मा में संसार नाना विध या एक रूप कुछ नहीं है। आत्मा सर्वदा अपने आपमें स्थित, शुद्ध और अच्युत (ज्यों-का-त्यों) है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधनं नामाष्टसप्ततितमस्सर्गः ।। ७८।।

शिखरध्वज बोले, हे भगवन् ! अब मेरा मोह नष्ट हुआ और अपना रूप मैंने जाना। तुम्हारी कृपा से मेरा संसारभ्रम निवृत्त हुआ, और शोकसमुद्र को तरकर अब मैं शान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। 'अहं', 'त्वं' शब्द मुझमें कोई नहीं। अब मैं निर्वाणपद को प्राप्त हुआ हूँ। मैं अच्युत, चिन्मात्र और केवल शून्य हूँ। कुम्भज बोले, हे राजन् ! आत्मा शुद्ध और आकाश की नाईं निर्मल है; बल्कि आकाश से भी अति निर्मल है। पर उसमें अहं-मल अहंमोह से उपजा है, और मोह अविचार का नाम है। जब विचार होता है, तब कोई अहं नहीं पाया जाता। यह विश्व संवेदन में है और संवेदन सबका आदि है। जब संवेदन अन्तर्मुख होता है, तब सब विश्व लीन हो जाता है। संवेदन ही में बन्धन और मुक्ति है। जब संवेदन बहिर्मुख होता है, तब बन्धन और जब अन्तर्मुख होता है, तब मोक्ष होता है। जिसने मन और इन्द्रियों से रहित होकर अपना रूप आप देखा है; उसको ज्यों का त्यों यथार्थ देख पड़ता है-और जो मोहसंयुक्त देखता है, उसको विपर्यय भासित होता है। जैसे सम्यक् दृष्टि से भूषण में सुवर्ण भासित होता है और जब भूषण के आकार मिट जाते हैं, तब भी सुवर्ण ही दीखता है। पर मूर्ख को सोने में भूषण दीखते हैं। चिरकाल के अभ्यास से जो बुद्धि इनमें जगती है, तो भी प्रारब्ध का वेग जब तक रहता है, तब तक चेष्टा होती है। तब चेष्टा में भी आत्मा ही देखता

है-इससे केवल आत्मा ही का किञ्चन होता है। जैसे सोने में भूषण, आकाश में नीलापन और वायु में स्पन्दन है, वैसे ही आत्मा में सृष्टि है। जैसे आकाश में नीलिमा देखने भर को है, वास्तव में कुछ नहीं, वैसे ही आत्मा में सृष्टि वास्तव में कुछ नहीं, भ्रान्तिमात्र है। जब भ्रान्ति निवृत्त होती है, तब जगत् का 'शब्द' और 'अर्थ' सब ओर से शान्त हो जाता है। शब्द-अर्थ की भावना से जो चेष्टा होती है, उससे जब अभिलाषा निवृत्त हो जाती है, तब कोई दुःख नहीं होता। इसी को मुनीश्वर निर्वाण कहते हैं। जब निर्वाणपद का ऐसा निश्चय होता है, तब जीव शान्तरूप शून्यपद में स्थित होता है।

हे राजन् ! अहं का उत्थान होना ही बन्धन है और अहं का निर्वाण होना ही मुक्ति है। अहं के होने से संसार का दुःख है। जब तक अहं का उत्थान है, तब तक संसार है, और जब तक संसार है, तब तक अहं का उत्थान है। जब संसार की सत्ता जाती रहेगी, तब अहं का जगना भी निवृत्त हो जावेगा, और जब जगना नष्ट हुआ, तब अहं भी नष्ट हो जावेगा। जब अहं नष्ट हुआ, तब केवल शुद्ध आत्मा ही शेष रहेगा और उसी का भान होगा। तब अहंब्रह्म का उत्थान भी शान्त हो जावेगा, और चैतन्यमात्र ही रहेगा। हे राजन् ! जिसको सर्वब्रह्म की बुद्धि हुई है, उसको संसार की बुद्धि नहीं रहती, और जिसको संसारबुद्धि है, उसको ब्रह्मबुद्धि नहीं होती। भावना जैसी-जैसी पक्की होती है, वैसा ही वैसा आगे भासित होता है। जिसकी ब्रह्मभावना दृढ़ होती है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है और जिसको जगत् की भावना दृढ़ होती है, उसको जगत् ही भासित होता है। हे राजन् ! तुम अब जागे हो और ब्रह्मरूप हुये हो, जो शुद्ध, निर्मल और प्रत्यक् है, शब्द और लक्षणों का विषय नहीं, और इन्द्रियों का विषय भी नहीं।

हे राजन् ! ऐसी आत्मा, जो केवल अद्वैत है और विश्व जिसका चमत्कार है, वह कारण-कार्य किसका हो ? जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरंग पवन से उपजते हैं, तो भी वे समुद्र से भिन्न नहीं होते, वैसे ही आत्मा में नाना प्रकार का विश्व संवेदन जगने से उपजता है, तो भी

आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है-स्फुरणमात्र है। जैसे खम्भे में मनोराज से कोई पुरुष पुतलियों की कल्पना करता है और नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है, पर उसकी चेष्टा तभी तक है, जब तक संकल्प है, और जब संकल्प निवृत्त हुआ, तब शून्य खम्भा ही रह जाता है, जैसा आगे था; क्योंकि शिल्पी के संवदेन में सृष्टि थी, वैसे ही यह संसार संकल्पमात्र है। जब संकल्प अन्तर्मुख होता है, तब संसार की सत्ता जाती रहती है। हे राजन् ! संसारसत्ता इस कारण जाती रहती है कि वह पहले ही असत् है। जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी नाश नहीं होता। इससे संसार केवल संवदेन की कल्पना है। जैसे एक शिला में पुरुष पुतलियाँ बनाता है तो शिला में तो पुतली कोई नहीं, ज्यों की त्यों शिला ही है, वैसे ही चित्त के जगने से आकार दीखते हैं जब चित्त चेतने से रहित होगा, तब आत्मा को अपना रूप आप जानोगे और अशब्दपद को प्राप्त होगे, जो शान्तपद शुद्ध आकाशरूप है। हे राजन् ! सब 'शब्द' और 'अर्थ' की अभावना करना ही ब्रह्मज्ञान है। वहाँ कोई कल्पना नहीं। जब सम्यक्दृष्टि होती है, तब शेष सब आत्मा ही भाासित होता है और यह भावना भी उठ जाती है कि यह संसार है और यह ब्रह्म है। तब केवल ज्ञेयमात्र ही रहता है, अर्थात् शिला की तरह जीव अटल-निश्चय होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधवर्णनं नाम एकोनाशीतितमस्सर्गः ।। ७९।।

राजा बोले, हे भगवन् ! आपका यह कहना सत्य है और मैं भी ऐसा ही जानता हूँ कि संसार आत्मा का कार्य है और आत्मा इसका कारण है। जो आत्मा का कार्य हुआ तो आत्मस्वरूप हुआ, आत्मा से भिन्न नहीं। कुम्भज बोले, हे राजन् ! आत्मा चैतन्यमात्र है, किसी का कारण-कार्य नहीं। आत्मा अप्रत्यक, अक्रिय, अच्युत और नीरस है। तब जो अशब्दपद है, वह कारण-कार्य किसका हो ? कारण को कार्य द्वारा जाना जाता है, पर आत्मा किसी प्रमाण का विषय नहीं, अप्रत्यक और अरूप है। कारण तब होता है, जब क्रिया होती है। पर वह न

किसी का कारण-कार्य है और न कर्म। केवल ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है और चैतन्यमात्र शिवरूप शुद्ध है। यह विश्व भी चैतन्यमात्र है, जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आत्मा में विश्व आत्मरूप स्थित है। ऐसा विश्व चैतन्यमात्र है, पर उसमें असम्यक्दर्शी अज्ञान से नाना प्रकार की कल्पना करता है। वस्तु जो परमात्मा है, उसके प्रमाद से जीव वासनारूप चित्त से विश्व की कल्पना करता है। वह विश्व शब्दमात्र है, अर्थात् कुछ नहीं। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा, समुद्र में तरंग, मृगतृष्णा में जल और परछाहीं में वैताल भासित होता है, वैसे ही असम्यक्दर्शी मनुष्य आत्मा में विश्व की कल्पना करता है। और सम्यक्दर्शी ऐसे जानता है कि आत्मा शुद्ध, अजन्म, अविनाशी और परम निरञ्जन है।

हे राजन् ! जब तुम सम्यक्दृष्टि से देखोगे, तब संसार का प्रध्वंसाभाव भी न देखोगे; क्योंकि विश्व चित्त की कल्पना है और चित्त अज्ञान से उपजा है। स्वरूप में न चित्त है, न अज्ञान है और न संसार है, वह केवल अद्वैतमात्र है। वहाँ 'एक' कहाँ और 'द्वैत' कहाँ, वह तो कैवल्य मात्र पद है। जब अज्ञान नष्ट होगा, तब 'अहं', 'त्वं' और चित्त का जगना, सब नष्ट हो जावेगा और फिर भ्रम दृष्टि में न आवेगा। हे राजन् ! आत्मा से भिन्न जो कुछ भासित होता है, वह अज्ञान के कारण और विचार करने से नहीं रहता। राजा बोले, हे भगवन् ! अज्ञान क्या है और कैसे उसका नाश होता है, सो कहिये। कुम्भज बोले, हे राजन् ! एक ज्ञान है और दूसरा अज्ञान। ज्ञान अर्थात् पदार्थ को प्रत्यक्ष जानना और अज्ञान अर्थात् पदार्थों को न जानना। एक ज्ञान भी अज्ञान है, सो भी सुनो। मृगतृष्णा का जल देखकर जल की आस्था करना, या रस्सी में सर्प और सीपी में रूप देखना और उसको सत्य जानना, यह ज्ञान भी अज्ञान है; क्योंकि देखने वाला सम्यक्दर्शी होकर नहीं देखता। यह अज्ञान है। एक अज्ञान यह भी है कि शुद्ध आत्मा निराकार और अच्युत है, उसमें मैं हूँ , और मेरा अमुक वर्णाश्रम है,

और यह विश्व नाना प्रकार का है। यह ज्ञान भी अज्ञान और मूर्खता है। हे राजन् ! न कोई जन्मता है और न मृतक होता है। ज्यों का त्यों आत्मा ही स्थित है। उसमें जन्म-मरण आदिक विकार देखना, यह ज्ञान भी अज्ञान है।

हे राजन् ! जैसे कोई ब्राह्मण हो और ऊँची बाँह करके कहे कि मैं शूद्र हूँ और मुझे वेद का अधिकार नहीं। या जैसे कोई पुरुष कहे कि मैं मृतक हूँ और उसको जानता हूँ, वैसे ही आपको कुछ वर्णाश्रम का अभिमान लेकर कहना मूर्खता है; क्योंकि यह असम्यक्‌दर्शन है। जब ज्यों का त्यों जानता है, तब दुखी नहीं होता। हे राजन् ! ऐसा ज्ञान, जो सम्यक्‌दर्शन से नष्ट हो जावे, सो अज्ञान ही है। जैसे सूर्य की किरणों में जल-बुद्धि होती है और किरण के ज्ञान से जल का ज्ञान नष्ट हो जाता है तो वह जल का जानना अज्ञान ही था, और जैसे रस्सी में सर्प जानना रस्सी के ज्ञान से नष्ट हो जाता है, तो वह सर्पबुद्धि अज्ञान है, जो सम्यक्‌दर्शन से नष्ट होता है। जब ऐसे सम्यक्‌दर्शी होगे, तब आध्यात्मिक तापों से निवृत्त होकर शुद्ध होगे। आत्मा अज शान्तरूप, सत्-असत् से परे है, उसमें भिन्न वस्तु कुछ नहीं। वह प्रकाशरूप है। ऐसे तुम हो।

हे राजन् ! अज्ञान भी और कुछ नहीं। इस चित्त के उदय होने का ही नाम अज्ञान है। अज्ञान का कारण चित्त है। जो पदार्थ चित्त से प्रकट हुआ है, नष्ट भी चित्त से ही होता है। इससे तुम शुद्ध चित्त से वासनारूप चित्त का नाश करो। जैसे अग्नि पवन से उपजती है और पवन ही से शान्त होती है, वैसे ही शुद्ध चित्त से चित्त को नष्ट करो। हे राजन् ! न तुम हो, न मैं हूँ, न इन्द्रिय हैं, न संसार है और न यह जगत् है; केवल शुद्ध आत्मा है। हे राजन् ! जो चित्त ही न हो तो चित्त का कार्य विश्व कहाँ हो ? यह अज्ञानी को भासित होता है कि चित्त है और विश्व है। आत्मा केवल अपने आप में स्थित है। हे राजन् ! चित्त का उदय होना अज्ञान से है। जब अज्ञान नष्ट होता है, तब चित्त को 'अहं', 'त्वं' सब नष्ट हो जाते हैं। हे राजन् ! तुम शुद्ध आत्मा, एक, प्रकाशरूप, अच्युत

और निरन्तर हो। देह इन्द्रियादिकरूप से भी तुम ही स्थित हुए हो और इच्छा-अनिच्छा भी तुम ही हो। जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रमा से भिन्न नहीं, वैसे ही तुम हो। तुम निर्विकल्प हो। तुममें कुछ स्फूर्ति नहीं। तुम केवल ज्यों का त्यों स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थोपदेशो नामाशीतितमस्सर्गः ।। ८० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब कुम्भज मुनि ने ऐसे कहा, तब शिखरध्वज शान्ति को प्राप्त हुये और नेत्र मूँदकर सब अंगों की चेष्टा से रहित हुये। जैसे शिला पर पुतली लिखी हो, वैसे ही स्थित हो। एक मुहूर्त भर वह निर्विकल्प स्थित रहे और फिर उठे। तब कुम्भज ने कहा- हे राजन् ! आत्मा तो निर्विकल्प है, उस निर्विकल्प शिला में तुमने शयन किया है और ज्ञेय (जानने योग्य) को तुमने जाना है। अब तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ अथवा नहीं और तुम शान्ति को प्राप्त हुए या नहीं, सो कहो। राजा बोले, हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा ने मुझे उत्तमपद को प्राप्त किया है। हे भगवन् ! तत्त्ववेत्ताओं के संग से जैसा अमृत मिलता है, वैसा क्षीरसमुद्र से भी नहीं मिलता। वह जो देवताओं की सेवा से भी नहीं मिलता। तुम्हारी कृपा से मैंने ऐसे अमृत को पाया है, जिसका आदि-अन्त नहीं और जो अनन्त और अमृतसार है। अब मेरे सब दुःख नष्ट हो गये हैं और मैं जगा हूँ। अब मैंने अपने आपको जाना है कि मैं आत्मा हूँ ; मेरे साथ चित्त कोई नहीं और मैं केवल अपने आपमें स्थित हूँ। अब मुझे कोई इच्छा नहीं। मैंने अपने स्वभाव को पाया है और सबके आदि पद को प्राप्त हुआ हूँ। जिसमें कोई क्षोभ नहीं, ऐसे निर्विकल्पपद को मैं प्राप्त हुआ हूँ। हे भगवन् ! ऐसा मेरा अपना रूप है, जिससे सब प्रकाशित होते हैं। उसके जाने बिना मैंने कोटि जन्म पाये थे। अब मेरे दुःख नष्ट हुए और तुम्हारी कृपा से मैंने एक क्षण में जान लिया है। आगे भी श्रवण किया था; पर क्या कारण है जो आगे न जाना और अब जाना ?

कुम्भज बोले, हे राजन् ! अब तुम्हारे कषाय (मन के मैल) परिपक्व

हुए हैं। जैसे फल परिपक्व होता है, तब यत्न बिना ही वृक्ष से गिर पड़ता है, वैसे ही अब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है और अज्ञान नष्ट हो गया है। जब अन्तःकरण मलिन होता है, तब सन्तों के वचन नहीं लगते और जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब सन्तों के वचन लगते हैं। जैसे कोमल कमल की जड़ को बाण लगे तो शीघ्र ही बेध जाता है, वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण उपदेश शीघ्र ही प्रवेश करता है। हे राजन् ! अब तुम्हारी भोग वासना नष्ट हुई है और स्वरूप जानने की इच्छा हुई है; इससे तुम जागे हो। हे राजन् ! मैंने उपदेश तब किया, जब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। प्रतिबिम्ब भी वहाँ पड़ता है, जहाँ निर्मल स्थान होता है। जैसे श्वेत वस्त्र पर केशर का रंग शीघ्र ही चढ़ जाता है और रंग भी चटक होता है, वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण में सन्तों के वचन शीघ्र ही प्रवेश करते हैं और शोभा पाते हैं। हे राजन् ! जब तक अन्तःकरण मलिन होता है, तब तक चाहे जितना उपदेश कीजिये, स्थिर नहीं होता। जब भोग से वैराग्य होता है, तब कोई वासना नहीं रहती, केवल आत्मपद की इच्छा होती है और तभी स्वरूप का साक्षात्कार होता है। हे राजन् ! अब तुम्हारा सर्वत्याग सिद्ध हुआ और अज्ञान नष्ट हुआ, क्योंकि अब कोई उपाधि नहीं रही। चित्त ही बड़ी उपाधि है। जब चित्त नष्ट हुआ, तब कोई दुःख नहीं रहता। अब तुम सुख से विचरो; तुमको दुःख, शोक और भय कोई नहीं। अब तुम शान्तपद को प्राप्त हुए हो।

राजा ने पूछा, हे भगवन् ! अज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध है और ज्ञानवान् को चित्त का सम्बन्ध नहीं होता। जो स्वरूप में स्थित है, वह चित्त बिना जीवन्मुक्तक्रिया में कैसे बरतता है ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! तुम सच कहते हो कि ज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध नहीं होता। जैसे पत्थर की शिला में अंकुर नहीं उपजते, वैसे ही ज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध नहीं होता। हे राजन् ! चित्त वासनारूप है और वासना जन्म-मरण का कारण; पर जीवन्मुक्त के वासना नहीं रहती। ज्ञानवान् का चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है और अज्ञानी चित्त में बँधा रहता

है; इससे वह जन्मता भी है और मरता भी है। ज्ञानी का चित्त शान्ति में स्थित होने के कारण उसको न बन्धन है, न मोक्ष। वह प्रारब्ध के अनुसार भोग भोगता है और अपने को सर्वात्मा ही देखता है। यद्यपि इन्द्रियों से वह चेष्टा करता है तो भी सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है। क्रिया करने में इस अभिमान से रहित होता है कि मैं कर्ता और भोक्ता हूँ। अज्ञानी अपने को कर्ता मानता है। उसको संसार सत्य भासित होता है, इससे संकल्प-विकल्प करता है। ज्ञानवान् को संसार की सत्यता नहीं भासित होती। वह अपने को अकर्ता, अभोक्ता देखता है और अभिलाषा से रहित होकर चेष्टा करता है। जब तक चित्त का सम्बन्ध है, तब तक जीव संसार को सत्य जानकर अपने में क्रिया देखता है, पर जब चित्त ही नष्ट हो गया; तब संसार और वासना का जागना कहाँ रहा?

हे राजन् ! अब तुमने चित्त का त्याग किया है, इससे सर्वत्यागी हुये हो। आगे सर्वत्याग न किया था, इससे तुम्हारा अज्ञान न नष्ट हुआ था। अब अहंभाव दूर हुआ है। जब अज्ञान नष्ट हुआ, तब अहंभाव भी न रहा। अहं का त्याग करने से सर्वत्याग सिद्ध हुआ। पहले तुमने राज्य का त्याग किया था, पर राज्य में तुम्हारा कुछ न था। फिर तम का त्याग किया; फिर वन में आकर सब सामग्री का त्याग किया। पर अब तुमने उसका त्याग किया, जो त्यागने योग्य अहंभाव है—इससे सर्वत्याग हुआ। जो कुछ जानने योग्य है सो अब तुमने जाना है और शान्तपद को प्राप्त हुए हो। हे राजन् ! तुम सब दुःखों से रहित आत्मा हो। जैसे मन्दराचल पर्वत से रहित क्षीरसमुद्र शान्तपद को प्राप्त हुआ है, वैसे ही अज्ञान से रहित तुम शान्तपद को प्राप्त हुए हो। अब तुम जागे हो और चित्त का त्याग किया है, इससे अद्वैत सर्वात्मा हुए हो। हे राजन् ! जब द्वन्द्व या दो अक्षर होते हैं तब उनकी संज्ञा नाना प्रकार की होती है जैसे अमृत-विष; सुख-दुःख और धर्म-अधर्म। पर जो एक ही अक्षर होता है, वह सबका आत्मा है। तैसे ही तुम्हारा द्वैत अज्ञान नष्ट हुआ है और तुम सत्यपद को प्राप्त हुए शुद्ध निर्मल हो।

हे राजन् ! जो ज्ञानवान् हैं, उसने सम्यक्दृष्टि से चित्त का त्याग किया है और उसको कोई दुःख नहीं होता। तू उस पद को प्राप्त हुआ है, जिसमें कोई दुःख नहीं और जहाँ स्वर्गादिक सुख भी तुच्छ है; क्योंकि स्वर्ग में भी अतिशय और क्षय होता है। अतिशय इसे कहते हैं कि जो बड़े पुण्यवाले किसी को अपने से ऊँचा देखते हैं तो चाहते हैं कि हम भी इसी के से हो जावें, और क्षय इसे कहते हैं कि ऐसा न हो कि इन सुखों से गिरूँ। निदान स्वर्ग में दोनों प्रकार दुःख होता है। पर तुमने पुण्य-पाप दोनों का त्याग किया है, इससे सर्वत्यागी हो। जो अज्ञानी पापी जीव हैं, उनको स्वर्ग ही भला है। जैसे सुवर्ण का पात्र न पाइये तो पीतल का भी भला, वैसे ही सुवर्ण का पात्र जो ज्ञान है, जब तक प्राप्त न हो तब तक पीतल के पात्र जो स्वर्गादिक हैं, वे नरक से भले हैं। पर तुम जैसे को कुछ नहीं। आत्मा से सब पदार्थों की पूर्णता है। सबकी उत्पत्ति आत्मा से ही है। हे राजन् ! वर्णाश्रम में क्या आस्था करनी है। जहाँ से इनकी उत्पत्ति है, जहाँ ये लीन होते हैं और मध्य में जिसके अज्ञान से देख पड़ते हैं, उसमें स्थित हो।

हे राजन् ! संकल्प-विकल्प जो उठते हैं, उनमें मत स्थित हो; किन्तु जिसमें ये उत्पन्न और लीन होते हैं, उसमें स्थित हो। तपादिक क्रिया से क्या सिद्ध होता है ? जिससे तप आदिक सिद्ध होते हैं, उसमें स्थित हो। बूँद में क्या स्थित होना है। जिस मेघ से बूँद उत्पन्न होते हैं, उसमें स्थित होइये। हे राजन् ! जैसे स्त्री भर्ता से कोई पदार्थ चाहे और आप न कहे, वैसे ही तपादिक क्रिया से क्या सिद्ध होता है ? जो उनसे आत्मपद की इच्छा करे तो प्राप्त नहीं हो सकता, उसे तो मनुष्य अपने आपसे पाता है। हे राजन् ! आत्मा तुम्हारा अपना आप है, उससे सर्वसिद्धि होता है। जो वस्तु पीछे त्याग करनी हो, उसको ज्ञानवान् प्रथम ही अंगीकार नहीं करता। जो कुछ तपादिक हैं, उनको चित्त से क्या रचना है ? अपने आपको देखें कि अनुभवरूप है और सर्वदा निरन्तर अपने आपमें स्थित है। जब तुम अपने से आपको देखोगे, तब

तपादिक क्रिया को दूर करके शोभा पाओगे। जैसे बादल के दूर होने पर प्रकाशमान चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही तुम भी भोग की चपलता को त्यागकर शोभा पाओगे। जब इन्द्रियों को जीतकर किसी पदार्थ में आसक्त न होगे और सर्ववासनाओं का त्याग करोगे, तब ज्ञानवान् होगे। जिसने सर्ववासना का त्याग किया है, उसको विष्णु जानना। वह सर्वराज्य का स्वामी है। जिसने मन जीता है वह चेष्टा में भी ज्यों का त्यों रहता है और समाधि में भी ज्यों का त्यों है। जैसे पवन चलने और ठहरने में तुल्य है, वैसे ही ज्ञानवान् को कहीं खेद नहीं होता। राजा ने पूछा, हे सर्व संशयों के नाशकर्ता ! स्पन्दन और निःस्पन्द में ज्ञानी ज्यों का त्यों कैसे रहता है, सो कृपा करके कहिये।

कुम्भज बोले, हे राजन् ! चैतन्य आकाश आकाश से भी निर्मल है। जब उसका साक्षात्कार होता है, तब जहाँ देखे वहाँ चैतन्य ही भासित होता है। जैसे समुद्र के जानने से तरंग और बुलबुले सब जल ही दीखते हैं, वैसे ही चित्त बिना आत्मा के देखने से फुरने में भी आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है। और जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसको नाना प्रकार का जगत् हो भासित होता है। जैसे जल को जाने बिना तरंग व बुलबुले भिन्न-भिन्न दीखते हैं और जल को जानने से तरंग भी जलमय दीखते हैं। हे राजन् ! सम्यक्‌दर्शी को जगत् आत्मास्वरूप है और असम्यक्‌दर्शी को जगत् है। इससे तुम सम्यक्‌दर्शी होकर देखो कि जगत् भी आत्मरूप है, सम्यक्‌दर्शी जैसे प्राप्त होता है, सो भी श्रवण करो। सम्यक्‌दर्शन सन्त के संग और सत् शास्त्र के विचार से प्राप्त होता है। भावना करिये, तब कितने काल में स्वरूप का साक्षात्कार होता है। दृढ़ विचार के निमित्त काल की अपेक्षा भी कही है। जब दृढ़ विचार होता है, तब साक्षात्कार होता है और जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तब स्पन्दन और निःस्पन्द में जीव एक समान होता है। हे राजन् ! जिसके समीप शहद है, वह शहद के निमित्त पर्वत क्यों खोजे और दौड़े, वैसे ही तुम्हारे घर में

ब्रह्मज्ञानी चुड़ाला थी; उसको त्यागकर तुमने वन में आकर तप का आरम्भ किया, इससे बड़ा कष्ट पाया। परन्तु अब तुम जागे हो और तुम्हारा दुःख नष्ट हुआ है। अब तुम शान्तपद को प्राप्त हुए हो। जैसे रस्सी को न जानने से सर्प दिखता है और भली प्रकार जानने से रस्सी ही जान पड़ती है, वैसे ही, जिसने भली प्रकार निःस्पन्द होकर अपना रूप आप देखा है, उसको चित्त के स्फुरण में भी आत्मा ही भासित होता है। जब मन की चपलता मिटती है, तब तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है; जिस पद को वाणी नहीं कह सकती। हे राजन् ! तुम भी अब उसी पद को प्राप्त हुए हो, जो मन और वाणी से रहित तुरीयातीतपद है। वहाँ कोई क्षोभ नहीं, केवल शान्तिपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधवर्णनं नामैकाशीतितमस्सर्गः ।। ८१।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब राजा को कुम्भज मुनि ऐसे उपदेश कर चुके, तब उसके उपरान्त बोले, हे राजन् ! अब हम जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग में ब्रह्माजी के पास नारद मुनि आये हैं। वे यदि मुझे देवताओं की सभा में न देखेगें तो क्रोध करेंगे। हे राजन् ! जो कल्याणकृत पुरुष हैं, वे बड़ों की प्रसन्नता लेते हैं। जो उपदेश तुम्हें किया है; उसको भली प्रकार विचारना। सब शास्त्रों का सार यही है कि सम्पूर्ण वासना का त्याग करना और किसी में चित्त का बन्धन न होने देना। मेरे आने तक स्वरूप में स्थित रहकर किसी चेष्टा में न लगना और स्वरूप को भली प्रकार जानकर चाहे वैसे विचारना। ऐसे कहकर जब कुम्भज मुनि उठ खड़े हुए, तब राजा ने अर्घ्य और फूल चढ़ाने के निमित्त हाथ में लिए, पर जल और फूल हाथ ही में रहे और कुम्भज मुनि अन्तर्धान हो गये। जब राजा ने कुम्भज मुनि को अपने आगे न देखा, तब विचार करने लगा कि देखो, ईश्वर की नीति जानी नहीं जाती। नारद मुनि कहाँ थे, उनका पुत्र कुम्भज कहाँ और मैं राजा शिखरध्वज कहाँ ? मालूम होता है, उसी नीति ने कुम्भज मुनि का रूप धारणकर मुझको जगाया है। कुम्भज बड़ा महात्मा

मुनि है जिसने मुझे उपदेश करके जगाया है। अब मैं अज्ञानरूपी गढ़े से निकलकर स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ। मेरे सम्पूर्ण संशय नष्ट हुए हैं और मैं निर्दुःख पद में स्थित होकर अज्ञाननिद्रा से जागा हूँ-बड़ा आश्चर्य है।

हे राम ! ऐसे कहकर राजा शिखरध्वज सम्पूर्ण इन्द्रियों, प्राण और मन को स्थिर करके चेष्टा से रहित हुआ और जैसे शिला के ऊपर पुतली लिखी होती है और पर्वत का शिखर स्थित होता है, वैसे ही स्थित हुआ। इधर चुड़ाला कुम्भजरूप शरीर का त्यागकर और अपना सुन्दर रूप धारणकर उड़ी और आकाश को लाँघकर अपने नगर में आई। अन्तःपुर में जहाँ स्त्रियाँ रहती थीं, प्रवेश करके मन्त्रियों को आज्ञा दी की तुम अपने-अपने स्थान में स्थित हो और आप राजा के स्थान में स्थित होकर भली प्रकार प्रजा की खबर लेने लगी। निदान तीन दिन रहकर फिर वहाँ से उड़ी और जहाँ वन में राजा था वहाँ आ पहुँची और कुम्भज का रूप रखकर देखा कि राजा समाधि में स्थित है, इससे बहुत प्रसन्न हुई। हे राम ! ऐसे प्रसन्न होकर चुड़ाला ने विचार किया कि बड़े सुख का कार्य हुआ कि राजा ने स्वरूप में स्थिति पाई और शान्ति को प्राप्त हुआ। फिर यह विचार कर कि इसको जगाऊँ, सिंह की नाईं गरजी और ऐसा शब्द किया कि उससे वन के सब पशु पक्षी डर गये, परन्तु राजा न जगा। फिर उसे हाथ से हिलाया तो भी राजा न जगा। जैसे मेघ के शब्द से पर्वत का शिखर चलायमान नहीं होता, वैसे ही राजा चलायमान न हुआ और काष्ठ और पाषाण की नाईं स्थित रहा।

तब रानी ने विचार किया कि कहीं राजा शरीर को त्याग न दे। पर फिर विचारा कि जो राजा ने शरीर का त्याग किया हो तो मैं भी शरीर त्याग दूँगी। हे राम ! चुड़ाला ने शरीर न त्यागा, परन्तु विचार करने लगी कि राजा और मुझको इकट्ठा शरीर त्यागना है। फिर विचार करने लगी कि इसका भविष्य क्या होना है। तब राजा के नेत्रों पर हाथ लगाया और देह से देह का स्पर्श कर देखा कि राजा के शरीर

में प्राण हैं। फिर भविष्य का विचार किया कि इसका सत्त्व शेष रहता है, इससे जीवन्मुक्त होकर राज्य में विचरेगा। राजा ने पूछा, हे भगवन् ! तुमने कहा कि राजा काष्ठ और पाषाण की नाईं स्थित हुआ और फिर कहा कि कुम्भज ने हाथ लगाकर देखा कि इसमें प्राण हैं तो कुम्भज ने क्योंकर जाना ? यह मुझको संशय है, सो दूर करो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस शरीर में पुर्यष्टका होती है, उसमें कान्ति होती है। हे राम ! अज्ञानी का चित्त रहता है और ज्ञानी का सत्त्व रहता है, जो प्रारब्ध के वेग से जगता है और ब्रह्माकार वृत्ति जगने से फिर शरीर पाता है। ज्ञानी इष्ट-अनिष्ट में एक समान रहता है और अज्ञानी एक समान नहीं रहता; वह इष्ट में प्रसन्न और अनिष्ट की प्राप्ति में शोकवान् होता है।

हे राम ! ज्ञानी जब शरीर को त्यागता है, तब ब्रह्मसमुद्र में स्थित होता है और जब तक सत्त्व शेष है, तब तक चेतना काम करती है। अज्ञानी जब शरीर को त्यागता है, तब उसमें सूक्ष्म संसार होता है—जैसे बीज में वृक्ष, फूल और फल सूक्ष्मता से स्थित होता है और काल पाकर फिर निकलता है, उसी प्रकार राजा का सत्त्व शेष रहता था। इस कारण फिर वह जगेगा। तब कुम्भजरूप चुड़ाला ने विचार किया कि इसके भीतर प्रवेश करके जगाऊँ। जो मैं न जगाऊँगी तो भी नियति से इसे जागना है, ऐसे विचारकर उसने अपने शरीर को त्यागा और चेतनता में स्थित हो; चेतना को लेकर उसमें प्रवेश किया, और उसकी चेतनता का जो सत्त्व शेष था, उसको फोड़ा और बड़ा क्षोभ किया। जब राजा वहाँ से हिला, तब आप निकल आई और अपने शरीर में प्रवेश किया। जैसे पखेरू आकाश में उड़ता है और फिर झोंझ में आकर प्रवेश करता है, वैसे ही वह अपने शरीर में आकर स्थित हुई और सामवेद का गायन मधुर स्वर से करने लगी।

राजा यह सुनकर कि कोई सामवेद गाता है, जागा और देखा कि कुम्भज मुनि बैठे हैं। इन्हें देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और फूल और

जल चढ़ाकर बोला, हे भगवन् ! मेरे बड़े भाग्य हैं–मैं आपका दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुआ। हे भगवन् ! कुलरूपी कुलाचल पर्वत है, उसमें जो देहरूपी वृक्ष है, वह अब फूला है और तुमने हमको पावन किया है। हे भगवन् ! किसी की सामर्थ्य नहीं कि तुम जैसों के चित्त में प्रवेश करे। जिसमें सर्वदा आत्मा का निवास है, उस चित्त में मेरी स्मृति हुई है, जिससे आपका दर्शन पाया। इससे मेरे बड़े भाग्य हैं। हे भगवन् ! अमृतरूपी वचनों से तुमने प्रथम मुझे पवित्र किया था और अब स्मरण करके मुझे और पावन किया है। कुम्भज बोले, हे राजन् ! तुम्हारा दर्शन करके मैं भी बहुत प्रसन्न हुआ हूँ और तुम्हारी जैसी प्रीति मैंने आगे किसी में नहीं देखी। हे राजन् ! तुम्हारे निमित्त मैं स्वर्ग से आया हूँ। स्वर्ग के सुख मुझे भले न लगे और तुम बहुत प्रियतम हो, इसी से मैं आया हूँ। अब मैं स्वर्ग को भी न जाऊँगा, तुम्हारे ही पास रहूँगा। राजा बोले, हे भगवन् ! जिस पर तुम जैसों की कृपा होती है, उसको स्वर्ग आदिक सुख भले नहीं लगते तो तुम्हारी क्या बात है ? यह वन है और यह झोंपड़ी है, इसमें विश्राम करो; मेरे बड़े भाग्य हैं, जो तुम्हारा चित्त यहाँ लगता है।

कुम्भज बोले, हे राजन् ! अब तुम्हें शान्ति प्राप्त हुई है और संकल्परूप बीज नष्ट हुआ है। जैसे नदी के किनारे पर बेलि जल के प्रवाह से मूलसमेत गिरती है, वैसे ही तुम्हारे संकल्पबीज नष्ट हुए हैं। अब तुम यथाप्राप्ति में सन्तुष्ट हो कि नहीं और हेयोपादेय से रहित हुए हो कि नहीं और जो पाने योग्य पद है सो पाया है कि नहीं ? अपना अनुभव कहो। राजा बोले, हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा से अब मैंने सबसे श्रेष्ठ पद पाया है, जहाँ संसारसीमा का अन्त है। अब मुझे उपदेश का अधिकार नहीं रहा; क्योंकि मेरे सम्पूर्ण संशय नष्ट हुए हैं और हेयोपादेय से रहित हूँ, इससे सुखी विचरता हूँ। जो कुछ जानना चाहिए था सो भी मैंने जाना है। अब मुझको कोई संशय नहीं रहा और मैं सब ठौर तृप्त, नित्य, प्राप्तरूप आत्मा अपने निर्मल स्वभाव में स्थित, सर्वात्मा और निर्विकल्प हूँ। मुझमें कोई वासना नहीं; मैं शान्तरूप और चिरपर्यन्त सुखी हूँ।

इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार राजा और कुम्भज का तीन मुहूर्त संवाद हुआ। फिर उसके उपरान्त दोनों उठ खड़े हुए और चले। निकट एक तालाब था, जहाँ बहुत कमलिनी लगी थीं। वहाँ पहुँच दोनों ने स्नान करके गायत्रीजप और सन्ध्या की और पूजा करके फिर वहाँ से चले और वन कुंजों में आये। तब कुम्भज ने कहा, चलिये। राजा ने कहा, अच्छी बात है चलिये। निदान दोनों चले और बहुत नगरों, देशों, ग्रामों और तीर्थों को देखते हुए नाना प्रकार के वनों में, जो फूल और फलसंयुक्त थे, और मरूस्थल में बिचरे। हे राम ! ऐसे तीर्थ आदिक सात्त्विकी स्थानों, सुन्दर वन आदिक राजसी स्थानों और मरुस्थलादिक तापसी स्थानों में वे बिचरे पर हर्ष या शोक को न प्राप्त हुए और समता में रहे। हे राम ! कुम्भज के फिरने का यह प्रयोजन था कि देखें, राजा शुभ-अशुभ स्थानों को देखकर हर्ष-शोक करेगा अथवा न करेगा। पर राजा हर्ष-शोक को न प्राप्त हुआ। फिर उन्होंने बड़े पर्वतों की कन्दरा, वन कुंज और बड़े दुर्गम स्थान देखे और एक वन में जा रहे। कुछ काल में राजा और कुम्भज एक ही से हो गये। दोनों इकट्ठे स्नान करें; एक ही से जप जपें; एक सी पूजा करें। दोनों एक से सुहृद् हुए। किसी ठौर वे शरीर में भस्म लगाते, किसी ठौर चन्दन का लेप करते, किसी ठौर शरीर में भस्म लगाते, किसी ठौर दिव्य वस्त्र पहिनते, किसी ठौर केले के पत्तों पर सोते, किसी ठौर फूल की शय्या पर और कभी कष्टदायक स्थानों में शयन करते।

हे राम ! ऐसे शुभ-अशुभ ठौरों में भी वे ज्यों के त्यों रहे और हर्ष-शोक को न प्राप्त हुए। केवल शुद्ध सत्त्व में वे दोनों स्थित रहे और आत्मा के सिवा और कुछ न फुरा। एक बार रानी के मन में विचार हुआ कि यह मेरा भर्ता है, मैं इसको भोगूँ , क्योंकि हमारी यही अवस्था है। जो भले कुल की स्त्री हैं, वे भर्ता को प्रसन्न रखती हैं। राजा का शरीर भी देवता का सा हो गया है और स्थान भी शुभ है। जब तक शरीर है, तब तक शरीर के स्वभाव भी साथ हैं। फिर विचार किया कि राजा की परीक्षा

भी करूँ कि क्या कहता है। इतना विचारकर कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! अब हम स्वर्ग में जाते हैं, क्योंकि चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को ब्रह्माजी ने सृष्टि उत्पन्न की है; इसी दिन वर्ष के वर्ष उत्सव होता है। और वहाँ नारदमुनि भी आवेंगे। मेरे आने तक तुम समाधि में रहना। जब समाधि से उतरो तो फूलों को देखना। ऐसे कहकर उसने फूलों की मञ्जरी राजा को दी और राजा ने भी कुम्भज को फूल की मञ्जरी दी। जैसे नन्दनवन में स्त्री भर्ता के हाथ में दे और भर्ता स्त्री के हाथ में दे, वैसे ही परस्पर दोनों ने दी। फिर कुम्भज आकाश को उड़ा और जैसे मेघ को मोर देखता है, वैसे ही राजा देखता रहा। जहाँ तक राजा की दृष्टि जाती थी, वहाँ तक रानी ने कुम्भज का शरीर रक्खा और जब दृष्टि से अगोचर हुई तब फूलों की माला जो गले में थी। तोड़कर राजा के ऊपर डाल दी और चुड़ाला का शरीर धारणकर आकाश को लाँघ अपने अन्तःपुर में पहुँची। निदान राजा के स्थान पर बैठकर सबको अपने-अपने स्थानों में स्थित किया और प्रजा की खबरें सुनकर फिर उड़ी। सूर्य की किरणों के मार्ग से मेघमण्डल को लाँघती हुई जहाँ राजा का स्थान था, वहाँ आकर देखा कि राजा वियोग से शोकवान् है, इसलिए आप भी कुम्भज के रूप में उदास राजा के आगे आई।

राजा ने कहा, हे भगवन् ! तुमको शोक कैसे हुआ है ? ऐसा कौन कष्ट तुमको मार्ग में हुआ है ? सब दुःखों का नष्ट करनेवाला ज्ञान है। जो तुम ऐसे ज्ञानवानों को शोक हो तो औरों की क्या बात कहनी है। हे मुनि ! तुमको दुःख का कारण कोई नहीं, तुम क्यों शोकवान् होते हो, तुमको कौन अनिष्ट प्राप्त हुआ है ? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! मुझे एक दुःख है,सो कहता हूँ। जो मित्र पूछे तो सत् ही कहना चाहिए और दुःख भी नष्ट होता है जैसे मेघ जड़ और श्याम होता है और उसका स्वजन जो खेत और पृथ्वी हैं, उनके ऊपर वह वर्षा करता है तो उसकी जड़ता और श्यामता नष्ट होती है—इससे मैं तुमसे कहता हूँ। हे राजन् ! जब तक स्वर्ग में सभा स्थित थी, तब तक मैं नारद के

पास रहा। जब सभा उठी, तब नारदमुनि भी उठे और मुझसे कहा कि जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ जा और मैं भी जाता हूँ। नारद एक ही जगह में नहीं ठहरते, विश्व में घूमते फिरते हैं। तब मैं आकाश को चला तो एक जगह सूर्य से मिलाप हुआ और मैं मेघमार्ग से तीव्र वेग से चला। जैसे नदी पर्वत से तीव्र वेग से आती है, वैसे ही मैं तीव्र वेग से चला आता था। मैंने देखा कि दुर्वासा ऋषीश्वर महामेघ की तरह श्यामवस्त्र पहिने हुए और भूषणसंयुक्त जैसे बिजली का चमत्कार होता है, वैसे उड़े आते हैं। भूषणों का चमत्कार देखकर मैंने दण्डवत् करके कहा, हे मुनीश्वर ! तुमने क्या रूप धरा है जो स्त्रियों का सा लगता है ?

दुर्वासा ने तब रुष्ट होकर मुझसे कहा, हे ब्रह्मा के पौत्र ! तू क्या कहता है ? ऐसा मुनीश्वर के प्रति कहना उचित नहीं। हम क्षेत्र हैं; जैसा बीज क्षेत्र में बोइये वैसा ही उगता है। तूने मुझे स्त्री कहा है, इससे तू भी स्त्री होगा और रात्रि को तेरे सब अंग स्त्री के हो जायँगे। हे मुनीश्वर ! जो कल्याणकृत ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनमें नम्रता होती है। जैसे फल-संयुक्त वृक्ष नम्र होता है, वैसे ही ज्ञानी भी नम्र होता है। ऐसे वचन तुझे न कहना चाहिए। हे राजन् ! यह सुनकर मैं तुम्हारे पास चला आया हूँ मुझे लज्जा आती है कि स्त्री का शरीर रखकर देवताओं के साथ मैं कैसे बिचरूँगा-यही मुझको सोच है। राजा ने कहा, क्या हुआ जो दुर्वासा ने कहा और स्त्री का शरीर हुआ। तुम तो शरीर नहीं, निर्लेप आत्मा हो। हे मुनीश्वर ! तुम अपनी समता में स्थित रहते हो। ज्ञानवान् पुरुष को हेय उपादेय कुछ नहीं रहता। वह तो अपनी समता में स्थित रहता है ? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! तुम सत्य कहते हो। मुझे क्या दुःख है ? जो शरीर का प्रारब्ध है, सो होता है यह ईश्वर का नियम है कि जब तक शरीर रहता है, तब तक शरीर के स्वभाव भी रहते हैं। शरीर का स्वभाव त्याग करना भी मूर्खता है। जिस स्थान में ज्ञान की प्राप्ति हो, उसी चेष्टा में विचरिये। इन्द्रियों को रोकना और मन से विषय की चिन्तना करना भी मूर्खता है। इन्द्रियों और देह की

चेष्टा ज्ञानवान् भी करते हैं; परन्तु उसमें बँधते नहीं। इन्द्रियाँ विषय में बरतती हैं। ईश्वर का आदि नियम इसी प्रकार है।

हे राजन् ! नियम या नीति का त्याग किसी से नहीं किया जाता—इससे उसका क्यों त्याग करिये। यह नीति है कि जब तक शरीर है, तब तक शरीर के स्वभाव ही होते हैं। जैसे जब तक तिल है, तब तक तेल भी होता है; वैसे ही जब तक शरीर है, तब तक शरीर के स्वभाव भी होते हैं। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे देह और इन्द्रियों से चेष्टा भी करते हैं, परन्तु उसमें बँधते नहीं। पर अज्ञानी उसमें बँध जाते हैं। चेष्टा तो ज्ञानी भी करते हैं, अज्ञानी भी करते हैं। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि जो ज्ञानवान् हैं, वे सब चेष्टाएँ करते हैं, परन्तु किसी में नहीं बँधते। हे राजन्! वैसे जो अनिच्छित आकार प्राप्त हो और जिसको शास्त्र प्रमाण करें, उसको भोगने में कुछ दोष नहीं। राजा बोले, हे भगवन् ! ज्ञानवान् को दोष कुछ नहीं। जो सत्ता समान में स्थित है, उसे कुछ दोष नहीं होता। अज्ञानी शरीर के दुःख अपने में देखता है, उनसे दुःखी होता है और ज्ञानवान् शरीर के दुःख अपने में नहीं देखता। हे राम ! इतने में सूर्य अस्त हुआ। तब राजा और कुम्भज दोनों ने सांयकाल में सन्ध्या करके जप किया। जब रात्रि हुई। तारागण निकले और सूर्यमुखी कमलों के मुख मूँद गये, तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! देखो, मेरे सिर के बाल बढ़ते जाते हैं, वस्त्र भी टखने तक हो गये हैं और स्तन भी स्त्री की नाईं हैं।

निदान चुड़ाला लक्ष्मी की नाईं महासुन्दर स्त्री हो गई। उसको देखकर राजा को एक मुहूर्त शोक रहा। उसके उपरान्त सावधान होकर बोला, हे मुनि ! क्या हुआ जो तुम्हारा शरीर स्त्री का हुआ ? तुम तो शरीर नहीं, आत्मा हो-इससे शोक क्यों करते हो ? तुम अपनी सत्ता समान में स्थित रहो। जब रात्रि हुई तब रानी ने महासुन्दर रूप रखकर फूलों की शय्या बिछाई और उस पर दोनों इकट्ठे सोये। हे राम ! समस्त रात्रि उनकी कोई वासना नहीं जगी। दोनों सत्ता समान में स्थित रहे और मुखसे कुछ न बोले। जब प्रातःकाल हुआ, तब फिर रानी ने कुम्भज का

शरीर रखकर स्नान किया और गायत्री जप आदि कर्म किये। इसी प्रकार चुड़ाला रात्रि को स्त्री बन जाती और दिन को कुम्भज पुरुष का शरीर रखती। जब कुछ काल ऐसे बीता तब दोनों वहाँ से चलकर सुमेरु पर्वत के ऊपर गये और मन्दराचल और अस्ताचल पर्वत आदि सब सुख-दुःख के स्थानों को देखा। पर एक दृष्टि को लिये रहे। न किसी को हर्ष हुआ और न शोक, ज्यों के त्यों रहे। जैसे पवन से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता, वैसे ही शुभ-अशुभ स्थानों में वे समान रहे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजस्त्रीप्राप्तिर्नाम द्व्यूशीतितमस्सर्गः।। ८२।।

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार बिचरते बिचरते वे मन्दराचल की कन्दरा में पहुँचे तो वहाँ कुम्भजरूप चुड़ाला ने राजा से परीक्षा के निमित्त कहा, हे राजन् ! जब मैं रात्रि को स्त्री होती हूँ, तब मुझे भर्ता भोगने की इच्छा होती है; क्योंकि ईश्वर का नियम ऐसा ही है कि स्त्री को अवश्यमेव पुरुष चाहिए। जो उत्तम कुल का पुरुष होता है उसको कन्या विवाह करके पिता देता है अथवा जिसको स्त्री चाहे उसको आप देख ले। इससे हे राजन् ! मुझे तुमसे अधिक कोई नहीं देख पड़ता। तुम मेरे भर्ता हो और मैं तुम्हारी स्त्री हूँ। तुम मुझे अपनी भार्या जानकर जो कुछ स्त्री-पुरुष चेष्टा करते हैं सो किया करो। मेरी अवस्था भी यौवन है और तुम भी सुन्दर हो। ज्ञानवान् अनिच्छित प्राप्त हुए का त्याग नहीं करते। यदि तुमको इच्छा न हो तो भी ईश्वर की नीति इसी प्रकार है। उसके उल्लंघन से क्या सिद्ध होगा ? जो अपनी स्वरूपसत्ता में स्थित है, उसको ग्रहण-त्याग की कुछ इच्छा नहीं, परन्तु जो नीति है वह करनी चाहिए। राजा बोला, हे साधु ! जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो, मुझको तो तीनों जगत् आकाशरूप भासित होते हैं। मुझे प्राप्त होने से कुछ सुख नहीं और अप्राप्ति में दुःख नहीं और न कुछ हर्ष-शोक है। जो तुम्हारी इच्छा हो, सो करो।

कुम्भज बोले, हे राजन् ! आज ही पूर्णमासी का भला दिन है और मैंने आगे से लग्न भी गिन रक्खा है, इससे मन्दराचल पर्वत की कन्दरा

में बैठकर विवाह करो। निदान राजा और कुम्भज दोनों उठे और जो कुछ सामग्री शास्त्र की रीति से थीं, वे इकट्ठी कर दोनों ने गंगा में स्नान किया। वस्त्र, फूल, फल आदि जो विवाह की सामग्री हैं सो एकत्र की। कल्पवृक्ष से लेकर दोनों ने फल भोजन किये। सूर्य अस्त हुआ तो दोनों ने सन्ध्योपासन किया। कुम्भज ने राजा को दिव्य वस्त्र और भूषण पहिनाये और सिर पर मुकुट रक्खा। फिर कुम्भज ने अपना शरीर त्यागकर स्त्री का शरीर धारण किया और राजा से बोला, हे राजन् ! अब तू मुझे भूषण पहिना। तब राजा ने सम्पूर्ण भूषण, फूल और वस्त्र उसे पहिनाये और वह पार्वती की नाईं सुन्दर बनी। तब चुड़ाला ने कहा, हे राजन् ! मैं अब तेरी स्त्री हूँ और मेरा नाम मदनिका है। तुम मेरे भर्ता हो-मुझे तुम कामदेव से भी सुन्दर लगते हो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसी प्रकार चुड़ाला ने बहुत कुछ कहा, तो भी राजा का चित्त हर्ष को न प्राप्त हुआ और वह विराग से शोकवान् भी न हुआ-ज्यों का त्यों रहा। इसके उपरान्त जब विवाह का आरम्भ हुआ तो चन्दन आदि सामग्री और सुवर्ण के कलश पास रखकर देवताओं का पूजन किया और जो शास्त्र की विधि थी, वह सम्पूर्ण करके मंगल किया। फिर रानी ने यह संकल्प किया कि सम्पूर्ण ज्ञाननिष्ठा तुम्हें दी और राजा ने संकल्प किया कि सम्पूर्ण ज्ञाननिष्ठा तुझे दी। जब रात्रि एक पहर रही, तब राजा और रानी ने फूलों की शय्या बिछाकर शयन किया और आपस में चर्चा ही करते रहे, संभोग कुछ न किया। प्रातःकाल कुम्भज ने स्त्री का शरीर त्यागकर-कुम्भज का शरीर धरा और स्नान-संध्यादिक कर्म किये। हे राम ! इसी प्रकार एक मास पर्यन्त मन्दराचल पर्वत में वे रहे। रात्रि को रानी स्त्री का शरीर रखती और दिन को कुम्भज का शरीर रखती। जब तीसरा दिन होता, तब राजा को शयन कराकर राज्य की सुध लेती और फिर आकर राजा के पास शयन करती।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विवाहलीलावर्णनं नाम त्र्यशीतितमस्सर्गः ।। ८३।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब वहाँ से वे चले तो अस्ताचल पर्वत में जाकर रहे और उदयाचल, सुमेरु, कैलास इत्यादिक पर्वतों की कन्दराओं और वनों में रहे। कहीं एक मास, कहीं दस मास, कहीं पाँच दिन, कहीं सात दिन रहे। इसी तरह जब एक वन में आये, तब रानी ने विचार किया कि इतने स्थान राजा को दिखाये, तो भी इसका चित्त किसी में नहीं बँधा, इससे अब और परीक्षा लूँ। ऐसे विचारकर उसने अपनी ऐसी माया फैलाई कि तेंतीस कोटि देवता सहित इन्द्र के आगे किन्नर, गन्धर्व, सिद्ध और अप्सरा नृत्य करती आईं। सर्वसामग्री संयुक्त इन्द्र को देखकर राजा उठा और बहुत प्रीति से उसकी पूजा करके बोला, हे त्रैलोक्य के पति ! तुम किसलिये वन में आये हो सो कहो ? इन्द्र ने कहा, हे राजन् ! जैसे पक्षी ऊपर आकाश में उड़ता है और उसकी पेटी में तागा होता है उससे उड़ता हुआ भी नीचे आता है, वैसे ही हम ऊर्ध्व के वासी तप और शुभ लक्षणों के तागेरूपी गुणों को श्रवण करके स्वर्ग से खिंचे चले आते हैं—इस प्रकार हमारा आना हुआ है। इससे हे राजन्! तुम स्वर्ग को चलो और स्वर्ग में स्थित होकर दिव्य भोगों को भोगो। ऐरावत हाथी पर अथवा उच्चैःश्रवा घोड़ा, जो क्षीरसमुद्र के मंथन से निकला है, उस पर सवार होकर चलो। अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियाँ भी विद्यमान हैं। जो इच्छा हो, सो लो और स्वर्ग में चलो। हे राजन् ! तुम तत्त्ववेत्ता हो, तुमको ग्रहण या त्याग करना कुछ नहीं रहा। परन्तु जो अनिच्छित प्राप्त हो, उसका त्याग करना योग्य नहीं—इससे स्वर्ग में चलो।

राजा बोले, हे देवराज ! जाना वहाँ होता है, जहाँ आगे न गया हो, और जहाँ आगे ही गये हो, वहाँ कैसे जावें ? हे देवराज ! हमको सब जगह स्वर्ग ही देख पड़ता है। जो वहाँ स्वर्ग हो और यहाँ न हो, तो जाना भी उचित है; परन्तु जहाँ हम बैठे हैं, वहीं हमें स्वर्ग भासित होता है; इससे हम कहाँ जावें ? हमको तीनों लोक स्वर्ग ही दीखते हैं और सदा स्वर्गरूप जो आत्मा है हम उसी में स्थित हैं। हमको सर्वत्र स्वर्ग है, हम सदा तृप्त

और आनन्दरूप हैं। इन्द्र बोले, हे राजन् ! जो विदित-वेद पूर्णबोध हैं, वे भी यथाप्राप्त भोगों को सेवते हैं तो तुम क्यों नहीं सेवते ? इन्द्र ने ऐसे जब कहा, तब राजा इतना कहकर चुप हो गया। फिर इन्द्र ने कहा-भला जो तुम नहीं आते तो हमही जाते हैं। तुम्हारा और कुम्भज का कल्याण हो। हे राम ! ऐसे कहकर इन्द्र उठ खड़ा हुआ और चला, पर जब तक वह देख पड़ता था, तब तक देवता भी साथ दीखते थे, फिर जब दृष्टि से अगोचर हुए तब अन्तर्धान हो गये। जैसे समुद्र से तरंग उठकर फिर लीन हो जाते हैं और जाना नहीं जाता कि कहाँ गये, वैसे ही इन्द्र अन्तर्धान हो गया। वह इन्द्र कुम्भजरूप चुड़ाला के संकल्प से उठा था। जब संकल्प लीन हुआ, तब अन्तर्धान हो गया। चुड़ाला ने देखा कि ऐसे ऐश्वर्य, सिद्धि और अप्सराओं के प्राप्त होने पर भी राजा का चित्त समता में रहा और किसी पदार्थ में नहीं बँधा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निवार्णप्रकरणे मायाशक्रागमनवर्णनं नाम चतुरशीतितमस्सर्गः ।। ८४।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब चुड़ाला इन्द्र का छल कर चुकी, तब विचारने लगी कि ऐसा चरित्र मैंने राजा को मोहने के निमित्त किया तो भी राजा किसी में नहीं बँधा और ज्यों का त्यों ही रहा। बड़ा कल्याण हुआ कि राजा सत्तासमान में स्थित रहा-इससे बड़ा आनन्द हुआ। अब और चरित्र करूँ, जिसमें इसको क्रोध और खेद दोनों हों। ऐसे विचारकर राजा की परीक्षा के निमित्त उसने यह चरित्र किया कि जब सायंकाल का समय हुआ, तब गंगा के किनारे राजा संध्या करने लगा और कुम्भज वन में रहा। उसने वहाँ संकल्प का मन्दिर रचा। जैसी देवताओं की रचना होती है, वैसी ही मन्दिर के पास फूलों की एक बाड़ी लगाई और उसमें कल्पवृक्ष आदि नाना प्रकार के फूल-फल-संयुक्त वृक्ष रचे। फिर संकल्प से शय्या रचकर एक संकल्प का महासुन्दर पुरुष रचा और उसके साथ अंग से अंग लगा और गले में फूलों की माला डाल कामचेष्टा करने लगी। जब राजा सन्ध्या कर चुका तो रानी को देखने लगा, पर वह न देख पड़ी।

निदान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस मन्दिर के निकट आया तो क्या देखा कि एक कामी पुरुष के साथ मदनिका सोई हुई है और दोनों कामचेष्टा करते हैं। तब राजा ने विचारा कि भले आराम से दोनों सो रहे हैं, इनके आनन्द में विघ्न क्यों कीजिये।

हे राम ! इस प्रकार राजा ने अपनी स्त्री को देखा तो भी शोकवान् न हुआ और क्रोध भी न किया, ज्यों का त्यों शान्तपद में स्थित रहा। मन्दिर के बाहर निकल के वहाँ एक सुवर्ण की शिला पड़ी थी उस पर आकर बैठा और आधे नेत्र मूँदकर समाधि में स्थित हुआ। दो घड़ी के उपरान्त मदनिका कामी पुरुष को त्यागकर बाहर आई और राजा के निकट आकर अंगों को नग्न किया और फिर वस्त्रों से ढका। जैसे और स्त्रियाँ काम से व्याकुल होती हैं, वैसे ही चुड़ाला को देखकर राजा ने कहा; हे मदनिका ! तू ऐसे सुख को त्यागकर क्यों आई है ? तू तो बड़े आनन्द में मग्न थी। अब वहीं फिर जा। मुझे तो हर्ष या शोक कुछ नहीं। मैं ज्यों का त्यों हूँ। परन्तु तेरी और कामी पुरुष की प्रीति परस्पर देखी है। जगत् में परस्पर ऐसी प्रीति नहीं होती। इससे तू उसको सुख दे, वह तुझे सुख दे। तब मदनिका लज्जा से सिर को नीचे करके बोली, हे भगवन् ! क्षमा करो। मुझ पर क्रोध न क़रो। मुझसे बड़ी अवज्ञा हुई है, परन्तु मैंने जानकर नहीं की। सारा वृत्तान्त सुनो। जब तुम सन्ध्या करने लगे, तब मैं वन में आई तो वहाँ एक कामी पुरुष का मिलाप हुआ। मैं निर्बल थी और वह बली था। उसने पकड़कर मुझे गोद में बैठा लिया और जो कुछ इच्छा थी सो किया। मैंने जो पतिव्रता स्त्री की मर्यादा थी, उसके अनुसार उस पर क्रोध किया और उसका निरादर किया और पुकार भी की-ये तीनों पतिव्रता की मर्यादा हैं सो मैंने की-परन्तु तुम दूर थे और वह बली था, मुझसे उसने बलात्कार किया। हे भगवन् ! मुझमें कुछ दोष नहीं, इससे तुम क्षमा करके क्रोध न करो।

राजा बोले, हे मदनिका ! मुझे कभी क्रोध नहीं होता। आत्मा ही सर्वत्र दीखता है, तब क्रोध किस पर करूँ। मुझे न कुछ ग्रहण करना है

और न त्याग करना है, तथापि यह कर्म साधुओं से निन्दित है। इससे मैंने अब तेरा त्याग किया है। अब सुख से बिचरूँगा। मेरा गुरु जो कुम्भज है, वह मेरे पास ही है। वह और मैं सदा वीतराग हैं। तू तो दुर्वासा के शाप से उपजी है। तुझसे मुझे क्या प्रयोजन है, तू अब उसी के पास जा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मायापिञ्जरवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमस्सर्गः।। ८५।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तब मदनिका नाम की चुड़ाला ने विचार किया कि बड़ा कार्य हुआ, जो राजा आत्मपद को प्राप्त हुआ। ऐसी सिद्धि और ऐश्वर्य दिखाये और कठिन क्रूर स्थान भी दिखाये, तो भी राजा शुभ-अशुभ में ज्यों का त्यों रहा। इससे बड़ा कल्याण हुआ कि राजा को शान्ति प्राप्त हुई और वह रागद्वेष से रहित हुआ। अब मैं इसे अपना चुड़ाला का पूर्वरूप दिखाऊँ और सम्पूर्ण वृत्तान्त जताऊँ। ऐसे विचार कर जब मदनिका शरीर से चुड़ालारूप में भूषण और वस्त्रसहित प्रकट हुई, तब राजा उसे देखकर महाआश्चर्य को प्राप्त हुआ और ध्यान में स्थित होकर देखा कि यह चुड़ाला कहाँ से आई है। फिर पूछा, हे देवि ! तू कहाँ से आई है ? तुझे देखकर तो मैं आश्चर्य को प्राप्त हुआ हूँ; क्योंकि ऐसी तो मेरी स्त्री चुड़ाला थी। तू यहाँ किस निमित्त से आई है और कब की आई है ? चुड़ाला बोली, हे भगवन्! मैं तुम्हारी स्त्री चुड़ाला ही हूँ और तुम मेरे स्वामी हो। हे राजन् ! कुम्भज से लेकर इस चुड़ाला शरीर तक सब चरित्र मैंने तुम्हें जगाने के निमित्त किये हैं। तुम ध्यान में स्थित होकर देखो कि ये चरित्र किसने किये हैं ? मैंने अब पूर्व का चुड़ाला का शरीर रखा है। हे राम ! जब ऐसे चुड़ाला ने कहा, तब राजा ध्यान में स्थित होकर देखने लगा और एक मुहूर्त तक ध्यानस्थ रहकर सब वृत्तान्त जान लिया। उसके उपरान्त राजा ने आश्चर्य को प्राप्त होकर नेत्र खोले और रानी को कण्ठ से लगा लिया। निदान दोनों ऐसे हर्ष को प्राप्त हुए जो सहस्त्र वर्ष पर्यन्त शेषनाग उस सुख को वर्णन करें तो भी न कह सकेंगे। वे ऐसे

सत्तासमान में स्थित होकर शान्ति को प्राप्त हुए, जिसमें क्षोभ कभी नहीं होता।

राजा और रानी दोनों कण्ठ लगकर मिले थे, इससे अंगों में उष्णता उपजी थी, इस कारण धीरे-धीरे उन्होंने अंग खोले। हर्षित होकर राजा की रोमावलि खड़ी हो आई और नेत्रों से आँसू बहने लगे। ऐसी अवस्था में राजा बोला, हे देवि ! मुझ पर तुमने बड़ा अनुग्रह किया है। तुम्हारी स्तुति मैं नहीं कर सकता। जो कुछ संसार के पदार्थ हैं, वे सब मायामय और मिथ्या हैं। तुमने मुझे सत्पद को पहुँचाया है, इससे मैं तुम्हारी कहाँ तक प्रशंसा करूँ। हे देवि ! मैंने अब जाना कि मैंने जो राज्य त्याग किया, वह और चुड़ाला के शरीर पर्यन्त सब तुम्हारे ही चरित्र हैं। तुमने मेरे वास्ते बड़े कष्ट सहे और बड़े यत्न किये। आना और जाना, शरीर का स्वाँग भरना और उड़ना इत्यादि में तुमने बड़ा कष्ट पाया है और बड़े यत्न से मुझे संसार समुद्र से पार करके बड़ा उपकार किया है। तुम धन्य हो जितनी देवियाँ अरुन्धती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी, पार्वती, सरस्वती और श्रेष्ठ कुल की कन्या और पतिव्रता हैं, उन सबसे तुम श्रेष्ठ हो। जिस पुरुष को पतिव्रता प्राप्त होती है, उसके सब कार्य सिद्ध होकर उसे बुद्धि, शान्ति, दया, शक्ति, कोमलता और मैत्री प्राप्त होती है। हे देवि ! मैं तुम्हारे प्रसाद से शान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। अब मुझे कोई क्षोभ नहीं है। ऐसा पद शास्त्रों और तप से भी नहीं मिलता।

चुड़ाला बोली, हे राजन् ! तुम काहे को मेरी स्तुति करते हो ? मैंने तो अपना कर्त्तव्य किया है। हे राजन् ! तुम राज्य का त्याग कर वन में मोह अर्थात् अज्ञान को साथ ही लिये आये थे, इससे नीच स्थान में पड़े। जैसे कोई गंगाजल त्यागकर कीचड़ के जल को अंगीकार करे, वैसे ही तुमने आत्मज्ञान और अक्रियपद का त्यागकर तप को अंगीकार किया था। जब मैंने देखा कि तुम कीचड़ में गिरे हो तो मैंने तुम्हें निकालने के लिए इतने यत्न किये हैं। हे राजन् ! मैंने अपना कर्त्तव्य किया है। राजा बोले, हे देवि ! मेरा यही आशीर्वाद है कि जो कोई पतिव्रता स्त्री हों वे सब ऐसे

कार्य करें जैसे तुमने किये हैं। जो पतिव्रता स्त्री से कार्य होता है; वह और से नहीं होता। हे देवि ! अरुन्धती आदि जितनी पतिव्रता स्त्रियाँ हैं, उनमें तुम प्रथम गिनी जाओगी। मैं जानता हूँ कि ब्रह्माजी ने क्रोधकर तुम्हें इस निमित्त उपजाया है कि अरुन्धती आदि देवियों ने जो गर्व किया होगा, उस गर्व को मिटावें। इससे हे देवि ! तुम धन्य हो। तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है। हे देवि ! तुम मेरे अंग से लगो । तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। हे राम ! ऐसे कहकर राजा ने रानी को फिर कण्ठ से लगाया, जैसे नेवला और नेवली मिलें और मूर्ति की नाईं लिखें हों।

चुड़ाला बोली, हे भगवन्‌ ! एक तो मुझसे यह कहो कि ज्ञानरूप आत्मा के एक अंश में जगत्‌ लीन हो जाते हैं; ऐसे तुम हो। अपने को अब तुम क्या जानते हो ? अब तुम कहाँ स्थित हो ? राज्य तुम्हें कुछ दिखाई देता है या नहीं और अब तुम्हारी क्या इच्छा है ? शिखरध्वज बोले, हे देवि ! जो स्वरूप तुमने-ज्ञान से निश्चित किया है, वही मैं अपने को जानता हूँ और शान्तरूप हूँ। इच्छा-अनिच्छा मुझको कोई नहीं रही—केवल शान्तरूप हूँ। हे देवि ! जिस पद की अपेक्षा करके ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की मूर्तियाँ भी शोकसंयुक्त लगती हैं, उस पद को मैं प्राप्त हुआ हूँ , जहाँ कोई उत्थान नहीं; जो निष्किंचन है और जिसमें किंचिन्मात्र भी जगत्‌ नहीं। मैं जो था वही हुआ हूँ, उससे अधिक और क्या कहूँ। हे देवि ! तुमने संसारसमुद्र से मुझे पार किया है, इससे तुम मेरी गुरु हो। ऐसे कहकर राजा चुड़ाला के चरणों पर गिर पड़ा और बोला-मुझे अज्ञान कभी स्पर्श नहीं करेगा। जैसे ताँबा पारस के संग से सुवर्ण होकर फिर ताँबा नहीं होता, वैसे ही मैं तुम्हारे प्रसाद से मोहरूपी कीचड़ से निकला हूँ और फिर कभी न गिरूँगा। अब मैं इस गत्‌ के सुख-दुःख से संतुष्ट हुआ। ज्यों का त्यों स्थित हूँ और राग-द्वेष को उठानेवाला मेरा चित्त नष्ट हो गया है। अब मैं प्रकाशरूप अपने आपमें स्थित हूँ। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जल के नष्ट होने पर प्रतिबिम्ब भी सूर्यरूप होता है, वैसे ही मेरा चित्त भी आत्मरूप हुआ है। अब मैं निर्वाणपद को

प्राप्त हो सबसे अतीत हुआ हूँ और सबमें स्थित हूँ। जैसे आकाश सब पदार्थों में स्थित है और सब पदार्थों से अतीत है, वैसे ही मैं भी हूँ। मेरे 'अहं' 'त्वं' आदिक शब्द नष्ट हुए हैं और मैं शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। अब मुझमें ऐसा-वैसा शब्द कोई नहीं। मैं अद्वैत और चिन्मात्र हूँ और न सूक्ष्म हूँ, न स्थूल हूँ।

चुड़ाला बोली, हे राजन् ! जो तुम ऐसे स्थित हुए तो अब क्या करोगे और अब तुम्हें क्या इच्छा है ? राजा बोले, हे देवि ! न मुझे कुछ अंगीकार करने की इच्छा है और न त्याग करने की। जो कुछ तुम कहोगी सो करूँगा। तुम्हारे कहने को अंगीकार करूँगा। जैसे मणि प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, वैसे ही मैं तुम्हारे वचनों को ग्रहण करूँगा। चुड़ाला बोली, हे प्राणपति, हृदय के प्रियतम राजा ! अब तुम विष्णु हुए हो। यह बड़ा उत्तम हुआ कि तुम्हारी इच्छा नष्ट हुई है। हे राजन् ! अब उचित है कि तुम और मैं मोह से रहित होकर अपने प्राकृत आचार में बिचरें। हम अखेद जीवन्मुक्त होकर अपने प्राकृत आचार को क्यों त्यागे ? हे राजन् ! जो अपने आचार को त्यागेंगे तो और किसी को ग्रहण करेंगे। इससे अपने ही आचार में विचरते हैं और भोग-मोक्ष दोनों को भोगते हैं। हे राम ! ऐसे परस्पर विचार करते दिन व्यतीत हुआ और सायंकाल की सन्ध्या राजा ने की। फिर शय्या का आरम्भ किया। उस पर दोनों सोये और रात्रिभर परस्पर चर्चा ही करते एक क्षण की नाईं रात्रि बिताई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चुड़ाला प्राकट्यवर्णनंनाम षड्शीतितमस्सर्गः ।। ८६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब ऐसे रात्रि बीती और सूर्य की किरणें फैलीं; सूर्यमुखी कमल खिल आये, तब राजा ने स्नान किया। चुड़ाला ने मन के संकल्प से रत्नों की मटकी रच हाथ में ली, उसमें गंगादिक सम्पूर्ण तीर्थों का जल डाला और राजा को स्नान कराके शुद्ध किया। तब राजा ने संध्यादिक सब कर्म किये। तब चुड़ाला ने कहा, हे राजन् ! मोह का नाश करके सुखपूर्वक अपने राज-काज करने चाहिये जिससे सुख भोगें।

राजा बोले, हे देवि ! जो तुम्हें सुख भोगने की इच्छा हो तो स्वर्ग में भी हमारा राज्य है और सिद्धलोक में भी हमारा राज्य है। इससे स्वर्ग में बिचरें ! चुड़ाला बोली, हे राजन् ! हमको न सुख भोगने की इच्छा है, न त्यागने की इच्छा है। हम तो ज्यों के त्यों हैं। इच्छा और अनिच्छा तब होती है, जब आगे कुछ पदार्थ भासित होता है। पर हमको तो केवल आत्मा दीखता है; स्वर्ग कहाँ और नरक कहाँ-हम सर्वदा एकरस स्थित हैं। हे राजन् ! यद्यपि हमको कुछ भेद नहीं, तो भी जब तक शरीर का प्रारब्ध है, तब तक शरीर रहता है, इससे चेष्टा भी होनी चाहिए। और की चेष्टा करने से अपने प्राकृत आचार को क्यों न कीजिये, जिसमें रागद्वेष से रहित होकर अपने राज्य को भोगें ? इससे अब उठो और अष्टवसु के तेज को धारण कर राज्य करने को सावधान हो।

राजा ने कहा बहुत अच्छा, और अष्टवसु के तेजसंयुक्त हो बोला, हे देवि ! तुम मेरी पटरानी हो और मैं तुम्हारा भर्ता हूँ तो भी तुम और मैं एक ही हैं। राज्य तब होता है, जब सेना भी हो, इससे सेना भी रचो। इतना सुन चुड़ाला ने सम्पूर्ण सेना और हाथी, घोड़े, रथ, नौबत, नगारे, निशान इत्यादिक राज्य की सामग्री रची और सब प्रत्यक्ष आगे आकर स्थित हुईं। नौबत, नगारे, तुरही और शहनाई बजने लगी और जो कुछ राज्य की सामग्री हैं; वे अपने अपने स्थान में स्थित हुईं। राजा के सिर पर छत्र फिरने लगा और राजा और रानी हाथी पर सवार होकर मन्दराचल पर्वत के ऊपर चले। आगे पीछे सब सेना हुई। राजा ने जिस जिस जगह पर तप किया था सो रानी को दिखाता गया कि इस स्थान में मैं इतने काल रहा हूँ ; इसमें इतना रहा हूँ। ऐसे दिखाते दिखाते बड़े वेग से चले। मन्त्री, पुरवासी और नगरवासी राजा को लेने आये और बड़े आदर से पूजन किया। इस प्रकार दोनों अपने मन्दिर पहुँचे। आठ दिन तक राजा से लोकपाल और मण्डलेश्वर मिलने को आते रहे। इसके उपरान्त राजसिंहासन पर बैठकर दोनों राज्य करने लगे। समदृष्टि को लिये दशसहस्त्र वर्ष तक राज्य किया। फिर चुड़ाला

संयुक्त जीवन्मुक्त होकर बिचरे और दोनों विदेह मुक्त हुए। हे राम ! दशसहस्त्र वर्ष पर्यन्त राजा और चुड़ाला ने राज्य किया और दोनों सत्तासमान में स्थित रहे। किसी पदार्थ में वे रागवान् न हुए और किसी से द्वेष भी न किया ज्यों के त्यों शान्तपद में स्थित रहे। जितनी राज्य की चेष्टा हैं, सो करते रहे, परन्तु भीतर से किसी में बँधे नहीं-केवल आत्मपद में अचल रहे। फिर राजा और चुड़ाला विदेह मुक्त हुए- जैसे अपने को जानते थे, उसी ज्ञान के बल से परमाकाश अक्षोभपद में जाकर स्थित हुए और जैसे तेल बिना दीपक निर्वाण होता है, वैसे ही प्रारब्धवेग का क्षय होने पर निर्वाणपद को प्राप्त हुए। हे राम ! जैसे शिखरध्वज और चुड़ाला जीवन्मुक्त होकर भोगों को भोगते बिचरे हैं, वैसे ही तुम भी रागद्वेष से रहित होकर बिचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजचुड़ालाख्यान-
समाप्तिर्नाम सप्ताशीतितमस्सर्गः ।। ८७।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शिखरध्वज का सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा। ऐसी दृष्टि का आश्रय करो, जो पाप का नाश करती है। उस दृष्टि के आश्रय से जिस मार्ग के द्वारा शिखरध्वज तत्पद को प्राप्त हुआ और जीवन्मुक्त होकर राज्य-व्यवहार करता रहा, वैसे ही तुम भी तत्पद का आश्रय करो और उसी के परायण हो आत्मपद को पाकर भोग और मोक्ष दोनों भोगो। इसी प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच ने भी बोध पाया है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जिस प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच बोध को प्राप्त हुआ, सो भी संक्षेप से कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कच बालक जब अज्ञान अवस्था को त्यागकर पद-पदार्थ को जानने लगा, तब उसने अपने पिता बृहस्पति से प्रश्न किया कि हे पिता! इस संसार के पिंजरे से मैं कैसे निकलूँ ? जितना संसार है, वह जीवत्व से बँधा हुआ है। अनात्मदेहादिकों में मिथ्या अभिमान करने को जीवत्व कहते हैं। जिसमें 'अहं', 'त्वं' माना जाता है, उस संसार से कैसे मुक्त होऊँ ? बृहस्पति बोले, हे तात ! इस अनर्थरूप संसार से जीव तब मुक्त

होता है, जब सबका त्याग करता है। सर्वत्याग किये बिना मुक्ति नहीं होती। इससे तू सर्वत्याग कर जिसमें मुक्त हो। वशिष्ठजी बोले, हे राम! जब इस प्रकार बृहस्पति ने कहा, तब कच ऐसे पावन् वचनों को सुन ऐश्वर्य का त्याग कर वन को गया और एक कन्दरा में स्थित होकर तप करने लगा।

हे राम ! बृहस्पति को कच के जाने से कुछ खेद न हुआ; क्योंकि ज्ञानवान् पुरुष संयोग-वियोग में सम रहते हैं और हर्ष-शोक को कभी प्राप्त नहीं होते। जब आठ वर्ष पर्यन्त कच ने तप किया, तब बृहस्पति ने जाकर देखा कि वह एक कन्दरा में बैठा है। तब वह कच के पास आ गये। कच ने पिता का पूजन गुरु की भाँति किया। बृहस्पति ने कच को गले लगाया। तब कच ने गद्गदवाणी से प्रश्न किया-हे पिता ! आठ वर्ष बीते मैंने सर्वत्याग किया है, तो भी शान्ति को नहीं प्राप्त हुआ ? जिससे मुझे शान्ति हो, सो कहो। बृहस्पति ने कहा, हे तात ! सर्वत्याग कर, जिससे तुझे शान्ति हो। ऐसे कहकर बृहस्पति उठ खड़े हुए और आकाश को चले गये। हे राम ! जब बृहस्पति ऐसे कहकर चले गये, तब कच आसन और मृगछाला को त्याग कर और वन को चला और एक कन्दरा में जाकर स्थित हुआ। तीन वर्ष वहाँ व्यतीत हुए तो फिर बृहस्पति आये और देखा कि कच स्थित बैठा है। तब कच ने भली प्रकार गुरु की तरह उनका पूजन किया और बृहस्पति ने कच को गले लगाया। तब कच ने कहा, हे पिता ! अब तक मुझे शान्ति नहीं हुई। मैंने सर्वत्याग भी किया; क्योंकि अपने पास कुछ नहीं रक्खा। इससे जिससे मेरा कल्याण हो, वही कहो। बृहस्पति ने कहा, हे तात ! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ; सबके कारण चित्त का जब त्याग करेगा, तब सर्वत्याग होगा; इससे चित्त का त्याग कर।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ऐसे कहकर जब बृहस्पति आकाश को चले गये, तब कच विचारने लगा कि पिता ने सर्वपद चित्त को कहा है, वह चित्त क्या है ? प्रथम वन के पदार्थों को देखकर विचारने लगा कि

यह चित्त है। फिर देखा कि ये भिन्न-भिन्न हैं, इससे ये चित्त नहीं और नेत्र भी चित्त नहीं; क्योंकि नेत्र श्रवण नहीं। और श्रवण नेत्रों से भिन्न है। श्रवण भी चित्त नहीं इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ चित्त नहीं; क्योंकि एक में दूसरे का अभाव है। फिर चित्त क्या है, जिसको जान कर त्याग करूँ? फिर विचार किया कि पिता के पास स्वर्ग में जाऊँ। हे राम ! ऐसे विचारकर कच उठ खड़ा हुआ और दिगम्बर होकर आकाश को चला। जब पिता के पास पहुँचा, तब पिता का पूजन करके बोला, हे तेंतीस कोटि देवताओं के गुरु ! चित्त का रूप क्या है ? उसका रूप कहिये, जिसमें मैं उसका त्याग करूँ। बृहस्पति बोले, हे पुत्र ! चित्त अहंकार का नाम है। वह अज्ञान से उपजा है और आत्मज्ञान से इसका नाश होता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प दिखता है और रस्सी के जानने से सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है। इससे अहंभाव का त्याग कर और स्वरूप में स्थित हो। कच बोले, हे पिता ! अहंभाव का त्याग कैसे करूँ? अहं', तो मैं ही हूँ , फिर अपना त्याग करके स्थित कैसे होऊँ ? इसका त्याग करना तो महाकठिन है।

बृहस्पति बोले, हे तात ! अहंकार का त्याग करना तो महासुगम है। फूल के मलने में और नेत्रों के खोलने और मूँदने में भी कुछ यत्न है, परन्तु अहंकार के त्यागने में कुछ यत्न नहीं। हे पुत्र ! अहंकार कुछ वस्तु नहीं; भ्रम से उत्पन्न है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है, रस्सी में सर्प दिखता है; मरुस्थल में जल की कल्पना होती है और आकाश में भ्रम से दो चन्द्रमा दीखते हैं, वैसे ही परिच्छिन्न अहंकार अपने प्रमाद से उपजा है। आत्मा शुद्ध आकाश से भी निर्मल है और देश-काल-वस्तु के परिच्छेद से रहित सत्ता सामान्य चिन्मात्र है। उसमें स्थित हो, जो तेरा स्वरूप है। तू आत्मा है। तुझमें अहंकार कभी नहीं है। हे साधु ! आत्मा सर्वदा, सब प्रकार सबमें स्थित है। उसमें अहंभाव किंचित् भी नहीं है। जैसे समुद्र में धूल कभी नहीं होती, वैसे ही आत्मा में अहंकार कभी नहीं है। आत्मा में न एकत्व है, और न द्वैत।

वह केवल अपने आपमें स्थित है। और जो नाना आकार देख पड़ते हैं, वे चित्त के स्फुरण से हैं। चित्त के नष्ट होने पर आत्मा ही शेष रहता है। इससे अपने स्वरूप में स्थित हो जिससे तेरा दुःख नष्ट हो जावे। जो कुछ यह देख पड़ता है, इसमें भी आत्मा है। जैसे पत्र, फूल, फल सब बीज से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सब आत्मा का चमत्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बृहस्पतिबोधनं
नामाष्टाशीतितमस्सर्गः ।। ८८।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार बृहस्पति ने उत्तम उपदेश किया तब कच उसे सुनकर स्वरूप में स्थित हुआ और जीवन्मुक्त होकर बिचरा। हे राम ! जैसे कच जीवन्मुक्त होकर बिचरा और निरहंकार हुआ, वैसे ही तुम भी निष्काम होकर बिचरो और केवल अद्वैतपद को प्राप्त हो, जो निर्मल और शुद्ध है। जिसमें अद्वैत या द्वैत कुछ नहीं, तुम उसी पद में स्थित हो। तुममें दुःख कोई नहीं। तुम आत्मा हो और तुममें अहंकार नहीं। तुम ग्रहण या त्याग किसका करो। जो पदार्थ हो ही नहीं तो ग्रहण या त्याग किसका हो ? हे राम ! जैसे आकाश में फूल नहीं तो उसका ग्रहण क्या और त्याग क्या, वैसे ही आत्मा में अहंकार नहीं। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे अहंकार का ग्रहण और त्याग नहीं करते। मूर्ख को एक आत्मा में नाना आकार दीखते हैं, इससे किसी का शोक करता है और कहीं हर्ष करता है। तुम कैसे दुःख का नाश चाहते हो ? दुःख तो तुममें है ही नहीं तो तुम कैसे उसका नाश करने को समर्थ हुए हो ? जो कुछ आकार भासित होते हैं, वे मिथ्या हैं। पर उनमें जो अधिष्ठान है; वह सत् है। मूर्ख मिथ्या करके सत् की रक्षा करते हैं कि मेरे दुःख नष्ट हों।

राम बोले, हे भगवन् ! तुम्हारे प्रसाद से मैं तृप्त हुआ हूँ और तुम्हारे वचनरूपी अमृत से अघा गया हूँ। जैसे पपीहा एक बूँद को चाहता है और मेघ कृपा करके उस पर वर्षा करके उसको तृप्त करता है, वैसे ही मैं तुम्हारी शरण में आया था और तुम्हारे दर्शन की इच्छा बूँद की नाईं करता था। पर तुमने कृपा करके ज्ञानरूपी अमृत की वर्षा की; उस वर्षा से मैं

अघा गया हूँ। अब मैं शान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। मेरे तीनों ताप मिट गये हैं और कोई वासना मुझ में नहीं रही। तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को सुनकर मेरा जी नहीं भरता। जैसे चकोर चन्द्रमा को देखकर किरणों से तृप्त नहीं होता, वैसे ही तुम्हारे अमृतरूपी वचनों से मैं तृप्त नहीं होता। इससे एक प्रश्न करता हूँ, उसका उत्तर कृपा करके दीजिये। हे भगवन्! मिथ्या क्या है और सत्‌ क्या है, जिसकी रक्षा करते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस पर एक आख्यान है सो कहता हूँ, जिसके सुनने से हंसी आवेगी। आकाश में एक शून्य वन है और उसमें एक मूर्ख बालक है, जो आप मिथ्या है और सत्य के रखने की इच्छा करता है कि मैं इसकी रक्षा करूँगा। अधिष्ठान जो सत्य है, उसको वह नहीं जानता। मूर्खता करके दुःख पाता है और जानता है कि यह आकाश है; मैं भी आकाश हूँ; मेरा आकाश है; और मैं आकाश की रक्षा करूँगा। ऐसे विचारकर उसने एक दृढ़ गृह इस अभिप्राय से बनाया कि इसके द्वारा आकाश की रक्षा करूँगा।

हे राम ! ऐसे विचार करके उसने गृह की बहुत बनावट की। वह जो किसी जगह से टूटता-फूटता तो वह उसे फिर बना लेता। जब कुछ काल इस प्रकार बीता तो वह गृह गिर पड़ा। तब वह रुदन करने लगा कि हाय मेरा आकाश नष्ट हो गया। जैसे एक ऋतु व्यतीत हो और दूसरी आवे वैसे ही काल पाकर जब वह गृह गिर गया तो उसके उपरान्त उसने कुआँ बनाया और कहने लगा कि यह न गिरेगा; क्योंकि मैं इसकी भली प्रकार रक्षा करूँगा। हे राम ! इस प्रकार कुएँ को बनाकर उसने सुख माना। जब कुछ काल बीता तो जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिरता है, वैसे ही वह कुआँ भी गिर पड़ा। तब वह बड़े शोक को प्राप्त हुआ कि मेरा आकाश गिर पड़ा और नष्ट हो गया, अब मैं क्या करूँगा ? ऐसे शोक से जब कुछ काल बीता, तब उसने एक खाईं बनाई—जैसे अनाज रखने के लिए बनाते हैं—और कहने लगा कि अब मेरा आकाश कहाँ जावेगा ? मैं अब इसकी भली प्रकार रक्षा करूँगा। ऐसी खाईं बनाकर उसने बहुत सुख माना और अति-प्रसन्न हुआ। पर जब कुछ काल पाकर वह खाईं भी टूट

पड़ी-क्योंकि उपजी वस्तु का विनाश होना अवश्य है-तो फिर वह रुदन करने लगा कि मेरा आकाश नष्ट हो गया। जब कुछ काल शोक में बीता, तब उसने एक घट बनाया और घटाकाश की रक्षा करने लगा। कुछ काल में वह घट भी जब नष्ट हो गया, तब उसने एक कुण्ड बनाया और कुण्डाकाश की रक्षा करने लगा। कुछ काल के उपरान्त कुण्ड भी नष्ट हो गया, तब शोकवान् हो उसने एक हवेली बनाई और कहने लगा कि अब मेरा आकाश कहाँ जावेगा मैं अब इसकी भली प्रकार रक्षा करूँगा। ऐसा विचारकर, वह बड़े हर्ष को प्राप्त हुआ। पर जब कुछ काल व्यतीत हुआ, तब वह हवेली भी गिर पड़ी। तब वह दुःख को प्राप्त हो कहने लगा कि हाय ! हाय ! मेरा आकाश नष्ट हो गया और मुझे बड़ा कष्ट हुआ है। हे राम ! आत्मा और आकाश के ज्ञान बिना वह मूर्ख बालक इसी प्रकार दुःख पाता रहा। जो अपने यथार्थ रूप को जानता और आकाश को भी ज्यों का त्यों जानता तो यह कष्ट काहे को पाता ?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मिथ्यापुरुषाकाशरक्षाकरणं नामैकोननवतितमस्सर्गः ।। ८९।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह मिथ्यापुरुष कौन था; जिसकी रक्षा करता था, वह आकाश क्या था; और जो गृह, कूप आदिक बनाता था सो क्या थे; यह प्रकट करके कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मिथ्यापुरुष तो अहंकार है, जो संवेदन के चेतने से उपजा है। आकाश चिदाकाश है, उसे वह उपजा जानता है कि मैं आकाश की रक्षा करूँ। और गृह, घटादिक जो कहे सो विविध देह हैं। उनमें आत्मा अधिष्ठान है, उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा वह मूर्खता से करता है और अपने को नहीं जानता कि मेरा स्वरूप क्या है। उस अपने स्वरूप को न जानने से वह दुःख पाता है। आप मिथ्या है। और मिथ्या होकर आकाश को कल्पित कर रखने की इच्छा करता है अर्थात् देह से देही के रखने की इच्छा करता है कि वह जीता रहे। पर देह तो काल से उपजा है। फिर देह के नष्ट होने से शोकवान् होता है और अपने

वास्तव स्वरूप को नहीं जानता, जिसका नाश कदापि नहीं होता। ऐसे विचार से रहित होकर जीव क्लेश पाता है। हे राम ! जिसमें भ्रम उपजा है, वह अधिष्ठान असत् नहीं होता। सबका अपना आप आत्मा है। उसका भी नाश नहीं होता। उसमें मूर्खता से अहंकारादि संसार की जीव कल्पना करता है। अहंकार, मन, जीव, बुद्धि, चित्त, माया प्रकृति और दृश्य आदि सब इसके नाम हैं। पर मिथ्या हैं। इसका अत्यन्त अभाव है। यह न होता ही उदय हुआ है और क्षत्रिय, ब्राह्मण इत्यादि वर्ण और गृहस्थादि आश्रम, मनुष्य, देवता, दैत्य इत्यादि की कल्पना करता है।

हे राम ! यह कभी हुआ ही नहीं, न होगा और न किसी काल में किसी को है। यह केवल अविचार से सिद्ध है, और विचार किये से नहीं रहता। जैसे रस्सी के अज्ञान से जीव सर्प की कल्पना करता है और जानने से अज्ञान नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमाद से अहंकार उदय हुआ है। तुम्हारा स्वरूप आत्मा है, जो प्रकाशरूप, निर्मल, विद्या-अविद्या के कार्यों से रहित, चैतन्यमात्र और निर्विकल्प है। वह ज्यों का त्यों स्थित है, अद्वैत है। परिणाम को कभी नहीं प्राप्त होता। आत्मतत्त्वमात्र है। उसमें संसार और अहंकार कैसे हो? सम्यक्दर्शी को आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होता और असम्यक्दर्शी को संसार भासित होता है। वह पदार्थों को सत् जानता है, संसार को वास्तव जानता है और अपने वास्तव स्वरूप को नहीं जानता कि मैं कौन हूँ, जिसके जानने से अहंकार नष्ट हो जाता है। जितनी कुछ आपदा हैं, जिनकी खान अहंकार है। सब ताप अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं। इसके नष्ट होने पर जीव अपने स्वरूप में स्थित होता है। यह विश्व भी आत्मा चमत्कार है—भिन्न नहीं। जैसे समुद्र में पवन से नाना प्रकार के तरंग और सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषण जो भासित होते हैं, सो वही सागर और सुवर्ण हैं, उनसे भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से विश्व भिन्न नहीं। सुवर्ण परिणाम से भूषण और समुद्र परिणाम से

तरंग होता है। पर आत्मा अच्युत है और परिणाम को नहीं प्राप्त होता। इससे वह समुद्र और सुवर्ण से भी विलक्षण है।

आत्मा में संवेदन से चमत्कारमात्र विश्व भी आत्मस्वरूप है। वह न कभी जन्मता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है; न किसी काल में और न किसी के हाथ से वह मरता है, ज्यों का त्यों स्थित है। जन्ममृत्यु तो तब हो जब दूसरा हो, आत्मा तो अद्वैत है। जिसको एक नहीं कह सकते तो दूसरा कहाँ से हो ? इससे प्रत्यक् आत्मा अपना अनुभवरूप है। उसमें स्थित हो, जिसमें सब दुःख और ताप नष्ट हो जावें। वह आत्मा शुद्ध और निराकार है। हे राम ! जो निराकार और शुद्ध है, उसे किससे ग्रहण कीजिये, कैसे रक्षा करिये और किसकी सामर्थ्य है कि उसकी रक्षा करे। जैसे घट के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं नष्ट होता, वैसे ही देह के नष्ट होने पर देही आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और जन्ममरण पुर्यष्टका से भासित होते हैं। जब पुर्यष्टका देह से निकल जाती है, तब मृतक दीखता है और जब पुर्यष्टका से युक्त होता है, तब जीवित देख पड़ता है। आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। उसका ग्रहण कैसे हो और रक्षा कैसे करिये ? स्थूल भी उपदेश के निमित्त कहते हैं। आत्मा तो अनिर्वचनीय और भाव अभावरूप संसार से रहित है। वह सबका अनुभवरूप है। उसमें स्थित होकर अहंकार का त्याग करो और अपने स्वरूप प्रत्यक् आत्मा में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मिथ्यापुरुषोपाख्यान-
समाप्तिर्नाम नवतितमस्सर्गः ।। ९० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह संसार आत्मरूप है। जैसे इसकी उत्पत्ति हुई है, सो सुनो। निर्विकल्प शुद्ध आत्मा में चेतन लक्षण मनरूप से स्थित हुआ है और आगे उसने जगत् की कल्पना की है। जैसे समुद्र में तरंग, सुवर्ण में भूषण, रस्सी में सर्प और सूर्य की किरणों में जल का आभास होता है, वैसे ही आत्मा का विवर्त मन है; पर वह आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे जिसको तरंग का ज्ञान है, उसको समुद्र बुद्धि

नहीं होती, वह तरंग को और जानता है; जिसको भूषण का ज्ञान है, वह सुवर्ण नहीं जानता; सर्प के ज्ञान से रस्सी को नहीं जानता, वैसे ही नाना प्रकार के विश्व के ज्ञान से जीव परमात्मा को नहीं जानता। जैसे जिस पुरुष ने समुद्र को जाना है कि जल है, उसको तरंग और बुलबुले भी जल ही भासित होते हैं, जल से भिन्न कुछ नहीं भासित होता; और जिसको रस्सी का ज्ञान हुआ है, उसको सर्पबुद्धि नहीं होती; जिसको सुवर्ण का ज्ञान हुआ है, उसको भूषणबुद्धि नहीं होती; और जिसको किरणों का ज्ञान हुआ है, उसको जलबुद्धि नहीं होती-ऐसा पुरुष निर्विकल्प है, वैसे ही जिस पुरुष को निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान हुआ है, उसको संसार की भावना नहीं होती-ब्रह्म ही भासित होता है। ऐसा जो मुनीश्वर है, वह ज्ञानवान् है।

हे राम ! मन भी आत्मा से भिन्न नहीं। आदि में परमात्मा से 'अहं' 'त्वं' आदिक मन प्रकट हुआ, उसमें जो अहंभाव हुआ, वह उत्थान है। बहिर्मुख होने से जीव को अपने निर्विकल्प चिन्मात्र आत्मस्वरूप का प्रमाद हुआ है और उस प्रमाद से आगे विश्व हुआ है। वास्तव में मन भी कभी उदय नहीं हुआ; आत्मस्वरूप होने के कारण उदय हुए की तरह भासित होता है। मन और संसार सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। जो दूसरी वस्तु हो तो सत् अथवा असत् कहिये, पर आत्मा तो अद्वैत ज्यों का त्यों स्थित है और उसका विवर्त मन होकर स्फुरित हुआ है। वही मन कीट है, और वही ब्रह्मा है। फिर ब्रह्मा ने मनोराज्य से स्थावर-जंगम सृष्टि रची है। वह सृष्टि न सत्य है और न असत्य। हे राम ! सब प्रपंच मन ने रचा है और उसी ने नाना प्रकार के विचार भी रचे हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीव आदि सब मन के ही नाम हैं। जब मन नष्ट हो जावे, तब न संसार है और न कोई विकार। यदि मन दृश्य से मिलकर कहे कि मैं संसार का अन्त लूँ तो कदाचित् अन्त न पावेगा क्योंकि संसरण (जन्म-मरण) ही संसार है, तो फिर संसरण-संयुक्त संसार का अन्त कहाँ ? अन्त लेनेवाला वाणी से

आगे उठकर देखता है। जैसे कोई पुरुष दौड़ता जाय और कहे कि मैं अपनी परछाहीं का अन्त लूँ कि कहाँ तक जाती है, तो हे राम ! जब तक वह पुरुष चला जायगा, तब तक परछाहीं का अन्त नहीं होगा और जब ठहर जायगा, तब परछाहीं का अन्त हो जायगा, वैसे ही जब तक वासना है, तब तक संसार का अन्त नहीं होता और जब वासना नष्ट हो जाती है, तब संसार का भी अन्त होता है और आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है और संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। पर जो स्फूर्ति-संयुक्त देखेगा, तो संसार ही भासित होगा।

हे राम ! जिस पदार्थ को मन देखता है, वह पदार्थ पहले कोई नहीं, चित्त के चेतने से उदय होता है। जब चित्त चेता कि यह पदार्थ है, तब आगे पदार्थ हुआ। चित्त यदि स्फूर्ति या वासना से रहित होकर देखे तो कोई पदार्थ नहीं भासित होता, केवल शान्तपद है। हे राम ! तुम अहंकार का त्याग करके इस नाना प्रकार की कल्पना से रहित निर्विकल्प ब्रह्मपद में स्थित हो। अहंकार नामरूपात्मक है और देह तथा वर्णाश्रम में माया से कल्पित है। जब अहंकार से रहित होकर देखोगे, तब केवल सत्‌चिदानन्द आत्मपद शेष रहेगा। और जब उस पद को अपना रूप जानोगे, तब तुमही सर्वात्मा होकर विचरोगे और तुमको कोई दुःख न रहेगा। हे राम ! मन ही संसार है। ब्रह्म से कीट पर्यन्त सब मन की ही रचना है। मन ही सुमेरु है और मन ही तृण है। मन ही विश्वरूप होकर स्थित हुआ है। वह मन भी आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे फल ही में समूचा वृक्ष होता है, वैसे ही मन आत्मस्वरूप है; आत्मा से भिन्न मन कुछ वस्तु नहीं। ऐसे जानकर आत्मस्वरूप होओगे। यह जो बन्धन और मोक्ष संज्ञा हैं, इनका त्याग कर, न बन्धन की वाञ्छा करो और न मोक्ष की इच्छा करो। इस कल्पना से रहित हो; ऐसे न सोचो कि तुम मुक्त हो और यह बन्धन है, केवल सत्तासमान आत्मपद में स्थित होओ। यही भावना करो, जिससे तुम्हारा सब दुःख नष्ट हो जाय। ऐसा जो पुरुष हो जाता है, उसका चित्तभाव नहीं रहता।

उसको सर्वत्रआत्मा देख पड़ता है। जैसे जिस पुरुष ने सूर्य को जाना है, उसको किरणें भी सूर्य ही दीखती हैं, वैसे ही जिसको आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, उसको जगत् भी आत्मस्वरूप देख पड़ता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नामैकनवतितमस्सर्गः ।। ९१।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी होकर रहो और सब शंकाओं को त्यागकर निरन्तर धैर्य धारण कर स्थित होओ। राम ने पूछा, हे भगवन् ! महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी किसे कहते हैं, सो कृपा करके कहो ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम्हारे प्रश्न पर एक आख्यान है, सो सुनिये। एक समय सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा के शिखर से सदाशिवजी आये। वह चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये थे। गणों सहित गौरी बायें अंग में उनके साथ थीं। तब भृंगीगण ने, जो महातेजस्वी था और जिसे आत्मजिज्ञासा उपजी थी, हाथ जोड़कर प्रश्न किया कि हे भगवन् ! देवों के देव ! यह संसार मिथ्या भ्रम है; इसमें मैं सत्य पदार्थ कोई नहीं देखता। यह सदा चलरूप भासित होता है। जो सत्य पदार्थ है, उसको मैं नहीं जानता। मेरे ताप नष्ट नहीं हुए और मैं शान्त नहीं हुआ, इससे अपने को दुःखी देखता हूँ। जिससे शान्ति हो सो कृपा करके कहो, जिसमें खेद से रहित होकर मैं चेष्टा में विचरूँ। पर खेद से रहित तो तब होता है, जब कोई आश्रय होता है। संसार तो मिथ्या है, मैं किसका आश्रय करूँ ? इससे मुझसे यह कहिये कि किसका आश्रय करने से मेरे दुःख नष्ट होंगे ?

ईश्वर बोले, हे भृंगिन् ! तुम महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो रहो और सब शंकाओं को त्यागकर निरन्तर धैर्य का आश्रय करो; इससे तुम्हारे दुःख नष्ट होंगे। हे राम ! भृंगीगण ने जिसको शिवजी ने पुत्र करके रक्खा है, यह सुनकर प्रश्न किया कि हे परमेश्वर ! महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी किसे कहते हैं; सो कृपा करके मुझसे कहिये ? ईश्वर बोले, हे पुत्र ! सर्वात्मा, जो अनुभवरूप है, उसका आश्रय करके विचरो। तब

दुःख से रहित होगे। इन तीनों वृत्तियों से तुम्हारे दुःख नष्ट हो जायँगे। जो कुछ शुभ क्रिया आकर प्राप्त हो, उसको शंका त्याग कर जो करे, वह पुरुष महाकर्ता है। धर्म-अधर्म क्रिया जो अनिच्छित प्राप्त हो, उसको रागद्वेष से रहित होकर जो करे वह पुरुष महाकर्ता है। जो पुरुष मौनी, निरहंकार, निर्मल और मत्सर से रहित है, वह पुरुष महाकर्ता है। जो अनिच्छित प्राप्त हुए का त्याग न करे और जो नहीं प्राप्त हुआ उसकी वाञ्छा न करे वह पुरुष महाकर्ता है। जो पुण्य-पाप क्रियाएँ अनिच्छित प्राप्त हों उनको अहंकार से रहित होकर करे, पुण्यक्रिया करने से अपने को पुण्यवान् न माने और पाप करने से पापी न माने; सदा अपने को अकर्ता जाने, वह पुरुष महाकर्ता है जो सर्वत्र विगतस्नेह है, सत्यवत् स्थित है और इच्छा को त्यागकर बरतता है, वह महाकर्ता है। जो दुःख के प्राप्त होने पर शोक नहीं करता और सुख के प्राप्त होने पर जिसे हर्ष नहीं होता, स्वाभाविक चित्त समता को देखता है, वह कभी विषमता को नहीं प्राप्त होता। सुख की भिन्न-भिन्न विषमताओं से जो रहित है, वह पुरुष महाकर्ता है। जिस पुरुष ने सुख-दुःख का त्याग किया है वह पुरुष महाकर्ता है।

हे भृगिंन् ! जो पुरुष प्राप्त हुई वस्तु को रागद्वेष से रहित होकर भोगता है, वह महाभोक्ता है। जो बड़ा कष्ट प्राप्त होने पर भी द्वेष नहीं करता और बड़े सुख की प्राप्ति में जिसे हर्ष नहीं होता, वह पुरुष महाभोक्ता है। जो बड़े राज्य के सुख भोगने में अपने को सुखी नहीं मानता, राज्य के अभाव में और भिक्षा माँगने में अपने को दुःखी नहीं मानता, सदा स्वरूप स्थिर रहता है, वह महाभोक्ता है। जो मान, अहंकार और चिन्तना से रहित केवल समता में स्थित है, वह महाभोक्ता है। जो कोई कुछ दे तो अपने को लेनेवाला नहीं मानता और शुभ क्रिया में भोगता हुआ अपने में कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं मानता, वह पुरुष महाभोक्ता है। जो मीठा, खट्टा, कषाय, तीक्ष्ण, सलोना, कटु, इन छहों रसों के भोगने में समचित्त रहता है और सम जानता

है, वह महाभोक्ता है। जिसे रसवाले पदार्थ प्राप्त होने पर हर्ष नहीं होता और विरस के प्राप्त होने पर द्वेष नहीं होता, ज्यों का त्यों रहता है, और जैसा बुरा-भला प्राप्त हो उसको दुःख से रहित होकर भोगता है, वह पुरुष महाभोक्ता है। जो कुछ शुभ-अशुभ, भाव-अभाव क्रियाएँ हैं, उनके सुख-दुःख से जो चलायमान नहीं होता, वह पुरुष महाभोक्ता है। जिसको मृत्यु का भय नहीं और जीने की आस्था नहीं, जो उदय-अस्त में समान है, वह महाभोक्ता है। जिसे बड़े सुख की प्राप्ति में हर्ष नहीं होता और दुःख की प्राप्ति में शोक नहीं होता, ज्यों का त्यों रहता है, वह महाभोक्ता है। जो कुछ अनिच्छित प्राप्त हो उसको करता हुआ अहंकार से रहित है, वह पुरुष महाभोक्ता है। जो पुरुष शत्रु, मित्र और सुहृद में समबुद्धि रखता है और विषमता को कभी नहीं प्राप्त होता, वह पुरुष महाभोक्ता है। जो कुछ शुभ, अशुभ, दुःख सुख प्राप्त हो, उसको जो धारण कर लेता है, कभी विषमता को नहीं प्राप्त होता-जैसे समुद्र में नदियाँ प्राप्त होती हैं और वह उनको धारण कर सम रहता है-वह ज्ञानवान् शुभ-अशुभ को ग्रहण कर सम रहता है।

जो संसार, देह, इन्द्रियाँ और अहंकार की सत्ता त्यागकर स्थित हुआ है और जानता है कि 'न मैं देह हूँ,' 'न मेरी देह,' मैं इनका साक्षी हूँ, ऐसी वृत्ति को धारण करनेवाला महात्यागी है। जो सब चेष्टा करता है और रागद्वेष से रहित है वह महात्यागी है। जो प्राप्त हुए शुभ-अशुभ को अहंकार से रहित होकर करता है, वह महात्यागी है। जो मन, इन्द्रिय और देह की भी इच्छा से रहित है वह सब चेष्टाएँ करने पर भी महात्यागी है। जो पुरुष समचित्त इन्द्रियजित और क्षमावान् है वह महात्यागी है। हे राम ! जिसे पुरुष ने धर्म-अधर्म की देह और संसार के मद, मान, मनन इत्यादिक कल्पना का त्याग किया है, वह महात्यागी है। हे राम ! इस प्रकार सदाशिव ने, जो हाथ में खप्पर लिये, बाघम्बर ओढ़े और चन्द्रमा मस्तक में धारे हुए परम प्रकाशरूप हैं-भृंगीगण को उपदेश किया। जैसे भृंगीगण विचरा, वैसे

ही तुम भी विचरो तो तुम्हारे सब दुःख नष्ट होंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाकर्त्राद्युपदेशो नाम द्विनवतितमस्सर्गः ।। ९२।।

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! आपने जो उपदेश किया, वह मैं समझ गया। आपने पहले उपशम प्रकरण में उपदेश किया था कि आत्मा अनन्त और शुद्ध है। तब मैंने प्रश्न किया था कि जो आत्मा अनन्त और शुद्ध है तो यह कलना कैसे उपजी है-जैसे समुद्र निर्मल है उसमें धूल कैसे हो-तब आपने प्रतिज्ञा की थी कि इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्तकाल में कहेंगे। सो मैं अब सिद्धान्त का पात्र हूँ मुझसे कहिये। जैसे स्त्री भर्त्ता से प्रश्न करती है और भर्त्ता कृपा करके उपदेश करता है, वैसे ही मैं आपकी शरण हूँ। कृपा करके मुझे उत्तर दीजिये; क्योंकि आशा और तृष्णा के फाँस मेरे टूटे हैं और आशारूपी जाल से मैं निकल गया हूँ। मेरे हृदय में संशयरूपी धूल उठ रही है। उसको वचनरूपी वर्षा से शान्त करो। मेरे हृदय में अन्धकार है, उसे वचनरूपी क्रीड़ा से निवृत्त करो। आपके वचनरूपी अमृत से मैं तृप्त नहीं होता। हे भगवन् ! गुरु के उपदेश किये बिना अपने विचार ज्ञान से नहीं सोहते। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पुरुष शान्त, क्षमावान् और इन्द्रियजित् है, जिसने मन के संकल्प-विकल्प को जीता है, वह सिद्धान्त का पात्र है। हे राम ! तुम अब सिद्धान्त के पात्र हो, इससे उपदेश करता हूँ।

जो पुरुष राग-द्वेष सहित क्रिया में स्थित है और जिसको इन्द्रियों के सुख से आराम है, वह सिद्धान्त के वाक्य " अहं ब्रह्मास्मि" और "सर्वब्रह्म" को सुनकर भोगों में स्थित होता है और अधोगति पाता है, क्योंकि उसको निश्चय नहीं होता और उसका हृदय मलिन है। इससे इन्द्रियों के सुख से वह अपने को सुखी मानता है और नीच स्थानों को प्राप्त होता है। जो पुरुष क्षमा आदिक साधनों से पवित्र हुआ है, उसको "अहं ब्रह्मास्मि" और "सर्वब्रह्म" के सुनने से शीघ्र ही भावना से आत्मपद की प्राप्ति होती है। तुम जैसे पुरुष, जो क्षमा आदि साधनों से

पवित्र हुए हैं, उनको स्वरूप की प्राप्ति सुगम होती है। और जिनका अन्तःकरण मलिन है, उनको वह बहुत कठिन है। जैसे भूने बीज को पृथ्वी में बोइये तो उसका अंकुर नहीं उगता, वैसे ही इन्द्रियगामी पुरुष को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। तुम सरीखे जिनका हृदय शुद्ध है, उनको ज्ञान की प्राप्ति होती है। वे ही इन वचनों को पाकर सोहते हैं। जैसे वर्षाकाल में धान पृथ्वी में वर्षा से शोभा पाते हैं, वैसे ही सिद्धान्त के वचनों को पाकर व ज्ञानरूपी दीपक से प्रकाशित होते हैं। जिन्हें ज्ञानवान् पुरुष ऊँची बाँह करके कहते हैं और सब शास्त्र भी कहते हैं, उन सब शास्त्रों के सिद्धान्तों को और उनके दृष्टान्तों को मैं जानता हूँ। इससे सब सिद्धान्तों का सार कहता हूँ, तुम सुनो। तब अपने स्वरूप को जानोगे।

हे राम ! जिसको अभ्यास से एक क्षण भी अपने रूप का साक्षात्कार हुआ है, वह फिर गर्भ में नहीं आता। उसको सत्-असत् में कुछ भेद नहीं होता। संवेदन में भेद होता है। जैसे जाग्रत् और स्वप्न के सूर्य दोनों के प्रकाश समान हैं; जाग्रत् में जाग्रत् सूर्य का प्रकाश अर्थाकार होता है और स्वप्न में स्वप्न का सूर्य अर्थाकार होता है, पर प्रकाश दोनों का सम और संवित् भिन्न है। मनुष्य स्वप्न को मिथ्या और जाग्रत् को सत् जानता है तो संवेदन में भेद हुआ, स्वरूप से भेद कुछ न हुआ। जैसे मन से एक बड़ा पर्वत रचिये तो संकल्प से दीखता है और एक पर्वत बाहर प्रत्यक्ष दीखता है तो संवित् का भेद हुआ; स्वरूप दोनों का तुल्य है। जैसे समुद्र में तरंग है तो स्वरूप से जल और तरंगों का भेद कुछ नहीं, पर जिसको जल का ज्ञान नहीं, वह जल से अलग तरंग ही जानता है, इससे संवित् में भेद है। वैसे ही स्वरूप में सत्-असत् तुल्य हैं। वास्तव में कुछ भेद नहीं। केवल शान्तरूप आत्मा है। शब्द का अर्थ संवेदन में है। शब्द अर्थात् नाम और अर्थ याने नामी संवेदन (स्फुरण) से हैं। जब संवेदन नष्ट हो जायगा, तब सब अर्थ भी आत्मा ही भासित होगा। जगत् की सत्ता तब तक है, जब तक आत्मा का प्रमाद है, और प्रमाद तब तक है, जब तक अहंभाव है। जब अहंभाव नष्ट होगा, तब केवल आत्मा शेष

रहेगा। आत्मा शुद्ध, विद्या-अविद्या के कार्य से रहित और कभी अविद्या या माया को स्पर्श नहीं करता। हे राम ! अविद्या की दो शक्तियाँ हैं; एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आत्मा के न जानने का नाम आवरण है, और कुछ जानने को विक्षेप कहते हैं। वह आत्मा सदा ज्ञानरूप है, उसको आवरण कभी नहीं होता। वह अद्वैत है, उससे कुछ भिन्न नहीं बना-इसी से वह शुद्ध, केवल और ज्ञानमात्र है। हे राम ! वह आत्ममात्र और चिन्मात्र है। उसमें अहं का उत्थान नहीं, केवल निवार्णपद है। वहाँ एक और द्वैत कहना भी नहीं है। वह केवल अपने आपमें स्थित है। उसमें कलनारूपी धूल कहाँ से हो ?

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो सब ब्रह्म है तो मन, बुद्धि आदिक क्या हैं, जिनसे आप यह शास्त्र का उपदेश करते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! व्यवहार के अर्थ शब्द हैं; परमार्थ में कोई कल्पना नहीं। ये मन, बुद्धि आदिक कुछ वस्तु नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे तरंग जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, वैसे ही मन आदि हैं। आत्मतत्त्व नित्य,शुद्ध और सन्मात्र है; नाह की नाईं स्थित है। हे राम ! ऐसे आत्मा में संसार अविद्या आदिक नाम कैसे हों ? आत्मा ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह सबका अधिष्ठान, अविनाशी और देशकाल-वस्तु के परिच्छेद से रहित है। इसी से ब्रह्म है। हे राम ! ऐसा जो अपना आप आत्मा है, उसी में स्थित होओ। यह जगत् जो देख पड़ता है, वह चिदाकाश है, भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न में जो विश्व दिखता है, सो अनुभवमात्र है; वैसे ही यह जाग्रत् विश्व भी आत्मरूप है। ऐसा जो तुम्हारा शुद्ध, नित्य उदित और अविनाशीरूप है, उसमें जब स्थित होगे, तब कलना जो तुमको भासित होती है वह नष्ट हो जायगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कलनानिषेधो नाम
त्रिनवतितमस्सर्गः ।। ९३।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! संसार का बीज अहंकार है। जब अहंभाव होता है, तब संसार होता है। पर अहंकार वस्तु कुछ नहीं, भ्रम से सिद्ध हुआ

है। जैसे मूर्ख बालक परछाहीं में पिशाच की कल्पना करता है; पर पिशाच कुछ वस्तु नहीं, उसके भ्रम से होता है, वैसे ही अहंकार कुछ वस्तु नहीं, स्वरूप के भ्रम से होता है। हे राम ! जो वास्तव में कुछ वस्तु नहीं तो उसके त्यागने में क्या कठिनाई है ? तुममें अहंकार वास्तव में नहीं है, तुम केवल शान्तरूप चैतन्यमात्र हो। उसमें अहंभाव होना उपाधि है। उससे सुमेरु पर्वत आदि जगत् बन जाता है,, जो संवेदनरूप है। चित्तरूपी पुरुष चैतन्य के आश्रय से चेतता है और विश्व की कल्पना करता है। जैसे रस्सी के आश्रय सर्प दिखता है, वैसे ही चैतन्य के आश्रय विश्व और चित्त का उदय होता है। पर ये आत्मा से भिन्न नहीं। 'मैं हूँ' ऐसा जो अहंभाव है, सो दुःख की खान है। सब आपदाएँ अहंकार से होती हैं। जब अहंकार नष्ट होगा, तब सब दुःख भी नष्ट होंगे। हे राम ! जैसे सूर्य के आगे बादल होते हैं तो प्रकाश नहीं होता। जब बादल दूर होते हैं, तब प्रकाश भासित होता है और कमल प्रफुल्लित होते हैं। वैसे ही आत्मरूपी सूर्य को अहंकाररूपी बादल का आवरण हुआ है। माया के किसी गुण से मिलकर अपने को कुछ मानने को अहंकार कहते हैं। जब अहंकार रूपी बादल नष्ट होगा, तब आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश होगा, और ज्ञानवानरूपी कमल उस प्रकाश को पाकर बड़े आनन्द को प्राप्त होंगे।

हे राम ! इससे अहंकार के नाश का उपाय करो तो तुम्हारे दुःख नष्ट हो जावें। वह कौन काम है, जो उपाय करने से सिद्ध नहीं होता ? अहंकार के नाश का उपाय करिये तो वह भी नष्ट हो जाता है। अहंकार के नष्ट करने का यह सरल उपाय है कि सत् शास्त्रों अर्थात् ब्रह्मविद्या का सतत् अभ्यास और सत्संग करो। ज्ञान की परस्पर चर्चा करने से अहंकार नष्ट हो जाता है। ज़ैसे पानी भरने की रस्सी से पत्थर की शिला घिस जाती है, वैसे ही ब्रह्मविद्या के अभ्यास से अहंकार नष्ट होता है। बल्कि शिला के घिसने में तो कुछ यत्न भी है, पर अहंकार के त्यागने में कुछ यत्न नहीं। हे राम ! सदा अनुभवरूप जो आत्मा है, उसका विचार करो मैं कौन हूँ ? इन्द्रियाँ क्या हैं ? गुण क्या है और संसार क्या है ? ऐसे

विचार से समझो कि तुम इनके साक्षीभूत हो, तुममें 'अहं-त्वं' कोई नहीं। इससे तुम अहंकार का नाश करो और शुद्ध हो। मेरा भी आशीर्वाद है कि तुम सुखी हो जाओ। जब अहंकार नष्ट होगा, तब कलना कोई न फुरेगी, केवल सुषुप्ति की नाईं स्थित होगे। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो आपका अहंकार नष्ट हुआ है तो प्रत्यक्ष उपदेश करते कैसे दिखते हो और जो अहंकार नहीं है तो सर्वशास्त्र और ब्रह्मविद्या कहाँ से उपजे हैं और उपदेश कैसे होता है ? उपदेश में तो चारों अन्तःकरण सिद्ध होते हैं। प्रथम जब उपदेश करने की इच्छा होती है, तब अहंकार सिद्ध होता है। जब स्मरण होता है कि उपदेश करूँ, तब चित्त भी चैत्य से सिद्ध होता है। फिर यह उपदेश करिये, यह न करिये, ऐसे संकल्प से मन की सिद्धि होती है। फिर जब निश्चय किया कि यह उपदेश करिये, तब बुद्धि की सिद्धि होती है। इससे चारों अन्तःकरण सिद्ध होते हैं। आप कैसे कहते हैं कि अहंकार नष्ट हो जाता है और सब चेष्टाएँ होती हैं ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मस्वरूप में अहंकार आदि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ कल्पित हैं, वास्तव में कुछ नहीं। शास्त्र का उपदेश भी कल्पना है। आत्मा केवल आत्मतत्वमात्र है। उससे संवेदन करके अहंकार आदिक दृश्य उपजे हैं। उनके निवृत्त करने को वृत्त होते हैं। जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प दिखता है तो उसके भय से आदमी दुःख पाता है, पर जब कोई कहे कि यह सर्प नहीं, रस्सी है, तू भय मत कर इसको भली प्रकार देख, तो उसके उपदेश से वह भली प्रकार देखता है तब उसका भय और शोक निवृत्त हो जाता है, क्योंकि इसको भ्रम से सर्प का भान हुआ था। वह भान भी मिथ्या है और उसको रस्सी का उपदेश करना भी मिथ्या है; क्योंकि रस्सी तो आगे से सिद्ध है, उपदेश से सिद्ध नहीं होती। वैसे ही रस्सी की भाँति आत्मा है। उसका विवर्त जो चेतनरूप स्फुरण है, उसको अहंभाव कहते हैं, और उसी अहंकार के निवृत्त करने को शास्त्र है। आत्मरूपी रस्सी के प्रमाद से अहंकाररूपी सर्प प्रकट हुआ है और उसके निवृत्त करने को शास्त्र के उपदेश हुए हैं, जो आत्मा को जगा देते

हैं। जब भली प्रकार, रस्सी की तरह, आत्मा को जाना, तब सर्प के सदृश जो परिच्छिन्न अहंकार है, वह नष्ट हो जाता है। जैसे नेत्र का मल जब अंजन के लगाने से नष्ट हो जाता है, तब नेत्र ज्यों के त्यों निर्मल होते हैं, वैसे ही अज्ञानरूपी मैल गुरु और शास्त्र के उपदेशरूपी सुरमे से नष्ट हो जाता है। वास्तव में न कोई अहंकार है और न शास्त्र है; क्योंकि आत्मा सर्वदा सब समय उदयरूप है। परन्तु तो भी गुरु और शास्त्र से जाना जाता है।

हे राम ! ज्ञानवान् के साथ चारों अन्तःकरण और इन्द्रियाँ भी देख पड़ती हैं, पर उनमें सत्यता नहीं होती। जैसे भुना हुआ बीज दिखाई देता है, पर उगने की सत्यता नहीं रखता, जैसे जला वस्त्र देखनेमात्र को है, पर उसमें सत्यता कुछ नहीं होती; वैसे ही ज्ञानवान् को अभिलाषारूप अहंकार नहीं होता और उससे वह कष्ट नहीं पाता। जैसे सूर्य की किरणों से मरुस्थल में जलाभास होता है और उसको देखकर पीने के लिए मृग दौड़ता और दुःखी होता है, वैसे ही दृश्यरूपी मरुस्थल में पदार्थरूपी जलाभास को देखकर अज्ञानरूपी मृग दौड़ते हैं और दुःख पाते हैं। जब ज्ञानरूपी वर्षा से आत्मरूपी जल चढ़ा, तब चित्तरूपी मृग कहाँ दौड़े ? जब ज्ञानरूपी वर्षा होती है और अनुभवरूपी जल चढ़ता है, तब चित्तरूपी मृग में यत्नरूपी जो स्फुरण था, वह नष्ट हो जाता है। हे राम ! अहंकार अविचार से सिद्ध है और विचार से क्षीण हो जाता है। जैसे बरफ की पुतली सूर्य की किरणों से क्षीण होती है और जब अधिक तेज होता है तब जलरूप हो जाती है, बरफ की संज्ञा नहीं रहती, वैसे ही अहंकाररूपी बरफ विचाररूपी किरणों से क्षीण हो जाती है। जब दृढ़ विचार होता है, तब अहंकार-संज्ञा नष्ट हो जाती है और केवल आत्मा ही रहती है। राम ने पूछा; हे सर्वतत्त्वज्ञ भगवन् ! जिसका अहंकार नष्ट होता है, उसका लक्षण क्या है, सो कहिये ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अज्ञानरूपी गढ़ा संसार है, उसमें पदार्थ की सत् भावना से वह नहीं गिरता, जिसका अहंकार नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्र में नदियाँ स्वाभाविक रूप से आकर मिलती हैं, वैसे ही उसको क्षमा,

शान्ति आदिक शुभगुण स्वाभाविकरूप से प्राप्त होते हैं। उसका क्रोध भी नष्ट हो जाता है, और देखनेमात्र यदि भासता भी है तो अर्थाकार नहीं होता; विषमता करके भिन्न भावना हृदय में नहीं फुरती और केवल सत्ता-समान में स्थित होता है। जैसे शरत्काल का मेघ गर्जता है; पर वर्षा से रहित होता है वैसे ही इन्द्रियों की चेष्टा वह अभिमान से रहित होकर करता है। जैसे वर्षाऋतु के जाने से कुहिरा नहीं रहता, वैसे ही उसकी अभिमान चेष्टा नष्ट हो जाती है और लोभ भी मन से जाता रहता है। जैसे वन में अग्नि लगती है तो मृग और पक्षी उस वन को त्याग जाते हैं, वैसे ही लोभरूपी मृग उसको त्याग जाते हैं और उसके मन में कोई कामना नहीं रहती। जैसे दिन में उलूक और पिशाच नहीं विचरते वैसे ही जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य उदय होता है वहाँ सम्पूर्ण कामनारूपी तम नष्ट हो जाता है और शान्तरूप आत्मा में स्थित रहता है। जैसे मजदूर दो पोटों को ज्येष्ठ-आषाढ़ की धूप में उठाता है और गर्मी में थकता है तो उसको डालकर वृक्ष के नीचे सुख से स्थित होता है, वैसे ही वासनारूपी पोट है और अज्ञानरूपी धूप है उससे दुःखी होता है; पर ज्ञानरूपी बल करके वासनारूपी पोट को डालकर सुख से स्थित होता है।

हे रामजी ! उस पुरुष की भोगवासना नष्ट हो जाती है और फिर उसे दुःख नहीं देती। जैसे गरुड़ को देखकर सर्प भागता है और फिर निकट नहीं आता, वैसे ही ज्ञानरूपी गरुड़ को देखकर भोगरूपी सर्प भागते हैं और फिर निकट नहीं आते। आत्मपद को पाकर ज्ञानी शान्तिरूपी दीपकवत् प्रकाशवान् होता है और भाव-अभाव पदार्थ उसको स्पर्श नहीं करते और संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है। ज्ञान समझनेमात्र है, कुछ यत्न नहीं। संतो के पास जाकर प्रश्न करना कि मैं कौन हूँ ? जगत् क्या है ? परमात्मा क्या है ? भोग क्या है ? और इससे तरकर कैसे परमपद को प्राप्त होऊँ। फिर जो ज्ञानवान् उपदेश करे, उसके अभ्यास से आत्मपद को प्राप्त होगा, अन्यथा न होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सन्तलक्षण माहात्म्यवर्णनं नाम चतुर्णवतितमस्सर्गः ।। ९४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज इक्ष्वाकुनामक बड़े राज जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं, वैसे ही तुम भी बिचरो; क्योंकि तुम भी उसी कुल में उपजे हो। हे राम ! वह सब राजाओं से श्रेष्ठ सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजा मनु का पुत्र और सूर्य का पौत्र था, जैसे पितरों का राजा धर्म है। उसका स्वभाव शीतल था। जैसे सूर्य को देखकर मणि से तेज प्रकट होता है, वैसे ही उसको देखकर शत्रु संतप्त होते थे। पर साधु , मित्र और प्रजा को वह रमणीय लगता था और वे सब उसको देखकर शान्ति पाते थे। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमुखी कुमुद प्रसन्न होते हैं, वैसे ही उसको देखकर सब प्रसन्न होते थे। वह पापरूपी वृक्षों को काटनेवाला कुल्हाड़ा और मित्रों को सुखदायक था-जैसे मोरों को मेघ सुखदायक होता है। सुन्दर वह ऐसा था कि उसको देखकर उसके पास लक्ष्मी स्थिर हो रही थी। उसके यश से सम्पूर्ण पृथ्वी भर रही थी। वह राजा भली प्रकार प्रजा का पालन करता था। एक समय उसके मन में विचार उपजा कि संसार में जरा, मरण आदि बड़े कष्ट हैं। इस संसार-दुःख के तरने का क्या उपाय है।

ऐसे वह विचार कर रहा था कि इतने में शम्भु मुनि ब्रह्मलोक से आये। उसने उनका भली प्रकार पूजन करके पूछा, हे भगवन् ! आपकी कृपा का प्रताप मेरे हृदय में बैठकर प्रश्न करने को प्रेरित करता है, इससे मैं प्रश्न करता हूँ। हे भगवन् ! मेरे हृदय में संसार बसता है और जैसे समुद्र को बड़वाग्नि जलाती है, वैसे ही मुझको जलाता है। इससे आप वही उपाय कहिये, जिससे मुझको शान्ति हो। हे भगवन् ! यह संसार कहाँ से उपजा; दृश्य का स्वरूप क्या है और वह कैसे निवृत्त होता है ? जैसे जाल से पक्षी निकल जाता है, वैसे ही जन्म, मरणरूप संसार महाजाल से मैं निकलना चाहता हूँ। जैसे वरुण समुद्र के सब स्थान जानता है, वैसे ही तुम जगत् के सब व्यवहारों को जानते हो और संशय के निवृत्त करनेवाले हो। अज्ञानरूपी तम के नाशकर्ता तुम सूर्य हो तुम्हारे अमृतरूपी वचनों से मैं शान्ति को प्राप्त हूँगा। मुनि बोले, हे साधो ! मैं चिरकाल पर्यन्त जगत् में विचरता रहा हूँ, परन्तु ऐसा प्रश्न मुझसे किसी ने नहीं किया। तुमने

बहुत उत्तम प्रश्न किया है ? यह प्रश्न अनर्थ का नाश करनेवाला है। तेरी बुद्धि विवेक से विकासमान हुई देख पड़ती है। हे राजन्! जो कुछ जगत तुझको भासित होता है, सो सब असत् है। जैसे रस्सी में सर्प, स्वप्न में गन्धर्वनगर, मरुस्थल में जल, सीपी में रूपा आकाश में नीलापन और दूसरा चन्द्रमा भ्रम से दिखते हैं, वैसे ही यह जगत् असत्रूप है जैसे जल में चक्र और तरंग असत्रूप हैं, वैसे ही जगत् असत्रूप है। जो मन सहित षट् इन्द्रियों से अतीत है और शून्य भी नहीं, सो सत् और अविनाशी आत्मा कहलाता है। वह निर्मल परब्रह्म सर्व ओर से पूर्ण और अनन्त है, उसी में जगत् कल्पित है।

हे राजन्! जैसे सब वृक्षों में एक ही रस व्यापक है वैसे ही सब पदार्थों में एक चिन्मात्रसत्ता व्यापक है। जैसे अचल समुद्र में द्रवता से तरंग उठते हैं, वैसे ही परमात्मा में जगत् प्रकट होते हैं। उस महादर्पण में सब वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। जैसे समुद्र में तरंग और बुलबुले, चक्रादिक होते हैं; वैसे ही आत्मा में जीवादिक का आभास होता है। प्रथम स्फुरणरूप होते हैं और पीछे कारणकार्यरूप होते हैं। चित्तशक्ति अपने संकल्प से भूतादिक देह रचती है, उसमें स्वरूप के प्रमाद से आत्मा अभिमान करता है। जैसे कुसवारी की क्रिया अपने बन्धन का कारण होती है, वैसे ही जीव को अपना संकल्प बन्धन का कारण होता है। हे राजन्! जीवकला को स्वरूप का अज्ञान हुआ है। इससे जैसे बालक को अपनी परछाहीं यक्षरूप होकर डराती है, वैसे ही यह नाना प्रकार के आरम्भ को प्राप्त हुआ है, और अकारण ही ब्रह्मशक्ति फुरने से कारणभाव को प्राप्त हुआ है। उसमें बन्धन और मोक्ष भासित होते हैं। पर वास्तव में न बन्धन है और न मोक्ष हैं। निरामय ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। उसमें एक और अनेक कुछ नहीं कह सकते। इससे बन्धन-मोक्ष की कल्पना को त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुप्रत्यक्षोपदेशो नाम पञ्चनवतितमस्सर्गः ।। ९५।।

मुनि बोले, हे राजन् ! जैसे द्रवता से जल ही तरंगभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही चिन्मात्र ही संकल्प के स्फुरण से जीव होता है। और वह जीव संसार में कर्मों के वश भ्रमता हुआ भी अपने को कर्ता देखता है। पर सर्वात्मा परब्रह्म करता हुआ कुछ नहीं करता। जैसे सूर्य के प्रकाश से सब चेष्टाएँ होती हैं, पर सूर्य अकर्ता है, वैसे ही आत्मा की शक्ति से जगत् चेष्टा करता है। जैसे चुम्बक पत्थर के निकट लोहा चेष्टा करता है, वैसे ही आत्मा की चेतनता से सब देहादिक चेष्टा करते हैं। पर आत्मा सदा अकर्ता है। जैसे जल में तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में देहादिक प्रकट होते हैं। जैसे सुवर्ण में भूषणों की कल्पना होती है, वैसे ही आत्मा में मोह से सुख-दुःख कल्पित होते हैं, पर आत्मा में कुछ कल्पना नहीं। शुद्ध आत्मा में मूढ़ों ने सुख-दुःख की कल्पना की है। पर जो ज्ञानवान् हैं, उनको मन, चित्त, सुख-दुःख सब आकाशरूप शून्य हैं। वे देह से रहित केवल चिदाकाशभाव को नहीं प्राप्त होते हैं। वे जरा-मरण को नहीं प्राप्त होते और सब कार्य करते देख पड़ते हैं, पर हृदय से सदा अकर्तारूप हैं। जैसे जल और दर्पण में पर्वत का प्रतिबिम्ब पड़ता है, परन्तु उसे स्पर्श नहीं करता, वैसे ही ज्ञानवान् को क्रिया नहीं स्पर्श करती। शरीर के व्यवहार में भी वह सदा निर्मल है।

हे राजन् ! आत्मा स्थिररूप है, परन्तु भ्रम से चंचल भासित होता है। जैसे जल की चंचलता से पर्वत का प्रतिबिम्ब भी चंचल होता है, वैसे ही देहादिक से आत्मा चलता भासित होता है। पर आत्मा नित्य शुद्ध और अपने आपमें स्थित है। जैसे घट के नाश से मिट्टी का नाश नहीं होता, वैसे ही देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे शुद्ध मणि में नाना प्रकार के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, पर उनसे वह रञ्जित नहीं होती, वैसे ही आत्मा में मन, इन्द्रियाँ और देह दिखते हैं, पर उसे स्पर्श नहीं करते। जैसे सब मिष्ट पदार्थों में एक ही मिठाई व्यापी है वैसे ही सब पदार्थों में एक आत्मसत्ता व्यापी है। हे राजन् ! आत्मा सदा अचलरूप है। परन्तु अज्ञान से चलरूप भासित होता है। जैसे दौड़ते हुए बालक को सूर्य दौड़ता

लगता है, वैसे आत्मा देह संग से अज्ञानवश विकारवान् भासित होता है। जैसे प्रतिबिम्ब का विकार आदर्श को नहीं स्पर्श करता, वैसे ही देह का विकार आत्मा को नहीं स्पर्श करता। जैसे अग्नि में सुवर्ण डालिये तो मैल जल जाता है, पर सुवर्ण का नाश नहीं होता, वैसे ही देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। वह तो नित्य शुद्ध, अवाच्य और अचिन्त्यरूप है।

हे राजन् ! वह देखने में नहीं आता, परन्तु चेतनवृत्ति से सब देखता है। जैसे राहु अदृष्ट है, परन्तु चन्द्रमा के संयोग से दिखता है, वैसे ही आत्मा अदृष्ट है, परन्तु चेतनवृत्ति से जाना जाता है। जैसे शुद्ध दर्पण में प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही निर्मल बुद्धि से आत्मा का साक्षात्कार होता है। वह संकल्प से रहित अपने आपमें स्थित है ! जब बुद्धि निर्मल होती है, तब अपने में आप उसको पाती है। हे राजन् ! जब तक अपनी बुद्धि निर्मल न हो, तब तक शास्त्र और गुरु से ईश्वर नहीं मिलता। जब अपनी बुद्धि निर्मल होती है, तब अपने आप वह दिखता है। जब संसार की सत्यता हृदय से दूर हो और आत्मा का अभ्यास हो तब बुद्धि निर्मल होती है। हे राजन् ! सब भाव-अभावरूप जो देहादिक पदार्थ है, वे असत् और केवल भ्रममात्र है। उनकी आस्था का त्याग करो। जैसे कोई मार्ग में चलता है तो अनेक पदार्थ मिलते हैं, परन्तु उनमें वह कुछ रागद्वेष नहीं करता, वैसे ही देह और इन्द्रियों के स्नेह से रहित आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें देहादिक इन्द्रजाल की तरह मिथ्या हैं। उनकी भावना दूर से त्यागकर नित्य आत्मा में स्थित होओ।

हे राजन् ! जीव आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु भी है, क्योंकि आत्मा में और का सद्भाव नहीं-आत्मा में आत्मा का ही भाव है-द्वैत नहीं। जो दृश्य पदार्थ और अनात्मधर्म विषय से खींचकर चित्त को अपने रूप में स्थित करता है, वह अपना मित्र है। और जो अनात्मधर्म में पदार्थों की ओर चित्त लगाता है, वह अपना शत्रु है। वास्तव में जो कुछ दृश्य प्रपञ्च है, वह भी आत्मरूप है। आत्मा से भिन्न कोई

वस्तु नहीं। जैसे समुद्र में जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, सब जल ही जल है, वैसे ही आत्मा से भिन्न जगत् कोई वस्तु नहीं—सबमें अनुस्यूत अर्थात् व्याप्त एक आत्मसत्ता ही स्थित है। जैसे अनेक घटों के जल में एक ही सूर्य का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही अनेक देहों में एक ही आत्मा व्याप रहा है। वह न अस्त होता है और न उदय होता है; सदा एकरस अविनाशी पुरुष ज्यों का त्यों स्थित है। उसमें अहंभावना से संसार भासित होता है। जैसे सीपी में चाँदी की बुद्धि होती है वैसे ही आत्मा में अहंबुद्धि संसार का कारण है। जीव इसी बुद्धि से सब दुःखों का भागी होता है। जैसे वर्षाकाल में सब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, वैसे ही अनात्म के अभिमान से सब आपदाएँ प्राप्त होती हैं। वास्तव में चिन्मात्र ब्रह्म और जीव में रञ्चक भी भेद नहीं। दोनों एक रूप ही हैं। ऐसी बुद्धि ही बन्धन से मुक्ति का कारण है। आत्मा सबमें अनुस्यूत अर्थात् व्याप्त है। जैसे सूर्य का प्रकाश सब स्थानों में होता है, परन्तु जहाँ शुद्ध जल है वहाँ स्पष्ट दिखता है, वैसे ही आत्मा सब जगह पूर्ण रूप से व्याप्त है, परन्तु शुद्ध बुद्धि में ही भासित होता है। जैसे तरंग और बुलबुलों में जल ही व्याप रहा है, वैसे ही अविनाशी आत्मा सर्वत्र व्यापा है। पर जैसे सुवर्ण में भूषण नहीं, वैसे ही आत्मा में जगत् का अभाव है।

हे राजन् ! यह संसार आत्मा में नहीं है; केवल आत्मा ही है। जो एक वस्तु पात्र की तरह आधार होता है, उसमें दूसरी वस्तु होती है। पर आत्मा तो अद्वैत है, उसमें दूसरी वस्तु संसार कहाँ से हो ? जैसे सुवर्ण में भूषण कल्पित हैं-वास्तव में कुछ नहीं, वैसे ही आत्मा में संसार अज्ञान से कल्पित है, वास्तव में कुछ नहीं, केवल चिदाकाश है। जैसे नदियाँ और समुद्र नाममात्र भिन्न हैं, वास्तव में जल ही हैं, वैसे ही केवल चिदाकाश में विश्व नाममात्र को है। जितने आकार दिखते हैं, उनको काल खा जाता है। जैसे नदियों को भक्षण करके समुद्र नहीं अघाता, वैसे ही पदार्थ-समूहों को काल भक्षण करके नहीं अघाता। हे राजन् ! ऐसे पदार्थों में क्या अभिलाषा करनी है ? कई कोटि प्राणियों की सृष्टि उत्पन्न होती है और

उसको काल खा जाता है-कोई पदार्थ काल से मुक्त नहीं होता, जैसे समुद्र में तरंग और बुलबुले उपजते हैं और नष्ट हो जाते हैं। इससे तू काल से अतीतपद की भावना कर, जिससे काल को भी भक्षण कर सके। कैसे भावना करिये और कैसे भक्षण करिये, सो भी सुन। जैसे मन्दराचल ने अगस्त्यमुनि के आने की भावना की है वैसे ही तू भी अपने स्वरूप की भावना कर, तब काल को भक्षण करेगा। जैसे अगस्त्यमुनि ने समुद्र को पी लिया था, वैसे ही आत्मारूपी अगस्त्य कालरूपी समुद्र को खा जायगा।

हे राजन् ! जन्म-मरणादिक विकार भ्रम से है और आत्मा के प्रमाद से भासित होते हैं। जब आत्मा को निश्चय करके जानोगे तब कोई विकार न भासित होगा; क्योंकि ये अज्ञान से रचे हैं-आकाश में कोई विकार नहीं। जैसे भ्रम से रस्सी में सर्प दिखता है, सो तब तक है, जब तक रस्सी को नहीं जाना, और जब रस्सी को जाना, तब सर्प का भ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही जन्म-मरणादिक विकार आत्मा में तब तक दिखते हैं, जब तक आत्मा को नहीं जाना। जब आत्मा को जानोगे तब सब विकार नष्ट हो जावेंगे। हे राजन् ! विकार से रहित आत्मा तेरा स्वरूप है। उसकी भावना कर, जिसमें तेरे दुःख नष्ट हो जावें। आत्मपद को कहीं खोजने नहीं जाना है; न किसी वस्तु को जानकर ग्रहण करना है कि यह आत्मा है; और न किसी काल की अपेक्षा ही है। आत्मा तेरा अपना स्वरूप है और सर्वदा अनुभवरूप है। तुझसे भिन्न कुछ वस्तु नहीं। तू अपने यथार्थ रूप को जान। आत्मा के न जानने से मनुष्य अपने को दुःखी जानता है। मैं मरूँगा, मैं दरिद्री हूँ, मैं दास हूँ इत्यादिक दुःख तब तक होते हैं, जब तक आत्मा को नहीं जाना। जब आत्मा को जानोगे, तब आनन्दरूप हो जाओगे।

जैसे किसी स्त्री की गोद में पुत्र हो और वह स्वप्न में देखे कि बालक मेरे पास नहीं है तो बड़े दुःख को प्राप्त हो और रुदन करने लगे, पर जब स्वप्न से जागे और देखे कि बालक उसकी गोद में है तो बड़े आनन्द को प्राप्त हो और उसके दुःख-शोक नष्ट हो जायँ। हे राजन् !

वैसे ही तेरी आत्मा तेरे पास और सदा अनुभवरूप है। उसके प्रमाद से तू अपने को दुःखी जानता है। जब अज्ञानरूपी निद्रा से तू जागेगा, तब अपने को जानेगा और तेरे दुःख और शोक नष्ट हो जावेंगे। देह और इन्द्रियादिक जो दृश्य हैं, उनसे मिलकर अपने को यह जानना कि मैं हूँ, यही अज्ञाननिद्रा है। इससे रहित होकर देख, जिसमें आनन्द को प्राप्त हो। ये जो पदार्थ दिखते हैं, सब मिथ्या हैं। जैसे बालक मृत्तिका में राजा, सेना, हाथी और घोड़े की कल्पना करता है, किन्तु वास्तव में उनमें न कोई राजा होता है, न सेना होती है, न कोई हाथी-घोड़ा होता है एक मृत्तिका ही होती है, वैसे ही चित्तरूपी बालक ने आत्मरूपी मृत्तिका में जो राजा और सेना आदिक सम्पूर्ण विश्व की कल्पना की है, सो सब मिथ्या है। हे राजन् ! एक उपाय तुझसे कहता हूँ, उसे कर, जिसमें तेरे दुःख नष्ट हो जावें। एक वस्तु जो 'अहं' अभिलाषा सहित वासना है, उसका त्याग कर। फिर जहाँ इच्छा हो वहाँ बिचर। तुझे दुःख का स्पर्श न होगा। संकल्प ही उपाधि है और कोई उपाधि नहीं। जैसे जब मणि तृण से ढकी होती है, तब नहीं देख पड़ती और जब तृण दूर करिये तब मणि प्रकट हो जाती है, वैसे ही आत्मारूपी मणि वासनारूपी तृण से ढकी है। जब वासनारूपी तृण दूर कीजिये, तब आत्मारूपी मणि प्रकट हो।

हे राजन् ! जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति से रहित जो आत्मपद है, उसको जब प्राप्त होगा, तब जानेगा कि मैं मुक्त हूँ। तेरा स्वरूप तो केवल आत्मरूप है, उस पद में स्थित हो। वह अजन्मा, नित्य, चैतन्यमात्र और सबका अपना रूप है। उसी के प्रमाद से दुःख होता है। जैसे बालक मृत्तिका के खिलौने बनाते हैं और हाथी, घोड़ा आदि उनके नाम कल्पित कर अभिमान करते हैं कि ये मेरे हैं और उनका नाश होने से दुःखी होते हैं, वैसे ही बालकरूप अज्ञानी स्वरूप के प्रमाद से अभिमान करता है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ, और उनका नाश होने से दुःखी होता है—यह नहीं जानता कि सत् का नाश नहीं होता। असत् का नाश होने से सत् का नाश मान बैठता है। जैसे घट का नाश

होने से घटाकाश का नाश मानिये, वैसे ही मूर्खता से दुःख पाता है। हे राजन् ! तू अपनी आत्मा जान। आत्मादिक संज्ञा की शास्त्रों ने उपदेश के लिए कल्पित की हैं, नहीं तो आत्मा अनिर्वचनीय पद है। उसमें वाणी की गति नहीं, पर इन्हीं से जाना जाता है, क्योंकि मन और वाणी में भी आत्मसत्ता है; उसी से आत्मादिक संज्ञा सिद्ध होती है। जैसे जितने स्वप्न के पदार्थ हैं; उनमें अनुभवसत्ता है, उससे वे पदार्थ सिद्ध होते हैं, वैसे ही जितनी कुछ अर्थ-संज्ञाएँ है, वे सब आत्मा से सिद्ध होती है। ऐसा जो तेरा स्वरूप है, उसमें स्थित हो जिसमें जरा-मृत्यु आदि दुःख नष्ट हो जावें।

हे राजन् ! निःस्पन्द होकर देखेगा तो स्पन्दन में भी वही भासित होगा, और स्पन्दन-निःस्पन्दन तुल्य ही जान पड़ेंगे। जो समाधि में होगा अथवा चेष्टा करेगा तो भी तुल्य होगी। और न समाधि में शान्ति भासित होगी और न चेष्टा में दुःख होगा। दोनों में एकरस रहेगा। हे राजन् ! देना अथवा लेना, यज्ञ, दान आदिक क्रियाएँ, जो कुछ प्रकृत आचार प्राप्त हो, उसको मर्यादा और शास्त्र की विधि से कर, पर निश्चय आत्मस्वरूप में ही रख। जैसे नट तरह-तरह के स्वाँग भरकर सम्पूर्ण चेष्टाएँ करता है, पर उसमें निश्चय नटत्व ही का रहता है, वैसे ही तू सब चेष्टाएँ कर, पर उसके अभिमान और संकल्प से रहित हो। ग्रहण अथवा त्याग, जो कुछ स्वाभविक रूप से प्राप्त हो, उसमें ज्यों का त्यों रह। जब निर्विकल्प होकर अपने स्वरूप को देखेगा,तब उत्थानकाल में भी तुझे आत्मा ही दिखेगा। जैसे जल के जाने से तरंग, फेन, बुलबुले आदि सब जल ही भासित होते हैं, वैसे ही जब तू आत्मा को जानेगा, तब संसार भी आत्मरूप दिखेगा। जो आत्मा को नहीं जानता, उसको जगत् ही दिखता है और उससे वह दुःख पाता है। इससे तू अन्तर्मुख हो और संकल्प को त्यागकर परम निर्वाण अच्युतपद में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राजाइक्ष्वाकुप्रत्यक्षोपदेशो नाम षण्णवतितमस्सर्गः ।। ९६ ।।

मुनि बोले, हे राजन् ! यह पुरुष संकल्प से ही बँधता है और आप ही मुक्त होता है। जब संकल्प से दृश्य की भावना करता है तब जन्म-मरण को पाकर दुःखी होता है। आप ही संकल्प करता है और आप ही बन्धन को प्राप्त होता है। जैसे कुसवारी (कीड़ा) आप ही गुफा बनाकर और आप ही उसको बंदकर फँसता है, वैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही दुःख पाता है। और जब संकल्प को अन्तर्मुख करता है, तब मुक्त होता है और मुक्त ही मानता है। इससे हे राजन् ! संकल्प को त्याग कर आत्मा की भावना कर, जिसमें तू सुखी हो। हे राजन् ! आत्मा के प्रमाद से देह-आस्था की भावना हुई है, उससे दुःख पाता है। इससे आत्मस्वरूप की भावना कर। तू आत्मा चिद्रूप है। महा आश्चर्य माया है, जिससे संसार को मोह लिया है। आत्मा सर्वदा अनुभवरूप सर्वत्र व्यापक है। उसको जीव नहीं जानते, यही आश्चर्य है। हे राजन् ! आत्मा सदा अनुभवरूप है, उसमें स्थित हो। संसार आत्मा के प्रमाद और स्फुरण से हुआ है। संसार सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। जो आत्मा से भिन्न देखिये तो मिथ्या है-इससे सत् नहीं, और आत्मा के सिवा कोई दूसरा है नहीं, इससे असत् भी नहीं। तू आत्मा की भावना कर। जो कुछ पदार्थ दिखते हैं, उन्हें आत्मा से भिन्न न जान-सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा के सिवा जो और भावना है, उसका त्याग कर।

हे राजन् ! जैसे जल में तरंग और बुलबुले होते हैं, वे जल से भिन्न नहीं-जल ही वैसा होकर भासित होता है, वैसे ही जगत् जो देख पड़ता है, सो आत्मा ही इस रूप में भासित होता है। जैसे सूर्य और किरणों में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। आत्मा ही जगत्रूप है। ये भिन्न भिन्न आकार चित्तशक्ति से हैं, अतएव भिन्न नहीं, आत्मसत्ता ही हैं। जैसे तपा हुआ लोहा जो वस्त्रादिक को जलाता है, सो लोहे की अपनी सत्ता नहीं, अग्नि की सत्ता है, वैसे ही चैतन्य की सत्ता जगत्रूप होकर स्थित हुई है। आत्मा सदा केवलरूप है, जिसमें प्रकाश और तम दोनों नहीं। वह न सत् है, न असत् है, न कोई देश है, न काल

है, न कोई पदार्थ है। केवल चैतन्यमात्र गुणातीत है। उसमें न कोई गुण है, न माया है। केवल शान्तरूप आत्मा है।

हे राजन् ! वह शास्त्रों और गुरु के वचनों से पाया जाता है, कोरे तप से नहीं मिलता। केवल अपने आप जाना जाता है, शास्त्रादिक तो लखा देते हैं, परन्तु "यह है" ऐसा कहकर नहीं जनाते। द्रष्टा पुरुष अपने आप जानता है। जैसे नेत्रों में जो सूर्य की ज्योति है, वही सूर्य को देखती है, वैसे ही आत्मा ही आत्मा को देखता है। वह अन्तर्मुख और संकल्प से रहित होकर अपने को आप देखता है। जब संकल्प बहिर्मुख होता है, तब वही दृढ़ होकर स्थित होता है और फिर उसकी भावना होती है। तब संकल्परूप जगत् दृढ़ता से स्थित होता है, तब दुःखदायी होता है। हे राजन् ! जीव को और कोई दुःखदायी नहीं, अपने ही संकल्प से असम्यक्‌दर्शी दुःखी होता है। सम्यक्‌दर्शी को जगत् दृष्टिगोचर होने पर भी दुःखदायी नहीं होता। जैसे रस्सी में सर्प की भावना होती है तो भय प्राप्त होता है, फिर जब रस्सी को जान लेने से सर्प का भ्रम दूर होता है, तब भय भी जाता रहता है, वैसे ही पुरुष को जो संसार की भावना होती है, वह दुःखदायी है इससे आत्मा की भावना कर, जिसमें तेरे सब दुःख नष्ट हो जावें। हे राजन् ! तू सर्वदा आनन्दरूप और अद्वैत है। तुझमें कोई कल्पना नहीं, तू आत्मस्वरूप है। आत्मा छहों काम, क्रोध आदि विकारों से रहित है। विकार मिथ्या देह के हैं, आत्मा शुद्ध है। आत्मा के प्रमाद से विकार भासित होते हैं। जब तू आत्मा को जानेगा, तब कोई विकार न देख पड़ेगा; क्योंकि आत्मा अद्वैत है।

राजा ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि आत्मा अद्वैत है। जो यह बात है तो पर्वत आदिक विश्व का कैसे भान होता है और पत्थररूप बड़े आकार वन के कहाँ से उपजे हैं ? इसका रूप क्या है, कृपा करके कहो। मुनि बोले, हे राजन् ! आत्मा में संसार कोई नहीं। वह सदा शान्तरूप और निराकार है। उसमें स्पन्दन-निःस्पन्द दोनों शक्ति हैं। जब निःस्पन्द शक्ति होती है, तब केवल अद्वैत भासित होता है। और जब

स्पन्दनशक्ति चेतती है, तब नाना प्रकार के जगत् के आकार भासित होते हैं। पर वास्तव में आत्मा ही है-उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे समुद्र में तरंग कुछ और नहीं, वही हैं, पर पवन के संयोग से तरंग उठते हैं तो भिन्न-भिन्न नजर आते हैं; वैसे ही स्फुरणशक्ति से भिन्न-भिन्न अहंकार भासित होते हैं—वास्तव में सब आत्मस्वरूप हैं—इतर कुछ नहीं। जैसे वट के बीज में पत्ते, डाल, फूल और फल अनेक देख पड़ते हैं, वैसे ही आत्मसत्ता ने जो नाना प्रकार के आकार रक्खे हैं वे यद्यपि देख पड़ते हैं, तो भी कुछ बना नहीं, केवल अद्वैत आत्मा ज्यों का त्यों स्थित है। वह सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है। पर्वत आदिक जो विश्व दिखता है, सो सब आत्मा का चमत्कार है। जैसे स्वप्न में पर्वत और वृक्ष आदिक नाना प्रकार के आकारों का जो भान होता है, वह केवल अनुभव है-उससे इतर कुछ नहीं, वैसे ही जाग्रत् विश्व भी आत्मा का अनुभवरूप है-आत्मा से भिन्न कुछ नहीं।

इक्ष्वाकु ने पूछा, हे भगवन् ! जो आत्मा सूक्ष्म है तो असत्रूप पर्वतादिक स्थूल पदार्थ सत् होकर कैसे देख पड़ते हैं, यह कृपा करके कहो? मुनि बोले, हे राजन्! आत्मा में अनन्त शक्ति है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, सब उसी के रूप हैं। जैसे सूर्य की किरण सूर्य से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा की शक्ति आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे पवन में दो शक्तियाँ हैं-स्पन्दन और निःस्पन्द, सो उसी का रूप हैं-स्पन्दनशक्ति से प्रकट भासित होता है और निःस्पन्द से प्रकट नहीं भासित होता, वैसे ही आत्मा में भी स्पन्दन तथा निःस्पन्द, दो शक्तियाँ हैं। जब स्पन्दनशक्ति उठती है, तब अहंभाव प्रकट होता है और जब अहंभाव हुआ, तब चित्त का उदय होता है। अहं ही चित्त है। जब चित्त हुआ तब आकाश की भावना से आकाश बन जाता है। जब स्पर्श की भावना हुई, तब पवन उत्पन्न होता है। रूप की भावना से अग्नि बनती है। जब रस की भावना हुई, तब जल उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार चित्त की कल्पना से तत्त्व उपजे हैं। जब चारों तत्त्व इकट्ठे हुए, तब एक अण्ड बना। और जब दृढ़ संकल्प किया, तब

स्वायंभुव मनु उत्पन्न हुआ। जब अण्ड फूटा, तब स्वर्ग, मध्य (पृथ्वी) और पाताल, तीन लोक हुए। ये तीनों लोक राजस, सात्त्विक और तामस तीनों गुण हुए। फिर पर्वत आदिक दृश्य पदार्थ हुए।

हे राजन् ! केवल संकल्पमात्र से ही सब हुए हैं। जब स्पन्दनशक्ति फुरती है, तब ये प्रकार आत्मा में भासित होते हैं, परन्तु वास्तव में कुछ बना नहीं। जैसे समुद्र में फेन और बुलबुले जो उठते हैं, सो जल रूप हैं–जल से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं। आदि मनु जो स्वायंभुव हैं, उनके संकल्प ने आगे मन रचे हैं। इसी प्रकार त्रिगुणमय सृष्टि उत्पन्न होती है, सो केवल संकल्पमात्र है। जब तक चित्त है, तब तक विश्व है; जब चित्तस्फुरण से रहित हुआ, तब शक्ति निःस्पन्द होती है और जब शक्ति निःस्पन्द हुई तब फिर जगत् नहीं दिखाई देता है। हे राजन् ! यह विश्व मन के स्फुरण से है और सत्य की नाईं स्थित हुआ है। सत् जो है सर्व–देश, सर्वकाल, सर्ववस्तु वह नहीं भासित होता और असत् की नाईं भासित होता है। वह सत् कैसे असत् की तरह हुआ है और असत् कैसे सत् की तरह हुआ है, यह सुन। सत् जो है सर्व–देश, सर्वकाल, सर्ववस्तु सो नहीं भासित होता और असत् जो परिच्छिन्नरूप देश–काल–वस्तु–परिच्छेद–संयुक्त है, वह सत् जैसा भासित हुआ है। जहाँ देखिये, वहाँ दृश्य गुणमय संसार का भान होता है। यह माया महा आश्चर्यरूप है, जिसने सत्य में असत्य की और असत्य में सत्य की प्रतीति कराई है। चित्त के सम्बन्ध से ही संसार भासित होता है; आत्मा में संसार कदापि नहीं है। जब चित्त को स्थित करके देखोगे, तब तुम्हें संसार न भासित होगा।

जैसे गम्भीर जल होता है तो चलता नहीं दिखता, वैसे ही गम्भीर आत्मा में संसार नहीं जाना जाता कि कहाँ जगता है। संसार भी आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, आत्मस्वरूप ही है। जैसे अग्नि की चिनगारी और जल के तरंग अग्नि और जल से भिन्न नहीं अथवा मणि का प्रकाश मणि से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से संसार भिन्न नहीं; केवल

आत्मस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जानकर शान्ति पाओ, जिससे सारे दुःख नष्ट हो जावें। केवल शान्तपद आत्मा तेरा अपना रूप है। अपने स्वरूप को भूल तू दुःखी हुआ है। जब आत्मा को जानेगा, तब संसार भी आत्मरूप दिखेगा, क्योंकि वह आत्मस्वरूप है। आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं। ऐसा आत्मा तेरा स्वरूप है, उसमें स्थित हो। हे राजन्! यह सब जगत् चिदाकाशरूप है, यही भावना दृढ़ कर। जिसको ऐसी भावना दृढ़ है और जिसकी सब इच्छा शान्त हो गई, उस पुरुष को कोई दुःख नहीं होता। उसने निरिच्छारूपी कवच पहिना है। हे राजन्! जो अहं के अर्थ से रहित है, जिसका सर्व शून्य हो गया है और जिसने निरालम्ब का आश्रय लिया है; वह पुरुष मुक्त है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मनुइक्ष्वाकुआख्याने सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम सप्तनवतितमस्सर्गः ।। ९७ ।।

मनु बोले, हे राजन्! यह संसार आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं। जैसे जल और तरंग सूर्य और किरणें, अग्नि और चिनगारी भिन्न नहीं है, वैसे ही आत्मा और संसार भिन्न नहीं—आत्मस्वरूप ही हैं। जैसे इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों में रहते हैं वैसे ही आत्मा में संसार है। जैसे पवन में जो स्पन्दन-निःस्पन्दशक्ति है सो पवन से भिन्न नहीं, वैसे ही संसार आत्मा से भिन्न नहीं—आत्मस्वरूप है। हे राजन्! विषय की सत्यता को त्यागकर केवल आत्मा की भावना कर, जिसमें तेरे संशय मिट जावें। तू आत्मस्वरूप और निर्गुण है; तुझको गुणों का स्पर्श नहीं होता और तू सबसे परे है। जैसे आकाश में धूल, धुआँ और बादल ये विकार देख पड़ते हैं, पर आकाश निर्लेप रहता है, वह अद्वैतरूप है वैसे ही ज्ञानवान् पुरुषों को, जिनको आत्मज्ञान हुआ है, सुख, दुःख, राजस, तामस, सात्त्विक गुण लिप्त नहीं करते। यद्यपि उनमें लोकदृष्टि से ये गुण दीखते हैं, पर वे अपने आत्मा में नहीं दीखते। जैसे समुद्र में अनेक तरंग जलरूप होते हैं और शुद्ध मणि में नील, पीत आदिक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं सो देखने भर को हैं, मणि को स्पर्श नहीं करते, वैसे ही जिस पुरुष के

हृदय में वासना का मल दूर हुआ है, उसके शरीर से सम्बन्ध रखने वाले राजस, सात्त्विक और तामस गुणों के कार्य सुख-दुःख देखने भरके होते हैं, उसे स्पर्श नहीं करते। उसमें केवल सत्तासमान पद का निश्चय होता है और उसको कोई रंग स्पर्श नहीं करता। जैसे आकाश को धूल लेप नहीं होता, वैसे ही आत्मा को गुणों का सम्बन्ध नहीं होता। जो पुरुष ऐसे जानता है, उसको ज्ञानी कहते हैं।

जब जीव निःस्पन्द होता है, तब आत्मा होता है और जब उसमें वासना का स्पन्दन होता है, तब वह संसारी होता है। जब चित्त जगता है, तब अनेक सृष्टि भासित होती है, और जब चित्त स्फुरण से रहित होता है, तब संसार का अत्यन्ताभाव होता है और प्रध्वंसाभाव भी नहीं भासित होता है। तब संसार भी केवल आत्मरूप हो जाता है। इससे हे राजन् ! वासना को त्यागकर चित्त को स्थित करो। यह वासना ही मल है। जब वासना का त्याग होगा, तब केवल आकाश की तरह अपने को स्वच्छ जानोगे ! आत्मा वाणी का विषय नहीं, वह केवल आत्मत्वमात्र, अपने रूप में स्थित और सर्वदा उदयरूप है। विश्व भी आत्मा का चमत्कार है; कुछ भिन्न वस्तु नहीं। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य की त्रिपुटी अज्ञान से भासित होती है; आत्मा सर्वदा एकरूप और त्रिपुटी से रहित है। चित्त के स्फुरण से आत्मा ही त्रिपुटीरूप होकर स्थित हुआ है, इससे चित्त को स्थिर कर देखो कि आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। वासना के स्फुरण में संसार है, जब वह मिटता है, तब संसार भी मिट जाता है। उस वासना के स्फुरण की निवृत्ति के लिये सात भूमिका कहता हूँ।

जब प्रथम जिज्ञासु होता है, तब चाहता है कि संतजनों का संग करूँ, ब्रह्मविद्या-शास्त्र को देखूँ और सुनूँ-यह प्रथम भूमिका है। भूमिका चित्त के ठहराने के स्थान को कहते हैं। फिर जब सत्संग और शास्त्रों से बुद्धि बढ़ी, तब सन्तों और शास्त्रों के कहने को विचारना कि मैं कौन हूँ और संसार क्या है-यह दूसरी भूमिका है। उसके उपरान्त यह विचारना कि मैं आत्मा हूँ; संसार मिथ्या है और मुझमें कोई संसार नहीं; बारम्बार

ऐसी भावना करना तीसरी भूमिका है। जब आत्मभावना की दृढ़ता से आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब सम्पूर्ण वासनाएँ मिट जाती हैं और जब स्वरूप से नीचे के स्तर पर उतरकर देखता है, तब संसार भासित होता है, परन्तु उसे वह स्वप्न की नाईं जानता है-इससे वासना नहीं उठती। ऐसा अवलोकन चौथी भूमिका है। जब अवलोकन होता है, तब आनन्द प्रकट होता है। ऐसे महाआनन्द का प्रकट होना और जब आनन्द प्रकट हो तब उसमें स्थिर होना पञ्चम भूमिका है। तुरीयापद छठी भूमिका है। चित्त की दृढ़ता का नाम तुरीयावस्था है। जब तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है, तब परम निर्वाण होता है-उसको सप्तम भूमिका कहते हैं। उस परम निर्वाणपद की जीवन्मुक्त को गति नहीं, क्योंकि तुरीयातीतपद को वाणी से बता नहीं सकते।

प्रथम तीन भूमिका जो कही हैं, वे जाग्रत् अवस्था हैं। उनमें मनुष्य श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है और संसार की सत्ता भी दूर नहीं होती। चतुर्थ भूमिका स्वप्नवत् है। उसमें संसार की सत्ता नहीं होती। पञ्चम भूमिका सुषुप्ति अवस्था है; क्योंकि उसमें जीव आनन्दघन में स्थित होता है। छठी भूमिका तुरीयपद है, जो जाग्रत्स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों का साक्षी है। उसमें केवल ब्रह्म ही प्रकाश पाता है और चित्त निर्वाणपद में लय हो जाता है। तुरीयपद में जीवन्मुक्त लोग बिचरते हैं। सप्तम भूमिका तुरीयातीतपद है; वही परमनिर्वाणपद है। तुरीयावस्था में ब्रह्माकारवृत्ति रहती है। जब ब्रह्माकारवृत्ति भी लीन हो जाती है, जहाँ वाणी की गति नहीं, वहाँ चित्त नष्ट हो जाता है; तब वह केवल आत्मतत्त्वमात्र रह जाता है। उसमें अहंभाव नहीं होता। शान्त और परमनिर्वाण तेरा स्वरूप है और सब विश्व भी वही रूप है, कुछ भिन्न नहीं जैसे सुवर्ण ही भूषण हैं और सुवर्ण में भूषण कल्पित है। भूषण भी परिणाम से होता है, पर आत्मा सदा अच्युतरूप है और कभी परिणाम को नहीं प्राप्त होता। वह केवल एक रस है। उसने चित्त के स्फुरण से विश्व की कल्पना की है, इससे विकारसंयुक्त भासित होता

है। हे राजन् ! ऐसी आत्मा तुम्हारा स्वरूप है। उसमें स्थित होकर अपने प्रकृत आचार में निरहंकार होकर विचरो। बल्कि अहंकार के त्याग का अभिमान भी त्यागकर केवल आत्मरूप हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमनिर्वाणवर्णनं नामाष्टनवतितमस्सर्गः ।। ९८।।

मनु बोले, हे राजन् ! आदि-मध्य-अन्त से रहित अनाभास सर्वचिदाकाश सत्ता ज्यों की त्यों स्थित है और आगे भी वही स्थित रहेगी। उसमें न ऊर्ध्व है, न अधः है, न तम है, न प्रकाश है और न कुछ उससे भिन्न है। वह सबकी सत्ता है, जो चिन्मात्र परम सार है। उसने आप ही संकल्प से चिन्तना की, तब जगत् हुआ । हे राजन् ! यह विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे जल में तरंग,मिरच में तीक्ष्णता शक्कर में मधुरता, अग्नि में उष्णता, बरफ में शीतलता, सूर्य में प्रकाश, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दन है, वैसे ही आत्मा में जो विश्व है, वह आत्मस्वरूप ही है, आत्मा से भिन्न नहीं। हे राजन् ! जो सब आत्मस्वरूप ही है, तो शोक और मोह किसका करता है ? जैसे काष्ठ की पुतली यन्त्र के तागे से अनिच्छित चेष्टा करती है, वैसे ही नीतिरूप तागे से, अभिमान से रहित होकर, तू भी विचर और यह निश्चय रख कि न मैं कुछ करता हूँ, न कराता हूँ। किसी में रागद्वेष न कर। जैसे शिला पर जो मूर्ति लिखी होती है उसको न किसी का राग है और न द्वेष है, वैसे ही तू भी विचर। आत्मा से भिन्न कुछ न देख पड़े, ऐसा निरहंकार हो। चाहे व्यवहारी गृहस्थ हो चाहे सन्यासी, चाहे देहधारी हो चाहे देहत्यागी, चाहे विक्षेपी हो चाहे ध्यानी, तुझे कोई दुःख न होगा, तू ज्यों का त्यों ही रहेगा। वासना का होना ही संसार है और वासना से रहित होना मोक्ष है। जब वासना उठती है, तब संसारी होता है और जब वासना मिट जाती है, तब केवल आकाशरूप भासित होता है ।

हे राजन् ! यह सब जगत् आत्मरूप है और आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। जब सब आत्मा ही है, तब शोक और मोह किसका कीजिये।

हे राजन् ! आत्मा सर्वदा एकरस है और विश्व आत्मा का चमत्कार है। जन्म-मरण आदि नाना विकार आत्मा के अज्ञान से प्रतीत होते हैं। जब आत्मा का ज्ञान होगा, तब आत्मरूप ही एकरस भासित होगा और विषमता कुछ न रहेगी। संवेदन से आकार दिखते हैं। अहंकार और वासना के सम्बन्ध को संवेदन कहते हैं। अहंकार और चित्त, दोनों पर्यायवाची हैं। हे राजन् ! इसका अहंकार के साथ होना ही दुःखदायी है। केवल चिन्मात्र में अहंभाव मिथ्या है। जब तक संवेदन दृश्य की ओर उठता है, तब तक दृश्य का अन्त नहीं आता और नाना प्रकार के विकार भासित होते हैं। पर जब संवेदन आत्मा अधिष्ठान की ओर आता है, तब आत्मा शुद्ध अपना रूप होकर भासित होता है।

संवेदन भी आत्मा का कल्पित आभास है। आभस के आश्रय से विश्व कल्पित हुआ है। फुरने में भी और न फुरने में भी आत्मा ज्यों का त्यों है। परन्तु फुरने में विषमता भासित होती है, और न फुरने में ज्यों की त्यों आत्मा भासित होता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प दिखता है, जब रस्सी का ज्ञान होता है, तब सर्प की सत्यता जाती रहती है और रस्सी ज्यों की त्यों जान पड़ती है, पर सर्प जान पड़ने के काल में भी रस्सी ज्यों की त्यों ही थी, उसमें कुछ नहीं हुआ था-जानने न जानने में एक समान ही थी, वैसे ही आत्मा स्फुरण के समय में जगत्रूप से दिखता है और स्फुरण के निवृत्त होने पर आत्मा ही भासित होता है, पर आत्मा दोनों कालों में एक समान है। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से भिन्न नहीं और अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से विश्व भिन्न नहीं-आत्मस्वरूप ही है।

हे राजन् ! अहंकार को त्याग करके अपने सत्ता-समान स्वरूप में स्थित हो, तब तेरे सब दुःख निवृत्त हो जावेंगे। एक कवच तुझको बताता हूँ, उसको धारण करके विचर तो तुझ पर अनेक शस्त्रों की वर्षा होने पर भी तुझे दुःख न होगा। तू जो कुछ देखता-सुनता है, उसे सब ब्रह्म जान और बारम्बार यही भावना कर कि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जब ऐसी

भावना दृढ़ करेगा, तब कोई शस्त्र तुझे काट न सकेगा। यह ब्रह्मभावना ही कवच है। जब इसको तू धारण करेगा, तब सुखी होगा।

इतना कह वाल्मीकिजी बोले कि जब वशिष्ठजी ने रामजी को मनु और इक्ष्वाकु का संवाद सुनाया, तब सायंकाल में सूर्य अस्त हुआ और सारी सभा और वशिष्ठजी भी स्नान को उठे। फिर सूर्य की किरणों के निकलते ही सब आ पहुँचे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मोक्षरूपवर्णनं नाम नवनवतितमस्सर्गः ।। ९९।।

मनु बोले, हे राजन् ! जिसका कारण ही मिथ्या है, उसका कार्य कैसे सत् हो ? यह आभास जो संवेदन है, वही विश्व का कारण है। जब आभास ही मिथ्या है, तब विश्व कैसे सत्य हो और जब विश्व ही असत् है, तब भय और शोक किसका करता है ? हे राजन् ! न कोई जन्मता है, न मरता है, न सुख है, न दुःख है, आत्मा ज्यों का त्यों स्थित है। उसी से संवेदन ने विश्व की कल्पना की है। इससे संवेदन का त्याग कर कि 'न मैं हूँ, न यह है'। जब तुझे ऐसा दृढ़ निश्चय होगा, तब आत्मा ही शेष रहेगा और अहंकार निवृत्त हो जावेगा; क्योंकि आत्मा के अज्ञान से वह होता और आत्मज्ञान से ही नष्ट हो जाता है। हे राजन् ! जो वस्तु भ्रम सिद्ध हो और सत् दिखे, उसको प्रथम विचारिये। जो विचार किये से रहे तो उसे सत्य और आत्मा जानिये; और जो विचार किये से नष्ट हो जावे तो उसको अनात्मा तथा मिथ्या जानिये। जैसे हीरा श्वेत होता है और बरफ का कण भी श्वेत होता है, एक समान दोनों भासित होते हैं, पर उनकी परीक्षा के लिये सूर्य के सम्मुख दोनों को रखिये तो जो धूप से गल जाय उसे झूठा जानिये और जो ज्यों का त्यों रहे उसको सत् जानिये, वैसे ही विचाररूपी सूर्य के सम्मुख करिये तो अहंकार बरफ की नाईं नष्ट हो जाता है, क्योंकि जो अहंकार अनात्म अभिमान में होता है, वह तुच्छ है-सर्वव्यापी नहीं।

जीव इन्द्रियों की क्रिया जो अपने में मानता है और परमधर्म की

अपने में कल्पना करता है, वह भी तुच्छ है। वह अपने को आत्मा से भिन्न जानता है और पदार्थों को अपने से भिन्न जानता है, इस कारण विचार करने पर बरफ के हीरे की नाईं मिथ्या हो जाता है, अतः अविचार से सिद्ध है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। पर आत्मा सबका साक्षी ज्यों का त्यों रहता है। वह अहंकार और इन्द्रियों का भी साक्षी और सर्वव्यापी है। हे राजन् जो सत् वस्तु है, उसकी भावना कर और सम्यक्‌दर्शी बन। सम्यक्‌दर्शी को कोई दुःख नहीं होता। जैसे मार्ग में पड़ी रस्सी को रस्सी जानिये तो कोई भय नहीं और सर्प जानिये तो भय होता है। इससे सम्यक्‌दर्शी हो-असम्यक्‌दर्शी मत बन। हे राजन् ! जो कुछ दृश्य पदार्थ हैं, वे सुखदायी नहीं, दुःखदायी ही हैं। जब तक इनका संयोग है, तब तक सुख जान पड़ता है, पर जब उनका वियोग होता है तब दुःख मिलता है। इससे तू उदासीन हो; किसी दृश्य पदार्थ को सुखदायी न जान और दुःखदायी भी न जान। सुख और दुःख दोनों मिथ्या हैं। इनमें आस्था मत कर अहंकार से रहित जो तेरा स्वरूप है, उसमें स्थित हो। जब अहंकार नष्ट होगा, तब अपने को जन्म-मरण विकारों से रहित आत्मा जानेगा कि मैं निरहंकार ब्रह्म चिन्मात्र हूँ। ऐसे अहंभाव से रहित होने पर अपना होना भी न रहेगा; केवल चिन्मात्र, आनन्द और राग-द्वेष के क्षोभ से रहित शान्त रूप होगा। जब अपने को ऐसा जाना, तब सोच किसका करेगा ?

हे राजन् ! इस दृश्य का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो और इस मेरे उपदेश को विचार कि मैं सत्य कहता हूँ, अथवा असत्य। जो विचार से संसार सत्य हो संसार की भावना कर और जो आत्मा सत्य हो तो आत्मा की भावना कर। हे राजन् ! सम्यक्‌दर्शी होकर सत् को सत् और असत् को असत् जान। जो असम्यक्‌दर्शी है, वे सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानते हैं। यथार्थ न जानने से असत् वस्तु स्थिर नहीं रहती, परन्तु अज्ञानी दुःख पाता है। जैसे कोई पुरुष एक कुटी रचकर सोचने लगे कि मैंने आकाश की रक्षा की है और फिर जब कुटी नष्ट हो

तब शोक करे कि आकाश नष्ट हो गया, क्योंकि वह आकाश को कुटी के आश्रय जानता था, वैसे ही अज्ञानी पुरुष आत्मा को देह के आश्रय जानकर देह के नष्ट होने पर आत्मा का नाश मानता और दुखी होता है। जैसे सुवर्ण में भूषण कल्पित हैं, भूषणों के नष्ट होने पर मूर्ख सुवर्ण को नष्ट मानता है, वैसे ही देह के नष्ट होने पर अज्ञानी अपने को नष्ट जानता है। पर जिसको सुवर्ण का ज्ञान है, वह भूषणों के रहते भी सुवर्ण को देखता है और भूषण संज्ञा कल्पित जानता है। अतः ज्ञानवान् आत्मा को अविनाशी और देह तथा इन्द्रियों को असत् जानता है।

हे राजन् ! तू देह और इन्द्रियों के अभिमान से रहित हो। जब अभिमान से रहित इन्द्रियों की चेष्टा करेगा, तब शुभ अशुभ कर्म तुझे बाँध न सकेंगे, और जो अभिमान सहित कर्म करेगा तो शुभ अशुभ फल को भोगेगा। हे राजन् ! जो मूर्ख अज्ञानी है, वे ऐसे कर्मों का आरम्भ करते है, जिनका कल्पपर्यन्त नाश न हो। वे देह-इन्द्रियों के अभिमान का प्रतिबिम्ब आपमें मानते हैं कि मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ; इससे अनेक जन्म पाते हैं, क्योंकि उनके कर्मों का नाश कभी नहीं होता और जो तत्त्ववेत्ता ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे अपने को देह और इन्द्रियों के गुणों से रहित जानते हैं और उनके संचित् और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। संचित् कर्म वृक्ष की तरह हैं और क्रियमाण फूल-फल की तरह। जैसे रुई को लपेटकर अग्नि लगाने से वृक्ष, फूल, फल सूखे तृणवत् जलते हैं, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से संचित् और क्रियमाण कर्म जल जाते हैं।

इससे हे राजन् ! जो कुछ चेष्टा तू वासना से रहित होकर करेगा, उसमें कोई बन्धन नहीं। जैसे बालक के अंग स्वाभाविक ही भली-बुरी प्रकार हिलते हैं, उसके हृदय में अभिमान नहीं उठता, इससे उसको बंधन नहीं, वैसे ही तू भी इच्छा से रहित होकर चेष्टा कर तो तुझे कोई बंधन न होगा। यद्यपि सब चेष्टा तुझमें तब भी दिखेंगी तो भी वासना से रहित होगा, फिर जन्म न पावेगा। जैसे भूना बीज देखने भर को होता है और उगता नहीं, वैसे ही तुझमें सब क्रिया देख पड़ेंगी, परन्तु जन्म का कारण

न होंगी, अर्थात् पुण्यक्रिया का फल सुख न भोगेगा और पापक्रिया से दुःख न पावेगा, किन्तु पाप-पुण्य का स्पर्श न होगा। जैसे जल में कमल स्थित होता है और उसको जल स्पर्श नहीं करता, वैसे ही पाप-पुण्य का स्पर्श तुझे न होगा। इसलिये अहं अभिलाषा से रहित होकर जो कुछ अपना प्राकृतिक आचार है, सो कर। हे राजन् ! जैसे आकाश में जल से पूर्ण मेघ दिखते हैं, परन्तु आकाश को लिप्त नहीं करते, वैसे ही तुझको कोई कर्म बन्धन न करेगा। जैसे विष के न खानेवाले को विष नहीं मार सकता, वैसे ही ज्ञानी को कर्म नहीं बाँध सकता।

ज्ञानवान् कर्म करके भी अपने को अकर्ता जानता है, पर अज्ञानी न करने में भी अभिमान से कर्ता होता है। जो देह और इन्द्रियों से कर्ता है और उसके अभिमान से रहित है, वह अकर्ता है। जो पुरुष इन्द्रियों का संयम करता है, पर मन में विषय के भोग की तृष्णा रखता है, जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष से मूढ़ है और बड़े-बड़े कर्मों को करता और दुःखी होता है, वह मिथ्याचारी है। जो पुरुष हृदय में राग-द्वेष से रहित है, पर कर्म इन्द्रियों से चेष्टा करता है, वह विशेष ज्ञानी है, अपनी जान कुछ नहीं करता। वह मोक्ष पाता है। हे राजन् ! अज्ञानरूप वासना से रहित होकर विचर। जो ऐसे होकर विचरेगा तो अपने को ज्यों का त्यों आत्मा जानेगा। अपने को सदा उदयरूप, सबका प्रकाशक जानेगा और जन्म-मरण-बंधन मुक्ति-विकार से रहित ज्यों का त्यों आत्मा भासित होगा।

हे राजन् ! उस पद को पाकर तू शान्ति पावेगा। अन्य सब कला विशेष अभ्यास बिना नष्ट होती हैं। जैसे रस बिना वृक्ष चाहे फैलने वाला हो तो भी उगता नहीं। ज्ञानकला अभ्यास के बिना नहीं उपजती और उपजकर फिर नष्ट नहीं होती। जैसे धान बोते हैं तो वे दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगते हैं, वैसे ही ज्ञानकला दिन-प्रतिदिन बढ़ती है। हे राजन् ! ज्ञान उपजने से जीव ऐसे जानता है कि मैं न मरता हूँ, न जन्मता हूँ; निरहंकार, निष्किंचनरूप, सबका प्रकाशक, अजर और

अमर हूँ। हे राजन् ! ऐसी ज्ञानकला पाकर जीव मोह को नहीं प्राप्त होता। जैसे दूध से दही बनकर वह फिर दूध नहीं होता और जैसे दूध को मथकर घृत निकालो तो फिर घृत नहीं मिलता, वैसे ही जिसकी ज्ञानकला उदय हुई है, उसे फिर मोह नहीं स्पर्श करता। हे राजन् ! अपने स्वरूप में स्थित होकर और को त्याग करने का नाम पुरुष प्रयत्न है। जिस पुरुष को आत्मा की भावना हुई है, वह संसारसमुद्र से पार हुआ है। पर जिसको संसार की भावना है, वह संसारी जरा और मृत्यु के दुःख पाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थोपदेशो नाम शततमस्सर्गः ।। १००।।

मनु बोले, हे राजन् ! बड़ा आश्चर्य है कि शुद्ध चिन्मात्र आत्मा में माया से नाना प्रकार के देह, इन्द्रियाँ और दृश्य भासित हुए हैं। हे राजन्! दृश्य का कारण अज्ञान है। जिस आत्मा के मोहावरण 'अज्ञान' से दृश्यरूप भासित होता है, उसी के ज्ञान से वह अज्ञान लीन हो जाता है। इस कारण इस संवेदन को त्यागकर आत्मा की भावना कर। यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, ये संकल्प मिथ्या ही उठते हैं। हे राजन् ! प्रथम कारणरूप से एक जीव उपजा, फिर उस आदि-जीव से अनेक जीवगण हुए। जैसे अग्नि से चिनगारी निकलती हैं, वैसे ही उसने अनेक रूप धरे हैं। कोई गन्धर्व, कोई विद्याधर, कोई मनुष्य, कोई राक्षस इत्यादिक हुए हैं। फिर जैसे संकल्प होते गये हैं, वैसे ही रूप होते गये। वास्तव में जैसे जल में तरंग स्वरूप के प्रमाद से अनेक भाव को प्राप्त होते हैं, वैसे ही अपने संकल्प अपने ही को बन्धन होते गये हैं। इससे संकल्प नानात्व की कलना मिथ्या है। हे राजन् ! इस भावना को त्यागकर आत्मपद को प्राप्त हो। आत्मा अनन्त है। यह विश्व भान और प्रकार का होता है। जैसे समुद्र सम है, पर उसमें जो कई आवर्त्ततरंग और बुलबुले उठते हैं, सो जल से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा में अनेक प्रकार का विश्व जो दिखता है सो आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मस्वरूप ही है। इससे आत्मा की भावना कर।

कहीं ब्रह्म सत् संकल्प होकर स्फुरित होता है तो जानता है कि मैं ब्रह्म, शुद्धरूप और सदा मुक्तरूप हूँ और इस संसारसमुद्र से पार हो गया हूँ। जहाँ चेतनाशक्ति है, वहाँ अपने को जीता मानता है और दुःखी भी जानता है। अन्तःकरण से मिलकर भोग की भावना करना और सदा विषय की तृष्णा करना जीवात्मा का लक्षण है। जहाँ वासना क्षय हुई और शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष हुआ, वहाँ जीवसंज्ञा नष्ट हो जाती है और केवल शुद्ध आत्मा प्रकाश पाता है।

हे राजन् ! चेतन जब अन्तःकरण से मिलकर बहिर्मुख होता है, तब संसारी होकर जरा-मरण से दुखी होता है। और जब चेतनशक्ति अन्तर्मुख होती है; तब जन्म-मरण की भावना को त्यागकर स्वरूप की भावना करता है, जिससे सब दुःखों की निवृत्ति होती है। जब इसकी भावना स्वरूप की ओर लगती है, तब कोई दुःख नहीं रहता और जब इसे स्वरूप का प्रमाद होता है, तब यह दुःख पाता है। स्वरूप के ज्ञान से आनन्दरूप मुक्त होता है। हे राजन् ! तू संसाररूपी कूप की गगरी न हो। जब गगरी रस्सी से बँधती है तो कभी ऊपर को जाती है और कभी नीचे। पर जब रस्सी टूट जाती है तब न ऊपर को जाती है और न नीचे को। कूप क्या है, नीचे क्या है और ऊपर क्या है, यह भी सुन। हे राजन् ! यह संसार ही कूप है; स्वर्गलोक ऊपर है और नरक नीचे है। जीव पुण्यकर्म से स्वर्ग को और पापकर्म से नरक को जाता है। इसी प्रकार आशारूपी रस्सी से बँधा हुआ जीव जन्ममरणरूपी चक्र में फिरता है। स्वर्ग और नरक में फिरने का कारण आशा है। जब आशा निवृत्त होती है, तब न कोई नरक है न स्वर्ग। जब तक देह में अभिमान है, तब तक नीच से नीच गति को प्राप्त होता है। जैसे पत्थर की शिला समुद्र में डालो तो नीचे से नीचे चली जाती है, वैसे ही नीच स्थानों को देखकर देहाभिमानी नीचे को चला जाता। जब इन्द्रियाँदिक का अभिमान त्याग करता है, तब जैसे क्षीरसमुद्र से निकलकर चन्द्रमा नीचे से ऊपर को चला गया है, वैसे ही ऊपर को जाता है।

हे राजन् ! यदि आत्मा की भावना करेगा तो आत्मा ही होगा। इससे

आशारूपी फाँसी को तोड़कर शान्तपद को प्राप्त हो। आत्मा चिन्तामणि की तरह है। जैसी भावना कीजिये, वैसी ही सिद्धि होती है। यदि तू आत्मभावना करेगा तो सम्पूर्ण विश्व अपने में देखेगा। जैसे पर्वत शिला और पत्थर को अपने में देखता है, वैसे ही तू भी सब को आत्मा जानेगा। हे राजन् ! जो कुछ दृश्य है सो सर्वात्मा के आश्रय है। शास्त्र और शास्त्रदृष्टि सब आत्मा के आश्रय हैं। राजा भी आत्मा के आश्रय है। वह सर्वसत्य आत्मा चिन्तामणि कल्पवृक्ष है। जैसी कोई भावना करता है, वैसी सिद्धि होती है। हे राजन् ! स्फुरण में यह सब दृश्य सत्य है। जब स्फुरण नष्ट होता है, तब न कोई शास्त्र है और न कोई दृष्टि। जब केवल अद्वैत आत्मा है तब निषेध किसका कीजिये और अंगीकार किसको करिये ? जो पुरुष अहंकार से रहित हुआ है वह सर्वशास्त्र-दृष्टि पर विराजता है और सर्व आत्मा होता है। जैन उसी को जिन कहते हैं और कालवादी उसी को काल कहते हैं। सबका आश्रय आत्मा है। जो पुरुष देहाभिमानी है, वही मूर्ख है और स्वरूप के अज्ञान से नीचे और ऊपर के लोकों से आता जाता रहता है; पशु, पक्षी आदि की स्थावर-जंगम योनियाँ पाता है और आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ दुःख को प्राप्त होता है। जो पुरुष सम्यक्दर्शी है और जिसकी शुद्ध चेष्टा है, उसको कोई विकार नहीं देख पड़ता-वह आकाश की तरह सदा निर्मल निर्लिप्त भासित होता है। उसको सम्पूर्ण विश्व आत्मस्वरूप दिखता है। जो चेष्टा ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादिक करते हैं उसका कर्ता भी वह अपने को जानता है। उसके सब दुःखों का अन्त होता है, वह आत्मपद को प्राप्त होता है। उसको सब सुखों की सीमा प्राप्त होती है।

हे राजन् ! जैसे नदी तब तक चलती है, जब तक समुद्र को नहीं पाती; पर जब समुद्र को पहुँच जाती है, तब नहीं चलती, वैसे ही जब तू आत्मपद को प्राप्त होगा, तब कोई इच्छा तुझे न रहेगी। हे राजन् ! तू अहंकार का त्याग कर अथवा ऐसा जान कि सब मैं ही हूँ। जरामरण आदिक दुःख तब तक हैं, जब तक आत्मबोध नहीं होता। जब आत्मबोध

होता है, तब कोई दुःख नहीं रहता। दोनों ही दुःख भारी हैं, पर ज्ञानी को इन्द्र के वज्रसमान दुःख भी स्पर्श नहीं करता। हे राजन्! जैसे पेड़ से सूखकर फल गिरता है, उसी प्रकार जब ज्ञानरूपी फल प्राप्त होता है, तब मन, बुद्धि, अहंकार पेड़ की तरह गिर पड़ते हैं। जब तक मन की चपलता है, तब तक दुःख पाता है। जब मन की चपलता निवृत्त होती है तब कोई क्षोभ नहीं रहता और शान्तपद को प्राप्त होता है। शान्ति तब होती है, जब प्रकृति का वियोग होता है। प्रकृति के संयोग से संसारी होता है और दुःख पाता है। इससे प्रकृति को त्याग दे अर्थात् अहंकार से रहित होकर चेष्टा कर।

जब तू अहंकार से रहित होगा, तब उस पद को प्राप्त होगा, जो न जड़ है, न चेतन है, न शून्य है, न अशून्य है, न केवल है; न अकेवल है। उसे न आत्मा कह सकते हैं, न अनात्मा। वह न एक है, न दो। जो कुछ नाम हैं सो प्रतियोगी से मिले हुए हैं। प्रतियोगी होकर द्वैत होता है, पर आत्मा अद्वैत है। जिसमें वाणी की गति नहीं, जो अनिर्वचनीयपद है उसको वाणी से कैसे कहिये ? जितनी नाम-संज्ञा है सो उपदेशमात्र है आत्मा अनिर्वाच्य पद है इससे संकल्प का त्याग करके आत्मा की भावना कर। जब तू आत्मभावना करेगा, तब केवल आत्मा ही प्रकाशित होगा। जैसे फूल का कोई अंग सुगन्ध से रहित नहीं होता, वैसे ही आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। हे राजन्! जब अहंकार का त्याग करेगा,तब अपने आप शोभायमान होगा और आकाश की तरह निर्मल आत्मा में स्थित होगा। अहंकार को त्यागकर उस पद को प्राप्त होगा, जहाँ शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ नहीं पहुँचते, जहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियों के रस लीन हो जाते हैं और सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। तब केवल मोक्षपद को प्राप्त होगा। हे राजन्! मोक्ष किसी देश में नहीं कि वहाँ जाकर पावे; न किसी काल में ही है कि अमुक काल आवेगा तब मुक्त होगा; और मोक्ष न कोई पदार्थ ही है कि उसको ग्रहण करेगा। केवल अहंकार के त्याग से मोक्ष होता है। जब तू अहंकार का त्याग करेगा, तभी मोक्ष है। जब तू इस अनात्म

अभिमान को त्यागेगा, तब अपने आप शोभायमान होगा। जैसे धुवाँ बिना अग्नि प्रकाशमान होती है, वैसे ही अहंकार बिना तू प्रकाशित होगा। जैसे बड़े पर्वत पर निर्मल और गम्भीर तालाब सोहता है, वैसे ही तू सोहेगा। हे राजन् ! तू अपने स्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे समाधनवर्णनं
नामैकाधिकशततमस्सर्गः ।। १०१।।

मनु बोले, हे राजन् ! तू शुद्ध और रागद्वेष से रहित आत्माराम नित्य अन्तर्मुख रह। जब तू आत्माराम होगा, तब तेरी व्याकुलता नष्ट हो जायगी और तू शीतल चन्द्रमा सा पूर्ण हो जायगा। ऐसा होकर अपने प्रकृत आचार में विचर और किसी फल की वाञ्छा न कर। जो पुरुष वाञ्छा से रहित होकर कर्म करता है, वह सदा अकर्ता है और महा शोभा पाता है। ऐसी अवस्था में स्थित होकर जो भोजन आवे उसको खा ले और जो अनिच्छित वस्त्र आवे उसको पहन ले। जहाँ नींद आवे, वहाँ सो रह। रागद्वेष से रहित हो। जब तू ऐसा होगा, तब शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ का उल्लंघन कर लौकिक व्यवहार करेगा। जो ऐसा पुरुष है, वह परम रस को पाकर मतवाला होता है। उसको संसार की कुछ इच्छा नहीं रहती। हे राजन् ! ज्ञानवान् चाहे काशी में देह त्याग करे अथवा चाण्डाल के गृह में, वह सदा मुक्त है। वह सदा आत्मारूप में स्थित है। वर्तमानकाल में वह देह को नहीं त्यागता; क्योंकि जिस काल में उसको ज्ञान हुआ, उसी काल में देह का अभाव हुआ-ज्ञान से देह की बाधा हट जाती है। हे राजन् ! ज्ञानवान् सदा मुक्तरूप है। वह न किसी की स्तुति करता है और न निन्दा; क्योंकि उसके चित्त की कलना मिट गई है। यद्यपि रागद्वेष ज्ञानवान् में भी देख पड़ते हैं और वह हँसता-रोता भी देख पड़ता है, पर उसके अन्तर में न राग है न द्वेष। वास्तव में वह न हँसता है, न रोता है-ज्यों का त्यों है। जैसे आकाश शून्यरूप है और उसमें बादल भी देख पड़ते हैं, परन्तु आकाश को वे लिप्त नहीं करते, वैसे ही ज्ञानवान् को कर्म बन्धन नहीं करता।

पर अज्ञानी जानते हैं कि ज्ञानवान् को क्रिया बन्धन करते हैं।

हे राजन् ! ज्ञानवान् ! सर्वदा नमस्कार करने और पूजने योग्य हैं। जिस स्थान में ज्ञानवान् बैठता है, उस स्थान को भी नमस्कार है। जिससे बोलता है उस जिह्वा को भी नमस्कार है। जिस पर ज्ञानवान् दृष्टि डालता है, उसको भी नमस्कार है। वह सबका आश्रय है। हे राजन् ! जैसा ज्ञानवान् की दृष्टि से आनन्द मिलता है, वैसा आनन्द तप, दान और यज्ञ आदि कर्मों से नहीं मिलता। ऐसी दृष्टि और किसी की नहीं होती, जैसी सन्त की दृष्टि है। वह ऐसे आनन्द को पाता है, जिसमें वाणी की गति नहीं। जो पुरुष सन्त की दृष्टि को पाकर सुखी होता है, उससे लोग दुःख नहीं पाते और लोगों से वह दुखी नहीं होता। वह न किसी का भय करता है; न किसी का हर्ष करता है। हे राजन् ! सिद्धि पाने का सुख अल्प है; क्योंकि उड़ने की सिद्धि पाई तो अनेक पक्षी उड़ते फिरते हैं; इससे आत्मज्ञान् तो नहीं मिलता और आत्मज्ञान बिना शान्ति नहीं होती। जब आत्मज्ञान प्राप्त होता है, तब जरा, मृत्यु आदि दुःख से मुक्त होता है और कोई दुःख नहीं रहता। जैसे पिंजड़े से छूटा सिंह फिर पिंजड़े के बन्धन में नहीं पड़ता, वैसे ही वह पुरुष अज्ञानरूपी पिंजड़े में नहीं फँसता।

हे राजन् ! इससे तू आत्मा की भावना कर, जिससे तेरे दुःख नष्ट हो जावें। अज्ञान से तुझे दुःख दिखते हैं-अज्ञान से रहित सदा आनन्दरूप है। इससे अनुभवरूप आत्मा में स्थित हो। जब तू आत्मा में स्थित होगा तब जैसे शुद्धमणि के निकट श्वेत,रक्त,पीत,श्याम आदि रंग रखिये तो वह उनके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, पर कोई रंग उसे स्पर्श नहीं करता वे कल्पित से भासित होते हैं, वैसे ही तू प्रकृत आचार को अगींकार करता रहेगा, पर तुझे पाप-पुण्य का स्पर्श न होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मनुइक्ष्वाकुसंवादसमाप्तिर्नाम द्व्यूधिकशततमस्सर्गः ।। १०२।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार उपदेश करके जब मनु चुप हो

गये, तब राजा ने भली प्रकार उनका पूजन किया। फिर मनु आकाश को उड़के ब्रह्मलोक गये और राजा इक्ष्वाकु राज्य करने लगा। हे राम ! जैसे राजा इक्ष्वाकु ने जीवन्मुक्त होकर राज्य किया है, वैसे ही तुम भी इस दृष्टि का आश्रय करके विचरो। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने जो कहा कि जैसे राजा इक्ष्वाकु ज्ञान पाकर राज्य चेष्टा करते रहे, वैसे ही तुम भी करो, उसमें मेरा प्रश्न यह है कि जो अतिशय अपूर्व हो उसका पाना विशेष है और जो पूर्व में किसी ने पाया है उसका पाना अपूर्व और अतिशय नहीं; इसलिए मुझसे कहिये कि सबसे विशेष अपूर्व अतिशय क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ज्ञानवान् सदा शान्तरूप और रागद्वेष से रहित है, इससे वह अपूर्व अतिशय को पाता है। जो कुछ और अतिशय है, वह पूर्व अतिशय है, पर ज्ञानवान् अपूर्व अतिशय को पाता है, ज्ञानी के सिवा अन्य कोई नहीं पाता। आत्मज्ञान को ज्ञानी ही पाता है; और वह ज्ञान एक ही है। हे राम ! जो दूसरा नहीं पाता तो अपूर्व अतिशय हुआ। हे राम ! अपूर्व अतिशय को पाकर ज्ञानवान् प्रकृत आचार और सब चेष्टा भी करता है, तो भी निश्चय सर्वदा आत्मा में रखता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ऐसा ज्ञानवान् जो अज्ञानी की तरह सब चेष्टा करता है, उसको किन लक्षणों से तत्त्ववेत्ता जानिये ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक स्वसंवेद लक्षण है और दूसरा परसंवेद लक्षण है। आप ही अपने को जाने और न जाने, इसे स्वसंवेद कहते हैं; और जिसको और भी जानते हैं, उसे परसंवेद कहते हैं।

हे राम ! परसंवेद के लक्षण कहता हूँ सुनो। तप, दान, यज्ञ, व्रत इत्यादि करना परसंवेद है और दुःख-सुख की प्राप्ति में धैर्य के समान रहना साधु के लक्षण हैं। महाकर्ता और महाभोक्ता और महात्यागी होना तथा क्षमा, दया इत्यादि साधु के लक्षण है, ज्ञानवान् के नहीं। उड़ना, छिप जाना आदि जो अणिमादिक सिद्धियाँ हैं वे भी समान लक्षण हैं। परन्तु ये स्वाभाविक आकर उपस्थित होती हैं तथा और से भी जानी जाती हैं। पर ज्ञानी के जो लक्षण हैं, वे स्वसंवेद हैं। इनके सिवा उसके सिर में सींग

नहीं होते कि उनसे उसे जानिये। जैसे और व्यवहार हैं, वैसे ही उसके भी। ज्ञानी को सिद्धि समान है। यह भी ज्ञानवान् का लक्षण नहीं। पुण्य पापादिक कर्म परसंवेद हैं, सो वे माया के कल्पित हैं, ज्ञानी के नहीं होते। जितने लक्षण देखने में आवेंगे, वे मिथ्या हैं, और माया के कल्पित हैं। ज्ञानी का लक्षण स्वसंवेद है। वह सर्वदा आत्मा में स्थित और अपने आपमें संतुष्ट रहता है। उसे न किसी बात का हर्ष है, न शोक है। वह जन्म-मरण में समान है और काम, क्रोध, लोभ, मोह सबको जानता है। उसका लक्षण इन्द्रियों का विषय नहीं; क्योंकि वह अनिर्वचनीय पद को प्राप्त हुआ है। हे राम ! जिसको ज्ञान प्राप्त होता है, उसका चित्त स्वाभाविक ही विषयों से विरत होता है। वह इन्द्रियजित् होता है-उसकी भोगों की इच्छा निवृत्त हो जाती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ज्ञानिलक्षणविचारो नाम त्र्यधिकशततमस्सर्गः ।। १०३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मायाजाल को काटना महाकठिन है। यह आदि कलना जीव को हुई है। जो कोई इसमें सत्बुद्धि करता है, वह जैसे पखेरू जाल में फँसा हुआ निकल नहीं सकता, वैसे ही अनात्म अभिमान से निकल नहीं सकता। हे राम ! फिर मेरे वचन सुनो; क्योंकि जैसे मेघ का शब्द मोर को प्रिय लगता है, वैसे ही मेरे वचन तुमको प्रिय लगते हैं। मैं भी तुम्हारे हित के निमित्त कहता और उपदेश करता हूँ। रघुकुल का ऐसा गुरु कोई नहीं हुआ, जो शिष्य का संशय निवृत्त न करे। हे राम ! मेरा शिष्य भी ऐसा कोई नहीं हुआ, जो मेरे उपदेश से न जगा हो। इस निमित्त मैं तप, ध्यान आदिक को भी त्यागकर तुम्हें जगाऊँगा-इससे मैं तुमको उपदेश करता हूँ। हे राम ! शुद्ध आत्मा में जो अहंभाव हुआ है, और जो कुछ अहंकार से भासित होता है वह मिथ्या है, इसमें कुछ सत् नहीं। जो इसका साक्षीभूत ज्ञानरूप है, वह सत्य है, उसका कदापि नाश नहीं होता। जो वस्तु वस्तु स्फुरण से उपजी हैं, वे सब नाशवान् हैं, यह बात बालक भी जानते हैं। जो सत्य है; वह असत्य नहीं होता और जो

वस्तु असत् है, वह सत् नहीं होता। जैसे रेत से घृत निकलना असत् है, अर्थात् कदापि नहीं निकलता। जैसे एक मेढक के लाख कण करिये अथवा शिला पर घिसिये, पर जब उस पर वर्षा होती है, तब सब कण मेढक हो जाते हैं। हे राम ! तो वे मेढक तब उत्पन्न हुए जब उनमें सत्यता थी। इससे सत्य का कदापि नाश नहीं होता और असत्य का सद्भाव कभी नहीं होता।

हे राम ! सत्ब्रह्म की भावना करो। जो ब्रह्म की भावना करता है, वह ब्रह्म ही होता है। जैसे घृत में घृत, दूध में दूध और जल में जल मिल जाता है, वैसे ही यह जीव भावना करके चिद्घन ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, और जीवसंज्ञा निवृत्त हो जाती है। जैसे अमृत के पीने से अमर होता है, वैसे ही ब्रह्म की भावना करने से ब्रह्म होता है। जो अनात्मा की भावना करता है तो पराधीन होकर दुःख पाता है। जैसे विष के पीने से अवश्य मरता है, वैसे ही अनात्मा की भावना से अवश्य दुःख पाता है, और उसका नाश होता है, इससे आत्मभावना करो। हे राम ! जो वस्तु संकल्प से उदय होती है, वह थोड़े काल तक रहती है और जो चल वस्तु है, वह भी अवश्य नष्ट होती है। यह दृश्य आत्मा में भ्रम से सिद्ध है। जैसे मृगतृष्णा में जल, सीपी में चाँदी और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से सिद्ध है—वास्तव नहीं वैसे ही अहंकार-देह-इन्द्रियों से जो सुख प्रतीति होता है सो सब मिथ्या है। इससे दृश्य की भावना त्याग करके अपने अनुभवस्वरूप में स्थित हो। जब आत्मा में स्थित होगे, तब मोह को न प्राप्त होगे। जैसे पारस के स्पर्श से सुवर्ण हुआ ताँबा फिर ताँबा नहीं होता, वैसे ही तुम भी जब आत्मपद को जानोगे, तब फिर इस मोह को न प्राप्त होगे कि मैं हूँ यह मेरा है। अहं त्वं भाव तुम्हारा निवृत्त हो जावेगा और यह भावना न रहेगी।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! मच्छड़ और जूँ आदि जो पसीने से उत्पन्न होते हैं, वे सब कर्म से उत्पन्न होते हैं; देवता मनुष्यादिक सब कर्मों से उत्पन्न होते हैं; अथवा कर्मों के बिना भी कुछ होते हैं ? वशिष्ठजी बोले,

हे राम ! आदि परमात्मा से जो सब जीव उत्पन्न हुए हैं, वे चार प्रकार के हैं। एक तो कर्मों से उत्पन्न हुए हैं और एक कर्मों के बिना हुए हैं, एक आगे होंगे और एक अब भी उत्पन्न होते हैं। राम बोले, हे संशयरूपी हृदय के अन्धकार को निवृत्त करनेवाले सूर्य और संदेहरूपी बादलों को निवृत्त करनेवाले पवन ! कृपा करके कहिये कि कर्मों के बिना कैसे जीव उत्पन्न होते हैं और कर्मों से कैसे उत्पन्न होते हैं ? कैसे कैसे हुए हैं, कैसे होते हैं और कैसे आगे होंगे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मा चिदाकाश अपने आपमें स्थित है। जैसे अग्नि अपनी उष्णता में स्थित है, वैसे ही आत्मा अपने स्वभाव में स्थित है। वह अनन्त और अविनाशी है-उसमें स्फुरण शक्ति स्वाभाविक स्थित है। जैसे पवन में स्पन्दन शक्ति स्वाभाविक होती है और जैसे फूलों में सुगन्ध स्वाभाविक रहती है, वैसे ही आत्मा में स्फुरण शक्ति है। हे राम ! स्फुरण शक्ति आदि में उपजी तो उस शब्द की अपेक्षा से आकाश हुआ और जब स्पर्श की अपेक्षा की, तब पवन प्रकट हुआ। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्रा हुई। शुद्ध संवित् में जो आदि स्फुरण हुआ, उससे प्रथम अन्तवाहक शरीर हुए। उनका निश्चय आत्मा में रहा कि हम आत्मा हैं और सम्पूर्ण विश्व हमारा संकल्प है।

हे राम ! उनमें से कई इस प्रकार उत्पन्न होकर अन्तवाहक से फिर विदेह मुक्ति को प्राप्त हुए। जैसे जल से बरफ होकर सूर्य के तेज से शीघ्र ही फिर जल हो जाती है, वैसे ही फिर वे शीघ्र ही विदेहमुक्त हुए। कई अन्तवाहक से आधिभौतिक इस प्रकार हो गये कि जब तक अन्तवाहक में स्मरण रहा, तब तक अन्तवाहक रहे और जब स्वरूप का प्रमाद हुआ और संकल्प से जो पंचभूत रचे थे, उनमें दृढ़ निश्चय हुआ और जाना कि हम ये हैं, तब आधिभौतिक हो गये, जैसे ब्राह्मण शूद्रों के कर्म करने लगे और उसके निश्चय में हो जाय कि मेरा यही कर्म है। जैसे शीत के कारण जल से बरफ हो जाती है, वैसे ही संवित् में जब दृढ़ संकल्प हुआ, तब उन्होंने अपने को आधिभौतिक जाना। हे राम ! आदि परमात्मा से जो कर्म बिना उत्पन्न हुए हैं, उनका कोई कर्म नहीं; क्योंकि जो

अन्तवाहक में रहे, उनकी ईश्वरसंज्ञा हुई। उनके संकल्प से जीव उपजे, उनका कारण ईश्वर हुआ और आगे जीवकलना से उनका स्फुरण कर्म हुआ। आगे जैसे-जैसे कर्म संकल्प से करते हैं, वैसे-वैसे शरीर रखते हैं। हे राम ! आत्मा से जो जीव उपजे हैं, वे आदि में अकारण होते हैं। जो आज उपजे हैं वे भी और जो चिरकाल से उपजे हैं वे भी। वे पीछे कर्म-वश कारण भाव प्राप्त हुए हैं।

हे राम ! जिनका आदि स्फुरण हुआ है और स्वरूप में दृढ़ निश्चय रहा है उनकी संज्ञा पुण्य है। और जो स्वरूप को भूलकर आधिभौतिक में निश्चय करते रहे, उनकी संज्ञा घन है। हे राम ! पुण्य से घन होना सुगम है और घन से पुण्य होना कठिन है। कोई भाग्यवान् पुरुष ही यत्न करके घन से पुण्यवान् होता है। जैसे पर्वत से पत्थर गिरना सुगम है, वैसे ही पुण्य से घन होना सुगम है, और जैसे पत्थर का पर्वत पर चढ़ना कठिन है, वैसे ही घन से पुण्य होना कठिन है। कितने चिरकाल घन में बहते हैं और कितने यत्न करके शीघ्र ही पुण्यवान् होते हैं। हे राम ! जो सदा अन्तवाहक रहते हैं, उनकी संज्ञा ईश्वर है। जो अन्तवाहक को त्यागकर आधिभौतिक होते हैं, वे जीव कहाते हैं। वे परतन्त्र हैं-जैसे कर्म करते हैं वैसे ही शरीर पाते हैं। जो घन से पुण्य होते हैं, वे ज्ञानवान् हैं और उनका भी जन्म नहीं होता। अब भी जो प्रथम उत्पन्न होते हैं, वे कर्म बिना होते हैं और जब अपने स्वरूप से गिरते हैं, तब जैसा संकल्प करते हैं, वैसे ही शरीर पाते हैं। हे राम ! यह विश्व संकल्पमात्र है; इससे संकल्प का त्याग करो। इस दृश्य की आस्था न करो। हे राम ! खाना, पीना इत्यादि चेष्टाएँ करो। परन्तु उनमें अहंभाव न करो। अहंकार अज्ञान से सिद्ध हुआ है, अतएव सब दृश्य मिथ्या हैं। अहंभाव के होने से जीव दुखी होता है। इससे अहंकार से रहित चेष्टा करो।

हे राम ! बन्धन और मोक्ष का लक्षण सुनो। विषय और इन्द्रियों के संयोग से इष्ट में राग करना और अनिष्ट में द्वेष करना ही बन्धन है। जैसे जाल में पक्षी बँध जाता है। ग्राह्य-ग्राहक इन्द्रियों के साथ विषय के

सम्बन्ध से इष्ट-अनिष्ट होता है। जिसमें इन्द्रियों का संयोग होता है उसमें समबुद्धि रहे, उनके धर्म अपने में न देखे और उनका जाननेवाला जो अनुभवरूप आत्मा है उसमें साक्षीरूप होकर स्थित रहे। इस प्रकार जो इनका ग्रहण करता है, वह सदा मुक्तरूप है। जो इससे भिन्न है, वह मूर्ख जीव बन्धन में पड़ता है। तुम इस ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध से सावधान रहो। इनका सम्बन्ध ही बन्धन है, और इनसे रहित होना मुक्ति। राग-द्वेष करने वाला मन है। इस मन का त्याग करो। मन ही दुःखदायी है। जैसे कुम्हार का चक्र फिरता है और उससे बर्तन उत्पन्न होते हैं; वैसे ही मनरूप चक्र से पदार्थरूपी बर्तन उत्पन्न होते हैं। मन के स्फुरण से संसार सत्य होता है। जब फुरना निवृत्त होगा, तब कोई दुःख न रहेगा।

हे राम ! जब फुरने और न फुरने में समान होगे, तब राग-द्वेष से रहित होकर बिचारोगे। यह हो और यह न हो; इस भावना से रहित होकर चेष्टा करो। अभिलाषपूर्वक संसार में न वासना रक्खो। हे राम ! पहले जो ज्ञानवान् हुए हैं, उनको भूत की चिन्तना न थी और आगे होने की आशा भी न थी। शास्त्र के अनुसार वर्तमानकाल में वे राग-द्वेष से रहित चेष्टा करते थे। इससे तुम भी संकल्प का त्यागकर स्वरूप में स्थित होओ। हे राम ! ब्रह्मा से तृणपर्यन्त किसी पदार्थ में राग हुआ तो बन्धन है। मेरा यही आशीर्वाद है कि ब्रह्मा से तृणपर्यन्त किसी पदार्थ में तुम्हें रुचि न हो, अपने आप ही में रुचि हो। हे राम ! यह संसार मिथ्या है, इसमें कोई पदार्थ सत् नहीं है-सब मन के रचे हुए हैं। इससे मन को स्थिर करो। जैसे धोबी साबुन से वस्त्र का मैल दूर करता है, वैसे ही मन से मन को स्थिर करो। जब मन को स्वरूप में स्थिर करोगे, तब मन अपने संकल्प का आप ही नाश करेगा। जैसे दुष्ट पुरुष की जब धन से वृद्धि होती है, तब वह अपने भाई आदि के नाश का उपाय करता है, वैसे ही मन जब आत्मपद में स्थित होता है, तब अपने संकल्प को नष्ट करता है। जब तुम्हारा मन स्वरूप में स्थित होगा, तब तुम मनहीन अर्थात् संकल्प-विकल्प से रहित होगे और तुम्हारे सब दुःख नष्ट हो जावेंगे। मन के नाश बिना

सुख नहीं। हे राम ! यह मन ऐसा दुष्ट है कि जिससे उपजता है, उसी के नाश का निमित्त होता है। जैसे बाँस से अग्नि उपजकर उसी को जलाती है, वैसे ही आत्मा से उपज कर यह मन आत्मा ही को तुच्छ करता है। जैसे राजा का नौकर राजा की सत्ता पाकर राजा को ही मारकर आप राजा बन बैठता है, वैसे ही मन आत्मा की सत्ता पाकर और उसको दबाकर आप ही कर्ता-भोक्ता हो बैठा है। इससे मन का मन से नाश करो। जैसे लोहा तप कर लोहे को काटता है, वैसे ही मन से मन ही को शुद्ध करो।

हे राम ! वृक्ष, बेल, फल, फूल, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, नाग जो कुछ स्थावर-जंगम पदार्थ हैं, वे प्रथम कर्मों के बिना उत्पन्न हुए हैं। पीछे जब वे स्वरूप से गिरते हैं और घनपद को प्राप्त होते हैं, तब कर्मों से शरीर होते हैं। कर्मों का बीज अहंकार है और अहंकार में शरीर हैं। जैसे बीज से वृक्ष होता है और समय पाकर उससे फूल व फल प्रकट होते हैं, वैसे ही अहंकार से शरीर प्रकट होते हैं। और जब अहंकार नष्ट हुआ, तब कोई शरीर नहीं-केवल आत्मपद है। अहंकार है नहीं और प्रत्यक्ष दिखाई देता है, और आत्मा अच्युत है पर गिरे की तरह भासित होता है; निरवलम्ब है और अवलम्ब की नाईं दिखता है; निराकार है, पर आकार सहित लगता है; निराभास है, पर आभाससहित दिखाई देता है। इससे केवल चिन्मात्र आत्मा में स्थित होओ। यह सब चिन्मात्र रूप ही है। हे राम ! जब ऐसी भावना होती है, तब चित्त अचित्‌ हो जाता है और जब चित्त अचित्‌ हुआ, तब जगत्‌कलना मिट जाती है, केवल आत्मतत्त्व ही भासित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्माकर्मविचारो नाम चतुरधिकशततमस्सर्गः ।। १०४।।

वशिष्ठ बोले, हे राम ! इस जीव के तीन स्वरूप हैं- एक स्वरूप तो शुद्धात्मा चिदानन्द ब्रह्म है, जिससे सब प्रकट होते हैं; दूसरा अन्त वाहक पुण्यनाम है, जो आत्मा के प्रमाद से हुआ है। यद्यपि केवलपद से

उत्थान हुआ है, तो भी प्रमादी नहीं, क्योंकि उसे आत्मा का स्मरण रहा है। जब आत्मपद को भूला, तब तीसरा आधिभौतिक हुआ और पञ्चतत्त्वों को अपना रूप जानने लगा। हे राम ! जीव के ये तीन स्वरूप हैं। आत्मा के प्रमाद से जीवसंज्ञा पाता है, दुःखी और परतन्त्र होता है। इससे पाञ्चभौतिक और अन्तवाहक को त्यागकर वास्तव स्वरूप में स्थित होओ। हे राम ! ये जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर हैं, वे आत्मविचार से नष्ट हो जाते हैं। पर तीसरा जो स्वरूप है, वह सत्य है। तुम उसी में स्थित होओ। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ये तीन रूप जो तुमने जीव के कहे, उनके मध्य में नाशरूप कौन है और सत्रूप कौन है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! हाथ-पाँव से युक्त जो देह भोग से मिली हुई है, वह स्थूलरूप है। यह जीव अपने ही संकल्प से सदा इसका प्रसार करता है। चित्तरूपी देह इस स्फुरणरूप से अन्तवाहक है। वह सदा प्राणवायु के रथ पर स्थित रहता है-देह हो, चाहे न हो।

हे राम ! ये दोनों शरीर उपजते और नष्ट भी होते हैं। आदि-अन्त से रहित चिन्मात्र जो निर्विकल्प है, उसे जीव का परमरूप जानो। जो तुरीयपद है, उसी से जाग्रत् आदिक उपजे हैं और उसी में लीन होते हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! मैं तीन को जानता हूँ-एक जाग्रत् है जो निद्रा से रहित और जिसमें इन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं। दूसरा स्वप्न है। उसमें भी इन्द्रियाँ विषय को जाग्रत् की तरह संकल्प से ग्रहण करती हैं। तीसरे में इन्द्रियाँ अपने विषय से रहित होती हैं और जड़ता आती है, तब कुछ नहीं भासित होता। शिला की तरह जड़ता तमोगुणात्मक है-यह सुषुप्ति है। इन तीनों को तो मैं जानता हूँ। अब तुरीय और तुरीयातीत को कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अपना होना और न होना, दोनों को त्यागकर शेष केवल तुरीयपद रहता है। वह शान्त और निर्मलपद है। हे राम ! तुरीय जाग्रत् नहीं; क्योंकि जाग्रत् संकल्प-जाल है और उससे मनरूप इन्द्रियों में रागद्वेष होता है। तुरीय स्वप्न-अवस्था भी नहीं; क्योंकि स्वप्न भ्रमरूप

होता है—जैसे रस्सी में सर्प भासित होता है, सो और का और होता है। तुरीय सुषुप्ति भी नहीं; क्योंकि उसमें अत्यन्त जड़ता है। तुरीयावस्था चेतनरूप, उदासीन, शुद्ध और जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से रहित है। जीवन्मुक्त तुरीयपद में स्थित रहता है।

हे राम ! जो तुरीयपद में स्थित है, वह जगत् में स्थित हुआ भी शान्त है। अज्ञानी को जगत् वज्रसारवत् दृढ़ है। ज्ञानी सदा शान्तरूप है; क्योंकि वह तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। उसको न उनमें राग है, न द्वेष। वह उदासीन की तरह है। तुरीयातीतपद में वाणी की गति नहीं। जीवन्मुक्त पुरुष जब विदेहमुक्त होता है, तब इसी पद को प्राप्त होता है, जहाँ वाणी की भी गति नहीं। जब तक जीवन्मुक्त है, तब तक तुरीयपद में स्थित रहकर रागद्वेष से रहित होता है, और इन्द्रियाँ भी अपने विषय में राग-द्वेष से रहित होकर स्वाभाविक बरतती हैं। जिस पुरुष को राग-द्वेष उत्पन्न होता है, वह तुरीयपद को नहीं प्राप्त हुआ और चित्त-सहित है। जिस पुरुष को राग-द्वेष नहीं उत्पन्न होता, उसका चित् सत्पद को प्राप्त हुआ है। जिसका चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है, उसको संसार की सत्यता नहीं प्रतीत होती। वह स्वप्नवत् जगत् को देखता है। इससे तुम भी सत्पद में स्थित होकर साक्षीरूप रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे तुरीयापदविचारो नाम
पञ्चाधिकशततमस्सर्गः ।। १०५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कर्ता, कारण और कर्म, ये तीनों हों, पर तुम इनके साक्षी होओ। इनका कर्तृत्व-अभिमान तुम्हें न हो कि मैं यह करता हूँ, अथवा मैंने इसका त्याग किया है। इनसे उदासीन होकर तटस्थ रहो। इसी पर एक आख्यान कहता हूँ, उसे सुनो। तुम प्रबुद्ध हो तो भी दृढ़ बोध के निमित्त सुनो। हे राम ! एक वन में काष्ठमौन-नामक एक मुनि रहता था। एक दिन एक बधिक किसी मृग पर बाण चलाता हुआ उसके पीछे दौड़ता जाता था। जब वह आगे गया तो मृग वधिक की दृष्टि से ओझल हो गया। वधिक ने देखा कि एक तपस्वी बैठा है

तो उससे पूछा हे मुनीश्वर ! यहाँ एक मृग आया था, वह किस ओर गया ? तुमने देखा हो तो मुझसे कहो। काष्ठमौन बोले, हे वधिक ! हमको कुछ सुध नहीं, क्योंकि हम निरहंकार हैं। हमारे साथ चित्त और अहंकार, दोनों नहीं। जो तुम कहो कि इन्द्रियों की चेष्टा कैसे होती है तो जैसे सूर्य के आश्रय से लोगों की चेष्टा होती है या दीपक के आश्रय से चेष्टा होती है और सूर्य व दीपक केवल साक्षी हैं, वैसे ही हम इन्द्रियों के साक्षी हैं और इनकी चेष्टा स्वाभाविक होती है। हमको इनसे कुछ प्रयोजन नहीं।

हे वधिक ! अहंभाव करनेवाला अहंकार है। जैसे माला के भिन्न-भिन्न दाने तागे के आश्रित होते हैं और सब में एक तागा होता है, तब माला होती है, पर जब तागा टूट जाता है, तब दाने अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ दाने हैं और अहंकार तागा है। उस अहंकाररूपी तागे के टूटने से इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। जैसे राजा का नाश होने पर सेना और गोपाल के नष्ट होने पर गौवें बिखर जाती हैं और पिता के नष्ट होने पर बालक व्याकुल होते हैं, वैसे ही अहंकार के बिना इन्द्रियाँ विकल होती हैं। इनका अभिमान मुझमें कुछ नहीं। इनका अभिमानी अहंकार था, वह मेरा अभिमान नष्ट हो गया है। इन्द्रियाँ अपने अपने विषय में विचरती है। मुझको इनका न राग है, न द्वेष। हे साधो ! मुझे न जाग्रत्, न स्वप्न, न सुषुप्ति है। इन तीनों से रहित मैं तुरीयपद में स्थित हूँ। मेरा अहं-त्वं मिट गया है। मैं नहीं जानता कि मृग बायें गया या दाहिने; क्योंकि चक्षु इन्द्रिय देखने वाली है, उसमें बोलने की शक्ति नहीं। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करतीं हैं। एक इन्द्रिय को दूसरी की शक्ति नहीं; फिर तुझसे कौन कहे ? इन सबको रखनेवाला अहंकार था, जो सबको अपना जानता था। जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट होते हैं, वैसे ही अहंकार के नष्ट होने से मैं स्वच्छ, निर्मल, शान्त तुरीयपद में स्थित हूँ। इन्द्रियों का बीज अहंकार मृतक हो जाने से इन्द्रियाँ भी मृतक हो गई हैं, देखने

भर को देख पड़ती हैं। जैसे भीत पर लिखी पुतलियों से कार्य कुछ नहीं होता, वैसे ही मेरी इन्द्रियों से कुछ कार्य नहीं होता। तब तुझसे कौन कहे।

वशिष्ठजी बोले, हे रामचन्द्र ! जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा, तब वधिक समझकर उठ गया। हे राम ! तुरीयपद शान्तरूप है। वहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों का अभाव है। वह केवल अद्वैतपद है। ये जो ब्रह्म, आत्मा, चिदानन्द आदि संज्ञाएँ हैं, सो तुरीयपद में है। तुरीयातीतपद में शब्द की गति नहीं। वह अशब्द पद है। विदेह पुरुष उसी पद को प्राप्त होते हैं और जीवन्मुक्त साक्षात् करके तुरीयावस्था में विचरते हैं। वहाँ जाग्रत्, जो दीर्घ दुःख-सुख का भान है, सो नहीं; स्वप्न जो राग-द्वेष के लिये अल्पकाल है, वह भी नहीं; जड़ता या तामस अवस्था भी नहीं। तुरीयपद इन तीनों से रहित और शान्त है। उसमें कोई क्षोभ नहीं। यह जगत् उसका आभास है। जैसे समुद्र में तरंग वास्तव में कुछ नहीं, जल ही है, वैसे ही केवल तुरीयस्वरूप सत्तासमान तुम्हारा स्वरूप है। उसमें स्थित होओ। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, सिद्ध, ज्ञानी इत्यादिक स्थित है और काष्ठमौन वधिक का उपदेश करनेवाला मुनि भी तुरीयपद में स्थित था। उसकी विशेष कलना, जो भिन्न-भिन्न नामरूप को देखनेवाली थी, निवृत्त हुई थी। वह केवल सत्तासमान में स्थित था। इससे कलना को त्यागकर तुम भी तुरीयपद में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे काष्ठमौनवृत्तान्तवर्णनं नाम षडधिकशततमस्सर्गः ।। १०६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह विश्व केवल आकाशरूप हैं। पर आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मा का ही चमत्कार है। जैसे मेघ में बिजली का चमत्कार होता है, वैसे ही यह विश्वरूप चित्तकला आत्मा का चमत्कार है। हे राम ! वास्तव में सब ब्रह्म ही है, भिन्न कुछ नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह विश्व आपने ब्रह्मरूप कहा है-मेघ में बिजली की तरह यह क्षण में उपजता और क्षण में लीन होता है। पर मेघ में

बिजली दिखती है। जहाँ मेघ होता है, वहाँ बिजली भी होती है, इससे मेघ से बिजली उत्पन्न हुई तो उसका कारण मेघ है। हे मुनीश्वर ! इस चित्तस्पन्दन कला के कारण की उत्पत्ति ब्रह्म से कैसे हुई है, यह कृपा करके मुझसे समझाकर कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जो वितंडास्वरूप तुम तर्क करते हो सो कुछ नहीं-इस नष्ट-बुद्धि को त्यागो। यह तो बालक भी जानते हैं कि बिजली क्षणभंगुर है, सत्य नहीं। तुम्हारा और क्या प्रयोजन है, सो कहो। यह कारण-कार्यरूप का तर्क कैसा करते हो ? राम बोले, हे भगवन्! यह स्पन्दनकला सत्य है या असत्य ? इसका कारण कौन है, जिससे यह उठती है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब प्रकार से सर्वात्मा ही स्थित है। चित्त और चित्तस्पन्दन, यह भेदकल्पना वास्तव में कुछ नहीं। ब्रह्मा ही अपने स्वरूप में आप स्थित हैं। और सब भ्रम से भासित होते हैं। जैसे भ्रमदृष्टि से आकाश में मोती दिखते हैं और नेत्र मूँदकर खोलो तो तरुवर प्रतीति होते हैं, वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासित होता है। हे राम ! हम इस संसारसमुद्र के पार हुए हैं। हम सरीखे ज्ञानवानों के यथार्थ वचन सुनकर हृदय में धारण करो तो शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति हो। और जो मूर्खता करके मेरे वचनों को न धारण करोगे तो तुम्हारे दुःख न नष्ट होंगे और वृक्ष, तृण, बेल आदि की योनि पाओगे। हे राम ! आकाश और काल आदि सब पदार्थ कलना से सिद्ध हुए हैं-आत्मा में कोई नहीं। हे राम ! वायु से रहित जो समुद्र का चमत्कार है, उसका कारण कौन है ? दीपक में जो प्रकाश और अग्नि में उष्णता है, उस प्रकाश और उष्णता का कारण कौन है ? वायु के निस्पन्द और स्पन्द का कारण कौन है ? जैसे इनका कारण कोई नहीं, वायु का रूप ही स्पन्द निःस्पन्द है, अग्नि का रूप उष्णता है और दीपक का रूप प्रकाश है, वैसे ही कलना भी आत्मस्वरूप है-भिन्न नहीं।

हे राम ! यह कलना जो तुमको भासित होती है, उसका त्याग करो।

जब अपने आपको देखोगे, तब संशय मिट जावेंगे। जैसे जब प्रलयकाल का जल चढ़ता है, तब सब जलमय हो जाता है-कुछ जल से अलग नहीं होता, वैसे ही अपने स्वरूप को जब तुम देखोगे, तब तुमको सब आत्मा ही दिखेगा-आत्मा से भिन्न कुछ न नजर आवेगा। हे राम ! आत्मा एकरस है, सम्यक्दर्शन से ज्यों का त्यों और असम्यक्दर्शन से और का और दिखेगा। जैसे रस्सी को यथार्थ न देखिये तो सर्प का भ्रम और भय होता है, और जब ज्यों की त्यों रस्सी जान लो तब सर्प का भ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा के न जाने से जीव संसारी होता है, भयभीत होता है, अपने को जन्मता-मरता मानता है और देह के सब विकार आत्मा में जानता है। पर जब आत्मा को जानता है, तब सब भ्रम निवृत्त हो जाते हैं। जैसे नेत्रों से तारे दीखते हैं और जब नेत्र मूँद लो तो उनका आकार अन्तःकरण में भासित होता है, क्योंकि उनकी सत्यता हृदय में होती है-पर जब हृदय से उनकी सत्यता उठ जाती है, तब फिर नहीं भासित होते, वैसे ही चित्त के भ्रम से संसार हुआ है, उसको मिथ्या जानो। हे राम ! स्फुरण में जो दृढ़भावना हुई है, वही सत्य होकर मिथ्या संसार हुआ है। जब चित्त का त्याग करोगे, तब संसार की सत्यता जाती रहेगी।

रामजी बोले, हे भगवन् ! आपने जो कहा कि यह विश्व कल्पनामात्र है सो मैंने जाना कि इसी प्रकार है- वह सत्य नहीं। जैसे राजा लवण, इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र और शुक्र की कलना जब स्फुरण से दृढ़ हुई तब उन्हें स्फुरणरूप विश्व सत्य देख पड़ा और सत्य जान पड़ने लगा। हे भगवन्! यह मैं जानता हूँ कि विश्व वासना का स्फुरणमात्र है। जब स्फुरण मिट जाता है, तब उसके पीछे जो शान्तिरूप शेष रहता है, उसे अब कहिए। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अब तुम सम्यक् बोधवान् हुए हो और जो जानने योग्य है, वह तुमने जाना है। हे राम ! अध्यात्मशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि और सब दृश्य असंभव हैं, एक चिद्घन ब्रह्म अपने में आप स्थित है। हे राम ! आत्मा शुद्ध, निर्मल और विद्या-अविद्या से रहित

है। उसमें संसार का अत्यन्त अभाव है। जो कुछ शब्द आदिक संज्ञाएँ हैं, वे भी स्फुरण में हैं; आत्मा तो अनिर्वचनीयपद है। उसकी इतनी संज्ञा शास्त्रकारों ने कही हैं—शून्यवादी उसी को शून्य कहते हैं; विज्ञानवादी विज्ञानरूप कहते है; उपासनावाले उसी को ईश्वर कहते हैं। कोई कहते हैं कि आत्मा सबका कारण है, वही शेष रहता है। कोई आत्मा को सर्वशक्तिमान् कहते हैं। कोई कहते हैं कि आत्मा निःशक्त है। कोई साक्षी आत्मा और शक्ति को भिन्न मानते हैं।

हे राम ! जितने वाद हैं, वे सभी कलना से हुए हैं। कलना को मानकर ही सब वाद उठाते हैं। वास्तव में कोई वाद नहीं। आत्मा निर्वाच्यपद है। मेरा जो सिद्धान्त है, वह भी सुनो। आत्मा सब कलनाओं से अतीत है। जैसे पवन स्पन्दनशक्ति से उठता है और निःस्पन्द से ठहर जाता है—क्योंकि स्पन्दन भी पवन है और निःस्पन्द भी पवन है, इतर कुछ नहीं—वैसे ही आत्मा शुद्ध अद्वैतरूप है, और कलना भी आत्मा के आश्रय से होती है; आत्मा से भिन्न नहीं है। और जो भिन्न प्रतीत होती है, उसको मिथ्या जानकर त्यागो, और अपने निर्विकार स्वरूप में स्थित रहो। जब तुम आत्मस्वरूप में स्थित होगे, तब जितने शास्त्रों के भिन्न-भिन्न मतवाद हैं, वे कोई न रहेंगे; केवल अपना आप स्वच्छ आत्मा ही भासित होगा। हे राम ! उस निर्विकल्पपद को पाकर तुमने शान्ति पाई है। तुम असत् की तरह स्थित हुए हो; क्योंकि द्वैतकलना नहीं फुरती। हे राम ! आत्मा, ब्रह्म आदि शब्द भी उपदेश के लिए कहे हैं। आत्मा तो शब्द से अतीत है। यह सब जगत् आत्मस्वरूप है और संसाररूप विकार आत्मा में असम्यक्दर्शन से प्रतीत होते हैं। जैसे शून्य आकाश में तारे मोती सदृश भासित होते हैं, सो अविदित हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् द्वैत अविदित भासित होता हैं। इससे जगत् द्वैत की भावना त्यागकर निर्विकल्प आत्मस्वरूप में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यानाशरूपवर्णनं नाम सप्ताधिकशततमस्सर्गः।। १०७।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! देह, इन्द्रिय और कलना में सार वस्तु क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ यह अहं-त्वं आदि दृश्य जगत् है, सो सब चिन्मात्र है। जैसे समुद्र जलमात्र ही है, वैसे ही जगत् चिन्मात्र है। मनसहित षट् इन्द्रियों से जो कुछ दृश्य प्रतीत होता है, सो भ्रममात्र है। हे राम ! देह, इन्द्रिय आदि सब मिथ्या हैं; आत्मा में ये कोई नहीं हैं। चित्त के द्वारा कल्पित हैं और चित्त ही इनको देखता है। जैसे मरुस्थल में मृग को जलबुद्धि होती है तो जल के निमित्त दौड़कर दुःख पाता है, वैसे ही चित्तरूपी मृग आत्मरूपी मरुस्थल में देह-इन्द्रिय-विषयरूपी जल की कल्पना कर दौड़ता है और दुख पाता है। ये देह और इन्द्रियाँ भ्रम से भासित होते हैं। जैसे मूर्ख बालक परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है, वैसे ही मूर्ख चित्त ने देह-इन्द्रियादि की कल्पना की है। हे राम ! आत्मा शुद्ध निर्विकार है। उसमें चित्त ने भ्रम से विकार आरोपित किये हैं। जैसे भ्रान्त दृष्टि से आकाश में दो चन्द्रमा दिखते हैं, वैसे ही चित्त ने देह-इन्द्रिय आदि की कल्पना की है। पर चित्त भी सत्य नहीं है; आत्मा की सत्ता लेकर चेष्टा करता है। जैसे चुम्बक की सत्ता लेकर लोहा चेष्टा करता है, वैसे ही निर्विकार आत्मा की सत्ता लेकर चित्त नाना प्रकार के विकार की कल्पना करता है। इससे चित्त का त्याग करो, जिससे तुम्हारा विकारजाल मिट जावे।

हे राम ! देह-इन्द्रियों में सार क्या है, सो सुनो, जो कुछ संसार है, उसका सार देह है; क्योंकि सब देह के सम्बन्धी हैं। जब देह मिट जाता है, तब सम्बन्धी भी नहीं रहते। देह का सार इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का सार प्राण हैं; प्राणों का सार मन है और मन का सार बुद्धि है। बुद्धि का सार अहंकार है, अहंकार का सार जीव है, जीव का सार चिदावली है। चिदावली वासना-संयुक्त चेतना को कहते हैं। चिदावली का सार चित्त से रहित शुद्ध चैतन्य है, जिसमें सब विकल्प लय हो जाते हैं। जो शुद्ध निर्मल और चिन्मात्र ब्रह्म आत्मा है, उसमें कोई उत्थान नहीं। हे राम ! चिदावली पर्यन्त सबको त्यागकर इनका जो सार चैतन्य आत्मा है, उसमें

स्थित होओ। विश्व-कलनामात्र है, आत्मा में कुछ नहीं। यह विश्व संकल्प की दृढ़ता से सत् की तरह जान पड़ता है। पहिले भी शुक्र, लवण राजा और इन्द्र के पुत्रों के वृत्तान्त में कहा है कि संकल्प से जो उन्हें जगत् दृढ़ होकर भासित हुआ था, सो वास्तव में कुछ नहीं था। वैसे ही यह विश्व भी चित्त के फुरने में स्थित है। असम्यक्दृष्टि से अद्वैत आत्मा में दृश्य भासित होता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल जान पड़ता है, वैसे ही आत्मा में अहंकार आदिक अज्ञान से दृश्य भासित होते हैं। इससे इनको त्यागकर अपने वास्तव स्वरूप में स्थित होओ। हे राम ! एक गढ़ तुमको बताता हूँ, जिसमें किसी शत्रु की गति नहीं। उसमें स्थित होओ। हम भी उसी गढ़ में स्थित हैं; और जितने ज्ञानवान् हैं, वे उसी में स्थित होते हैं।

हे राम ! काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदिक विकार आत्मा में नहीं पाये जाते। जैसे रात्रि में दिन नहीं होता, वैसे ही विकाररूपी दिन गढ़रूपी रात्रि में नहीं पाया जाता। इससे अचिन्त्यरूप गढ़ में, जहाँ कोई फुरना नहीं और जो केवल शान्तरूप है, अहंभाव त्यागकर स्थित होओ तो अहं-त्वं भाव निवृत्त हो जावे। जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तब ज्ञानी फुरने और न फुरने में स्वरूप को समान देखता है और सम्पूर्ण जगत् उसको आत्मरूप दिखता है। इससे चिदावली से देह पर्यन्त जो अनात्म है, उसको क्रम-क्रम से त्यागो। प्रथम देह को त्यागो, फिर इन्द्रियों के अभिमान को त्यागो। इसी क्रम से सबको त्यागकर अपने वास्तवस्वरूप में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवत्वाभावप्रतिपादनं नामाष्टाधिकशततमस्सर्गः ।। १०८।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह संसार चेतनमात्र है। आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। आत्मा ही विश्वरूप होकर स्थित है। जैसे सूर्य की किरणें ही जल का आभास होती हैं, वैसे ही आत्मा का चमत्कार दृश्यरूप होकर स्थित है। जैसे संकल्प और संकल्प करनेवाला भिन्न नहीं और आकाश ही भ्रम से मोती की माला होकर भासित होता है, वैसे ही आत्मा ही

दृश्यरूप होकर भासित होता है। जैसे बीज ही वृक्ष, फूल और फल होता है, वैसे ही विश्व आत्मा ही है और दृश्यरूप होकर स्थित है। जैसे जल के तरंग जल ही हैं, वैसे ही विश्व आत्मा ही है। हे राम ! चिदावली, जीव, अहंकार, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, देह, विश्व, आकोश, काल, दिशा, पदार्थ, सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इससे विश्व को अपना स्वरूप जानो। जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य ही है, वैसे ही तुम जानो कि सब मैं ही हूँ। जो ऐसे न जान सको तो ऐसे जानो कि देह भी जड़ है और इन्द्रियों से पालित है; वह देह मैं नहीं हूँ। इन्द्रियाँ भी मैं नहीं, क्योंकि प्राण इन्द्रियों का सार है। जो प्राण न हो तो इन्द्रियाँ किसी काम की नहीं।

प्राण भी मैं नहीं; क्योंकि प्राण का सार मन है। जो मन मूर्च्छित होता है और प्राण (साँस) आते-जाते भी हैं तो भी किसी काम के नहीं। मन भी मैं नहीं; क्योंकि मन को प्रेरनेवाली बुद्धि है। जो निश्चय बुद्धि करती है, मन भी वहीं जाता है। बुद्धि भी मैं नहीं; क्योंकि बुद्धि का प्रेरक अहंकार है। अहंकार भी मैं नहीं; क्योंकि अहंकार का सार जीव है। जीव के बिना अहंकार किसी काम का नहीं। जीव भी मैं नहीं; क्योंकि जीव का सार चिदावली है। शुद्ध चित्त में चैतन्योन्मुखत्व होने को चिदावली कहते हैं। जीवसंज्ञा से प्रथम ईश्वरभाव चिदावली भी मैं नहीं; क्योंकि चिदावली का सार चिन्मात्र है और वह अद्वितीय निर्विकल्प स्वरूप है। ये सब अनात्मभ्रम से सिद्ध हुए हैं, मैं केवल शान्तरूप आत्मा हूँ। हे राम! जो तुम्हारा वास्तवस्वरूप है, वही होकर रहो। उससे भिन्न अनात्म में अहं-प्रीति को त्याग दो। तुम देह से रहित निर्विकार हो, तुममें जन्म-मरणादिक कोई विकार नहीं और तुम शान्तरूप ज्यों के त्यों स्थित हो। तुम कभी स्वरूप से और नहीं हुए-उसी स्वरूप में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सार प्रबोधनं नाम
नवाधिकशततमस्सर्गः ।। १०९।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मा चिन्मात्र से बढ़कर और सार कुछ

नहीं। उसी में स्थित रहो, जिससे सब ताप मिट जावें। हे राम ! सर्वत्र आत्मा ही स्थित है। जैसे बीज ही फल फूल होकर स्थित होता है, वैसे ही सब कुछ आत्मा में ही स्थित है। तब निषेध और त्याग किसका करिये? इतना कह वाल्मीकिजी बोले, हे शिष्य ! वशिष्ठजी के वचन सुन रामजी प्रसन्न हुए। जैसे कमल सूर्य को देखकर खिल जाता है, वैसे ही रामजी की बुद्धि वशिष्ठजी के वचनरूपी सूर्य से खिल उठी। तब वह बोले, हे भगवन् सर्वधर्मज्ञ ! आपकी कृपा से अब मैं जगा। बड़ा आश्चर्य है कि आत्मा सर्वदा अनुभवरूप और अपना रूप आप है, पर उसके प्रमाद से मैंने इतने काल तक दुःख पाया। अहंता और ममतारूपी बड़ा बोझ जो सिर पर था, उससे मैं दुखी था। जैसे किसी के सिर पर पत्थर की शिला हो और ज्येष्ठ-आषाढ़ की धूप में वह पैदल चले तो दुःख पाता है, और जो उसके सिर से कोई उस शिला को उतार ले और छाया में बैठावे तो बड़े सुख को प्राप्त होता है, वैसे ही अज्ञानरूपी धूप में अहंताममतारूपी शिला के बोझ से मैं दुखी था, आपने वचनरूपी बल से उस शिला को उतार लिया और आत्मरूपी वृक्ष की छाया में विश्राम कराया।

हे भगवन् ! अब मुझे शान्तिपद प्राप्त हुआ है और मेरे तीनों ताप मिट गये हैं। अब जो सुमेरु पर्वत का भार भी आ पड़े तो भी मुझे कोई कष्ट नहीं। अब मेरे सब संशय निवृत्त हुए हैं। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल और स्वच्छरूप होता है, वैसे ही रागद्वेषरूपी मेरा द्वन्द्व नष्ट हो गया। अब मैं अपने स्वभाव में स्थित हूँ। परन्तु एक प्रश्न है, कृपा करके उसका उत्तर दीजिये। महापुरुष बारम्बार प्रश्न करने से बुरा नहीं मानते। हे भगवन् ! आप कहते हैं कि सब ब्रह्म ही है तो शास्त्र का यह विधि-निषेध और उपदेश किसके लिए है कि यह कर्म कर्तव्य है और यह कर्म कर्तव्य नहीं।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। विश्व भी उसका चमत्कार है। जैसे समुद्र में पवन से नाना प्रकार के तरंग उठते हैं, पर जल से वे भिन्न नहीं, वैसे ही चैतन्य आत्मा में अहंभाव को लेकर

चैतन्योन्मुखत्व उपजा है। उससे देश, काल, वस्तु बन गये हैं और शास्त्र निकले हैं। फिर फुरने से उसके दो रूप—हुए हैं एक विद्या और दूसरा अविद्या। उसमें विद्यारूप जो जीव हुए हैं, वे ईश्वर कहाते हैं और जो अविद्यारूप जीव हैं, जिनको अपने स्वरूप में अहं प्रत्यय वास्तव रहा है, वे ईश्वर हैं, और जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ और जो संकल्प-विकल्प में बहते हैं, वे जीव दुःखी हैं।

हे राम ! इतनी संज्ञा फुरने में हुई है, तो भी कुछ भिन्न नहीं। जैसे एक ही रस फूल, फल और वृक्ष हुआ है, रस से भिन्न कुछ नहीं। आत्मा रस की तरह भी परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ। फुरने से ईश्वर-जीव और विद्या-अविद्या हुए हैं—आत्मा में कुछ नहीं। हे राम ! जिनका संकल्प आधिभौतिक में दृढ़ नहीं हुआ, वे जीव शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होते हैं और उनको आत्मा का साक्षात्कार भी शीघ्र ही होता है। जिनका संस्कार आधिभौतिक में दृढ़ हुआ है, वे चिरकाल में आत्मपद को प्राप्त होते हैं। आत्मपद की प्राप्ति बिना वे दुःख पाते हैं। जिनको आत्मपद की प्राप्ति होती है, वे सुखी होते हैं।

हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूप में और कुछ भेद नहीं, केवल सम्यक् और सम्यक् दर्शन का भेद है। हे राम ! विद्या भी दो प्रकार की है—एक ईश्वरवाद और दूसरा अनीश्वरवाद है। जो ईश्वरवादी हैं, वे तुरीयपद को प्राप्त होते हैं, और जो अनीश्वरवादी हैं, उनको जब ईश्वर की भावना होती है, तब वे शास्त्र और गुरु द्वारा ईश्वर को प्राप्त होते हैं। ईश्वरवादी भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो वासना का त्यागकर ईश्वरपरायण होते हैं, वे शीघ्र ही ईश्वर को प्राप्त होते हैं। आत्मा ही ईश्वर है, जो सबका अपनारूप है। दूसरे प्रकार के जीव ईश्वर को मानते हैं, पर उनकी वासना संसार की ओर होती है। वे चिरकाल में आत्मपद को प्राप्त होते हैं। अनीश्वरवादी भी दो प्रकार के हैं—एक कहते हैं कि कुछ होगा। उनको होते-होते की भावना से शास्त्र और गुरु के द्वारा आत्मपद की प्राप्ति होगी। दूसरे कहते हैं कि कुछ नहीं है। उनको चिरकाल में जब

आस्तिक भावना होगी, तब वे आत्मपद को प्राप्त होंगे। हे राम ! उनके निमित्त विधि और निषेध कहे हैं कि शुभकर्म को अंगीकार करो और अशुभ कर्म त्यागो। उससे जब अन्तःकरण शुद्ध होगा, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। जो विधि-निषेध शास्त्र न कहें तो बड़ा छोटे को खा जाय। इस निमित्त शास्त्र का दण्ड है। हे राम ! स्वरूप से किसी को उपदेश नहीं, भ्रम में उपदेश है। जिस पुरुष का भ्रम निवृत्त हुआ है, वह फिर मोह में नहीं डूबता-जैसे जल में डूबा फिर नहीं डूबता। जिसका चित्त वासना से घिरा हुआ जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा है, उसका इस संसार से निकलना कठिन है। जैसे उजाड़ के कुएँ में गिरकर निकलना कठिन होता है, वैसे ही चित्त से मिलकर संसार से निकलना कठिन होता है।

हे राम ! इस चित्त को स्थिर करो, जिससे तुम्हारे दुःख मिट जावें और सत्तासमान पद को प्राप्त होओ।

हे राम ! जिसको आत्मा का साक्षात्कार हुआ है और अनात्म में अहं-प्रत्यय निवृत्त हुआ है वह पुरुष जो कुछ करता है; उसमें नहीं बँधता। वह अपने को सदा अकर्ता देखता है। जिसको अनात्मा में अहंप्रत्यय है, वह सदा पुरुष करे तो भी कर्ता है और जो न करे तो भी कर्ता है। हे राम! जो अज्ञानी शुभ कर्म करता है वह शुभ कर्म करता हुआ स्वर्ग को प्राप्त होता है, और अशुभ कर्म करने से नरक को प्राप्त होता है। जो शुभ कर्म को त्यागता है तो भी नरक को प्राप्त होता है; क्योंकि उसे अनात्म में आत्म अभिमान रहता है। इससे बुद्धि का निग्रह करो और इन्द्रियों से चेष्टा करो। देखने, सुनने, सूँघने को मैं तुम्हें नहीं बर्जता, मैं यही कहता हूँ कि अनात्म में अभिमान को त्यागो। जब अनात्म के अभिमान को त्यागोगे, तब शान्तपद को प्राप्त होगे। तब जहाँ तुम्हारा चित्त जायगा, वहाँ आत्मा ही भासित होगा-आत्मा से भिन्न कुछ न भासित होगा। इससे चित्त को त्यागो और आत्मपद में स्थित हो। चित्त अहंभाव का नाम है। जैसे विश्व की उत्पत्ति हुई है, सो भी सुनो। शुद्ध चैतन्यमात्र में चिदावलीरूप अंहतरंग उठा है। उस चिदावलीरूप समुद्र में जीवरूपी तरंग उपजता है

और जीवरूपी समुद्र में अहंरूपी तरंग भासित हुआ है। अहंकाररूपी समुद्र में बुद्धिरूपी तरंग उपजा है। बुद्धिरूपी समुद्र में चित्तरूपी तरंग उठा है और चित्तरूपी समुद्र में संकल्परूपी तरंग उपजा है। उस संकल्परूपी समुद्र में जगत्रूपी तरंग उपजा है, और जगत्रूपी समुद्र में देहरूपी तरंग भासित हुआ है। उसके संयोग से दृश्य का ज्ञान हुआ कि यह पदार्थ है, यह नहीं है, ये ऐसे हैं। उसी से देश, काल, दिशा सब हुए हैं।

हे राम ! निदान वे सब संकल्प से हो गये हैं। अतएव आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। केवल शान्तरूप एकरस आत्मा है। उसमें नाना प्रकार के आचार रचे हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि जो नाना प्रकार की दिखती है, सो अपना ही अनुभव होता है, वैसे ही इस जगत् को भी जानो। आत्मा सर्वदा एकरस, अद्वैत, शुद्ध, परम निर्वाण, अपने आप में स्थित है। उसके फुरने से नाना प्रकार की कल्पनाएँ उदय हुई हैं। हे राम ! शुद्ध आत्मा में चिदेव संज्ञा भी संकल्प से हुई है–"चिदेव पञ्चभूतानि; चिदेव भुवनत्रयम्"। आत्मा अनिर्वाच्यपद है। उसमें वाणी की गति नहीं। वह शुद्ध शान्तरूप है। चिदेव जो स्फुरित है, उस स्फुरण से संसार हुआ सा स्थित है। जैसे एक ही बीज ने वृक्ष, फूल, फल आदि संज्ञाएँ पाई हैं, पर वह बीज से भिन्न कुछ नहीं। पर आत्मा बीज की तरह भी नहीं, संकल्प से ही नाना संज्ञाएँ हुई हैं और जगत् स्थित है। तो भी आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे वायु चलती है तो भी वायु है और ठहरती है तो भी वायु है, वैसे ही आत्मा में नानात्व कुछ नहीं, वह केवल शुद्ध अद्वैत है। आत्मरूपी समुद्र में नाना प्रकार के विश्वरूपी तरंग स्थित हैं। हे राम ! आकार भी आत्मा से भिन्न नहीं, जो आत्मा से भिन्न भासित हो, उसे मिथ्या जानो। मृगतृष्णा के जल की तरह उसे जानकर उसकी भावना त्यागो और स्वरूप की भावना करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकत्वप्रतिपादनं नामदशाधिकशततमस्सर्गः।। ११०।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मेरे वचनों को ग्रहण कर हृदय में आस्तिक भावना करो। जब सर्वत्याग करोगे,तब चित्त क्षीण हो जावेगा

और जब चित्त क्षीण हुआ तब शान्ति होगी। हे राम ! काष्ठवत् मौन होकर हृदय में सबका त्याग करो। बाहर से कर्मों को करो, पर अभिमान से रहित होकर अन्तर्मुख हो रहो। अन्तर्मुख आत्मा में स्थित होने को कहते हैं। जब आत्मा में स्थित होगे, तब विद्यमान दृश्य भी तुम्हें न भासित होगा, क्योंकि तब सब आत्मा ही प्रतीति होगा। जो तुम्हारे पास भेरी के शब्द होंगे, तो भी न सुन पड़ेंगे और जो सुगन्धि सूँघोगे तो भी नहीं मोहित करेगी। निदान जो कुछ कर्म करोगे सो तुम्हें स्पर्श न करेगा-आकाश की नाईं सबसे असंग रहोगे। हे राम ! स्वरूप से भिन्न न देख पड़े और आत्मा से भिन्न न फुरे, तुम अन्धे-गूँगे की तरह और पत्थर की शिला के समान मौन हो रहो, तब तुम्हारी चेष्टा यन्त्र की पुतली के समान अनिच्छित होगी। जैसे यन्त्र की पुतली तागे की सत्ता से चेष्टा करती है, वैसे ही तुम्हारी नीति-शक्ति से प्राणों की चेष्टा होगी। स्वाभाविक क्रिया में अभिमान से रहित होकर स्थित होओ। जो अभिमान सहित चेष्टा करता है, वह मूर्ख और असम्यक्दर्शी है। जो सम्यक्दर्शी है, उसको अनात्म शरीरादि में अभिमान नहीं होता। हे राम ! जिसको अनात्म में अभिमान नहीं और जिसका चित्त दृश्य में में लिप्त नहीं होता, वह चाहे सारी सृष्टि का संहार करे अथवा उसे उत्पन्न करे, उसको कुछ बन्धन नहीं होता; क्योंकि वह सब कर्म अभिलाषा से रहित होकर करता है।

हे राम ! समाधि में स्थित हो और जाग्रत् की तरह सब कर्म करो। तुममें सब कर्म भी दिखें तो भी उनमें सुषुप्त की तरह कोई वासना न उठे। अपने स्वरूप की समाधि रहे। समाधि भी तब कहिये, जब कोई दूसरा हो, जो इसमें स्थित हो व इसका त्याग करे। हे राम ! जहाँ एक शब्द और दो शब्द भी नहीं कह सकते, वह अद्वितीयात्मा परमार्थसत्ता है। उसमें चित्त ने नाना प्रकार के विकार कल्पित किये हैं-ज्ञानी को सब एकरस भासित होता है। ज्ञानी को ज्ञानी जानता है। जैसे सर्प के निशान को सर्प ही जानता है, वैसे ही ज्ञानी को एकरस आत्मा ही भासित होता है, सो ज्ञानी ही जानता है। मूर्ख को संकल्प से नाना प्रकार का जगत्

दिखता है, इससे संकल्प को त्यागकर अपने प्रकृत आचार में विचरो। जैसे उन्मत्त और बालक की चेष्टा स्वाभाविक होती है कि अंग हिलते हैं, वैसे ही अभिमान से रहित होकर चेष्टा करो। जैसे पत्थर की शिला जड़ होती है, वैसे ही दृश्य की भावना से ऐसे रहित हो कि जड़ की तरह कुछ न फुरे। जब ऐसे होगे, तब शान्तपद को प्राप्त होगे। हे राम ! चित्त के सम्बन्ध से क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे वसन्तऋतु में फूल उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चित्तरूपी वसन्तऋतु में दुःखरूपी फूल उत्पन्न होते हैं। जब तुम चित्त को शान्त करोगे, तब परमपद को प्राप्त होगे, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। इससे तुम असंग हो रहो। जब तुम स्थूल से स्थूल होगे, तब भी असंग रहोगे। ऐसे पद को पाकर काष्ठ-पत्थर की तरह मौन हो रहो।

हे राम ! दृश्य पदार्थ को त्यागकर जो द्रष्टा जाननेवाला है, उसमें स्थित हो। हे राम ! इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है। उनकी ओर तुम भावना मत करो कि यह सुन्दर रूप है और इसकी प्राप्ति हो। भले के प्राप्त होने की भावना मत करो। इनके जाननेवाला जो आत्मा है, उसी में स्थित रहो। जो पुरुष द्रष्टा में स्थित होता है, वह गोपद की तरह संसारसमुद्र को नाघँ जाता है। हे राम ! जो पदार्थ दिखते हैं, उनमें अपनी-अपनी सृष्टि है। वह संकल्पमात्र ही है और अपने-अपने संकल्प में स्थित है। पर सब संकल्प आत्मा के आश्रित हैं। जैसे सब पदार्थ आकाश में स्थित हैं, वैसे ही सब संकल्पों की सृष्टि आत्मा के आश्रित है। एक के संकल्प को दूसरा नहीं जानता-सृष्टि अपनी-अपनी है। जैसे समुद्र में जितने बुलबुले हैं; उनकी जल से एकता है और आकार से एकता नहीं, वैसे ही स्वरूप से सबकी एकता है और संकल्पसृष्टि अपनी-अपनी है। जो पुरुष ऐसे सोचता है कि मैं उसकी सृष्टि को जानूँ, तब जानता है।

हे राम ! आत्मा कल्पवृक्ष है; उसमें जैसी कोई भावना करता है, वैसी ही सिद्धि होती है। जब ऐसी ही भावना करके जीव स्वरूप में लगता है कि सब सृष्टि मुझे भासित हो तो भावना से वह भासित होती है। ज्ञानी ऐसी भावना नहीं करता, क्योंकि आत्मा से भिन्न वह कोई पदार्थ नहीं

जानता और जानता है कि स्वरूप से सबकी एकता है, पर संकल्परूप से एकता नहीं होती। जैसे तरंगों की एकता नहीं, पर जल की एकता है और जो एक तरंग दूसरे के साथ मिल जाती है तो उससे एकता होती है, वैसे ही एक का संकल्प भावना से दूसरे के साथ मिलता है; इससे ज्ञानी जानता है कि संकल्परूप आकार नहीं मिलते और स्वरूप से सबकी एकता है। जिसकी भावना होती है कि मैं इसकी सृष्टि को देखूँ तो वह उसके संकल्प से अपना संकल्प मिलाकर देखता है, तब उसकी सृष्टि जानता है। जैसे दो मणियों का प्रकाश भिन्न-भिन्न होता है और जब दोनों इकट्ठी एक ही स्थान में रखिये तो दोनों का प्रकाश इकट्ठा हो जाता है, वैसे ही संकल्प की एकता भावना से होती है। ज्ञानी को प्रथम संकल्प हो कि मैं उसकी सृष्टि देखूँ तो संकल्प से देखता है, पर ज्ञान के उपजने से वाञ्छा नहीं रहती।

हे राम ! इच्छा चित्त का धर्म है। जब चित्त ही नष्ट हो गया, तब इच्छा किसको रहे। जब स्वरूप का प्रमाद होता है, तब चित्तरूपी दैत्य प्रसन्न होता है कि यह मेरा आहार हुआ और मैं इसको भोजन करूँगा। हे राम ! जो पुरुष चित्त के वश हुआ है और जिसको स्वरूप की भावना नहीं हुई, उसे चित्तरूपी दैत्य जन्मरूपी वन में लिये फिरता है; उसको लील लेता है, उसका पुरुषार्थ नष्ट करता है और आत्मभावनावाली बुद्धि उत्पन्न नहीं होने देता। जैसे वृक्ष को अग्नि लगे तो फिर उसमें फल नहीं लगते, वैसे ही पुरूषार्थरूपी वृक्ष को भोगरूपी अग्नि लगी तो शुद्ध बुद्धिरूपी फल उत्पन्न नहीं होता। हे राम ! अपना चित्त आत्मा में लगाओ और फिर विषय की ओर उसे न जाने दो। यह चित्त दुष्ट है; जब इसको स्थिर करोगे, तब परम अमृत से शोभायमान होगे। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से शोभा पाता है, वैसे ही ब्रह्मलक्ष्मी से शोभित होकर परम निर्वाणपद को प्राप्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनं
नामैकादशाधिकशततमस्सर्गः ।। १११।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ज्ञान की सप्त भूमिका हैं। इनसे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जिस भूमिका में जिज्ञासु पहुँचता है, उसका लक्षण क्या है और ये सप्तभूमिका क्या हैं, कैसे प्राप्त होती हैं, सो कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये सप्तभूमिका जिस प्रकार प्राप्त होती हैं और जिस प्रकार इनसे ज्ञान प्राप्त होता है सो सुनो। हे राम! जब बालक माता के गर्भ में होता है, तब उसकी दृढ़ सुषुप्ति जड़ अवस्था होती है-जैसे ज्ञानी को होती है-परन्तु बालक में संस्कार रहता है, इससे संस्कार की सत्यता आगे होती है। जैसे बीज में अंकुर होता है, उससे आगे चलकर वृक्ष होता है; वैसे ही बालक की भावी होती है। पर ज्ञानी की भावी नहीं होती। जैसे दग्ध बीज में अंकुर नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी की भावी नहीं होती; क्योंकि वह संसार से सुषुप्त है, और स्वरूप में स्थित नहीं है। जब बालक को बाहर निकलकर कुछ काल व्यतीत होता है तब उसकी वह दृढ़ जड़ता निवृत्त हो जाती है और सुषुप्ति रहती है। कुछ काल के उपरान्त सुषुप्ति भी लय हो जाती है और चेतनता होती है। तब वह जानता है कि 'यह मैं हूँ 'ये मेरे माता पिता हैं'। तब कुलवाले उसको सिखाते हैं कि यह मीठा है; यह कड़ुवा है; यह तेरी माता है; यह तेरा पिता है; यह तेरा कुल है; इससे पाप होता है; इससे पुण्य होता है; इससे स्वर्ग मिलता है, इससे नरक पाता है; इस प्रकार यज्ञ होता है, इस प्रकार तप होता है और इस प्रकार दान करते हैं।

हे राम ! इस प्रकार कुल के उपदेश और शास्त्र के भय से वह धर्म में निरत होता और पाप का त्याग करता है। ऐसा शास्त्र के अनुसार आचरण करनेवाला पुरुष धर्मात्मा कहलाता है। वे धर्मात्मा पुरुष भी दो प्रकार के हैं-एक प्रवृत्ति की ओर है और दूसरा निवृत्ति की ओर। जो प्रवृत्ति की ओर है, वह पुण्य कर्मों से स्वर्ग के फल भोगता है और मोक्ष को उत्तम नहीं जानता, उससे संसार में जल के तृण की तरह भ्रमण करता है। कभी चिरकाल में वह इस संसार-चक्र से छुटकारा पाता है। जो निवृत्त की ओर होता है, उसको विषयभोग से वैराग्य उपजता है और वह कहता

है कि यह संसार मिथ्या है; मैं इससे तरूँ और उस पद को प्राप्त होऊँ, जहाँ क्षय और अतिशय न हो-यह संसार सर्वदा चलरूप और दुःखदायी है। हे राम ! उस पुरुष को इस क्रम से ज्ञान और विज्ञान उत्पन्न होता है। और जो पशुधर्मा मनुष्य है, उसको ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। शास्त्र के अर्थ के न जाननेवालों को पशुधर्मी कहते हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार आचरण कर अशुभ को ग्रहण करते और विचार से रहित होते हैं। मनुष्य भी दो प्रकार के हैं-एक प्रवृत्तिमार्गी और दूसरे निवृत्तिमार्गी।

जिसको शास्त्र शुभ कहे उसको ग्रहण करना और जिसे अशुभ कहे उसका त्याग करना और यह कामना करके फल के निमित्त यज्ञादिक शुभ कर्म करना कि स्वर्ग, धन, पुत्रादिक मुझे प्राप्त हों, प्रवृत्तिमार्ग है। ऐसी कामना रखकर शुभ कर्म करके जो इस प्रकार संसारसमुद्र में बहते हैं, वे चिरकाल में निवृत्ति की ओर भी आते हैं और तब स्वरूप को जान पाते हैं। निवृत्तिमार्गी वह है, जो निष्काम होकर और शुभ कर्म करके अन्तःकरण को शुद्ध करता है, उसको वैराग्य उपजता है और वह कहता है कि मुझे कर्मों से क्या है और उनके फलों से क्या है; मैं किसी प्रकार आत्मपद को प्राप्त होऊँ। वह यही विचारता है कि मैं संसार से कब मुक्त हूँगा। यह संसार मिथ्या है और मुझे भोग से क्या है ? यह भोग तो सर्प है।

हे राम ! इस प्रकार वह भोगों की निन्दा करता है; संसार से उपरत होता है; शम, दम आदिक जो ज्ञान के साधन हैं, उनका आचरण करता है; शुभ-अशुभ, देश, काल और पदार्थ को विचारता है; मर्यादा से बोलता है; संतजनों का संग करता और सत्‌शास्त्र और ब्रह्मविद्या को बारम्बार विचारता है। इस प्रकार सन्तजनों के संग से उसकी बुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला दिन-प्रतिदिन बढ़ती है, वैसे ही उसकी बुद्धि बढ़ती है और विषयों के उपरत होती है। तब वह तीर्थ, ठाकुरद्वारों आदि शुभ स्थानों को पूजता है; देह और इन्द्रियों से सन्तों की टहल करता है और सबसे मित्रता रखकर दया, सत्य और कोमलता धारणकर

बिचरता है। वह ऐसे वचन बोलता है, जिनसे सब कोई प्रसन्न हों और जो यथाशास्त्र हों। इससे भिन्न किसी को कुछ नहीं कहता। वह अज्ञानी का संग त्यागता है; स्वर्ग आदि के सुखों की कामना नहीं करता-केवल आत्मपरायण होता है; सन्तों और शास्त्रों की दृढ़भक्ति करता है और उनके अर्थों में मन लगाकर और किसी ओर चित्त नहीं लगाता। जैसे कदर्य सूम सर्वदा धन का चिन्तन करता है, वैसे ही वह सदा आत्मा का चिन्तन करता है। जो पुरुष इतने गुणों से युक्त है, उसको प्रथम भूमिका प्राप्त हुई है। वह पापरूपी सर्प को मोर के समान नष्ट करता है; सन्तजन, सत्‌शास्त्र और धर्मरूपी मेघ को गर्दन ऊँची करके देखता है और प्रसन्न होता है। इसका नाम शुभेच्छा है। उसको फिर दूसरी भूमिका प्राप्त होती है। तब जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला बढ़ती है, वैसे ही उसकी बुद्धि बढ़ती जाती है। उसका लक्षण है-सत्‌शास्त्रों और ब्रह्मविद्या को विचार कर उनमें दृढ़ भावना करना। उस विचार का कवच जो गले में डालता है, उससे शस्त्रों का कोई घाव नहीं लगता। इन्द्रियरूपी चोर के हाथ में इच्छारूपी बरछी है। वह विचाररूपी कवच पहननेवाले को नहीं लगती।

हे राम ! इन्द्रियरूपी सर्प में तृष्णारूपी विष है, उससे वह मूर्ख को मारता है। विचारवान् पुरुष इन्द्रियों के विषयों का नाश कर डालता है, सब ओर से उदासीन रहता है और दुर्जनों की संगति को बल करके त्याग करता है। जैसे गधा तृण को त्यागता है, वैसे ही वह मूर्ख की संगति को त्यागता है। उसमें सब इच्छाओं का भी त्याग होता है; परन्तु एक यह इच्छा रहती है कि दया सब पर करता है और सन्तोषवान् रहता है। उसके निषिद्धदोष स्वाभाविक रूप से जाते रहते हैं—दम्भ, गर्व, मोह, लोभ आदि स्वभावतः नष्ट हो जाते हैं। जैसे सर्प कञ्चुकी (केंचुल) को त्यागकर शोभायमान होता है, वैसे ही विचारवान् पुरुष इन्द्रियों के विषयों को त्यागकर शोभा पाता है। जो उसको क्रोध भी आता है तो क्षणमात्र रहता है, हृदय में स्थिर नहीं हो सकता। वह खाना, पीना, लेना, देना आदि कर्म

विचारपूर्वक करता है और सर्वदा शुद्धमार्ग में बिचरता है। सन्तजनों का संगकर और सत्‌शास्त्रों का अर्थ विचारकर बोध को बढ़ाता और तीर्थों के स्नान से काल व्यतीत करता है। हे राम ! यह दूसरी भूमिका है।

जब तीसरी भूमिका आती है, तब श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) के अर्थ हृदय में स्थित होते हैं और जैसे कमल पर भँवरे आकर स्थित होते हैं, वैसे ही उस पुरुष के हृदय में शुभ गुण स्थित होते हैं। तब उसे फूलों की शय्या सुखदायी नहीं लगती, वन और कन्दरा सुखदायक लगती हैं। निदान उसका वैराग्य दिन दिन बढ़ता जाता है। वह तालाबों, बावलियों और नदियों में स्नान करके शुभ स्थानों में रहता है। पत्थर की शिला पर शयन करता है। देह को तप से क्षीण करता है। धारणा से चित्त को किसी स्थान में नहीं लगाता। आत्मभावना और ध्यान करके भोगों से सर्वदा निवृत्त होता है। भोगों को अन्तवन्त विचार कर अर्थात् ये बने नहीं रहते, यह सोचकर और देह के अहंकार को उपाधि जानकर वह त्यागता है। देह को रक्त, मांस, मल आदिक से पूर्ण जानकर उसमें अहंकार को त्यागता है। उसकी निन्दा करता है और सूखे तृण की नाईं तुच्छ जानकर त्याग देता है। जैसे विष्ठासंयुक्त तृण को पशु त्यागता है, वैसे ही देह के अहंकार को वह त्यागता है और कन्दराओं में विचर कर फल-फूलों का आहार करता है, सन्तजनों की टहल करके आयु बिताता है और सदा असंग रहता है। यह तीसरी भूमिका है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रथमद्वितीयतृतीय भूमिकालक्षणविचारो नाम द्वादशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११२।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ज्ञान का यह साधन है कि ब्रह्मविद्या को विचार के उसके अर्थ की बारम्बार भावना करे और पुण्यक्रियाओं का आचरण करे। इससे भिन्न ज्ञान का कोई साधन नहीं—इसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस पुरुष को ऐसी भावना होती है, उसको यदि नाना प्रकार की सुगन्ध—अगर, चन्दन, चोये आदि और अप्सरा अनिच्छित प्राप्त हों तो उनका निरादर करता है और जो स्त्री को देखता है तो माता

समान जानता है; पराये धन को पत्थर के बट्टे समान देखकर वाञ्छा नहीं करता और सब प्राणियों पर दया करता है। जैसे अपने सुख को प्रसन्न करने वाला है और दुःख को अनिष्ट जानता है, वैसे ही और को भी अपने सदृश जानकर सुख देता है, दुःख किसी को नहीं देता। इस प्रकार वह पुण्य कर्म करता रहता है। सत्शास्त्रों के अर्थ का अभ्यास करता है और सर्वदा असंग रहता है। असंग भी दो प्रकार का है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! संग-असंग का लक्षण क्या है, इनका भेद समझाकर कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! असंग दो प्रकार का है—एक समान और दूसरा विशेष। उनका लक्षण सुनो। समान असंग यह है कि मैं कुछ नहीं करता। न मैं किसी को देता हूँ और न मुझे कोई देता है। सब ईश्वर की आज्ञा है। जिसको धन देने की इच्छा होती है उसको वह धन देता है और जिससे लेना होता है उससे लेता है; अपने अधीन कुछ नहीं। समान असंगवाला जो कुछ दान, तप, यज्ञादि करता है, वह ईश्वरार्पण करता है और अपना अभिमान कुछ नहीं करता। कहता है कि सब ईश्वर की शक्ति से होता है। इस प्रकार निराभिमान होकर वह धर्मचेष्टा में स्वाभाविक विचरता है। जो कुछ इन्द्रियों के भोग की सम्पदा है उसको आपदा जानता है, और भोगों को महाआपदारूप मानता है। सम्पदा आपदारूप है; संयोग वियोगरूप है और जितने पदार्थ हैं वे सब सन्निपातरूप हैं-विचार से नष्ट हो जाते हैं। इससे सबको वह नाशरूप जानता है।

यह संयोग-वियोग को दुःखदायी जानता है। परस्त्री को विष की बेलि समान रस से रहित जानता है और सब पदार्थों को परिणामी जानकर किसी की इच्छा नहीं करता। सम्पूर्ण विश्व का जो ईश्वर है, उसे जिसको सुख देना है, उसको वह सुख देता है और जिसको दुःख देना है उसको दुःख देता है। अपने हाथ कुछ नहीं। करने करानेवाला ईश्वर है। न मैं करता हूँ; न मैं भोक्ता हूँ; और न मैं वक्ता हूँ-सब ईश्वर की सत्ता से होता है। ऐसे निराभिमान होकर वह पुण्यकर्म करता है। यह समान असंग है। उसके वचन सुनने से श्रवण को अमृत की प्राप्ति होती है। इस

प्रकार सन्तों के मिलने और तीसरी भूमिका की प्राप्ति से जिसकी बुद्धि बढ़ी है और जो निराभिमान है, उसके उपदेश में अनुभव से तब तक अभ्यास करे, जब तक हाथ पर रक्खे आँवले की नाईं आत्मा का अनुभव साक्षात्कार प्रत्यक्ष हो। विशेष असंगवाला कहता है कि न मैं कुछ करता हूँ, न कराता हूँ; केवल आकाशरूप आत्मा हूँ। न मुझमें करना है, न कराना है। न कोई और है, न मेरा है। मैं केवल आकाशरूप अद्वैत आत्मा हूँ।

हे राम ! वह पुरुष न भीतर, न बाहर, न पदार्थ, न अपदार्थ, न जड़, न चेतन, न आकाश, न पाताल, न देश, न पृथ्वी, न मैं न मेरे को देखता है। वह निर्वास, अज, अविनाशी, सब शब्द-अर्थों से रहित, केवल शून्य आकाश में स्थित है। चित्त से रहित चेतन में जो प्रस्थित है, उसको श्रेष्ठ असंग कहते हैं। उसकी चेष्टा देख भी पड़ती है तो भी उसमें हृदय से पदार्थों की भावना का अभाव है। जैसे जल में कमल दिखता है। परन्तु जल से ऊपर ही रहता है, वैसे ही वह कर्म करता देख पड़ने पर भी असंग रहता है। उसको कोई कामना नहीं रहती कि यह हो और यह न हो; क्योंकि उसको संसार का अभाव निश्चय हुआ है और वह सब कलनाओं से रहित है। उसको आत्मा से भिन्न किसी पदार्थ की सत्ता नहीं फुरती। यह श्रेष्ठ असंग कहाता है। कार्य करने से उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और न करने में कुछ हानि नहीं होती। वह सर्वदा असंग है और संसार में कभी नहीं डूबता, क्योंकि वह तो संसारसमुद्र के पार हुआ है, उसने अनात्म में आत्मभावना त्यागी है; अहंभाव का त्याग किया है। इष्ट-अनिष्टरूप जितने पदार्थ हैं, उनके सुख-दुःख की वेदना उसे नहीं फुरती और वह सदा मौनरूप हैं। उसके लेखे धन पत्थर के समान है। यह श्रेष्ठ असंग कहाता है।

हे राम ! एक कमल है, जो अज्ञानरूपी कीचड़ से निकलकर आत्मरूपी जल में विराजता है। उसका बीज संसार की अभावना है। उस जल में तृष्णारूपी मछलियाँ हैं, जो उस कमल के चहुँ ओर फिरती हैं और

उसके साथ कुकर्म दुःखरूपी काँटे हैं। अज्ञानरूपी रात्रि से उस कमल का मुख मुँदा रहता है और विचाररूपी सूर्य का उदय होने से वह खिलता और शोभा पाता है। उसमें सुगन्ध सन्तोष है। वह हृदय के बीच लगता है। उसका फल असंग है। यह तीसरी भूमिका में उगता है। हे राम ! सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के विचार से मनुष्य सार को प्राप्त करता है और अमृत मोक्ष को पाता है। बड़ा कष्ट है कि ऐसे स्वरूप को भूलकर जीव दुखी होते हैं। इसका स्वरूप आनन्दरूप है, जो दुखों का नाश करता है और जिसमें कोई दुःख नहीं। वह इन भूमिकाओं के द्वारा प्राप्त होता है। हे राम ! यह तीसरी भूमिका ज्ञान के निकटवर्ती है और विचारवान् पुरुष इन भूमिकाओं में स्थित होकर बुद्धि को बढ़ाते हैं। जब इस प्रकार मनुष्य बोध को बढ़ाता है तो शास्त्र की युक्ति से रक्षा करता है और क्रमशः इस तीसरी भूमिका को प्राप्त होता है, जहाँ असंगता प्राप्त होती है। जैसे किसान खेती की रक्षा करके उसे बढ़ाता है, वैसे ही वह विचाररूपी जल से बुद्धि को बढ़ाता है। तब बुद्धिरूपी बेल बढ़ती है। फिर चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है और अहंकार, मोहादिक शत्रुओं से रक्षा होती है।

हे राम ! इस भूमिका को प्राप्त होकर मनुष्य ज्ञानवान् होता है। सो यह भूमिका क्रमशः प्राप्त होती है, अथवा बड़े पुण्य कर्म किये हों तो फुरती है या अकस्मात् भी फुरती है। जैसे नदी के तट पर कोई आ बैठा हो और नदी के वेग से बीच में जा पड़े, वैसे ही जब पहली भूमिका प्राप्त होती है, तब बुद्धि को बढ़ाती है, और जब बुद्धिरूपी बेलि बढ़ती है, तब ज्ञानरूपी फल लगता है। जब ज्ञान उपजता है, तब उसमें प्रत्यक्ष क्रिया दिखे तो भी उसका वह अभिमान नहीं करता, जैसे शुद्धमणि प्रतिबिम्ब को ग्रहण भी करती है, परन्तु उसमें कोई रंग नहीं चढ़ता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे तृतीयभूमिकाविचारो नाम त्रयोदशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११३ ।।

राम बोले, हे भगवन् ! आपने भूमिका का वर्णन किया, पर उसमें

मुझे यह संशय है कि जो भूमिका से रहित और प्रकृति के सम्मुख हैं उनको भी कदाचित् ज्ञान उपजेगा अथवा न उपजेगा ? जो एक, दो व तीन भूमिका पाकर शरीर छूटे और आत्मा का साक्षात्कार न हुआ हो और उसको स्वर्ग की कामना न हो, तो वह कौन गति पाता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पुरुष विषयी हैं, उनको ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। वे वासना करके घटीयन्त्र की तरह कभी स्वर्ग को और कभी पाताल को जाते और दुःख पाते हैं। कभी अकस्मात् काकतालीय न्याय से ही उनको सन्तों के संग और सत्शास्त्रों को सुनने की वासना फुरती है। जैसे मरुस्थल में बेलि लगना कठिन है, वैसे ही जिस पुरुष को आत्मा का प्रमाद और भोग की भावना है उसको ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। परन्तु जब अकस्मात् उसे सन्तों के संग से वैराग्य उपजता है और उसकी बुद्धि निवृत्ति की ओर आती है, तब भूमिका के द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त होता है और तभी वह मुक्त होता है।

हे राम ! अकस्मात् की यही भावना उपजे बिना जीव नाना योनियों में भ्रमता है। जिसको एक अथवा दो भूमिका प्राप्त हुई हैं और शरीर छूट गया तो वह और जन्म पाकर ज्ञान को प्राप्त होता है, उसका पिछला संस्कार जाग जाता है और दिन-दिन बढ़ता जाता है। जैसे बीज से प्रथम वृक्ष का अंकुर होता है, फिर डाल, फूल और फल से वह बढ़ता जाता है, वैसे ही उसका अभ्यास बढ़ता जाता है और ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे पहलवान कसरत कर रात्रि को सो जाता है और फिर दिन हुए उठता है तब पहलवानी का अभ्यास आप फुरता है और वह कसरत करने लगता है, अथवा जैसे कोई मार्ग चलता-चलता सो जावे और जागकर चलने लगे, वैसे ही वह फिर पूर्व के अभ्यास में लगता है। हे राम ! जिसको यह भावना होती है कि मुझे विशेषता प्राप्त हो, वह जन्म पाता है। ब्रह्म से चींटीपर्यन्त जिसको विशेष होने की कामना है, वह भी जन्म पाता है। ज्ञानी को भोगों की और विशेष प्राप्त होने की इच्छा नहीं होती। जिसको भोग की इच्छा होती है, वह भोग से अपने को विशेष जानता है और

अनिष्ट की निवृत्ति की इच्छा करता है। ज्ञानी को कोई वासना नहीं होती कि यह विशेषता मुझे प्राप्त हो, इसी से वह फिर जन्म नहीं पाता। जैसे भुना बीज नहीं उगता, वैसे ही वासना से रहित ज्ञानी जन्म नहीं पाता।

हे राम ! जन्म का कारण वासना है। जैसी-जैसी वासना होती है, वैसी-वैसी अवस्था को जीव प्राप्त होता है। वासना नाना प्रकार की हैं। जब शरीर छूटने का समय आता है, तब जो वासना प्रबल दृढ़ होती है और जिसका सर्वदा अभ्यास होता है, वही अन्तकाल में दिखाई देती है, चाहे वह पाठ की, तप की, कर्म की, देवता इत्यादिक की हो, सबको दबाकर वही उस समय उठती है। हे राम ! उस समय जो सामने पदार्थ होते हैं, वे भी नहीं भासित होते; पाँचों इन्द्रियों के विषय विद्यमान हों तो भी नहीं भासित होते; वही पदार्थ भासित होता है, जिसका दृढ़ अभ्यास किया हुआ होता है। वासनाएँ तो अनेक होती हैं, परन्तु जैसी वासना दृढ़ होती है, उसी के अनुसार शरीर धारण करता है। जब देह छूटती है, तब मुहूर्तपर्यन्त सुषुप्ति की नाईं जड़ता रहती है, उसके उपरान्त चेतनता होती है। तब जीव वासना के अनुसार शरीर देखता है और जानता है कि यह मेरा शरीर है; मैं उत्पन्न हुआ हूँ। कोई ऐसे होते हैं कि उसी क्षण में युग का अनुभव करते हैं। कोई ऐसे होते हैं कि चिरकाल पर्यन्त जड़ रहते हैं, तब उनको चेतनता फुरती है, और उसके अनुसार संसार भ्रम देखते हैं। और कोई, जो संस्कारवान् होते हैं, उनको शीघ्र ही एक क्षण में चेतनता होती है और वे जानते हैं कि हम उस जगह मरे थे और इस जगह जन्में हैं; यह हमारी माता है, यह पिता है और यह कुल है।

इस प्रकार एक मुहूर्त में जागकर वे देखते हैं और बड़े कुल को देखते हैं। इसी प्रकार वे परलोक और यमराज के दूतों को देखते हैं और जानते हैं कि ये हमें लिये जाते हैं और हमारे पुत्रों ने पिण्ड दिये हैं, उन पिण्डों से हमारा शरीर बना है और दूत ले चले हैं। तब आगे से धर्मराज को देखते हैं और उनके निकट जाके खड़े होते हैं। पुण्य और पाप दोनों मूर्ति धारण कर उनके आगे स्थित होते हैं। तब धर्मराज अन्तर्यामी से

एक-एक का हाल पूछते हैं कि इसने क्या कर्म किये हैं ? यदि पुण्यवान् होता है तो स्वर्गभोग भोगाकर फिर योनि में डाला जाता है और जो पापी होता है तो नरक में डाल देते हैं। निदान सब प्रकार के जन्म लेने पड़ते हैं। सर्प की योनि में कहता है कि मैं सर्प हूँ। ऐसे ही जब जीव बैल, वानर, तीतर, मछली, बगला, गर्दभ, बेलि, वृक्ष इत्यादि की योनि पाता है, तो जानता है कि मैं यही हूँ। अकस्मात् काकतालीय न्याय से कभी मनुष्य शरीर पाता है तो माता के गर्भ में जानता है कि यहाँ मैंने जन्म लिया है; यह मेरी माता है, मैं पिता से उत्पन्न हुआ हूँ और यह मेरा कुल है। फिर बाहर निकलता है और बालक होता है तब जानता है कि मैं बालक हूँ। यौवन अवस्था होती है तब जानता है कि मैं जवान हूँ। फिर वृद्ध होता है तब जानता है कि मैं वृद्ध हूँ।

इस प्रकार काल बिताकर जब मरता है तो सर्प, तोता, तीतर, वानर, मच्छ, कच्छ, वृक्ष, पशु, पक्षी, देवता इत्यादिक जन्म धारण करता है। हे राम ! संसार में वह घटीयन्त्र की तरह फिरता है। कभी ऊपर और कभी नीचे को जाता है। इसी प्रकार स्वरूप के प्रमाद से जीव दुःख पाता है। हे राम ! इतना विस्तार जो तुमसे कहा है, सो बना कुछ नहीं, केवल अद्वैत आत्मा है; पर चित्त के संयोग से इतना भ्रम देखता है। वासना द्वारा विमानों को देखता है और आकाश में जाता है। जैसे पवन गन्ध को ले जाता है, वैसे ही पुर्यष्टका को साथ ले जाता है और शरीर देखता है। हे राम ! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। परन्तु चित्त के संयोग से जीव इतने भ्रम देखता है। इससे चित्त को स्थिर करो तो भ्रम मिट जायगा और आत्मतत्त्वमात्र ही शेष रहेगा। जो शुद्ध और आनन्दरूप है, उसी में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्ववासनारूपवर्णनं नाम चतुर्दशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह तो प्रवृत्तिवाले का क्रम कहा। अब निवृत्ति का क्रम सुनो। जिसको भूमिका प्राप्त हुई है और आत्मपद नहीं

प्राप्त हुआ, उसके सब पाप भस्म हो जाते हैं। जब उसका शरीर छूटता है; तब वह वासना के अनुसार शून्याकार हुआ। फिर अपने साथ शरीर देखता है और फिर बड़े परलोक को देखता है, जहाँ स्वर्ग के सुख भोगता है। फिर विमान पर चढ़कर लोकपालों के पुरों में विचरता है, जहाँ मन्द मन्द पवन चलता है, सुन्दर वृक्षों की सुगन्ध है और पाँचों इन्द्रियों के रमणीय विषय हैं। देवताओं में क्रीड़ा करता है और भोगों को भोगकर संसार में उपजता है। फिर भूमिका क्रम को प्राप्त होता है। जैसे मार्ग चलता कोई सो जाय तो वह जागकर फिर चलता है, वैसे ही शरीर पाकर वह फिर भूमिका के क्रम को प्राप्त होता है और जैसी जैसी भावना दृढ़ होती है, वैसे ही वैसे भासित होता है। यह सब जगत् संकल्पमात्र है। संकल्प के अनुसार ही यह भासित होता है और वासना के अनुसार परलोक के भ्रम जन्य सुख-दुःख देखता है। वहाँ से उन्हें भोगकर फिर संसार में आ पड़ता है। इसी प्रकार संकल्प से भटकता है। फिर जब कभी आत्मा की ओर उन्मुख होता है, तब संसार का भ्रम मिट जाता है। जब तक आत्मा की ओर नहीं आता, तब तक अपने संकल्प से संसार को देखता है। प्रति जीव को अपनी अपनी सृष्टि भासित होती है। देवता, दैत्य, भूमिलोक, स्वर्ग, सब संकल्प के रचे हुए हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से लेकर तृण तक, जो कुछ संसार दिखता है, वह सब मनोमात्र है, मन के संकल्प से उदय हुआ है और असत्रूप है। जैसे मनोराज्य, गन्धर्वनगर और स्वप्नसृष्टि भ्रम है, वैसे ही यह जगत् भ्रम है। सब सृष्टि परस्पर अदृष्ट है; कहीं उदय होती दिखती है और कहीं लय हो जाती है।

जैसे मूर्ख और देश को जाता है, वैसे ही देह को त्यागकर जीव परलोक को जाता है। पर स्वरूप की स्थिति में आना जाना, अहं त्वं की कोई कल्पना नहीं है—केवल सत्तामात्र अपने आपमें स्थित है। और जगत् भी वही है। हे राम ! यह विश्व आत्मस्वरूप है। जैसे मणि में चमक का चमत्कार होता है, वैसे ही विश्व-आत्मा का चमत्कार है। जो कुछ तुमको दिखता है, सो आत्मा ही है। आत्मा के बिना आभास नहीं होता। जैसे

ईख में मधुरता और मिरचों में कड़वाहट होती है, वैसे ही आत्मा में विश्व है। जो कुछ भी देखो, सुनो, स्पर्श करो और सुगन्ध लो, उसे सब आत्मा ही जानो। अथवा जो इनको जाननेवाला अनुभवरूप है, उसमें स्थित हो इन्द्रियों को जीतकर और उनके विषयों को त्यागकर अनुभवरूप में स्थित होओ। हे राम ! यह विश्व संवित्‌रूप है और संवित् ही विश्वरूप है। जब संवित् बहिर्मुख होकर रस लेती है, तब जाग्रत् को देखती है। जब अन्तर्मुख होकर रस लेती है, तब स्वप्न होता है और जब शान्त हो जाती है तब सुषुप्ति होती। संसार को सत्य जानकर जब रस लेती है, तब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था होती है और जब संवित् से रस की सत्यता जाती रहती है, तब तुरीयपद होता है। यह पदार्थ है, या नहीं; जब यह भावना नष्ट हो, तब तुरीयपद समझो। हे राम ! यह विश्व स्फुरणमात्र है; जब स्फुरण नष्ट हो जाता है, तब विश्व देखने में नहीं आता। जैसे स्वप्न के देश, काल, पदार्थ जागने से मिथ्या होते हैं, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी मिथ्या है। जीव-जीव के प्रति जो अपनी-अपनी सृष्टि होती है, उसमें आप भी कुछ बन जाता है, इससे दुःखी होता है। जब इस अहंकार को त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो, तब विश्व कहीं नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सृष्टिनिर्वाणैकताप्रतिपादनं नाम पञ्चदशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस सृष्टि का स्वरूप संकल्पमात्र है, और संकल्प भी आकाशरूप है। आकाश और स्वर्ग में कुछ भेद नहीं; जैसे पवन और स्पन्दन में भेद नहीं होता। सृष्टि में अनेक पदार्थ हैं, परन्तु परस्पर बाधा नहीं डालते। वास्तव में विश्व भी आत्मा का चमत्कार और आत्मरूप है। जो आत्मरूप है तो राग और द्वेष किसमें कीजिये। चेतन धातु में कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं, और यह आश्चर्य है कि आत्मा में कुछ नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न संवेदन दृष्टि आती है, और नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं। हे राम ! जीव-जीव के प्रति अपनी-अपनी सृष्टि

है। एक सृष्टि ऐसी है कि उसका रूप एक-सा देख पड़ता है, परन्तु सृष्टि अपनी-अपनी है। और कई सृष्टियाँ ऐसी हैं कि भिन्न-भिन्न हैं, पर समानता से एक ही दिखती हैं। जैसे जल की बूँदें इकट्ठी होती हैं और धूल के कण भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु एक ही धूल प्रतीत होती है। जैसे नदी में नदी पड़ती है तो एक ही जल हो जाता है, वैसे ही समान अधिकरण से सब संकल्प एक ही भासित होते हैं; एक एक के साथ मिलते हैं और नहीं भी मिलते। जैसे क्षीरसमुद्र में घृत डालिये तो नहीं मिलता, वैसे ही कुछ संकल्प ऐसे हैं कि और से नहीं मिलते-जैसे सूर्य, दीपक और मणि का प्रकाश भिन्न-भिन्न दिखता है पर एक सा होता है, वैसे ही कई सृष्टियाँ एक सी भासित होती हैं और भिन्न-भिन्न भी होती हैं। हे राम! इतनी सृष्टियाँ जो मैंने तुमसे कही हैं सो सब अधिष्ठान में फुरने से कई कोटि उत्पन्न होती हैं और कई कोटि लीन हो जाती हैं। जैसे जल में तरंग और बुलबुले उठकर लीन हो जाते हैं, वैसे ही सृष्टियाँ उत्पन्न और लीन होती हैं। पर अधिष्ठान ज्यों का त्यों है; क्योंकि उससे कुछ भिन्न नहीं। ब्रह्म, आत्मा आदिक जो सब हैं, सो भी स्फुरण में हुए हैं। जब तक शब्द-अर्थ की भावना है, तब तक वे भासित होते हैं। जब भावना निवृत्त हो जायगी, तब शब्द या अर्थ कुछ न भासित होगा; केवल शुद्ध चैतन्यमात्र ही शेष रहेगा और संसार का भाव किसी जगह न होगा। जैसे पवन जब तक चलता है; तब तक जाना जाता है कि पवन है और गन्ध भी पवन ही से जानी जाती है कि सुगन्ध आई अथवा दुर्गन्ध आई, और जब पवन नहीं चलता तब उसका वेग नहीं मालूम होता और गन्ध भी नहीं ज्ञात होती, वैसे ही जब स्फुरण निवृत्त होता है, तब संसार और संसार का अर्थ, दोनों नहीं भासित होते। फुरने में जीव जीव के प्रति सृष्टि है, उस सृष्टि में सत्तासमान ब्रह्म स्थित है। वही सबका अपना रूप है-वह द्वैत भाव को कभी नहीं प्राप्त हुआ।

हे राम ! इस कारण ऐसा जानो कि आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि सब पदार्थ आत्मा ही हैं, अथवा ऐसे जानो कि सब मिथ्या हैं, इनका

साक्षी ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। उससे कुछ भिन्न नहीं और उसी ब्रह्म के अंश में अनेक सुमेरु और मन्दराचल आदिक स्थित हैं। आत्मा में अंशांशीव भी स्थूलता के निमित्त कहे हैं, वास्तव नहीं है-समझाने के लिए कहे हैं। आत्मा एकरस है। हे राम ! ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो आत्मसत्ता बिना हो। जिसको सत्य जानते हो, वह भी आत्मा है और जिसको असत्य जानते हो वह भी आत्मा है। आत्मा में जैसे सत्य फुरता है, वैसे ही असत्य भी फुरता है-फुरना दोनों का तुल्य है। जैसे मनुष्य स्वप्न में एक को सत्य और दूसरे को असत्य जानता है, वैसे ही जो इन्द्रियों के विषय होते हैं, उनको सत्य जानता है, और आकाश के फूल और शश के सींग को असत्य कहता है। ये सब अनुभव से जगे हैं, इससे अनुभवरूप हैं। ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो आत्मा में असत् नहीं। जो कुछ पदार्थ भासित होते हैं, सो सब फुरने से हुए हैं। क्या सत्य और क्या असत्य, सब मिथ्या और स्वप्न के सत् और असत् की तरह हैं। जो अनुभव से सिद्ध है सो सब सत्य है और अनुभव से भिन्न असत्य है। हे राम ! तुम गुणातीत परमात्मस्वरूप में स्थित होओ। हे राम ! ज्ञानवान् पुरुष भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों काल में सम रहता है। दसो दिशा, आकाश, जल, अग्नि आदिक सब पदार्थ उसको आत्मा ही देख पड़ते हैं-आत्मा से भिन्न कुछ नहीं जान पड़ता। ये सूर्य, चन्द्रमा और तारे सब आत्मा हैं। यह विश्व आकाशरूप, शुद्ध और निर्मल है। आकाश में आकाश स्थित है, कुछ भिन्न नहीं। जो तुम्हें भिन्न लगे, उन्हें मिथ्या जानो। वे भ्रम से सिद्ध हुए हैं, कोई सत् नहीं। पर परमार्थ से देखो तो सब आत्मा ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्वाकाशैकताप्रतिपादनं नाम षोडशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह विश्व स्वप्न के समान है। जैसे स्वप्न की सेना नाना प्रकार की दीखती है और शस्त्र चलते देख पड़ते हैं, पर आत्मा में इनका रूप देखना और मानना मिथ्या है। शब्द और अर्थ कोई

आत्मा में नहीं है। आत्मा जगत् से रहित है। पर जगत्रूप में उसका भान होता है। अहं-त्वं जो कुछ भासित होता है सो सब स्वप्नवत् है और भ्रम से सिद्ध हुआ है। जो सबका अधिष्ठान है, वह सत्य है और सब उसी में कल्पित हैं। जो अनुभव से देखिये तो सब आत्मस्वरूप हैं, और भिन्न देखिये तो कुछ नहीं। जैसे स्वप्न के देश, काल, पदार्थ सब अर्थाकार भासित होने पर भी मिथ्या हैं, वैसे ही यह विश्व भ्रम से प्रकट होता है। शब्द-अर्थ की अपेक्षा से वह और तू है और उनकी अपेक्षा से वह अहं है, वास्तव में दोनों नहीं-जो है सो आत्मा ही है। राम ने पूछा, हे भगवन्! आपने कहा कि त्वं से अहं तक और अहं से त्वं तक सब स्वप्न की सेना की तरह मिथ्या हैं और अनुभव से देखिये तो आत्मरूप है, तो बताइए हम स्वप्न सेना में हैं अथवा हमारा अहं आत्मा है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अनात्म देहादिक में यह अहंभावना करना कि मैं हूँ , स्वप्न-सेना के तुल्य है, और अधिष्ठान चिन्मात्र दृश्य और अहंकार से रहित अहंभावना करना आत्मरूप है। हे राम ! तुम आत्मरूप हो। यह विश्व सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। जो अधिष्ठानरूप से देखिये तो आत्मरूप है और जो अधिष्ठान से रहित देखिये तो मिथ्या है। वह अधिष्ठान शुद्ध, आनन्दरूप, चित्त से रहित चिन्मात्र परब्रह्म है। उसमें अज्ञान से दृश्य देख पड़ता है। जैसे असम्यक् दृष्टि से सीपी में रूपा भासित होता है, वैसे ही आत्मा में अज्ञानी दृश्य की कल्पना करते हैं।

हे राम ! दृश्य अविचार से सिद्ध है। विचार करने से कुछ वस्तु नहीं होती। पर जिसके आश्रय में वह कल्पित है वह अधिष्ठान सत्य है। जैसे सीपी के हट जाने से रूपे की बुद्धि जाती रहती है, वैसे ही आत्मविचार से विश्वबुद्धि जाती रहती है, जैसे समुद्र में पवन से तरंग-चक्र उठते और प्रत्यक्ष होते हैं, पर विचार करने से तरंग-चक्र में भी जलबुद्धि होती है, वैसे ही आत्मरूपी समुद्र में मन के उठने से विश्वरूपी तरंग चक्र उठते हैं और विचार करने से तुमको मन के उठने में भी आत्मरूप भासित होगा, विश्वरूपी तरंग-चक्र न भासित होंगे और भ्रम निवृत्त हो जायेगा।

जो वस्तु स्फुरण में उपजी है वह स्फुरण न होने पर निवृत्त हो जाती है। यह विश्व अज्ञान से उपजा है और ज्ञान से लीन हो जायगा। इससे विश्व को भ्रममात्र जानो। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि ब्रह्मा, रुद्र आदि और उत्पत्ति संहार करने तक सब विश्व भ्रममात्र है इस ज्ञान से क्या सिद्ध होता है ? यह तो प्रत्यक्ष दुःखदायक लगता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ देखते हो सो सम्यक् दृष्टि से सब आत्मरूप है—कुछ भिन्न नहीं—और असम्यक् दृष्टि से विश्व है। यह दृष्टि का भेद है। सम्यक्-असम्यक् देखने में भी अधिष्ठान ज्यों का त्यों है। जैसे अन्धकार में रस्सी सर्प जान पड़ती है और भयदायक होती है, और जो प्रकाश में देखिये तो रस्सी ही देख पड़ती है, वैसे ही जिसने आत्मा को जाना है, उसको दृश्य संसार भी आत्मरूप है। अज्ञानी को विश्व प्रतीत होता है और दुःखदायी होता है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना कर डरता है, और अपने अज्ञान से दुःख पाता है। तो अगर यथार्थ ज्ञान हो तो भय क्यों पावे ?

हे राम ! जीव अपने ही संकल्प से आप बँधता है। जैसे कुसवारी नाम का कीड़ा अपने बैठने का स्थान बनाकर आपही उसमें कैद होकर मरता है, वैसे ही अनात्मा में अहं प्रतीत करके जीव आप ही दुःख पाता है। हे राम ! जीव आप ही संसारी और आप ही ब्रह्म होता है। जब दृश्य की ओर जाता है, तब संसारी होता है और जब स्वरूप की ओर जाता है तब ब्रह्म आत्मा होता है। इससे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। जो संसारी होने की इच्छा हो तो संसारी बनो और जो ब्रह्म होने की इच्छा हो तो ब्रह्म हो जाओ। मुझसे पूछो तो दृश्य अहंकार को त्यागकर आत्मा में स्थित हो रहो। यह विश्व भ्रममात्र है, वास्तव नहीं। यही पुरुषार्थ है कि संकल्प से संकल्प को काटो। जब बाहर से अन्तर्मुख होगे, तब ब्रह्म ही भासित होगा और दृश्य की कल्पना मिट जावेगी; क्योंकि यह दृश्य आगे भी नहीं था। हे राम ! जो सत् वस्तु आत्मा है, उसका अनेक यत्नों से भी नाश नहीं होता, और जो असत्य अनात्मा है, उसके निमित्त यत्न

कीजिये तो सत् नहीं होता। जो सत्य वस्तु है, उसका कदापि अभाव नहीं, और जो असत् है, उसका भाव नहीं होता। असत् वस्तु तब तक भासित होती है, जब तक उसको भली प्रकार नहीं जाना जाता। जब विचार से देखिये, तब नष्ट हो जाती है। अविद्या के पदार्थ विद्या से नष्ट हो जाते हैं—जैसे स्वप्न का सुमेरु पर्वत सत्य हो तो जाग्रत् में भी दिखे—इससे वास्तव में वह है ही नहीं। यह संसार जो तुमको दिखता है, सो स्वरूप के ज्ञान से नष्ट हो जावेगा। हमसे पूछो तो हमको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं दिखता, सब आत्मा ही है। यह भाव भी हममें नहीं कि यह जीव अज्ञानी है, किसी प्रकार मोक्ष हो। न हमको ज्ञान से प्रयोजन है, न मोक्ष होने से प्रयोजन है, क्योंकि हमको सब आत्मा ही दिखता है।

हे राम ! जब तक चेतन है तब तक मरता और जन्म भी पाता है। जब जड़ या निर्वाण होता है, तब शान्ति को पाकर मुक्त होता है। चेतन दृश्य की ओर वासना को कहते हैं, इसी से जीव जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है। जब दृश्य के स्फुरण की ओर से जड़ सा हो जाता है, तब मुक्त होता है। इसका होना ही दुःख और न होना ही मुक्ति। अहंकार का होना बन्धन है और अहंकार का न होना मुक्ति। इससे पुरुष-प्रयत्न यही है कि अहंकार का त्याग करो और चैतन्य ब्रह्मघन अपने रूप में स्थित होओ। जिसको संसार के सत् होने की भावना है, उसको संसार ही होता है, ब्रह्म नहीं मिलता और जिसको ब्रह्मभावना हुई है, उसको ब्रह्म ही भासित होता है। हे राम ! चाहे पाताल में जाय अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी दसो दिशा, आकाश, देवताओं के स्थान में फिरे तो भी सुख न पावेगा और आत्मा का दर्शन न होगा; क्योंकि अनात्म का अहंकार करने से सुख नहीं मिलता। जब आत्मदर्शी होकर देखोगे तो सब आत्मा ही भासित होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्वविजयो नाम
सप्तदशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११७।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह संसार संकल्पमात्र और तुच्छ है।

पर्वत, नदियाँ, देश और काल सब भ्रम से सिद्ध होते हैं। जैसे निद्रादोष से स्वप्न में पर्वत, नदियाँ, देश, काल भासित होते हैं, वैसे ही अज्ञाननिद्रा से यह संसार दिखता है। हे राम ! जागकर देखो तो संसार है ही नहीं। इसका तरना महासुगम है। और सुमेरु पर्वतादिक जो भासित होते हैं, वे कमल की तरह कोमल हैं। जैसे कमल के मूँदने में कुछ यत्न नहीं होता वैसे ही ये निवृत्त होते हैं। अज्ञानियों की दृष्टि स्थूल है और उससे आकार को सब देख रहे हैं। जैसे पवन का चलना जाना जाता है, और जब वह नहीं चलता तब मूर्ख उसके अस्तित्व को नहीं जानता, वैसे ही ये प्राणी आकार को जानते हैं, और इसमें जो निराकार स्थित है, उसको नहीं जानते। जैसे पवन चलता है तो भी पवन है और ठहरता है तो भी पवन है, वैसे ही विश्व प्रकट होने पर भी आत्मा है और न फुरने में भी वही है। इससे विश्व भी आत्मरूप है, कुछ भिन्न नहीं। जो सम्यक्दर्शी हैं, उनको विश्व के फुरने न फुरने में आत्मा ही भासित होता है। जैसे स्पन्द व निःस्पन्दरूप पवन ही है, वैसे ही ज्ञानी को सर्वदा सब एकरस है, और अज्ञानी को द्वैत दिखता है। जैसे ठूँठ में बालक पिशाचबुद्धि करता है, वैसे ही अज्ञानी आत्मा में जगद्बुद्धि करता है। जैसे नेत्रदोष से आकाश में वृक्ष दिखते हैं, वैसे ही मन के स्फुरण से जगत् भासित होता है।

हे राम ! जैसे वायु का रूप कभी नहीं होता, वैसे ही जगत् का अत्यन्त अभाव है। जैसे मरुस्थल में जल का अभाव है, वैसे ही आत्मा में जगत् का अभाव है। हे राम ! सुमेरु पर्वत, आकाश, पाताल, देवता, यक्ष, राक्षस इत्यादि सहित ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड इकट्ठे करके विचाररूपी काँटे में रक्खे और पीछे आधी रत्ती डालें तो भी वे बराबर नहीं होते; क्योंकि हैं ही नहीं, अविचारसिद्ध हैं। स्वप्न के पर्वत जागने पर चावल भर भी नहीं रहते, क्योंकि हैं नहीं, भ्रममात्र हैं। हे राम ! इस संसार की भावना मूर्ख करते हैं। ऐसे जो अनात्मदर्शी पुरुष हैं, उनको ऐसे जानो, जैसे लुहार की धौंकनी से हवा निकलती है, वैसे ही उन पुरुषों की साँसे वृथा आती जाती हैं। जैसे आकाश में अँधेरी व्यर्थ उठती है वैसे ही उन

पुरुषों का जीना और अब सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। वे आत्मघाती हैं अर्थात् अपना नाश आप करते हैं। उनकी चेष्टाएँ दुःख का निमित्त हैं। हे राम! यह मन अपने अधीन है। जो दृश्य की ओर होता है तो संसार होता है और जो अन्तर्मुख होता है तो सब आत्मा ही होता है। यह संसार मिथ्या है। न सत् कहिये, न असत् कहिये। यह संसार भ्रम से हुआ है। ये जीव भूत, भविष्य और वर्तमान काल में विपरीत देखते हैं। जैसे अग्नि शीतल होती है, आकाश पाताल में पाताल आकाश में तारे पृथ्वी पर पृथ्वी आकाश के ऊपर भी होती है; बादल बिना वर्षा होती है और आकाश में हल फिरते हैं—ऐसे कौतुक मैं देखता हूँ।

हे राम ! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं; मन ही से सब कुछ होता है। जैसे मनोराज्य में होता है, वैसा ही आगे स्थित होता है और उसकी सिद्धि होती है। पर्वत पुर में भिक्षुक के समान भिक्षा माँगते फिरते हैं, ब्रह्माण्ड उड़ते फिरते हैं, बालू से तेल निकलता है, मृतक युद्ध करते हैं, मृग गाते हैं और वन नृत्य करते हैं। हे राम ! मनोराज्य से सब कुछ बनता है। चन्द्रमा की किरणों से पर्वत भस्म होते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ? ऐसे ही यह संसार भी मनोराज्य है और शीघ्र संवेग है। इस कारण जीव उसको सत् मानता है, और आगे जो बालू से तेल आदि का निकलना कहा है उसको सत् नहीं जानता; क्योंकि उसमें मृदु संवेग है; पर हैं दोनों तुल्य। हे राम ! जिनको सत् और असत् कहते हो, आत्मा में वे दोनों नहीं है। ये जो तुमको सत् पदार्थ भासित होते हैं तो अग्नि आदिक शीतल भी सत् हैं और जो ये मिथ्या भासित होते हैं तो वे भी मिथ्या हैं, केवल तीव्र और मृदु संवेग हैं। जब तीव्र संवेग दूर होता है, तब सब मिथ्या माने जाते हैं। जैसे स्वप्ने से जागा हुआ स्वप्न को मिथ्या और जाग्रत् को सत्य कहता है, पर दोनों मनोराज्य हैं। हे राम ! जितने आकार देख पड़ते हैं, उन सबको मिथ्या जानो। न तुम हो, न मैं हूँ और न यह जगत् है। परमार्थ सत्ता ज्यों की त्यों है, उसमें अहं-त्वं की भावना नहीं उठती। वह केवल शान्तरूप, आकाशरूप और निराकाररूप है। उसमें कुछ भी द्वैत नहीं—केवल

अपने रूप में स्थित है। जैसे बालक मृत्तिका के हाथी, घोड़े और मनुष्य बनाकर उनके नाम रखता है कि यह राजा है, यह हाथी है, यह घोड़ा है, सो वे सब मृत्तिका से भिन्न नहीं है, पर बालक के मन में उनके नाम भिन्न-भिन्न दृढ़ होते हैं, वैसे ही मनरूपी बालक नाना प्रकार की संज्ञाओं की कल्पना करता हैं, पर आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। इससे हे राम ! तुम किसका भय करते हो ? निर्भय रहो। तुम्हारा स्वरूप शुद्ध, निर्भय और अविद्या के कारण-कार्य से रहित है। उसी में स्थित रहो। यह संसार तुम्हारे स्फुरण में हुआ है। आत्मा न सत्य है, न असत्य, न जड़ है, न चेतन; न प्रकाश है न तम; न शून्य है, न अशून्य। शास्त्र ने जो विभाग कहे हैं कि यह जड़ है, यह चेतन है, सो इस जीव के जगाने के निमित्त कहे हैं। आत्मा में कोई वास्तव संज्ञा नहीं, केवल आत्मत्वमात्र है। इससे दृश्य की कलना त्यागकर आत्मा में स्थित हो। ब्रह्मा से स्थावर तक सब कलनामात्र हैं, इसमें क्या आस्था करना है ? संसार के दोनों भाव तुल्य हैं। स्फुरण जैसा भाव का है, वैसा ही अभाव का—स्वरूप में दोनों की तुल्यता है; और व्यवहारकाल में जैसा है; वैसा ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्वप्रमाणवर्णनं नामाष्टदशाधिकशततमस्सर्गः ।। ११८ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! भूमिका प्रसंग यहाँ चला था। उसमें जो सार आपने कहा, वह मैं समझ गया। अब भूमिकाओं का विस्तार कहिये। योगी का शरीर जब छूटता है और स्वर्ग के भोगों को भोगकर वह नीचे गिरता है तब फिर उसकी क्या अवस्था होती है, यह भी कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस योगी को भोग की वाञ्छा होती है, वह स्वर्ग में जाकर भोग भोगता है। पर यदि उसको और भी भोगने की इच्छा होती है तो वह मध्यमण्डल मनुष्यलोक में पवित्रस्थान और धनवानों के गृह में जन्म लेता है। और जो उसको भोग की वाञ्छा और नहीं होती तो ज्ञानवानों के गृह में जन्म लेता है। थोड़े काल के उपरान्त उसका पिछला संस्कार उदय होता है। उसे स्मरण कर वह आत्मा की

ओर उन्मुख होता जाता है। जैसे कोई पुरुष लिखता हुआ सो जाता है, पर जब जागता है तब उस लिखे को देखकर फिर आगे लिखता है, वैसे ही वह योगी पहले के अभ्यास को दिन-दिन बढ़ाता जाता है। वह अज्ञानी का संग नहीं करता; क्योंकि अज्ञानी भोगों की ओर उन्मुख और आत्ममार्ग से बहिर्मुख है। वह जो चुगली करनेवाले हैं, उनका संग नहीं करता। उसके सब अवगुण नष्ट हो जाते हैं और दम्भ, गर्व, राग, द्वेष, भोग की तृष्णा आदि स्वभाविक रूप से छूट जाते हैं। वह शान्ति को प्राप्त होता है। उसे कोमलता, दया आदि शुभ गुण स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं।

हे राम ! इस निश्चय को पाकर वह वर्णाश्रम के धर्म यथाशास्त्र करता हुआ संसारसमुद्र के पार के निकट प्राप्त होता है, पर पार नहीं होता, यह भेद है। यह तीसरी भूमिका है-इसके बाद फिर मोह को नहीं प्राप्त होता, जैसे चन्द्रमा की किरणें भी ताप को नहीं प्राप्त होतीं, वैसे ही तीसरी भूमिकावाला संसाररूपी गढ़े में नहीं गिरता। हे राम ! ये सप्तभूमिका ब्रह्मरूप हैं। पर इतना ही भेद है कि तीन भूमिका जाग्रत् रूप हैं; चतुर्थ स्वप्न है, पंचम सुषुप्ति है, छठी तुरीय है और सप्तम तुरीयातीत है। हे राम ! प्रथम तीन भूमिकाओं में संसार की सत्यता जान पड़ती है, इससे इन्हें जाग्रत् कहा है और पिछली चारों में संसार का अभाव है इससे वे जाग्रत् से विलक्षण हैं। जाग्रत् में घट, पट आदिक पदार्थ सत् लगते हैं कि घट घट ही है और पट पट ही है, अन्यथा नहीं; ये अपना ही अपना कार्य करते हैं, इससे अपने काल में ज्यों के त्यों हैं। इसी प्रकार सब पदार्थ हैं। तीसरी भूमिकावाला स्थावर-जंगम को जानता है, उन्हें नाम और रूप से ग्रहण करता है; पर हृदय में रागद्वेष नहीं रखता, क्योंकि विचार करके उसने इन्हें तुच्छ जाना है; पर संसार का अत्यन्त अभाव नहीं जाना, और ब्रह्मस्वरूप को भी वह नहीं जानता, क्योंकि उसको स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ। जब स्वरूप को जानेगा, तब संसार का अत्यन्त अभाव हो जायगा। इन तीनों भूमिकाओं से संसार तुच्छ लगता है पर नष्ट नहीं

होता। इनको पाकर जब शरीर छूटता है, तब और जन्म में उसको ज्ञान प्राप्त होता है, और वह दिन-दिन ज्ञानपरायण होता है।

जब बुद्धि शुद्ध होती है, तब ज्ञान उपजता है। जैसे बीज से प्रथम अंकुर होता है और फिर डाल, फूल, फल निकलते हैं, वैसे ही प्रथम भूमिका ज्ञान का बीज है, दूसरी अंकुर है, तीसरी डाल है और चतुर्थ से जो ज्ञान की प्राप्ति होती है वही फल है। प्रथम तीन भूमिकाओं वाला धर्मात्मा और पुरुषों में श्रेष्ठ होता है। उसका लक्षण यह है कि वह निरहंकार, असंग और धीर होता है। उसकी बुद्धि से विषयों की तृष्णा निवृत्त हो जाती है और वह आत्मपद की इच्छा रखता है। यह पुरुष श्रेष्ठ कहाता है; यथार्थ आचरण यथाशास्त्र करता है, शास्त्रमार्ग को कभी नहीं छोड़ता। जो शास्त्रमार्ग में मर्यादा के साथ अपने प्रकृत आचरण से विचरता है. वह पुरुष श्रेष्ठ है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! पीछे आप कह आये हैं कि जब मनुष्य शरीर छोड़ता है तब एक मुहूर्त में उसको युग व्यतीत होता है, और जन्म से मरणपर्यन्त जैसे किसी की भावना होती है वैसा आगे भासित होता है। सो एक मुहूर्त में युग कैसे भासित होता है, यह कहिये।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जगत् जो तीनों कालों सहित भासित होता है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है भिन्न कुछ नहीं-समान ही है। जैसे ईख में मिठास है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् है। जैसे तिलों में तेल और मिरचों में तीक्ष्णता है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे तिलों में तेल होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् है। कहीं सत्, कहीं असत्, कहीं जड़, कहीं चेतन, कहीं शुभ, कहीं अशुभ, कहीं नरक, कहीं मृतक, कहीं जीवित, ब्रह्मा से काष्ठपर्यन्त भाव-अभाव होता है। वह सत्-असत् से विलक्षण है। आत्मसत्ता से सब सत्य है और भिन्न देखिये तो असत्य है। हे राम ! जिनको सत्य या असत्य जानते हो, यथा पृथ्वी आदि पदार्थ सत्य और आकाश के फूल आदि असत्य हैं, वे दोनों तुल्य हैं। जो विद्यमान पदार्थ सत्य मानिये तो आकाश के फूल भी सत् मानिये। जैसे स्वप्न में कई पदार्थ

सत् और असत् भासित होते हैं, वैसे ही जाग्रत् में भासित होते हैं, पर फुरना दोनों का समान है। जैसे सत्य पदार्थों का स्फुरण हुआ है, वैसे ही असत् का भी हुआ है; स्फुरण से रहित सत्-असत् दोनों का अभाव हो जाता है। इसलिए यह विश्व भ्रम से सिद्ध हुआ है। जैसे जल में पवन से भँवर उठते हैं, वैसे ही आत्मा में स्फुरित होने से यह संसार भासित होता है, इसकी भावना त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो।

तुमने जो प्रश्न किया कि एक मुहूर्त में युग कैसे भासित होता है, उसका उत्तर सुनो। जैसे किसी पुरुष को स्वप्न देख पड़ता है तो एक क्षण में बड़ा काल बीता जान पड़ता है तथा और का और भासित होता है सो आश्चर्य तो कुछ नहीं मोह से सब कुछ उत्पन्न होता है और भ्रम से देख पड़ता है। हे राम ! जैसे पुरुष सोते में तो एक आप ही होता है, पर उसमें नाना प्रकार का जगत् भ्रम से भासित होता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीव कई भ्रम देखता है। स्वरूप के जाने बिना भ्रम का अन्त नहीं होता। इससे तुम और प्रश्न किस निमित्त करते हो ? एक चित्त को स्थिर करके देखो तो न कोई संसार प्रतीत होगा; न कोई जन्म-मरण होंगे; न कोई बन्धन है, न मोक्ष है, केवल आत्मा ही भासित होगा। जब संकल्प उठता है, तब अविद्या से अपने को बँधा जानता है, संकल्प से रहित होने पर मुक्त और विद्या से मुक्त जानता है, पर आत्मस्वरूप ज्यों का त्यों है। उसे न बन्धन है, न छुटकारा है, न विद्या है और न अविद्या-वह केवल शान्तरूप है। इससे सर्वदा सब प्रकार, सब ओर से ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं। हे राम ! जब स्वरूप की भावना होती है, तब संसार की भावना जाती रहती है। ये सब शब्द कलना में है कि यह पदार्थ है, यह नहीं है; आत्मा में यह कोई नहीं। जैसे पवन चलने और ठहरने पर एक ही है, वैसे ही विश्व चित्त का चमत्कार है। ब्रह्म से चींटी तक ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और आत्मा ही के आश्रय से शब्द फुरते हैं। पर आत्मा फुरने और न फुरने में सम है; क्योंकि उससे भिन्न दूसरा कोई नहीं है।

हे राम ! जो ब्रह्मसत्ता ही है तो आकाश क्या है, पृथ्वी क्या है, मैं क्या हूँ, यह जगत् क्या है, ये प्रश्न उठते नहीं। एक मन को स्थिर करके देखो कि ब्रह्मा से चींटी तक जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब सत् भासित हों तो प्रश्न कीजिये। इसलिए जैसे भ्रम से दूसरा चन्द्रमा दिखता है, वैसे ही जगत् भी भ्रम से भासित होता है। रूप अर्थात् दृश्य, अवलोक अर्थात् इन्द्रियाँ, मनस्कार अर्थात् मन की स्फूर्ति ये शब्द कलना में फुरे हैं। ये सब मिथ्या हैं–आत्मा में इनका अस्तित्व नहीं है। हे राम ! आकाश आदि पदार्थ भावना में स्थित हैं। जीव जैसी भावना करता है, वैसे पदार्थ सिद्ध और भासित होते हैं। जब संसार की भावना उठ जाय, तब कोई पदार्थ न भासित हो। हे राम ! सुषुप्ति में ही जब इसका अभाव हो जाता है, तो तुरीयावस्था में कैसे भान हो ? जब जीव अपने स्वरूप से गिरता है, तब उसको संसार भासित होता है और वह संसार में वासना और प्रमाद से घटीयन्त्र की तरह घूमता फिरता है। स्वरूप से उतरकर अनात्म में अभिमान करने को—मैं हूँ , मैं ही करता हूँ , इस भावना को प्रमाद कहते हैं। यही अज्ञान है जिससे दुःख मिलता है। जब अज्ञान नष्ट होगा तब संसार के शब्द–अर्थ का अभाव हो जायगा। अहंकार से संसार होता है। संसार का बीज अहंकार ही है। अहंकार अनात्मा देह में आत्म अभिमान करने को कहते हैं।

हे राम ! शुद्ध आत्मा अहंकार के उत्थान से रहित केवल शान्तरूप है। विश्व का भी वही रूप है, इस भावना में दुःख है। यह संवित् शक्ति आत्मा के आश्रय से फुरती है। जैसे तेल की बूँद जल में डालिये तो चक्र की नाईं फिरती है, वैसे ही संवेदनशक्ति आत्मा के आश्रित फुरती है। ब्रह्म एक स्वरूप है। उसका स्वभाव ऐसा है जैसे मोर का अण्डा और उसका वीर्य ही एकरूप है। अपने स्वभाव से वीर्य ही नाना प्रकार के रंग रखता है, तो भी मोर से कुछ भिन्न नहीं; वैसे ही आत्मा के संवेदन स्वभाव से नाना प्रकार का विश्व भासित होता है, परन्तु आत्मा से कुछ भिन्न नहीं—सब आत्मरूप ही है। सम्यक्दर्शी को नाना प्रकारों में एक आत्मा

ही दीखता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् दीखता है। हे राम! ब्रह्मरूपी एक शिला है, उसमें त्रिलोकीरूपी अनेक पुतलियाँ कल्पित हैं। जैसे एक शिला में शिल्पी जब पुतलियों की कल्पना करता है कि इसमें इतनी पुतलियाँ होंगी, तब वे पुतलियाँ उसके चित्त में हैं, और शिला में कुछ नहीं हुआ, वैसे ही आत्मरूपी शिला में चित्तरूपी शिल्पी जो नाना प्रकार के पदार्थरूपी पुतलियों की कल्पना करता है सो सब आत्मरूप हैं। इससे पदार्थों की भावना त्यागकर आत्मा में स्थित हो। यह संसार भी निर्वाच्य है; क्योंकि यह ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं। न कोई उपजता है, न कोई नष्ट होता है, ज्यों का त्यों आत्मा ही स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदभावप्रतिपादनं नाम शताधिकैकोनविंशतितमस्सर्गः ।। ११९ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! तो इस संसार का बीज अहंकार हुआ। इसका पिता अहंकार है तो मिथ्या संसार जो अविद्यमान ही विद्यमान लगता है सो भी भ्रमरूप हुआ ? और जो संसार भ्रमरूप है तो लोग और शास्त्र, श्रुतियाँ और स्मृतियाँ क्यों कहती हैं कि इसका शरीर पिण्ड से होता है ? और जो पिण्ड से होता है तो आप कैसे उसे भ्रम कहते हैं ? जो भ्रम है तो लोल, शास्त्र, श्रुतियाँ और स्मृतियाँ क्यों उसे पिण्ड से कहती है ? इस मेरे संशय को निवृत्त कीजिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मेरा कहना सत्य है। ब्रह्म में ब्रह्मत्व स्वभाव है और जगत् का स्वरूप भी वही है। हे राम ! आदि जो किंचन हुआ और चित्तशक्ति फुरी, वही ब्रह्मारूप हुआ और उसको पदार्थों का मनोराज्य हुआ। यह आकाश है, यह पवन है, यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, यह सत्य है, यह झूठ है इत्यादि मनोराज्य जब तक है, तब तक सब मर्यादा ऐसी ही है। फिर ब्रह्मा ने यह सोचा कि जगत् की मर्यादा के निमित्त वेद में कहूँ कि यह पदार्थ शुभ है और यह अशुभ है। हे राम ! आत्मा में कुछ द्वैत नहीं। मायारूप जगत् में मर्यादा है, तो अधः, ऊर्ध्व, नीच, ऊँच कौन कहे ? यह मर्यादा भी वेद में नीति निश्चय हुई है कि ये शुभ कर्म हैं,

इनके करने से स्वर्ग-सुख ही भोगते हैं और ये अशुभ कर्म हैं, इनके करने से नरकदुःख भोगते हैं। हे राम ! जैसे वेद में निश्चय किया है, वैसे ही जीव अपनी वासना के अनुसार भोगता है। हे राम ! यह रचित शक्ति नीति होकर ब्रह्मादिक में फुरी है। परन्तु उन देवों को सदा स्वरूप में निश्चय है, इससे वे संसार में नहीं बँधते। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ने यह वेद रचा है कि जैसा कोई कर्म करे, वैसा ही फल वे देते हैं। यह वेद सबकी नीति है।

हे राम ! जिन पुरुषों को संसार की सत्यता दृढ़ हुई है, वे शुभ अथवा अशुभ जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही शरीर को धारण करते हैं। इसमें संशय नहीं कि जो शास्त्रमर्यादा का अपनी इच्छा से उल्लंघन करते हैं, वे शरीर त्यागकर कुछ काल तक मूर्च्छित हो जाते हैं और आत्मज्ञान बिना एक मुहूर्त में जागकर बड़े नरकों को चले जाते हैं जिनको शून्यभावना हुई है कि आगे नरक-स्वर्ग कोई नहीं, और जो लोक-परलोक के भय को त्यागकर शास्त्र वाह्य आचरण करते हैं, वे मरकर पत्थर, वृक्षादिक की जड़योनि पाते हैं। चिरकाल से वासना बलवती होने के कारण वे फिर दुःख के भागी होते हैं। और जिनको आत्मभावना हुई है और संसार की भावना निवृत्त हुई है, वे शास्त्रविहित करें, अथवा शास्त्रविरुद्ध करें, उनको बन्धन नहीं होता। हे राम ! मनुष्य चित्तरूपी भूमि में निश्चयरूपी जैसा बीज बोता है, वैसा ही काल पाकर उगता है-यह निःसंशय है। इससे तुम आत्मभावनारूप बीज बोओ, समझो कि सब आत्मा ही है। ऐसी भावना करो, तब शुद्ध आत्मा ही भासित होगा और जिनको संसार का निश्चय हुआ है, उनको संसार है। हे राम ! जो पुरुष धर्मात्मा हैं, उनको उसी वासना के अनुसार भासित होता है। धर्मात्मा भी दो प्रकार के हैं-एक सकाम और दूसरे निष्काम। जो धर्म करते हैं और पापरूपी कामना सहित हैं, वे स्वर्गभोग भोगकर फिर गिरते हैं। और जो निष्काम ईश्वरार्पण कर्म करते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

यह भी संसार में मर्यादा है कि जैसा किसी को निश्चय होता है, वैसा ही वह संसार को देखता है। पिण्ड से भी शरीर होता है, क्योंकि यह भी आदि-नीति में निश्चय हुआ है। जैसे आदि-नीति में निश्चय हुआ है, वैसे ही होता है। जो पवन है सो पवन ही है और जो अग्नि है सो अग्नि ही है। इसी प्रकार कल्पपर्यन्त जैसे मनोराज्य हुआ है; वैसे ही स्थित है। जैसे जल नीचे ही को जाता है, ऊपर नहीं जाता, वैसे ही जो आदि में निश्चय हुआ है वही कल्पभर रहता है। हे राम ! जगत् व्यवहार में तो ऐसे हैं और परमार्थ से दूसरा कुछ हुआ नहीं। इस जीव ने आकाश में मिथ्या देह रची है। परमार्थ दृष्टि से केवल निराकार अद्वैत आत्मा है, शरीर इसके साथ नहीं है। इससे जगत् कैसे हो ?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पिण्डनिर्णयो नाम
शताधिकविंशतितमस्सर्गः ।। १२०।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अपने प्रश्न पर बृहस्पति और राजा बलि का एक इतिहास सुनो। जब छः कल्प व्यतीत हुए तो दूसरे परार्द्ध में राजा बलि हुआ। वह महापराक्रमी था। उस राजा बलि ने सम्पूर्ण दैत्यों और राक्षसों को जीतकर अपने वश में किया और उन पर अपनी आज्ञा चलाई। इन्द्र को भी जीतकर अपने वश में किया और उसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य ले लिया। देवताओं और किन्नरों पर उसकी आज्ञा चली और भूलोक भी उसने ले लिया। जब वह सब ले चुका, तब उसने धर्म-आचार को ग्रहण किया। एक समय सब सभा जुड़ी थी, उसमें यह चर्चा चली कि जन्म कैसे होता है और मरण कैसे होता है ? तब राजा बलि ने देवगुरु बृहस्पति से प्रश्न किया कि हे ब्राह्मण ! यह पुरुष जब मृतक होता है, तब शरीर तो भस्म हो जाता है, फिर कर्मों के फल यह कैसे भोगता है और शरीर बिना कैसे आता-जाता है, सो कहिये ?

बृहस्पति बोले, हे राजन् ! जीव के देह नहीं है। जैसे मरुस्थल में जल भासित होता है पर वास्तव में होता नहीं, वैसे ही जीव के साथ शरीर भासित होता है, पर है नहीं। जीव न जन्मता है, न मरता है, न भस्म

होता है, न दुःखी होता है। यह सदा अच्युतरूप है। पर स्वरूप के प्रमाद से अपने को दुखी जानता है कि मैं दुःख भोगता हूँ और जन्मा हूँ; इतना काल हुआ है; यह मेरी माता है; यह पिता है; मैं इनसे उपजा हूँ। फिर अपने को मृतक हुआ जानता है। हे राजन्! भ्रम से ऐसे देखता है, जैसे निद्राभ्रम से स्वप्न में देखता है, वैसे ही अज्ञान से जीव आपको मानता है। जब मृतक होता है, तब जानता है कि मेरा शरीर पिण्ड से हुआ है और अब मैं दुःख-सुख भोगूँगा। जैसे स्वप्न में आकाश होता है और वहाँ वासना से अपने साथ शरीर देखता है और सुख-दुःख भोगता है, वैसे ही मरकर जीव अपने साथ शरीर देखता है और दुःख-सुख का भागी होता है। परमार्थ से इसके साथ शरीर ही नहीं तो जन्म-मरण कैसे हों? स्वरूप से प्रमाद करके देहधारी की तरह स्थित हुआ है और उस देह से मिलकर जैसी-जैसी भावना करता है, वैसा ही फल भोगता है और वासना के अनुसार जैसी भावना होती है, वैसे ही आगे शरीर देखता है और पञ्चभौतिक संसार को देखता है, इस प्रकार भ्रमता है और अपने को जन्मता-मरता देखता है। जैसे समुद्र से तरंग उठता और मिट जाता है, वैसे ही शरीर उपजता और नष्ट होता है। शरीर के सम्बन्ध से ही उपजता और नष्ट होता जान पड़ता है। वह आश्चर्य है कि आत्मा ज्यों का त्यों स्वाभाविक स्थित है, उसमें वासना के अनुसार विश्व देखता है।

हे राजन्! विश्व इसके हृदय में स्थित है और यह भावना के अनुसार आगे देखता है। इस जीव में विश्व है, पर विश्व में जीव नहीं। जैसे तिल में तेल है पर तेल में तिल नहीं; सुवर्ण में भूषण कल्पित है, भूषण में सुवर्ण कल्पित नहीं, वैसे ही विश्व सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। सत् इस कारण नहीं कि चलरूप है स्थिर नहीं और असत् इस कारण नहीं कि विद्यमान लगता है। इससे इसकी भावना त्यागो। यह दृश्य मिथ्या है, इसका अनुभव मिथ्या है और इसका जाननेवाला अहंकारी जीव भी मिथ्या है। जैसे मरुस्थल में जल मिथ्या है, वैसे ही आत्मा में अहंकार और जीव भी मिथ्या है। हे राजन्! जब तक शास्त्रों के अर्थ में

चपलता है और वह स्थित से रहित हैं, तब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती। जब दृश्य के फुरने से अहंकार से यह जड़ सा हो जाय, तब इसको आत्मपद की प्राप्ति हो। जब तक यह जीव दृश्य की ओर फुरता है और चेतन सावधान है, तब तक यह संसार में भ्रमता है।

हे राजन् ! आत्मा न कहीं जाता है, न आता है; न जन्मता है, न मरता है। जब चैत्य और चित्त का सम्बन्ध मिट जाय तब यह आनन्दरूप ही है। चैत्य दृश्य को कहते हैं और चित्त अहंकारसंवित् का नाम है। जब दोनों का सम्बन्ध आपस में मिट जायगा, तब शेष आत्मा ही रहेगा। वह ब्रह्म आत्मा और शिवपद है, जिसमें वाणी की गति नहीं। यह अनुभव-निर्वाच्य पद है, इसी में स्थित होओ। हे राम ! जिस युक्ति से इसकी इच्छा-अनिच्छा निवृत्त हो, वही युक्ति श्रेष्ठ है। जब तक यह स्फुरण होता है कि, यह भाव है यह अभाव है, तब तक इसको जीव कहते हैं, और जब भाव-अभाव का स्फुरण मिट जाता है, तब जीवसंज्ञा भी जाती रहती है। और वह शिवपद आत्मा को प्राप्त होता है, जहाँ वाणी की गति नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बृहस्पतिबलिसंवादवर्णनं नाम शताधिकैकविंशतितमस्सर्गः ।। १२१।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार बृहस्पति ने राजा बलि से कहा था, वह तेरे प्रश्न के उत्तर निमित्त मैंने कहा है। जब तक हृदय में संसार की सत्यता है, तब तक जैसे कर्म करेगा वैसा ही शरीर धरेगा। हे राम! जिस वस्तु को चित्त देखता है, उसकी ओर अवश्य जाता है, उसका संस्कार उसके हृदय में होता है। और जिस पदार्थ को सत् जानता है, उस पदार्थ का संस्कार स्थिर हो जाता है जैसे मोर के अण्डे में शक्ति होती है और जब समय आता है तब नाना प्रकार के रंग उसमें प्रकट होते हैं, वैसे ही चित्त का संस्कार भी समय पाकर जगता है। हे राम ! चित्त अज्ञान से उपजता है। फिर बृहस्पति ने कहा, हे राजन् ! बीज पृथ्वी पर उगता है, आकाश में नहीं। जैसा बीज पृथ्वी में बोया

जाता है, वैसा ही फल होता है। यहाँ अहंरूप अपना होना ही पृथ्वी है। जीव जैसी-जैसी भावना से कर्म करता है, वैसा-वैसा चित्तरूपी शरीर पृथ्वी पर उत्पन्न होता है और फिर उसमें फल होता है। उन कर्मों के अनुसार देह रख वह सुख-दुःख भोगता है। ज्ञानवान् आकाशरूप है। आकाश में बीज कैसे उपजे ? बीज भावना से अज्ञानरूपी पृथ्वी में उगता है। बलि ने पूछा, हे देवगुरु ! आपने कहा कि जीव जीता हो अथवा मृतक, इसे अपनी भावना ही से अनुभव होता है, तो जब यह मृतक हुआ और इसकी पिण्डादिक में भावना न हुई तब फिर इसका शरीर कैसे होता है ?

बृहस्पति बोले, हे राजन् ! पिण्डदान आदिक क्रिया न हों, पर उसके हृदय में भावना हो और उसी समय किसी ने पिण्डदान किया तो भी वह जो हृदय में भावना है वही कर्मरूप है और उसी से देह भासित होती है। और जो उसके हृदय में भावना नहीं और किसी बान्धव ने इसके निमित्त पिण्डदान किया तो भी इसको देह भासित होती है, क्योंकि वह भी इसकी वासना में स्पन्दन है। हे राजन् ! जो अज्ञानी जीव हैं और जिनको अनात्म में आत्मबुद्धि है, उनके कर्म कहाँ गये ? वे जो कर्म करते हैं; वे ही उनके चित्तरूपी भूमि में उगते हैं। उनके शरीरों की क्या संख्या है ? वे वासनारूपी अनेक शरीर ज्ञान बिना स्वप्नवत् रखते हैं। बलि बोले, हे देवगुरु ! यह निश्चय करके मैंने जाना है कि जिसको निष्किंचन की भावना होती है, वह निष्किंचन पद को प्राप्त है और संसार की ओर से शिला की नाईं हो जाता है। जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही स्वरूप हो जाता है। जब संसार से पत्थर सा संवेदनरहित हो, तब मुक्त हो। बृहस्पति बोले, हे राजन् ! निष्किंचन को जब जानता है, तब जीव संसार की ओर से जड़ हो जाता है। संसार के न फुरने ही का नाम जड़त्व है। ऐसा जीव केवल सारपद में स्थित होता है। जिसे गुण डिगा न सकें, उसे जानिये कि निष्किंचन पद को प्राप्त हुआ है। वहीं निःसंदेह मुक्त है। हे राजन् ! जब तक संसार

की सत्यता चित्त में है तब तक वासना है और जब तक वासना है, तब तक संसार है। संसार के अभाव बिना शान्ति नहीं होती। स्वरूप के प्रमाद से चित्त हुआ है, चित्त से वासना हुई है और वासना से संसार हुआ है। इससे वासना का त्याग करो। जब कोई वासना न उठे, तब निष्किचनभाव हो और शान्ति मिले। हे राजन्। जिस युक्ति और क्रम से यह निष्किचनरूप हो, वही करना चाहिए। वशिष्ठजी बोले, हे राम! इस प्रकार से सुरपुर में असुरनायक को सुरगुरु ने जो पिण्डदानादि क्रिया बताई, वह मैंने तुमको सुनाई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बृहस्पतिबलिसंवादो नाम शताधिकद्वाविंशतितमस्सर्गः ।। १२२।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! चाहे जीता हो, चाहे मृतक, जो कुछ इसके चित्त के साथ छू जायगा, उसका अनुभव यह अवश्य करेगा। जैसे मोर के अण्डे में रस होता है तो वह समय पाकर विस्तार पाता है, वैसे ही इसके भीतर जो वासना का बीज है, वह चाहे प्रकट नहीं भासित होता तो भी समय पाकर विस्तृत होता है। जब तक चित्त है, तब तक संसार है और जब चित्त नष्ट होता है, तब सब भ्रम मिट जाता है। हे राम ! चित्त असत् है तो विश्व भी असत्य है। जैसे आकाश में नीलापन भ्रम से दीखता है, वैसे ही आत्मा में विश्व का भ्रम है। हे राम ! हमको न चित्त भासित होता है, न विश्व भासित होता है। मैं भी आकाश हूँ और तुम भी आकाशरूप हो। यह चित्त स्वरूप के प्रमाद से उपजता है। जैसे जहाँ काजल होता है, वहाँ श्यामता भी होती है। वैसे ही जहाँ चित्त होता है, वहाँ वासना भी होती है। जब ज्ञानरूपी अग्नि से वासना दग्ध हो तब चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है और जीवितसंज्ञा निवृत्त होती है। हे राम! चित्त के उपशम का उपाय मुझसे सुनो। उससे चित्त का निर्वाण हो जायगा। ज्ञान की जो सात भूमिकाएँ हैं, उनसे चित्त नष्ट हो जायगा। उनमें से तीन भूमिकाएँ तो मैंने तुमसे क्रम से कही हैं, और चार कहने को बाकी हैं। हे राम ! प्रथम तीन भूमिकाओं में से एक भी जिसको प्राप्त

होती है, उसको महापुरुष जानो। उसके मान और मोह निवृत्त हो जाते हैं, उसे संग दोष नहीं लगता। विचार-स्थिति से उसकी कामना नष्ट हो जाती है, राग-द्वेष नहीं रहता और वह सुख-दुख में सम रहता है। ऐसा अमूढ़ पुरुष अव्यपद को प्राप्त होता है। तीसरी भूमिका में इतने गुण प्राप्ति होते हैं और चित्त नष्ट हो जाता है। तब संसार नहीं देख पड़ता, जैसे दीपक लेकर देखिये तो अन्धकार नहीं मिलता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्ताभावप्रतिपादनं नाम शताधिकत्रयोविंशतितमस्सर्गः ।। १२३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब तृतीय भूमिका पूर्ण दृढ़ होकर दृढ़ अभ्यास से चौथी भूमिका उदय होती है, तब अज्ञान नष्ट हो जाता है और चित्त में सम्यक् ज्ञान उदय होता है। तब वह पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह शोभा पाता है। उस योगी का चित्त आदि-अन्त से रहित, निर्विभाग, चैतन्य तत्त्व में स्थित होता है और वह सबको सम देखता है। जिस योगी को चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है, उसके नाना प्रकार के भेदभाव निवृत्त हो जाते हैं और अभेद सर्व-आत्त्मभाव उदय होता है। उसको जगत् स्वप्न सा भासित होता है और इन्द्रियों का व्यवहार स्वप्नवत् हो जाता है। जैसे जिसको सुषुप्ति होती है, उसे उस काल में खाना-पीना रस से रहित हो जाता है, वैसे ही चतुर्थ भूमिकावाले का व्यवहार रस से रहित होता है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है, वैसे ही उसको आत्मा का प्रकाश उदय होता है और उसकी सब कल्पना नष्ट हो जाती है; न किसी पदार्थ में राग रहता है, न किसी में द्वेष। राग और द्वेष संसार समुद्र में डुबानेवाले हैं। इष्ट पदार्थ में न राग होता है और न अनिष्ट में द्वेष। इससे वह संसार समुद्र में गोते नहीं खाता, उसके चित्त को कोई मोहित नहीं कर सकता। हे राम ! जब तक तृतीय भूमिका होती है, तब तक उसकी जाग्रत् अवस्था होती है। जब चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है, तब जगत् स्वप्न हो जाता है। तब वह सारे जगत् को क्षणभंगुर और नाशवान् देखता है और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य की भावना का अभाव हो जाता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का लक्षण कहिये। तुरीयावस्था और तुरीयातीत पद मुझसे कहिये। गुरु शिष्य को उपदेश करते नहीं ऊबते। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तत्त्व का विस्मरण, पदार्थों की भावना और नाशवान् पदार्थों को सूत की तरह जानना ही जाग्रत् है। पदार्थों में भाव-अभाव की सत्यता और जगत् को मिथ्या भावनामात्र जानना स्वप्न कहाता है और जाग्रत् और स्वप्न जिसमें लय हो जावें, वह सुषुप्ति है। जब ज्ञान से भेद की शान्ति हो जाय और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों का अभाव हो, ऐसी निर्मल स्थिति तुरीयावस्था है। हे राम ! अज्ञानी जीव संसार को वर्षाकाल के मेघ की तरह देखते हैं; क्योंकि संसार उनको दृढ़ होकर भासित होता है। पर जिसको चतुर्थ भूमिका प्राप्त हुई है, वह संसार को शरत्काल के मेघ की तरह क्षणभंगुर देखता है। जिसको पञ्चम भूमिका प्राप्त हुई है, वह शरत्काल के मेघ नष्ट हुए की तरह देखता है। जैसे शरत् में निर्मल आकाश होता है, वैसे ही उसको निर्मल दीखता है। इन तीनों का वृत्तान्त सुनो। अज्ञानी जगत् को जाग्रत् की तरह देखता है और उसको जगत् की दृढ़ सत्यता भासित होती है, इससे उसे रागद्वेष उपजता है। चतुर्थ भूमिकावाला जगत् को ऐसे देखता है, जैसे शरत्काल का मेघ वर्षा से रहित होता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि होती है, वैसे ही उसको जगत् की सत्यता नहीं भासित होती; क्योंकि उसकी स्मृति स्वप्न की होती है। वह जगत् को स्वप्नवत् देखता है, इससे उसको राग, द्वेष नहीं उपजता।

पञ्चम भूमिका पर पहुँचनेवाला जगत् को सुषुप्ति की तरह देखता है। जैसे शरत्काल का मेघ नष्ट होकर फिर नहीं देख पड़ता, वैसे ही उसको संसार का भान नहीं होता, और उसकी चेष्टा स्वाभाविक होती है जैसे कमल स्वाभाविक ही खुलता और मुँद जाता है, वैसे ही वह कुछ यत्न नहीं करता-चेष्टा में जैसा प्रतियोगी स्वाभाविक प्राप्त होता है, वही करता है। जैसे कमल के खुलने का प्रतियोगी सूर्य जब उदय हुआ, तब कमल खुल गया, और जब मुँदने की प्रतियोगी रात्रि हुई, तब मुँद जाता है-उसको

कोई खेद नहीं, वैसे ही उस पुरुष की अहंममता से रहित स्वाभाविक चेष्टा होती है। हे राम ! अहंताममतारूप जाग्रत् से वह पुरुष सुषुप्त हो जाता है, और सम्पूर्ण भावरूप जो शब्द और अर्थ हैं, उनका उसको अभाव हो जाता है। उसका अशेष-शेष का मनन नष्ट हो जाता है। उसको पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, भला, बुरा इत्यादिक भिन्न-भिन्न पदार्थों की भावना नहीं रहती। उसकी द्वैतकलना नष्ट हो जाती है। उसे एक ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है-संसार नहीं भासित होता।

हे राम ! अहंतारूपी तिल से संसाररूपी तेज उपजता है और अहंतारूपी फूल से संसाररूपी गन्ध उपजती है। संसार का कारण अहंता ही है। जिस पुरुष की अहंता नष्ट हो जाती है, वह इन्द्रियों के इष्ट को पाकर हर्षित नहीं होता और अनिष्ट के प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करता। वह ऐसे अपने को नहीं जानता कि मैं खड़ा हूँ बैठा हूँ अथवा चलता हूँ; वह अपने को सर्वदा आकाशरूप जानता है। वह न भीतर देखता है, न बाहर देखता है; न आकाश को देखता है और न पृथ्वी को देखता है, सर्वत्र बह्म ही देखता है। उसको भिन्न कुछ नहीं दीखता। वह द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, तीनों का साक्षी रहता है। वह अहंकार का भी साक्षी, इन्द्रियों का भी साक्षी और विश्व का भी साक्षी है। इनके साथ उसका स्पर्श कभी नहीं होता। जैसे ब्राह्मण चाण्डाल को स्पर्श नहीं करता। जैसे बीज से अंकुर होता है और फिर अंकुर से डालें होती हैं, इसी प्रकार सब पदार्थों का परिणाम है। पर उनमें आकाश ज्यों का त्यों रहता है; क्योंकि उनके साथ उसका स्पर्श नहीं होता। वैसे ही वह पुरुष द्रष्टा, दर्शन, दृश्य से अतीत रहता है। जैसे मरुस्थल में जल असत् है, वैसे ही उस पुरुष की दृष्टि में त्रिपुटी असत्य है। उस पुरुष की त्रिपुटी और अहंता नष्ट हो जाती है, इससे भेदबुद्धि भी नहीं रहती। इसी से वह शान्त, निर्मल संसार से सुषुप्त, चैतन्य-घनता से पूर्ण और सर्वदा शान्तरूप रहता है। जिन नेत्रों से लोग संसार देखते हैं, उनसे वह अन्धा हुआ है—अर्थ यह कि जिस मन से फुरना होता है, उसका उसने नाश किया है। और यदि भय, क्रोध,

अहंकार, मोह इत्यादि विकार उस पुरुष में दीखते भी हैं, तो उसके हृदय को वे स्पर्श नहीं करते। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है, परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे ही उस पुरुष को कोई विकार स्पर्श नहीं करता। हे राम ! उस पुरुष के सब संशय नष्ट हो गये हैं और वह सर्वदा स्वरूप में स्थित और शान्तरूप है, आत्मा से भिन्न वह किसी सुख की वाञ्छा नहीं करता और उसके सब संकल्प मिट चुके हैं। उसे आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। वह जाग्रत् की तरह देख पड़ता है, पर सर्वदा जाग्रत् से सुषुप्त है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पञ्चमभूमिकावर्णनं नामचतुर्विंशतिशताधिकतमस्सर्गः ।। १२४।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तीसरी भूमिका पर्यन्त वह ज़ाग्रत् है और चतुर्थ भूमिका में जाग्रत् अवस्था को स्वप्नवत् देखता है। पञ्चम भूमिकावाला संसार से सुषुप्त होता है और छठी भूमिकावाला तुरीयपद में स्थित होता है और सर्वदा अक्रिय है, अर्थात् किसी क्रिया में नहीं बँधता। वह सर्वदा आनन्दरूप है। भिन्न होकर आनन्द को नहीं भोगता, आप ही आनन्दरूप है। केवल अपने आप स्वतः अपने में ही स्थित है और सर्वदा निर्वाणरूप है। हे राम ! सब कर्म वह यथाशास्त्र करता देख पड़ता है, परन्तु हृदय में शून्य है-उसका किसी से लगाव नहीं। जैसे आकाश में सब पदार्थ हैं, पर आकाश का स्पर्श किसी से नहीं, वैसे ही सब क्रिया उसमें विद्यमान देख पड़ती हैं, तो भी वह हृदय से किसी को स्पर्श नहीं करता; क्योंकि उसको कर्मबन्धन में डालनेवाला अहंकार नष्ट हो गया है-वह केवल शान्तरूप है। चिन्मात्र में अहंभाव का उत्थान ही अज्ञान है, और वही दुःखदायी है। जब अहंभाव निवृत्त होता है, तब कोई कर्म स्पर्श नहीं करता। यद्यपि उसको विश्व देख पड़ता है तो भी वास्तव में वह नहीं देखता; क्योंकि उसको सर्वत्र ब्रह्म ही भासित होता है। वह खाता है, पर नहीं खाता; देता भी है, पर कभी नहीं देता। लेता है तो भी कभी किसी से कुछ नहीं लेता। चलता है, परन्तु कभी नहीं चला।

हे राम ! जो देश-काल वस्तु पदार्थ हैं, उन सबमें वह आत्मभाव रखता है। यद्यपि उसमें प्रत्यक्ष चेष्टा दीखती है, तो भी उसके हृदय में कुछ नहीं। जैसे सपने में खाता, पीता, लेता, देता अपने को देखता है और जागे पर सबका अभाव हो जाता है, वैसे ही जो पुरुष परमार्थसत्ता में जागा है, उसको गुण व क्रिया अपने में नहीं भासित होती। वह जो करता है, उसमें अभिलाषा नहीं रखता। उसकी सब चेष्टा स्वाभाविक होती है। अपने निमित्त उसे कुछ कर्तव्य नहीं। ऐसे भगवान् ने भी कहा है कि वह सर्वत्र आत्मा को ही देखता है। आकाश, पृथ्वी, सूर्य, ब्राह्मण, हाथी, श्वान, चाण्डाल आदिक सबमें वह आत्मभाव देखता है, सब आकारों को मृगतृष्णा के जलवत् देखता है कि इनका अत्यन्त अभाव है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, भी उसको आकाशवत् भासित होते हैं और वह निर्मल आकाशवत् शान्तरूप है। अहंभाव से रहित वह केवल चिन्मात्र में स्थित है। वह ग्रहण व त्याग से अतीत सर्वकलना से रहित, निर्वाण, स्वच्छ, निर्मल आकाशरूप स्थित है। अहं-मम आदिक चिद्ग्रन्थि उसकी कट गई हैं। अनात्म में अहं अभिमान उसका नष्ट हो जाता है, वह केवल शान्तरूप हो रहता है।

जैसे क्षीरसमुद्र से मन्दराचल पर्वत निकलकर शान्तरूप हुआ, वैसे ही वह रागद्वेषरूपी क्षोभ करनेवाले अन्तःकरणरूपी समुद्र से निकल गया, तब शान्तरूप अक्षोभ्य होकर परम शोभा से शोभित होता है। जैसे विश्वकर्मा ने सूर्य का मण्डल रचा है और वह प्रकाश से शोभा पाता है, वैसे ही ज्ञानरूपी प्रकाश से वह प्रकाश पाता है। जैसे चक्र फिरता-फिरता रह जाता है और शान्त होता है, वैसे ही वह अज्ञान से फिरता-फिरता ठहरकर सदा शान्ति को प्राप्त होकर अपने आप से प्रकाशित होता है। जैसे पवन से रहित दीपक प्रकाशित होता है, वैसे ही कलनारूपी पवन से रहित पुरुष अपने आपसे प्रकाशमान होता है और सर्वदा निर्मल और एकरस रहता है। जैसे घट के भीतर और बाहर शून्य है, वैसे ही देह के भीतर-बाहर आत्मा है। जैसे जल में घट रखिये तो उसके भीतर-बाहर जल होता है, वैसे ही वह पुरुष अपने रूप से भीतर-बाहर पूर्ण हो रहा

है और एकरस है। वह द्वैतकलना को नहीं प्राप्त होता और उस पद को पाकर आनन्दित होता है। जैसे कोई मारे जाने के निमित्त पकड़ा गया हो और उसकी रक्षा हो तो वह बड़े आनन्द को प्राप्त होता है, वैसे ही वह पुरुष आनन्द को प्राप्त होता है। जैसे कोई आधि-व्याधि से छूटा आनन्द को प्राप्त होता है, वैसे ही वह ज्ञानवान् आनन्द को प्राप्त होता है। जैसे कोई मंजिल चलने से थका हुआ शय्या पर विश्राम करे और आनन्द को प्राप्त हो, वैसे ही ज्ञानवान् को आनन्द मिलता है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से आनन्दमय होता है, वैसे वह पुरुष अपने आनन्द से परिपूर्ण रहता है। जैसे काष्ठ के बिना अग्नि धुएँ से रहित प्रज्वलित होती है, वैसे ही ज्ञानवान् अज्ञानरूपी धुएँ से रहित शोभा पाता है। हे राम ! जब वह संसार की ओर देखता है तो उसे अग्नि से जलता हुआ अपने से भिन्न देखता है। वह ज्ञानरूपी पर्वत के ऊपर स्थित होकर संसार को जलता देखता है।

हे राम ! यह जो कहा है कि संसार को जलता देखता है, सो ऐसे भी नहीं फुरता कि मैं ज्ञानी हूँ और यह संसार है। स्वरूप की अपेक्षा से यह कहा है कि संसार उसको दुःखदायी लगता है। वह आनन्द से भी परे परमानन्द को प्राप्त हुआ है और सत्-असत् से रहित जो अपना आपा है उसमें स्थित है। जैसे पर्वत भीतर-बाहर अपने आपमें स्थित और एकरस है, वैसे ही वह पुरुष एकरस है। वह संसार में जाग्रत् होकर चेष्टा करता है, पर हृदय में संसार की भावना से रहित है। उस पद में वाणी की गति नहीं। फिर भी कुछ कहता हूँ, सुनो। कोई उसे ब्रह्म कहते हैं; कोई चैतन्य कहते हैं; कोई आत्मा कहते हैं; कोई साक्षी कहते हैं। कालवाले उसी को काल कहते हैं, ईश्वरवादी ईश्वर कहते हैं; सांख्यवाले प्रकृति इत्यादिक संज्ञाओं से निर्देश करते हैं। सब उसी के नाम हैं-उससे भिन्न नहीं। उस पद को सन्तजन जानते हैं। हे राम ! ऐसे पद को पाकर वह अपने आपसे शोभित होता है। जैसे मणि के भीतर-बाहर प्रकाश होता है, वैसे ही वह पुरुष भीतर-बाहर सोहता है

और अपने स्वरूप से सदा सन्तुष्ट रहता है। जो पुरुष छठी भूमिका में स्थित है, उसके ये लक्षण होते हैं–वह संसार से सुषुप्त होकर स्वरूप में सावधान रहता है और उसका जीवभाव जाता रहता है। जैसे घट की उपाधि से घटाकाश परिच्छिन्न भासित होता है और जब घट भग्न हुआ तब घटाकाश महाकाश एक हो जाता है, वैसे ही अहंकाररूपी घट के भग्न होने पर आत्मा ही भासित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे षष्ठभूमिकोपदेशो नाम शताधिकपञ्चविंशतितमस्सर्गः ।। १२५।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसके अनन्तर जब उस पुरुष को सप्तम भूमिका प्राप्त होती है, तब वह अपने को आत्मा ही जानता है। उसे पंचभूतों का ज्ञान नहीं रहता। तब केवल आत्मत्वमात्र होता है और दृश्य का ज्ञान नहीं रहता; बल्कि यह भी ज्ञान नहीं रहता कि विश्व मेरे आश्रय से फुरता है। देहसहित हो, अथवा विदेह हो, उसकी आत्मा से उत्थान कभी नहीं होता। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, वैसे ही वह आत्मस्वरूप में स्थित होता है और उसकी चेष्टा भी स्वाभाविक होती है। जैसे बालक पालने में अपने अंग स्वाभाविक हिलाता है, वैसे ही उसकी खान, पान आदिक चेष्टाएँ स्वाभाविक ही होती हैं। जैसे काष्ठ की पुतली तागे के हिलने से चेष्टा करती है, वैसे ही प्रारब्ध-वेग के तागे से उसकी चेष्टाएँ होती हैं—उसको अपनी कुछ इच्छा नहीं रहती। हे राम ! सप्तम भूमिकावाला जैसी अवस्था को प्राप्त होता है; उसे वही जानता है, और कोई नहीं जान सकता। जिसका चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है, वह भी उस अवस्था को नहीं जान सकता। जिसको वह पद प्राप्त हुआ है, वही उसे जानता है। हे राम ! जीवन्मुक्त का चित्त सत्पद को प्राप्त होता है और यह तुरीयपद में स्थित होता है। उसका चित्त निर्वाण को प्राप्त हो जाता है और तुरीयातीत पद को प्राप्त होकर विदेहमुक्त होता है। उसमें अहंभाव का उत्थान कदापि नहीं होता। वह सत्रूप है, पर असत् की नाईं स्थित है। हे राम ! वह पुरुष उस पद को प्राप्त होता है, जिसमें वाणी की गति

नहीं; परन्तु फिर भी कुछ कहता हूँ। वह शुद्ध, निर्मल, अद्वैत, चैतन्य ब्रह्म, काल का भी काल, केवल चिन्मात्र और ज्यों का त्यों अच्युत पद है। उस पद को पाकर जीव ऐसा हो जाता है, जैसे वस्त्र के ऊपर मूर्ति लिखी हो, वैसे ही यह उत्थान से रहित होता है और उसको अहंब्रह्म का उत्थान भी नहीं रहता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सप्तभूमिकालक्षण विचारः षड्विंशाधिकशततमस्सर्गः ।। १२६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये सप्तभूमिकाएँ जो तुमसे कहीं हैं इन्हीं से ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्य साधनों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। हे राम ! जब पुरुष ज्ञानवान् हो, तब जानिये कि उसकी वृत्ति प्रथम भूमिका में स्थित हुई है। इससे तुम भूमिका की ओर चित्तरूप चरण रक्खो, तब तुमको स्वरूप की प्राप्ति होगी। हे राम ! तीसरी भूमिका तक सब कामनाएँ निवृत्त होती हैं, केवल एक आत्मपद की कामना रहती है। यदि उस अवस्था में शरीर छूट जाय तो मनुष्य और जन्म पाकर ज्ञान को प्राप्त होता है। और यदि चतुर्थ भूमिका में प्राप्त होकर शरीर छूटे तो फिर जन्म नहीं होता; क्योंकि आत्मपद की प्राप्ति होने पर फिर कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती। जन्म का कारण इच्छा है; जब कुछ इच्छा नहीं रही, तब जन्म भी नहीं रहा। जिसको चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है उसको स्वरूप की प्राप्ति होती है, तब फिर इच्छा कैसे हो ? जैसे भुना बीज नहीं उगता, वैसे ही उसका चित्त ज्ञान-अग्नि से दग्ध हो जाता है; क्योंकि वह सत्यपद को प्राप्त होता है। इसी से वह जन्म नहीं लेता और मरता भी नहीं—संसार को स्वप्नवत् देखता है। पञ्चम भूमिकावाला सुषुप्त की तरह होता है। छठी भूमिका साक्षीरूप तुरीयपद है। सप्त तुरीयातीत निर्वाच्यपद है। हे राम ! इतना कहने का प्रयोजन यही है कि वासना का त्याग करो और अचित्पद को प्राप्त हो। इसका अभिमान होना ही वासना है। जब इसका अभिमान निवृत्त हो, तब शान्ति होगी, परिच्छिन्न अहंकार न रहेगा। आत्मा के अज्ञान से अहंभाव हुआ है और आत्मज्ञान से यह लीन हो जाता है।

हे राम ! संसार एक नदी है। उसमें आधि-व्याधि उपाधि रोग तरंग हैं; राग-द्वेषरूपी छोटे मच्छ हैं और तृष्णारूपी बड़े मच्छ हैं। उसमें जीव दुःख पाते हैं। जैसे जल नीचे को चला जाता है, वैसे ही मृत्यु के मुख में संसार चला जाता है। उसमें अज्ञान ही जल भरा है। हे राम ! तृष्णा से पुरुष बँधे हैं इससे तुम हाथी की तरह वैराग्य और अभ्यासरूपी दाँतों से तृष्णारूपी जंजीर को काटो। हे राम ! तृष्णारूपी सर्पिणी विषयरूपी फूत्कार से विचाररूपी बेल को जलाती है, इससे जीवरूपी किसान दुःख पाता है। इससे तुम वैराग्यरूपी अग्नि से उस सर्पिणी को जलाओ। हे राम! तृष्णा दुःखदायी है। जब तक तृष्णा है, तब तक संतों के वचन हृदय में स्थान नहीं पाते। जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता। वैसे ही तृष्णावान् के हृदय में संतों के वचन नहीं ठहरते। तृष्णा के इतने नाम हैं—तृष्णा, अभिलाषा, इच्छा, फुरना, संसृति। ये सब इसी के नाम हैं। इच्छारूपी मेघ ने ज्ञानरूपी सूर्य को ढका है, इससे वह नहीं चमकता। जब विचाररूपी पवन चले, तब इच्छारूपी मेघ नष्ट हो जावे और आत्मरूपी सूर्य का साक्षात्कार हो।

हे राम ! यह जीव आकाश का पक्षी है, पर कर्म में इच्छारूपी तागे से बँधा है, इससे उड़ नहीं सकता और परमात्मपद को भी प्राप्त नहीं होता। यह इच्छा ही से दीन है। जब इच्छा नष्ट हो, तब आत्मस्वरूप प्राप्त हो। इससे तुम इच्छा का नाश कर आत्मपरायण हो, अर्थात् विषय संसार से वैराग्य और आत्माभ्यास करो। हे राम ! यह जो मैंने तुमसे भूमिका का क्रम कहा है, इसमें जब आवे तब ज्ञान की प्राप्ति हो। पर इनको तब प्राप्त होता है, जब कि एक हथिनी को जीते, जो एक वन में रहती है। महात्तमरूप उसके दो पुत्र हैं। जो अनेक जीवों को मारकर अनर्थ करते हैं। उसके जीतने से सब जगत् जीता जाता है। राम ने पूछा, हे भगवन्! ऐसी मत्तरूपी हथिनी कौन है और कहाँ रहती है ? उसके दाँत और पुत्र कौन हैं ? कैसे वह मरती हैं, कैसे उत्पन्न हुई है और कौन वन है ? यह सब मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इच्छारूपी हथिनी और शरीररूपी वन है। वह मनरूपी गुफा

में रहती है। इन्द्रियाँ उसके बच्चे और संकल्प-विकल्प दाँत हैं, उनसे वह छेदती है। हे राम ! एक नदी है, जिसका प्रवाह सदा चला जाता है। उसमें दो मच्छ रहते हैं, जो कभी नष्ट नहीं होते। संसृति ही नदी है, जिसमें राग-द्वेष मच्छ रहते हैं, वे नष्ट नहीं होते।

हे राम ! वे मच्छ तब नष्ट हों, जब संसरणरूपी जल नष्ट हो। उसके सुकृत और दुष्कृतरूपी दो किनारे हैं। उसमें चिन्तारूपी ग्राह रहता है। कर्मरूपी लहरें हैं, उनमें जीवरूपी तृण आकर भटकता है। इस तृष्णारूपी विषबेलि का नाश करो। हे राम ! तृष्णारूपी अंकुर को बढ़ाना-घटाना अपने ही अधीन है। जो अंकुर को जल दीजिये तो बढ़ता जाता है और जो न दीजिये तो जल जाता है। स्फुरणरूपी जल देने से तृष्णारूपी अंकुर बढ़ता जाता है, और न देने से स्वरूप के अभ्यास द्वारा जल जाता है। हे राम ! तृष्णारूपी बड़ा मच्छ है, जो धैर्य आदि के मांस को भक्षण करनेवाला है। उसे वैराग्यरूपी कण्डी और अभ्यासरूपी दाँतों से नष्ट करो। हे राम ! इच्छा का नाम बन्धन है और निरिच्छा का नाम मुक्ति। हे राम ! एक सुगम उपाय कहता हूँ , जिससे तृष्ण नष्ट हो जायगी। निज अर्थ की भावना करो। तो उस भावना से शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी, तुम्हारी जय होगी और तुम सबसे उत्तम पद को प्राप्त होगे। फिर तुम्हें वासना न रहेगी, शरीर की चेष्टा स्वाभाविक होगी और सब संकल्प नष्ट हो जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संसरणभावप्रतिपादनं नाम शताधिकसप्तविंशतितमस्सर्गः ।। १२७।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि निज अर्थ की भावना से वासना नष्ट हो जावेगी और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। सो वासना तो चिरकाल से चित्त में स्थित है। वह एकबारगी कैसे नष्ट होगी? आप कहते हैं कि वासना के नष्ट होने से जीव जीवन्मुक्त होता है। पर जिसकी वासना नष्ट होगी, उसका शरीर कैसे रहेगा ? वासना बिना चेष्टा क्योंकर होगी और जीवन्मुक्त पद कैसे प्राप्त होगा ? वशिष्ठजी बोले, हे

राम ! मेरे वचनों को, जो कानों के भूषण हैं, सुनने से दरिद्र न रहेगा। निज अर्थ के धारण से संशय नष्ट हो जावेंगे और आत्मपद की प्राप्ति होगी। उस निज अक्षर के तीन अर्थ हैं-एक तो अन्य के अर्थ हैं कि पाञ्चभौतिक शरीर से तुम्हारा स्वरूप विलक्षण है, और दूसरा अर्थ विरुद्ध है, अर्थात् शरीर जड़ और तमरूप है और तुम्हारा स्वरूप आदित्यवर्ण और तम से परे है। हे राम ! जब तुमने ऐसी धारणा की कि मैं आत्मा हूँ और यह देहादिक अनात्मा है, तब देह से मिलकर अभिलाषा कैसे रहेगी? मतलब यह कि अभिलाषा न करोगे; क्योंकि जब तक जाना नहीं, तब तक अभिलाषा है। तीसरा अर्थ यह है कि सबका अभाव है, अर्थात् न मैं हूँ और न कोई जगत् है। जब ऐसे जाना तब किसकी इच्छा रहेगी? अर्थात् किसी की न रहेगी। अथवा जो तुम अपने को देह से विलक्षण आत्मा जानोगे, तो भी अविद्याकृत तमरूप शरीर की अभिलाषा न रहेगी।

देह तमरूप है और तुम आदित्यवर्ण अर्थात् प्रकाशरूप हो। तुम्हारा और इसका क्या संयोग। जैसे सूर्य के मण्डल में रात्रि नहीं दिखती, वैसे ही जब तुम अपने को प्रकाशरूप जानोगे, तब तमरूप संसार न दीखेगा। तब शरीर की चेष्टा स्वाभाविक होगी और तुममें कुछ चेष्टा न होगी। जैसी अर्धनिद्रावाले की चेष्टा होती है, वैसी ही चेष्टा होगी और तुमको बालक की तरह अभिमान न होगा। जैसे बालक की उन्मत्त चेष्टा होती है, वैसे ही तुम्हारी चेष्टा भी स्वाभाविक होगी। हे राम ! यदि तुम यह इच्छा करो कि यह सुख हो और यह दुःख न हो तो कदापि वह न होवेगा। जो कुछ शरीर का प्रारब्ध है, सो अवश्य होता है परन्तु ज्ञानवान् के हृदय से संसार की सत्यता जाती रहती है और स्वाभाविक चेष्टा होती है; इच्छा नहीं रहती। हे राम ! जैसे कोई पुरुष किसी देश को जाता है और पहुँचने का समय थोड़ा हो तो वह मार्ग के स्थान देखता भी जाता है परन्तु किसी में लिप्त नहीं होता, वैसे ही चित्त को आत्मपद में लगाओ। ऐसा शरीर पाकर यदि आत्मपद न पाया तो कब पावोगे ? जो आत्मपद से विमुख है, वह वृक्षादि के जन्मों को पावेगा। इससे हे राम ! चित्त आत्मपद में रक्खो और

स्वाभाविक इच्छा बिना चेष्टा करो। इच्छा ही दुःखदायक है। जब इच्छा नष्ट होती है, तब उसी को ज्ञानवान् तुरीयपद कहते हैं। जहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का अभाव हो, वही तुरीयपद है।

हे राम ! ये जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ जहाँ न पाइये, वही तुरीयपद है। जब संवेदन, स्फुरण या अहंकार का अभाव हो जावे, तब तुरीयपद प्राप्त होता है। हे राम ! अहंकार का होना दुःखदायक है। जब इसका नाश हो, तभी आनन्द मिलता है। आत्मपद से भिन्न जो माया की रचना है, उससे मिलकर जीव अपने को जानता है कि 'मैं हूँ'। यही अनर्थ है। इससे अहंकार का त्याग करो। जिसको देखकर यह अहंकार फुरता है, उसका निज अर्थ की भावना से नाश करो। और जो आत्मपद से भिन्न भासित होता है, उसे मिथ्या जानो। यही निज अक्षर का अर्थ है। जो कुछ संसार भासित होता है, उसको स्वप्नमात्र जानो। इसको सत्य जानकर इसकी इच्छा करना ही अनर्थ और मिथ्या जानकर इच्छा न करना कल्याण है। हे राम ! मैं ऊँची बाह करके पुकारता हूँ, पर मेरे वचन कोई नहीं सुनता कि इच्छा ही संसार का कारण है और इच्छा से रहित होना ही परमकल्याण है। जब जीव इच्छा से रहित होता है, तब शान्तपद को प्राप्त होता है। निरिच्छत होने पर आत्मा ही भासित होता है, जो आनन्दरूप, सम और अद्वैत है। उसमें जगत् का अभाव है। हे राम ! मोह की बड़ी महिमा हैं। हृदय में जो आत्मरूपी चिन्तामणि स्थित है, उसको विस्मरण करके मूर्ख अहंकाररूपी काँच को ग्रहण करते हैं।

हे राम ! तुम निरभिमान होकर चेष्टा करो। जैसे यन्त्र की पुतली में अभिमान नहीं होता और वह चेष्टा करती है, वैसे ही प्रारब्ध वेग से तुम्हारी चेष्टा होगी। यह अभिमान तुम न करो कि ऐसे हो और ऐसे न हो। जब ऐसे होगे, तब शान्तपद को प्राप्त होगे; जहाँ वाणी की गति नहीं ऐसे आनन्द को प्राप्त होगे। जब तक इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा है, तब तक जन्म-मृत्यु का बन्धन है। इससे पुरुषप्रयत्न यही है कि

तृष्णा का नाश करो। कर्म के फल की तृष्णा न हो और कर्म के करने की भी इच्छा न हो। इन दोनों को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो। बल्कि ऐसा भी निश्चय न हो कि मैंने त्याग किया है। हे राम ! जिस पुरुष ने कर्म को त्याग दिया है और अहंकारसहित है, उसने पुण्य और पाप सब कुछ किया है, और जिसमें अहंभाव नहीं है, वह चाहे जैसे कर्म करे तो भी कुछ नहीं करता। वह बन्धन को नहीं प्राप्त होता। जो न करने में अभिमानसहित है, उसको कर्ता देखते हैं, वह बन्धन में पड़ा है। हे राम ! ऐसे आत्मा को जानकर अहंमम का त्याग करो। ऐसे संवेदन के त्यागने में कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। स्मृति उसकी होती है, जिसका अनुभव होता है। पर जिसका अनुभव नहीं, उसका त्याग करना सुगम है। अनुभव प्रत्यक्ष देखने को कहते हैं। तुम्हारे स्वरूप में विश्व नहीं हैं तो अनुभव क्या हो। ये पदार्थ जो तुमको भासित होते हैं, उनके कारण को जानो। इनका कारण अनुभव है। जब इनका अनुभव ही मिथ्या है, तब स्मृति कैसे सत् हो ? रस्सी में सर्प का अनुभव हुआ और फिर स्मरण किया कि वहाँ सर्प देखा था। तो जब सर्प का अनुभव ही मिथ्या है, तब फिर उसका स्मरण कैसे सत् हो? इससे जो वस्तु मिथ्या है, उसके त्यागने में क्या यत्न है ?

जब प्रपञ्च को मिथ्या जाना, तब तुमको कोई कर्म बन्धन का कारण न होगा; चेष्टा स्वाभाविक होगी और रागद्वेष जाता रहेगा। जैसे शरत्काल की बेलि सूख जाती है और उसका आकार देख पड़ता है, वैसे ही तुम्हारा चित्त देखने में आवेगा और चित्त का धर्म जो रागद्वेष है, वह जाता रहेगा—वह चित्त सत्पद को प्राप्त होगा। जब सबका विस्मरण (बाध) होता है, उसको शिवपद कहते हैं। वह परमपद ब्रह्म-शब्द-अर्थ से रहित केवल चिन्मात्र अद्वैत पद है। उसमें अहं-मम का त्याग करके स्थित रहो। संसार इसी का नाम है कि मैं हूँ और यह मेरा है। इसको त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। हे राम ! जब तक अहंमम का संवेदन है, तब तक दुःख नहीं मिटते। जब **यह** संवेदन

मिटता है, तब आनन्द मिलता है। यह मेरा उपदेश है। अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इच्छाचिकित्सोपदेशन्नाम शताधिकाष्टविंशतितमस्सर्गः ।। १२८।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अद्वैत आत्मा-जिसको एक या दो नहीं कह सकते-अपने आप स्वभाव में स्थित है। अन्त-करण-चतुष्टय बाह्य पदार्थ सब चेतनमात्र हैं, आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। रूप, इन्द्रियाँ और मन का फुरना, देश और काल, सब आत्मरूप ही हैं। जैसे बालक मिट्‌टी की सेना बनाकर हाथी, घोड़े, राजा, प्रजा, आदि नाम रखता है, सो सब मिट्‌टी है-भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही अहं-मम आदिक भी सब आत्मरूप है-कुछ पृथक नहीं। जैसे मिट्‌टी में हाथी, घोड़ा आदि नाम कल्पित हैं, वैसे आत्मा में ही जगत् कल्पित है-आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इस अहंकार को त्याग करो कि आत्मपद से भिन्न कुछ न फुरे। हे राम ! रूप, अवलोक और नमस्कार, ये सब शिवरूपी मृत्तिका के नाम हैं। जब मापक, मान, मेय आदि सब वही रूप हुए तब किससे किसको संचित कहिये ? यह अहं-मम आदिक भी चिदाकाश से कुछ भिन्न वस्तु नहीं। इनको ऐसे जानकर संवेदनहीन शिला की तरह निःसंग हो रहो।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि अहं-मम फुरने का त्याग करो, यह मिथ्या है, और अहं-मम असत् है। ज्ञानी ऐसी भावना करते हैं कि इनकी सत्ता कुछ नहीं और तुम असंग हो रहो। यह असंग निष्कर्म से होता है अथवा कर्म से होता है, यह कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम! यह तुम्हीं कहो कि कर्म क्या है और निष्कर्म क्या है; इनका कारण कौन है और इनका नाश कैसे हो और नाश होने से क्या सिद्धि होगी। जो तुम जानते हो तो कहो। राम बोले, हे भगवन् ! जैसे आपसे सुना है और समझा है वही मैं कहता हूँ। वस्तु-नष्ट करनी हो, उसका निश्चय करके मूल से नाश कीजिये, तभी उसका नाश होता है। शाखा और पत्र काटने से उसका नाश नहीं होता। इससे इनका क्रम सुनो। इस संसाररूपी वन

में देहरूपी वृक्ष है, जिसका बीज कर्म है। पाणि, पाद आदिक पत्ते हैं। रूधिर, श्वास और वासना रस और सुख-दुःख फूल हैं। जाग्रत् कर्म वासनारूपी वसन्तऋतु हैं। उससे वह प्रफुल्लित होता है। और सुषुप्ति पापकर्मरूपी शरत्काल है। उससे सूख जाता है। ऐसा शरीररूपी वृक्ष है। जवानीरूपी उसकी कली है, जो क्षण भर सुन्दर रहती है। जरारूपी फूल इसको हँसते हैं और रागद्वेषरूपी वानर क्षण-क्षण में हिलाते हैं।

जाग्रत् वसन्तऋतु है जो सुषुप्तिरूपी हिम उत्पन्न करती है। यह वृक्ष वासनारूपी रस से बढ़ता है। पुत्र, कलत्र आदिक तृण और घास हैं। इन्द्रियों के छिद्ररूपी मुख हैं। जिनसे शरीर की चेष्टा होती है। ज्ञान इन्द्रियाँ पाँच स्तम्भ हैं, जिनसे यह वृक्ष सधा है। इच्छारूपी बेलि हैं, जो अपने-अपने को चाहती हैं। बड़ा स्तम्भ इसका मन है, जो सबको धारण करता है। पञ्चप्राण इसके रस हैं। उनसे यह प्रत्यक्ष सब विषयों को ग्रहण करता है। इसका बीज जीव है। जीव चैत्योन्मुखत्व चेतन को कहते हैं। जीवत्व का बीज संवित् है, जिसका मात्रपद से उत्थान हुआ है। उस संवित् का बीज ब्रह्म है-जिसका बीज कोई नहीं है। हे भगवन् ! सबका मूल संवित् का फुरना है। जब इसका अभाव होता है, तब आत्मा ही शेष रहता है। हे भगवन् ! यह तो मैं जानता हूँ। आगे आप भी कुछ कृपा करके कहिये। हे भगवन् ! जब तक चित्त से सम्बन्ध है, तब तक संसार में जन्म-मरण होता है, और जब जीव चित्त से रहित होता है तब परब्रह्म हो जाता है-वह शिवपद अनिच्छित, शान्त और अनन्तरूप है। चिन्मात्र में जो अहं का उत्थान है, वही कर्मरूपी वृक्ष का कारण है। जब तक अनात्मा से मिलकर जीव कहता है कि 'मैं हूँ' तब तक वही संसार का कारण है। यह आपके वचनों से मैंने समझा है, सो सुना दिया। आगे कुछ कृपा करके आप भी कहिये।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसी प्रकार कर्म का बीज सूक्ष्म संवित् है। जब तक संवित् है, तब तक कर्मों का बीज नष्ट नहीं होता। और ये सब संज्ञाएँ इसी की हैं। कर्मों का बीज इच्छा, तृष्णा, अज्ञान, चित्त और

ग्रहणत्याग की बुद्धि इत्यादिक बहुत सी संज्ञाएँ हैं। क्या किसी में हेयोपादेय बुद्धि करे ? हे राम ! जब तक अज्ञान है, तब तक इच्छा नष्ट नहीं होती और कर्म भी नष्ट नहीं होते। नाश दोनों का नहीं होता, परन्तु भेद इतना ही है कि अज्ञानी को भासित होता है कि यह इच्छा है, यह कर्म है। ज्ञानवान् को सब ब्रह्म ही भासित होता है, इससे वह सुखी रहता है और अज्ञानी को कर्म में कर्म भासित होता है, इसलिए वह बन्धन में पड़ता है। कर्म से कर्मबुद्धि जाने को त्याग कहते हैं; क्रिया का त्याग करने को त्याग नहीं कहते। हे राम ! बड़ी उपाधि अहंकार है। जिसका अहंकार नष्ट हुआ है, वह पुरुष कर्म करता है तो भी उसने कभी कुछ नहीं किया। और जो अहंकारसहित है, वह पुरुष जो चुप हो बैठता है तो भी सब कर्म करता है। इस अहं के त्याग का नाम सर्वत्याग है; क्रिया के त्याग का नाम सर्वत्याग नहीं। सब कर्मों के बीज अहंकार को त्यागना और परम शान्ति को पाना ही पुरुषप्रयत्न है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्मबीजदाहोपदेशं नाम शताधिकनवविंशत्तमस्सर्गः ।। १२९।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस संवेदन का होना ही अनर्थ है कि जीव अपने को कुछ जानता है। जब यह निवृत्त हो, तभी इसको आनन्द प्राप्त हो। हे राम ! ज्ञानी की चेष्टा अहंकार से रहित स्वाभाविक होती है। जैसे अर्धनिद्रित पुरुष होता है वैसे ही ज्ञानी अपने स्वरूप में मग्न रहता है। जैसे हाथी मद से उन्मत्त होता है, वैसे ही ज्ञानवान् स्वयम्ब्रह्म चिदानन्द में मग्न रहता है। जैसे कामी को काम का व्यसन होता है, वैसे ही सुखरूपी स्त्री को पाकर ज्ञानी मग्न रहता है; क्योंकि वह निरहंकार है। सब दुःखों का बीज अहंकार है। जब अहंकार नष्ट हो तब आनन्द हो। हे राम ! संसाररूपी विष की बेलि का बीज अहंकार है। जब अहंकार का अभाव हो, तब संसार का भी अभाव होता है। हे राम ! अहंकार ही दुःख का मूल है। इस संवेदन का विस्मरण बड़ा कल्याणकारक है। अनात्मा से मिलकर अपने को मानना या अहंभाव ही अनर्थ है। राम ने

पूछा, हे भगवन् ! जो वस्तु असत्य है, वह नहीं होती और जो सत्य है उसका अभाव नहीं होता। फिर आप कैसे कहते हैं कि अहं संवेदन का नाश करो ? ये तो सत् भासित होते हैं, इनका नाश कैसे हो ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम सच कहते हो कि जो वस्तु असत्य है, वह नहीं होती और जो सत्य है, उसका नाश नहीं होता। हे राम ! यह जो अहंकार दृश्य तुमको भासित होता है, सो कभी नहीं हुआ, मिथ्या कल्पित है। जैसे रस्सी में सर्प होता है, वैसे ही आत्मा में अहंकार है और जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है, वैसे ही आत्मा में अहंकार का शब्द अर्थ फुरता है। यह शब्द और अर्थ मिथ्या है। इसका लक्षण यह है कि मैं हूँ सो कल्पित है; आत्मा केवल शुद्धस्वरूप है; उसमें अहं-त्वं का शब्द अर्थ कोई नहीं। ये अबोध से भासित होते हैं और बोध से लीन हो जाते हैं। वेदना का बोध अनर्थ का कारण है और अबोध तम है। जब यह निर्वाण हो, तब कर्म का बीज मूल से कटे। हे राम ! जो कर्मों का त्यागकर एकान्त में जाकर बैठता है, और ऐसे मानता है कि मैं कर्म नहीं करता, वह केवल मुख से कहता ही है, पर वास्तव में अहंकारयुक्त है, इससे फल को भोगता ही है; क्योंकि अहंकार सहित जीव फिर कर्म करेगा। वह आत्मज्ञान बिना अनात्म से मिलकर अपने को कर्ता भोक्ता आदि मानता है। जो पुरुष कर्म-इन्द्रियों से चेष्टा करता है और आत्मा को लिप्त नहीं जानता, वह अकर्ता ही है-उसके करने से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होते और न करने से भी नहीं होते। ऐसा पुरुष परम निर्वाणपद को प्राप्त होता है, जिस पद में वाणी की गति नहीं। हे राम ! उसमें स्फुरण कोई नहीं-केवल चमत्कार है, अर्थात् हुआ कुछ नहीं और भासित होता है। जैसे बेल की मज्जा बेल से भिन्न नहीं, वैसे ही यह जगत् है। जैसे सोने से भूषण भिन्न नहीं, वैसे ही निज शब्द का अर्थ है; पर ये भिन्न-भिन्न शब्द अर्थ तब तक भासित होते हैं, जब तक अहं वेदना है। हे राम ! आत्मपद सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे पत्थर अपनी जड़ता में स्थित है, वैसे ही आत्मा चैतन्य घनता में स्थित है। उसको

मुनीश्वर चैतन्य सार कहते हैं। उस अपने स्वरूप के प्रमाद से ही जीव दुःख पाता है।

हे राम ! जो पुरुष गृहस्थी में स्थित है, पर अहंकार से रहित है, उसको वनवासी जानो, उसे सदा एकान्त है। और जो वनवासी अहंकार-सहित है, वह सदा जनों में स्थित है। प्रथम तो वह एक गढ़े में था, फिर उसको त्यागकर दूसरे गढ़े में पड़ा है; अर्थात् वेषधारी है और वनवास लिया है। ईश्वर चाहे तो निकाले नहीं, क्योंकि बड़े कूप में पड़ा है। हे राम ! जो पुरुष अर्धत्याग करता है या एक अंग का त्याग करता है और दूसरे को अंगीकार करता है, ऐसा पुरुष अपने को निष्काम मानता है, पर उसको यह त्यागरूपी पिशाचिनी भोगती है। हे राम ! यह जीव निष्कर्म तभी होता है, जब इसकी अहंवेदना नष्ट होती है, अन्यथा नहीं होता। इससे कर्म को मूल से उखाड़ो। जैसे कुल्हाड़ा बेलि और वृक्ष को मूल से काटता है, वैसे ही काटो। अहंवेदना ही मूल है, उसको काटना चाहिए।

हे राम ! पुरुषयत्न इसी का नाम है कि अपने अहं का नाश करना और आपही शेष रहना। देह से मिला हुआ जीव अपने को कर्ताभोक्ता जानता है। उस अहं का नाश करना और शिवपद को प्राप्त होना एक ही बात है। जो सर्वदा सत्स्वरूप अद्वैत है—यह विश्व भी उसका चमत्कार है। जैसे नारियल में खोपड़ा होता है और उसके बहुत नाम रखते हैं, सो नारियल से कुछ भिन्न नहीं, वैसे ही संसार आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे खम्भे में काष्ठ से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह संसार है। यह नानात्व भी चैतन्य घन आत्मा ही है। निज अक्षर का जो अर्थ कहा है, वह भी जब वही है, तब विधि-निषेध किसका कीजिये ? सब परमात्मतत्त्व है, दूसरा नहीं। हे राम ! ऐसे आत्मा को जानकर सुख से विचरो। जैसे अर्द्धनिद्रित की चेष्टा होती है और जैसे बालक पालने में सोकर स्वाभाविक अंग हिलाता है, वैसे ही तुम्हारी चेष्टा होगी, अपने देह का अभिमान तुम न करो। हे राम ! जो कुछ भाव-अभाव पदार्थ भिन्न-भिन्न

भासित होते हैं, वे असत्य हैं। आत्मा का साक्षात्कार होने पर परमात्मतत्त्व ही भासित होगा, तब अहंकार का उत्थान निवृत्त होगा। हे राम ! एक और युक्ति सुनो, जिससे आत्मज्ञान होगा। यह जो अहं-अहं क्षण-क्षण में फुरता है, सो जब फुरे तभी उस क्षण में जानो कि मैं नहीं हूँ। जब ऐसे दृढ़ होगे, तब अहंकाररूपी पिशाच का नाश हो जावेगा और आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होगा। इससे अहंकार के नाश का यत्न कर सोचो कि 'न मैं हूँ' 'न जगत् है'। हे राम ! ज्ञान इसी का नाम है कि 'अहं', 'मम' न रहे। उसको मुनीश्वर परब्रह्म और सम्यक्पद कहते हैं। और जहाँ अहं-मम है, वहाँ अविद्यारूपी तम है। हे राम ! अज्ञानी के हृदय में सब पदार्थों का भाव स्थित है, इससे उसको देश, काल, घर, नगर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक त्रिगुणमय संसार भासित होता है। जब इनका अभाव हो जाय, तब शान्तिपद की प्राप्ति हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अहंकारनाशविचारो नाम शताधिकत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिसके मन से 'मैं' और 'मेरे' का अभिमान चला गया है, उसको शान्ति हुई है। जिसके हृदय में 'मैं' 'देह' 'मेरे सम्बन्धी', 'गृह' आदिक का अभिमान है, उसको कदापि शान्ति नहीं, और शान्ति बिना सुख नहीं। हे राम ! प्रथम आप बनता है, तब जगत् है। जो आप न बने तो जगत् कहाँ हो ? इसका होना ही अनर्थ का कारण है। जिस पुरुष ने अहंकार का त्याग किया है, वह सर्वत्यागी है। जिसने अहंकार का त्याग नहीं किया, उसने कुछ नहीं त्यागा। जिसने क्रिया का त्याग किया और अपने को सर्वत्यागी मानता है, उसका यह विचार मिथ्या है। जैसे वृक्ष की डालें काटिये तो वह फिर उगता है, उसका नाश नहीं होता, वैसे ही कर्म के त्याग से त्याग नहीं होता। जो त्यागने योग्य अहंकार नहीं नष्ट होता तो कर्म फिर उपजते हैं। इससे अहंकार का त्याग करो, तब सर्वत्यागी होगे। इसका नाम महात्याग है। तब स्वप्न में भी संसार न भासित होगा। जाग्रत् का क्या कहना है। उसको संसार का ज्ञान कदापि

नहीं होता। हे राम ! संसार का बीज अहंभाव है, उसी से स्थावरजंगम जगत् भासता है। जब इसका नाश हुआ, तब जगत्भ्रम मिट जाता है, इससे इसके अभाव की भावना करो। जब तुम्हें अहं की भावना फुरे तो जानो कि मैं नहीं हूँ। जब इस प्रकार अहंकार का अभाव हुआ तब पीछे जो शेष रहेगा, वही आत्मपद है। हे राम ! सब अनर्थों का कारण अहंभाव है, उसका त्याग करो।

हे राम ! शास्त्र के प्रहार और व्याधि को यह जीव सह सकता है तो इस अहं के त्यागने में क्या कदर्थना है। हे राम ! संसार का बीज अहं का सद्भाव है, उसका नाश करना मानो संसार का मूलसंयुक्त नाश करना है-इसी के नाश का उपाय करो। जिसका अहंभाव नष्ट हुआ है, उसको सब ठौर आकाशरूप है। उसके हृदय में संसार की सत्ता नहीं फुरती। चाहे वह गृहस्थ हो तो भी उसको यह प्रपञ्च शून्य बन जाता है। जो अहंकार सहित वन में जा बैठे तो भी वह जनों के समूह में बैठा है; क्योंकि उसका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ। जिसने मन सहित षट् इन्द्रियों को वश नहीं किया, उसको मेरी कथा के सुनने का अधिकार नहीं-वह पशु है। जिस पुरुष ने मन को जीता है, अथवा दिन प्रतिदिन जीतने की इच्छा करता है, वह पुरुष है। और जो इन्द्रियों का विश्रामी अर्थात् क्रोध, लोभ, मोह से सम्पन्न है वह पशु है और महाअन्धतम को प्राप्त होता है। हे राम ! जो पुरुष ज्ञानवान् है, उसमें यदि इच्छा दिखती है तो भी वह उसकी इच्छा अनिच्छा ही है और उसके कर्म अकर्म ही है। जैसे भुना दाना फिर नहीं उगता, पर उसका आकार भासित होता है, वैसे ही ज्ञानवान् की चेष्टा देखने मात्र को होती है, उसके हृदय में वासना नहीं होती। हे राम ! जो पुरुष इन्द्रियों से चेष्टा करता है और हृदय में जगत् की सत्यता नहीं मानता, उसे कोई बन्धन नहीं होता और जो जगत् को सत्य मानकर थोड़ा ही कर्म करता है, तो भी वह फैल जाता है-जैसे थोड़ी अग्नि जाग कर बहुत हो जाती है-ज्ञानी को बन्धन नहीं होता। उसका प्रारब्ध शेष है, यह भी वह हृदय में नहीं मानता और जानता है कि कर्म शरीर के हैं, आत्मा

के नहीं। जैसे कुम्हार के चाक का वेग उतरता जाता है, वैसे ही उसका प्रारब्ध वेग उतरता जाता है और फिर जन्म नहीं होता; क्योंकि उसको अहंकाररूप्री चरण नहीं लगता। इससे अहंकार का नाश करो। जब अहंकार नष्ट होगा, तब सबके आदि पद की प्राप्ति होगी, जो परम निर्वाणपद है और जिसमें निर्वाण का भी निर्वाण हो जाता है।

हे राम ! जब वर्षाकाल होता है, तब बादल होते हैं। जब शरत्‌काल आता है, तब बादल जाते रहते हैं। हे राम ! जब तक अज्ञानरूपी वर्षाकाल है, तब तक अहंकाररूपी वर्षा है। जब विचाररूपी शरत्‌काल आवेगा, तब अहंकाररूपी मेघ जाते रहेंगे और आत्मरूपी आकाश निर्मल भासित होगा। हे राम ! जैसे मलिन दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब उज्ज्वल नहीं दिखता, और जब मैल मिटता है, तब मुख का प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रत्यक्ष दिखता है, वैसे ही अहंकाररूपी मैल से जीव ढका हुआ है, इससे आत्मा नहीं दिखता; जब अहंकाररूपी मैल हटेगा, तब आत्मा ज्यों का त्यों दिखेगा। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरंग उठते हैं सो सम्यक्‌दर्शी को सब जलमय देख पड़ते हैं, और भूषण में सुवर्ण ही भासित होता है, वैसे ही नाना प्रकार के प्रपञ्च उस सम्यक्‌दर्शी को चैतन्यघन आत्मा ही देख पड़ते हैं-वह आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखता। वह पत्थर की शिला के समान हो जाता है, क्योंकि उसका अहंकार नष्ट हो गया है। अहंकार-संयुक्त है और क्रिया का त्यागकर अपने को सुखी मानता है, वह मूर्ख है। जैसे कोई लकड़ी लेकर आकाश का नाश किया चाहे तो वह नष्ट नहीं होता, वैसे ही क्रिया के त्याग से दुःख नष्ट नहीं होते। जब सम्पूर्ण संसार और कर्म के बीज अहंकार का नाश हो तब अक्रिय आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है।

जैसे ताँबा अपने ताम्रभाव को त्यागकर सुवर्ण होता है, वैसे ही जब जीव अपना जीवत्व त्यागता है, तब आत्मा होता है। जैसे तेल की बूँद जल में फैल जाती है और नाना प्रकार के रंग जल में दिखते हैं, वैसे ही ब्रह्म में अनेक प्रकार की कलना दिखाई देती हैं-आत्मा ब्रह्म, निराकार,

निरञ्जन इत्यादि का नाम भी अहंकार से शुद्ध आत्मा में कल्पित हुए हैं। वह तो निष्क्रिय केवल सत्तामात्र है और सत्य और असत्य की तरह स्थित है। हे राम ! संसार एक मिर्च का पेड़ है अथवा संसार एक फूल है। उसमें अहंतारूपी सुगन्ध है। जब अहंता उदय होती है, तब संसार क्षण में उदय होता है और अहंता का नाश होने पर संसार क्षण भर में नष्ट हो जाता है। क्षण में उदय और क्षण में नाश होता है। सो अहंता का होना ही उदय होने का क्षण है और अहंता का लीन होना नाश का क्षण।

हे राम ! जैसे मृत्तिका में जल के संयोग से घट बनता है, तब मृत्तिका घटसंज्ञा पाती है, वैसे ही पुरुष को जब अहंकार का संग होता है तब संसारी होता है और जीवसंज्ञा पाता है। वह देश, काल, पृथ्वी, पर्वत आदिक दृश्य को प्रत्यक्ष देखता है। जब अहंता का नाश होता है, तब वह सुखी होता है। निदान जो कुछ नाम और उसका अर्थ है सो अहंता से भासित होता है। जब अहंता को त्यागता है, तब शान्तरूप आत्मा ही शेष रहता है। जैसे पवन से रहित दीपक प्रकाशित होता है, वैसे ही अहंकाररूपी पवन से रहित जीव अपने स्वभाव में स्थित होकर आनन्दपद को प्राप्त होता है, अनादि पद पाता है, सबका अपना रूप होता है और अपने में देश, काल, वस्तु देखता है। हे राम ! जब तक अहंता का नाश नहीं होता, तब तक मेरे वचन हृदय में न जमेंगे। जैसे रेत से तेल निकलना कठिन है, वैसे ही जिस पुरुष ने अपना स्वभाव नहीं जाना, उसके लिए ब्रह्म को पाना कठिन है। अपना स्वभाव जानना अति सुगम है। जब अहंता का त्याग करे कि न मैं हूँ और न जगत् है, तब कल्याण होता है; तभी अहंता का नाश होता है और कोई भ्रम नहीं रहता, जैसे रस्सी के जाने से सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है। जब तक अहंता फुरती है, तब तक उसको उपदेश नहीं लगता। जैसे आरसी पर मोती नहीं ठहरता वैसे ही जिसको अहंता फुरती है, उसके हृदय में मेरे वचन नहीं ठहरते। और जिसका हृदय शुद्ध है, उसको मेरे वचन लगते हैं। जैसे तेल की बूँद जल में फैल जाती है, वैसे ही उसको थोड़े वचन भी बहुत लगते हैं।

हे राम ! इसी प्रसंग में एक पुरातन इतिहास कहता हूँ सो तुम सुनो। वह मेरा और काकभुशुण्डि का संवाद है । एक समय मैं सुमेरु पर्वत के शिखर पर गया तो वहाँ भुशुण्डि बैठा था। उससे मैंने प्रश्न किया कि हे अंग ! ऐसा भी कोई पुरुष देखा है, जिसकी आयु बड़ी हो और ज्ञान से शून्य रहा हो ? जो देखा हो तो कहो। भुशुण्डि बोले, हे भगवन् ! एक विद्याधर था, जिसकी बड़ी आयु थी और जिसने बहुत विद्याध्ययन किया था। वह सत्कर्मों को बहुत करता था। उसने बहुत भोग भोगे थे और चार युग पर्यन्त जप, तप, नियम आदिक सकाम कर्म किये थे। जब चतुर्थ युग का अन्त हुआ, तब उसने विचार किया और जितने भोग सुखरूप जानकर भोगता था, उनमें उसको वैराग्य हुआ।

तब उनको त्यागकर लोकालोक पर्वत पर गया और विचारा कि यह संसार असाररूप है, किसी प्रकार इससे छुटूँ। इसमें बारम्बार जन्म और मरण होता है। यहाँ का कोई पदार्थ सत्य नहीं, किसका आश्रय ग्रहण करूँ ? ऐसे विचार करके वह विकृत आत्मावाला पुरुष सुमेरुपर्वत पर मेरे पास आया और सिर झुकाकर मुझे दण्डवत् की। मैंने भी उसका बहुत आदर किया। तब हाथ जोड़कर उसने कहा, हे भगवन् ! इतने काल तक मैं विषयों को भोगता रहा, परन्तु मुझे शान्ति न हुई इससे मैं दुःखी हूँ। तुम कृपा करके शान्ति का उपाय कहो। हे भगवन् ! चित्ररथ के बाग में, जिसमें सदाशिवजी रहते हैं और जहाँ बहुत कल्पवृक्ष हैं, मैं चिरकाल रहा; फिर विद्याधरों के स्वर्ग में रहा; फिर इन्द्र के नन्दनवन और सुवर्ण की कन्दरा में रहकर सुन्दर अप्सराओं के साथ विहार किया और विमान पर बहुत घूमा हूँ। हे भगवन् ! बहुत स्थान मैंने देखे हैं और तप, दान, यज्ञ, व्रत भी बहुत किये हैं। सहस्त्र वर्ष तक ऐसे सुन्दर रूप देखता रहा हूँ , जिनकी सुन्दरता नहीं कह सकता, तो भी नेत्रों को तृप्ति नहीं हुई; बहुत सुगन्ध सूँघी, पर नासिका को तृप्ति न हुई; रसना से भोजन बहुत प्रकार के खाये, पर शान्ति न हुई, बल्कि तृष्णा बढ़ती गई, कानों से बहुत प्रकार के शब्द और राग

सुने और त्वचा से बहुत स्पर्श किये हैं, तो भी शान्ति न हुई।

हे भगवन् ! मैं जिस ओर सुख जानकर जाता हूँ, उसी ओर दुःख प्राप्त होते हैं-जैसे मृग क्षुधा निवारने के लिए घास खाने जाता है और राग सुनकर मूर्च्छित हो जाता है, तब उसको बधिक पकड़ लेता है तो मृग दुःख पाता है, वैसे ही मैं सुख जानकर विषयों को ग्रहण करता था और बड़े दुःखों को प्राप्त होता था। हे भगवन् ! मैंने चिरकाल तक पाँचों इन्द्रियों और छठे मन सहित दिव्यभोग भोगे हैं, जो कहे नहीं जा सकते, परन्तु मुझे शान्ति न हुई और न इन्द्रियाँ तृप्त हुईं। जैसे घृत से अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे ही दिन-दिन तृष्णा बढ़ती जाती है और हृदय को जलाती है। जो पुरुष इन भोगों के निमित्त यत्न करता है कि मैं इनसे सुखी हूँगा, वह मूर्ख है और उसको धिक्कार है-वह समुद्र में तरंग को पकड़ता है। ये तब तक सुखरूप लगते हैं, जब तक इन्द्रियों और विषयों का संयोग है। जब इन्द्रियों से विषयों का वियोग होता है तब महादुःख होता है; क्योंकि तृष्णा हृदय में रहती है और भोग जाते रहते हैं। तब जो-जो विषय भोग होते हैं, वे दुःखदायक हो जाते हैं।

हे भगवन् ! मैंने इसी से बहुत दुःख पाया है। यद्यपि इन्द्रियाँ कोमल हैं, तो भी सुमेरु की तरह कठिन हैं। कोमल लगती हैं, परन्तु ऐसी हैं जैसे सर्पिणी और खड्ग की धार कोमल होती है, पर स्पर्श करने से मनुष्य मर जाता है। जैसे जल में नाव पवन से घूमती है, वैसे ही अज्ञानरूपी नदी में पवनरूपी इन्द्रियों ने मुझे दुःख दिया है। हे भगवन् ! ऐसे पुरुष भी मैंने देखे, जो सारे दिन माँगते रहे और भोजन के निमित्त अन्न प्राप्त नहीं हुआ। और ऐसे भी देखे हैं कि उन्होंने ब्रह्मा से काष्ठ पर्यन्त सब भोग भोगे हैं। पर जिसको दिन में भोजनमात्र भी प्राप्त नहीं होता और जो सब इन्द्रियों के इष्टरूप भोगों को भोगता है; उन दोनों को भस्म होते देखा है। भस्म दोनों की तुल्य होती है-विशेषता कुछ नहीं। इन्द्रियों के बन्धन में बारम्बार जन्मते-मरते अज्ञानी पुरुष शान्ति नहीं पाते। जो तुम कहो कि तू तो सुखी देख पड़ता है, तुझे क्या

दुःख है तो हे भगवन् ! वह दुःख देखने में नहीं आता; परन्तु मेरा हृदय जलता है। हे भगवन् ! ब्रह्मा के लोक में मैंने बड़े सुख देखे हैं, परन्तु वहाँ भी दुखी ही रहा हूँ ; क्योंकि क्षय और अतिशय वहाँ भी रहता है। इससे वहाँ के निवासी भी जलते हैं। इन्द्रियों का शस्त्र से भी कठिन घाव होता है। ये जो संसार का नाना प्रकार की विषमता देख पड़ती है और उनमें सर्वदा रागद्वेष रहता है, इससे मैं बहुत जलता रहा हूँ। इससे मुझसे वही उपाय कहिये, जिससे मैं शान्ति पाऊँ। वह कौन सुख है, जिससे फिर दुखी न होऊँ, जिसका कदापि नाश न हो और जो आदि अन्त से रहित हो। चाहे उसके पाने में कष्ट हो तो मैं यत्न करूँगा कि वह किसी प्रकार मुझे प्राप्त हो।

हे मुनीश्वर ! इन्द्रियों ने मुझे बड़ा कष्ट दिया है। ये इन्द्रियाँ गुणरूपी वृक्ष के लिए अग्नि हैं; शुभ गुणों को जलाती हैं। ये विचार, धैर्य, संतोष शान्ति आदिक गुणरूपी वृक्ष का नाश करनेवाली हैं। हे भगवन् ! इन्होंने मुझे दुःख दिया है। जैसे मृग का बच्चा सिंह के सामने पड़े तो वह उसका मर्दन करता है, वैसे ही इन्द्रियों ने मुझे मारा है। हे भगवन् ! जिस पुरुष ने इन्द्रियों को वश में किया है, उसका पूजन सब देवता करते हैं और उसके दर्शन की इच्छा रखते हैं और जिसने मन को नहीं वश किया उसको दीन जानते हैं। जिस पुरुष ने इन्द्रियों को वश किया है, वह सुमेरु पर्वत की तरह अपनी गम्भीरता में स्थित है और जिसने इन्द्रियाँ वश नहीं कीं, वह तृण की तरह तुच्छ है। जिसको इन्द्रियों के विषयों में सदा तृष्णा रहती है, वह पशु है; उसको धिक्कार है। हे मुनीश्वर ! चाहे बड़ा महन्त भी हो, यदि उसके इन्द्रियाँ वश में नहीं तो वह महानीच है। हे मुनीश्वर! इन्द्रियों ने मुझे बड़ा दुःख दिया है। जैसे महाशून्य उजाड़ में चोर लूट लेते हैं, वैसे ही इन्द्रियों ने मुझे लूट लिया है। इन्द्रियरूपिणी सर्पिणी में तृष्णारूपी विष है। इससे इनके द्वारा सारा विश्व मोहित देख पड़ता है, कोई बिरला ही इनसे न हारा होगा। ये इन्द्रियाँ दृष्ट हैं, जो अपने-अपने विषय को लेती हैं, और को

नहीं देतीं। ये तुच्छ और जड़ हैं। जैसे बिजली का प्रकाश होता है और फिर छिप जाता है; वैसे ही इन्द्रियों के सुख क्षणमात्र दिखाई देते हैं और फिर छिप जाते हैं।

जब तक इन्द्रियों और विषयों का संयोग है, तब तक सुख मिलता है। जब इनका वियोग होता है, तब दुःख उत्पन्न होता है, क्योंकि तृष्णा रहती है। एक सेना है, उसमें इन्द्रियों के भोग उन्मत्त हाथी हैं, जिनके तृष्णारूपी जंजीर है। इन्द्रियाँ रथ हैं; नाना प्रकार के विषय घोड़े हैं। इस पर संकल्प-विकल्परूपी खड्गों को धारण किये अहंकार उस पर सवार है। ये जो काम अहंकार के साथ होते हैं, वे ही शस्त्रों के समूह हैं। हे मुनीश्वर ! जिस पुरुष ने इस सेना को नहीं जीता वह मोहरूपी अन्धे कुएँ में गिरकर कष्ट पाता है, और जिसने जीत लिया है, वह परमसुख को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! ये इन्द्रियाँ भोग की इच्छारूपी खाईं में अहंकाररूपी राजा को डाल देती हैं। उसमें से निकलना कठिन होता है।

जिस पुरुष ने इनको जीता है, उसकी त्रिलोकी में जय होती है, और जिसने नहीं जीता, वह महादीनता को प्राप्त होता है, और जन्म-जन्मान्तर पाता है। इन इन्द्रियों में रजोगुण और तमोगुण रहता है ये तब तक दाह देती हैं, जब तक रज-तम वृत्ति है। यह भी मन की वृत्ति है। जब इनका अभाव होता है, तब शान्ति प्राप्त होती है। यह खोज करके देखा है कि इन्द्रियाँ तप, यज्ञ, व्रत, तीर्थ और किसी औषधि से वश नहीं होतीं और न इनके वश करने का कोई उपाय है। केवल सन्तों के संग से जब वासना को छोड़े, तब वश होती हैं। इससे मैं तुम्हारी शरण हूँ ; कृपा करके मुझे आपदा के समुद्र से निकालो; क्योंकि मैं उसमें डूब रहा हूँ। मैं इस संसारसमुद्र में दीन हूँ, तुम पार करो। तुम्हारी महिमा मैंने सन्तों से भी सुनी है। हे भगवन् ! जो कोई सब आयु पर्यन्त विषयों के दिव्य भोग भोगता रहे और इनसे शान्ति चाहे तो न प्राप्त होगी। बड़े सुख और दुःख, दोनों समान हैं। आकाशचारी सिद्ध भी इन्द्रियों को वश

नहीं कर सकते, इससे दीन और दुःखी रहते हैं। कोई वीर्यवान् पुरुष चाहे फूल की तरह महामत्त हाथी के दाँत को चूर्ण कर सकता हो, परन्तु उसके लिए भी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करना महा कठिन है। हे मुनीश्वर ! इतने काल तक मैं महाअध्यात्म तम से दुखी रहा हूँ। तुम कृपा करके उबारो, मैं तुम्हारी शरण हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधर वैराग्यवर्णनं नाम शताधिकैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३१।।

भुशुण्डिजी बोले, हे वशिष्ठजी ! जब इस प्रकार विद्याधर ने मेरे आगे प्रार्थना की तो मैंने कहा, हे अंग ! तू धन्य है। अब तू जागा है। जैसे कोई पुरुष अन्धे कुएँ में पड़ा हो और उसकी इच्छा हो कि निकले तो जानिये कि अब वह अवश्य निकलेगा। हे विद्याधर ! मैं उपदेश करता हूँ, उसे तू अंगीकार कर। उसे सत्य जानके मेरे वचनों में संशय न करना। मैं सबके सार वचन तुझसे कहता हूँ। जैसे उज्जवल आरसी प्रतिबिम्ब को यत्न बिना ग्रहण करता है, वैसे ही मेरे वचन शीघ्र ही तेरे हृदय में प्रवेश करेंगे। जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसको सन्त उपदेश करें अथवा न करें, उसको सहज वचन ही उपदेश हो जाते हैं। जैसे शुद्ध आदर्श प्रतिबिम्ब को यत्न बिना ग्रहण करता है वैसे ही मेरे वचनों को तू ग्रहण कर लेगा तो दुःख नष्ट हो जावेंगे और तू अविनाशी सुख और आदि-अन्त से रहित परमानन्द को प्राप्त होगा।

इन्द्रियों के सुख आगमापायी* हैं, अतएव दुःख के तुल्य हैं—इनसे रहित होने में परमसुख है। हे विद्याधरों में श्रेष्ठ ! जो कुछ तुझे सुख रूप देख पड़े उसका त्याग करे, तुझे परमसुख प्राप्त होगा। सब दुःखों का मूल अहंभाव है। जब अहंकार का नाश हो, तब शान्ति होगी। संसार का बीज भी अहंकार है। यह संसार मृगतृष्णा के जल सा मिथ्या है। तब तक संसार नष्ट नहीं होता, जब तक अहंतारूपी संसार का बीज है; जब अहंतारूपी बीज नष्ट हो, तब संसार भी निवृत्त हो जायगा। संसाररूपी वृक्ष के सुमेरु आदिक पर्वत पत्ते हैं, तारागण कली और फूल हैं; सातों

---

* आनेवाले और फिर नष्ट होनेवाले को आगमापायी कहते हैं। --------- सम्पादक

समुद्र रस हैं; जन्म-मरण बेल हैं, सुख-दुःख फल हैं और वह आकाश, दिशा, पाताल को धारण किये स्थित है। अहंकाररूपी वृक्ष पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ है; अहंकार ही उसका बीज है। यह वृक्ष मिथ्या भ्रममात्र, असत्य और सत्य की नाईं स्थित है। इससे अहंकाररूप बीज का नाश करो और निरहंकाररूपी अग्नि से इसको जलाओ, तब इसका अत्यन्त अभाव हो जावेगा। यह भ्रम के कारण भय देता है, जैसे रस्सी में सर्पभ्रम डराता है। इससे निरहंकाररूपी अग्नि से उसका नाश करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संसाररूपवृक्षवर्णनंनाम शताधिकद्वात्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३२।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! यह ज्ञान जैसे उत्पन्न होता है सो सुनो। ब्रह्मविद्या-शास्त्र के सुनने और आत्मविचार से यह उपजता है। उस आत्मज्ञानरूपी अग्नि से संसाररूपी वृक्ष को जलाओ। यह आगे भी नहीं था, अस्तित्वहीन ही उदय हुआ है और मन के संकल्प से विद्यमान की नाईं स्थित है। जैसे पत्थर में शिल्पी कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेगीं, सो हुईं कुछ नहीं, वैसे ही मनरूपी शिल्पी ये विश्वरूपी पुतलियाँ कल्पना में लाता है। जब मन का नाश करोगे, तब संसारभ्रम मिट जावेगा; आत्मविचार करके परमपद को प्राप्त होगे और अपना रूप परमात्मरूप प्रत्यक्ष भासित होगा। इससे अहंता को त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित होओ। हे विद्याधर ! यह संसाररूपी वृक्ष अहंतारूपी बीज से उपजता है। उसको जब ज्ञानरूपी अग्नि से जलाओगे, तब फिर यह जगत् न उपजेगा। यदि इसको विचार करके देखिये, तो अहं-त्वं नहीं रहता।

हे विद्याधर ! यह अहं-त्वं मिथ्या है-इनके अभाव की भावना करो यही उत्तम ज्ञान है। हे साधो ! जब गुरु के वचन सुनकर उनके अनुसार पुरुषार्थ करे, तब परमपद को प्राप्त होता है और जय होती है। हे विद्यारूपी कन्दरा को धारण करनेवाले, पर्वत, और विद्यारूपी पृथ्वी को धारण करनेवाले शेषनाग ! यह संसार एक आडम्बर है। उसके सुमेरु जैसे

कई खम्भे हैं जो रत्नों की पंक्ति से जड़े हुए हैं। वन, दिशा, पहाड़, वृक्ष, कन्दरा, वैताल, देवता, पाताल, आकाश, इत्यादिक सारा ब्रह्माण्ड उसके ऊपर स्थित है। रात्रि, दिन, भूत, प्राणी और इनके जो घर हैं सो चौपड़ के खाने हैं। जो जैसा कर्म करता है, वह उसके अनुसार दुःख-सुख भोगता है। ऐसे ही यह जो क्रियासंयुक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च दिखाई देता है सो भ्रम से सिद्ध है-इसलिए मिथ्या है। जैसे स्वप्न की सृष्टि संकल्प से भासित होती है, वैसे ही यह सृष्टि भी भ्रम से भासित होती है और अज्ञान की रची हुई है। आत्मा के अज्ञान से भासित होती है और आत्मा के ज्ञान से लीन हो जाती है। जब सृष्टि है तब भी परमात्मतत्त्व ही है और जब सृष्टि न होगी तब भी परमात्मतत्त्व ही होगा। आगे भी वही था। यह जो कुछ प्रपञ्च तुझे दीखता है सो शून्य आकाश ही है। त्रिगुणमय प्रपञ्च गुणों का रचा हुआ अपने स्वरूप के प्रमाद से स्थित हुआ है। आत्मज्ञान से यह शून्य सदृश हो जावेगा। जब प्रपञ्च ही शून्य हुआ, तब आत्मा और अनात्मा का कहना भी न रहेगा। पीछे जो शेष रहेगा, वह केवल शुद्ध परमतत्त्व और तेरा अपना रूप है। उसमें स्थित हो रहे और दृश्य का त्यागकर। यह विचार कि न मैं हूँ और न जगत् है। जब तू ऐसा होगा, तब तेरी जय होगी। आत्मपद सबसे उत्तम है। जब तू आत्मपद में स्थित होगा, तब सबसे उत्तम होगा और तेरी जय होगी-इससे आत्मपद में ही स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संसाराडम्बरोत्पत्तिर्नाम
शताधिकत्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३३ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! यह प्रपञ्च भी आत्मा का चमत्कार है। आत्मा शुद्ध चैतन्य है, जिसमें जड़ और चेतन स्थित हैं। वह सबका अधिष्ठान है। वह सत्तामात्र तेरा अपना रूप है। वह अहं-त्वं शब्द-अर्थ से रहित आत्मत्वमात्र है, पर सत्यस्वरूप होकर असत्य की भाँति स्थित है। हे विद्याधर ! तू इस जड़ और चेतन से अबोध हो रह। जब तू अबोध होगा, तब शान्त और चिद्घन होगा। ये जो जड़ और चेतन हैं, इन दोनों

का परमार्थ चैतन्य के ऊपर आवरण है। यद्यपि वह अदृश्य है तो भी इनके भीतर ही रहता है, जैसे समुद्र के भीतर बड़वाग्नि रहती है। इन जड़-चेतन रूपों का कारणरूप वही है। इनकी उत्पत्ति भी उसी से होती है, और नाश भी वही करता है। हे विद्याधर ! जब ऐसे जाना कि मैं चेतनरूप भी नहीं और जड़ भी नहीं तो पीछे जो रहेगा, वही तेरा स्वरूप है। जब तेरे भीतर इन जड़ और चेतन, दोनों का स्पर्श नहीं हुआ, तब सबके भीतर जो चैतन्य है, वही ब्रह्म तुझे भासित होगा। विश्व और आत्मा में कुछ अन्तर नहीं हुआ। जैसे सूर्य की किरणों का चमत्कार जलाभास होता है, वैसे ही शुद्ध चैतन्य का चमत्कार विश्व होकर दिखता है।

हे अंग ! जैसे दीवाल पर पुतलियाँ लिखी होती हैं तो वे दीवाल से भिन्न चितेरे ने नहीं लिखी हैं, वैसे ही शून्य आकाश में चित्तरूपी चितेरे ने विश्वरूपी पुतलियों की कल्पना की है। जैसे सुवर्ण कल्पित भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा में अज्ञान से जो विश्व देखते हैं, वह आत्मा से भिन्न नहीं। जगत्, ब्रह्म, आत्मा, आकाश, देश, काल सब उसी तत्त्व की संज्ञा हैं। वही शुद्ध चैतन्य आकाश है, जिसका चमत्कार ऐसे स्थित है। उसी तत्त्व में तू भी स्थित हो रह। यह जगत् ऐसे हैं, जैसे दूर-दृष्टि से आकाश में बादल हाथी की सूँड़ से लगते हैं। यह जो अहं-त्वं-रूप जगत् है सो अबोध से भासित होता और बोध से लीन हो जाता है-जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणों से जल दिखता है, वैसे ही यह जगत् है-इससे इसका त्याग करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तचमत्कारो नाम
शताधिकचतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३४ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! यह सब स्थावर जंगम जगत् आत्मा से उत्पन्न हुआ है और आत्मा ही में स्थित है। आत्मा ही विश्व में स्थित है। जैसे स्वप्न का विश्व स्वप्न देखनेवाले में स्थित होता है। आत्मा किसी का कारण नहीं; क्योंकि अद्वैत है। हे अंग ! जो तू उस पद के पाने की इच्छा करता है तो तू ऐसा निश्चय कर कि न मैं हूँ और

न यह जगत् है। जब तू ऐसा जानेगा, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी, जो कि देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है। सर्वत्र सब वही परमात्मतत्त्व है। जगत् का कर्ता संकल्प ही है; क्योंकि संकल्प से जगत् उत्पन्न होता है। जैसे पवन से अग्नि उत्पन्न होती है और पवन ही से दीपक का निर्वाण होता है, वैसे ही जब संकल्प बहिर्मुख फुरता है, तब संसार उदय हो भासित होता है, और जब संकल्प अंतर्मुख होता है, तब आत्मपद प्राप्त होता, सब प्रपञ्च उसी में लय हो जाता है। इस प्रकार संसार की नाना प्रकार की संज्ञाएँ फुरने से ही होती हैं, स्वरूप में कुछ नहीं है। न सत्य है, न असत्य है, न स्वतः है, न अन्य से है। यह सब कलनामात्र है। सत्, असत् और स्वतः, अन्य का जब अभाव हुआ, तब वहाँ अहं-त्वं कहाँ मिलेंगे ? वह है नहीं और बालक के यक्षवत् भ्रममात्र है।

हे साधो ! जहाँ अहं-त्वं नष्ट हो गये, वहाँ जो सत्ता बची वही परमूपद है। जहाँ जगत् का भ्रम है, वहाँ वह विचार से लीन हो जाता है। वास्तव में पूछो तो ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं-नाम मात्र दो हैं-जैसे घट और कुम्भ-परन्तु भ्रम से नानात्व भासित होता है। जैसे समुद्र में उठने वाले आवर्त और तरंग जल से कुछ भिन्न नहीं और पवन के संयोग से उनके आकार भासित होते हैं वैसे ही आत्मा में जगत् कुछ भिन्न नहीं। संकल्प के उठने से नाना प्रकार का जगत् भासित् होता है। हे अंग ! संकल्प के साथ मिलकर चित्त जैसी भावना करता है, वैसा ही अपना रूप देखता है। स्वरूप से कुछ भिन्न नहीं, परन्तु जीव भावना से और का और देखता है। जैसे शुद्ध मणि के निकट कोई रंग रखिये, वैसा ही रंग भासित होता है, पर मणि में कोई रंग नहीं होता, वैसे ही चित्त शक्ति में कुछ हुआ नहीं, पर हुए की नाईं स्थित है। इससे अपने स्वरूप की भावना करो और जड़ चैतन्य को छोड़कर शुद्ध चैतन्य में स्थित होओ। जब ऐसे जानकर अपने स्वरूप में स्थित होगे, तब तुम्हें उत्थान में भी अपना स्वरूप दिखेगा। जैसे स्थिर समुद्र में जो तरंग उठते हैं, वे कारणरूप जल के बिना

तो नहीं होते, वैसे ही कारणरूप ब्रह्म बिना जगत् नहीं हैं; परन्तु ब्रह्मसत्ता अकर्ता, अद्वैत और अच्युत है। इसी से कहा है कि ब्रह्म अकर्ता है और जगत् अकारणरूप है। जो जगत् अकारणरूप है तो वह न उपजता है और न नाश होता है-मरुस्थल के जल की तरह भ्रममात्र है। इसी से कहा है कि जगत् कुछ वस्तु नहीं, केवल अज, अच्युत और शान्तरूप आत्मतत्त्व ही अखण्डित स्थित है और शिला कोश की तरह अचैत्य चिन्मात्र है जिसके हृदय में चिन्मात्र की भावना नहीं,उस मूर्ख को हम क्या कहें ! हे साधो ! वास्तव में परमार्थ दृष्टि से कुछ भी नहीं बना, पर जहाँ-जहाँ मन है, वहाँ-वहाँ अनेक जगत् हैं। तृण से सुमेरु तक सब जगत् में हैं। जो विचारकर देखिये तो सब वही ब्रह्मरूप है, और कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण को जान लेने से भूषण भी सुवर्ण भासित होता है। वैसे ही केवल सत्ता समानपद एक अद्वैत है, भिन्न कुछ नहीं। और भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ भी वही हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्गउपसर्गोपदेशो नाम शताधिकपचत्रिंशत्तमस्सर्गः।। १३५।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! जब आत्मपद प्राप्त होता है, तब ऐसी अवस्था होती है कि जो नग्न शरीर हो और उस पर बहुत शस्त्रों की वर्षा हो तो भी उससे जीव दुखी नहीं होता और सुन्दर अप्सरा कण्ठ से लगे तो हर्ष नहीं होता, अर्थात् दोनों ही में समदर्शी रहता है। हे विद्याधर ! तब तक आत्मपद का अभ्यास करे, जब तक संसार से सुषुप्त की नाईं न हो जाय। अभ्यास ही से आत्मपद प्राप्त होगा। जब आत्मपद की प्राप्ति होगी, तब पाञ्चभौतिक शरीर को ताप या ज्वर स्पर्श न करेंगे, और यदि शरीर के हों भी, तो भी उसके अन्तःकरण में प्रवेश नहीं करते। वह केवल शान्तपद में स्थित रहता है—जैसे जल कमल को स्पर्श नहीं करता। हे देवपुत्र ! जब तक देहादि में अभ्यास है, तब तक आत्मा के प्रमाद से सुख-दुःख स्पर्श करते हैं। जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब सब प्रपञ्च भी आत्मरूप हो जाते हैं। हे विद्याधर ! जैसे कोई पुरुष

विष-पान करता है तो उसको जलन और खाँसी होती है—यह अवस्था विष की है-विष से भिन्न और कुछ नहीं परन्तु यह नामसंज्ञा हुई है। विष न जन्मता, न मरता है और जलन खाँसी उसमें देख पड़ती है, वैसे ही आत्मा न जन्मता है, न मरता है, और गुणों के साथ मिलकर भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ देख पड़ता है।

आत्मा जन्ममरण से रहित है, पर गुणों के साथ मिलने से जन्मता मरता भासित होता है और अन्तःकरण, देह, इन्द्रियादिक भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं। हे साधो ! यह जगत् भ्रम से प्रतीत होता है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे इस जगत् को गाय के पैर के गढ़े की तरह अपने पुरुषार्थ से नाँघ जाते हैं, और जो अज्ञानी हैं, उनको अल्प भी समुद्र समान हो जाता है। इससे आत्मपद पाने का यत्न करो, जिसके जानने से संसारसमुद्र तुच्छ हो जायगा। वह आत्मतत्त्व सबमें अनुस्यूत और सबसे अतीत है। उसके जानने से अन्तःकरण शीतल हो जाता है और सब ताप नष्ट हो जाते हैं। हे साधो ! फिर उसका त्याग करना अविद्या और बड़ी मूर्खता है। हे साधो! ये सब पदार्थ ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जब ब्रह्मस्वरूप हुए तब मन, अहंकार, कलंक आदिक भी वही हैं—किसी से किसी को कुछ सुखःदुख नहीं। हे विद्याधर ! जब आत्मपद को जाना, तब अन्तःकरण आदि भी ब्रह्मस्वरूप भासित होंगे। जो संकल्प से भिन्न भिन्न जाने जाते हैं, वे संकल्प के होते भी ब्रह्मस्वरूप भासित होंगे। इसलिए संकल्प हीन होकर स्थित हो, सोचो—न मैं हूँ, न यह जगत् है और न इदम् है। इन शब्दों और अर्थों से रहित होकर स्थित हो रहो, सब संशय मिट जावें।

हे विद्याधर ! जब तू ऐसा निरहंकार और निःसंकल्प होगा, तब उत्थानकाल में भी बुद्धि, बोध, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, यश, कीर्ति इत्यादिक जो शुभाशुभ अवस्था हैं, सब आत्मस्वरूप भासित होंगी और सबमें आत्मबुद्धि रहेगी। इनके प्राप्त होने पर भी केवल परमार्थ सत्ता से भिन्न न भासित होगा—जैसे अन्धकार में सर्प के पैर का चिन्ह नहीं जान पड़ता क्योंकि वह है ही नहीं, वैसे ही तुमको सब अवस्थाएँ न भासित

होंगी—सब आत्मा ही भासित होगा—और जितने कुछ भावरूप पदार्थ स्थित हैं, वे अभाव हो जावेंगे। हे अंग ! जिस पुरुष ने विचारकर आत्मपद पाने का यत्न किया है, वह पावेगा और जिसने कहा कि मैं मुक्त हो रहूँगा और ईश्वर मुझ पर दया करेंगे, वह पुरुष कभी मुक्त न होगा। पुरुष के प्रयत्न बिना कभी मुक्ति न होगी। आत्मस्वरूप में न कोई दुःख है और न किसी गुण से मिला हुआ सुख है। वह केवल शान्तरूप है। किसी से किसी को कुछ सुख दुःख नहीं; न सुख है और न दुःख है, न कोई कर्ता है और न भोक्ता है, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे यथाभूतार्थभावरूपयोगोपदेशो नाम शताधिकषट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३६ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! जैसे कोई कलना करे कि आकाश में अन्य आकाश स्थित है तो वह मिथ्या प्रतीति है, वैसे ही आत्मा में जो अहंकार उठता है वह मिथ्या है। जैसे आकाश में अन्य आकाश कुछ वस्तु नहीं। परमार्थ तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है कि उसमें आकाश भी स्थूल है। वह ऐसा स्थूल है कि उसके आगे सुमेरु आदिक भी सूक्ष्म अवगुण हैं। राग-द्वेष से रहित चैतन्य केवल शान्तरूप है—गुण और तत्त्व के क्षोभ से रहित है। हे देवपुत्र ! निजानुभवरूपी चन्द्रमा अमृत को बरसानेवाला है। हे अंग ! जितने दृश्य पदार्थ दिखते हैं, वे हुए कुछ नहीं। हे अंग ! आत्मरूप अमृत की भावना कर, जिसमें तू जन्ममरण के बन्धन से मुक्त हो। जैसे आकाश में दूसरे आकाश की कल्पना मिथ्या है, वैसे ही निराकार चिदात्मा में अहं मिथ्या है। और जैसे आकाश अपने आपमें स्थित है वैसे ही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित और अहं-त्वं आदि से रहित है। जब उसमें अहं का उत्थान होता है, तब जगत् फैल जाता है—जैसे वायु जब फुरने से रहित होती है, तब आकाशरूप हो जाती है, वैसे ही संवित् उत्थान अहं से रहित होने पर आत्मरूप हो जाती है और जगत् का भ्रम मिट जाता है।

फुरने से जगत् फुर आया है; वास्तव में कुछ नहीं है। ज्ञानवान् को आत्मा ही भासित होता है। देश, काल, बुद्धि, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, कीर्ति

सब आकाशरूप हैं—ब्रह्मरूपी चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। जैसे बादलों के संयोग से आकाश धूमिल होता है, वैसे ही प्रमाद से संवित् दृश्यभाव को प्राप्त होती है; परन्तु और कुछ नहीं हो जाती। जैसे तरंग उठने से जल और कुछ नहीं हो जाता और जैसे काष्ठ काटने से और कुछ नहीं हो जाता, वैसे ही द्रष्टा से दृश्य भिन्न नहीं होता। जैसे केले के खम्भे में पत्ते के सिवा और कुछ नहीं निकलता और पत्ते शून्यरूप हैं, वैसे ही यह जगत् भासित होता है, परन्तु आत्मा से भिन्न नहीं, शून्यरूप है। शीश, भुजा, नेत्र, चरण आदिक नाना अंग जो भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, वे सब शून्यरूप केले के पत्तों की नाईं हैं और सब असाररूप हैं। हे विद्याधर ! चित्त में रागरूपी मलिनता है। जब वैराग्यरूपी झाड़ू से झाड़िये, तब चित्त निर्मल हो। जैसे दीवार पर चित्र लिखे जाते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् भासित होता है। देवता, मनुष्य, नाग, दैत्य आदि का यह सब जगत् संकल्परूपी चितेरे ने चित्र सदृश लिखे हैं। ये स्वरूप के विचार से निवृत्त हो जाते हैं। जब स्नेहरूप संकल्प फुरता है, तब भाव-अभावरूप जगत् फैल जाता है। जैसे जल में तेल के बूँद फैल जाते हैं और जैसे बाँस से अग्नि निकलकर बाँस को दग्ध करती है, वैसे ही संकल्प इससे उपजकर इसी को खाते हैं। आत्मा में जो देश-काल पदार्थ भासित होते हैं, यही अविद्या है—पुरुषार्थ से इसका अभाव करो। दो भाग साधुओं के संग और सत् कथा सुनकर नष्ट करो; तृतीय भाग को शास्त्र का विचार करके और चतुर्थ भाग को आत्मज्ञान का आप ही अभ्यास करके मिटाओ। इस उपाय से अविद्या नष्ट हो जावेगी और अशब्द, अरूपपद की प्राप्ति होगी।

विद्याधर ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जिन चार भागों के नाश से अशब्दपद प्राप्त होता है, वह काल का क्रम क्या है ? और नाम-अर्थ का अभाव होने पर शेष क्या रहता है ? भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! संसार-समुद्र के तरने को ज्ञानवानों का संग करना और जो विकृत निर्वैर पुरुष हैं, उनकी भली प्रकार टहल करना। इससे अविद्या का अर्धभाग नष्ट होगा। तीसरा भाग मनन करके और चतुर्थ भाग अभ्यास करके नष्ट होगा। जो यह उपाय

न कर सको तो यह युक्ति करो कि जिसमें चित्त अभिलाषा करके आसक्त हो, उसी का त्याग करो। एक भाग अविद्या इस प्रकार नष्ट होगी। तीन भाग शास्त्र-विचार और अपने यत्न से शनैः-शनैः नष्ट होवेगा। साधुसंग, सत्‌शास्त्र-विचार और अपना यत्न हो तो एकबारगी अविद्या नष्ट हो जावेगी। ये समकाल कहे हैं। एक-एक के सेवने से एक-एक भाग निवृत्त होता है। पीछे जो शेष रहता है, उसमें वाम-अर्थ सब असत्‌रूप हैं और वे अजर, अनन्त, एकरूप हैं। संकल्प के उपजने से पदार्थ भासित होते हैं और संकल्प के लीन होने पर लीन हो जाते हैं। हे विद्याधर ! यह जगत्‌ संकल्प ने रचा है—जैसे आकाश में सूर्य निराधार स्थित होता है, वैसे ही देश-काल की अपेक्षा से रहित यह मननमात्र स्थित है। तीनों जगत्‌ मन के फुरने से प्रकट होते हैं और मन के लय होने से लय हो जाते हैं—जैसे स्वप्न के पदार्थ जागने से मिट जाते हैं। हे विद्याधर ! ब्रह्मरूपी वन में एक कल्पवृक्ष है, जिसकी अनेक शाखाएँ हैं। उसकी एक शाखा में जगत्‌रूपी गूलर का फल है, जिसमें देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु आदिक मच्छर हैं। वासनारूपी रस से पूर्ण मज्जा पहाड़ है। पञ्चभूत मुख द्वारा उसका निकलने का खुला मार्ग इत्यादिक सुन्दर रचना बनी हैं।

उसमें त्रिलोकी का ईश्वर एक इन्द्र हुआ और गुरु के उपदेश से उसका आवरण नष्ट हो गया। फिर इन्द्र और दैत्यों का युद्ध होने लगा और इन्द्र अपनी सेना को ले चला। पर उसकी निर्बलता हुई, इसलिए वह भागा और दशों दिशाओं में घूमता रहा। पर जहाँ जावे, वहीं दैत्य उसके पीछे चले आते। जैसे पापी परलोक में शोभा नहीं पाता, वैसे ही इन्द्र ने जब शान्ति न पाई, तब अन्तवाहकरूप करके सूर्य के त्रसरेणु में प्रवेश कर गया। जैसे कमल में भौंरा प्रवेश करे, वैसे ही उसने प्रवेश किया तो वहाँ उसको युद्ध का वृत्तान्त भूल गया। तब उसने एक मन्दिर में बैठा अपने को देखा। जैसे निद्रा से स्वप्नसृष्टि प्रकट हो, वैसे ही उसने वहाँ रत्न और मणियों से संयुक्त नगर देखा वह उसमें गया और पृथ्वी, पहाड़, नदियाँ,

चन्द्र, सूर्य, त्रिलोकी उसको वहाँ दिखाई देने लगे। उस जगत् का इन्द्र अपने को उसमें देखा कि दिव्य भोग और ऐश्वर्य से सम्पन्न मैं इन्द्र स्थित हूँ। वह इन्द्र कुछ काल के उपरान्त शरीर को त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुआ—जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण होता है। तब कुन्द नाम उसका पुत्र इन्द्र हुआ और राज्य करने लगा। फिर उसके एक पुत्र हुआ। तब कुन्द भी इन्द्र शरीर को त्यागकर परमपद को प्राप्त हुआ और उसका पुत्र राज्य करने लगा। फिर उसके भी एक पुत्र हुआ। इसी प्रकार सहस्त्र पुत्र होकर राज्य करते रहे। उन्हीं के कुल में यह हमारा इन्द्र राज्य करता है। इससे यह जगत् संकल्पमात्र है और उस त्रसरेणु से यह सृष्टि है। इसलिए इस जगत् को संकल्पमात्र जानकर इसकी आस्था त्यागो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इन्द्रोपाख्याने त्रसरेणुजगत्-वर्णनन्नाम शताधिकसप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३७ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! फिर उनके कुल में एक बड़ा श्रीमान् इन्द्र हुआ, जो त्रिलोकी का राज्य करता रहा और फिर निर्वाण को प्राप्त हुआ। उसके एक पुत्र था, जिसको बृहस्पतिजी के वचनों से ज्ञानरूप प्रतिभा उदय हुई। तब वह विदितवेद होकर स्थित हुआ। यथाप्राप्ति में इन्द्र होकर राज्य करने लगा और दैत्यों को जीता। एक समय वह किसी कार्य के लिए कमल के तन्तु में घुस गया तो वहाँ उसको नाना प्रकार का जगत् दिखने लगा और अपनी इन्द्र की प्रतिभा हुई। इससे उसे इच्छा हुई कि मैं ब्रह्मतत्त्व को पाऊँ और दृश्य पदार्थ की तरह उसे प्रत्यक्ष देखूँ। इसलिए वह एकान्त में बैठकर समाधि में स्थित हुआ। तब उसको भीतर-बाहर ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ और प्रतिभा के उदय होने से यह निश्चय हुआ कि सब ब्रह्म ही है और वही पूजने योग्य है। सब उसी को पूजते भी हैं। केवल शुद्ध आत्मपद सब शब्द, रूप, अवलोक और मनस्कार से रहित है। सब ओर उसी के पाणिपाद हैं। सब सिर और मुख उसी के हैं। सब ओर उसके श्रवण हैं। सब ओर उसके नेत्र हैं। आत्मतत्त्व से वही सबमें स्थित हो रहा है। सब

इन्द्रियों और विषयों को वही प्रकाशित करता है। वह सब इन्द्रियों से रहित है और आसक्त हुआ भी सबको धारण कर रहा है। वह निर्गुण है और इन्द्रियों के साथ मिलकर गुणों को भोगता है। वही सब प्राणियों के भीतर बाहर व्याप रहा है। सूक्ष्म है, इससे दुर्विज्ञेय है, और इन्द्रियों का विषय नहीं है। अज्ञानी का अज्ञान के कारण दूर है और आत्मत्व द्वारा ज्ञानी को ज्ञान के कारण निकट है। वह अनन्त, सर्वव्यापी केवल शान्तरूप है, जिसमें दूसरा कोई नहीं। घट, पट, दीवार, गाय, आँवा, नाग, नर सबमें वही तत्त्व भासित है। पर्वत, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, देश, काल, वस्तु, सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं।

हे विद्याधर ! इस प्रकार इन्द्र को ज्ञान हुआ और वह जीवन्मुक्त हुआ। तब वह सब चेष्टा करता, परन्तु अन्तःकरण से नहीं बँधता। जब कुछ काल बीता, तब इन्द्र उस निर्वाणपद को प्राप्त हुआ, जिसमें आकाश भी स्थूल है। फिर उस इन्द्र का एक बड़ा शूरवीर पुत्र सब दैत्यों को जीतकर देवताओं और त्रिलोकी का राज्य करने लगा। फिर उसको भी ज्ञान उत्पन्न हुआ। सत्‌शास्त्र और गुरु के वचनों से कुछ काल में वह भी निर्वाण को प्राप्त हुआ। तब उसको जो पुत्र था, वह राज्य करने लगा। इसी प्रकार कई इन्द्र राज्य करते और नाना प्रकार के व्यवहारों को देखते रहे। फिर उसके कुल में कोई पुत्र था, उसको यह हमारी सृष्टि भाषित हुई तो वह भी ब्रह्मध्यानी हुआ और इस त्रिलोकी का राज्य करने लगा। अब तक विश्व का इन्द्र वही है। हे विद्याधर ! इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति संकल्पमात्र है और सब मैंने तुझसे कही। पहले उसको त्रसरेणु में सृष्टि दिखी, फिर उस सृष्टि के एक कमल के तन्तु में दिखी। फिर उसमें कई वृत्तान्त, जो संकल्पमात्र थे, उसने देखे। फिर उस अणु में अनेक अवस्थाएँ देखीं। हे विद्याधर ! पर वास्तव में वह कुछ हुई नहीं। जैसे आकाश में नीलिमा भाषित होती है, पर है नहीं वैसे ही यह विश्व है। आत्मा में विश्व का अत्यन्त अभाव है। यह विश्व अहंभाव से उपजा है। जब अहंभाव उठता है, तब आगे सृष्टि बनती है, और जब अहं का अभाव होता है,

तब विश्व कुछ नहीं। इस विश्व का बीज अहं है, इससे तू ऐसी भावना कर कि न मैं हूँ और न जगत् है। जब ऐसी भावना करेगा, तब आत्मा ही शेष रहेगा, जो प्रत्यक्ष ज्ञानरूप अपना रूप है। हे विद्याधर ! इस मेरे उपदेश को अंगीकार कर।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संकल्पासंकल्पैकताप्रतिपाद-
नन्नाम शताधिकअष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३८ ।।

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! जब अहं का उत्थान होता है, तब आगे सृष्टि बनकर भासित होता है, और जब अहं का अभाव होता है तब विश्व कुछ नहीं भासित होता, केवल शुद्ध आत्मा ही भासित होता है। हे विद्याधर ! इन्द्र ने कहा कि मैं हूँ। उसको सूर्य की किरणों के अणु में ऐसे अहं हुआ तो उसने उसमें नाना विस्तार देखा और कष्ट पाया। जो उसको अहं न होता तो दुःख न पाता। दुःखरूपी वृक्ष का अहं बीज है। आत्मविचार से इसका नाश होता है। जब अहं का नाश होता है, तब आत्मपद का साक्षात्कार होता है। आत्मपद का साक्षात्कार होने से प्रच्छन्न अहं का नाश होता है। हे विद्याधर ! आत्मारूपी एक पर्वत है, जिस पर आकाशरूपी वन है। उसमें संसाररूपी वृक्ष लगा है। उसमें वासनारूपी रस है। अज्ञानरूपी भूमि से वह उत्पन्न हुआ है। नदियाँ, समुद्र उसकी नाड़ी हैं। चन्द्रमा और तारे फूल हैं। वासनारूपी जल से वह बढ़ता है। वही अहंकाररूपी वृक्ष का बीज है। सुख-दुःखरूपी इसके फल हैं। आकाश इसकी डालें और पाताल जड़ है। तुम इस वृक्ष को ज्ञानरूपी अग्नि से जलाओ और अहंरूपी वृक्ष के बीज का नाश करो। हे विद्याधर ! एक खाई है, जिसके जन्ममरणरूपी दो किनारे हैं। उसमें अनात्मरूपी जल है। वासनारूपी तरंगें उठती हैं और विश्वरूपी बुलबुले उठते हैं और मिट भी जाते हैं। शरीररूपी झाग है और अहंकाररूपी वायु है। जब वायु हुई तब तरंग और बुलबुले सब होते हैं और जब वायु मिट गई, तब केवल स्वच्छ निर्मलरूप ही भासित होता है।

हे विद्याधर ! जो वायु हुई तो जल से भिन्न कुछ न हुआ और जो

न हुई तो भी जल से भिन्न कुछ नहीं, जल ही है। वैसे ही अज्ञान के होने और निवृत्त होने पर भी आत्मपद ज्यों का त्यों है। परन्तु सम्यक्दर्शन से आत्मपद और अज्ञान से जगत् भासित होता है। अहं का होना ही अज्ञान है। जब अहं हुआ तब मम भी होता है। सो 'अहं' 'मम' नाम संसार का है। जब अहं-मम मिटता है, तब जगत् का अभाव होता है। अहं के होते दृश्य भासित होता है और दृश्य में अहं होता है। इससे संवेदन को त्यागकर निर्वाणपद में प्राप्त हो। इतना कह भुशुण्डिजी ने मुझसे कहा कि हे वशिष्ठजी ! इस प्रकार जब मैंने विद्याधर को उपदेश किया तो वह समाधि में स्थित होकर निर्वाणपद को प्राप्त हुआ। जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसे ही उसका चित्त क्षोभ से रहित शान्ति को प्राप्त हुआ। हे ब्राह्मण! उसका हृदय शुद्ध था, इस कारण मेरे वचन शीघ्र ही उसके हृदय में प्रवेश कर गये। जब वह समाधि में स्थित हुआ तो मैंने उसको बारम्बार जगाया परन्तु वह न जागा-जैसे कोई जलता-जलता शीतल समुद्र में जाकर बैठे और उससे कहिये कि तू निकल तो वह नहीं निकलता; वैसे ही संसारताप से जलता हुआ जीव जब आत्मसमुद्र में गोता लगाता है, तब वह संसार के अज्ञानरूपी प्रवाह को नहीं देखता। हे वशिष्ठजी ! जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसको थोड़े वचन भी बहुत होकर लगते हैं। जैसे तेल की एक बूँद जल में बहुत फैल जाती है, वैसे ही जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसको थोड़ा वचन भी बहुत होकर लगता है। पर जिसका अन्तःकरण मलिन होता है, उस पर वचन प्रभाव नहीं डालते। जैसे आरसी पर मोती नहीं ठहरता वैसे ही गुरुशास्त्र के वचन उसको नहीं लगते। जब विषयों से वैराग्य उपजे; तब जानिये कि हृदय शुद्ध हुआ।

हे वशिष्ठजी ? जब मैंने विद्याधर को उपदेश किया, तब वह शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त हुआ; क्योंकि उसका चित्त निर्मल था। हे मुनीश्वर! जो तुमने मुझसे पूछा था सो मैंने कहा कि उस विद्याधर को मैंने अज्ञान से रहित चिरकाल जीता देखा। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ऐसे

कहकर काकभुशुण्डि चुप हो रहे और मैं नमस्कार करके आकाशमार्ग से अपने घर आया। हे राम ! मेरे और काकभुशुण्डि के इस संवाद को एकादश चौकड़ी युग बीतते हैं। हे राम ! यह कोई नियम नहीं है कि थोड़े काल में ज्ञान उपजे या बहुत काल में। यह हृदय की शुद्धता की बात है। जिसका हृदय शुद्ध होता है, उसको गुरु और शास्त्रों का वचन शीघ्र ही लगता है—जैसे जल नीचे को स्वभाविक जाता है। हे राम ! इतना उपदेश जो मैंने तुमको क्रम से किया है, उसका तात्पर्य यही है कि वासना का त्याग करो, सोचो कि न मैं हूँ और न कोई जगत् है—तब पीछे निर्विकल्प केवल आत्मपद रहेगा, जो सबका अपना रूप है और उसका साक्षात्कार तुमको होगा। जैसे मलिन दर्पण में मुख नहीं दीखता, वैसे ही आत्मरूपी दपर्ण अहंरूपी मल से ढका है। जब इसका त्याग करोगे, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और जगत् भी अपना रूप भासित होगा। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है; क्योंकि सब केवल आत्मतत्त्वमात्र है। और जो कुछ भासित होता है, उसे मृगतृष्णा के जल सा और बन्ध्या के पुत्र सा जानो। यह जगत् आत्मा के प्रमाद से भासित होता है—जैसे आकाश में नीलिमा भासित होती है, पर है नहीं, वैसे ही जगत् प्रत्यक्ष भासित होता है और है नहीं। जैसे रस्सी में सर्प मिथ्या है, वैसे ही आत्मा में जगत् मिथ्या है। जब आत्मा का ज्ञान होगा, तब जगत् का अत्यन्त अभाव होगा और केवल आत्मत्वमात्र भासित होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डि विद्याधरोपाख्यान-
समाप्तिर्नाम शताधिकनवत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। १३९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम अहंवेदना से रहित होओ। संसार-रूपी वृक्ष का बीज अहं ही है। वासना से शुभ-अशुभरूप कर्मों का सुख-दुःख फल है, और वह वासना ही से प्रफुल्लित होता है। इससे अहंभाव को निवृत्त करो जब अहं फुरता है, तब आगे जगत् भासित होता है। जब अहंता से रहित होगे तब जगत् का भ्रम मिट जावेगा। अहंता आत्मबोध से नष्ट होती है। आत्मबोधरूपी खंभारी से उड़ाया अहंतारूपी पाषाण न

जानोगे कि कहाँ गया। सुवर्ण मिट्टी के ढेले सा तुमको हो जावेगा। शरीररूपी पत्ते पर अहंतारूपी अणु स्थित है; जब बोधरूपी वायु चलेगी तब न जान पाओगे कि कहाँ गया। शरीररूपी पत्ते पर अहंतारूपी बरफ का कण स्थित है; बोधरूपी सूर्य के उदय होने पर न जानोगे कि वह कहाँ गया। बोध बिना अहंता नष्ट नहीं होती। चाहे कीचड़ में रहे और चाहे पहाड़ में जावे, चाहे घर में रहे और चाहे स्थल में रहे, चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म हो, चाहे निराकार हो और चाहे रूपान्तर को प्राप्त हो, चाहे भस्म हो और चाहे मृतक हो, चाहे दूर हो अथवा निकट हो, जहाँ रहेगा, वहीं अहंता इसके साथ है। हे राम ! संसाररूपी वट का बीज अहंता है। उसी से सब शाखा फैली हैं। सब अर्थों का कारण अहंता है। जब तक अहंता है, तब तक दुःख नहीं मिटता। और जब अहंभाव नष्ट होता है तब परमसिद्धि की प्राप्ति होती है। हे राम ! जो कुछ मैंने उपदेश किया है, उसको भली प्रकार विचारकर उसका अभ्यास करो, तब संसाररूपी वृक्ष का बीज जल जायगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अहंकारअस्तयोगोपदेशो नाम शताधिकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! संसार संकल्पमात्र से सिद्ध है और भ्रम से उदय हुआ है। आत्मस्वरूप में अनेक सृष्टियाँ बसती है। कोई लीन होती हैं, कोई उत्पन्न होती हैं और कोई उड़ती हैं, कहीं इकट्ठी उड़ती हैं और कहीं भिन्न-भिन्न उड़ती हैं, सो सब मुझको प्रत्यक्ष भासित होती हैं, देखो, वे उड़ती जाती हैं। ये सब आकाशरूप हैं और आकाश ही से मिलती हैं। जैसे केले का वृक्ष देखने भर को सुन्दर होता है, पर उसमें कुछ सार नहीं होता, वैसे ही विश्व देखने भर को सुन्दर है, पर आकाश रूप है। जैसे जल में पहाड़ का प्रतिबिम्ब पड़ता है और हिलता जान पड़ता है, वैसे ही यह जगत् है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि सृष्टि मुझे प्रत्यक्ष उड़ती दिखती है—तुम भी देखो; यह तो मैंने कुछ नहीं समझा कि आप क्या कहते हैं ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अनेक सृष्टियाँ उड़ती हैं, सो सुनो। पञ्चभौतिक शरीर में प्राण स्थित हैं। प्राण में चित्त स्थित है। और उस चित्त में अपनी-अपनी सृष्टि है। जब यह पुरुष शरीर का त्याग करता है, तब लिंगशरीर (जो वासना और प्राण है) उड़ता है। उस लिंगशरीर में जो विश्व है, वह सूक्ष्मदृष्टि से मुझको भासित होता है। हे राम ! आकाश में जो वायु है, उसका रूपरंग कुछ नहीं। वही वायु प्राणों से मिलकर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसी का नाम जीव है। यथार्थ में न कोई आता है, न जाता है, परन्तु लिंगशरीर के संयोग से आता-जाता और जन्मता-मरता दीखता है। मनुष्य अपनी वासना के अनुसार आत्मा में विश्व देखता है। यह वासनामात्र सृष्टि है। जैसी वासना होती है, वैसा ही विश्व भासित होता है।

हे राम ! यह पुरुष आत्मस्वरूप है, परन्तु लिंगशरीर के मिलने से इसका नाम जीव हुआ है। यह अपने को प्रच्छन्न जानता है; पर वास्तव में ब्रह्मस्वरूप है। देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित ब्रह्म है, पर प्रमाद से अपने को कुछ का कुछ मानता है। इसी का नाम लिंगशरीर है। जैसे घटाकाश भी महाकाश है, परन्तु घट के खप्पर से परिच्छिन्न हुआ है, वैसे ही यह पुरुष भी आत्मस्वरूप है, और अहंकार के संयोग से प्रच्छन्न हुआ है। जैसे घट को एकदेश से उठाकर देशान्तर में ले जाकर रक्खो तो आकाश तो न कहीं गया और न आया, परन्तु आता-जाता लगता है, वैसे ही आत्मा अखण्डरूप है, परन्तु प्राण चित्त से चलता भासित होता है। जब अहंकाररूप चित्त नष्ट हो तब अखण्डरूप हो। जब तक अहंकार नहीं जाता, तब तक जगत् भ्रम दीखता है और वासना करके भटकता फिरता है। वासनामय सृष्टि अपने-अपने चित्त में स्थित है। जीव जब शरीर का त्याग करता है, तब आकाश में उड़ता है, और प्राणवायु उड़कर जो आकाश में शून्यरूप वायु है उससे जा मिलती है। वहाँ सबको अपनी-अपनी वासना के अनुसार सृष्टि भासित होती है। सब अपनी सृष्टि लेकर

इस प्रकार उड़ते हैं, जैसे वायु गन्ध को ले जाती है। वही मुझको सूक्ष्मदृष्टि से उड़ते भासित होते हैं। हे राम ! स्थूलदृष्टि से लिंगशरीर नहीं भासित होता; सूक्ष्मदृष्टि से दीखता है। जिस पुरुष को सूक्ष्मदृष्टि से लिंगशरीर देखने की शक्ति है और ज्ञान से रहित है, वह भी मेरे मत में मूर्ख और पशु है।

हे राम ! जब मनुष्य वासना का त्याग करता है, अर्थात् इस अहंकार को कि मैं हूँ, त्याग करता है तो आगे विश्व नहीं दिखाई देता, केवल निर्विकल्प ब्रह्म भासित होता है। उसके प्राण नहीं उड़ते, वहीं लीन हो जाते हैं; क्योंकि उसका चित्त अचित्त हो जाता है। जब तक अहंकार का संयोग है, तब तक विश्व भी चित्त में स्थित है। जैसे बीज में वृक्ष और तिलों में तेल होता है, वैसे ही उसके हृदय में विश्व स्थित है। जैसे मृत्तिका में बड़े छोटे बर्तन, लोहे में सुई और खंग और बीज में वृक्षभाव स्थित है, चैतन्य अथवा जड़ हो, वैसे ही यह संकल्पकलना में भेद है, स्वरूप से कुछ नहीं और वैसे ही यह जगत् भी है। हे राम ! विश्व संकल्पमात्र है; क्योंकि दूसरी अवस्था में इसका नाश हो जाता है। यह जाग्रत् अवस्था जो तुमको भासित होती है, मिथ्या है। जब स्वप्न देख पड़ता है, तब जाग्रत् नहीं रहती। जब जाग्रत् आती है तब स्वप्न नष्ट हो जाता है। जब मृत्यु आती है, तब सृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाता है और देश, काल, पदार्थसहित वासनानुसार और सृष्टि भासित होती है। हे राम ! यह विश्व ऐसा है, जैसे स्वप्ननगर। जैसे संकल्पपुर होते हैं, वैसे ही ये सब संकल्प उड़ते फिरते हैं। कई सृष्टि परस्पर मिलती हैं, कई नहीं मिलती, परन्तु सब संकल्परूप हैं। भ्रम से और का और भासित होता है। जैसे कोई पुरुष बड़ा होता है और कोई छोटा तो, छोटे को बड़ा भासित होता है। जैसे हाथी के निकट और पशु तुच्छ लगते हैं और चींटी के निकट और सब बड़े लगते हैं, वैसे ही जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उसको बड़े पदार्थ और देश-काल-संयुक्त विश्व तुच्छ भासित होता

है और वह उन्हें असत्य जानता है। पर जो अज्ञानी है, उसको संकल्पसृष्टि बड़ी होकर भासित होती है। जैसे पहाड़ बड़ा भी होता है, परन्तु जिसकी दृष्टि से दूर है, उसको महालघु और तुच्छ सा लगता है और चींटी के निकट तुच्छ मृत्तिका का ढेला भी पहाड़ के समान है, वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में यही जगत् नहीं, इससे बड़ा जगत् भी तुच्छ लगता है। पर अज्ञानी को तुच्छ भी बड़ा लगता है।

हे राम ! यह विश्व भ्रम से सिद्ध हुआ है। जैसे भ्रम से सीपी में रूपा और रस्सी में सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा के प्रमाद से यह विश्व भासित होता है, पर आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे निद्रादोष से जीव अपने अंग भूल जाते हैं और जागने पर सब अंग देख पड़ते हैं, वैसे ही अविद्यारूपी निद्रा में सोया हुआ जीव जब जागता है, तब उसे सब विश्व अपना रूप दिखाई देता है। जैसे स्वप्न से जागा हुआ पुरुष स्वप्न के विश्व को अलग ही देखता है, वैसे ही यह विश्व अपना रूप ही देख पड़ेगा। हे राम ! जब मनुष्य निद्रा में होता है, तब उसे शुभ-अशुभ विश्व में रागद्वेष कुछ नहीं होता, और जब जागता है तब इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष होता है, इसी प्रकार जब तक विश्व में हेयोपादेय बुद्धि है, तब तक वह सर्वज्ञ हो तो भी मूर्ख है। हे राम ! जब जड़ हो जाय, तब कल्याण हो। जड़ होना यही है कि दृश्य से रहित आत्मा में स्थित हो। वह आत्मा चिन्मात्र है। जब तक आत्मा से भिन्न जो कुछ सत्य अथवा असत्य जानता है, तब तक स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। जब संवित् न फुरे, तब स्वरूप का साक्षात्कार हो। इससे वासना का त्याग करो। यह स्थावर-जंगम जगत् जो तुमको दिखता है सो सब ब्रह्मस्वरूप है। जब तुम ऐसे निश्चय करोगे, तब सब विवर्तों का अभाव हो जावेगा, और आत्मपद ही शेष रहेगा। राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जीव जो आपने कहा, सो जीव का स्वरूप क्या है ? वह आकार को कैसे ग्रहण करता है ? उसका अधिष्ठान परमात्मा कैसे है ? उसके रहने का स्थान कौन है ? कहिये।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जीव शुद्ध परमात्मतत्त्व, निर्विकल्प, चिन्मात्र पद है, उसमें चैतन्योन्मुखत्व हुआ, अर्थात् 'मैं हूँ,' ऐसे जो चित्तकला अज्ञानरूप फुरी, उसको देह का सम्बन्ध हुआ है। उसी का नाम जीव है। वह जीव न सूक्ष्म है, न स्थूल है, न शून्य है, न अशून्य है, न थोड़ा है, न बहुत है, केवल शुद्ध आत्मतत्वमात्र है। वह न अणु है, न स्थूल है, अनन्त चैतन्य आकाशरूप है। उसी को जीव कहते हैं। स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म वही है। अनुभव चैतन्य सर्वगत जीव है। उसमें वास्तव शब्द कोई नहीं। और जो कोई शब्द है सो प्रतियोगी से मिलकर हुआ है। जीव अद्वैत है। उसका प्रतियोगी कैसे हो ? यह जीव का स्वरूप है। चैत्य के संयोग से जीव हुआ है। उसका अधिष्ठान चैतन्य आकाश, निर्विकल्प, चैत्य से रहित, शुद्ध, चैतन्य परमात्मतत्त्व है। उसमें जो संवित् फुरी है, उसी का नाम जीव है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल और सबका बीज है। उसी को विराट् कहते हैं। उसका शरीर मनोमय है। वह आदि परमात्मतत्त्व से फुरा है और अन्य अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ, अर्थात् प्रच्छन्नता को नहीं प्राप्त हुआ। वह अपने को सबका आत्मा जानता है। इसका नाम विराट् है। उसका प्रथम शरीर मनोमात्र और शुद्ध प्रकाशरूप रागद्वेषरूपी मल से रहित अनन्त आत्मा है, वह मन, कर्मों और देहों का बीज है; सबमें व्याप रहा है और सब जीवों का अधिष्ठाता है। उसी ने संकल्प से ये जीव रचे हैं, और पञ्चज्ञान इन्द्रिय, अहंकार, मन और संकल्प, ये आठों आकार ग्रहण किये हैं। परमार्थरूप को छोड़ फुरने से जो आकार उत्पन्न हुए हैं, उनको ग्रहण करने का नाम पुर्यष्टका है। फिर इन इन्द्रियों के छिद्र रचे और स्थूल रूप रचकर उनमें आत्मा प्रतीत किया। जैसे जीव शयनकाल में जाग्रत् शरीर को त्यागकर स्वप्न-शरीर अंगीकार करता है, वैसे ही शुद्ध, चिन्मात्र, निर्विकार, अद्वैतस्वरूप को त्यागकर उसने वासनामय शरीर अंगीकार किया है। पर वास्तव स्वरूप का त्याग नहीं किया और स्वरूप से नहीं गिरा। शुद्ध निर्विकल्प भाव को त्यागकर विराट्भाव ग्रहण किया है।

इसी प्रकार आगे उस पुरुष ने ज्ञान से चारों वेद रचे और नीति को निश्चित किया। नीति इसे कहते हैं कि यह पदार्थ ऐसे हो और इतने काल तक रहे। निदान यह रचना रची और जो-जो संकल्प करता गया सो देश, काल, पदार्थ, दिशा, ब्रह्माण्ड सब होते गये। ईश्वर, विराट्, आत्मा, परमेश्वर इत्यादि सब जीव के नाम हैं। पर जीव का वासनामय स्वरूप झूठ नहीं। वासना के शरीर ग्रहण करने से वासनारूप कहा है, पर उसका वास्तवरूप शुद्ध निर्विकार और अद्वैत है और कभी स्वरूप से अन्य अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ; सदा ज्ञानरूप, अद्वैत और परमशुद्ध है। उसको अपने चैतन्य स्वभाव से चैत्य का संयोग हुआ है। इसी से कहा कि उसका वपु वासनारूप है। उसी आदि-जीव से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता, दैत्य, आकाश, मध्यलोक, पाताल और त्रिलोकी उत्पन्न हुये हैं। जैसे दीपक से दीपक जलता है और जल से जल होता है, वैसे ही सब विराट्स्वरूप है। महाआकाश उस विराट् का उदर है; समुद्र रुधिर है; नदियाँ नाड़ी हैं और दिशा वपु हैं। उसके उदर में सुमेरु पर्वत सहित कई ब्रह्माण्ड समाये रहते हैं। पवन उसका सिर है। उञ्चास पवन प्राणवायु हैं; पृथ्वी मांस है; सुमेरु आदिक पर्वत हाथ हैं; तारे रोमावली हैं; सहस्र शीश नेत्र हैं। वह अनन्त और अनादि है। चन्द्रमा उसका कफ है, जिससे अमृत स्रवता है और प्राणी उपजते हैं। सूर्य पित्त है, जो सबको उत्पन्न करनेवाला है और सब मन, सब कर्मों और सब शरीरों का आदि-बीज विराट् है। हे राम ! जीव इस चित्त के सम्बन्ध से तुच्छ हुआ है, पर वास्तव में परमात्मस्वरूप है। जैसे महाकाश घट के संयोग से घटाकाश होता है, वैसे ही विराट् परमात्मा ने फुरने से सृष्टि रची है और उसमें अहं प्रत्यय किया है, इससे तुच्छ हुआ है। यह इसको मिथ्या भ्रम हुआ है। जैसे स्वप्न में कोई अपना मरना देखता है, वैसे ही वह अपने को दृश्य देखता है। लघुता भी आत्मा की अपेक्षा से है; दृश्य में विराट् है और आत्मा में इसका अनुभव है।

हे राम ! इसी प्रकार उसने उपजकर सृष्टि रची है। जैसे एक विराट्

पुरुष ने आदि में निश्चय किया है, वैसे ही अब तक है। यह आप ही उपजा है और आप ही लीन हो जाता है। हे राम ! जिस प्रकार आत्मा से विराट् की उत्पत्ति हुई है, वैसे ही सब जीवों की हुई है। यह सब विराट्रूप हैं, परन्तु जो स्वरूप से उपजकर दृश्य से तद्रूप हुए हैं और जिनको वास्तवस्वरूप भूल गया है, वे तुच्छरुप जीव हुए और जो स्वरूप से फुरकर स्वरूप से न गिरा और जिसे आगे अपना ही संकल्परूप विश्व देखकर प्रमाद न हुआ, उसका नाम विराट् आत्मा है। हे राम ! जीव चैतन्य और निराकाररूप है। इसको शरीर का संयोग कलना से हुआ है। यह जब अपने को दृश्य-संयुक्त देखता है, तब महाआपदा को प्राप्त होता है, और जब द्वैत से रहित निर्विकल्प होकर देखता है, तब शुद्ध चैतन्य आत्मपद को प्राप्त होता है। हे राम ! यह विराट् सबको उत्पन्न करता है। ऐसे कई विराट् आत्मपद से उदय हुए हैं, कई मिट गये हैं और कई आगे होंगे। जैसे समुद्र से कई तरगें, बुलबुले उठते हैं, कई लीन होते हैं वैसे ही आत्मारूपी समुद्र से कई विराट् उठते हैं; कई लीन होते हैं,और कई उपजेंगे। ऐसा परमात्मा सबका अधिष्ठान है और सबके भीतर-बाहर पूर्ण ज्ञानस्वरूप व्याप्त है। ऐसा तुम्हारा अपना रूप अनुभवरूप है। हे राम ! इस संवेदन को त्यागकर देखो, वही परमात्मस्वरूप है। यह जो कुछ तुमको भासित होता है, उसको विचारकर त्यागो। जब तुम इसका त्याग करोगे, तब तुम्हारा चिन्मात्र परम शुद्ध स्वरूप तुमको भासित होगा—उसके आगे चैतन्य ही आवरणरूप है। जैसे सूर्य के आगे बादलों का आवरण होता है, और जब तक बादल होते हैं, तब तक सूर्य का प्रकाश ज्यों का त्यों नहीं भासित होता, पर जब बादल दूर होते हैं, तब प्रकाश स्वच्छ दिखता है, वैसे ही जब वासना निवृत्त होवेगी, तब शुद्ध आत्मा ही प्रकाशमान होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विराडात्मवर्णनं नाम
शताधिकैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४१।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह परमात्मा पुरुष स्फुरण से जीवसंज्ञा को प्राप्त हुआ है। स्फुरण में भी वही है, पर अपने स्वरूप को नहीं

जानता, इसी से दुःख पाता है। जैसे पवन चलता है तो भी वही है और जब ठहरता है तो भी वही है—दोनों में तुल्य है। वैसे ही आत्मा सर्वदा एकरस है, कभी परिणाम या विकार को नहीं प्राप्त हुआ। जीव प्रमाद से दृश्य की कल्पना करता है और अपने को दृश्य जानता है, इसी से दुःख पाता है। पर जो इसको अपना स्वरूप स्मरण रहे तो दृश्य में भी अपना रूप भासित हो और जो निःसंकल्प हो तो भी विश्व अपना रूप भासित हो। विश्व भी इसी का रूप है, परन्तु अविचार से भिन्न-भिन्न भासित होता है। जैसे स्वप्न का विश्व स्वप्नवाले का रूप है, परन्तु निद्रादोष से वह नहीं जानता और जब जागता है तब जानता है कि वह मैं ही था, वैसे ही यह प्रपञ्च सब तुम्हारा स्वरूप है। तुम अपने स्वरूप में निरहंकार स्थित होकर देखो तो कुछ नहीं बना। जो आत्मा से भिन्न तुम कुछ बनोगे तो प्रपञ्च विश्व भासित होगा और जो आत्मस्वरूप में स्थित हो तो अपना ही रूप भासित होगा और प्रपञ्च का अभाव हो जावेगा। हे राम ! शून्य-अशून्य,जड़-चेतन किंचन-निष्किंचन, सत्य-असत्य सब आत्मा ही पूर्ण है, तब निषेध किसका करिये ? हे राम ! वह ऐसा अनुभवरूप है, जिससे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं; पर ऐसे आत्मा को मूर्ख लोग नहीं जानते। जैसे जन्म का अन्धा मार्ग को नहीं जानता, वैसे ही महाअन्ध अज्ञानी जागती-ज्योति आत्मा को नहीं जानते। जैसे उलूकआदिक उदय हुए सूर्य को नहीं जानते, वैसे ही वासना से घिरे हुए अपने को नहीं जान सकते। जैसे जाल में पक्षी फँसा होता है, वैसे ही ये जीव माया में फँसे हुए हैं। इसी का नाम बन्धन है। वासना के वियोग का नाम मुक्ति है।

हे राम ! विषमता से जीव संज्ञा हुई है। जब सम हुआ तब ब्रह्म है। वह ब्रह्म अहंकार को त्यागकर होता है जैसे खप्पर के संयोग से घटाकाश कहलाता है, और जब खप्पर टूट जाता है, तब महाकाश हो जाता है, वैसे ही जब अहंकार नष्ट होता है, तब आत्मस्वरूप हो

जाता है। हे राम ! अज्ञान से जीव एकदेशी हुआ है। जब परिच्छिन्नता का वियोग हो, तब आत्मस्वरूप ही है। हे राम ! अपने वास्तव निर्गुणस्वरूप में गुणों का संयोग उपाधि से भासित होता है, वही अनर्थरूप है। जब निर्गुण और सगुण की गाँठ टूटेगी, तब अपना केवल अद्वैततत्त्व आप भासित होगा। वह अनामय और दुःख से रहित है, सत् असत् से परे ज्ञानरूप और आदि-अन्त से रहित है। उसके पाने से फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता और उसको जानने से फिर कुछ जानना नहीं रह जाता। ऐसा जो उत्तम पद है, उसको आत्मतत्त्व से प्राप्त होगे। हे राम ! यह तो ज्ञान तुमसे कहा है, उसका आश्रय लेकर तुम ज्ञानवान् होना; ज्ञानबन्ध न होना। ज्ञानबन्ध से तो अज्ञानी भला है; क्योंकि अज्ञानी भी साधुओं के संग और सत्शास्त्रों को सुनने से ज्ञानवान् होता है; पर ज्ञानबन्ध मुक्त नहीं होता। जैसे रोगी कहे कि मुझको कोई रोग नहीं है, मैं नीरोग हूँ , तो वह वैद्य की औषधि भी नहीं खाता क्योंकि वह अपने को नीरोग जानता है, वैसे ही जो ज्ञानबन्ध है वह सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का श्रवण भी नहीं करता, इससे वह अन्धतम को प्राप्त होता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञान और ज्ञानबन्ध का लक्षण क्या है और ज्ञानबन्ध का फल क्या है, सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस पुरुष ने आत्मा के विशेषण शास्त्रों से श्रवण किये हैं कि आत्मा नित्य शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और तीनों शरीरों से भिन्न है, और ऐसे सुनकर अपने को वही मानता है, पर विषयों को भोगने की सदा तृष्णा रखता है कि किसी प्रकार इन्द्रियों के विषय मुझे प्राप्त हों, ऐसा पुरुष ज्ञानबन्ध है। वह बोधशिल्पी है, जो कर्मफल के विचार से रहित है अर्थात् भला-बुरा विचार नहीं करता और उन्हें करता है। और जो मुख से शुभ-अशुभ निरूपण करता है, वह शास्त्रशिल्पी है और फल के लिए कर्म करता है। कोई ऐसा है कि अपने को शास्त्रोक्त उत्तम मानता है; शास्त्रों के बहुत प्रकार से अर्थ भी कहता है, पढ़ता और पढ़ाता भी है, पर विषयों से बँधा हुआ है और

सदा विषयों का चिन्तन करता है— ऐसा पुरुष ज्ञानबन्ध है। इसी कारण वह अर्थशिल्पी भी कहलाता है अर्थात् चितेरा करने को समर्थ है और धारण करने को समर्थ नहीं। हे राम ! एक प्रवृत्तिमार्ग है और दूसरा निवृत्तिमार्ग है। प्रवृति संसारमार्ग है और निवृत्ति आत्मज्ञानमार्ग है। जिस पुरुष ने निवृत्तिमार्ग ग्रहण किया है, पर प्रवृत्तिमार्ग में अर्थात् बहिर्मुख विषयों की ओर प्रवृत्त होता है; इन्द्रियों के विषयों की चाह करता और विषयों से उपरत नहीं होता एवं उनसे संतुष्ट होकर स्वरूप का अभ्यास नहीं करता, वह ज्ञानबन्ध कहलाता है।

हे राम ! जो पुरुष श्रुति के कहे शुभकर्म फल की कामना हृदय में रखता है, वह पुरुष ज्ञान के निकटवर्ती है, तो भी ज्ञानबन्ध है। जिसको आत्मा में प्रीति भी है, पर जो विषय का चिन्तन करता है और अपने को उत्तम मानता है, वह ज्ञानबन्ध कहलाता है। और जो आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण करता है और स्थित नहीं है, वह ज्ञान आभास है और उसको ज्ञान का फल नहीं मिलता। जिस पुरुष ने सिद्धि और ऐश्वर्य पाया है और उससे अपने को बड़ा जानता है, पर आत्मज्ञान से रहित है, वह ज्ञानबन्ध कहलाता है। हे राम ! निदिध्यास से ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे शान्ति का प्रकाश होता है। जब तक शान्ति नहीं प्राप्ति होती, तब तक अपने को बड़ा ज्ञानी न माने। हे राम ! मनुष्य ज्ञान से बड़ा होता है। जब तक ज्ञान न उपजे तब तक आत्मपरायण हो; अभ्यास और यत्न करो; शुभ व्यवहार से प्राणों की रक्षा के निमित्त उपजीविका उत्पन्न करो और ब्रह्मजिज्ञासा के लिए प्राणों की धारणा करो। ब्रह्मजिज्ञासा दुःखरूप संसार-सागर से मुक्त होने के लिए है। फिर संसारी न हो और आत्म-परायण हो। जब आत्मपरायण होगे, तब सब दुःख मिट जावेंगे। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मपद के प्राप्त होने पर सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। उस पद के प्राप्त होने का उपाय यह है कि सत्शास्त्रों से जो विशेषण सुने हों उसको समझकर बारम्बार

अभ्यास करे; दृश्य से उपरत हो और उनको मिथ्या जानकर विरक्त बने। इसी से आत्मपद की प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ज्ञानबन्धयोगो नाम शताधिकद्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिज्ञासु होकर ज्ञाननिष्ठ होना और जो कुछ गुरुशास्त्रों से आत्मविशेषण सुने हैं उनमें अहं प्रत्यय करके स्थित होना, इसी का नाम ज्ञाननिष्ठा है। जीव इस ज्ञाननिष्ठा से परम उच्च पद को प्राप्त होता है, जो सबका अधिष्ठान है। जब उसमें स्थित हुआ, तब कर्मों के फल का ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि शुभकर्मों के फल में राग नहीं रहता और अशुभ कर्मों के फल में द्वेष नहीं होता। ऐसा पुरुष ज्ञानी कहलाता है। वह शान्त-चित्त रहता है, अकृत्रिम शान्ति को प्राप्त होता है, किसी विषय के सम्बन्ध में नहीं फँसता। उसकी वासना की गाँठ टूट जाती है। हे राम ! बोध वही है जिसको पाने से फिर जन्म न हो, और जो जन्ममरण से रहित हो उसी को ज्ञानी कहते हैं। जब संसार से विमुख हो और संसार की सत्यता न भासित हो, तब जानिये कि फिर जन्म न पावेगा, क्योंकि उसकी संसार की वासना नष्ट हो गई है। हे राम ! जिससे ज्ञानी की वासना नष्ट होती है, वह भी सुनो, वह इस संसार का कारण नहीं देखता। जो पदार्थ कारण से उत्पन्न नहीं हुआ, वह सत्य नहीं होता; इससे संसार मिथ्या है। जैसे रस्सी में सर्प भासित होता है तो उसका कारण, कोई नहीं, वह भ्रम से सिद्ध हुआ है, वैसे ही यह विश्व कारण के बिना दिखता है, इससे मिथ्या है जो मिथ्या है, तो उसकी वासना कैसे हो ? हे राम ! जो प्रवाहपतित काय प्राप्त हो, उसमें ज्ञानी विचरता है और संकल्प से रहित होकर अपना अभिमान कुछ नहीं करता कि इस प्रकार हो और इस प्रकार न हो। वह हृदय से आकाश की तरह संसार से न्यारा रहता है और वासना से शून्य होता है। ऐसा पुरुष पण्डित कहाता है।

हे राम ! यह जीव परमात्मरूप है। जब अचेतन अर्थात् संसार की वासना से रहित हो, तब आत्मपद को प्राप्त है। जैसे आम का वृक्ष फल

से रहित होने पर भी उसका नाम आम है, परन्तु निष्फल है, वैसे ही यह जीव आत्मस्वरूप है, परन्तु चित्त के सम्बन्ध से इसका नाम जीव है। जब चित्त को त्याग करें, तब आत्मा हो। जैसे आम के पेड़ में फल लगने से वह शोभित होता है और सफल कहलाता है। वैसे ही जब जीव आत्मपद को प्राप्त होता है, तब महाशोभा से विराजता है। हे राम ! ज्ञानवान् पुरुष कर्म के फल की स्तुति नहीं करता अर्थात् इन्द्रियों के इष्ट विषय की चाह नहीं करता, जैसे जिस पुरुष ने अमृतपान किया हो वह मद्यपान करने की इच्छा नहीं करता, वैसे ही जिसको आत्मसुख प्राप्त होता है, वह विषयों के सुख की इच्छा नहीं करता। जो किसी पदार्थ को पाकर सुख मानते हैं वे मूढ़ हैं। जैसे कोई पुरुष कहे कि बन्ध्या के पुत्र के काँधे पर चढ़कर नदी के पार उतरते हैं तो वह पुरुष महामूढ़ है; क्योंकि जब बन्ध्या के पुत्र है ही नहीं तो उसके काँधे पर कैसे चढ़ेगा, वैसे ही जो कोई कहे कि मैं संसार के किसी पदार्थ को लेकर मुक्त हूँगा तो वह महामूढ़ है। हे राम ! ऐसा पुरुष ज्ञान से शून्य है। उसकी इन्द्रियाँ स्थिर नहीं होतीं। वह शास्त्रों के अर्थ प्रकट भी करता है, पर परमात्मा के ज्ञान से रहित है। उसको इन्द्रियाँ बलपूर्वक विषयों में गिरा देती हैं। जैसे चील पक्षी आकाश में उड़ता-उड़ता मांस को देखकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, वैसे ही अज्ञानी विषय को देखकर गिर पड़ता है। इससे मन सहित इन इन्द्रियों को वश करो और युक्ति से तत्परायण और अन्तर्मुख बनो। यह जो संवेदन उठता है, उसका त्याग करो। जब इसका स्फुरण निवृत्त होगा, तब परमात्मा का साक्षात्कार होगा। जब परमात्मा का साक्षात्कार होगा, तब रूप, अवलोक और मनस्कार की जो त्रिपुटी है, उसके अर्थ की सब भावना जाती रहेगी; केवल आत्मतत्त्व ही प्रत्यक्ष भासित होगा और संसार का अत्यन्त अभाव हो जावेगा।

हे राम ! संसार का आदि परमात्मतत्त्व है और अन्त भी वही है। जैसे स्वर्ण गलाइये तो भी स्वर्ण है और जो न गलाइये तो भी स्वर्ण है, वैसे ही जब सृष्टि का अभाव होता है तब भी आत्मा ही शेष रहता है,

जब सृष्टि उपजी न थी तब भी आत्मा ही था और मध्य भी वही है। परन्तु यह सम्यक्दर्शी को भासित होता है, असम्यक्दर्शी को आत्मसत्ता नहीं भासित होती । हे राम ! विश्व आत्मा का परिणाम नहीं, चमत्कार है। जैसे सुवर्ण गलता है तो उसकी रैनीसंज्ञा होती है अथवा शलाका कहाती है। यद्यपि उसमें भूषण नहीं हुए तो भी उसका चमत्कार ऐसा ही होता है कि उससे भूषण उपजकर लीन हो जाता है। जैसे सूर्य की किरणें जल का आभास देती हैं, वैसे ही विश्व आत्मा का चमत्कार है। बना कुछ नहीं, आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और उसका चमत्कार विश्व होकर स्थित हुआ है। हे राम ! जब तुमने ऐसे जाना कि केवल आत्मसत्ता है, तब वासना का क्षय हो जावेगा और चेष्टा स्वाभाविक होगी। जैसे वृक्ष के पत्ते पवन से हिलते हैं, वैसे ही शरीर की चेष्टा प्रारब्धवेग से होगी । हे राम! देखने भर को तुम्हारे शरीर में क्रिया होगी और हृदय में शून्य भासित होगा । जैसे यन्त्र की पुतली संवेदन बिना तागे से चेष्टा करती है, वैसे ही शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से स्वाभाविक होगी और तुमको उसका अभिमान न होगा। जैसे कोई पुरुष दूध के लिए अहीर के पास बर्तन ले जाय और उसको दूध दुहने में कुछ विलम्ब हो तो कहे कि बर्तन यहाँ रक्खा है, मैं घर से कोई काम शीघ्र ही कर आऊँ तो यद्यपि वह घर का काम करने लगता है, पर उसका मन दूध की ओर ही रहता है कि शीघ्र ही जाऊँ, ऐसा न हो कि वह दुहता हो, वैसे ही तुम्हारी क्रिया प्रारब्धवेग से होगी, पर मन आत्मतत्त्व में रहेगा और तुम अहंकार से रहित होगे। जब तक अहंकार उठता है, तब तक परिच्छिन्न अर्थात् तुच्छ जीव है, उसको शरीर मात्र का ज्ञान होता है। पर अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जो जीव है,। उसको नखशिखपर्यन्त शरीर का ज्ञान होता है। इसी में आत्मअभिमान होता है। ज्ञान नहीं होता, इससे जीव है। जो पहले तुमसे कहा है, वह विराट् ही ईश्वर है। वह सब शरीर और अन्तःकरण का ज्ञाता, सब लिंग शरीर का अभिमानी, सबको अपना रूप जानता है।

हे राम ! यद्यपि वह विश्वरूप है, तो भी अहंकार से तुच्छ-सा हुआ है। जैसे घनघटा से भिन्न हुआ एक मेघ बादल कहाता है, और घट से अनन्त आकाश घटाकाश कहाता है, पर वह बादल भी मेघ है और घटाकाश भी महाकाश है, वैसे ही अहं के स्फुरण से जीव परिच्छिन्न हुआ है, सो फुरना दृश्य में हुआ है, और दृश्य फुरने में हुआ है। जैसे फूलों में गन्ध और तिलों में तेल है, वैसे ही फुरने में दृश्य है। हे राम ! आत्मा में बुद्धि आदिक स्फुरण है, अर्थात् जब 'मैं हूँ' ऐसे फुरता है, तब आगे दृश्य होता है और जब अहंकार होता है, तब आगे देह इन्द्रियादिक विश्व रचता है इससे फुरने में दृश्य हुआ और फुरना दृश्य में हुआ। देह, इन्द्रियाँ, मन आदिक जो दृश्य हैं, उनमें जीव के अहंप्रत्यय से फुरना हुआ है; इसी कारण इसकी जीवसंज्ञा हुई है। जब फुरना या अहंभाव नष्ट हो जावे तब आत्मा का साक्षात्कार हो। यह जन्म, मरण, आना, जाना आदि विकारों से युक्त प्रपञ्च भासित होता है तो भी मिथ्या है; क्योंकि विचार करने से कुछ नहीं रहता। जैसे केले के खम्भे में कुछ सार नहीं; वैसे ही विचार करने से प्रपञ्च नहीं रहता। जैसे स्वप्न में मनुष्य अपना जन्म, मरण, आना, जाना देखता है, परन्तु वह सब मिथ्या है, वैसे ही जाग्रत् की सब क्रिया भी मिथ्या है।

हे राम ! जो परावरदर्शी है, वह इन सब अवस्थाओं में निर्विकल्प है। वह जन्मता भी है। परन्तु नहीं जन्मता; और सब क्रिया करता भी है, परन्तु नहीं करता। वह सबको स्वप्नवत् समझता है; क्योंकि स्वरूप से कभी कुछ नहीं हुआ। हे राम ! ज्ञानी जाग्रत् में भी ऐसे ही देखता है। जब यह आत्मपद में जागता है, तब सब विकारों का अभाव हो जाता है, कोई विकार नहीं भासित होता। हे राम ! जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह बँधा हुआ है; क्योंकि अभिलाषा ही दुःखदायक है। यद्यपि वह राजा हो, पर उसके हृदय में अभिलाषा है, इससे उसे दरिद्री जानो। जिस पुरुष का छादन, भोजन, शयन कष्ट से देखते हो, अर्थात् भोजन भिक्षा माँगकर अथवा किसी और यत्न से होता

है, छादन भी साधारण सा पहिनता है और शयन करने का स्थान भी जैसा-तैसा है, पर ज्ञान से सम्पन्न है तो उसको चक्रवर्ती जानो। यथा—

दोहा— सात गाँठ कोपीन की, साधु न मानै शंक।
राम अमल माता फिरै, गिनै इन्द्र को रंक।।

हे राम ! उसको चक्रवर्ती से भी अधिक जानो। यदि वह आरम्भ क्रिया करता भी दिखता है; पर संकल्प से रहित है तो कुछ नहीं करता। उसका करना, न करना दोनों बराबर है। क्योंकि वह निरभिमान है। वह शुभकर्मों के करने से स्वर्ग नहीं जाता और अशुभकर्म से नरक नहीं भोगता—उसको दोनों एक समान हैं।

हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की चेष्टा समान है; परन्तु अज्ञानी अहंकारसहित करता है इससे दुःख पाता है। इससे तुम अहंकार का त्याग करो और अपना स्वरूप, जो चैत्य से रहित चैतन्य है, उसमें स्थित हो रहो, जिससे सब संशय मिट जावें। जितने जीव तुमको भासित होते हैं, वे सब संवित् अर्थात् ज्ञानरूप हैं, परन्तु बहिर्मुख फुरने के कारण भ्रम में पड़े हैं। जब जीव अन्तर्मुख हो तब केवल शान्तरूप हो। जहाँ गुणों और तत्त्वों का क्षोभ नहीं, वह शान्त-पद कहाता है। हे राम ! जैसे विराट्रूप का मन चन्द्रमा है, वैसे ही सब जीवों का है, अर्थात् सब विराट्रूप हैं, परन्तु प्रमाद से वास्तव स्वरूप नहीं भासित होता। हे राम! जैसे गुलाब की सुगन्ध सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त है, परन्तु फूल ही में भासित होती है, वैसे ही चैतन्य सत्ता सब शरीर में व्याप्त है, परन्तु हृदय में ही भासित होती है। जो त्रिकोणरूप निर्मलचक्र है, वही अहंब्रह्मा का उत्थान होता है। वहाँ से वृत्ति फलकर पञ्चइन्द्रियों के छिद्र से निकलकर विषय को ग्रहण करती है और जीव उन इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में राग-द्वेष मानता है। इससे हे राम ! इतना कष्ट प्रमाद से है। जब बोध होता है, तब संसार का भ्रम मिट जाता है।

हे राम ! वासनारूप जो संसार है, उसका बीज अहंभाव है और वह प्रत्यक्ष संसार में दिखता है। जब इसकी चिन्तना न हो और स्वरूप में

अहंप्रत्यय हो, तब संसार का भ्रम मिट जावे। अहंभाव के शान्त होने पर ज्ञानवान् यन्त्र की पुतली के समान चेष्टा करता है। हे राम ! जो पदार्थ सत्य है, उसका कभी अभाव नहीं होता, और जो असत्य है, वह सत्य नहीं होता। यदि होने की भावना कीजिए तो भी नहीं होता। जैसे अग्नि को जानकर स्पर्श कीजिये तो भी जलाती है और बिना जाने स्पर्श करिये तो भी जलाती है, क्योंकि सत्य है, और जैसे जल की भावना से मृग मरुस्थल में दौड़ता है, परन्तु जल नहीं पाता, क्योंकि वह असत्य है, वैसे ही हे राम ! अहंकार जो फुरता है वह असत्य है; भ्रम से सिद्ध है और विचार से नष्ट हो जावेगा। हे राम ! यह अहंकाररूपी कलंक उठा है। यदि निरहंकार होकर देखो तो मुक्तरूप हो और यदि अहंकार-संयुक्त हो तो बन्धन है। इससे निरहंकार होकर परमनिर्वाण को प्राप्त होओ। यही हमारा सिद्धान्त है और परमभूमिका भी यही है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही तुम ब्राह्मी लक्ष्मी से शोभा पाओगे। हे राम ! ज्ञानवान् का चित्त सत्पद को प्राप्त होता है, इससे अहंकार नहीं रहता और उसके चित्त की चेष्टा फलदायक नहीं होती। जैसे भुना बीज नहीं उगता वैसे ही उसका जन्म नहीं होता। और अज्ञानी का चित्त जन्ममरण का कारण होता है। जैसे कच्चा बीज उगता है, वैसे ही अज्ञानी की चेष्टा जन्म का कारण होती है।

हे राम ! जितने पदार्थ हैं, उन सबसे निराश हो रहो; जिससे हृदय में किसी की अभिलाषा न उठे, और न किसी का सद्भाव उठे, पाषाण की तरह तुम्हारा हृदय हो। हे राम ! जिसका हृदय कोमल स्नेहसंयुक्त है, वह अज्ञानी है। जिसका हृदय पाषाण-समान स्नेह से रहित है, वह ज्ञानी है। इससे निर्मम और निरहंकार होकर स्थित रहो। ये भोग मिथ्या हैं—इनकी इच्छा में सुख नहीं। हे राम ! जब संसार से उपरत और अन्तर्मुख आत्मपरायण होगे, तब अहंकार निवृत्त हो जावेगा और आत्मा ही भासित होगा। जैसे वसन्तऋतु आती है तो वृक्ष प्रफुल्लित होते हैं और पुरातन पत्ते गिरकर नूतन निकल आते हैं, वैसे ही जब

तुम अन्तर्मुख होगे, तब अहंकार निवृत्त हो जावेगा, विभुता को प्राप्त होगे; अहंप्रत्यय जाता रहेगा और परमनिर्वाण पद पाओगे। इससे संवेदन अहंकार का त्याग करो और कोई यत्न न करो। तुमको यही हमारा उपदेश है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुखेनयोगोपदेशो नाम शताधिकत्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जो वासनारूपी संसार है; उससे तुम मंकी ऋषि के सदृश तर जाओ। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! मंकी ऋषि किस प्रकार तरे हैं सो कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मंकीऋषि का वृत्तान्त सुनो। उसने महाउग्र तप किया था। एक समय मैं आकाश में अपने घर में था। तुम्हारे पितामह राजा अज ने मेरा आवाहन किया। तब मैं राजा अज के निमित्त आकाश से उतरा तो मार्ग में एक वन देखा जिसमें अनेक वन के समूह थे, जो भयानक और शून्य थे। वहाँ न कोई मनुष्य देख पड़ता था और न कोई पशु, केवल महाशून्य वन था—मानो एकान्त ब्रह्मस्थान हो—और कई योजन तक मरुस्थल ही देख पड़ता था। मध्यान्ह का समय था और अतितीक्ष्ण धूप पड़ती थी, जाँघों तक तपी हुई रेत में मैंने प्रवेश किया और कई वृक्ष जले हुए वहाँ देख पड़े। हे राम ! उस शून्य स्थल में एक अतिदुःखित विदेशी आता मुझको देख पड़ा। उसने यह वाक्य मुख से निकाला कि हाय हाय ! मैंने महाकष्ट पाया है। जैसे किसी को दुष्टजन दुःख देते हैं और दया नहीं करते, वैसे ही मुझको धूप और यात्रा ने जलाया है और मैं अतिदुःख को प्राप्त हुआ हूँ। हे राम ! ऐसे वचन कहता हुआ वह मेरे साथ चला जाता था। जब कुछ आगे गया तो एक धीवरों का गाँव देख पड़ा; जहाँ पाँच अथवा सात घर थे। उसको देखकर वह शीघ्र चलने लगा कि वहाँ मुझको शान्ति होगी और मैं जलपान करके छाया के नीचे बैठूँगा।

हे राम ! उसको देखकर मुझे दया आई तो मैंने कहा कि हे मार्ग के मीत ! तू कहाँ जाता है ? जिनको सुखदायी जानकर तू दौड़ता है वे

दुःखदायक हैं। जैसे मरुस्थल को नदी जानकर मृग जलपान के निमित्त दौड़ता है कि शान्ति पाऊँ और अतिदुःख पाता है, वैसे ही जिस स्थान को तू सुखरूप जानता है, वह दुःखरूप है। हे अंग ! ये जो इस गाँव के वासी हैं, उनका संग कदापि न करना। इनका संग दुःखरूप है। जो पुरुष विचारपूर्वक चेष्टा करता है, उसको दुःख नहीं होता और जो बिना विचारे काम करता है, वह दुःख पाता है। ये नगरवासी आप जलते हैं तो तुझको कैसे सुख देंगे ? जैसे कोई पुरुष अग्निकुण्ड में जलता हो और उससे कहिये कि तू मेरी तपन शान्त कर तो कहनेवाला मूढ़ होता है, क्योंकि वह तो आप ही जलता है और की तपन कैसे शान्त करेगा, वैसे ही वे तो आप इन्द्रियों के विषय की तृष्णारूपी अग्नि में जलते हैं, तुझको कैसे शान्त करेंगे ? हे मार्ग के मीत ! पृथ्वी के छिद्र में सर्प होना, मरुस्थल का मृग होना और पाषाण की शिला में कीट होकर रहना अंगीकार कीजिये, परन्तु अज्ञानी का संग न कीजिये, जिनको इन्द्रियों के सुख की तृष्णा रहती है। इन्द्रियों के सुख आपातरमणीय हैं अर्थात् जब तक इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग है, तब तक सुख है और जब वियोग होता है, तब दुःख होता है। विषयी जनों की प्रीति भी विषयतुल्य है। वह विचारवती बुद्धिरूपी कमलिनी का नाश करनेवाली बरफ है। इनकी संगति में वचनरूपी पवन से राख उड़ती है और पास बैठनेवाले को अन्धकार में डालती है। इससे इन ग्रामवासी अज्ञानियों का संग न करना। ये अज्ञानी विचारवती बुद्धिरूपी सूर्य को ढकनेवाले बादल हैं। जैसे बेलि पर अग्नि डालिये तो जलाती हैं, वैसे ही इनकी संगति वैराग्य को ग्रहण करनेवाली बुद्धि का नाश करनेवाली है—इससे इनका संग न करना। हे साधो ! संग उसका कर, जिसके संग से तेरा ताप मिटे। इनके संग से शान्ति न पावेगा।

हे राम ! इस प्रकार जब मैंने कहा, तब वह मेरे निकट आकर बोला, हे भगवन् ! तुम कौन हो और तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारे वचन सुनकर मुझे शान्ति मिली है। तुम शून्य दिखते हो; पर सब गुणों से पूर्ण हो और तुम्हारा दिव्य प्रकाश मुझको भासित होता है। तुम आदिपुरुष

विराट् हो और तुम सुन्दर देख पड़ते हो। हे भगवन् ! जो सुन्दर होता है, उसको देखकर राग उपजता है और चित्त क्षोभ को भी प्राप्त होता है। तुम ऐसे सुन्दर हो कि तुम्हारे दर्शन से मुझको शान्ति मिलती जाती है। तुम दिव्य तेज को धारण किये देख पड़ते हो और ऐसे तेजवान् हो कि देखने नहीं देते—अर्थ यह है कि तुम्हारे समान किसी की सुन्दरता नहीं और तुम्हारा तेज हृदय में शान्ति उपजाता है। वह एक शीतल प्रकाश है। हे भगवन् ! तुम धर्म से उन्मत्त से दिखते हो सो तुम कैसी शान्ति को लेकर एकान्त में स्थित हो ? अपने स्वरूप प्रकाश को तुम दया करके दिखाते हो। पृथ्वी पर स्थित भी दिखते हो, परन्तु त्रिलोकी के ऊपर विराजमान भासित होते हो। एक ही दिखते हो, परन्तु सर्वात्मा हो। किंचन-अकिंचन और सब भावपदार्थों से शून्य दिखते हो, पर सब पदार्थ तुम्हारी सत्ता से प्रकाशित होते हैं। तुम सब पदार्थों के अधिष्ठान हो। तुम्हारे नेत्रों के खोलने से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और मूँदने से लय हो जाती है; इससे ईश्वर हो। तुम सकलंक दिखते हो, परन्तु निष्कलंक हो अर्थात् तुममें फुरना देख पड़ता है, परन्तु हृदय से शून्य हो। तुम किसी अमृत का पान करके आये हो और बड़े ऐश्वर्य से सम्पन्न दिखते हो। इससे हे भगवन्! तुम कौन हो ? यदि मुझसे पूछो कि तू कौन है तो मैं माण्डव्य ऋषि के कुल में हूँ और मेरा नाम मंकी है। मैं ब्राह्मण हूँ और तीर्थयात्रा के निमित्त निकला था। मैं सब दिशाओं में घूमा और अति भयानक स्थानों में जो तीर्थ हैं वहाँ भी गया। परन्तु मुझको शान्ति न हुई ऐसी शान्ति कहीं न पाई कि इन्द्रियों की जलन से रहित हो जाऊँ—अब मैं अपने घर को जा रहा हूँ। हे भगवन् ! अब घर से भी मेरा चित्त विरक्त हुआ है। यह संसार ही मिथ्या है तो घर किसका है ? संसार में सुख कहीं नहीं। यह प्राण ऐसे हैं जैसी बिजली की चमक होती है और वैसे ही यह संसार भी नष्ट होता दिखता है। शरीर उपजते भी हैं और मिट भी जाते हैं—ये दृष्टि का भ्रम मात्र हैं, जैसे रात्रि आती है और फिर नहीं जान पड़ती कि कहाँ गई। हे भगवन् ! इस संसार को असार जानकर मैं उदासीन हुआ हूँ, क्योंकि मैंने

अनेक जन्म पाये हैं, जो नष्ट हो गये हैं। मैं इसी प्रकार घूमता फिरता हूँ। अब तुम्हारे शरणागत हूँ और जानता हूँ कि तुमसे मेरा कल्याण होगा। तुम कल्याणरूप देख पड़ते हो, इससे कृपा करके कहो कि कौन हो ?

हे राम ! इतना सुन मैंने कहा—हे मंकीऋषि ! मैं वशिष्ठ ब्राह्मण हूँ और मेरा घर आकाश में है। मुझको राजा अज ने स्मरण किया है, इसलिए मैं इस मार्ग से जाता हूँ। अब तुम संशय मत करो, ज्ञानमार्ग को पाओगे। हे राम ! जब मैंने ऐसे कहा, तब वह मेरे चरणों पर गिर पड़ा और उसके नेत्रों से जल बहने लगा। वह महाआनन्द को प्राप्त हुआ। तब मैंने कहा कि हे ऋषि ! तू संशय मत कर। मैं तुझको अकृत्रिम शान्ति देकर जाउँगा। जो कुछ तू पूछा चाहता है सो पूछ। मैं तुझको उपदेश करूँगा। मैं जानता हूँ कि तू कल्याणकृत है, इसलिए जो कुछ मैं कहूँगा, वह तू धारण करेगा। तू कुछ प्रश्न कर; क्योंकि तेरे कषाय परिपक्व हुए हैं। तू मेरे वचनों का अधिकारी है, तुझको मैं उपदेश करूँगा। अब तू संसार-सागर के तट पर आ गया है। अब तुझे उससे निकालने भर की देर है; अर्थात् तू वैराग्य से पूर्ण है और संसार का तट वैराग्य ही है; इससे संशय मत कर।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मंकिऋषिपरमवैराग्यनिरूपण नाम शताधिकचतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४४ ।।

मंकी बोले, हे भगवन् ! अब मैं जानता हूँ कि मेरा कार्य सिद्ध हो गया। मुझको अज्ञान से मोह था, उसका नाश करने को तुम समर्थ देख पड़ते हो। मेरे हृदय का तम नष्ट करने को तुम सूर्य उदय हुए हो। हे भगवन् ! यह संसार असार है, पर लोगों की बुद्धि विषयों की ओर ही दौड़ती है, जहाँ दुःख ही होते हैं। जैसे जल नीचे स्थान को चला जाता है, वैसे ही हमारी बुद्धि नीचे स्थानों को दौड़ती है और वही चाहती है। हे भगवन् ! जितने भोग हैं, उनको मैंने भोगा है, परन्तु शान्ति न पाई, बल्कि उल्टी तृष्णा बढ़ती गई। जैसे तृषा लगे और खारा जल पान करिये तो तृषा नहीं मिटती, बल्कि बढ़ती ही जाती है, वैसे ही विषयों को भोगने से शान्ति

नहीं प्राप्त होती—तृष्णा बढ़ती जाती है। हे मुनिराज ! देह जर्जर हो जाती है, दाँत गिर पड़ते हैं और अतिक्षोभ होता है, तो भी तृष्णा नहीं मिटती। अब मैं दुःख चाहता हूँ, सुख नहीं चाहता; क्योंकि संसार के जितने सुख हैं उनका परिणाम दुःख है। जो प्रथम दुःख हैं, उनका परिणाम सुख है, इसी से दुःख चाहता हूँ, संसार के सुख नहीं चाहता, हे भगवन् ! अपनी वासना ही दुःखदायक है। जैसे कुसवारी (कीड़ा) घर बनाकर उसमें आप ही फँस मरती है, वैसे ही अपनी वासना से जीव आप ही बंधन को प्राप्त होता है। हे मुने ! वह कौन काल था; जब अज्ञानरूपी हाथी ने मुझको वश किया था और उसका नाश करनेवाला ज्ञानरूपी सिंह कब प्रकट होगा ? कर्मरूपी तृणों का नाशकर्ता विवेकरूपी वसन्त कब प्रकटेगा और वासनारूपी अँधेरी रात्रि का नाशकर्ता ज्ञानरूपी सूर्य कब उदय होगा? हे भगवन् ! वैताल तब तक ही दिखता है, जब तक निशा है, जब सूर्य उदय होता है, तब निशा जाती रहती है और वैताल नहीं दिखता, वैसे ही अहंकाररूपी वैताल तब तक है, जब तक अज्ञानरूपी रात्रि दूर नहीं होती।

हे भगवन् ! जब सन्तजनों के उपदेश से आत्मज्ञानरूपी सूर्य प्रकट होता है, तब अहंकाररूपी वैताल वहाँ नहीं बिचरता। सन्तजनों का संग और सत्‌शास्त्रों को देखना चाँदनी रात्रि के समान है। उनसे जब स्वरूप का साक्षात्कार हो, तब दिन हुआ जानिये। जब तक सन्तजनों का संग नहीं करता और सत्‌शास्त्रों को नहीं देखता, तब अँधेरी रात्रि है। हे भगवन् ! जो सत्‌शास्त्रों को भी सुने और फिर विषयों की ओर भी गिरे, उसे बड़ा अभागी जानिये। मैं वही हूँ। परन्तु अब मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। मेरे हृदयरूपी आकाश में जो अज्ञानरूपी कुहरा है, वह तुम्हारे वचनरूपी शरत्काल से नष्ट हो जावेगा और हृदयाकाश निर्मल होगा। हे भगवन् ! मैंने त्रिदण्ड साधे हैं अर्थात् दीर्घकाल तक मन, शरीर और वाणी से तीन तप किये हैं,

परन्तु आत्मप्रकाश नहीं हुआ। अब तुम्हारे शरणागत होकर तरूँगा। इसलिए कृपा करके उपदेश करो, जिससे मेरे हृदय का तम दूर हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मंकिवैराग्ययोगो नाम शताधिकपञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४५ ।।

वशिष्ठजी ने कहा, हे तात ! संवेदन, भावना, वासना और कलना, ये अनर्थ के कारण हैं। जब इनका अभाव हो, तब कल्याण हो। शुद्ध चिन्मात्रपद प्रत्यक्ष चैतन्य अपने स्वरूप में स्थित है। जो अहंकार का उत्थान है, वही संवेदन है। भाव यह है कि पहले आप कुछ बना, फिर चेता, और अपना रूप चित्त में स्मरण हुआ, तब भ्रम मिट जाता है। और यदि जो कुछ बना उसकी भावना होती है कि मैं यह हूँ तो इससे संसार दृढ़ होता है। फिर वैसे ही वासना दृढ़ होती है और अपने शरीर के अनुसार नाना प्रकार की कलना होती हैं। फिर संसार के संकल्प-विकल्प उठते हैं। हे ब्राह्मण ! ये अनर्थ के कारण हैं। जब इनका अभाव हो, तब कल्याण हो। जितने शब्द और अर्थ हैं, उनका अधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्य है। सब शब्द उसी के आश्रित हैं और सब वही है। जब तू ऐसे जानेगा, तब वासना का क्षय हो जायगा। जब अहंसंवेदन फुरता है, तब आगे संसार भासित होता है। जैसे जब वसन्त ऋतु आती है, तब बेलें प्रफुल्लित होती हैं, वैसे ही जब संवेदन फुरता है, तब आगे संसार सिद्ध होता है। और जब संसार हुआ, तब नाना प्रकार की वासना फुरती हैं और संसार नहीं मिटता। हे अंग ! संसार जन्म-मरण का ही नाम है। जब यह संसरण मिटेगा, तब आत्मपद ही शेष रहेगा। वह तेरा अपना रूप है, इससे इस वासना को त्यागकर अपने आपमें स्थित हो रह-सब तेरा ही रूप है। जब तक वासना फुरती है, तब तक संसार दृढ़ रहता है। जैसे वृक्ष को जल दीजिए तो बढ़ता जाता है, वैसे ही वासनारूपी जल देने से संसाररूपी वृक्ष बढ़ता जाता है। इससे वासना का नाश करो कि यह संवेदन न उठे। जब वृक्ष जल से रहित होता है, तब आप ही सूख जाता है। हे पुत्र ! आत्मा में जगत् नहीं हुआ, केवल परमार्थसत्ता है। जैसे रस्सी में सर्प कुछ वस्तु

नहीं, रस्सी के अज्ञान से ही सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से संसार भासित होता है। जब तू आत्मपद को जानेगा, तब परमार्थसत्ता ही भासित होगी। जैसे बालक अपनी परछाहीं में भूत की कल्पना कर भय पाता है और जब विचारकर देखता है तब भूत कोई नहीं, सब भय दूर हो जाता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से संसार के रागद्वेष जीव को जलाते हैं। ज्ञानवान् को वासनासंयुक्त संसार का अभाव हो जाता है और केवल अद्वैत आत्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे स्वप्न से जागकर स्वप्न के प्रपञ्च का वासनासंयुक्त अभाव हो जाता है, वैसे ही जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब वासनासंयुक्त संसार का अभाव हो जाता है; क्योंकि वह है ही नहीं। जैसे घटादिक में मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही सब प्रपञ्च चिन्मात्रस्वरूप है, उससे भिन्न नहीं। जितने शब्द-अर्थ हैं, सब आत्मा ही हैं।

हे मित्र ! जो कुछ आत्मा से इतर भासित होता है, उसको भ्रममात्र जानो। जैसे आकाश में नीलिमा जो दिखती है, वह भ्रममात्र है, वैसे ही विश्व असम्यक्दृष्टि से दिखता है। सम्यक्दृष्टि से सब प्रपञ्च आत्मस्वरूप हैं। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य की त्रिपुटी भी बोधस्वरूप है। बोध ही त्रिपुटीरूप होकर स्थित है। जैसे स्वप्न में एक ही अनुभव त्रिपुटीरूप हो भासित होता है, वैसे ही यह जाग्रत् की त्रिपुटी भी आत्मस्वरूप है। हे अंग ! जितने स्थावर-जंगम पदार्थ हैं, सब आत्मस्वरूप हैं, जो परमात्मस्वरूप न हों तो भासित न हों। द्रष्टारूप से जो अनुभव करता है, वह एक अद्वैतरूप है—उसी स्वरूप के प्रमाद से भिन्न-भिन्न त्रिपुटी भासित होती है, तो भी कुछ उससे भिन्न नहीं है। जैसे स्वप्न में त्रिपुटी अपने अनुभव से भासित होती है, जो अनुभव न हो तो क्यों भासित हो, वैसे ही यह त्रिपुटी भी अनुभवरूप आत्मा से भासित होती है। इससे सब परमात्मस्वरूप है, कुछ भिन्न नहीं। और जब भिन्न नहीं तो है ही नहीं; क्योंकि सबकी एकता परमार्थस्वरूप में होती है। हे ऋषीश्वर ! सजातीय वस्तु मिल जाती है। जैसे जल में जल की बूँद डालिए तो मिल जाती है; क्योंकि एक रूप है,

वैसे ही बोध से सब पदार्थों की एकता भासित होती है; क्योंकि द्वैतसत्ता कोई नहीं है। जैसे स्पन्दन और निःस्पन्द, दोनों पवन ही है और जल और तरंग अभेदरूप है, वैसे ही विश्व परमार्थस्वरूप है। इससे ऐसे निश्चय करो कि सब ब्रह्मस्वरूप है अथवा अपने को उठा दो कि मैं नहीं-जब तू न होगा, तब विश्व कहाँ से होगा ?

हे मंकीऋषि ! प्रथम जो अहं होता है तो पीछे ममत्व भी होता है, इसलिए जो अहं ही न रहेगा तो ममत्व कहाँ रहेगा ? इस अहं का होना ही बन्धन है और इसके अभाव का नाम मुक्ति है। हे मित्र ! इस युक्ति में क्या यत्न करना है ? यह तो अपने अधीन है कि सोचे मैं नहीं हूँ। जब अहंकार को निवृत्त किया, तब शेष वही रहेगा, जो सब का परमार्थरूप है। उसी को ब्रह्म कहते हैं। हे मुनीश्वर ! जब अहंकार उत्पन्न होता है, तब नाना प्रकार की वासना होती है, और उन वासनाओं के अनुसार जीव अनेक जन्म पाता है, जो वर्णन नहीं किये जा सकते। जैसे पवन से तृण उड़ते और भटकते फिरते हैं, वैसे ही वासना से जीव नाना योनियों में भटकते फिरते हैं। जब पर्वत से कंकड़ गिरता है, तब चोटें खाता नीचे को चला जाता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीव जन्म-जन्मान्तर पाते चले जाते हैं और वासनानुसार घटीयन्त्र की नाईं कभी ऊपर और कभी नीचे को जाते हैं जैसे हाथ से ताड़ना किया गेंद कभी ऊपर और कभी नीचे को जाता है। हे अंग ! इस संसार का बीज वासना है। जब वासना निवृत्त हो तब सबकी एकता हो जाती है। जब तक संसार की वासना दृढ़ है, तब तक एकता नहीं होती। जैसे दूध और जल मिलता है तो उनका संयोग हो जाता है, वैसे ही आत्मा और विश्व का संयोग नहीं, आत्मा केवल अद्वैत और सबका अपना रूप है। जैसे मृत्तिका ही घटादिकरूप भासित होती है, वैसे ही आत्मसत्ता ही जगत्रूप होकर भासित होती है—इससे आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं।

हे साधो ! आत्मा और दृश्य का काष्ठ और लाख का जैसा अथवा घट और आकाश का जैसा संयोग नहीं है, क्योंकि आत्मा अद्वैत है और

सब दृश्य बोधमात्र है। हे साधो ! जो जड़ है वह चैतन्य नहीं होता और चैतन्य जड़ नहीं होता। इससे न कोई जड़ है न चैतन्य। चैतन्य आत्मा ही भावना से जड़ दृश्य होकर भासित होता है और उसके बोध से एक अद्वैतरूप हो जाता है तो जानता है कि सब वही है, भिन्न कुछ नहीं। हे मित्र ! अज्ञान से नाना प्रकार का विश्व भासित होता है। जैसे मेघ की वर्षा से नाना प्रकार के बीज उग आते हैं, वैसे ही अहंरूपी बीज से संसाररूपी वृक्ष वासना द्वारा उगता है। जब अहंकाररूपी बीज नष्ट हो, तब संसाररूपी वृक्ष नष्ट हो जावेगा। हे अंग ! जैसे वानर चपलता करता है, वैसे ही आत्मतत्त्व से विमुख अहंकाररूपी वानर वासना से चपलता करता है। जैसे गेंद हाथ के प्रहार से नीचे और ऊपर उछलता है, वैसे ही जीव वासना से जन्मान्तरों में भटकता फिरता है। कभी स्वर्ग, कभी पाताल और कभी भूलोक में आता है। स्थिर कभी नहीं होता। इससे वासना को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो रहो। हे तात ! यह संसार रात्रि की मंजिल है, देखते-देखते नष्ट हो जाती है। इसको देखकर इसमें प्रीति करना और इसे सत्य जानना ही अनर्थ है। इससे संसार को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो रहो। चित्त की वृत्ति जो संसरण करती है, इसी का नाम संसार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मंकित्रृषिप्रबोधो नाम
शताधिकषट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे तात ! यह संसार का मार्ग गहन है और इसमें जीव भटकते हैं। यह चैतन्यवृत्ति जो संसरण करती है, यही संसार है। जब यह संसरण मिटे, तब स्वच्छ अपना स्वरूप देख पड़े। चेतनावृत्ति जो बहिर्मुख उठती है, इसी का नाम बन्धन है; और कोई बन्धन नहीं। हे साधो ! यह जगत् वासना से बँधा है। जैसे वसन्तऋतु में रस फैलता है वैसे ही वासना में जगत् फैलता है। बड़ा आश्चर्य है कि मिथ्या वासना से जीव भटकते फिरते हैं, दुःख भोगते हैं और बारम्बार जन्म लेते और मरते हैं। बड़ा आश्चर्य है कि विषयरूप वासना के वश हुए जीव अविद्यमान

जगत् को भ्रम से सत्य जानते हैं। हे साधो ! जो इस वासनारूप संसार से तर गये हैं, वे धन्य हैं। वे प्रत्यक्ष चन्द्रमा की तरह शान्त हैं। जैसे चन्द्रमा अमृतरूप, शीतल और प्रकाशमान है और सबको प्रसन्न करता है, वैसे ही ज्ञानीपुरुष भी। इससे तू धन्य है जो तुझे आत्मपद पाने की इच्छा हुई है। हे अंग ! यह संसार तृष्णा से जलता है। जिनकी चेष्टा तृष्णासंयुक्त है, उनको तू विलाव जान। जैसे विलाव तृष्णा से चूहे को पकड़ता है, वैसे ही वे भी तृष्णा से युक्त चेष्टा करते हैं। मनुष्य शरीर में यही विशेषता है कि वह किसी प्रकार आत्मपद को प्राप्त करे। जो नरदेह पाकर भी आत्मपद पाने की इच्छा न करे तो वह पशुसमान है। हे मित्र ! मूढ़ जीव ऐसी चेष्टा करते हैं कि प्राणों के अन्त तक भी तृष्णा में फँसे रहते हैं।

हे अंग ! ब्रह्मलोक से काष्ठ तक जितने इन्द्रियों के विषय हैं, उनके भोगने से शान्ति नहीं होती; क्योंकि वे आपात रमणीय हैं—इनमें सुख कभी नहीं मिलता। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनकी शान्ति ऐसी है, जैसे चन्द्रमा में, और वे सूर्य की नाईं प्रकाशमान होते हैं, विषयों की तृष्णा कभी नहीं करते। जैसे कोई पुरुष अमृतपान करके तृप्त हुआ हो तो वह खली खाने की इच्छा नहीं करता, वैसे ही जिस पुरुष को आत्मानन्द प्राप्त हो जाता है, वह विषयों के भोगने की इच्छा नहीं करता। इससे इसी वासना का त्याग करो। वासना का बीज अहंकार है। उसको यह सोचकर निवृत्ति करो कि मैं नहीं हूँ ; क्योंकि मेरा होना ही अनर्थ है। हे साधो; शुद्ध चिन्मात्र निरहंकार पद में जो तू अपने को परिच्छिन्न जानता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' अथवा किसी प्रकृति से मिलकर अपने को मानता है कि 'मैं यह हूँ' , यही अनर्थ है। हे ऋषि ! नेत्रों को खोलने से संसार उत्पन्न होता है और नेत्रों को मूँदने से नष्ट हो जाता है। सो नेत्र अहंकार का उत्पन्न होना है; इसी से आगे विश्व सिद्ध होता है। इससे तेरा होना ही अनर्थ हैं। हे अंग ! जैसे रस्सी में सर्प भ्रम से उदय होता है, वैसे ही आत्मा में अहंकार का उदय हुआ है। इसी के अभाव से शान्ति होती है। जब

अहंकार होता है, तब आगे स्त्री, कुटुम्ब और धन होते हैं। वे ही बन्धन हैं। इनके चमत्कार ऐसे हैं, जैसे बिजली का प्रकाश क्षण में उदय होकर नष्ट हो जाता है। इससे इनमें न बँधना चाहिए।

हे अंग ! जब तू कुछ बना, तब सब आपदा तुझे प्राप्त होंगी। और यदि तू अपना अभाव जानेगा तो पीछे परमशान्तरूप आत्मपद ही शेष रहेगा, जिसकी अपेक्षा चन्द्रमा भी अग्नि सा जान पड़ता है। वह आत्मपद परमशून्य, सब पदार्थों की सत्ता और आकाशरूप है। हे मित्र ! मेरे इन वचनों को हृदय में धारण कर, जिसमें तेरा मोह नष्ट हो जाय। यह विश्व हुआ नहीं। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा दिखता है, पर है नहीं वैसे ही विश्व है नहीं, आत्मा के प्रमाद से भासित होता है। हे ऋषि ! तू उसी को जान, जिसके अज्ञान से विश्व भासित होता है और जिसके ज्ञान से लय हो जाता है। हे मंकी ! जैसे आकाश शून्यमात्र है, पवन स्पन्दनमात्र है, और जल तरंगमात्र है, वैसे ही जगत् संवित्मात्र है। उस संवित् आकाश से जो भिन्न भासित होता है, उसे भ्रममात्र जानो। जैसे असम्यक्दृष्टि से जल पहाड़रूप भासित होता है, वैसे असम्यक्दृष्टि से जगत् भासित होता है और सम्यक् अवलोकन से परमार्थसत्ता ही भासित होती है। जिसके अज्ञान से विश्व भासित होता है उसी को ज्ञानवान् लोग ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्म में अहंकार ही व्यवधान है। वह पर्दा ज्ञानवान् को नष्ट हो जाता है, इससे वह सबके अधिष्ठान एक परमार्थस्वरूप को देखता है। उसी में तू भी रह। जैसे आकाश अनेक घटों के संयोग से भिन्न-भिन्न भासित होता है और घटों को फोड़ डालिये तो सब एक ही हो जाता है; वैसे ही अहंकाररूपी घट फोड़िये तो सब पदार्थ एक हो जाते हैं।

हे अंग ! सबकी परमार्थसत्ता एक ब्रह्मपद है। वह अजन्मा, अच्युत, आनन्द, शान्तरूप, निर्विकल्प, अद्वैत, सबका अधिष्ठान है। उस शिलासदृश आत्मसत्ता से भिन्न कुछ न स्फुरण हो, इसलिए निर्बोध-बोध हो जाओ। हे मंकी ऋषि ! ये दुःख के देनेवाले पदार्थ और ऐसे शब्द अर्थ आकाश के फूल हैं; इससे शोक मत कर। कारण सब परमार्थसत्ता ही है। जैसे

पुरुष निराकार है, पर उसकी अभावना से अंगों का संयोग होता है, वैसे ही विश्व भी इसकी भावना से होता है। जैसी संसार की भावना दृढ़ होती है, वैसा ही रूप आगे देख पड़ता है। जो विश्व उपादान से नहीं हुआ तो आरम्भ परिणाम से भी कुछ नहीं बना। हे मित्र ! शुद्ध परमात्मा को पाना साध्य है, क्योंकि विश्व निरुपादन केवल शब्दमात्र है। आत्मा अद्वैत है, अतः इसका हेतु नहीं है। वह अचिन्त्य है, इसी से विश्व निरुपादान स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्न की सृष्टि निरुपादान होती है, वैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी है। जैसे मृत्तिका से घटकार्य बनता है, ऐसे भी आत्मा विश्व का उपादान नहीं है; क्योंकि मृत्तिका परिणाम से घटाकार होती है, पर आत्मा निर्विकार अच्युत है। जैसे भीत बिना चित्र हो सो है ही नहीं–इससे यह विश्व आकाश में चित्र है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार का विश्व आधार भीत बिना चित्र होते हैं, वैसे ही यह विश्व भी आकाश में चित्र सा है। इसी से आत्मा अकर्ता है। और विश्व जो दिखता है सो निरुपादान है। तब इसका शोक और हर्ष क्यों करें ? यह सब प्रपञ्च आत्मरूप है, प्रमाद के कारण यह नहीं जाना जाता।

हे साधो ! संवेदन से जब अहंकार फुरता है, तब विश्व भासित होता है। जैसे स्वप्न में जो कुछ बनता है वह अपने स्वरूप से भिन्न देख पड़ता है और उसी में रागद्वेष होता है, पर जागने पर और कुछ नहीं, सब कल्पना ही थी, वैसे ही जब संवेदन उठ गया, तब सब विश्व आप अपना रूप हो जाता है। अहंकार होना ही विश्व है। जब अहंकार नष्ट हुआ, तब ये सब शब्द–अर्थ कि मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, यह नरक है, यह स्वर्ग है, परमार्थसत्ता ही में फुरते हैं। सबका अधिष्ठान आत्मा है, इससे सब आत्मस्वरूप है। आत्मा दृश्य से रहित द्रष्टा है, ज्ञेय से रहित ज्ञाता है, और निर्बोध बोध है, इच्छा से रहित इच्छा है, अद्वैत और नानात्व भी वही है, निराकार और आकार भी वही है, अकिञ्चन और किञ्चन भी वही है। वह अक्रिय है और सब क्रियाएँ भी करता है। आत्मवेत्ता ऐसे आत्मज्ञान को पाकर विचरते हैं। उन्हें जगत् का किंचित् भी

भान नहीं होता। जैसे सुवर्ण के भूषण या जल के तरंग होते हैं, वैसे ही सब विश्व उसको आत्मस्वरूप भासित होता है। ऐसे जानकर वे सब चेष्टा करते हैं। जैसे काठ की पुतली में संवेदना नहीं उठती, वैसे ही उनको जगत् में सत्यता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वे निरहंकार हो जाते हैं। हे मंकी ऋषि ! जैसे सुवर्ण में भूषण बन जाते हैं, वैसे ही आत्मा में विश्व उपजा है। सो अहंकार से उपजा है। इससे इसके अभाव की भावना करो और निरहंकार होकर चेष्टा करो। जैसे पालने में बालक के अंग स्वाभाविक हिलते हैं, वैसे ही ज्ञानी की निर्वेद चेष्टा होती है। हे ऋषि! जब तू इस मेरे उपदेश को हृदय में धारण करेगा, तब सुख से सहज में ही आत्मपद की प्राप्ति होगी और यह विश्व भी आत्मरूप हो भासित होगा। जो कुछ विश्व भासित होता है, वह सब आत्मरूप ही है। हे राम! जब मैंने इस प्रकार कहा, तब मंकी ऋषि परमनिर्वाणपद को प्राप्त हुआ और परमसमाधि में एक वर्ष स्थित रहा। शिला में जैसे घास-फूस कुछ नहीं उगता, वैसे ही उसके हृदय में कोई भावना या वासना नहीं उपजी। हे राम ! जैसे मंकी ऋषि स्वरूप को प्राप्त हुआ है, वैसे ही तुम भी स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मंकिऋषिनिर्वाणप्राप्तिर्नाम शताधिकसप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह विश्व आत्मा का चमत्कार है और सब चिन्मात्रस्वरूप है। हे राम ! मेरा आर्शीवाद है कि तुम चिन्मात्रस्वरूप को प्राप्त होओ। जो तुम्हारा अपना रूप है, उसको अपना रूप जानों, जिसमें तुम्हारे सब दुःख नष्ट हो जावें। हे राम ! तुम निर्वाणस्थ शान्त आत्मा बनो। यथालाभ में सन्तुष्ट रहो। सत्य होने पर भी असत् की तरह स्थित होओ। रागद्वेष का रंग तुमको स्पर्श न करे। हे राम ! यह सब जगत् एक आत्मा में ही स्थित है और वास्तव में उस एक आत्मा में कुछ भी स्थित नहीं। आदि-अन्त से रहित वह एक चिदाकाश अपने आपमें स्थित है। शरीरादिक के नाश में भी अखण्डरूप है। यह जगत् उसी का चमत्कार

है, जो उपज-उपजकर लय हो जाता है। हे राम ! ध्याता, ध्यान ध्येय की त्रिपुटी भ्रान्तिमात्र है। वास्तव में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सब आत्मस्वरूप है, इससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा सदा एकरस है, कभी क्षोभ को नहीं प्राप्त होता । चाहे अमावस का चन्द्रमा दिखाई पड़ जाय और प्रलयकाल के बिना प्रलयकाल की वायु चले तो भी आत्मा को क्षोभ नहीं होता—आत्मपद सदा ज्यों का त्यों है। हे राम ! ऐसे आत्मा के प्रसाद से जीव दुःख पाते हैं। जब आत्मा को प्रमाद होता है। तब देह और इन्द्रियाँ अपने आपमें प्रत्यक्ष भासित होती हैं। पर जैसे बालू से तेल नहीं निकलता, आकाश में वन नहीं होता और चन्द्रमा के मण्डल में ताप नहीं होता, वैसे ही आत्मा में देह या इन्द्रियाँ कभी नहीं है।

हे राम ! ये सब जीव आत्मरूप हैं, इससे इनको देह-इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इनको जो कर्मों में अभिमान होता है इसी से बन्धन में पड़ते हैं। हे राम ! जैसे नाव पर बैठे हुए पुरुष को भ्रान्ति से नदीतट के वृक्ष चलने लगते हैं, वैसे ही मन के भ्रम से आत्मा में चित्त और देह इन्द्रियाँ जान पड़ती हैं। वास्तव में चित्त, और इन्द्रियाँ कुछ भिन्न वस्तु नहीं। ये भी आत्मस्वरूप ही है। तब निषेध किसका कीजिये ? हे राम ! मन और इन्द्रियादिक को अपनी सत्ता कुछ नहीं, वह भ्रान्ति से भासित होती हैं। जैसे पर्वत पर उज्ज्वल मेघ होता है और उसमें वस्त्रबुद्धि निष्फल होती है, वैसे ही ये देहादिक हैं। इनमें अहंबुद्धि निष्फल है। इससे हे राम! आत्मतत्त्व एक अखण्ड है, द्वैत कुछ नहीं। जब तुम ऐसे विचारोगे तो निरञ्जनरूप होगे। हे राम ! ये सब शरीर चित्त के स्फुरण से स्थित हैं। जैसे चित्त के स्फुरण से शरीर है, वैसे ही जीव में चित्त और परमात्मा में जीव हैं। हे राम ! इस प्रकार। स्फुरण मात्र दृश्य हुआ तो द्वैत तो कुछ न हुआ। इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यभ्रम को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो। हे राम ! ऐसी धारणा करके सुख से बिचरो और जो कुछ चेष्टा नीति से प्राप्त हो, उसको करो, परन्तु उसमें अपने कर्तव्य का अभिमान न हो।

जब अपना अहंभाव दूर होगा, तब स्पन्दन हो अथवा निःस्पन्द हो, समाधि में स्थित हो अथवा राज्य करो, तुमको दोनों तुल्य हो जावेंगे। जब अपनी अभिलाषा दूर होती है तब जैसी चेष्टा प्राप्त हो, वैसा ही हो, यह फुरना भी न फुरने के समान है, और एक अद्वैत सत्ता ही भान होगी। जैसे सम्यक्‌दर्शी को तरंग और सोमजल एक भासित होता है, वैसे ही तुमको भी एक ही भासित होगा। चाहे जीवनमुक्त हो अथवा विदेहमुक्त हो, समाधिस्थ हो अथवा राज्य करो, तुमको दोनों तुल्य हैं। हे रघुकुल आकाश के चन्द्रमा रामचन्द्र ! जीव को अपनी अभिलाषा ही बन्धन में डालती है। जब अभिलाषा मिटती है, तब कर्म करो अथवा न करो, कुछ बन्धन नहीं, क्योंकि तब मनुष्य करने में भी आत्मा को अक्रिय देखता है और न करने में भी वैसे ही देखता है। उसकी द्वैत भावना निवृत हो जाती है, इससे उसे चित्त, देह, इन्द्रियादिक सब पदार्थ आत्मरूप ही भासित होते हैं। हे राम ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदय का मोह निवृत्त हुआ है, अब तुम जागे हो । यदि कुछ तुमको संशय रहा हो तो फिर प्रश्न करो, जिसका मैं उत्तर दूँगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुखेनयोगोपदेशो नाम
शताधिकाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। १४८।।

राम ने पूछा, हे भगवन् मुझको एक संशय है और उसको भी आप निवृत्त कीजिये । कोई कहते हैं कि बीज से अंकुर होता है और कोई कहते हैं कि अंकुर से बीज होता है । कोई कहते हैं कि जो कुछ करता है सो दैव ही करता है और कोई कहते हैं, कि कर्म करते हैं तब जीव जन्म पाते हैं। कर्म ही से सब कुछ होता है, और किसी के अधीन जीव नहीं है। कोई कहते हैं कि जब देह होती है, तब कर्म करते हैं और कोई कहते हैं कि कर्मों से देह होती है। कोई कहते हैं कि देह से कर्म होते हैं और कोई पुरुषप्रयत्न मानते हैं। सो यथार्थ जो कुछ हो वह कहिए । वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक-एक के विषय में मैं तुमको क्या कहूँ। कर्म से दैव और घट से आकाश पर्यन्त जितने क्रिया, कर्म और द्रव्य हैं, ये सब विकल्पजाल

भ्रान्तिमात्र हैं। केवल आत्मस्वरूप अपने आपमें स्थित है—द्वैत कुछ नहीं है। हे राम ! जब संवेदन फुरता है, तब सब कुछ भासित होता है और निःसंवेदन होने पर कुछ नहीं। जैसे शीत, श्वेत आदिक बरफ के दूसरे नाम या पर्याय हैं, वैसे ही कर्म, पुरुषप्रयत्न आदि सब आत्मा के पर्याय है। दैव पुरुष है और पुरुष दैव है। कर्म देह है और देह कर्म है। बीज अंकुर है और अंकुर बीज है। दैव कर्म है और कर्म दैव है। और वही पुरुषप्रयत्न है। जो इनमें भेद मानते हैं। वे अनपढ़ पशु हैं। इन सबका बीज अहंकार है—जब अहंकार हुआ तब सब कुछ सिद्ध हुआ। जैसे बीज से वृक्ष, फल, फूल, और डाली होते हैं, पर जो बीज ही न हो तो वृक्ष कैसे उपजे ?

हे राम ! इनका बीज संवेदन है। अहंकार, संकल्प और संवेदन तीनों पर्याय हैं अर्थात् एक ही है। जब फुरना हुआ तब कर्म, देह, दैव सब सिद्ध होते हैं और जब फुरना मिट गया तब कुछ नहीं भासित होता। इसी को ज्ञान-अग्नि से जलाओ, जिससे इसके फूल, फल, टहनी सब जल जावें। यह जो संवेदन फुरता है कि 'मैं हूँ', यही संसार का बीज है। इसे ज्ञानरूपी अग्नि से जलाओ। जब अहंकार नष्ट होगा, तब कुछ द्वैत न भासित होगा। हे राम ! यह जो प्रपञ्च भासित होता है, इसका बीज संवेदन है और संवेदन का बीज शुद्ध संवित्‌तत्त्व है। पर उसका बीज और कोई नहीं। हे राम ! आदि जो स्पंदन संवेदन या फुरना हुआ है, उसी का नाम दैव है, क्योंकि वह कर्म से पहले ही फुरता है। फिर जो आगे क्रिया होती है, वह कर्म है। इसी का नाम पुरुषप्रयत्न है। वह जो कर्म से आदि दैवरूप फुरा है, उसका क्या रूप है ? इसी का जो पहिला कर्म है, उसी को दैव कहते हैं। इन सबका बीज संवेदन है। हे राम ! वह स्वतः पुरुष चिन्मात्रपद एक ही था। जब उससे विकार-संयुक्त उत्थान हुआ, तब प्रपञ्च भासित होने लगा। फिर जब उत्थान का अभाव होगा, तब प्रपञ्च का भी अभाव हो जायगा। हे राम ! जब जीव कुछ बनता है तब सब आपदाएँ उसको प्राप्त होती हैं। जैसे सुई वस्त्र में प्रवेश करती है तो उसके पीछे तागा भी चला जाता है-जो सुई प्रवेश न करे तो तागा कहाँ से

जावे-वैसे ही जब अहंकार प्रवेश करता है, तब सब आपदाएँ भी आती हैं, और जब अहंकार निवृत्त होता है, तब सब विश्व आनन्दरूप और अपना रूप भासित होता है। इससे अहंकार का अभाव करो, क्योंकि विश्व भ्रान्ति से सिद्ध है, आगे कुछ हुआ नहीं; सब आत्मरूप है।

हे राम ! विश्व वासनामात्र है। जब वासना नष्ट हो तब परम कल्याण है। जिस प्रकार वासना का क्षय हो, वही युक्ति श्रेष्ठ है। जब युक्ति से वासना का क्षय होगा तब चेष्टा भी होगी, परन्तु फिर जन्म का कारण न होगी। हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तुल्य दीखती है, परन्तु ज्ञानी का संकल्प दग्ध बीज सा है-फिर जन्म नहीं देता और अज्ञानी का संकल्प कच्चे बीज सा है-फिर जन्म देता है। पर वास्तव में देखिये तो न कोई जन्म ही पाता है और न कोई मृतक होता है, सब जीव केवल अपने आपमें स्थित हैं। भ्रान्ति से भिन्न-भिन्न भासित होते हैं। स्वरूप से सब अपना ही आप है—द्वैत कुछ नहीं हुआ। जो देख पड़ता है, वह मिथ्या है। जैसे केले के खंभे में सार कुछ नहीं होता, वैसे ही सब प्रपञ्च मिथ्या है, इसमें सार कुछ नहीं—इससे इसकी वासना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ। हे राम ! जिस प्रकार तुम्हारी वासना निर्मूल हो, उसी यत्न से निर्मूल करो। तब परम शिवपद ही शेष रहेगा। हे राम! पुरुषप्रयत्न से जब निरहंकार होगे, तब वासना आप ही क्षय हो जावेगी। वासनाक्षय का उपाय अपने पुरुषप्रयत्न के सिवा और कोई नहीं। इससे हे राम ! पुरुषार्थ करके इसी एक देव के परायण हो रहो। वही पुरुष कर्म, देव आदिक भासित होता है। हे राम ! इस प्रकार विचारपूर्वक सब एषणाओं को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निरोशयोगोपदेशो नाम
शताधिकनवचत्वरिंशत्तमस्सर्गः ।। १४९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ज्ञानवान् की बुद्धि निर्मल हो जाती है। उसके हृदय में शांति होती है। उसकी बुद्धि चैतन्य से पूर्ण होती है और दूसरा भान उठ जाता है। इससे तुम भी नित्य अन्तर्मुख और बीतराग

निर्वासी हो रहो और चिन्मात्र, निर्मल, शान्तरूप सर्वब्रह्म की भावना करो। उस ब्रह्मपद को पाकर नीति के अनुसार अज्ञानी के समान चेष्टा करो। जो हर्ष का स्थान हो उसमें हर्ष करो और शोक के स्थान में शोक करो; पर हृदय में आकाश की तरह निर्लिप्त रहो। हे राम ! जब इष्ट की प्राप्ति हो तो उसका स्पर्श करो, परन्तु हृदय में उसकी तृष्णा न करो। जब युद्ध प्राप्त हो, तब शूरमा होकर युद्ध करो, जो दीन हो उस पर दया करो; जो राज्य प्राप्त हो तो उसको भोगो और जो कोई कष्ट प्राप्त हो तो उसको भी भोगो। ये सब चेष्टाएँ अज्ञानी की तरह करो, पर हृदय में समता रक्खो; आत्मा से भिन्न कुछ न फुरने दो और रागद्वेष से रहित सदा निर्मल रहो। जब तुम ऐसे निश्चय को धारण करोगे, तब तुमको कुछ खेद न होगा। चाहे बड़ा दारुण दुःख पड़े और इन्द्र का वज्र ऊपर पड़े तो भी तुमको वह स्पर्श न करेगा। हे राम ! तुम्हारा रूप न शस्त्र से कटता है, न अग्नि से जलता है, न जल से गलता है और न पवन से सूखता है-वह केवल निराकार, अजर, अमर और सबका अपना रूप है। हे राम ! कष्ट तब होता है, जब विलक्षण वस्तु होती है और अग्नि तब जलती है जब काष्ठ आदिक भिन्न वस्तु होती हैं। अग्नि को अग्नि तो नहीं जलाती और जल को जल तो नहीं गलाता ? इससे तुम अपने रूप में स्थित हो रहो।

हे राम ! संवित्रूप आलय (घर) सा स्थिर स्थान है, उसी में स्थित हो रहो-जैसे पक्षी सब ओर से संकल्प को त्यागकर आलय (झोंझ) में जब स्थित होता है, तब सुख पाता है, वैसे ही जब तुम सब कलना को त्यागकर अन्तर्मुख संवित् में स्थित होगे; तब रागद्वेष-रूपी कोई द्वन्द्व न रहेगा। हे राम ! संसाररूपी समुद्र का बड़ा प्रवाह है। आश्रय बिना कोई उससे नहीं निकल सकता। वह आश्रय मैं तुमसे कहता हूँ। तुम अनुभवरूप आत्मा का आश्रय लेकर संसारसमुद्र के पार हो जाओ; विलम्ब न करो और अपने आपमें स्थित होओ हे राम ! यदि कोई संसाररूपी वृक्ष का अन्त जानना चाहे तो नहीं जान सकता। संसार एक वृक्ष है। उसमें चैतन्यमात्र सुगन्ध है। वह तुम्हारा अपना रूप है। उसको ग्रहण करो। जो

सबका अधिष्ठान है, उसको जब ग्रहण किया, तब सबको ग्रहण किया। हे राम! जो कुछ प्रपञ्च तुमको दिखता है, वह सब आत्मरूप है-उसी की भावना करो, जाग्रत् में सुषुप्त हो रहो और सुषुप्त में जाग्रत् रहो। संसार की सत्ता जाग्रत् है। उसकी ओर से सुषुप्त रहो; अर्थात् वासना से रहित होकर तुरीयपद में स्थित रहो, जहाँ गुणों का क्षोभ नहीं और निर्मल शान्तरूप है, जहाँ एक और दो की कलना नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन्! जो ऐसे शान्तरूप तुरीयपद में स्थित होना तुमने कहा, तो क्या तुममें यह भाव नहीं उठता कि मैं वशिष्ठ हूँ ? उसका रूप क्या है जिससे अहंप्रतीति तुमको नहीं होता ?

इतना कह वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब इस प्रकार राम ने प्रश्न किया तब वशिष्ठजी चुप हो गये और सब सभा संशय के समुद्र में मग्न हो गई। तब राम बोले, हे भगवन् ! चुप होना तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम साक्षात् विश्वगुरु और ब्रह्मवेत्ता हो। ऐसी कौन बात है जो तुमको न ज्ञात हो ? क्या मुझको उसके जानने का अधिकारी नहीं देखते? जब ऐसे रामजी ने कहा, तब वशिष्ठजी एक घड़ी के उपरान्त बोले, हे राम ! असामर्थ्य से मैं चुप नहीं हुआ। परन्तु जो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है, वही दिया। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर चुप्पी ही है। जो प्रश्न करनेवाला अज्ञानी हो तो उसको अज्ञान लेकर उत्तर देते हैं। और जो ज्ञानवान् हो तो उसको ज्ञान से उत्तर देते हैं। पहले तुम अज्ञानी थे, तब मैं सविकल्प उत्तर देता था। अब तुम ज्ञानवान् हो। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मौन ही है। हे राम ! जो कुछ कहना है, वह प्रतियोगी से मिला हुआ है। प्रतियोगी बिना शब्द के मैं कैसे कहूँ ? पहले तुम सविकल्प शब्द के अधिकारी थे और अब तुमको निर्विकल्प का उपदेश किया है। हे राम ! शब्द चार प्रकार के हैं—एक सूक्ष्म अर्थ का, दूसरा परमार्थ का, तीसरा अल्प और चौथा दीर्घ। तीन कलंक इनमें रहते हैं—एक संशय, दूसरा प्रतियोगी और तीसरा भेद। जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु रहते हैं, वैसे ही शब्द में कलंक रहते हैं। पर जो पद मन और

वाणी से अतीत है, उसको कलंकित शब्द कैसे ग्रहण करे ?

हे राम ! काष्ठमौन उसको कहते हैं, जहाँ इन्द्रियाँ न फुरें, न मन फुरे और कोई स्फुरण न हो—ऐसे पद को मैं वाणी से कैसे कहूँ ? जो कुछ बोला जाता है, वह सविकल्प होता है-तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मौन ही है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि बोलना सविकल्प और प्रतियोगी सहित होता है तो जो कुछ ब्रह्म में दूषण है उसका निषेध करके कहो । मैं प्रतियोगी को न विचारूँगा। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं चिदाकाशस्वरूप, चैत्य से रहित चिन्मात्र शान्तरूप, सम और सर्वकलना से रहित केवल आत्मत्वमात्र हूँ। और तुम और जगत् भी चिदाकाश है, अहं त्वं कोई नहीं, क्योंकि दूसरी सत्ता कोई नहीं ! सब अहंसंवेदन से रहित शुद्ध चिदाकाश है। यदि सापेक्षक अहं-अहं फुरता है और मोक्ष की भी इच्छा होती है तो सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अपने को कुछ मानकर फुरती है; इसलिए एक अहंकार के कई अहंकार हो जाते हैं। यही अहं की फाँसी गले में पड़ती है। जब अहन्ता से रहित हो, तब आत्मपद को प्राप्त हो। हे राम ! जब शव की तरह हो जावे और कुछ अभिमान न उठे, तब संसारसमुद्र से पार हो। जब तक द्वैत है, तब तक बन्धन है, कभी मुक्त नहीं हो सकता। जैसे जन्म का धन्धा चित्र की पुतली को नहीं देख सकता, वैसे ही अहंता से युक्त मुक्ति नहीं पाता। जब अहन्ता का अभाव हो तब कल्याण हो—स्वरूप के ऊपर अहन्ता का ही आवरण है।

हे राम ! जब जीव चेतन होकर उपजा तब उसको बन्धन पड़ा। और जब जड़-संवेदनशून्य हो, तब कल्याण हो। जब चैतन्योन्मुखत्व होता है, तब जीव होता है। मनुष्य का शरीर पाकर जब चैत्य से रहित शुद्ध चैतन्य प्रत्यक् आत्मा में स्थित होता है, तब मनुष्यजन्म सफल होता है। मनुष्यजन्म पाकर पाने योग्य पद पा सकता है। हे राम ! यदि मनुष्य जन्म को पाकर आत्मतत्त्व को न जानेगा तो और किस जन्म में जानेगा ? यह संसार चित्त के फुरने से उत्पन्न हुआ है;

जब चित्त संसरण से रहित हो, तब केवल केवलीभाव स्वरूप भासित हो। ज्ञानवान् की दृष्टि में अब भी कुछ नहीं हुआ, केवल आत्मस्वरूप ही भासित होता है, और फुरना और न फुरना दोनों तुल्य दिखाई देते हैं। अन्तःकरण चतुष्टय आत्मस्वरूप हैं और अज्ञानी को भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, इसी से चित्त आदिक जड़ और मिथ्या हैं। आत्मस्वरूप से सब आत्मस्वरूप हैं। आत्मा, देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है—ज्ञानी को सब आत्मा ही दिखता है। वह चाहे कैसी ही चेष्टा करे, वह लोक, धन पुत्र आदि सब एषणाओं से रहित, केवल आत्म अनुभवरूप में स्थित है और सबको अपना रूप जानता है।

हे राम ! जिस पद को वह प्राप्त होता है, उस पद को वाणी नहीं कह सकती। वह अनिर्वाच्यपद है। जो पुरुष कहता है कि "अहं ब्रह्म अस्मि" अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ और यह जगत् है तो जानिये कि उसको ज्ञान नहीं उपजा-उसको शास्त्रश्रवण का अधिकार है। जैसे कोई कहे कि मेरे हाथ में दीपक है और अन्धकार भी मुझको देख पड़ता है तो जानिये कि इसके हाथ में दीपक नहीं, वैसे ही जब तक जगत् भासित होता है, तब तक ज्ञान नहीं उपजा। हे राम ! अब भी निर्वाणपद है किससे किसको कौन उपदेश करे ? केवल एकरस शून्य है; शून्य और आत्मा में कुछ भेद नहीं। और जो कुछ भेद है उसको ज्ञानवान् जानते हैं, वहाँ वाणी की गति नहीं। उसमें जो संवेदन फुरता है, उससे संसार उपजता है और असंवेदन से लीन होता है। जैसे पवन से अग्नि प्रज्वलित होती है और पवन ही में लीन होती या बुझती है, वैसे ही जब संवेदन बहिर्मुख जगता है, तब संसार भासित होता है और जब अन्तर्मुख होता है तब जगत् लीन हो जाता है—इससे संसार स्फुरणमात्र है। जैसे आकाश में नीलापन भ्रम से दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत् की रचना नहीं हुई केवल ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों है—उसी में स्थित होओ। जब उसमें स्थित होगे, तब भेद मिट जावेगा। हे राम ! तब ग्राह्य और ग्राहक सम्बन्ध भी जाता

रहेगा और केवल शुद्ध, अजर और अमर परमात्मतत्त्व में खाते-पीते, चलते-फिरते वृत्ति रहेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भावनाप्रतिपादनोपदेशो नाम शताधिकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस प्रकार पुरुष आत्मपद को प्राप्त होता है सो सुनो ! जब निरहंकार होता है, तब आत्मपद को प्राप्त होता है। जो सर्वात्मा है, उसका आवरण करनेवाली अविद्या ही है। जैसे सूर्यमण्डल को बादल ढक लेता है, वैसे ही अविद्या आत्मा का आवरण करती है। उस अविद्या से मूर्ख उन्मत्त की तरह चेष्टा करते हैं, और जो अहंता से रहित ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको कोई दुःख नहीं स्पर्श करता—वह संदेह भी दुःख शून्य होता है। जैसे भीत पर लिखी युद्ध की सेना देखने भर को क्षुब्ध दिखती है; परन्तु शान्तरूप होती है, वैसे ही ज्ञानवान् की चेष्टा में भी क्षोभ दिखता है, परन्तु वह सदा अक्षोभ और निर्वाणरूप है। वह वासनासहित देख पड़ता है, पर सदा निर्वासनिक है। जैसे जल में लहर और चक्कर के क्षोभ दिखते हैं, परन्तु वे जल से भिन्न नहीं होते, वैसे ही ज्ञानवान् को ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। जिसके हृदय से दृश्यभाव शान्त हो गया है, पर बाहर से क्षोभ दिखता है, तो भी वह मुक्तरूप है। जैसे बादल आकाश में हाथी, घोड़ा और पहाड़ के रूप में दिखते हैं, परन्तु हैं कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् दिखता है, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं है। अहंकार से भासित होता है और अहंकार से रहित होने पर निर्विकार शान्तरूप हो जाता है। ऐसा जो निरहंकार आत्मपद है, उसको पाकर ज्ञानवान् शोभित होता है। शरत्काल का आकाश, क्षीरसमुद्र और पूर्णमासी का चन्द्रमा भी ऐसा नहीं शोभा पाता, जैसा ज्ञानवान् पुरुष शोभा पाता है। हे राम ! अहन्ता ही इस पुरुष का मैल है। जब अहन्ता नष्ट हो, तब स्वरूप की प्राप्ति हो और संसार के पदार्थों की भावना निवृत्त हो; क्योंकि वह भ्रम से उपजी थी। जो वस्तु भ्रम से उपजी होती है, उसका भ्रम का अभाव होने पर अभाव हो जाता है। जैसे आकाश में धुएँ का बादल नाना प्रकार

के आकार में दिखता है पर वे आकार हैं नहीं, वैसे ही यह विश्व अस्तित्व के बिना भी भासित होता है और विचार करने से नहीं रहता।

हे राम ! जब तक संसार की वासना है, तब तक बन्धन है। जब वासना निवृत्त हो, तब आत्मपद की प्राप्ति हो, सम्पूर्ण कलना मिट जावे और इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट में तुल्य बुद्धि हो। तब वह यद्यपि व्यवहारकर्ता हो, तो भी शान्तरूप है। जैसे शव को रागद्वेष नहीं उत्पन्न होता, वैसे ही ज्ञानी निर्वाण पद को प्राप्त होता है, जिसमें सत् या असत् शब्द कोई नहीं, केवल ब्रह्मस्वरूप है। बल्कि ब्रह्म कहना भी वहाँ नहीं रहता, केवल अद्वैत आत्मतत्त्वमात्र है। हे राम ! विश्व भी वही चैतन्य आकाश रूप है। जैसी-जैसी भावना होती है, वैसा ही वैसा चैतन्य होकर भासित होता है। जब जगत् की भावना होती है, तब नाना प्रकार के आकार दीखते हैं और ब्रह्म की भावना से ब्रह्म भासित होता है। जैसे विष में यदि अमृत की भावना होती है और उसे विधिपूर्वक खाते हैं तो वह विष भी अमृत हो जाता है, और जो विधि बिना खाइये तो मृत्यु का कारण होता है, वैसे ही इस संसार को यदि विधिसंयुक्त देखिये अर्थात् विचार करके देखिये तो ब्रह्मस्वरूप भासित होता है और जो विचार बिना देखिये तो जगत् रूप भासित होता है। पर विचार तब होता है, जब अहंकार निवृत्त होता है। अहंकार आकाश में उपजा है, आकाश शून्यता में उपजा है और शून्यता आत्मा के प्रमाद से उपजी है। फिर अहंकार से जगत् हुआ है और अहंकार मिथ्या है।

हे राम ! शरीर से चित्तपर्यन्त विचारकर देखिये तो कहीं नहीं देख पड़ते। इनमें जो अहंप्रत्यय है, वह भ्रान्तिमात्र है। जब तुम विचार करके देखोगे तब मरीचिका के जल सदृश वह प्रतीत होगा। हे राम ! जैसे स्वप्न के पर्वत को त्यागने में कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, वैसे ही मिथ्या संसार को त्यागने में कुछ यत्न नहीं—फिर इसका निर्णय क्या कीजिये ? जैसे वन्ध्या के पुत्र की वाणी को विचारिये कि यह सत्य कहता है या असत्य कहता है तो वह मिथ्या कल्पना है—क्योंकि वन्ध्या के पुत्र है ही नहीं, तब

उसका विचार क्या करिये, वैसे ही यह प्रपञ्च है नहीं, तब इसका निर्णय क्या कीजिये ? इससे तुम ऐसे हो रहो, जैसे मैं कहता हूँ, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे राम ! ऐसी भावना करो कि न मैं हूँ और न जगत् है। जब अहंकार ही न रहा, तब कलना कहाँ से हो। इसका होना ही अनर्थ है। जब ऐसा विचार उत्पन्न होता है, तब भोगों की वासना का क्षय हो जाता है और सन्तों की संगति होती है—अन्यथा भोग की वासना नष्ट नहीं होती। हे राम ! जब तक अहंता उठती है अर्थात् दृश्य और प्रकृति से मिलाप है, तब तक द्वैतभ्रम नहीं मिटता, और जब अहंकार का उत्थान मिट जायगा, तब शुद्ध चिन्मात्र आत्मसत्ता ही रहेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हंससंन्यासयोगो नाम शताधिकैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब अहन्ता का उत्थान होता है, तब स्वरूप का आवरण होता है और जब अहन्ता मिट जाती है तब स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस संसार का बीज अहंता ही है। जब अहंकार ही मिथ्या है, तब उसका कार्य कैसे सत्य हो ? जब प्रपञ्च मिथ्या हुआ तो पदार्थ कहाँ से सत्य हों ? हे राम, ऐसा जो ब्रह्म है, उसके पाने की युक्ति क्या है ? संकल्पपुरुष भी असत्य है; उसका संशय भी मिथ्या है और जिसके प्रति प्रश्न करता है, वह भी मिथ्या है। जैसे स्वप्न में जो द्वैतकलना होती है वह असत् है वैसे ही यह जगत् का द्वैत भी असत्य है। हे राम! यह सब जगत् इस आत्मरूप आकाश के भीतर स्थित है और प्रमाद से बाहर भासित होता है। यह अपना ही स्वप्न दिखता है, जो भीतर की सृष्टि बाहर भासित होती है। इससे यह सब जगत् चित्रूप है—उससे भिन्न कुछ नहीं है। यह चैतन्यसत्ता आकाश से भी अतिसूक्ष्म और स्वच्छ है। हे राम ! यह जगत् चित्त ने चेता है इससे कहीं हुआ नहीं। न किसी का नाश होता है, न कोई उत्पन्न होता है, न कहीं जन्म है और न मरण है—सब ब्रह्म ही है।

हे राम ! जगत् का नाश होने पर कुछ नष्ट नहीं होता, क्योंकि कुछ

हुआ ही नहीं था। जैसे स्वप्न के पहाड़ और संकल्पपुर नष्ट हुए तो क्या नष्ट हुए, वे तो कुछ उपजे ही न थे, वैसे ही इस जगत् के विषय में भी जानो। यह विचार करके देखा है कि जो वस्तु अविचार से उपजी होती है, वह विचार करने से नहीं रहती। जैसे जो पदार्थ तम से उपजा होता है, वह प्रकाश होने से नहीं रहता, वैसे ही यह जगत् अविचार से भासित होता है और विचार करने से इसका नाश हो जाता है। हे राम ! यह जगत् संकल्पमात्र है—जैसे संकल्पनगर होता है, वैसे ही यह संसार है। इसमें कोई पदार्थ सत्य नहीं। इस कारण रूप, इन्द्रिय और मन के अभाव का चिन्तन करना। यह संसार ऐसा है, जैसे समुद्र में पानी की भँवर। इसमें प्रीति करना अज्ञान है। हे राम ! कोई ऐसे हैं कि बाहर से शान्तरूप दीखते हैं, पर उनके हृदय में क्षोभ होता है और कोई पुरुष ऐसे हैं कि हृदय से शीतल हैं और बाहर नाना प्रकार की चेष्टा करते हैं। पर जिनके दोनों भाव मिट जाते हैं, वे मोक्ष के भागी होते हैं, उनके भीतर और बाहर एकता होती है—जैसे समुद्र में घट भर के रखिये तो उसके भीतर बाहर जल ही होता है। हे राम ! जिस पुरुष ने आत्मा को वास्तव में रूप में ज्यों का त्यों जाना है, उसको भय, शोक और मोह नहीं होता। वह केवल स्वच्छ रूप शान्त आत्मा में स्थित है। भय तब होता है, जब दूसरा भासित होता है। उसके मन में तो सब द्वैत का अभाव होता है और वह शान्तरूप होता है।

हे राम ! सम्यक्‌दर्शी को जगत् दुःख नहीं देता, पर असम्यक्‌दर्शी को दुःख देता है। जैसे रस्सी को जो जानता है, उसको रस्सी ही जान पड़ती है, और जो नहीं जानता, उसको सर्प दिखता है और वह भय पाता है, वैसे ही जिसको आत्मा का साक्षात्कार हो गया है, उसको जगत् की कोई कल्पना नहीं भासित होती, केवल अधिष्ठानरूप चिदानन्द ब्रह्म भासित होता है। और जिसको अधिष्ठान का अज्ञान है, उसको जगत् द्वैतरूप होकर भासित होता है और वह रागद्वेष से दग्ध होता है। हे राम ! जगत् और कुछ नहीं है। इसके अनुभव में ही जगत् की कल्पना होती है, और

अज्ञान से द्वैतरूप भासित होता है। पर जब जीव अपनी स्वभावसत्ता में जागता है, तब सब उसे अपना ही रूप भासित होता है। जैसे स्वप्न में अपना रूप ही द्वैतरूप होकर दिखता है और रागद्वेष उपजता है, पर जब जागता है तब सब आत्मरूप भासित होता है, वैसे ही यह जगत् है। इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण कोई नहीं है। जो पदार्थ कारण बिना भासित हो, उसे असत् जानिये। वह वास्तव में उपजा नहीं, भ्रम से सिद्ध है। जैसे स्वप्नसृष्टि अकारण है, वैसे ही जगत् अकारण है और भ्रम से भासित होता है। हे राम ! शास्त्र की युक्ति से विचार करके देखो तो द्वैतभ्रम मिट जाय। रञ्चभर भी कुछ बना नहीं। जैसे आकाश में नीलापन नहीं है और मरुस्थल में नदी नहीं है, वैसे ही इस जगत् को भी जानो। आत्मा शुद्ध और अद्वैत है। उसमें अहं का उठना ही दुःख और सभी दुःखों का कारण है। जो स्वरूप का प्रमाद न हो तो अहं भी दुःख का कारण नहीं होता, और जो स्वरूप भूला तो विष की बेलि अहंकारादिक दृश्य बढ़ते जाते हैं और नाना प्रकार के आकार धारण करते हैं। तब वासना दृढ़ होती हैं। जब तक वासना होती है तब तक बन्धन है। जब वासना निवृत्त हो, तभी कल्याण होता है।

हे राम ! जीव जिस दृश्य की भावना करता है, वही देख पाता है। जैसे समुद्र में तरंग और चक्र जो होते हैं, वे समुद्र से भिन्न नहीं होते, वैसे ही अहंकार आदिक जो दृश्य हैं, वे हैं नहीं। और जब हैं नहीं तो उनकी इच्छा करना मूर्खता है। ज्ञानवान् की वासना क्षीण हो जाती है और उसके बन्धन का कारण नहीं होती, क्योंकि संसार की सत्यता उसके हृदय में नहीं रहती। क्योंकि आत्मा का साक्षात्कार उसे हो जाता है। जब आत्मा का प्रमाद होता है, तब अहन्ता उदय होती है और दृश्य भासित होता है। जैसे नेत्र के खोलने से दृश्य का ग्रहण होता है और नेत्र मूँद लेने पर दृश्यरूप का अभाव हो जाता है, वैसे ही जब अहन्ता उदय होती है तब दृश्य भी होता है और जब अहन्ता नष्ट होती है, तब संसार का अभाव हो जाता है। हे राम ! अहन्ता का उदय होना ही अज्ञान है और अहन्ता

से ही बन्धन है। अहन्ता से रहित होना मोक्ष है—आगे जो इच्छा तुम्हारी हो, सो करो। हे राम ! देह, इन्द्रियादिक मृगतृष्णा के जल सदृश हैं; इनमें अहन्ता करना मूर्खता है। ज्ञानवान् अहन्ता को त्यागकर आत्मपद में स्थित होता है, और संसार के इष्ट-अनिष्ट में हर्ष या शोक उसे नहीं होते। जैसे आकाश में बादल होने पर भी वह ज्यों का त्यों है; वैसे ही ज्ञानी ज्यों का त्यों है। उसमें अहंकार नहीं होता, इससे वह सुखरूप है। हे राम ! रूप, दृश्य, इन्द्रियाँ और मन उसके जाते रहते हैं। जैसे वन्ध्या के पुत्र का नृत्य नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी के रूप, अवलोक, मनस्कार नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उसको सब ब्रह्म भासित होता है और उसकी द्वैत भावना नष्ट हो जाती है। संसार का बीज अहन्ता अज्ञानियों में दृढ़ होती है। हे राम ! अहन्ता से जीव की बुद्धि बुरी अर्थात् स्थूल हो जाती है। इससे वह दुःख पाता है। इस दुःख के नाश का उपाय यह है कि सन्तजनों के वचनों की भावना और विचार करके हृदय में धारणा करे-इससे अहन्तारूपी दुःख नष्ट हो जाता है। सन्तों के वचनों का निषेध करना मुक्तिफल का नाश करनेवाला और अहन्तारूपी पिशाच को उपजाने वाला है, इसलिए सन्तों की शरण में जाओ और अहन्ता को दूर करो। इसमें कुछ कष्ट नहीं; यह अपने अधीन है। अपने अभाव के चिन्तन में क्या कष्ट या खेद है।

हे राम ! आत्मपद सन्तों की संगति द्वारा बहुत सुगमता से प्राप्त होता है ज्ञानवानों की पृथक्-पृथक् सेवा करो और उनके वाक्यों को विचारकर बुद्धि को तीक्ष्ण करो। जब बुद्धि तीक्ष्ण होगी तब अहन्तारूपी विष की बेली का नाश करेगी। यह विचार करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है'। इस प्रकार सन्तों और शास्त्रों के वचनों का निर्णय करने से सत्य-सत्य होता है और जो असत्य है, वह असत्य हो जाता है। सत्य जानकर आत्मा की भावना करे और असत्य जगत् को मृग-तृष्णा के जल सा जानकर भावना को त्यागे तो जिनको सुख जानकर पाने की भावना या चाह करता था, वे दुःखदायी जान पड़ते हैं। जैसे अधिष्ठान के अज्ञान से मरुस्थल में जल जानकर मृग दौड़ता है, तो दुःख

पाता है, वैसे ही ये सब विषय हैं। सबका अधिष्ठान आत्मतत्त्व है। वह शुद्धरूप, परमशान्त और परमानन्दस्वरूप है, जिसको पाकर फिर जीव दुःखी नहीं होता। हे राम ! बन्धन का कारण भोग की वासना है। भोगों से शान्ति नहीं मिलती। जब सन्तों की संगति होती है, तब कल्याण होता है और अनात्म में अहंभाव छूट जाता है। और किसी प्रकार शान्ति नहीं मिलती। हे राम ! बालक की नाईं हमारे वचन नहीं हैं, हमारा कहना यथार्थ है, क्योंकि हमको स्वरूप का स्पष्ट भान है। जब अहन्ता मिट जावे तब सुखी हो। इससे अहंता का नाश करो। जब अहंता का नाश हो, तब जानिये कि चैत्य की भावना मिट गई है। हे राम ! जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होता है, तब अहंतारूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। ज्ञान तब होता है, जब सन्तों का संग और विचार, विषयों से वैराग्य और स्वरूप का अभ्यास करे-इससे स्वरूप की प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणयुतयुक्त्युपदेशो नाम शताधिकद्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिन पुरुषों ने ज्ञान से अपना अज्ञान नष्ट नहीं किया, उन्होंने करने योग्य कुछ नहीं किया। अज्ञान से पहले अहंभावना होती है, तब आगे जगत् भासित होता है। तब जीव लोक-परलोक की भावना करता है और इसी वासना से जन्म-मरण पाता है। हे राम जब तक हृदय में संसार का शब्द-अर्थ दृढ़ है, तब तक शब्द-अर्थ के अभाव का चिन्तन करे और जहाँ जगत् भासित होता है, वहाँ ब्रह्म की भावना करे। जब ब्रह्मभावना करेगा, संसार के शब्द-अर्थ से रहित होगा और उसे आत्मपद भासित होगा। हे राम ! इस संसार में दो पदार्थ हैं-एक यह लोक और दूसरा परलोक। अज्ञानी इस लोक का उद्यम करते हैं, परलोक का नहीं करते, इससे दुःख पाते हैं और उनकी तृष्णा नहीं मिटती। विचारवान् पुरुष परलोक का उद्यम करते हैं, इससे यहाँ भी शोभा पाते हैं और परलोक में भी सुख पाते हैं। उनके दोनों लोकों के कष्ट मिट जाते हैं। जो इसी लोक का उद्यम करते हैं, उनको दोनों ही दुःखदायक होते

हैं अर्थात् यहाँ तृष्णा नहीं मिटती और आगे जाकर नरक भोगते हैं। जिन पुरुषों ने आत्मा की भलाई का यत्न किया है, उनको वही सिद्ध होता है और वे सुखी होते हैं। जिसने यत्न नहीं किया, वह दुखी होता है। इसलिए अहंकार से रहित होने से ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। जब तक परिच्छिन्न अहंकार होता है, तब तक दुखी होता है, तब इसका नाम जीव होता है। जो कुछ फुरता है, उससे विश्व की उत्पत्ति होती है। जैसे नेत्रों के खोलने से रूप दिखता है और नेत्रों के मूँदने से रूप का अभाव हो जाता है, वैसे ही जब अहंता जागती है, तब दृश्य दिखता है और जब अहंता का अभाव होता है, तब दृश्य का भी अभाव हो जाता है। अहंता अज्ञान से सिद्ध होती और ज्ञान के उपजने से निवृत्त हो जाती है।

हे राम ! यदि पुरुष अपना प्रयत्न और साथ ही सत्संग करे तो इस संसारसमुद्र से तर जावेगा। और किसी प्रकार नहीं तर सकता। हे राम! युक्ति से जैसे विष भी अमृत हो जाता है, वैसे पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त होती है। हे राम ! इस जीव को दो रोग हैं-एक यह लोक और दूसरा परलोक। उनमें दुःख पाता है। जिन पुरुषों ने सन्तों के संग रूपी औषधि से इन रोगों की चिकित्सा की है, वे मुक्तरूप हैं और जिन्होंने वह औषधि नहीं की, वे पुरुष पंडित हों तो भी दुःख पाते हैं। वह औषधि क्या है ? शम, दम और सत्संग। इन साधनों के यत्न से जिसने आत्मपद पाया है, वह कल्याणमूर्ति है। हे राम ! चिकित्सा भी यही है। जिसने औषधि की, वह कृतार्थ हुआ और जिन्होंने न की, वे भोग में लिपटे रहे। वे मूर्ख वहाँ पड़ेंगे, जहाँ फिर कोई औषधि न पावेंगे। इससे हे राम ! इन भोगों का त्याग करो और आत्मविचार में सावधान हो रहो-यही औषधि है। हे राम ! जिस पुरुष ने मन नहीं जीता, वह मूढ़ है—वह भोगरूपी कीचड़ में डूबा है और आपदा का पात्र है। जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं, वैसे ही उसको आपदा प्राप्त होती है। जिसकी तृष्णा भोग से निवृत्त हुई है और वैराग्य उपजा है, वह मुक्त होता है। जैसे जीवन का आदि बालक अवस्था है, वैसे ही निर्वाणपद का आदि वैराग्य है। हे राम ! जैसे

दूसरा चन्द्रमा, संकल्पनगर और मृगतृष्णा का जल भ्रम से भासित होता है, वैसे ही यह जगत् भ्रम से प्रकट है। संसार का बीज अहंता है। जब अहंता उदय होती है, तब रूप और अवलोक भासित होता है। इससे यही चिन्तन करो कि मैं नहीं हूँ। जब यही भावना करोगे, तब शेष जो रहेगा वही तुम्हारा शान्तरूप है। उसमें आकाश भी शून्य है। अहं के उत्थान से रहित जड़-अजड़ सब केवल आत्मत्वमात्र है।

जड़ता का उसमें अभाव है, इससे अजड़ और केवल ज्ञानमात्र है। उसमें विश्व ऐसे है जैसे जल में तरंग पवन में स्पन्दन और आकाश में शून्यता। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जो आत्मा से कुछ भिन्न होता तो प्रलय में उसका नाश हो जाता। पर आत्मा तो प्रलयकाल में भी रहता है। जैसे सूर्य की किरणों में सदा जल का आभास रहता है, वैसे ही आत्मा में विश्व का चमत्कार रहता है। जैसे स्वप्नसृष्टि अनुभवस्वरूप होती है, वैसे ही यह जाग्रत्सृष्टि भी अनुभव है। आत्मा भीतर बाहर से रहित, अद्वैत, अजर, अमर चैत्य से रहित, चैतन्य और सब शब्द-अर्थ का अधिष्ठान है। अहं के स्फुरण से दूसरा भासित होता है। फुरना, न फुरना वही है। जैसे चलना और ठहरना, दोनों पवन के रूप हैं। जब पवन चलता है तब प्रतीत होता है और जब ठहरता है, तब नहीं मालूम पड़ता, वैसे ही जब चित्तशक्ति फुरती है, तब विश्वरूप होकर भासित होती है और जब नहीं स्फुरित होती, तब केवल मात्र पद रहता है। वह पद निराभास, अविनाशी, निर्विकल्प और सबका अपना रूप है। सत्य, असत्य, जड़, चेतन आदिक सब शब्द-अर्थ उसी अधिष्ठानसत्ता में फुरते हैं। इससे उसी अपने स्वरूप में स्थित होओ, जो परमार्थसत्ता आत्मतत्त्व, अपने स्वभाव में स्थित और अहं-त्वं से रहित केवल आकाशरूप, सबका अधिष्ठान है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शान्तिस्थितियोगोपदेशोनाम शताधिकत्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिनको दुःख-सुख चलाते हैं, जो इन्द्रियों के इष्ट में सुखी और अनिष्ट में दुःखी होते हैं और रागद्वेष के अधीन रहते हैं, उनको नष्ट हुए जानो। जिनका पुरुष प्रयत्न नष्ट हुआ है, वे बारम्बार जन्म पावेंगे, और जिनको सुख-दुःख नहीं चलाते, उनको अविनाशी जानो। वे जन्म मरण की फाँसी से मुक्त हुए हैं और उनके लिए शास्त्र का उपदेश नहीं है। हे राम ! रागद्वेष तब होता है, जब मन में इच्छा होती है, और इच्छा तब होती है, जब संसार की सत्यता मन में दृढ़ होती है। मनुष्य जिसको असत्य जानता है, उसको बुद्धि नहीं ग्रहण करती और उसकी इच्छा भी नहीं होती। और जिसको सत्य जानता है, उसमें बुद्धि दौड़ती है। हे राम ! अज्ञानी को संसार सत्य लगता है, इससे दुःख पाता है। जब वह शान्तपद का यत्न करे, तब दुःख से मुक्त हो। जिसमें अहं, त्वं, जगत्, ब्रह्म आदि शब्द कोई नहीं और जो केवल चिन्मात्र आकाशरूप है, उसमें ये शब्द कैसे हों ? ये सब शब्द विचार के निमित्त कहे हैं, वास्तव में कोई शब्द नहीं है। वह अद्वैत और चैत्य से रहित चिन्मात्र है। जब सब शब्दों का बोध हुआ, तब शेष शान्तपद रहता है। इसी से उसे आत्मत्वमात्र कहा है। यह जगत् उसी में भासित होता है। इस जगत् में जहाँ ज्ञप्ति जाती है, उसका ज्ञान होता है।

हे राम ! एक अधिष्ठानज्ञान है और दूसरा ज्ञप्तिज्ञान। अधिष्ठानज्ञान सर्वज्ञ ईश्वर को है और ज्ञप्तिज्ञान जीव को। एक लिंग शरीर का जिसको अभिमान है वह जीव है, और सबलिंग शरीरों का अभिमानी ईश्वर है। जहाँ इस जीव की ज्ञप्ति पहुँचती है, उसको यह जानता है। जैसे एक शय्या पर दो पुरुष सोये हों और एक को स्वप्न आये कि मेघ गर्जते हैं, तब दूसरा उस मेघ का शब्द नहीं सुनता; क्योंकि ज्ञप्ति उसको नहीं आई, परन्तु मेघ तो उसके स्वप्न में है। जैसे सिद्ध बिचरते हैं और जीव को नहीं दिखते, क्योंकि उसकी ज्ञप्ति उन तक नहीं जाती। सब सृष्टि बसती है, उसका ज्ञान ईश्वर को है। वह सृष्टि भी संकल्पमात्र है; कुछ बनी नहीं और भ्रम से भासित होती है। जैसे बादल में हाथी, घोड़े, मनुष्य आदिक

विकार (रूपांतर) जो दिखते हैं, वे भ्रान्तिमात्र हैं, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से नाना प्रकार की यह सृष्टि भासित होती है। हे राम ! यह आश्चर्य है कि आत्मा में अहंकार का उत्थान होता है कि मैं हूँ और वह अपने को वर्णाश्रमी मानता है। पर विचार करके देखिये तो अहं कुछ वस्तु नहीं सिद्ध होती, और अहं अहं फुरती है। यह आश्चर्य है कि भूत (अहं) कहाँ से उठा है और शुद्ध आत्मब्रह्म में कैसे उपस्थित हुआ ? अस्तित्वहीन निर्मूल अहंकार ने तुमको मोहित किया है। इसके त्यागने में तो कुछ यत्न नहीं। इसका त्याग करो। हे राम ! यह संकल्प मिथ्या उठा है। जब अहंकार का उत्थान होता है, तब जगत् होता है और जब अहन्ता मिट जाती है तब जगत् का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि कुछ बना नहीं, सब भ्रममात्र है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र है, वैसे ही यह विश्व भी भ्रममात्र है। कुछ बना नहीं, सब आत्मतत्त्व है, उससे भिन्न नहीं। जैसे पवन के दो रूप हैं। चलता है तो भी पवन है और ठहरता है तो भी पवन है, वैसे ही विश्व भी दोनों प्रकार से आत्मस्वरूप है। जैसे पवन चलता है, तब जान पड़ता है और ठहर जाता है तब नहीं जान पड़ता, वैसे ही चित्त चैत्यशक्ति का चमत्कार है। जब फुरता है, तब विश्व भासित होता है, पर तो भी चिद्घन है। और जब ठहर जाता है, तब विश्व नहीं भासित होता। परन्तु आत्मा सदा एकरस है। जैसे जल में तरंग और सुवर्ण में जो भूषण हैं, वे उनसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही आत्मा में विश्व कुछ हुआ नहीं, आत्मस्वरूप ही है। ज्ञप्ति भी ब्रह्म है और ज्ञप्ति में प्रतीत विश्व भी ब्रह्म है। तब विधि निषेध और हर्ष-शोक किसका करें ? सब वही है।

हे राम ! संकल्प को स्थिर करके देखो कि सब तुम्हारा ही स्वरूप है। जैसे मनुष्य शयन करता है तो उसको स्वप्नसृष्टि दिखती है और जब जागता है तब देखता है कि सब मेरा ही स्वरूप है, वैसे ही जाग्रत् विश्व भी तुम्हारा स्वरूप है। जैसे समुद्र में तरंग उठते हैं, वे जलरूप हैं, वैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है। और जैसे चितेरा काष्ठ में कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी और जैसे मृत्तिका में कुम्हार घटादि की कल्पना

करता है कि इसमें इतने पात्र बनेगें, पर काष्ठ और मृत्तिका में तो कुछ नहीं, ज्यों का त्यों काष्ठ है और ज्यों की त्यों मृत्तिका है, परन्तु कुम्हार या बढ़ई के मन में आकार की कल्पना है, वैसे ही आत्मा में संसाररूपी पुतलियों की कल्पना मन करता है। जब मन का संकल्प निवृत्त हो, तब ज्यों का त्यों आत्मपद भासित हो। जैसे तरंग जलरूप है; जिसको जल का ज्ञान है, वह तरंग को भी जलरूप जानता है और जिसको जल का ज्ञान नहीं, वह तरंग के भिन्न-भिन्न आकार देखता है, वैसे ही जब निस्संकल्प होकर स्वरूप को देखे तब जगत्र फुरने में भी आत्मसत्ता भासित होगी, अहंत्वं आदिक सब जगत्र ब्रह्मस्वरूप ही है तब भ्रम कैसे हो और किसको हो ? सब विश्व आत्मस्वरूप है। और आत्मा निरालम्ब अर्थात्र चैत्य और अहंकार से रहित केवल आकाशरूप है। जब तुम उसमें स्थित होगे, तब नाना प्रकार की भावना मिट जावेगी; क्योंकि नाना प्रकार की भावना जगत्र में फुरती है। जगत्र का बीज अहन्ता है; जब अहंता नष्ट हो, तब जगत्र का भी अभाव हो जावेगा। हे राम ! अहंता का फुरना ही बन्धन और निरहंकार होना ही मोक्ष है। एक चित्तबोध है और दूसरा ब्रह्मबोध-चित्तबोध जगत्र है और ब्रह्मबोध मोक्ष। चित्तबोध अहन्ता का नाम है। जब तक चित्तबोध फुरता है, तब तक संसार है और जब चित्त का अभाव होता है, तब मुक्त होती है। इस चित्त के अभाव का नाम ब्रह्मबोध है।

हे राम ! जैसे पवन चलता है, वैसे ही ब्रह्म में चित्तबोध है, और जैसे पवन ठहर जाता है, वैसे ही चित्त का ठहरना ब्रह्मबोध है। जैसे स्पंदित और निःस्पंद दोनों पवन ही हैं, वैसे ही चित्तबोध और ब्रह्मबोध ब्रह्म ही है, कुछ भिन्न नहीं। हमको तो ब्रह्म ही भासित होता है, जो चैतन्यमात्र शान्तरूप और अपने स्वभाव में स्थित है। जिसको अधिष्ठान का ज्ञान होता है, उसको विवर्त भी उसी का रूप भासित होता है और जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता, उसको भिन्न-भिन्न जगत्र भासित होता है। जैसे एक बीज में पत्ते, डाल, फूल और फल

दिखते हैं, पर जिसको बीज का ज्ञान नहीं, उसको वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। हे राम ! हमको अधिष्ठान आत्मतत्त्व का ज्ञान है, इससे हमें सब विश्व आत्मस्वरूप दिखता है। पर अज्ञानी को नाना प्रकार का विश्व और जन्म-मरण भासित होते हैं। हे राम ! सब शब्द आत्मतत्त्व में फुरते हैं, और वह सबका अधिष्ठान, निराकार, निर्विकार, शुद्ध आत्मा सबका अपना रूप है। इसलिए सब विश्व आकाशरूप है, उससे भिन्न नहीं। जैसे तरंग जलरूप है, वैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है। चित्त जो फुरता है, उसका अनुभव करनेवाली चैतन्यसत्ता ही ब्रह्म है। तुम्हारा स्वरूप भी वही है। इसने अहं-त्वं आदिक जगत् सब ब्रह्मरूप है। तुम संशय त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ। पहले तुमसे जो द्वैत-अद्वैत कहा है, वह सब उपदेशमात्र है। चित्त की वृत्ति को स्थिर करके देखो, सब ब्रह्म है, भिन्न कुछ नहीं, तब निषेध किसका कीजिये ? हे राम ! ज्ञानवान् चित्त की दो वृत्तियाँ कहते हैं—एक मोक्षरूप और दूसरी बन्धनरूप। जो वृत्ति स्वरूप की ओर फुरती है वह मोक्षरूप और जो दृश्य की ओर फुरती है वह बन्धन है। जो तुमको शुद्ध लगे वही करो। जो द्रष्टा है, वह दृश्य नहीं होता और जो दृश्य है, वह द्रष्टा नहीं होता। पर आत्मा तो अद्वैत है। इससे द्रष्टा में दृश्य पदार्थ कोई नहीं। तुम क्यों दृश्य की ओर झुकते हो और अनहोते दृश्य को ग्रहण करते हो ? तुम्हारा द्रष्टा नाम भी दृश्य से होता है। जब दृश्य का अभाव जानो, तब अवाच्यपद है। उसको वाणी से कहा नहीं जा सकता। हे राम ! जैसे अंगी और अंगवाले, आकाश और शून्यता, जल और द्रवता, बरफ और शीतलता में कुछ भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। कोई जगत् कहे अथवा ब्रह्म कहे, एक ही बात है। जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है। इससे आत्मपद में स्थित होओ। भ्रम से जो अपने को कुछ और मानते हो, उसको त्यागकर ब्रह्म ही की भावना करो और अपने को मनुष्य कभी न जानो। जो अपने को मनुष्य जानोगे तो यह निश्चय

अधोगति को प्राप्त करनेवाला है। इससे अपने स्वरूप में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नाम शताधिकचतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब देश से देशान्तर को वृत्ति जाती है तो उसके बीच जो संवित्‌तत्त्व है, उसका जो अनुभव करता है, वही तुम्हारा स्वरूप है। उसमें स्थित होओ और जैसी चेष्टा आवे, वैसी करो। देखो, सुनो, स्पर्श करो, गन्ध लो, बोलो, चलो, हँसो, सब क्रिया करो; परन्तु इनको जाननेवाली जो अनुभवसत्ता है, उसी में स्थित रहो। यह जाग्रत् में सुषुप्ति है। चेष्टा शुभ करो और हृदय में अहं से रहित शिला की भाँति रहो। हे राम! तुम्हारा स्वरूप निराभास, निर्मल और शान्त है। जैसे सुमेरु पर्वत स्थित है, वैसे ही रहो। यह दृश्य अज्ञान से भासित होता है, पर तमोरूप है और आत्मा सदा प्रकाशरूप है। उस प्रकाश में अज्ञानी को तम भासित होता है। जैसे सूर्य सदा प्रकाशरूप है, पर उल्लू पक्षी को नहीं देख पड़ता, और अज्ञान के कारण अँधेरा ही जान पड़ता है, वैसे ही अज्ञानी को जो अविद्यारूप जगत् भासित होता है, वह अविचार से सिद्ध है। अविद्या से उसकी विपर्यय-दृष्टि हुई है। पर उसका वास्तव स्वरूप निर्विकार है, अर्थात् जायते, अस्ति, वर्द्धते, परिणमते; व्यपक्षीयते, नश्यते (उत्पन्न होना, होना, बढ़ना, रूपान्तर, क्षय और विनाश) इन षट् विकारों से रहित है। पर वह उसको विकारी जानता है। आत्मा निर्विकार, निराकार है, पर उसको साकार जानता है। आत्मा आनन्दरूप है, पर उसको दुखी जानता है। आत्मा शान्तरूप है, पर उसको अशान्त जानता है। आत्मा महत् है, पर उसको लघु जानता है। आत्मा पुरातन है, पर उसको उपजा मानता है। आत्मा सर्वव्यापक है, पर उसको परिच्छिन्न मानता है। आत्मा नित्य है, पर उसको अनित्य देखता है। आत्मा चैत्य से रहित शुद्ध चिन्मात्र है, पर यह उसे चैत्यसंयुक्त देखता है। आत्मा चैतन्य है, यह उसे जड़ देखता है। आत्मा अहं से रहित सदा अपने स्वभाव में स्थित है, पर यह अनात्म शरीर में अहं प्रतीति करता है। आत्मा में अनात्मभावना में और अनात्मा आत्मभावना करता है। आत्मा निरवयव

है, उसको यह अवयवी देखता है। आत्मा अक्रिय है, उसको यह सक्रिय देखता है। आत्मा निरंश है, उसको अंशाशीभाव करके देखता है। आत्मा निरामय है, पर उसको रोगी देखता है। आत्मा निष्कलंक है, पर उसको कलंकसहित देखता है। आत्मा सदा प्रत्यक्ष है, उसको परोक्ष जानता है और जो परोक्ष है, उसको प्रत्यक्ष जानता है।

हे राम ! यह सब विकार आत्मा में अज्ञान से देखता है, पर आत्मा शुद्ध और सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल, बड़े से बड़ा, लघु से लघु, और सर्व शब्द और अर्थ का अधिष्ठान है। हे राम ! ब्रह्मरूपी एक डब्बा है, उसमें जगत्‌रूपी रत्न है। पर्वत और वन सहित भी जगत् देख पड़ता है, परन्तु आत्मा के निकट रुई के रोम सा लघु है। आत्मारूपी वन हैं, उसमें संसाररूपी मञ्जरी उपजी है। पाँचों तत्त्व-पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश उसके पत्ते हैं। उनसे यह शोभित है। यह अहंता के उदय होने से उदय होती है और अहंता का नाश होने से नष्ट होती है। आत्मा एक समुद्र है, उसमें जगत्‌रूपी तरंगे हैं। वे उठती भी हैं और लीन भी हो जाती हैं। आत्माकाश से संसार भ्रममात्र है। आकाश वृक्ष की तरह है और आत्मा के प्रमाद से भासित होता है। हे राम ! मायारूपी चन्द्रमा की किरणें यह जगत् है और नेतिशक्ति नृत्य करनेवाली है। ये तीनों अविचार से सिद्ध हैं और विचार करने से शान्त हो जाते हैं। जैसे दीपक हाथ में लेकर देखिये तो अन्धकार नहीं देख पड़ता, वैसे ही विचार करके देखिये तो जगत् का अभाव हो जाता है और केवल शुद्ध आत्मा ही प्रत्यक्ष होता है। हे राम ! यह जगत् कुछ बना नहीं—जैसे किसी ने बरफ कही और किसी ने शीतलता कही तो उसमें भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। जो भेद भासित होता है, वह भ्रममात्र है। जैसे तागे और पट में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भी कुछ भेद नहीं है। हे राम ! आत्मरूपी पट में जगत्‌रूपी चित्र-पुतलियाँ हैं और आत्मरूपी समुद्र में जगत्‌रूपी तरगें हैं सो पट और जलरूप हैं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं—आत्मा ही है; आत्मा से भिन्न कुछ नहीं बना। जिससे

सब पदार्थ सिद्ध होते हैं, जिससे सब क्रिया सिद्ध होती हैं और जो अनुभवरूप सदा अप्रौढ़ है, उसको प्रौढ़ जानना ही मूर्खता है। हे राम ! यह विश्व तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम जागकर देखो, तुम ही एक हो और स्वच्छ आकाश, सूक्ष्म, प्रत्यक्ष ज्योति अपने रूप में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नाम शताधिकपञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे जल में लहरें और तरंगें उठती हैं, सो जलरूप हैं, वैसे ही आत्मा में रूप, अवलोक और मनस्कार फुरते हैं, सो सब आत्मरूप हैं—भिन्न नहीं। हे राम ! यह शुद्ध परमात्मा का चमत्कार है और आत्मा दृश्य से रहित, शुद्ध, चिन्मात्र निर्मल और अद्वैत है; उसमें जगत् नहीं बना। हमको तो सदा वही भासित होता है-जगत् नहीं भासित होता। जैसे कोई आकाश में नगर की कल्पना करता है उसमें सब रचना देखता है तो वह उसके हृदय में दृढ़ हो जाती है, और संकल्प की सृष्टि को मिथ्या जानता है, उसको शून्याकाश ही भासित होता है, वैसे ही यह विश्व मूर्ख के हृदय में दृढ़ होता है और ज्ञानवान को आत्मरूप ही भासित होता है। जैसे मिट्टी के खिलौने की सेना होती है तो जिसको मिट्टी का ज्ञान है, वह उसमें राग-द्वेष नहीं करता और बालक मिट्टी के ज्ञान से रहित है, इससे वह उसमें राग-द्वेष करता है, वैसे ही ज्ञानवान् इस जगत् में राग-द्वेष नहीं करते, और अज्ञानी राग-द्वेष करते हैं। जैसे खिलौने में सारभूत मृत्तिका होती है, वैसे ही इस जगत् में सारभूत चैतन्य आत्मा है। जो कुछ पदार्थ दिखते हैं, वे आत्मा के विवर्त्त हैं और मिथ्या ही भ्रम से सिद्ध हुए हैं। जो वस्तु मिथ्या हो, उसमें सुख के निमित्त इच्छा करना ही मूर्खता है। हे राम ! हमको तो इच्छा कुछ नहीं; क्योंकि हमको जगत् मृगतृष्णा के जल सा लगता है, किसकी इच्छा करें ? जिसमें सत्य प्रतीति होती है, उसमें इच्छा भी होती है, और जो सत्य ही न लगे तो इच्छा कैसे हो ? हे राम ! इच्छा ही बन्धन है, और इच्छा से रहित होने का नाम मुक्ति है। इससे ज्ञानवान् को कुछ इच्छा नहीं रहती। उसकी चेष्टा

अनिच्छित ही होती है। जैसे सूखे बाँस के भीतर बाहर शून्य होता है, ओर उसको संवेदन कुछ नहीं फुरता, वैसे ही ज्ञानवान् के अन्तस में शान्ति होती है। अन्तस में कोई संकल्प नहीं उठता ओर बाहर भी कोई उपाधि नहीं। उसकी चेष्टा निःसंकल्प, निरुपाधि होती है। हे राम ! जिस पुरुष के हृदय से संसार का रस सूख गया है, वह संसार समुद्र के पार हो गया। जिसका रस नहीं सूखा, उसको राग-द्वेष फुरते हैं। उसे संसार-बन्धन में पड़ा जानो।

हे राम ! मैं तुमसे ऐसी समाधि कहता हूँ, जो सुख से प्राप्त हो और जिससे जीव मुक्त हो। सब इच्छाओं से रहित होना ही परमसमाधि है। जिस पुरुष के मन में इच्छा उठती है, उसको उपदेश भी नहीं लगता। जैसे आरसी के ऊपर मोती नहीं ठहरता, वैसे ही उसके हृदय में उपदेश नहीं ठहरता। इच्छा ही जीव को दीन करती है। इच्छा से रहित मनुष्य शान्तरूप होता है। फिर शान्ति के लिए कुछ कर्तव्य नहीं रहता। हे राम! हम तो इच्छा-रहित हैं, इससे हमारे भीतर-बाहर शान्ति है और हमारे लिए करने योग्य कर्तव्य कुछ नहीं। यह सब चेष्टा प्रारब्ध के अनुसार और राग-द्वेष से रहित होती है। हम बोलते हैं, परन्तु बाँसुरी की तरह जैसे बाँसुरी अहंकार से रहित बोलती है, वैसे ही ज्ञानवान् अहंकार से रहित है और स्वाद को ग्रहण करते हैं। जैसे कलछी सब व्यञ्जनों में डाली जाती है और उसी के द्वारा सब व्यञ्जन निकालते हैं, परन्तु उनको उनसे कुछ राग-द्वेष नहीं होता। वैसे ही ज्ञानवान् संवाद लेता है। जैसे पवन भली-बुरी गन्ध को लेता है, परन्तु उसमें राग-द्वेष से रहित है, वैसे ही ज्ञानवान् राग-द्वेष के संवेदन से रहित रहकर गन्ध को लेता है। और इसी प्रकार सब इन्द्रियों की चेष्टा करता है, परन्तु इच्छा से रहित होता है। इसी से परमसुखरूप है। जिसकी चेष्टा इच्छासहित है, वह परमदुखी है। हे राम! जिस पुरुष को भोग रस नहीं देते, वही सुखी है, और जिसको रस देते हैं, जिसकी राग से तृष्णा बढ़ती जाती है, उसको ऐसा जानो, जैसे किसी के सिर पर आग लगे और वह उस पर बुझाने के निमित्त तृण डाले,

तो वह बुझती नहीं, बल्कि बढ़ती जाती है, वैसे ही विषयों की इच्छा भोगने से तृप्त नहीं होगी। इच्छा ही बन्धन है, और इच्छा की निवृत्त का नाम मोक्ष है। हे राम ! यह संसार विष का वृक्ष है। उसका बीज इच्छा है। जिसकी इच्छा बढ़ती जाती है, उसका संसार बढ़ता जाता है और उससे वह बारम्बार जन्म पाता है।

हे राम ! ऐसा सुख ब्रह्मा के लोक में भी नहीं, जैसा इच्छा की निवृत्ति में है और ऐसा दुःख नरक में भी नहीं जैसा इच्छा के उपजने में है। इच्छा के नाश का नाम मोक्ष है और इच्छा के उपजने का नाम बन्धन है। जिस पुरुष को इच्छा उत्पन्न होती है, वह दुःख पाता है और संसाररूपी गढ़े और खत्ते में पड़ता है। इच्छा एक विष की बेल है। उसको समतारूपी अग्नि से जलाओ। सम्यक्दर्शन से जलाये बिना वह बड़ा दुःख देगी और बढ़ती जायगी। हे राम ! जिस पुरुष ने इच्छा को दूर करने का उपाय नहीं किया,उसने अन्धे कूप में प्रवेश किया है। शास्त्र का श्रवण और तप, दान, यज्ञ इसी निमित्त है कि किसी प्रकार इच्छा निवृत्त हो। जो एकबारगी निवृत्त न कर सको तो धीरे-धीरे निवृत्त करो। हे राम ! यह विष की बेल बढ़कर दुःख देती है। जो पुरुष शास्त्रों को पढ़ता और इच्छा को बढ़ाता है, वह मानो दीपक हाथ में लेकर कूप में गिरता है। इच्छा एक कँटिआरी का वृक्ष है, जिसमें सर्वदा कण्टक लगे रहते हैं, उसमें कभी सुख नहीं। जैसे कोई पुरुष काँटे की शय्या पर शयन करके सुखी हुआ चाहे तो नहीं होता, वैसे ही संसार से कोई सुख पाया चाहे तो कभी न मिलेगा। जिससे इच्छा निवृत्त हो, वही उपाय करना चाहिए। इच्छा के निवृत्त होने में सुख है और उसके उत्पन्न होने में बड़ा दुःख। हे राम ! जो अनिच्छित पद में स्थित है, उसको यदि एक क्षण भी इच्छा उपजती है तो वह रुदन करता है। जैसे चोर से लूटा गया मनुष्य रुदन करता है, वैसे ही वह रुदन और पश्चात्ताप करता है और उसके नाश का उपाय करता है। हे राम ! इच्छारूपी क्षेत्र में रागद्वेषरूपी विष की बेल

है। जो पुरुष उसे दूर करने का उपाय नहीं करता, वह मनुष्य नहीं, पशु है। यह इच्छारूपी विष का वृक्ष बढ़कर नाश का कारण होता है। इससे तुम इसका नाश करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इच्छानिषेधयोगोपदेशो
नाम शताधिकषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इच्छारूपी विष के नाश का उपाय तुमसे पहले भी कहा है, और अब फिर स्पष्ट करके कहता हूँ। यह संसार इच्छा के त्याग करने के योग्य है। यदि इसे आत्मसत्ता से भिन्न कीजिये तो यह मिथ्या है, उसमें क्या इच्छा करना है ? और जो आत्मा की ओर देखिए तो सब आत्मा ही है। तब क्यों इच्छा करना ? इच्छा दूसरे में होती है, पर वास्तव में दूसरा तो कुछ है ही नहीं, तो इच्छा किसकी कीजिए ? हे राम ! द्रष्टा और दृश्य भी मिथ्या है। द्रष्टा इन्द्रियाँ और दृश्य विषय, ग्राहक इन्द्रियाँ और ग्राह्य विषय अविचार सिद्ध हैं, भ्रम से भासित होते हैं। आत्मा में कोई नहीं। जैसे स्वप्न में भ्रम से रूप दिखते हैं, वैसे ही ये ग्राह्य-ग्राहक भ्रम से भासित हैं। सुख-दुःख भी इन्हीं से होते हैं, आत्मा में यह कुछ नहीं है। हे राम ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों ब्रह्म में कल्पित हैं। वास्तव में सब ब्रह्म ही है। चिरकाल से हम खोज रहे हैं, परन्तु द्वैत हमको नजर नहीं आता; एक ब्रह्मसत्ता ही ज्यों की त्यों भासित होती है, जो निराभास फुरने से रहित और ज्ञानरूप है। वह आकाश से भी सूक्ष्म है, और सब जगत् भी वही है-वही मैं हूँ। हे राम ! जैसे जल में तरंग आकाश में शून्यता, पवन में स्पन्दन और अग्नि में उष्णता सब वही अनन्यरूप है, वैसे ही आत्मा में जगत् अनन्यरूप है। आत्मा ही विश्व आकार होकर भासित होता है, और कुछ नहीं हुआ। हे राम ! जो वही है, तब इच्छा किसकी करते हो। जब मैं तुमसे यह मोक्ष का उपाय कहता हूँ, तब तुम अपने को क्यों बन्धन में डालते हो ? बड़ा बन्धन इच्छा ही है। जिस पुरुष की इच्छा बढ़ती जाती है, वह जगत्रूपी वन का मृग है। उस पशु का संग कभी न करना। मूर्ख का संग बुद्धि का विपर्यय कर

डालता है। इससे विपर्ययबुद्धि को त्याग कर आत्मपद में स्थित होओ। विश्व भी सब तुम्हारा अनुभव है। इसका सुखःदुख विद्यमान भी दीखता है; परन्तु आत्मा में भ्रममात्र भासित है-कुछ है नहीं। विश्व भी आनन्दरूप शिव ही है। तुम विचार करके देखो, दूसरा तो कुछ नहीं है। जैसे मृत्तिका में नाना प्रकार की सेना, हाथी, घोड़ा, आदि होते हैं, परन्तु मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं हैं, वैसे ही सब विश्व आत्मरूप है, भिन्न नहीं। उसमें कारण-कार्यभाव देखना भी मूर्खता है; क्योंकि जब दूसरी वस्तु ही नहीं, तब कारण-कार्य किसका हो और इच्छा किसकी करते हो ? जिस संसार की इच्छा करते हो, वह है ही नहीं । जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है और सीपी में रूपा प्रतीत होता है, सो वह कुछ दूसरी वस्तु नहीं है, अधिष्ठान किरण और सीपी है, वैसे ही अधिष्ठानरूप परमार्थसत्ता ही है। न सुख है, न दुःख, यह जगत् केवल शिवरूप है। उस शिव चिन्मात्र से मृत्तिका की सेना के समान अन्य कुछ नहीं, तब इच्छा कैसे उदय हो ?

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो सब ब्रह्म ही है तो इच्छा-अनिच्छा भी उससे भिन्न न होगी ? इच्छा उदय हो चाहे न हो, फिर आप कैसे कहते हैं कि इच्छा का त्याग करो ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस पुरुष की ज्ञप्ति जागी है अर्थात् जो ज्ञानरूप आत्मा में जागा है, उसको सब ब्रह्म ही है, और इच्छा-अनिच्छा, दोनों तुल्य है। इच्छा भी ब्रह्म है और अनिच्छा भी ब्रह्म है। हे राम ! ज्यों-ज्यों ज्ञानसंवित् होती है, त्यों-त्यों वासना का क्षय होता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि नष्ट हो जाती है, वैसे ही ज्ञान के उपजने से वासना नहीं रहती। हे राम ! ज्ञानवान् को ग्रहण या त्याग का कुछ कर्तव्य नहीं होता और उसे इच्छा-अनिच्छा तुल्य है। यद्यपि ऐसा ही है। तथापि स्वाभाविक रूप से ही उसे वासना नहीं रहती। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही आत्मा का साक्षात्कार होने पर द्वैतवासना नहीं रहती। ज्यों-ज्यों ज्ञानकला जागती है, त्यों-ज्यों द्वैत का नाश होता जाता है और द्वैत के निवृत्त होने से

वासना भी निवृत्त हो जाती है। हे राम ! उसको ज्यों-ज्यों स्वरूपानन्द प्राप्त होता है, त्यों-त्यों संसार नीरस होता जाता है और जब संसार नीरस हो गया, तब वह वासना किसकी करे ?

हे राम ! इसको अमृत में विष की भावना हुई थी, इससे अमृत विष लगता था, पर जब विष की भावना का त्याग हुआ, तब अमृत तो आगे ही था, वही हो जाता है, वैसे ही जो कुछ तुमको भासित होता है, सो सब ब्रह्मरूपी अमृत ही है। जब उस ब्रह्मरूपी अमृत में अज्ञान से जगत्‌रूपी विष की भावना होती है, तब जीव दुःख पाता है, और जब संसार की भावना त्यागो, तब आनन्दरूप ही है। उसको करना, न करना, दोनों तुल्य हैं । यद्यपि ज्ञानवान् में इच्छा देख पड़ती है तो भी उसके निश्चय में नहीं। उसकी इच्छा भी अनिच्छा ही है, क्योंकि उसके हृदय में संसार की भावना नहीं। तब इच्छा किसकी रहे ? हे राम ! यह संसार है नहीं, हमको तो आकाशरूप शून्य भासित होता है। जैसे और के मनोराज्य में आने-जाने का खेद नहीं होता, वैसे ही यह जगत् हमको और की चिन्तना सदृश है। जैसे किसी पुरुष ने मनोराज्य से मार्ग में कोई स्थान रचकर उसमें किवाड़ लगाये हों और नाना प्रकार का प्रपञ्च रचा हो तो दूसरे पुरुष को उसमें जाने के लिये कोई नहीं रोकता और न कोई किवाड़ हैं, न कोई पदार्थ है; उसको शून्यमार्ग का निश्चय होता है, वैसे ही हमको तो सब प्रपञ्च शून्य ही प्रतीत होता है। अज्ञानी के हृदय में हमारी चेष्टा है, पर हमको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं दीखता। हे राम ! जिसको जगत् ही न दिखे, उसको इच्छा किसकी हो ? जिसके हृदय में संसार की सत्यता है, उसको इच्छा भी फुरती है और उसके हृदय में रागद्वेष भी उठता है। जिसके हृदय में रागद्वेष उठता हो तो जानिये कि उसके हृदय में संसारसत्ता स्थित है। और जिसको नाना पदार्थसहित संसार सत्य प्रतीत होता हो वह मूर्ख है। वह अज्ञाननिद्रा में सोया हुआ है। जैसे निद्रादोष से कोई स्वप्न में अपना मरण देखता है, वैसे ही जिसको यह जगत् सत्य लगता है, वह निद्रा में सोया हुआ है।

हे राम ! मैंने बहुत प्रकार के स्थान देखे हैं, जिनमें रोग और औषधि भी नाना प्रकार के हैं, परन्तु इच्छारूपी छुरी के घाव की औषधि नहीं देख पड़ी। वह जप, तप, पाठ, यज्ञ, दान और तीर्थ से निवृत्त नहीं होती। और जितने संसार के पदार्थ हैं, उनसे भी इच्छारूपी रोग नष्ट नहीं होता। जब आत्मरूपी औषधि की जावे तभी नाश होता है, अन्यथा किसी प्रकार यह रोग नहीं जाता। हे राम ! जिस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी इच्छा स्वाभाविक ही निवृत्ति हो जाती है। पर आत्मज्ञान के बिना अनेक यन्त्रों से भी न जावेगी, जैसे स्वप्न की वासना जागे बिना नहीं जाती और अनेक उपाय करिये तो भी दूर नहीं होती। हे राम ! ज्यों-ज्यों वासना क्षीण होती है, त्यों-त्यों सुख की प्राप्ति होती है और ज्यों-ज्यों वासना की अधिकता होती है, त्यों-त्यों दुःख अधिक होते हैं। यह आश्चर्य है कि मिथ्या संसार सत्य भासित होता है। जैसे बालक को वृक्ष में वैताल दिखता है और उससे वह भय पाता है, पर वह है नहीं, वैसे ही मूर्खता से आत्मा में संसार की कल्पना है। उससे जीव दुखी होता है। हे राम ! जो कुछ स्थावर-जंगम जगत् दिखता है सो सब ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से भिन्न नहीं, पर भ्रम से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। जैसे आकाश में शून्यता, जल में द्रवता और सत्य में सत्यता ही है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। वह न सत्य है और न असत्य, आत्मा अनिर्वाच्य है।

हे राम ! दूसरा कुछ बना नहीं तो क्या कहिये ? केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। वह सबका अपना वास्तव रूप है। जब उसका साक्षात्कार होता है, तब अहंरूप भ्रम मिट जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार का अभाव हो जाता है, वैसे ही आत्मा का साक्षात्कार होने पर अनात्म अभिमानरूपी अन्धकार का अभाव हो जाता है, और परम निर्वाण होता है। उसको एक और दो भी नहीं कह सकते। वह केवल शान्तरूप परम शिव है। जैसे आकाश में नीलिमा दिखती है, वैसे ही आत्मा में जगत् प्रतीत होता है। हे राम ! जिन्होंने ऐसे निश्चय किया है, उनको इच्छा-अनिच्छा दोनों तुल्य हैं। तो भी मेरा निश्चय यह है कि इच्छा

के त्याग में सुख है। जिसकी इच्छा दिन-दिन घटती जाय, और आत्मा की ओर आवे उसको ज्ञानवान् मोक्षभागी कहते हैं; क्योंकि संसार भ्रम से सिद्ध है और अपनी ही कल्पना जगत्रूप होकर दिखती है, विचार करने से कुछ नहीं निकलता। संसार के उदय होने से आत्मा को कुछ आनन्द नहीं, और नाश होने से खेद नहीं होता; क्योंकि वह भिन्न नहीं है। जैसे समुद्र में तरंग उपजते और मिटते हैं तो जल को हर्ष या शोक कुछ नहीं होता, क्योंकि वे जल से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है। तब इच्छा क्या और अनिच्छा क्या ? हे राम ! आदि परमात्मा से जो चित्तशक्ति उठी है, उसमें जब अहं हुआ, तब स्वरूप का प्रमाद हुआ और यही चित्तशक्ति मनरूप हुई। फिर आगे देह और इन्द्रियाँ हुई और अज्ञान से मिथ्याभ्रम उदय हुआ। इसी प्रकार जीव अपने साथ मिथ्या शरीर देखता है। जैसे जल दृढ़ जड़ता से बरफरूप हो जाता है, वैसे ही चित्संवित प्रमाद की दृढ़ता से जीव मन, इन्द्रियाँ देहरूप होता है। जैसे कोई स्वप्न में अपना मरना देखता है, वैसे ही जीव शरीर को अपने साथ देखता है। जब चित्तशक्ति नष्ट होती है, तब शरीर कहाँ—और मन कहाँ। यह कुछ नहीं भासित होता ? जैसे स्वप्न में भ्रम से शरीरादिक दिखते हैं, वैसे ही इस जगत् को भी जानो कि मिथ्या भ्रम से उदय है। जब अपने स्वरूप की ओर जीव आवे, तब सभी भ्रम मिट जाते हैं।

हे राम ! जैसे भ्रम से आकाश में नीलापन दिखता है, वैसे ही विश्व भी न होने पर भी भ्रम से भासित होता है। आत्मा में यह कुछ आरम्भ और परिणाम करके नहीं बना, उसी का स्वरूप है। जैसे आकाश और शून्यता तथा पवन और स्पन्दन में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभवरूप है—कुछ भिन्न नहीं, वैसे ही जगत् और आत्मा अनुभव से कुछ भिन्न नहीं है। हे राम! चैतन्य आकाश परम शान्तरूप है। उसमें देह और इन्द्रियाँ भ्रम से प्रतीत होती हैं। क्रिया, काल, पदार्थ सब भ्रममात्र हैं। जब आत्मस्वरूप में जागकर देखोगे, तब द्वैतभ्रम निवृत्त हो जावेगा और केवल अद्वैत आत्मा

ही प्रतीत होगा, दृश्य का अभाव हो जावेगा। ये पृथ्वी आदिक जो तत्त्व भासित होते हैं, सो अविद्यमान हैं और इनकी प्रतिभात होना मिथ्या उदय हुआ है। जैसे स्वप्न में न होने पर भी पृथ्वी आदिक तत्त्व प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं नहीं, वैसे ही आत्मा में यह जगत्र भासित होता है। हे राम ! पृथ्वी, दीवार,कीट, पर्वत आदि प्रपञ्च आकाशरूप हैं। तब ग्रहण या त्याग किसका हो ? आकाशरूपी दीवार पर संकल्प ने चित्त रचे हैं, और रंग चेतना का चढ़ा है। इससे विश्व संकल्पमात्र है। जैसा-जैसा निश्चय होता है वैसी ही वैसी सृष्टि प्रतीत होती है। यदि कुछ बना होता तो और का और न प्रतीत होता। इससे कुछ बना नहीं, जैसा संकल्प होता है, वैसा ही रूप आगे हो भासित होता है।

हे राम ! सिद्धों के पास एक चूर्ण होता हैं उससे वे जो चाहते हैं, सो करते हैं। पर्वत को आकाश और आकाश को पर्वत बना देते हैं। वह चूर्ण मैं तुमसे कहता हूँ। जब चित्तरूपी सिद्ध संकल्परूपी चूर्ण से फुरता है, तब आत्मरूपी आकाश में पर्वत हो भासित होते हैं। और जब चित्तरूपी सिद्ध का संकल्प उलटता है, तब पर्वत भी आकाशरूप भासित होता है। जैसे स्वप्न में संकल्प उठता है, तब अनुभव में पर्वत आदिक पदार्थ भासित होते हैं, और जब संकल्प से जागता है, तब स्वप्न के पर्वत आकाशरूप हो जाते हैं। तो आकाश ही पर्वतरूप हुआ और पर्वत ही आकाशरूप होता है। वैसे ही हे राम ! यह सृष्टि कुछ बनी नहीं,संकल्पमात्र है। जैसा संकल्प होता है, वैसा ही भासित होता है। जब विश्व के अत्यन्त अभाव का संकल्प किया, तब वैसा ही प्रतीत होता है। जैसे विश्व का अभ्यास किया है और विश्व भासित हुआ है, वैसे ही आत्मा का अभ्यास कीजिये तो क्यों न भासित हो ? वह तो अपना ही स्वरूप है। जब आत्मा का अभ्यास कीजियेगा, तब आत्मा ही भासित होगा, विश्व का अभाव हो जावेगा। अपने-अपने संकल्प से आकाश में अनेक सृष्टि भासित होती हैं। जैसा किसी का संकल्प होता है, वैसी ही सृष्टि उसको देख पड़ती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में दृढ़ संकल्प होता है तो उनसे यथाइच्छित

पदार्थ निकल आते हैं पर वे कुछ बने नहीं, और चिन्तामणि भी परिणाम को प्राप्त नहीं हुई, ज्यों की त्यों पड़ी है, केवल संकल्प की दृढ़ता से वे पदार्थ भासित होते हैं, वैसे ही यह प्रपञ्च भी आकाशरूप है। जैसे आकाश में शून्यता है, वैसे ही आत्मा में जगत् है।

हे राम ! सिद्ध के जो वचन फुरते हैं, वही संकल्प की तीव्रता होती है। जो चित्त शुद्ध होता है तो दूसरी सृष्टि को भी जानता है। जो पुरुष वचन सिद्ध होने के निमित्त वासना को सूक्ष्म करता है, अर्थात् रोकता है तो उससे वचन सिद्ध पाता है, और जैसा संकल्प करता है, वैसा ही सिद्ध होता है। हे राम ! जितना यह दृश्य की ओर से उपरत होकर अन्तर्मुख होता है, उतने ही वचन सिद्ध होते जाते हैं—चाहे वर दे, चाहे शाप दे, वह पूरा होता है। हे राम ! एक प्रमाण ज्ञान है कि यह पदार्थ इस प्रकार है। उसका जो नामरूप है, वह सब आकाशरूप भ्रममात्र है—आत्मा में और कुछ नहीं। आत्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरंग उठते हैं। वे आत्मरूप ही हैं। जिनको ऐसा ज्ञान हुआ है, उनको इच्छा और अनिच्छा का ज्ञान नहीं रहता और सब आकाशरूप भासित होता है। हे राम ! आत्मरूपी फूल में यह जगत् सुगन्धरूप है। जैसे पवन और स्पन्दन में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। पत्थर पर लकीर खींचिये तो वह पत्थर से भिन्न नहीं होती, वैसे ही ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है। हे राम ! देश, काल, पृथ्वी, आदिक तत्त्व और मैं, मेरा सब आत्मरूप और अविनाशी है। जिनको ऐसे निश्चय हुआ है, उनको रागद्वेष नहीं रहता। उन्हें सब आत्मरूप ही प्रतीत होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदुपदेशो नाम
शताधिकसप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शुद्ध आत्मतत्त्व में जो संवेदन हुआ है, उससे आगे जगत् भासित हुआ है। जैसे किसी के नेत्र में एक अञ्चन डालकर आकाश में पर्वत उड़ते दिखाते हैं, वैसे ही अस्तित्वहीन जगत्

संकल्प के स्फुरण से भासित होता है। हे राम ! ब्रह्मसर्ग और चित्तसर्ग में कुछ भेद नहीं। परमार्थ दृष्टि से दोनों एक ही हैं। दृष्टि, सृष्टि पर्याय हैं, और नानात्व भी इसकी भावना से भासित होते हैं। आत्मा में दूसरा कुछ नहीं बना । चित्त और चैत्य आत्मा से भिन्न नहीं। चित्त ही चैत्य होकर भासित होता है। ज्ञान से इनकी एकता होती है—इसी से दृश्य भी द्रष्टारूप है, जैसे स्वप्न में शुद्ध संवित् ही दृश्यरूप होकर स्थित होती है, और जागने से एक हो जाती है। एकता भी तब होती है, जब वही रूप हो। इससे तुम अब भी वही जानो । दृश्य, दर्शन और द्रष्टा की त्रिपुटी भी सब वही रूप है। हे राम ! जो सजाति है उसकी एकता होती है, विजाति की एकता नहीं होती। जैसे जल में जल की एकता होती है, वैसे ही बोध से सबकी एकता होती है। दृश्य भी वही रूप है, जिससे एकता हो जाती है। जो दृश्य आत्मा से भिन्न होता तो एकता न होती। हे राम! आकाश आदिक तत्त्व भी आत्मरूप हैं। जिससे ये सब हैं, जो यह सब हैं और जो सर्वव्यापी सर्वगत सबको धारण कर रहा है, सब वही है। ऐसे सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है। जो भासित होता है। सब वही है। जैसे जल में गलाने की शक्ति है और काष्ठ में नहीं वैसे ही ब्रह्म में भावना स्वभाव है, और में नहीं। ब्रह्मभावना से सब ब्रह्म ही भासित होता है।

हे राम ! जड़ पदार्थ भी भ्रम ही हैं; क्योंकि जो दिखता है, वह ब्रह्म ही है; जड़ हो तो दिखे नहीं। जड़ चेतना शुद्ध संवित् में है, उसमें चेतन से भिन्न कुछ नहीं है। जैसे शुद्ध संवित् में स्वप्न आता है और उसमें जड़ और चेतन भी दिखते हैं, परन्तु जो जड़ दिखते हैं, वे भी उस संवित् में चेतन है; क्योंकि चेतन हैं, तब दिखते हैं। जिनको शुद्ध संवित् में अहं प्रत्यय नहीं, वह अज्ञानी है जान नहीं सकता। परन्तु सब ब्रह्म है। जैसे समुद्र में जो जल होता है, वह ऊँचे आवे तो भी जल है और नीचे को जावे तो भी जल है, वैसे ही जो कुछ दीखता या भासित होता है, सो सब ब्रह्मस्वरूप है, भिन्न नहीं। वह ब्रह्म इन्द्रियों की भी आत्मा है। पृथ्वी आदिक तत्त्व जो प्रकट हुए हैं, उनमें प्रथम आकाश है, फिर वायु, फिर

अग्नि, फिर जल और फिर पृथ्वी प्रकट हुई है। ये सब अनिच्छित चमत्कार प्रकट हुए हैं—इससे सब आत्मरूप हैं। जैसे वटबीज में वृक्ष होता है वैसे ही आत्मरूपी बीज में जगत् होता है और नाना प्रकार भासित होते हैं। हे राम ! जैसे एक बीज ही नाना प्रकार के रूप रखता है, परन्तु बीज से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही आत्मसत्ता नाना प्रकार से भासित होती है, परन्तु बीज की तरह परिणामी नहीं है। विश्व आत्मा का चमत्कार है, इससे उसी का रूप है। जैसे सुवर्ण में अनेक आभूषण होते हैं, सो वे सुवर्ण भिन्न नहीं होते वैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है, द्वैत नहीं। जो आत्मा से इतर हो तो भासित न हो; इससे जो भासित होता है, वह चैतन्यरूप है। दृश्य और द्रष्टा एक ही रूप है; द्रष्टा ही दृश्य की तरह होकर भासित होता है।

हे राम ! जैसे कोई पुरुष तुम्हारे निकट सोया हो और उसको स्वप्न आवे कि मेघ गर्जते हैं और नाना प्रकार की चेष्टा होती है तो वह सब उसी को दिखता है, तुमको नहीं दिखता, वैसे ही यह दृश्य तुम्हारी भावना में स्थित है और हमको आकाशरूप है। हे राम ! चैतन्य आकाश शान्तरूप है; उसमें सृष्टि नहीं बनी और जब कुछ उपजा नहीं तो नष्ट भी नहीं होता। वह केवल शान्तरूप है, पर भ्रम से जगत् दिखता है। कोई जैसे बालक मनोराज्य से आकाश में पुतलियाँ रचे तो आकाश में कुछ नहीं बना, परन्तु उसके संकल्प में है, वैसे ही यह विश्व मनरूपी बालक ने रचा है। उसके रचे हुए में ज्ञानवान् को शून्यता भासित होती है। हे राम ! संकल्पमात्र से ही सृष्टि हुई है। जब इसका संकल्प नष्ट होता है, तब शान्तपद शेष रहता है। निरहंकार सत्तामात्र असत् की तरह स्थित है। फिर उस चिन्मात्र अद्वैत में अहन्ता करके जगत् भासित होता है। जब अहं भाव उठता है, तब जगत् भासित होता है, और जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तब अहन्तारूप भ्रम मिट जाता है, जब अहन्तारूप भ्रम मिट जाता है, तब जगत् और इच्छा का भी अभाव हो जाता है, इससे ज्ञानी को इच्छा और वासना कोई नहीं रहती। जब परिच्छिन्न रूप

अहन्ता नष्ट होता है, तब जीव उस पद को प्राप्त होता है, जिसमें अणिमा आदिक सिद्धियाँ भी सूखे तृण की तरह तुच्छ लगती हैं। वह ऐसा आनन्दरूप है जिसमें ब्रह्मादिक का सुख भी तृण समान लगता है। हे राम ! जिसको ऐसा ब्रह्मानन्द पद प्राप्त हुआ है, उसको फिर किसी की इच्छा नहीं रहती। मारनेवाले विष आदिक पदार्थ उसको मृतक नहीं करते और जिलानेवाले पदार्थ अमृत आदिक नहीं जिलाते, केवल निर्वाणपद में उसकी स्थिति है।

हे राम ! जिस पुरुष को संपूर्ण संसार से वैराग्य हुआ है, उसको संसार के पदार्थ सुखदायक नहीं लगते, मिथ्या जान पड़ते हैं। वह संसारसमुद्र के पार हो गया है। जिनकी संसार की वासना और अहंता नष्ट हुई है, उनकी मूर्ति देखने भर को भासित होती है। वे वासनाहीन ज्ञानवान् शान्तरूप हैं। हे राम ! इच्छा ही बन्धन है। जब इच्छा का अभाव हो, तब आनन्द हो। इच्छा भी तब उठती है। जब जीव संसार को सत्य जानता है और संसार की सत्यता अहंता से प्रतीत होती है। जब अहंतारूपी बीज नष्ट हो, तब निर्वाणपद की प्राप्ति हो। हे राम ! संसार कुछ बना नहीं, भ्रम से सिद्ध हुआ है। सब ही ब्रह्म है; उस परमात्मा में जो परिच्छिन्न अहंता उत्पन्न हुई, वही उपाधि है। हे राम ! बुद्धि आदि जितने दृष्य हैं, ये जिसको अपने में स्वाद नहीं देते और जो आकाश की तरह निस्संग रहता है, उसको सन्त मुक्तरूप कहते हैं। हे राम ! यह अहंता अविचार से उपजती है और विचार करने से असत्य हो जाती है। वास्तव में अहंता दुःख देती है; इससे तुम निरहंकार होकर चेष्टा करो। जैसे यन्त्र की पुतली अहं अभिमान से रहित चेष्टा करती है, वैसे ही तुम निरहंकार होकर चेष्टा करो और अपने स्वरूप में स्थित होओ, तब व्यवहार और अव्यवहार तुमको तुल्य हो जावेगा। जैसे पवन को स्पन्दन-निःस्पन्द, दोनों तुल्य होते हैं, वैसे ही तुमको तुल्य हो जावेगा और अहंकार से रहित तुम्हारी चेष्टा होगी। अहंता ही दुःख है; जब अहंता का नाश होगा, तब तुम शान्त, निर्मल और अनामय पद को प्राप्त होगे, जो

सब पदार्थों का अधिष्ठान है और सबका अपना रूप है। उसमें न कोई सुख है, न दुःख है न कोई इन्द्रियों का विषय है, वह परमशान्तरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमनिर्वाणयोगोपदेशो नाम शताधिकाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। १५८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो ज्ञानवान् पुरुष है, वह निरावरण अर्थात् दोनों आवरणों से रहित है। एक असत्वापादक आवरण है और दूसरा अभानापादक आवरण। जब आत्मब्रह्म की सत्यता हृदय में न भासित हो वह असत्वापादक है, और जब आत्मा की सत्यता हृदय में भासित हो; परन्तु दृढ़ प्रत्यक्ष न भासित हो, वह अभानापादक आवरण है। असत्वापादक आवरण अज्ञानी को होता है और अभानापादक आवरणजिज्ञासु को । पर ज्ञानवान् को ये दोनों आवरण नहीं रहते। इससे वह निरावरण, शान्तरूप आकाशवत् निर्मल और निरालम्ब होता है। किसी गुणत्व के आश्रित नहीं होता। उसका एक द्वैत-भ्रम नष्ट हो जाता है क्योंकि उसने आत्मरूपी तीर्थ में स्नान किया है, जो अपवित्र को भी पवित्र कर देता है। जिस पुरुष ने शरीर में आत्मा का दर्शन किया है, उसका शरीर भी पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष को शरीर की सत्यता नहीं रहती और संसार भी नहीं रहता। आत्मा का साक्षात्कार होने से सब इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं, और सब ब्रह्म ही देख पड़ता है, द्वैत कुछ नहीं रहता। सब आत्मस्वरूप है, पर उसमें संकल्प से नाना प्रकार की सृष्टि भासित होती है।

हे राम ! तुम संकल्प की ओर मत जाओ, क्योंकि चित्त की वृत्ति क्षण-क्षण में बदलती है और अनन्त योजनपर्यन्त चली जाती है। जो उसका अनुभव करनेवाली सत्ता मध्य में है और जिसके आश्रय से वह जाती है, वह चिन्मात्र तुम्हारा स्वरूप है। जब तुम उसमें स्थित होकर देखोगे तब अहं या इच्छा फुरने में भी ब्रह्मसत्ता भासित होगी। हे राम ! यह संवित् सदा प्रकाशरूप, चित्त के क्षोभ से रहित और द्वैतरूप विकार से रहित शुद्ध है। जितने प्रकाश हैं, उनके विरोधी भी हैं। जैसे दीपक का विरोधी पवन है, जो निर्वाण करता है। सूर्य का विरोधी केतु है, जो उसे

घेर लेता है। महाप्रलय में सब प्रकाश तमरूप हो जाते हैं। पर आत्मप्रकाश नित्य सिद्ध है; वह तम को भी प्रकाशित करता है और सदा ज्ञानरूप एकरस है। उसको त्यागकर और किसी ओर न लगना। हे राम ! सब दृष्य मिथ्या है; जैसे रस्सी में सर्प और सीपी में रूपा कल्पित हो। जब तुम जागकर देखोगे, तब सबका अभाव हो जावेगा, जैसे वन्ध्या के पुत्र के रूप का अभाव है, वैसे ही सब विश्व मिथ्या भासित होगा, क्योंकि वह है ही नहीं, भ्रममात्र स्वप्न की नाईं अविचारसिद्ध है। विचार करने से वह आत्मा ही है; भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव से भिन्न नहीं होती, वैसे ही यह आत्मस्वरूप विश्व भी ज्ञानमात्र है। सब अहं, मम, देह, इन्द्रियादिक भी ज्ञानमात्र हैं-दृश्य कुछ दूसरी वस्तु नहीं, जब ऐसे निश्चय करोगे; तब तिगतशोक और मोह से भी रहित होगे और परमार्थसत्ता ज्यों की त्यों भासित होगी। जैसे समुद्र में तरंग उठते हैं वैसे ही आत्मा में दृश्य उठता है। वह उसका रूप है, और जो भिन्न भासित हो, वह मिथ्या है। सब सृष्टि इस मनुष्य के हृदय में स्थित है, पर अज्ञान से बाहर भासित होती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने भीतर होती है और अपना स्वरूप होती है, पर निद्रादोष से बाहर जान पड़ती है और जब जागता है, तब अपना स्वरूप भासित होता है, वैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी विचार करने से अपने अनुभव में भासित होती है । इससे स्थिर होकर देखो कि यह आत्मा सर्वदा जागती ज्योति है। उसको त्यागकर और किसी के लिए यत्न करना व्यर्थ है। हे राम ! अपने अनुभव में स्थित होने में क्या कष्ट है ? जो इसे कठिन जानते हैं, वे मूढ़ हैं और उनको धिक्कार है; क्योंकि वे गऊ के पग को समुद्र सदृश अपार और दुस्तर जानते हैं। उनसे बड़ा और कौन मूर्ख है ? अनुभव में स्थित होना गऊ के पग के गढ़े को नाँघने की तरह ही सुगम है। जो कोई और पदार्थों को पाने की इच्छा करेगा तो उनमें व्यवधान है, पर आत्मा में कुछ व्यवधान नहीं, क्योंकि वह अपना ही रूप है।

हे राम ! जिन पुरुषों ने आत्मा में स्थिति पाई है, उनको मोक्ष की इच्छा भी नहीं होती तो स्वर्गादिक की इच्छा कैसे हो ? मोक्ष और स्वर्ग आत्मा में, रस्सी के सर्प सदृश, मिथ्या भासित होते हैं—उनको केवल अद्वैत आत्मा का निश्चय होता है। हे राम ! स्वप्न में सुषुप्ति नहीं और सुषुप्ति में स्वप्न नहीं—इनका अनुभव करनेवाला शुद्ध सत्ता है, और ये दोनों मिथ्या हैं। ज्ञानियों को निर्वाण और जीना, दोनों तुल्य हैं। ऐसा जानकर वे किसी की इच्छा नहीं करते—यह प्रपञ्च उनको खरगोश की सींग और वन्ध्या के पुत्र सा मिथ्या प्रतीत होता है। हे राम ! हमको तो संसार सदा आकाशरूप लगता है। यदि तुम कहो कि उपदेश क्यों करते हो ? तो हमको कुछ आभास नहीं, तुम्हारी ही इच्छा तुमको वशिष्ठरूप होकर उपदेश करती है। हमको विश्व सदा शून्यरूप भासमान है। अज्ञानी हमको चेष्टा करते भी जानते हैं, पर हमारे निश्चय में चेष्टा भी नहीं, और हमारी चेष्टा कुछ अर्थाकार भी नहीं। अज्ञानी की चेष्टा अर्थाकार होती है, हमारी चेष्टा सत्य नहीं। इससे अर्थाकार भी नहीं होती। जैसे ढोल के शब्द का अर्थ नहीं होता कि क्या कहता है और वाणी से जो शब्द बोला जाता है, उसका अर्थ होता है, वैसे ही हमारी चेष्टा अर्थाकार नहीं; अर्थात् जन्म नहीं देती, और अज्ञानी की चेष्टा जन्म देती है। हमको संसार ऐसे प्रतीत होता है, जैसे अवयवी सब अवयवों को अपना स्वरूप ही देखता है, अर्थात् हाथ, पैर, शीश आदि सबको अपने ही अंग देखता है। हे राम ! जगत् में एक ऐसे जीव दिखते हैं जिनको हम स्वप्न के जीव समझ पड़ते हैं और हमको वे शून्य आकाश-सदृश प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में हम नाना प्रकार की चेष्टा करते दीखते हैं। हमको तो जगत् ऐसा भासित होता है, जैसे समुद्र में तरंग । मैं भी ब्रह्म हूँ , तुम भी ब्रह्म हो, जगत् भी ब्रह्म है और रूप, अवलोक, मनस्कार सब ब्रह्मरूप है। इससे तुम भी सर्वत्र ब्रह्म की भावना करो। अपने स्वभाव में स्थित होना परम कल्याण है और पर स्वभाव में स्थित होना दुःख है।

हे राम ! अपना स्वभाव साधने का नाम मोक्ष और न साधने का

नाम बन्धन है। हे राम ! धन, मित्र, कर्म आदि कोई पदार्थ उपकार नहीं करता, केवल अपना पुरुषार्थ ही उपकार करता है अर्थात् काम आता है। अतएव अपने चैतन्य स्वभाव में स्थित होना और पर स्वभाव का त्याग करना ठीक है। जब अपने स्वभाव में स्थित होगे तब सब अपना ही स्वरूप प्रतीत होगा। जो स्वरूप से भिन्न होकर देखो तो न मैं हूँ, न तुम हो और न जगत् है; सब भ्रममात्र है और मृगतृष्णा के जलसदृश भासता है। ऐसे जानो कि मैं भी ब्रह्म हूँ ; तुम भी ब्रह्म हो और जगत् भी ब्रह्म है। या ऐसे जानो कि न तुम हो, न मैं हूँ और न जगत् है। तो पीछे जो शेष रहेगा, वही तुम्हारा स्वरूप है। हे राम ! जिन पुरुषों को ऐसा निश्चय हुआ है कि मैं, तुम और जगत्, सब ब्रह्म है, अथवा मैं, तुम और जगत्, सब मिथ्या है, उनको फिर कोई इच्छा नहीं रहती। और जिनको इच्छा उठती है, उनको जानिये कि ब्रह्म आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ। जब भोगों की वासना निवृत्त हो और संसार नीरस हो जाय, तब जानिये कि यह संसार से पार हुआ अथवा होगा। हे राम ! यह निश्चय करके जानो कि जिसकी भोगों की वासना क्षीण हो जाती है, उसका स्वभावरूपी सूर्य उदय होता है और भोगों की तृष्णारूपी रात्रि नष्ट हो जाती है। यद्यपि उसमें प्रत्यक्ष भोगों की तृष्णा देख पड़ती है, तो भी भीतर वासना जाती रहती है और ब्रह्मसत्ता ही सबमें भासित होती है। संसार की ओर से वह सुषुप्त और मृतक के समान हो जाता है, अपने स्वरूप में सदा जाग्रत् रहता है और अपने स्वभावरूपी अमृत में मग्न हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठगीतोपदेशो नाम
शताधिकैकोनषष्टितमस्सर्गः ।। १५९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! रूप, अवलोक और मनस्कार, ये परस्वभाव हैं; इनको ब्रह्मरूप जानो। परस्वभाव क्या है और ब्रह्मरूप क्या है, यह भी सुनो। हे राम ! तुम्हारा स्वरूप शुद्ध आकाश है और उसमें जो रूप, अवलोक और मनस्कार दिखते हैं, वे माया से उपजे हैं। माया स्वभाव से परस्वभाव है, परन्तु इनका अधिष्ठान आत्मसत्ता है, इससे

आत्मस्वरूप है। आत्मा को जानने से इसका अभाव हो जाता है। हे राम! जब ज्ञान उपजता है, तब संसार स्वप्न समान हो जाता है, और उसकी सत्ता कुछ नहीं भासित होती। जब दृढ़ता होती है, तब सुषुप्त हो जाता है, इनका भाव भी नहीं रहता, तुरीयावस्था में स्थित होता है। जब जीव तुरीयातीत होता है, तब अभाव का भी अभाव हो जाता है, और परमकल्याणरूप सत्ता समानपद को प्राप्त होती है, जो आदि-अन्त से रहित परमपद है। ऐसा मैं ब्रह्मस्वरूप, परमशान्तरूप और निर्दोष हूँ। सब जगत् भी ब्रह्मरूप है। मुझको सदा यही निश्चय है, और ऐसा भाव हृदय में नहीं उठता कि मैं वशिष्ठ हूँ। मेरा परिच्छिन्न अहंकार नष्ट हो गया है, इससे मैं निरहंकारपद में स्थित हूँ। जब तुम ऐसे होकर स्थित होगे, तब परम निर्मल स्वरूप हो जाओगे। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही तुम भी शोभित होगे। हे राम ! पुरुष को कैसे बन्धन होता है, जिससे वह आत्मपद को नहीं प्राप्त होता, यह भी सुनो। प्रथम धन और गृह का बन्धन है। दूसरा भोग की तृष्णा और तीसरा बान्धवों का बन्धन है। जिसको इन तीनों की वासना होती है, उसको धिक्कार है। यह वासना बड़ा अनर्थ करनेवाली है। यह भोग महारोग हैं। बान्धव दृढ़बन्धनरूप हैं और अर्थ की प्राप्ति अनर्थ का कारण है। इससे इस वासना को त्यागकर आत्मपद में स्थित होओ। यह संसार भ्रममात्र है। इसकी वासना करना व्यर्थ है। इसको सत्य न जानना। यह जो तुमको संग और मिलाप प्रतीत होता है, सो ऐसा है, जैसे बैठे हुए स्मरण आवे कि मैं अमुक से मिला था तो उसकी वह प्रतिमा प्रत्यक्ष हृदय में भासित होती है। जैसे संकल्प से मन में नगर रच लिया तो उसमें मनुष्यादिक के चित्र भासित होने लगते हैं, वैसे ही इस जगत् को भी जानो। हे राम ! तुम, मैं और यह जगत् भ्रममात्र और संकल्पनगर के समान है। जैसे भविष्यत् नगर की रचना है, वैसे ही यह जगत् है। कर्ता, क्रिया और कर्म जो भासित होते हैं, वे भी भ्रममात्र हैं। केवल आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। आत्मरूपी आकाश में यह जगत् पुतलियों के समान है और संकल्प से ही प्रत्यक्ष हुआ है। वास्तव

में केवल शान्तरूप आत्मतत्त्व है। हे राम ! जो पुरुष स्वभावनिष्ठ हैं, उनको आत्मतत्त्व ही भासित होता है और जिनको आत्मतत्त्व का प्रमाद है, उनको नाना प्रकार का जगत् भासित होता है, पर आत्मा में यह जगत् कुछ आरम्भ परिणाम से नहीं बना, जैसे सूर्य की किरणों में अज्ञान से जलाभास होता है, वैसे ही आत्मा में अज्ञान से जगत् की प्रतीति होती है। जब आत्मा का सम्यक्ज्ञान हो, तब जगत् का भ्रम निवृत्त हो जाता है—जैसे सूर्य की किरणों के हटने से जल का भ्रम निवृत्त हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठगीतासंसारोपदेशो नाम शताधिकषष्टितमस्सर्गः ।। १६० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! रूप, अवलोक, मनस्कार, सब ब्रह्मरूप हैं। जिसको ज्ञान प्राप्त होता है, उसको सब ब्रह्मस्वरूप दिखता है—यही ज्ञान का लक्षण है। ज्यों-ज्यों, ज्ञानकला उदय होती है, त्यों-त्यों भोगों की वासना क्षीण होती जाती है, और जब पूर्णबोध की प्राप्ति होती है, तब किसी की इच्छा नहीं रहती। जैसे ज्यों-ज्यों सूर्य प्रकाशता है, त्यों-त्यों अन्धकार नष्ट होता जाता है, और जब पूर्ण प्रकाश होता है; तब रात्रि का अभाव हो जाता है, वैसे ही जिसको ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसको भोगों की वासना नहीं रहती। संसार उसको जले वस्त्र की तरह भासित होता है, पर अज्ञानी को सत्य लगता है। जैसे स्वप्न में सुषुप्ति नहीं होती, सुषुप्ति में स्वप्न नहीं होता, स्वप्न का पुरुष सुषुप्ति वाले को नहीं जानता और सुषुप्तिवाला स्वप्नवाले को नहीं जानता, वैसे ही जिसको तुरीयपद की प्राप्ति हो जाती है, उसको संसार का अभाव हो जाता है और वह अपने स्वभाव में स्थित होता है। जो संसार को सत् जानते हैं, वे स्वप्न नर है—सुषुप्ति को नहीं जानते। हे राम ! तुम्हारा स्वरूप जो तुरीयपद है, उसको अज्ञानी नहीं जान सकते। जो जानें तो उनका परिच्छिन्न अहंकार नष्ट हो जावे। जब अहंकार नष्ट हुआ, तब सब आत्मा ही हुआ।

हे राम ! जीव को अहंता ने तुच्छ किया है; इससे तुम अहंता का त्याग करके अपने स्वभाव में स्थित हो जाओ। संसाररूपी एक पुतली है

जो भ्रम से उठी है। उसका शीश ऊपर ब्रह्मलोक है। टखने और पाँव पाताललोक हैं दशो दिशा वक्षःस्थल हैं। चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। तारागण रोम हैं। आकाश वस्त्र है। सुखःदुख स्वभाव हैं। पवन प्राणवायु है। बगीचे भूषण हैं। द्वीप और समुद्र कंकण हैं और लोकालोक पर्वत मेखला है। हे राम ! ऐसी यह पुतली नृत्य करती है। जैसे समुद्र में तरंग उपजते और नष्ट होते हैं, परन्तु जल ज्यों का त्यों है। वैसे ही जल की तरह सब ब्रह्मरूप है। विकार भ्रम से देख पड़ते हैं। हे राम ! कर्ता, क्रिया और कर्म भी आत्मस्वरूप हैं। जब तुम आत्मा की भावना करोगे, तब तुम्हारा हृदय आकाश की तरह शून्य हो जावेगा। जैसे पत्थर की शिला जड़ होती है, वैसे ही तुम्हारा हृदय जगत् से जड़ और शून्य हो जायगा। हे राम ! आत्मपद शान्तरूप और आकाश सदृश निर्मल है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। यह न उदय होता है, न अस्त होता है, केवल शान्तरूप है। उदय-अस्त भी तब होता है, जब कुछ दूसरी वस्तु होती है। पर जगत् कुछ भिन्न नहीं, आत्मास्वरूप ही है। द्वैत या एक की कल्पना से रहित आत्मा अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदुपयोगोपदेशो नाम
शताधिकैकष्टितमस्सर्गः ।। १६१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह विश्व आत्मा का चमत्कार है। जैसे मृत्तिका की पुतली मृत्तिका और कागज की पुतली कागज होती है वैसे ही विश्व आत्मरूप है। जैसे मृत्तिका का दीपक देखने भर का होता है और प्रकाश का काम नहीं देता, वैसे ही यह जगत् देखने भर को है, विचार करने से आत्मा के सिवा भिन्न सत्ता कुछ नहीं है इससे जगत् की सत्यता आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। जगत् की आस्था आत्मा के आश्रित होती है। जैसे जल में तरंग आकाश में शून्यता और पवन में स्पंदन है, वैसे ही आत्मा में जगत् अभिन्नरूप है। जैसे वायु चलती है तब भी पवन है, क्योंकि उसको वायु का निश्चय है, वैसे ही जगत् का वही स्वरूप है—इससे चैतन्य है। ज्ञानवान् जानता है कि जगत् मेरा ही स्वरूप है। हे

राम ! यह आश्चर्य देखो कि जगत् कुछ दूसरी वस्तु नहीं, पर भ्रम के कारण भिन्न भासित होता है। जैसे कथा में कथा के पात्र विद्यमान लगते हैं और काम करते हैं, वैसे ही इस जगत् को भी मनोपात्र जानो।

हे राम ! जो विद्यमान है, वह अविद्यमान हो जाता है और जो अविद्यमान है वह विद्यमान हो जाता है। जैसे स्वप्न में जगत् अनुभव-स्वरूप है—भिन्न नहीं, वैसे ही जाग्रत् जगत् को विचार से देखोगे, तो ब्रह्मस्वरूप ही भासित होगा। जैसे जो पुरुष सोया होता है, स्वप्न जगत् उसी का रूप है, परन्तु जब तक निद्रादोष है, तब तक भिन्न भासित होता है, पर जब जागा, सब अपना ही रूप प्रतीत होता है, वैसे ही जब मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित होकर देखता है, तब सब अपना रूप ही भासित होता है। हे राम ! रूप, अवलोक और मनस्कार भी ब्रह्मस्वरूप है, पर आत्मा इन्द्रियों के विषय नहीं, वह तो निरंकार है, और मन के चिन्तन से रहित है। संकल्प से आप ही रूप, अवलोक और मनस्कार करके स्थित हुआ है, भिन्न नहीं है। सब वही है और शास्त्रकारों ने शिव, ब्रह्म, आत्मा शून्य आदि उसके नाम संकल्परूप में कहे हैं। आत्मा केवल चिन्मात्र है; वह वाणी का विषय नहीं। वह शान्तरूपचैत्य अर्थात् दृश्य से रहित और सब शब्द-अर्थों का अधिष्ठान है, और जगत् उसका चमत्कार है। हे राम ! आत्मा में एक या द्वैत की कल्पना कोई नहीं; क्योंकि वह आत्मत्वमात्र है और जगत् भी आत्मरूप है। जैसे आकाश और शून्यता में भेद नहीं, वैसे आत्मा और जगत् में भेद नहीं हैं। हे राम ! यदि ऐसा भी किसी देश अथवा काल में हो कि सुवर्ण और भूषण में कुछ भेद हो अर्थात् सुवर्ण भिन्न हो और भूषण भिन्न हो, तथापि आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। आत्मा ही ऐसे प्रकाशमान है और अपने स्वभाव में स्थित है; दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। जैसे मृत्तिका की सेना नाना प्रकार की संज्ञा धारण करती है, परन्तु मृतिका से भिन्न कुछ दूसरी वस्तु नहीं है; वैसे ही स्फुरण से नाना प्रकार की संज्ञाएँ देख पड़ती हैं, परन्तु आत्मा से भिन्न नहीं-उसी का रूप है। हे राम ! ये सब पदार्थ अनुभव से भासित होते हैं। पदार्थ की

सत्ता अनुभव से भिन्न नहीं। जब तुम अनुभव में स्थित होकर देखोगे, तब अनुभवरूप अपना रूप ही देख पड़ेगा। अपना स्वभाव ज्ञानमात्र है। उसी के जानने का नाम ज्ञान है।

हे राम ! ज्ञान के बिना जो तप, यज्ञ, दान आदिक क्रिया हैं, वे सब व्यर्थ हैं। सब क्रियाओं की सिद्धि ज्ञान से होती है। हे राम ! जो कुछ क्रिया ज्ञान के निमित्त कीजिये, वही पुरुष प्रयत्न श्रेष्ठ है। इससे अन्यथा सब व्यर्थ है। धन के उपजाने और रखने में भी कष्ट है, परन्तु जो ज्ञान के साधन के लिए इसको रखिये और दीजिये तो यह अमृत हो जाता है। हे राम ! यह जगत् भ्रममात्र है। जैसे मलिन नेत्रवाले को रूप उलटा दिखता है और स्वप्न की सृष्टि में अज्ञ तज्ञ भी भासित होते हैं, परन्तु असत्यरूप हैं, वैसे ही यह जगत् विद्यमान लगता है, पर अविद्यमान है। आत्मा ही सदा विद्यमान है। हे राम ! विद्यमान देव विष्णु को त्यागकर जो और देव का पूजन करते हैं, उनकी पूजा सफल नहीं होती और विष्णु उन पर कुपित भी होते हैं। इसी तरह अनुभवरूप विद्यमान आत्मा को त्यागकर जो और की उपासना पूजन करते हैं, वे जन्ममरण के बन्धन से मुक्त नहीं होते-मूढ़ता में रहते हैं। आत्मदेव की पूजा सुनो। जो कुछ अनिच्छित आवे, वह उसको अपर्ण कीजिये। इसके जाननेवाले में अहंप्रत्यय करना ही बड़ी पूजा है। हे राम ! इस आत्मदेव से भिन्न जो सूर्य, चन्द्रमा आदिक की भेदपूजा है। वह तुच्छ है। जब तुम आत्मपूजा में स्थित होगे, तब और पूजा तुमको सूखे तृण की तरह तुच्छ प्रतीत होगी। दान भी आत्मदेव को ही करना है, सो बोध से करने योग्य है। वैराग्य, धैर्य और संतोष बोध का कारण है। यथा लाभ में संतुष्ट रहकर ब्रह्मविद्या का विचार करो और सन्तों का संग करो। इन साधनों से जब बोधरूपी सूर्य का उदय होगा, तब द्वैतरूपी अन्धकार का नष्ट हो जायगा और ज्ञानरूप ही भासित होगा। फिर जो ज्ञान उपजा है, वह भी शान्त हो जायगा; इससे उसी देव की पूजा करो, जिससे आत्मपद को पाओ। आत्मदेव

की पूजा के निमित्त फूल भी चाहिए, इसलिए आत्मविचार करके चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख करो और यथालाभ में संतुष्ट रहकर सन्तों की संगति करो, इन फूलों से आत्मा की पूजा करनी चाहिए। यह पूजा भी तब होती है, जब अन्तःकरण शुद्ध होता है। उससे ज्ञान उत्पन्न होता है। जब ज्ञान उपजता है, तब आत्मदेव का साक्षात्कार होता है। ज्ञान का लक्षण सुनो। गुरु और शास्त्र से जो वस्तु सुनी है, उसमें जब बुद्धि स्थिति होती है और संसार की वासना क्षीण हो जाती है तब जीव ज्ञानी कहलाता है। जब इस ज्ञान की पूर्णता होती है, तब जगत् उसको ब्रह्मस्वरूप ही देख पड़ता है। तब उसको शस्त्र काट नहीं सकते और सिंह, सर्प, अग्नि और विष का भी भय नहीं होता।

हे राम ! यह सब विश्व आत्मरूप है। जैसी भावना कोई करता है, वैसा ही आगे देख पड़ता है। जब शास्त्र में शास्त्र के अर्थ की भावना होती है, तब वही भासित होते हैं। इसी प्रकार सर्प और अग्नि सब अपने-अपने अर्थाकार भासित होते हैं। जब सर्वत्र आत्मभावना होती है, तब सर्वत्र आत्मा ही भासित होती है; क्योंकि दूसरी वस्तु कुछ बनी नहीं, तो दिखाई कैसे दे। जो पुरुष कृतकृत्य नहीं हुआ और अपने को कृतार्थ मानता है, पर दुःख की निवृत्ति का उपाय नहीं करता, उसे दुःख के आने से दुःख ही होगा, और दुःख उसको चला ले जावेगा। जब सुख आवेगा; तब सुख भी चला ले जावेगा। हे राम ! जो पुरुष सब में ब्रह्म कहता है, पर निश्चय से रहित है और शास्त्र भी बहुत देखता है, वह महामूर्ख है। जैसे जन्म का अन्धा सूर्य को नहीं जानता, वैसे ही वह आत्मअनुभव से रहित है। जब आत्मपद का साक्षात्कार होगा तब ऐसा आनन्द प्राप्त होगा, जिसके पाने से और पदार्थ नीरस लगें, ब्रह्मा से काष्ठपर्यन्त सब पदार्थ नीरस हो जायँगे। इससे आत्मपरायण होकर सदा आत्मपद की भावना करो। हे राम ! जैसे शुद्धमणि के निकट जैसी वस्तु रखिये, वैसे ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही जीव जैसी भावना करता है, वैसा

ही रूप भासित होता है। इससे जगत् को ब्रह्मस्वरूप जानो, और जो दूसरा भासित हो, उसे भ्रममात्र जानो। जैसे पत्थर की शिला पर पुतलियाँ लिखते हैं तो वे शिलारूप ही होती हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप है। जब तुमको आत्मपद की प्राप्ति होगी, तब सब पदार्थ नीरस होंगे। हे राम ! यह जगत् मिथ्या है। जो पुरुष इस जगत् को सत् जानता है और कहता है कि हम मुक्त होंगे, वह ऐसा है, जैसे अन्धे कूप में जन्म का अन्धा गिरे और कहे कि अन्धकार में मैं सुखी हूँ। वह मूर्ख हैं; क्योंकि आत्मज्ञान बिना मुक्त नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पुनर्निर्वाणोपदेशो नाम
शताधिकद्विषष्टितमस्सर्गः ।। १६२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अहंता आदि जो जगत् भासित होता है, वह मिथ्या भ्रम से उदय हुआ है। इसको त्यागकर अपने अनुभवस्वरूप में स्थित होओ। इस मिथ्या जगत् में आस्था करना मूर्खता है। जो ज्ञानवान् है, उसको जगत् का अभाव है। अब ज्ञानी और अज्ञानी का लक्षण सुनो। हे राम ! जैसे किसी पुरुष को ताप चढ़ता है तो उसका हृदय जलता है और तृषा बहुत होती है, पर जिसका ताप नष्ट हो गया है, उसका हृदय शीतल होता है और जल की तृषा भी नहीं होती, वैसे ही जिस पुरुष को अज्ञानरूपी ताप चढ़ा हुआ है, उसका हृदय जलता है और भोगरूपी जल की तृष्णा बहुत होती है; पर जिसके हृदय का अज्ञानरूपी ताप मिट गया है, उसका हृदय शीतल होता है और भोगरूपी जल की तृष्णा मिट जाती है। अब ताप निवृत्त करने का उपाय सुनो। शास्त्रों के अर्थवाद से तो बुद्धि में भ्रम हो जाता है। मैं तुमसे सुगम उपाय कहता हूँ। निरहंकार होना ही वह सुगम उपाय है। 'न मैं हूँ' और 'न यह जगत् है,' जब तुम ऐसा निश्चय कर लोगे, तब सब जगत् तुमको ब्रह्मस्वरूप देख पड़ेगा और किसी पदार्थ की कामना न रहेगी। जब सब पदार्थों को मिथ्या जानकर अपना भी अभाव करोगे, तब प्रत्येक चैतन्य परमानन्दस्वरूप सबका अधिष्ठान शेष रहेगा। हे राम ! अहंतारूपी यक्ष जो उठा है सो मिथ्या है। उसी मिथ्या

यक्ष ने नाना प्रकार के जगत् की कल्पना की है। अहंकार मिथ्या है और जगत् भी मिथ्या है। जब तुम अपने स्वरूप में स्थित होगे, तब जगत् का भ्रम मिट जावेगा। जैसे स्वप्न के जगत् में सुन्दर पदार्थ भासित होते हैं और मनुष्य उनकी इच्छा करता है, जब तक जागता नहीं तब तक जानता है कि ये पदार्थ कभी नष्ट न होंगे और कहता है कि अमुक रूप देखिये और अमुक भोजन कीजिये, पर जब जाग उठा तब जानता है कि यह सब मेरा संकल्प ही था, और फिर वे सुन्दर पदार्थ स्मरण होते हैं अथवा भासित होते हैं तो भी उनको मिथ्या जानता है। वैसे ही जब आत्मा के विषय में यह जागता है तब सब ब्रह्म ही भासित होता है।

हे राम ! इस जगत् का बीज अहं है। जैसे दुःख का बीज पाप होता है, वैसे ही जगत् का बीज अहं है। इससे तुम निरहंकार पद में स्थित होओ। यह सब तुम्हारा ही स्वरूप है, पर भ्रम से जगत् भासित होता है। हे राम ! जगत् का अत्यन्ताभाव है। जैसे रस्सी में सर्प का अत्यन्ताभाव है, परन्तु भ्रमदृष्टि से सर्प दीखता है और जब विचाररूपी दीपक से देखिये तो सर्प का अभाव हो जाता है; वैसे ही आत्मा में यह जगत् भ्रम से प्रतीत होता है। जब विचार करके जगत् का अभाव निश्चय करोगे, तब आत्मपद ज्यों का त्यों भासित होगा। जैसे जब बसन्त ऋतु आती है, तब सब फूल, फल और डालें देख पड़ती हैं और एक ही रस इतनी संज्ञाओं को धारण करता है वैसे ही तुम जब आत्मपद में स्थित होगे, तब तुमको सब आत्मरूप ही प्रतीत होगा और सब आत्मा ही भासित होगा। हे राम ! आदि भी आत्मा ही है और अन्त में भी आत्मा ही होगा, पर मध्य में जो जगत् के पदार्थ दिखते हैं, उनकी ओर मत जाओ, जो इनको जाननेवाला है और जिससे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उसमें स्थित होओ। ये सब मनुष्य मृग की तरह हैं। जैसे मरुस्थल में जल जानकर मृग उधर दौड़ते हैं, वैसे ही जगत्रूपी मरुस्थल की भूमिका शून्य है और तीनों लोक मृगतृष्णा के जल हैं। उनमें मनुष्यरूपी मृग दौड़ते हैं और दौड़ते-दौड़ते हार जाते हैं। कभी

शान्ति नहीं पाते, क्योंकि जगत् के सब पदार्थ असत्य हैं। हे राम ! रूप, अवलोक और मनस्कार सब मृगतृष्णा के जल हैं; इनको जो सत्य जानता है, वह मूर्ख है। यह जगत् गन्धर्वनगर की तरह मिथ्या है। तुम जागकर देखो, इसको सत्य जानकर क्यों तृष्णा करते हो ? इसको सत्य जानकर तृष्णा करना ही बन्धन है।

हे राम ! तुम आत्मा हो। इसकी इच्छा से बन्धन में क्यों पड़ते हो ? जैसे सिंह पिंजड़े में आकर दीन होता है, पर बल करके जब पिंजड़े को तोड़ डालता है, तब बड़े वन में जाकर निवास करता और निर्भय होता है, वैसे ही तुम भी वासनारूपी पिंजड़े को तोड़कर आत्मपद में स्थित होओ, जो सबका अधिष्ठान और सबसे उत्कृष्ट है। जब तुम उस पद को प्राप्त होगे, तब इस संसार की वासना नष्ट होकर आनन्द होगा और तुम निर्वाण पद को प्राप्त होकर शान्त होगे। परम उपशम ज्ञेय पद को पाओगे और द्वैतभाव मिटकर केवल परमार्थसत्ता भासित होगी—इसी का नाम निर्वाण है। जैसे कोई मार्ग चलकर तपता आवे तो वह शीतल स्थान में आकर शान्ति पाता है, वैसे ही ये चारों भूमिका शान्ति का स्थान हैं। निर्वाण, निरहंकारता, वासना का त्याग और परम उपशम ये चार भूमिका हैं। इनसे ज्ञेय में स्थित होओ। जब तुम भी इन भूमिकाओं में स्थित होगे, तब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी का अभाव हो जायगा और केवल द्रष्टा ही रहेगा। हे राम ! द्रष्टा भी उपदेश जताने के निमित्त कहा है। जब दृश्य का अभाव हुआ, तब द्रष्टा किसका हो ? केवल अपने रूप में स्थित होओ, जो शुद्ध है। यह जगत् की सत्यता जन्मों को देनेवाली है। जो जगत् के पदार्थ सुखदायी लगते हैं, वे दुःख के देनेवाले हैं। इनको विष जानकर त्याग करो। जैसे आकाश में तरुवर दिखते हैं, वैसे ही यह जगत् न होने पर भी भासित होता है—आत्मा में दृश्य नहीं है। एक ही पदार्थ में दो दृष्टियाँ हैं। ज्ञानी उसको आत्मा और अज्ञानी जगत् जानते हैं।

दोहाः- सब भूतन की रात्रि में, सन्तन का दिन होय।
जो लोकन दिन मानियाँ, सन्त रहे तहँ सोय।।

ज्ञानी परमार्थतत्त्व में जागते हैं और संसार की ओर से सो रहे हैं और अज्ञानी परमार्थतत्त्व में सोये हुए हैं और संसार की ओर से सावधान हैं।

हे राम ! यह जगत्र मन से उदय हुआ है। ज्ञानी का मन सत्पद को प्राप्त हुआ है इससे उसे जगत्र की भावना नहीं होती। जैसे बालक को संसार के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी के निश्चय में जगत्र कुछ वस्तु नहीं। हे राम ! जब ज्ञान उपजता है, तब जगत्र कुछ भिन्न वस्तु नहीं प्रतीत होता। जैसे जल की बूँदें जल में डालिये तो भिन्न नहीं लगतीं, वैसे ही ज्ञानी को जगत्र भिन्न नहीं दिखता। जैसे बीज में वृक्ष होता है, वैसे ही मन में जगत्र स्थित होता है, और जैसे वृक्ष बीजरूप है, वैसे ही जगत्र मनरूप है। जब जगत्र नष्ट होगा, तब मन भी नष्ट हो जावेगा, और मन नष्ट होगा, तब दृश्य भी नष्ट होगा। एक का अभाव होने से दोनों का अभाव हो जाता है—मन नष्ट हो तो वासना भी नष्ट हो और वासना नष्ट हो तो मन भी नष्ट होता है। हे राम ! जगत्र के भीतर-बाहर जो रमता है, वही मन है। इससे जब मन को स्थिर करके देखोगे, तब जगत्र की सत्यता न प्रतीत होगी। अज्ञानी के हृदय में जगत्र दृढ़ स्थित है, इससे वह दुःख पाता है, जैसे बालक को अपनी परछाहीं में भूत दिखता है, जिससे वह दुःख पाता है। जो निकट है, वह उसको नहीं भासित होता, इससे वह दुःख नहीं पाता। हे राम ! यह जगत्र यदि सत्य होता तो ज्ञानवान्र को भी प्रतीत होता। पर ज्ञानी को नहीं प्रतीत होता, इससे जगत्र कुछ वस्तु नहीं है। जैसे एक ही स्थान में दो पुरुष बैठे हों और एक को निद्रा आवे तो उसको स्वप्न का जगत्र देख पड़ता है और नाना प्रकार की चेष्टा होती है, पर दूसरा जो जागता है, उसको उसका जगत्र नहीं देख पड़ता, वैसे ही जो पुरुष परमार्थसत्ता में जागा है, उसको जगत्र शून्य दिखता है। हे राम ! यह जगत्र मिथ्या है। उसकी तृष्णा तुम क्यों करते

हो ? अपने स्वभाव में स्थित होओ। यह जगत् परस्वभाव है, यह जानकर चाहे जैसी चेष्टा करो, तुमको बन्धन न होगा और पूर्वपद की प्राप्ति होगी जैसे अग्नि से जले सूखे तृण को पवन उड़ा ले जाता है और नहीं जाना जाता कि कहाँ गया, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जलाया और निरहंकारतारूप पवन से उड़ाया हुआ संसाररूपी तृण न जाना जायगा कि कहाँ गया। जैसे चाहे लाख योजन तक चला जाय तो भी यही देख पड़ता है कि आकाश ही सब सृष्टि को धारण किये है, वैसे ही सब दृश्य जगत् को आत्मा धारण करता है। संसार का शब्द-अर्थ आत्मा में नहीं। इसको छोड़कर देखो कि सब शब्द-अर्थ का अधिष्ठान आत्मा ही है।

हे राम ! रूप, अवलोक और मनस्कार मिथ्या उदय हुए हैं। इनका त्याग करो। जैसे मरुस्थल में जलाभास मिथ्या है, वैसे ही आत्मा में जगत् मिथ्या भ्रममात्र है। इसके सम्बन्ध से जीव दुखी होता है। जैसे रस्सी में सर्प और सीपी में रूपा मिथ्या है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। तुम आत्मब्रह्म हो, दुःख से रहित अपने स्वभाव में स्थित हो और आत्मदृष्टि से देखो कि सब आत्मा है; अथवा जगत् को मिथ्या जानो तो भी शेष आत्मपद ही रहेगा। जैसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का अभाव होने पर शान्तपद शेष रहता है, वैसे ही जगत् का अभाव निश्चित होने पर आत्मपद शेष प्रतीत होगा। इस जगत् का अत्यन्ताभाव है, और जो दिखता है, वह भ्रममात्र है। जो एक काल में होता है, वह दूसरे काल में नष्ट हो जाता है। स्वप्न में जाग्रत् का अभाव हो जाता है और जाग्रत् में स्वप्न का अभाव हो जाता है। पर सुषुप्ति में दोनों का अभाव हो जाता है। इससे वे भ्रममात्र हैं। विश्व आत्मा का चमत्कार है। जैसे समुद्र में तरंग होते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् है। अहंता से यह उदय होता है और अहं का अभाव होने पर इसका भी अभाव हो जाता है। जिनको अहंता के अभाव का निश्चय हुआ है, वे ही सन्त और उत्तम पुरुष हैं। उन महानुभाव पुरुषों का अभिमान और भोगों की आशा नष्ट

हो जाती है। वे भ्रान्ति रहित और नित्य ही समाधिस्थ होते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकताप्रतिपादनन्नाम शताधिकत्रिषष्टितमस्सर्गः ।। १६३ ।।

राम बोले, हे भगवन् ! यह मनरूपी मृग संसाररूपी वन में भटकता है। वह समाधानरूप कौन वृक्ष है, जिसके नीचे आकर शान्त हो ? उसके फूल, फल और लता कैसे हैं और वह वृक्ष कहाँ होता है। यह कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस प्रकार समाधानरूप वृक्ष उत्पन्न होता है, सो सुनो। सब साधन इसके पत्ते, पुष्प और लता आदि हैं। हे राम ! यह वृक्ष सब जीवों को कल्याण के निमित्त साधना चाहिये। अब तुम इसका क्रम सुनो। आत्मिक बल से तो यह उगता है और सन्तजनों के हृदय में यह उपजता है। चित्तरूपी पृथ्वी में लगता है और वैराग्य इसका बीज है वैराग्य दो प्रकार से प्राप्त होता है-एक तो दुःख और कष्ट प्राप्त होने से वैराग्य उपज आता है। दूसरे शुद्ध निष्काम हृदय होने पर भी वैराग्य उपजता है। उस वैराग्यरूपी बीज को जब चित्तरूपी भूमि में डालते हैं और निर्वासनारूपी हल फेरते हैं। निर्मल, शीतल और हृदयगम्य सन्तों की संगति और सत्शास्त्ररूपी जल जब मनरूपी क्यारी में पड़ता है, तब उस वृक्ष के बढ़ने की आशा होती है। बहुत जल से भी उसकी रक्षा करते हैं। आत्मविचाररूपी सूर्य की किरणों से पुष्ट करते हैं और उसके चहुँफेर धैर्यरूपी बाड़ी करते हैं। तप, दान, तीर्थ, स्नानरूपी चौतरे पर उस बीज को रखकर रखवाली करते हैं कि सूख या जल न जाय। आशारूपी पक्षी से रक्षा करते हैं कि वैराग्यरूपी बीज को वह निकाल न ले जावे। अभिलाषारूपी बूढ़े बैल से रक्षा करते हैं कि खेत में प्रवेश करके वह उसको रौंद न डाले। उसके निमित्त सन्तोष और सन्तोष की स्त्री मुदिता दोनों को पहरे पर बिठा रखते हैं। इस बीज का नाशक कुहिरा, जो मेघ से उपजता है, उससे भी इसकी रक्षा करते हैं, संपदा, धन और सुन्दर स्त्रियों का प्राप्त होना ही वैराग्यरूपी बीज का नाशक ओला है।

इसकी रक्षा का एक सामान्य और एक विशेष उपाय है। तप से इन्द्रियों को वश करना, दुखी पर दया करना और शास्त्र का पाठ और जप करना इत्यादिक शुभ क्रियारूपी यन्त्र की पुतली इसके पास विद्यमान रखिये तो सब विघ्न दूर हो जाते हैं। दूसरा श्रेष्ठ उपाय यह है कि सन्तों की संगति करके सत्-शास्त्रों को सुने। प्रणव जो [1]ॐकार हैं उसका ध्यान और जप करे और उसका अर्थ विचारे। यही त्रिशूलरूप ओलों के नाश का परम उपाय है। जब इतने शत्रुओं से रक्षा करे, तब उस बीज की रक्षा हो। सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचाररूपी वर्षाकाल के जल से सींचिये, तब अंकुर निकलता है और वह खूब लहलहाता है। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को सब कोई प्रणाम करता है, वैसे ही सन्तोष, दया और यशरूपी अंकुर निकलता है। उसके दो पत्ते निकलते हैं-एक वैराग्य, दूसरा विचार और वे दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं। शास्त्रों से जो सुना है कि आत्मा सत्य है और जगत् मिथ्या है, उसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। इस जल के सींचने से वे अंकुर दिन प्रतिदिन बढ़ते जावेंगे और उनके तने बड़े होंगे। हे राम! जब डालें बड़ी होती हैं, तब रागद्वेषरूपी वानर उन पर चढ़कर उन्हें तोड़ डालते हैं, इससे इस वृक्ष को दृढ़ वैराग्य, सन्तोष और अभ्यासरूपी रस से पुष्ट करना उचित है। जैसे सुमेरु पर्वत है, वैसे ही सन्तोष से उसे पुष्ट करना चाहिए। जब यह होगा, तब उसमें सुन्दर पत्ते, डालें, फूल और मञ्जरी लगेंगी; मार्ग में बहुत दूर तक इसकी छाया होगी और शान्ति, शीतलता, शुद्धता, कोमलता, दया, यश और कीर्ति इत्यादिक गुण प्रकट होंगे। उसके नीचे मनरूपी मृग विश्राम पाकर शीतल होता है, अध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक ताप मिट जाते हैं और मन परम शान्ति पाता है। हे राम ! यह मैंने तुमसे समाधानरूपी वृक्ष कहा है। जहाँ यह वृक्ष उत्पन्न होता है, उस स्थान की शोभा कही नहीं जा सकती। जो इस वृक्ष की शरण में जाता है, उसके ताप मिट जाते हैं और वह शान्ति पाता है। यह वृक्ष ब्रह्मरूपी

१—ॐकार एवेदं सर्वम्।

आकाश के आश्रय से बढ़ता है और वैराग्यरूपी रस और सन्तोषरूपी छल से पुष्ट होता है। जो पुरुष इसका आश्रय लेगा, वह शान्ति पावेगा।

हे राम ! जब तक मनरूपी मृग इस समाधानरूपी वृक्ष का आश्रय नहीं लेता, तब तक भटकता फिरता है, शान्ति नहीं पाता। जैसे मृग वन में भटकता है, वैसे ही मनमृग भटकता है। द्वैत, अज्ञान और प्रमादरूपी बधिक उसे मारने लगते हैं, इससे दुःख पाता है। जब भय से इन्द्रियरूपी गाँववासियों के निकट जाता है, तब वे आप ही इसको देखकर पकड़ लेते हैं अर्थात् विषयों की ओर खींचते हैं और उससे यह बड़ा कष्ट पाता है। इनके भय से जब फिर वन में जाता है तो वहाँ विषयों के न मिलने की तपन से दुखी होता है। जब उसको भी त्यागकर रसरूपी स्थानों को शान्ति के निमित्त दौड़ता है, तब कामरूपी कुत्ता काटने को दौड़ता है और उसके भय से जब फिर वैराग्यरूपी वन की ओर दौड़ता है तब क्रोधरूपी अग्नि जलाती है; वासनारूपी मच्छड़ दुःख देते हैं। लोभ और मोहरूपी अँधेरी इसे अन्धा बना देती है। निदान पुत्र और धनरूपी हरे-हरे तृणों को देखकर यह उनको ग्रहण करता है, तब गढ़े में गिर पड़ता है। वह गढ़ा तृण से ढका हुआ है। वह तृण पुत्र और धन है। उनको सुन्दर देख यह ममतारूपी गढ़े में गिर पड़ता है। इस प्रकार दुःख पाता है। हे राम ! जब यह मनुष्य झूठ बोलता है, तब मृत्तिका में लोटने की सी चेष्टा करता है और जब मनरूपी भेड़िया आता है, तब वह उसको भक्षण कर जाता है। जब समाधानरूपी वृक्ष से जीव विमुख होता है, तब इतने कष्ट पाता है। और जब मनरूपी भेड़िये से छूटता है, तब आशारूपी जंजीर में बँध जाता है। निदान जब तक इस वृक्ष के निकट नहीं आता है; तब तक बड़े कष्टदायक स्थानों को जाता है। तमाल वृक्षादिक के तले भी जाता है और कण्टक के वृक्षों के तले भी जाता है, परन्तु शान्ति किसी स्थान में नहीं पाता-बड़े-बड़े कष्टों को ही पाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हरिणोपाख्यानेवृत्तान्तयोगोपदेशों नाम शताधिकचतुःषष्टितमस्सर्गः ।। १६४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार मूढ़ मनरूपी हिरण भटकता है। इससे मेरा यही आशीर्वाद है कि तुमको उस वृक्ष का संग हो। जब उस वृक्ष के निकट जीव जाता है, तब शान्ति होती है। जब उसके नीचे आ बैठता है, तब तीनों ताप अन्तःकरण से मिट जाते हैं। जितने विषयरूपी वृक्ष हैं, उनके निकट गया हुआ मनरूपी मृग शान्ति नहीं पाता। पर जब समाधानरूपी वृक्ष के निकट आता है, तब शान्ति पाता है और बुद्धि खिल उठती है—जैसे सूर्यमुखी कमल सूर्य को देखकर खिल उठता है। उस वृक्ष के अनुभवरूपी फल और शास्त्र-विचाररूपी पत्तों और फूलों को देखकर वह बड़ा आनन्द पाता है, फिर उस वृक्ष के ऊपर चढ़ जाता है और पृथ्वी का त्याग करता है, जैसे सर्प अपनी पुरानी केचुल को छोड़ देता है और नूतन सुन्दर शरीर से शोभित होता है। जब उस वृक्ष पर चढ़ता है, तब गिरता नहीं; क्योंकि उसके पत्ते बहुत मजबूत हैं, उनके आश्रय से ठहरता है समाधानरूपी वृक्ष के पत्ते सत्‌शास्त्र हैं। जब समाधानरूपी वृक्ष से जीव उतरता है, तब शास्त्र के अर्थ में ठहरता है और जितने पदार्थ देखता है, वे उसे मिट्‌टी धूल से जान पड़ते हैं। तब वह अपनी पिछली चेष्टा को स्मरण करके पछताता है। जैसे कोई मद्यपान करके नीच चेष्टा करे तो जब मद उतरता है तब पछताता है, वैसे ही मनरूपी मृग अपनी पिछली चेष्टा को धिक्कारता है और कहता है कि बड़ा आश्चर्य है, जो मैं इतने काल तक इस वृक्ष से विमुख हुआ भटकता रहा—अब मुझको शान्ति हुई है। जैसे दिन की तपन न रहने पर चन्द्रमुखी कमलिनी को शान्ति होती है, वैसे ही मनरूपी मृग को शान्ति होती है।

हे राम ! पुत्र, धन, स्त्री आदि जो दिखते हैं, उनको वह संकल्पपुर और स्वप्न सदृश देखता है। जैसे स्वप्न से जागकर कोई स्वप्नपुर को स्मरण करता है, परन्तु उसमें अभिमान नहीं होता, वैसे ही उसमें भी अभिमान नहीं होता। तब जीव अनुभवरूपी फल को खाता है, तब बड़ा आनन्द पाता है, जिसको वाणी नहीं कह सकती। वह शान्त निर्मल और निरतिशयपद को प्राप्त होता है। जो मन का विषय हो, वह सातिशयपद

है और जो मन का विषय नहीं है वह निरतिशयपद है। जो इन्द्रियों का विषय है, उसका नाश भी होता है और जो इन्द्रियों और मन का विषय नहीं, उसका नाश नहीं होता। वह मनुष्य उसी अविनाशी पद को पाता है। जैसे किसी को बाण लगता है और उसकी विरोधी बूटी उसके सामने रखिये तो निकल आता है, वैसे ही अनुभवरूपी बूटी को सामने रखने पर मोह बन्धनरूपी शर खुल पड़ते हैं और वह परमपद पाता है। हे राम ! ज्ञानवान् जगत् से मृतक हो जाता है। वह संसार से निर्लिप्त रहता है। जैसे लकड़ी अग्नि के बिना शान्त हो जाती है, वैसे ही वासना से रहित ज्ञानवान् की चेष्टा शान्त हो जाती है, अर्थात् संसार की सत्यता से रहित चेष्टा होती है और फिर संसाररूपी अग्नि नहीं प्रज्वलित होती। तब द्वैत और अद्वैत की कल्पना भी मिट जाती है। यह उन्मत्त की तरह अपने स्वरूप में मगन रहता है। जैसे मरुस्थल के मार्ग में चलनेवाला पथिक धूप की इच्छा नहीं करता, वैसे ही ज्ञानी विषयों की तृष्णा नहीं करता। जिसने आत्म अनुभवरूपी अमृतपान किया है, उसको विषयरूपी काँजी की इच्छा नहीं रहती—वह पुरुष सदा निर्वासनिक है। जब जीव निर्वासनिक होता है, तब चञ्चल मन की वृत्ति सब लीन हो जाती है और केवल आत्मत्वमात्र शेष रहता है। 'मैं' 'मेरा' इत्यादि भावना नष्ट हो जाती है। जब तक चित्त का सम्बन्ध होता, तब तक 'मैं' और 'मेरा' प्रतीत होता है और जब चित्त का सम्बन्ध मिट जाता है, तब एक हो जाता है। जैसे एक सूखा और एक गीला काष्ठ होता है। सूखा शुद्ध और गीला उपाधिक कहाता है। और जब जल सूख जाता है, तब वह भी शुद्ध हो जाता है। वैसे ही जब मन की उपाधि नष्ट हो जाती है, तब शुद्ध आत्मा ही रहता है और एकरस भासित होता है।

हे राम ! संसार भ्रम से द्वितीय भासित होता है। जैसे पत्थर की शिला में पुतली अनउपजी ही भासित होती है, जो न सत् है और न असत्। यदि उन्हें पत्थर से भिन्न करके देखिये तो सत् नहीं और जो शिला में देखिये तो वही हैं। वैसे ही जगत् आत्मा से भिन्न होकर

सत्य नहीं है और आत्मसत्ता में आत्मरूप ही है। जैसे छोटे बालक के हृदय में जगत् का शब्द-अर्थ कुछ नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी की चेष्टा भी प्रारब्धवेग से होती है। उसके हृदय में जगत् के शब्द-अर्थ का अभाव होता है। हे राम ! जो कुछ प्रारब्ध होता है, वह शुभ हो अथवा अशुभ, अवश्य प्राप्त होता है, मिटता नहीं। जैसे मेघ से गिरती हुई बूँद नहीं नष्ट होती, मेघ मन्त्रशक्ति से नष्ट होता है, तैसे ही उस जीव का भी [1]प्रारब्धकर्म नष्ट नहीं होता। परन्तु वह उसमें बँधता नहीं है। अज्ञानी को संसार सत्य लगता है और भिन्न-भिन्न पदार्थ संयुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी समझ में पदार्थ सत्य होते हैं, पर ज्ञानी के हृदय में आत्मा का ज्ञान है, उसको संसार की सत्यता नहीं प्रतीत होती है। हे राम ! यह जो समाधानरूपी वृक्ष मैंने तुमसे कहा है, उसकी विधिपूर्वक सेवा करने से अनुभवरूपी फल प्राप्त होता है। पर जो बोध से रहित होकर सेवन करता है तो अनेक यत्न से भी फल की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उसे ऐसी भावना नहीं कि आत्मा शुद्ध और सत्‌चित्‌आनन्द है। जिनको यह भावना होती है, उनको भोगों की इच्छा नहीं रहती। जैसे किसी ने अमृत पान किया हो तो वह अमल और कटुक फल की चाह नहीं करता, वैसे ही ज्ञानी किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। जैसे रुई के फाहे को अग्नि लगे और ऊपर से तीव्र पवन चले तो नहीं जाना जाता कि वह कहाँ जा पड़ा, वैसे ही जगत्‌रूपी रुई का फाहा ज्ञान-अग्नि से दग्ध करके वैराग्यरूपी पवन से जब उड़ाया जाता है तब नहीं जाना जाता कि कहाँ जा पड़ा। तब आकाश ही आकाश दिखता है और जगत् सत्य नहीं प्रतीत होता। तो वह फिर तृष्णा किसकी करे ? तब वह तृष्णा से रहित हो जाता है। हे राम ! दुःख का मूल तृष्णा है; तृष्णा ही से जीव भटकता है। जैसे जब तक पर्वतों के पंख थे, तब तक वे उड़ते थे। पंख न रहने से अब नहीं उड़ते गम्भीर स्थित हैं, वैसे ही जब मन से वासना नष्ट होती है, तब मन स्थिर हो जाता है।

१—प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

हे राम ! वाञ्छित देश को पथिक तब पहुँचता है, जब एक देश का त्याग करता है। वैसे ही शुद्धस्वरूप परमानन्द अपना रूप आत्मा तब प्राप्त होता है, जब धन, लोक, पुत्र, एषणा आदि का त्याग करे। जब आत्मा की प्राप्ति होती है, तब निर्विकल्प समाधि से शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार होता है, और जब समाधि से उसका साक्षात्कार होता है, तब चेष्टा होने पर भी उसी में स्थित रहता है; परम निर्वाणपद को प्राप्त होता है। चित्तरूपी बेल दूर हो जाती है। जैसे रस्सी में जो बल होता है, उसको खींचकर फिर छोड़ते हैं, तब वह सीधी हो जाती है, वैसे ही जिसको समाधि में चैतन्य का साक्षात्कार होता है, उसको उत्थानकाल में भी वही भासित होता है। पर जिसको उसका प्रमाद है, उसको जगत् भासित होता है। हे राम ! वस्तु एक है, परन्तु उसमें दो दृष्टियाँ हैं। जैसे रस्सी एक है, पर सम्यक्दर्शी को रस्सी दिखती है और असम्यक्दर्शी को सर्प, वैसे ही ज्ञानवान् को आत्मा प्रतीत होती है और अज्ञानी को जगत् दीखता है। जिस पुरुष ने ज्ञान से जगत् को असत्य नहीं जाना, वह मानो चित्र की अग्नि है। उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। और जिसको स्वरूप की इच्छा है, जो तृष्णा के नाश का प्रयत्न करता है, जगत् को मिथ्या विचारता है, वह आत्मपद को प्राप्त होगा। उसकी तृष्णा भी निवृत्त हो जायगी। हे राम ! ज्ञानवान् की तृष्णा स्वाभाविक मिट जाती है। जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही वस्तु की सत्ता पाकर उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। वह परमपद में स्थित होता है। हे राम ! जिसको दृश्य में नीरसता है, वह उत्तम पुरुष है। वह मनुष्य शरीर में ही ब्रह्म हो जाता है। उसको मेरा नमस्कार है। वह मेरा गुरु है। हे राम ! जब जीव की बुद्धि विषय से विरक्त होती है, तब कल्याण होता है। वैराग्य से बोध होता है और बोध से वैराग्य होता है क्योंकि दोनों सम्बन्धित परस्पर सापेक्ष हैं। जब एक आता है, तब दूसरा भी आता है। जब ये आते हैं, तब तीनों एषणाएँ निवृत्त हो जाती हैं। जब तीनों एषणाएँ नष्ट होती हैं, तब अमृत की प्राप्ति होती है।

हे राम ! सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का श्रवण करके स्वरूप का अभ्यास करो—इससे आत्मपद की प्राप्ति होती है। ये तीनों परस्पर सहकारी हैं। जैसे आठ पाँववाला कीट प्रथम चरण को रखकर और चरणों को रखता है, तब सुख से चला जाता है, वैसे ही सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के सुनने से जो आत्मपद का अभ्यास करता है, वह शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होता है। उसे जगत् का अभाव हो जाता है। हे राम ! जगत् के भाव और अभाव को ज्ञानी जानता है। जैसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को तुरीयावस्थावाला जानता है, वैसे ही जगत् के भाव-अभाव को ज्ञानी जानता है। जैसे अग्नि में सूखा तृण डालो तो देख नहीं पड़ता, वैसे ही ज्ञानवान् को जगत् नहीं दीखता। हे राम ! ज्ञानवान् को सर्वदा समाधि है, कभी अहं का उत्थान नहीं होता। जब तक उस पद को प्राप्त न हो, तब तक साधना में लगा रहे और जब उस पद को प्राप्त हो, तब फिर कोई यत्न करना बाकी नहीं रहता। हे राम ! इस चित्त के दो प्रवाह हैं—एक तो जगत् की ओर जाता है और दूसरा स्वरूप की ओर। जो जगत् की ओर जाता है, वह औपाधिक है, और जो स्वरूप की ओर जाता है, वह उपाधि को दूर करनेवाला है। जैसे एक लकड़ी गीली और एक सूखी होती है। जो गीली है उसमें उपाधि जल है, वह फैल जाता है। और जल नष्ट हो जाता है, तब वह शुद्ध होती है, फिर प्रफुल्लित नहीं होती। वैसे ही संसार की सत्यता से चित्त बढ़ता है, और जब संसार की वासना नष्ट होती है तब शुद्धपद पाता है। हे राम! वाद भी दो प्रकार के हैं। जो वाद किसी को दुःख दे, उसे मूर्ख करते हैं। और जो परस्पर मित्रभाव से तत्त्व का निरूपण करे, वह वाद ज्ञानवान् करते हैं। जो जैसा वाद करते हैं, उन्हें उसका दृढ़ अभ्यास होता है और वैसा ही रूप उनका हो जाता है। जो झगड़ा करते हैं उनका वही रूप हो जाता है और जो मित्रता से स्वरूप का वाद करते हैं, उनका वही रूप होता है-उस पद को पाकर परम शान्ति होती है।

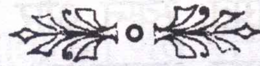
इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मनमृगोपाख्यानयोगोनाम-
शताधिकपञ्चषष्टितमस्सर्गः ।। १६५ ।।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्द्ध समाप्तम् ।

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीयोगवाशिष्ठ

निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध



वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस पुरुष ने समाधानरूपी वृक्ष के फल को जानकर खा लिया और उसको पचाया है, उसे परम स्थिति प्राप्त होती है। जैसे पंख टूटने से पर्वत यथास्थान स्थित हैं, वैसे ही तृष्णारूपी पंख टूटने से जीव स्थिर होता है। हे राम ! जब उसको फल प्राप्त होता है, तब उसका चित्त भी आत्मरूप हो जाता है। जैसे दीपक का निर्वाण होता है, तब जाना नहीं जाता कि वह कहाँ गया, वैसे ही आत्मपद के प्राप्त होने पर चित्त भिन्न होकर दिखाई नहीं देता। हे राम ! जब तक वह अकृत्रिम आनन्द नहीं प्राप्त हुआ और उस पद में विश्राम नहीं पाया, तब तक शान्ति नहीं प्राप्त होती। वह पद निर्गुण, शुद्ध स्वच्छ और परम शान्त है। जब उस पद में स्थिति होती है, तब परम समाधि हो जाती है। ऐसा त्रिलोकी में कोई नहीं, जो उसको समाधि से उतारे। जैसे चित्त की मूर्ति होती है, वैसे ही उसकी अवस्था होती है। उसकी सब चेष्टा इच्छा से रहित होती है। जैसे पंख से रहित पर्वत स्थिर होता है, वैसे ही मन संकल्प विकल्प से रहित हो जाता है और शान्तिपद को प्राप्त होता है। हे राम! जिसके मन में संसार का अभाव हुआ है, वह शान्तिपद को प्राप्त होता है। जब तक वासना से युक्त है, तब तक मन है। जिस क्रम और युक्ति से वासना का क्षय हो वही कर्त्तव्य है। हे राम ! जब वासना का क्षय होता है, तब बोधरूप शेष रहता है, इसलिए जिस क्रम से वह प्राप्त हो, वही करना चाहिए, क्योंकि उस पद के प्राप्त हुए बिना शान्ति कभी न होगी।

जब चित्त उस पद की ओर आवे, तब शान्त होकर दुःख से रहित और अविनाशी हो; क्योंकि सबकी आत्मा निर्विभाग, अनन्त, परम शान्तिरूप और सबके कर्म के फल को देने वाला है।

हे राम ! जब ऐसे पद को जीव प्राप्त होता है, तब उसको वासना के उत्थानकाल में भी आत्मा ही भासित होता है, द्वैत नहीं दिखता। तब समाधि से उत्थान कैसे हो ? ऐसा कोई समर्थ नहीं कि उसको समाधि से उतारे। जब ऐसा पद प्राप्त होता है, तब संसार नीरस लगता है। हे राम! जब तक मनुष्य मूर्तिवत् नहीं होता; तब तक विषय का त्याग करे, और जब ऐसी दशा हो, तब कुछ कर्तव्य नहीं रहता, त्याग करे अथवा न करे। यह मुझे निश्चय है कि जब ज्ञान उपजेगा, तब मनुष्य विषयों से विरक्त हो जावेगा। ब्रह्म से काष्ठपर्यन्त जितने पदार्थ हैं वे सब उसको नीरस हो जाते हैं। ऐसा जो पुरुष है, उसको सदा समाधि है। हे राम ! जिसको समाधि का सुख मिल जाता है, वह स्वाभाविक समाधि की ओर आता है। जैसे वर्षाकाल की नदी स्वाभाविक समुद्र को जाती है, वैसे ही वह पुरुष समाधि की ओर लगा रहता है। जो पुरुष विषयों से विरक्त और आत्माराम होता है, उसकी वज्रसार की सी दृढ़ स्थिति होती है। जैसे पंख से रहित पर्वत स्थिर होते हैं वैसे ही जिस पुरुष ने संसार को नीरस जानकर त्याग दिया है और आत्मा में क्रीड़ा करके तृप्त हुआ है, उसकी मति चलायमान नहीं होती। हे राम ! जिस पुरुष की चेष्टा भी होती है, पर जो संकल्प-विकल्प से रहित है, वह सदा मुक्तरूप है। उसको कोई कर्म बन्धन नहीं करता; क्योंकि कर्म और साधन का अभाव हो जाता है। जिस पुरुष को जगत् नीरस हो गया है, उसको विषयों की तृष्णा कैसे हो? और जब तृष्णा न रही, तब दुःख कैसे हो ? दुःख तब तक होता है, जब तक विषयों की तृष्णा होती है, और विषयों की तृष्णा तब होती है, जब अपने स्वभाव को मनुष्य छोड़ देता है। हे राम ! जब अपने स्वभाव में स्थित हो, तब परस्वभाव जो इन्द्रियों के विषय हैं, वे रससंयुक्त कैसे लगें और दुःख और तृष्णा कैसे हो ?

हे राम ! जब मनुष्य अपने स्वभाव को जानता है तब निर्वाणपद को प्राप्त होता है, जो आदि और अन्त से रहित है। उसकी प्राप्ति का उपाय यह है कि वेदान्त का अध्ययन करे और प्रणव का जप करे। जब इनसे थके, तब समाधिस्थ हो और जब फिर थके, तब वहीं पूर्व स्थित में आकर मनन करे। जब ऐसे दृढ़ अभ्यास हो तब उस पद को प्राप्त होगा, जो संसार का पार है। जब उस पद को पाया, तब परमशान्ति को प्राप्त होगा और स्वच्छ निर्मल अपने स्वभाव में स्थित होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वभावसत्तायोगोपदेशो
नाम शताधिकषट्षष्टितमस्सर्गः ।। १६६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! संसार बड़ा गम्भीर है। इसका तरना कठिन है। जिसको इससे तरने की इच्छा हो, उसका यह कर्तव्य है कि वेदान्त का अध्ययन, प्रणव का जप और चित्त को स्थिर करे। जब ऐसा उपाय करे, तब ईश्वर उस पर प्रसन्न होंगे और उसके हृदय में विवेक उत्पन्न होगा; जिससे संसार असत्य प्रतीत होगा और सन्तजनों का संग प्राप्त होगा। संतजनों का आचार शुभ है। वे परमशान्त, गम्भीर और ऊँचे अनुभवरूपी फल से युक्त वृक्ष हैं। उनके यश, कीर्ति और शुभ आचार फूल और पत्ते हैं। ऐसे सन्तजनों की संगति जब प्राप्त होती है, तब जगत् के रोगद्वेषरूपी तम मिट जाते हैं। जैसे किसी मजूर के शिर पर बोझ हो और वह तपन से दुखी हो, पर वृक्ष की शीतल छाया प्राप्त होने पर वह शीतल होता है, फल खाकर तृप्त होता है, और थकान का कष्ट दूर हो जाता है, वैसे ही सन्तों के संग से मनुष्य सुख को प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रमा की किरणों से मनुष्य शीतल होता है, वैसे ही सन्तजनों के वचन से शान्ति होती है। हे राम ! सन्तजनों की संगति करने से पाप दग्ध हो जाते हैं। जो पुरुष सकाम होकर तप, यज्ञ और व्रत करते हैं, उनकी संगति न कीजिये; क्योंकि वे ऐसे हैं, जैसे यज्ञ का खम्भा पवित्र होता है, परन्तु उसकी छाया कुछ नहीं, इससे उसके नीचे कोई सुख नहीं पाता। हे राम ! सब सकाम कर्म जन्म-मरण देनेवाले हैं। यद्यपि जिज्ञासु भी यज्ञ,

व्रत और तप करते हैं तो भी वे उनसे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि निष्काम हैं। उनको विषयों में नीरसता है और उनका आचार शुभ है। हे राम ! ऐसे जिज्ञासु की संगति विशेष अच्छी है, जिसकी चेष्टा की सब कोई स्तुति करते हैं और वह सबको सुखदायक लगती है। जो जिज्ञासु के समान नवनीत कोमल, सुन्दर और स्निग्ध होता है, उसको सन्तों की संगति प्राप्त होती है।

हे राम ! फूलों के बगीचे और सुन्दर फूलों की शय्या आदि विषयों से भी ऐसा निर्भय सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा संतों की संगति से प्राप्त होता है; क्योंकि उनका निश्चय सदा आत्मा में रहता है। हे राम ! ऐसे ज्ञानवानों की संगति करके जब हृदय शुद्ध होता है, तब आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। जब तक हृदय मलिन है, तब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे उज्ज्वल आरसी प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, लोहे की शिला प्रतिबिम्ब को नहीं ग्रहण करती; वैसे ही जब हृदय उज्ज्वल होता है, तब सन्तों के वचन हृदय में ठहरते हैं। जैसे वर्षाकाल का बादल फैलकर थोड़े से बहुत हो जाता है, वैसे ही जब हृदय शुद्ध होता है तब बुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे वन में केले का वृक्ष बढ़ता जाता है, वैसे ही बुद्धि बढ़ती जाती है। जब आत्मविषयिणी बुद्धि होती है, तब जीव वही रूप हो जाता है और बुद्धि की भिन्नसंज्ञा का अभाव हो जाता है। जैसे लोहे को पारस का स्पर्श होने पर वह सुवर्ण हो जाता है और फिर लोहे की संज्ञा नहीं रहती, वैसे ही आत्मपद की प्राप्ति होने से बुद्धि की संज्ञा नहीं रहती और विषयभोग की तृष्णा भी जाती रहती है। हे राम ! विषयों की तृष्णा और अभिलाषा ने जीव को दीन बनाया है। जब तृष्णा का त्याग करे, तब परम निर्मलता को प्राप्त होता है। जैसे हाथी जब तक शिर पर धूल डालता है तब तक मलिन रहता है और जब नदी में प्रवेश करता है, तब निर्मल हो जाता है, वैसे ही जब जीव तृष्णारूपी राख का त्याग करता है और आत्मा में स्थित होता है, तब निर्मल होता है। हे राम ! जब जीव भोगों की इच्छा त्यागता है, तब बड़ी शोभा पाता है। जैसे सुवर्ण को अग्नि में डालने से

उसका मैल जल जाता है और वह उज्ज्वल रूप धारण करता है। हे राम! भोगरूपी बड़ा विष है। उसका दिन-दिन त्याग करना विशेष लाभदायक है। जीव जब तृष्णा का त्याग करता है, तब अति शोभा पाता है। जैसे राहु दैत्य से रहित चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही तृष्णा का वियोग होने पर पुरुष शोभा पाता है। हे राम ! जब भोगों से वैराग्य होता है, तब दो पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे नूतन अंकुर के दो पत्ते होते हैं, वैसे ही तृष्णा के त्याग से एक तो सन्तों की संगति मिलती है और दूसरे सत्‌शास्त्र का विचार उत्पन्न होता है। इनमें जब दृढ़ भावना होती है, तब अभ्यास करके वही परमानन्दरूप होता है, जिसमें वाणी की संगति नहीं। तब मनुष्य भोगों की इच्छा से मुक्त होता है, और परमशान्ति सुख पाता है। जैसे पिंजड़े से निकलकर पक्षी सुखी होता है, वैसे ही वह सुखी होता है।

हे राम ! जीव को भोग की इच्छा ने ही दीन किया है। जब इच्छा निवृत्त होती है, तब गोपद की तरह वह संसारसमुद्र को लाँघ जाता है, तब उसको तीनों जगत्‌ सूखे तृण जैसे तुच्छ लगते हैं। हे राम ! जब वह भोग की इच्छा से मुक्त होता है, तब ईश्वर होता है। जिस पुरुष को आत्मसुख प्राप्त हुआ है, वह भोगों की इच्छा कभी नहीं करता और जब वे आकर प्राप्त होते हैं, तब भी वे उसको नीरस और मिथ्या प्रतीत होते हैं, इससे वह उनके भोग को नहीं चाहता। जैसे जाल से निकला हुआ पक्षी फिर जाल में नहीं पड़ता, वैसे ही वह पुरुष भोगों को नहीं चाहता। जब विषयों की तृष्णा निवृत्त होती है, तब परम शान्ति पाता है और सन्तों के वचन उसके हृदय में शीघ्र ही प्रवेश करते हैं।

हे राम ! मोक्षरूपी स्त्री के कानों के भूषण सन्तों की संगति है। जब साधु की संगति होती है, तब अशुभ कर्मों का त्याग हो जाता है और पराये धन की इच्छा नहीं रहती। तब जो कुछ अपना होता है, उसके भी त्यागने की इच्छा होती है और भले भोग जो भोगने के लिए आते हैं, उनको वह बाँटकर भोग करता है। निदान बड़े उत्तम भोगों

खाता है। तब यदि कोई शरीर माँगे तो वह शरीर भी दे देता है; क्योंकि उसको देने का अभ्यास हो जाता है। पर और से साग माँगने की भी इच्छा नहीं रखता। संतोष से यथाप्राप्त चेष्टा और तप, दान करता है। यज्ञ, व्रत और ध्यान करके पवित्र रहता है और तृष्णा का त्याग करता है। हे राम! ऐसा दुःख घोर नरक में भी नहीं होता, जैसा तृष्णा से होता है। जो धनवान् हैं, उनको धन के कमाने और रखने की चिन्ता है। उन्हें उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते सदा धन की ही चिन्ता रहती है। इसी चिन्ता में वे पच-पचकर मर जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं। हे राम! निर्धन को भी चिन्ता रहती है, परन्तु थोड़ी होती है। जब तक चिन्ता रहती है, तब तक जीव दुखी रहता है, पर जब चिन्ता नष्ट होती है, तब परम सुखी होता है।

हे राम ! यद्यपि धनी हो और उसे संतोष नहीं तो वह परम दरिद्री है, और जो धन से हीन है, परन्तु संतोषवान् है, वह ईश्वर है। जिसको संतोष है, उसको विषय बन्धन नहीं कर सकते। हे राम ! जब तक धन की इच्छा नहीं करता, तब तक भोगरूपी विष नहीं व्यापता। पर जब धन की इच्छा उपजती है, तब परम विष व्यापता है। विपरीत भावना में दुःख होता है और जो दुःखदायक पदार्थ हैं, वे सुखदायक जान पड़ते हैं। हे राम! जो कुछ अर्थ है, वही अनर्थ है। जिसको संपदा जानते हैं, वही आपदा है और जिनको भोग जानते हैं, वही सब रोगरूप हैं। इनको संपदा जानकर चाहता है, इससे बड़ा दुखी होता है। हे राम ! रसायन सब दुःखों का नाश करती है, परन्तु वह देवताओं के पास होती है। यदि अमृत चाहिए तो संतोष ही परम रसायन है। जब विषयों में दोषदृष्टि होती है और मनुष्य संतोष धारण करता है, तब मूर्खता दूर हो जाती है और गोपद की तरह संसारसमुद्र से शीघ्र ही तर जाता है। जैसे गऊ के पैर के गढ़े को सहज ही लाँघ जाते हैं, वैसे ही संसारसमुद्र को वह सहज में तर जाता है। हे राम ! जिसको संतोष प्राप्त होता है, उसको परम शान्ति होती है। कभी वसन्तऋतु भी सुख का स्थान हो, नन्दनवन भी सुख का स्थान हो,

उर्वशी आदिक अप्सराएँ पास हों; चन्द्रमा निकला हो, कामधेनु विद्यमान हो और इन्द्रियों के सब सुख प्राप्त हों, तो भी शान्ति न होगी, एक संतोष से ही शान्ति होगी। संतोषवान् को ये विषय डिगा नहीं सकते।

हे राम ! जैसे अर्घा भरकर छोड़ने से तालाब नहीं भरा जाता, पर जब वर्षा होती है, तब शीघ्र ही भर जाता है, वैसे ही विषयों के भोग से शान्ति नहीं होती; संतोष ही से पूर्ण आनन्द और ओज की प्राप्ति होती है। गम्भीर, निर्मल, शीतल, हृदयगम्य और सबका हितकारी ओज संतोषी पुरुषों को प्राप्त होता है। और जो ओज हैं वे सात्त्विक, राजस और तामस होते हैं, पर यह शुद्ध सात्त्विक है। जिस पुरुष को संतोष होता है, वह ऐसे शोभित होता है, जैसे वसन्तऋतु का वृक्ष फूल, फल और पत्तों से शोभा पाता है। और जिसको तृष्णा है, वह चरणों के नीचे आये कीड़े की तरह कुचल जाता है। हे राम ! जिसको तृष्णा है, उसको संतोष और शान्ति भी नहीं होती। जैसे जल में डाला गया तृणों का पूला तीव्र पवन से उड़ता-फिरता है, वैसे ही तृष्णावान् पुरुष को क्षोभ होता है। हे राम ! जो पुरुष अर्थ की सदा इच्छा करता है वह अग्नि में प्रवेश करता है, अर्थात् सर्वदा तपता रहता है। जैसे गर्दभ विष्ठा के स्थान में प्रवेश करता है, वैसे ही तृष्णावान् जो विषयरूपी गंदे स्थान में प्रवेश करता है, वह गर्दभ है। जैसे गर्दभ का स्पर्श करना अनुचित है, वैसे ही तृष्णावान् गर्दभ का स्पर्श करना योग्य नहीं है। हे राम ! यह संसार मिथ्या है। जो इस संसार के पदार्थों को चाहता है, वह मूर्ख है। इस जगत् के अधिष्ठान को प्राप्त होने से जीव निर्वासनिक होता है, और जब निर्वासनिक होता है, तब संतोष को प्राप्त होता है। तब ऐसा होता है जैसे तारों में चन्द्रन्मा शोभा पाता है—इससे इच्छा के नाश का उपाय करो। हे राम ! जब इच्छा नष्ट होती है और संतोषरूपी गम्भीरता प्राप्त होकर द्वैतकलना मिटती है, तब उसी को पण्डितजन परमपद कहते हैं। यह पद कैसे प्राप्त होता है, सो भी श्रवण करो। हे राम ! जब संसार से वैराग्य, सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के अर्थों और आत्मा में दृढ़भावना होती है, तब जगत् नीरस

हो जाता है, अर्थात् जगत् असत् प्रतीत होता है, हृदय में शान्ति होती है, जीव अपने को ब्रह्म जानता है और परिच्छिन्नता मिट जाती है। जब तक जीव अपने को परिच्छिन्न जानता था, तब तक सब दुःखों का अनुभव करता था और जब सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों से जगत् नीरस प्रतीत होता है, तब परमपद को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मोक्षोपदेशो नाम
शताधिकसप्तषष्टितमस्सर्गः ।। १६७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब संसार से वैराग्य होता है, तब सन्तों की संगति होती है। फिर शास्त्र सुनता है। तब सम्पूर्ण जगत् नीरस हो जाता है। जब जगत् नीरस लगा और आत्मा में दृढ़ अभ्यास हुआ, तब अपनी स्वभावसत्ता प्रकाशित होती है। उसी सवभावसत्ता में स्थित होने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है, जिसमें वाणी की गति नहीं है। हे राम ! जब यह अवस्था प्राप्त होती है, तब मन स्थिर हो जाता है; अर्थों की तृष्णा नहीं रहती। जो अपने पास होता है उसको रखने की भी इच्छा नहीं रहती—सहज त्याग हो जाता है—और पुत्र, धन, स्त्री आदिक तब नीरस हो जाते हैं। यद्यपि वह मनुष्य इनके बीच में रहता है तो भी इनमें 'अहं' 'मम' अभिमान नहीं करता। जैसे मजदूर चलता-चलता किसी मार्ग में आ उतरता है और मार्गवालों से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही वह किसी विषय से सम्बन्ध नहीं रखता, और जो अनिच्छित इन्द्रियों के सुख प्राप्त होते हैं, उनमें रागद्वेष नहीं रखता। जैसे किसी पत्थर की शिला पर जल चला जाता है तो उसको कुछ रागद्वेष नहीं होता, वैसे ही ज्ञानवान् को किसी में रागद्वेष नहीं होता।

हे राम ! उसके शरीर की यह स्वाभाविक अवस्था हो जाती है कि वह एकान्त को चाहता है और वन और कन्दरा में रहने की इच्छा करता है। मुमुक्षु को अज्ञान के स्थान जो स्त्री भोग, राग-द्वेष के इष्ट अनिष्ट भी दैवसंयोग से प्राप्त होते हैं तो भी उन्हें शीघ्र ही त्याग देता है। हे राम ! जब क्षेत्र में बीज डालना होता है, तब पहले जो काँटे आदि होते हैं, उन्हें

फड़ुए से काटकर दूर किया जाता है। तब खेत अच्छा फलता है। वैसे ही जिस पुरुष को मनरूपी क्षेत्र में अनुभवरूपी फल देखना हो वह इच्छारूपी कण्टकों और वृक्षों को अनिच्छारूपी फड़ुए से काटे और सन्तोषरूपी बीज को बोवे तो खेत भी अच्छा फलेगा। हे राम ! जब अनुभवीरूपी फल प्राप्त होता है, तब मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हो जाता है, और सबमें आत्मा को देखता है। हे राम ! जब चित्त अदृश्य होता है, तब द्वैत भावना मिट जाती है और जब द्वैत भावना मिटी तब चित्त अदृश्य होता है। उस चित्त को जो उपशम का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता-उसका नाम निर्वाणपद है। जब मनुष्य ईश्वर की भक्ति करता है और दिनरात्रि चिरकाल तक भक्ति करता रहता है, तब ईश्वर प्रसन्न होते हैं और निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। राम ने पूछा, हे भगवन्! हे सब तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ! वह कौन ईश्वर है और उसकी भक्ति क्या है, जिसके करने से निर्वाणपद प्राप्त होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वह ईश्वर दूर नहीं; उसमें भेद भी कुछ नहीं और वह दुर्लभ भी नहीं; क्योंकि वह अनुभवस्वरूप ज्योति और परमबोधस्वरूप है। सब जिसके वश है, जो सब है और जिससे सब है, उस सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है। हे राम ! सब कोई उसी को पूजते हैं। जप, मन्त्र, तप, दान, होम जो कुछ कोई करता है, वह सभी उसी की पूजा है। देवता, दैत्य, मनुष्य आदि जो स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे सब उसी को पूजते हैं और सबको फल देनेवाला भी वही है। उत्पत्ति और प्रलय में जो पदार्थ दीखते हैं; वे सब उसी से सिद्ध होते हैं—ऐसा वह ईश्वर है। जब वह ईश्वर प्रसन्न होता है, तब वह पवित्र, शुभाचरण करने वाला अपना एक दूत भेजता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! ईश्वर अद्वैत आत्मा शुद्ध ब्रह्म है। उसका दूत कौन है और वह कैसे आता है, यह मुझसे कहिये। वशिष्ठजी ने कहा, हे राम ! उस ईश्वर जो परमदेव का दूतविवेक है वह हृदयरूपी गुफा में उदय होता है। जब वह उदय होता है, तब उससे जीव परम शोभा प्राप्त करता है। जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर आकाश शोभा पाता है, वैसे ही

वह पुरुष शोभा पाता है। हे राम ! जब विवेकरूपी दूत आता है, तब जीव को संसार से पवित्र करता है। मनुष्य प्रथम वासनारूपी मैल से भरा था और चिन्तारूपी शत्रु ने उसे बाँधा था; पर जब विवेकरूपी दूत आता है, तब वह चित्तरूपी शत्रु को मारता है और वासनारूपी मैल का नाश करके देव के निकट ले जाता है। जब उस देव का दर्शन होता है, तब परमानन्द को प्राप्त होता और बड़ा सुख पाता है। हे राम ! संसाररूपी समुद्र में मृत्युरूपी भँवर है, तृष्णारूपी तरंगे हैं, अज्ञानरूपी जल है और इन्द्रियाँरूपी ग्राह हैं। उसी समुद्र में ये जीव पड़े हैं। जब विवेकरूपी नौका अकस्मात् प्राप्त होती है, तब वे संसारसमुद्र से पार होते हैं। हे राम ! जीव प्रमाद से ही जड़ता को प्राप्त हुए हैं। जैसे जल शीतलता से ओला कहलाता है, वैसे ही प्रमाद से आत्मा जीवसंज्ञा पाता है और वासना से ढक जाता है। पर जब अन्तर्मुख होता है, तब उस देव के सम्मुख होता है, और वह देव प्रसन्न होता है। उसके सहस्र शीश, सहस्र पाद; सहस्र भुजा, सहस्र नेत्र और सहस्र कर्ण हैं। सब चेष्टाएँ वही करता है। देखता, सुनता, बोलता और चलता भी वही है। वह अपनी स्वभावसत्ता से प्रकाशित होता है। जैसे सब देहों में चलनशक्ति पवन की है, वैसे ही प्रकाशशक्ति उस देव की है। जब जीव उसके सम्मुख होता है, तब वह प्रसन्न होकर विवेकरूपी दूत भेजता है। तब मनुष्य सन्तों की संगति करता है। तब सत्शास्त्रों को सुनकर उनके अर्थ में दृढ़भावना होती है और वह विवेकरूपी दूत अहं को अदृश्य करता है। तब यह जीव शून्य हो जाता है। फिर यह शून्य को भी त्यागकर बोधमात्र में स्थित होता है। तब पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है।

हे राम ! जीव आनन्दस्वरूप है और यह विश्व अपना रूप है। परन्तु अज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा, मरुस्थल में जल और आकाश में तरुवर दीखते हैं, वैसे ही भ्रान्ति से जगत् प्रतीत होता है। पर सब प्राणियों के भीतर-बाहर और नीचे-ऊपर सर्वत्र ब्रह्मदेव ही व्याप रहा है। स्थावर, जंगम आदि सब जगत् उसी

आत्मतत्त्व के आश्रय से फुरता है। इससे वही आत्मा का स्वरूप है और वही सबको धारण कर रहा है। वही ईश्वर ब्रह्म है। गम्भीर, साक्षी, आत्मा, ॐकार, प्रणव सब उसी के नाम हैं। जब उस ईश्वर की कृपा होती है, तब जीव अन्तर्मुख होकर निर्मल होता है। हे राम! जब हृदय शुद्ध होता है, तब आत्मपद की ओर भावना होती है कि सब आत्मा ही है। यह भावना ही भक्ति है—तब ईश्वर वह कृपा करके विवेकरूपी दूत भेजता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विवेकदूतवर्णनं नाम
शताधिकाष्ठषष्टितमस्सर्गः ।। १६८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब विवेक दृढ़ होता है, तब जीव उस परमपद को प्राप्त होता है, जो चैत्य से रहित चैतन्य घन है। तब चैत्य का सम्बन्ध टूट जाता है। जब चैतन्य का सम्बन्ध टूटा, तब विश्व का क्षय हो जाता है। जब विश्व का क्षय हुआ, तब वासना भी नहीं रहती। हे राम! यह जगत्र भी संकल्प के फुरने से है। जब जीव शुद्ध चैतन्य में चैतन्योन्मुख होता है, तब मनोमात्र शरीर होता है, जिसको अन्तवाहक कहते हैं। और जब वासना दृढ़ होती है, तब आधिभौतिक प्रतीत होने लगता है। हे राम ! इसका उत्थान ही अनर्थ का कारण है। जब यह चेतन होता है, तब इसको अनर्थ की प्राप्ति होती है और मैं मेरा इत्यादिक जगत्र भासित होता है। जो यह न हो तो जगत्र भी न हो। इसके होने से ही जगत्र प्रतीत होता है। इससे मेरा यही आशीर्वाद है कि तुम चेतनता से शून्य हो जाओ और अहंतारूपी चेतनता से रहित अपने बोध में स्थित रहो।

हे राम ! मन से ही जगत्र हुआ है। मन और जगत्र, दोनों मिथ्या और शून्य हैं। रूप, अवलोक और मनस्कार, तीनों का नाम जगत्र है। वह मृगतृष्णा के जल सा मिथ्या और शून्य है। जब इनका अभाव होता है, तब शून्य भी नहीं रहता, केवल बोधमात्र चैतन्य होता है। हे राम ! दृश्य, दर्शन और द्रष्टा, ये तीनों भावनामात्र हैं। जब ये होते हैं, तब जगत्र

भासित होता है और जब अहंता का अभाव होता है, तब आत्मपद शेष रहता है। जैसे सुवर्ण में भूषण होते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् है, दूसरी वस्तु कोई नहीं बनी। वासना से दृश्य दिखता है। वह वासना मन से उठी है और मन अज्ञान से हुआ है। जब मन संकल्प-विकल्प से रहित होता है, तब सब दृश्य एक ही रूप हो जाता है। जब तक वासना उठती है, तब तक मन में शान्ति नहीं होती। जैसे कोई पुरुष भौंरी घुमाता है, तो बल चढ़ते जाते हैं, और जब ठहरता है, तब वह बल उतर जाता है, वैसे ही जब तक चित्त वासना से भ्रमता है, तब तक जन्मरूपी बल चढ़ते जाते हैं, और जब चित्त ठहरता है, तब जन्म का अभाव हो जाता है। हे राम! जब तक चित्त का दृश्य के साथ सम्बन्ध है, तब तक जीव कर्मबंधन से नहीं छूटता। जब चित्त का दृश्य से सम्बन्ध टूटता है, तब शुद्ध अद्वैतपद को प्राप्त होता है। हे राम ! जब शुद्धचिन्मात्र में उत्थान होता है, तब उसका नाम चैत्योन्मुख होता है। वही अहंता दृश्य की ओर बढ़ती जाती है, तब प्रमाद हो जाता है और जड़ता होती है। जैसे जल ओला हो जाता है, वैसे ही चित्तशक्ति प्रमाद से जड़ हो जाती है। जब जीव दृढ़ वासना को ग्रहण करता है, तब अपना शरीर अन्तवाहक से आधिभौतिक देख पड़ता है। फिर पृथ्वी आदिक तत्त्व भासित होने लगते हैं। ज्यों-ज्यों चित्तशक्ति बहिर्मुख होती जाती है, त्यों-त्यों संसार होता जाता है। जब चित्तवृत्ति स्फुरण से रहित होकर अपने स्वरूप की ओर आती है, तब अपना रूप ही भासित होता है द्वैत मिट जाता है और परमानन्द अद्वैतपद दीखता है। जब पूर्णबोध होता है, तब द्वैत और एक की संज्ञा भी जाती रहती है, केवल आत्मत्वमात्र शुद्ध चैतन्य रहता है। तब ईश्वर से एकता होती है और जगत् की प्रतीति जाती रहती है। जब उस पद की प्राप्ति होती है, तब दृश्य का अभाव हो जाता है; क्योंकि जगत् भावनामात्र है। जैसे भविष्यकाल का वृक्ष आकाश में हो, वैसे ही यह जगत् है, क्योंकि इसका अत्यन्त अभाव है—कुछ बना नहीं, भ्रान्ति से भासित होता है।

हे राम ! मेरे वचनों का अनुभव तब होगा, जब स्वरूप का ज्ञान

होगा और तभी ये वचन हृदय में स्थान पावेंगे। जैसे कथावाले के हृदय में कथा के अर्थ आते हैं, वैसे ही मेरे ये वचन तुम्हारे मन में स्थान पावेंगे। हे राम ! जब तक मन अपना काम करता है, तब तक जगत् का अभाव नहीं होता। जब मन का उपशम होता है, तब जगत् का अभाव हो जाता है। जैसे मनुष्य जब स्वप्न को स्वप्न जानता है, तब फिर स्वप्न के पदार्थों की इच्छा नहीं करता, पर जब तक उनको सत्य जानता है, तब तक इच्छा करता है। हे राम ! सब जीव वासना से ढके हुए हैं। वासना के क्षय का ही नाम ज्ञान है। अज्ञानरूपी भूत जीव को लगा है, इसी से उन्मत्त होकर इसे जगत् प्रतीत होता है, और जगत् के प्रतीत होने से नाना प्रकार की वासना दृढ़ होती है। उससे जीव दुःख पाते हैं। जब यह चित्त उलटकर अन्तर्मुख हो और आत्मा में दृढ़ भावना करे, तब ज्ञानरूपी मन्त्र प्राप्त होता है और अज्ञानरूपी भूत जाता रहता है। हे राम ! अनुभवरूपी कल्पवृक्ष में जैसी भावना होती है, वैसा ही भान होता है। हे राम ! प्रथम इस जीव का शरीर अन्तवाहक था और अपना स्वरूप भूला न था, इससे अपने को आत्मा ही जानता था और इसे जगत् अपना संकल्पमात्र भासित होता था। जब उस संकल्प में दृढ़ भावना हुई, तब वह शरीर आधिभौतिक भासित होने लगा। जब उसमें दृढ़भावना हुई, तब देह और इन्द्रियाँ सब अपने में भासित होने लगीं। तब इनके सुख-दुःख को जानने लगा। जब जगत् के सुख-दुःख भासित हुए, तब सब आपदा प्राप्त हुई। पर वास्तव में न कोई सुख है, न दुःख न जगत् है। केवल भावना मात्र है। जैसी चित्त की भावना होती है, वैसे ही आगे भासित होता है। हे राम ! जब यह भावना उलटकर अन्तर्मुख आत्मा की ओर होती है, तब एक ही बोध का भान होता है। और जब एक बोध का भान होता है, तब सब द्वैत मिट जाता है।

हे राम ! आत्मा में अन्तवाहक भी नहीं है। यह ब्रह्मा भी बोधस्वरूप है। यदि बोध से भिन्न अन्तवाहक कुछ होता, तो भासित होता। अन्तवाहक भी उसी से है—अन्तवाहक शुद्धचिन्मात्र में चैत्योन्मुख होने

और चित्तशक्ति के स्फुरित रहने का नाम है। जब उसको पञ्चतन्मात्रा का सम्बन्ध होता है, तब यही जड़ चेतन ग्रन्थि है। चित्तशक्ति चेतन है और पञ्चतन्मात्रा जड़। इनके इकट्ठा होने का नाम अन्तवाहक शरीर है। यदि यह भी आत्मा में कुछ हुआ होता तो ये वचन न होते—इससे चिन्मात्र है, कुछ बना नहीं, क्योंकि आत्मा अद्वैत है। हे राम ! दूसरा कुछ बना नहीं, पर भ्रम से द्वैत भासित होता है। वैसे ही यह जगत् भी भ्रान्ति से भासित होता है, कुछ है नहीं। हे राम ! जब है नहीं तो किसकी इच्छा करता है उतना सुख इन्द्रियों के इष्टभोग से नहीं होता, जितना इनके त्यागने से होता है। हे राम ! एक यज्ञ है, जिसके करने से पुरुष परमपद को प्राप्त होता है। पर वह यज्ञ तब होता है, जब एक खम्भा गाड़े और उसके नीचे बलिदान करे। जब यज्ञ कर चुके, तब सर्व त्याग करना होता है। तभी फल की प्राप्ति होती है। इस क्रम के किये बिना यज्ञ सफल नहीं होता। वह खम्भा क्या है, बलि क्या है, यज्ञ क्या है, त्याग क्या है और फल क्या है, यह सुनो।

हे राम ! ध्यानरूपी तो खम्भा गाड़े, जिसमें आत्मपद का सदा अभ्यास हो। उसके आगे तृष्णा की बलि दे और ज्ञानरूपी यज्ञ करे—अर्थात् आत्मा के जो नित्य, शुद्ध, बोधरूप, अद्वैत, निर्विकल्प, देह, इन्द्रियाँ, प्राण आदिक से रहित इत्यादि विशेषण वेदशास्त्र में कहे हैं, उनके अनुसार आत्मा को जानने का नाम ज्ञान है। यही यज्ञ है। ध्यानरूपी खम्भे, तृष्णारूपी बलि और मनरूपी दृश्य को जीतकर यह यज्ञ पूर्ण होता है। जब यह यज्ञ समाप्त होता है, तब उसके पीछे दक्षिणा भी चाहिए जिससे यज्ञ सफल हो। सर्वस्व देना ही दक्षिणा है—और अहंकार त्याग करना ही सर्वस्व-त्याग है। जब सर्वस्व-त्याग होता है, तब यह यज्ञ सफल होता है। इसका नाम विश्वजित् यज्ञ है। जब इस प्रकार यज्ञ होता है तब इसका फल भी होता है। फल यह है कि चाहे अंगारों की वर्षा हो, प्रलयकाल का पवन चले, और पृथ्वी आदिक तत्त्व नष्ट हों ऐसे क्षोभों में भी मन चलायमान नहीं होता। यह फल प्राप्त होता है कि जीव

कभी स्वरूप से नहीं गिरता—यह शत्रुनाश वज्र-ध्यान है। हे राम ! अहं का त्याग करना सबसे श्रेष्ठ त्याग है। जो कार्य अहं के त्याग से होता है वह और किसी उपाय से नहीं होता। तप, दान, यज्ञ, शम, दम, उपदेश से भी बढ़कर साधन अहन्ता का त्याग करना है। और सब साधन इसके बाहर हैं। हे राम ! जब तुम अहंता का त्याग करोगे, तब हमको भीतर-बाहर ब्रह्मसत्ता ही दिखेगी और सम्पूर्ण द्वैतभ्रम मिट जावेगा।

हे राम ! मन के सब अर्थरूपी तृणों को ज्ञानरूपी अग्नि लगावे और वैराग्यरूपी वायु से जगावे। जब इन तृणों को भस्म कर डालोगे, तब तुम परम शान्ति को प्राप्त होगे। मन के जलने से परम संपदा प्राप्त होती है—इससे भिन्न सब आपदा है। मन का उपशम करने में ही कल्याण है। ये जो भीतर बाहर नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं, वे मन के मोह से उत्पन्न हुए हैं। जब मन उपशम को प्राप्त होता है, तब मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, पृथ्वी, आदिक नाना प्रकार के प्राणी सब आकाशरूप हो जाते हैं। हे राम ! यह सब ब्रह्म है। ज्ञानी को एक सत्ता भासित होती है; क्योंकि दूसरा कुछ बना नहीं। भ्रम से जगत् भासित होता है। उसमें जब नाना प्रकार की वासना होती है, तब अपनी-अपनी वासना के अनुसार जीव जगत् को देखते हैं। इससे तुम जागो और वासना के पिंजड़े को तोड़कर आत्मपद को प्राप्त करो । हे राम ! अज्ञान से जो आत्मपद को भूलकर सोये और वासना के पिंजड़े में पड़े हैं, उन अज्ञानियों की तरह तुम न होना । अज्ञान से जीव का नाश होता है। जो कुछ जगत् देखते हो वह भ्रममात्र है। जैसे बाँसुरी में पवन का शब्द होता है, वैसे ही ये प्राणवायु से बोलते दीखते हैं, ऐसा जानो। जगत् भ्रममात्र है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वसत्तोपदेशो नाम शताधिकनवषष्टितमस्सर्गः ।। १६९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सम्पूर्ण जगत् में सप्त प्रकार की सृष्टि है। और सात ही भाँति के जीव हैं। उनको भिन्न-भिन्न सुनो। एक स्वप्न-जाग्रत्

के हैं। दूसरे संकल्प-जाग्रत् के हैं। तीसरे केवल जाग्रत् के हैं। चौथे फिर जाग्रत् के हैं। पञ्चम दृढ़ जाग्रत् के हैं। छठे जाग्रत्-स्वप्न के हैं। और सप्तम् क्षीण-जाग्रत् के हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने जो यह सात प्रकार की सृष्टि कही, समझाने के लिए मुझसे खुलासा करके कहिये। यह ऐसे हैं, जैसे नदियों के जल का समुद्र में अभेद हो और इनको पूछना भी ऐसे ही है, जैसे एक जल से फेन बुलबुले और तरंग वायु से होते हैं। इसलिए विस्तार से कहो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम सृष्टि तो यह है कि किसी जीव को किसी कल्प में अपनी जाग्रत् में सुषुप्ति हुई और उसमें जो स्वप्न हुआ तो उसको हमारे जाग्रत् का जगत् भासित हुआ और वह उसको शब्द-अर्थ-संयुक्त सत् जानकर ग्रहण करने लगा। तो उसके स्वप्न में हम स्वप्न के नर हैं, परन्तु उसके निश्चय में नहीं, क्योंकि वह अपनी जाग्रत् अवस्था मानता है। पर हमारा और उसका कल्प एक हो गया है, इसी से वह भी जाग्रत् जानता है। और पूर्वकल्प में भी उसका शरीर चैतन्य फुरता था, परन्तु अब सोया पड़ा है राम ने पूछा, हे भगवन्! जब वह पुरुष अपने कल्प में जागे, तब यह उसको क्या भासित होता है। और यदि वह जागे नहीं और वहाँ कल्प का प्रलय हो, तब उसकी क्या अवस्था होगी ? एवम् यदि यहाँ ज्ञान की प्राप्ति हो तो उस शरीर की क्या अवस्था होगी ? सो क्रम से कहो।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यदि वह पुरुष अपने कल्प में जागेगा तो यह जाग्रत् उसको स्वप्न भासित होगा, और जो वहाँ न जागेगा और उस कल्प का प्रलय हो जायगा तो वह जीव वहीं चेष्टा करेगा। यदि ज्ञान की प्राप्ति हो तो उस शरीर और इस शरीर की वासना इकट्ठी होकर निर्वाण हो जायगी और जो ज्ञान न प्राप्त हो तो शरीर को त्याग कर और जाग्रत्भ्रम भासित होगा। अपने को पूर्ववत् जाने चाहे न जाने, परन्तु बिना ज्ञान के जगत्भ्रम नहीं मिटता। हे राम ! यह और वह दोनों तुल्य हैं। ब्रह्मसत्ता सब जगत् समान प्रकाशित होती.है। हे राम ! जैसे गूलर में मच्छड़ होते हैं, वैसे ही ये जीव भी भ्रम से फुरते हैं। यह जाग्रत् सृष्टि

कभी स्वरूप से नहीं गिरता—यह शत्रुनाश वज्र-ध्यान है। हे राम ! अहं का त्याग करना सबसे श्रेष्ठ त्याग है। जो कार्य अहं के त्याग से होता है वह और किसी उपाय से नहीं होता। तप, दान, यज्ञ, शम, दम, उपदेश से भी बढ़कर साधन अहन्ता का त्याग करना है। और सब साधन इसके बाहर हैं। हे राम ! जब तुम अहंता का त्याग करोगे, तब हमको भीतर-बाहर ब्रह्मसत्ता ही दिखेगी और सम्पूर्ण द्वैतभ्रम मिट जावेगा।

हे राम ! मन के सब अर्थरूपी तृणों को ज्ञानरूपी अग्नि लगावे और वैराग्यरूपी वायु से जगावे। जब इन तृणों को भस्म कर डालोगे, तब तुम परम शान्ति को प्राप्त होगे। मन के जलने से परम संपदा प्राप्त होती है—इससे भिन्न सब आपदा है। मन का उपशम करने में ही कल्याण है। ये जो भीतर बाहर नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं, वे मन के मोह से उत्पन्न हुए हैं। जब मन उपशम को प्राप्त होता है, तब मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, पृथ्वी, आदिक नाना प्रकार के प्राणी सब आकाशरूप हो जाते हैं। हे राम ! यह सब ब्रह्म है। ज्ञानी को एक सत्ता भासित होती है; क्योंकि दूसरा कुछ बना नहीं। भ्रम से जगत्‌ भासित होता है। उसमें जब नाना प्रकार की वासना होती है, तब अपनी-अपनी वासना के अनुसार जीव जगत्‌ को देखते हैं। इससे तुम जागो और वासना के पिंजड़े को तोड़कर आत्मपद को प्राप्त करो । हे राम ! अज्ञान से जो आत्मपद को भूलकर सोये और वासना के पिंजड़े में पड़े हैं, उन अज्ञानियों की तरह तुम न होना । अज्ञान से जीव का नाश होता है। जो कुछ जगत्‌ देखते हो वह भ्रममात्र है। जैसे बाँसुरी में पवन का शब्द होता है, वैसे ही ये प्राणवायु से बोलते दीखते हैं, ऐसा जानो। जगत्‌ भ्रममात्र है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वसत्तोपदेशो नाम
शताधिकनवषष्टितमस्सर्गः ।। १६९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सम्पूर्ण जगत्‌ में सप्त प्रकार की सृष्टि है। और सात ही भाँति के जीव हैं। उनको भिन्न-भिन्न सुनो। एक स्वप्न-जाग्रत्‌

के हैं। दूसरे संकल्प-जाग्रत् के हैं। तीसरे केवल जाग्रत् के हैं। चौथे फिर जाग्रत् के हैं। पञ्चम दृढ़ जाग्रत् के हैं। छठे जाग्रत्-स्वप्न के हैं। और सप्तम् क्षीण-जाग्रत् के हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने जो यह सात प्रकार की सृष्टि कही, समझाने के लिए मुझसे खुलासा करके कहिये। यह ऐसे हैं, जैसे नदियों के जल का समुद्र में अभेद हो और इनको पूछना भी ऐसे ही है, जैसे एक जल से फेन बुलबुले और तरंग वायु से होते हैं। इसलिए विस्तार से कहो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम सृष्टि तो यह है कि किसी जीव को किसी कल्प में अपनी जाग्रत् में सुषुप्ति हुई और उसमें जो स्वप्न हुआ तो उसको हमारे जाग्रत् का जगत् भासित हुआ और वह उसको शब्द-अर्थ-संयुक्त सत् जानकर ग्रहण करने लगा। तो उसके स्वप्न में हम स्वप्न के नर हैं, परन्तु उसके निश्चय में नहीं, क्योंकि वह अपनी जाग्रत् अवस्था मानता है। पर हमारा और उसका कल्प एक हो गया है, इसी से वह भी जाग्रत् जानता है। और पूर्वकल्प में भी उसका शरीर चैतन्य फुरता था, परन्तु अब सोया पड़ा है राम ने पूछा, हे भगवन्! जब वह पुरुष अपने कल्प में जागे, तब यह उसको क्या भासित होता है। और यदि वह जागे नहीं और वहाँ कल्प का प्रलय हो, तब उसकी क्या अवस्था होगी ? एवम् यदि यहाँ ज्ञान की प्राप्ति हो तो उस शरीर की क्या अवस्था होगी ? सो क्रम से कहो।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यदि वह पुरुष अपने कल्प में जागेगा तो यह जाग्रत् उसको स्वप्न भासित होगा, और जो वहाँ न जागेगा और उस कल्प का प्रलय हो जायगा तो वह जीव वहीं चेष्टा करेगा। यदि ज्ञान की प्राप्ति हो तो उस शरीर और इस शरीर की वासना इकट्ठी होकर निर्वाण हो जायगी और जो ज्ञान न प्राप्त हो तो शरीर को त्याग कर और जाग्रत्भ्रम भासित होगा। अपने को पूर्ववत् जाने चाहे न जाने, परन्तु बिना ज्ञान के जगत्भ्रम नहीं मिटता। हे राम ! यह और वह दोनों तुल्य हैं। ब्रह्मसत्ता सब जगत् समान प्रकाशित होती है। हे राम ! जैसे गूलर में मच्छड़ होते हैं, वैसे ही ये जीव भी भ्रम से फुरते हैं। यह जाग्रत् सृष्टि

कही। और स्वप्न में जो जाग्रत् है। उसका नाम स्वप्न-जाग्रत् है। पुरुष बैठा हो और चित्त की वृत्ति ठहर जाय,पर निद्रा नहीं आई। उसमें मनोराज्य हुआ और उस मनोराज्य में जगत् होकर उसी में दृढ़ वासना हो गई और पूर्व की वासना भूल गई। यह सत् भासित हुई और उसमें मनोराज्य का शरीर भासित हुआ। वही आधिभौतिकता दृढ़ हो गई। उसका नाम संकल्प-जाग्रत् है। आदि-परमात्मतत्त्व से जो प्रकट हुआ और आत्मा में जो जगत् भासित हुआ, उसको संकल्पमात्र जाना। उसका नाम केवल जाग्रत् है। आदि परमात्मतत्त्व से क्षोभ हुआ, उसमें सृष्टि हुई और उसको सत् जानकर ग्रहण किया। स्वरूप का प्रमाद हुआ और आगे जन्मान्तर को प्राप्त हुआ। उसका नाम चिरजाग्रत् है। जब इसमें दृढ़ घनीभूत वासना हुई और जीव पापकर्म करने लगा, उसके कारण स्थावर योनि पाई, तो उसका नाम घनजाग्रत् और सुषुप्तजाग्रत् है। जब इसमें सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के विचार से बोध प्राप्त हुआ, तब यह जाग्रत्सृष्टि उसको स्वप्न हो जाती है। उसका नाम स्वप्नजाग्रत् है। जब बोध में दृढ़ स्थिति हुई, तब उसको तुरीयपद कहते हैं—इसका नाम क्षीणजाग्रत् है। जब जीव इस पद को प्राप्त होता है, तब परमानन्द की प्राप्ति होती है।

हे राम ! ये सात प्रकार के जीव और सृष्टि मैंने तुमसे कही। इनको विचार करके देखो तो तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जायगा। यह भी क्या बताना है कि यह जीव है और यह सृष्टि है ? सब ब्रह्मसत्ता है, दूसरा कुछ हुआ नहीं। मन के स्फुरण से दृश्य भासित होता है। मन को स्थिर करके देखो तो सब शून्य हो जावेगा, और शून्य भी न रहकर शून्य का कहना भी न रहेगा-इस गिनती को भी विस्मरण करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सप्तप्रकारजीवसृष्टिवर्णनं
नाम शताधिकसप्तातितमस्सर्गः ।। १७० ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने जो केवल जाग्रत् की उत्पत्ति अकारण, अकर्म और बोधमात्र में कही, सो असम्भव है—जैसे आकाश

में वृक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा में सृष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा निराकार और निष्क्रिय है। वह न समवायिकारण है और न निमित्तकारण है। जैसे मृत्तिका घट आदि का कारण होती है, वैसे आत्मा सृष्टि का समवायिकारण भी नहीं, क्योंकि वह अद्वैत है। और जैसे कुम्हार घट आदि का निमित्तकारण होता है, वैसे आत्मा सृष्टि का निमित्तकारण भी नहीं, क्योंकि वह अक्रिय है। उस अकारणक और अकर्मक में सृष्टि कैसे हो सकती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम धन्य हो; क्योंकि अब जागे हो। आत्मा में सृष्टि का अत्यन्त अभाव है, क्योंकि वह निर्विकार और निष्क्रिय है। वह न भीतर है, न बाहर; न ऊपर है, न नीचे; केवल बोधमात्र है। उसमें न कोई आरम्भ है, न परिणाम। वह केवल बोधमात्र अपने रूप में स्थित है। जैसे सूर्य की किरणों में जल कल्पित है, वैसे ही आत्मा में जगत् मिथ्या है। हे महाबुद्धिमान् ! आत्मा अकारण है, उसमें कार्यरूप जगत् कैसे हो सकता है ? उसमें जगत् नहीं उत्पन्न हुआ। उसके अभाव से सबका अभाव है। न कुछ उपजा है, न किसी का आभास होता है। उपदेश और उसका अर्थ आरोपित है, और कुछ है ही नहीं। आरोपित शब्द भी जिज्ञासु को जताने के निमित्त कहा है, है कुछ नहीं। आत्मा सदा अद्वैतरूप है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो आत्मा में सृष्टि है ही नहीं तो पिण्डाकार कैसे भासित होते हैं ? उनको किसने रचा है ? और मन, बुद्धि, इन्द्रियों का भान क्यों होता है ? चैतन्य को स्नेह (और राग) से किसने मोहित किया है और आत्मा में आवरण कैसे होता है ? यह समझाकर कहिये।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! न कोई पिण्ड है, न किसी ने इनको बनाया है। न कोई भूत है; न किसी ने इनको मोहित किया है और न किसी का आवरण किया है; भ्रान्ति से आवरण भासित होता है। जो आत्मा को आवरण होता तो वह किसी प्रकार नष्ट भी होता। परन्तु जब आवरण ही नहीं तो नष्ट कैसे हो ? हे राम ! जिसको आवरण होता है, उसका स्वरूप एक अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था को ग्रहण करता

है। पर आत्मा तो सदा ज्ञानस्वरूप है। इससे अन्य अवस्था को कभी नहीं प्राप्त होता, सदा ज्यों का त्यों रहता है। उसमें मन, बुद्धि आदि भी नहीं बने । तब मोह कहाँ और आवरण कहाँ ? सदा एकरस आत्मतत्त्व है। ज्ञानी को ऐसे भासित होता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् भासित होता है। वह आत्मा ज्ञानकाल और अज्ञानकाल में एकरस है। पर उसमें दो दृष्टियाँ होती हैं। ज्ञानदृष्टि से तो सब आत्मा है और अज्ञान से नाना प्रकार का जगत् भासित होता है। हे राम ! जैसे एक समुद्र से अनेक तरंगे और बुलबुले उठते और लीन होते हैं, पर उनका उत्पन्न और लीन होना जल में है, जल से भिन्न कुछ नहीं वैसे ही जितने विचार और इच्छाएँ उठती हैं सो सब आत्मा में होते हैं, दूसरी वस्तु नहीं है। विकार और अविकार सब परमात्मतत्त्व है। समुद्र में लहरें और बुलबुले परिणाम से होते हैं; आत्मा सदा ज्यों का त्यों है। नाना प्रकार के जो आकार भासित होते हैं, वे भी वही हैं, जैसे सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषण होते हैं, सो सुवर्ण ही हैं, दूसरी वस्तु नहीं, पर भ्रान्ति से उसकी नाना प्रकार की संज्ञा होती है। जैसे कोई पुरुष जाग्रत् बैठा हो और नींद आने से स्वप्न सृष्टि भासित हो तो चाहे वह जाग्रत् के अज्ञान से स्वप्नसृष्टि भासित हुई हो, पर जब निद्रा निवृत्त होती है, तब जाग्रत् ही भासित होती है। वह जाग्रत् भी परमात्मतत्त्व के अज्ञान से भासित होती है। जब उस पद में जागोगे, तब जाग्रत्भ्रम निवृत्त हो जावेगा।

हे राम ! यह संसार अपने स्फुरण से हुआ है। जब फुरना दृढ़ हुआ, तब जीव दुःख पाने लगा। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना कर आप ही दुःख पाता है, वैसे ही जीव अपने अहं से आप ही दुःख पाता है। जब आत्मबोध होता है, तब संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है। हे राम ! यह संसार जो रस से युक्त लगता है, सो भावनामात्र है। जब यही भावना पलटकर आत्मा की ओर आवे, तब जगत् का भ्रम मिट जायगा। देह, इन्द्रिय आदिक जो आत्मा के अज्ञान से उपजे हैं और उनमें अहंकार हुआ है, वह आत्मभावना से निवृत्त हो जायगा जैसे वर्षाकाल में

मेघ घने होते हैं और जब शरत्काल आता है तब अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही जब बोधरूपी शरत्काल आता है, तब अनात्म में आत्म-अभिमानरूपी मेघ नष्ट हो जाता है और परम स्वच्छता प्रकट होती है। हे राम ! जितना जगत् पिण्डरूप होकर भासित होता है, जब आत्मा का साक्षात्कार होगा, तब उसमें पिण्डबुद्धि जाती रहेगी और सब जगत् आकाशरूप हो जायगा। जैसे शरत्काल में मेघों की बहुलता जाती रहती है और सब आकाशरूप हो जाता है। हे राम ! यह भ्रान्ति तब तक है, जब तक जीव स्वरूप से सुषुप्ति सा है। जब जागेगा तब सब जगत् आकाश सा शून्य हो जायगा, जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्नजगत् आकाशरूप हो जाता है। हे राम ! यह विकार, क्षोभ और नानात्व प्रमाद से दिखते हैं। जब आत्मबोध होता है, तब सब क्षोभ और विकार मिट जाते हैं। सब प्रपञ्च एक हो जाने से द्वैतभाव मिट जाता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत, ईंधन या मिष्ठान्न जो कुछ डालिये, वह एकरूप हो जाता है, वैसे ही जब बोध होता है, तब सब जगत् एकरूप हो जाता है। जैसे नाना प्रकार के भूषण अग्नि में डालिये तो सब सुवर्ण ही हो जाता है और भूषण की संज्ञा नहीं रहती, वैसे ही मन को जब आत्मबोध में डाल दिया, तब जगत्संज्ञा नहीं रहती, केवल परमात्मतत्त्व हो जाता है।

हे राम ! इन्द्रियाँ और जगत् तब तक हैं, जब तक जीव स्वरूप से अनजान सोया पड़ा है। जब जागेगा, तब संसार की सत्यता मिट जायगी और इच्छा भी कोई न रहेगी। जैसे किसी पुरुष को स्वप्न आता है, और जब उस स्वप्न से वह जागता है, तब स्वप्न के स्मरण की इच्छा नहीं करता कि वह मुझको याद आवे या उसमें मिले हुए सुख-दुःख या मनुष्य मुझे मिलें; क्योंकि उसको सत्यता नहीं जान पड़ती तो इच्छा कैसे करे, वैसे ही जब तक जीव स्वरूप से अनजान सोया पड़ा है, तब तक संसार के पदार्थों को मिथ्या नहीं जानता, उनकी इच्छा करता है। जब तुम स्वरूप ज्ञान में जागोगे, तब सब पदार्थ नीरस हो जावेंगे और जब ज्ञान से जगत् को मिथ्या स्वप्नवत् जानोगे, तब उसकी चाह भी न करोगे। हे राम !

जीवन्मुक्त की सब चेष्टाएँ देखी जाती हैं, परन्तु वह जगत् को सत्य नहीं मानता; क्योंकि उसको आत्मानुभव हुआ है। जैसे सूर्य की किरणों में जल देख पड़ता है, पर जिसने सूर्य की किरणों को जान लिया है, उसको जल नहीं प्रतीत होता, किरणें ही दीखती हैं; पर जिसने किरणें नहीं जानी, उसको जल का भ्रम होता है। दृष्टि दोनों की तुल्य है, परन्तु ज्ञानवान् के निश्चय में जगत् जल के समान नहीं और अज्ञानी को जगत् जल सा दृढ़ जान पड़ता है। हे राम ! मनरूपी दीपक प्रज्वलित है; उसमें ज्ञानरूपी जल डालिये तो बुझ जायेगा। जब मन का निर्वाण होगा, तब उस पद को प्राप्त होगे, जहाँ जगत् और अहंकार का अभाव है। वह न शून्य है, न अशून्य; न केवल है न अकेवल। उसका उदय, अस्त भी नहीं है। हे राम ! जो पुरुष ऐसे पद को प्राप्त हुआ है, वह कृतकृत्य होकर रागद्वेष से रहित परम शान्तपद को प्राप्त होता है। उसका अहंकार मिट जाता है। वह केवल निर्वाच्य पद को प्राप्त होता है, जहाँ कोई उत्थान नहीं। हे राम ! आत्मा में जगत् के पदार्थ कोई नहीं हैं, मन के संकल्प से भासित होते हैं। जैसे खम्भे में चितेरा कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ इस खम्भे में हैं, सो वे उसके निश्चय में है, खम्भे में पुतलियों का अभाव है; वैसे ही मन के निश्चय में जगत् है; आत्मा में कुछ नहीं बना। जिस पुरुष का मन सूक्ष्म हो गया है; उसको जगत् स्वप्न जान पड़ता है। जब उसने इसे स्वप्न जाना, तब वह इच्छा और त्याग किसका करे ?

हे राम ! जगत् की तब तक प्रतीति है, जब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ। जब आत्मानुभव होगा, तब जगत् रस से युक्त कभी न भासित होगा। जैसे धूप छाया इकट्ठी नहीं होती, वैसे ही ज्ञान और जगत् इकट्ठे नहीं होते। आत्मज्ञान होने पर जगत् का अभाव हो जाता है। जैसे पूर्वकाल वर्तमानकाल में नहीं होता, वैसे ही आत्मा में जगत् नहीं होता। हे राम ! यह जगत् भ्रम से भासित होता है और विचार करने से इसका अभाव हो जाता है। द्रष्टा-दर्शन-दृश्य की जो त्रिपुटी भासित होती है, वह भी मिथ्या है। जैसे निद्रादोष से स्वप्न में ये तीनों भासित होते हैं

और जागे से इनका अभाव हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से ये भासित होते हैं और ज्ञान से इस त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। हे राम ! जैसे मनोराज्य से मन में जगत् स्थित होता है, वैसे ही ये पर्वत, नदियाँ, देश, काल, जगत् भी जानो। इससे इस जगत्भ्रम को त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित होओ। यह जगत् भ्रम से उदय हुआ है, विचार से नष्ट हो जावेगा और तुमको परम शान्ति प्राप्त होगी। हे राम ! जिसका मन उपशम को प्राप्त हुआ है, वह पुरुष मौनी है। वह निरोध पद को प्राप्त हुआ है और संसार-समुद्र से तरकर कर्मों के अन्त को पहुँच गया है। उसको पहाड़, नदियाँ आदि से युक्त सम्पूर्ण जगत् लीन हो जाता है। अज्ञान के नष्ट होने से विद्यमान जगत् भी नष्ट हो जाता है; क्योंकि ज्ञानी शान्ति से तृप्त है। वह ज्ञानवान् निरावरण होकर स्थित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वशान्त्युपदेशो नाम
शताधिकैकसप्ततितमस्सर्गः ।। १७१ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जिस क्रम से बोधस्वरूप आत्मा जगत्रूप होकर दिखता है, वह क्रमभेद की निवृत्त के लिए फिर मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जितना जगत् देख पड़ता है, उसका चित्त में निश्चय होता है। यह जगत् ज्ञानवान् को और अज्ञानी को भी चित्त से भासित होता है, परन्तु इतना भेद है कि अज्ञानी जगत् को सत् मानता है और ज्ञानवान् शास्त्रयुक्ति से देखकर पूर्वापर अर्थ के विचार से भ्रान्तिमात्र जानता है। यह जगत् जिस अविद्या से है, वह अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासित होता है सो कुछ है नहीं, वैसे ही अविद्या कुछ वस्तु नहीं है। जितना स्थावर जंगम जगत् है, सो कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्र से एक बूँद निकालिये तो वह नष्ट हो जाती है, क्योंकि विभागरूप है, वैसे ही माया, अविद्या, सत्, असत् आदिक सब सम्बन्धों का अभाव हो जाता है; क्योंकि सब शब्द जगत् में हैं। जब जगत् लीन हुआ, तब शब्द कहाँ रहे ? और वास्तव में न कुछ उपजा है; न लीन होता है-एक ही चिदाकाश है। जो तुम कहो कि

देह उपजती है; तो तुम देह और तत्त्व को स्वप्नवत् जानो। जो तुम कहो कि जगत् प्रलय में लीन होता है, इससे कुछ है, तो नाश उसी का होता है, जो असत्य है। जो तुम कहो कि जगत् असत्य है तो फिर क्यों उपजता है, तो उपजी वस्तु भी सत् नहीं होती। जो तुम कहो कि महाप्रलय में चिदाकाश ही रहता है और वही जगत्रूप होकर दिखता है तो जगत् कुछ भिन्न वस्तु नहीं हुआ—बोधमात्र ही इस प्रकार होकर भासित होता है। जैसे बीज और वृक्ष में कुछ भेद नहीं, वैसे ही जिससे जगत् भासित होता है, उसी का वह रूप है, कुछ उपजा नहीं। जब उपजा नहीं तो विकार और भेद कैसे हो ? इससे बोधमात्र ही अपने आपमें स्थित है। आत्मसत्ता कारण-कार्य से रहित परम शान्तरूप अपने आपमें स्थित है। वही जगत्रूप होकर दिखती है। देश, काल, पदार्थ भी सब महाप्रलयरूप हैं। जब महाप्रलय होता है, तब ब्रह्मा पर्यन्त सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी का नाम भी नहीं रहता। अर्थ भी नहीं रहता। तब केवल बोधमात्र और बोध से भी रहित शेष रहता है, जो परम शान्तरूप है। उसमें वाणी और मन की गति नहीं-वह केवल अचैत्यचिन्मात्र सत्ता ही है। उसी को तत्त्ववेत्ता अनुभव कहते हैं, और कोई उसे नहीं जान सकता।

हे राम ! जो पुरुष अविद्यारूपी निद्रा से जागा है वह निराभास होता है, अर्थात् चित्त से चैत्य का सम्बन्ध टूट जाता है। उसको परम प्रकाशरूप आत्मपद प्राप्त होता है। उसकी स्वभाव में स्थिति होती है और परस्वभाव प्रकृति का अभाव हो जाता है। हे राम ! परस्वभाव से भिन्न-भिन्न जो कुछ जगत् भासित होता था, सो सब एकरूप हो जाता है। जैसे स्वप्न में सब पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखते हैं और जागे से सब एकरूप हो जाते हैं, अपना रूप ही भासित होता है, वैसे ही जब आत्मा का अनुभव होता है, तब जगत् अपना रूप ही प्रतीत होता है। हे राम ! एकरूप तब भासित होता है, जब और कुछ नहीं बना। जैसे सुवर्ण के भूषण अग्नि में डालिये तो अनेक भूषणों का एक पिंड हो जाता है और एक ही आकार दिखता

है, वैसे ही जब बोध का अनुभव होता है, तब सब एकरूप हो जाता है। हे राम ! भूषणों के होते भी सुवर्ण ही था, इसी से सब एकरूप हो गया, वैसे ही जब बोध का अनुभव होता है, तब सब एकरूप ही भासित होता है। इससे जगत् के होते भी जगत् आत्मरूप है। जगत् है नहीं और हुए की तरह भिन्न-भिन्न जान पड़ता-जैसे सोमजल में तरंग नहीं है और भासित होते हैं, तो भी जलरूप हैं-असम्यक्दृष्टि से भिन्न-भिन्न लगते हैं।

हे राम ! ज्ञानी को जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों तुल्य हैं। जैसे भूषण के होते भी स्वर्ण है और भूषण के अभाव में भी स्वर्ण है, वैसे ही ज्ञानवान् को देह के होते भी ब्रह्म है और देह के अभाव में भी ब्रह्म है। जो अज्ञानी है, उसको नाना प्रकार का जगत् फुरता है। अज्ञानी वही है जिसको मन का सम्बन्ध है। हे राम ! यह जगत् भिन्न-भिन्न फुरता है। जैसे काष्ठ के खम्भ में चितेरा पुतलियों की कल्पना करता है, वे और को नहीं दिखतीं, उसी के मन में होती हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न पदार्थरूपी पुतलियाँ अज्ञानी के मन में फुरती हैं और ज्ञानवान् को नहीं भासित होतीं। जब काष्ठरूप आधार होता है, तब चितेरा पुतलियों की कल्पना करता है, पर आश्चर्य देखो कि मनरूपी ऐसा चितेरा है कि आकाश में पदार्थरूपी पुतलियों की कल्पना करता है और वे बिना खोदी ही भासित होती हैं। हे राम ! और दूसरा कुछ नहीं बना। जैसे किसी पुरुष ने कागज पर पुतली लिखी हो सो वह कागजरूप है और कुछ नहीं बनी, वैसे ही यह जगत् भी उसी ब्रह्म का स्वरूप है। हे राम! जब तुमको आत्मपद का अनुभव होगा, तब जितने जगत् के शब्द-अर्थ हैं, वे सब उसी में भासित होंगे। जैसे जिसने स्वर्ण को जाना, उसको भूषण के शब्द-अर्थ स्वर्ण ही भासित होते हैं, वैसे ही जब आत्मपद को जानोगे, तब तुमको जगत् के शब्द-अर्थ आत्मा ही में देख पड़ेंगे। हे राम ! ये जीव महासूक्ष्मरूप हैं और इनमें अपनी-अपनी सृष्टि है। जब तक स्फुरण है, तब तक सृष्टि है। जब सृष्टि का फुरना अपनी ओर आता है, तब सब सृष्टि एक आत्मरूप हो जाती है।

आकाश, काल, दिशा, पदार्थ सब आत्मा है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। वह अपने आपमें स्थित है, जो अद्वैत चिन्मात्रपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनं नाम शताधिकद्विसप्ततितमस्सर्गः ।। १७२ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! सब तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध कैसे हुआ ? काल में कालत्व, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दन कैसे हुआ है ? जड़ में जड़ता, भूतों में भूतना, संकल्प में स्पन्दन, सृष्टि में सृष्टित्व, मूर्ति में मूर्तित्व, भिन्न में भिन्नता और दृश्य में दृश्यता किससे हुई है, यह मुझसे कहिये, क्योंकि अर्धप्रबुद्ध का बोध के निमित्त कहना योग्य है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, ईश्वर आदिक सब प्रलयकाल में जिसमें लीन होते हैं, उसका नाम महाप्रलय है। हे राम ! ऐसा जो अनन्त आकाश है वह सम, शुद्ध, आदि-अन्त-मध्य से भी रहित, चैतन्यघन और अद्वैत है; जहाँ एक और दो शब्द भी नहीं है, जिसमें आकाश भी पहाड़ के समान स्थूल है, और ऐसा सूक्ष्म है कि 'है', 'नहीं', दोनों 'शब्दों' से रहित अपने आपमें स्थित है। जैसे पाषाण का शिलाकोष होता है, वैसे ही वह चित्त के स्फुरण से रहित है। ऐसे अकारण परमात्मतत्त्व से सृष्टि का उपजना कैसे कहिये ? जैसे आकाश अपने आपमें स्थित है, वैसे ही ब्रह्म अपने आपमें स्थित है। हे राम ! एक निमेष के फुरने से जो वृत्ति अनेक योजन पर्यन्त जाती है, उसके मध्य जो अनुभव करनेवाली सत्ता है, उसमें तुम स्थित होकर देखो कि जगत् और उसकी उत्पत्ति कहाँ है ?

हे राम ! उत्पत्ति समवायकारण और निमित्तकारण से होती है, पर आत्मा निराकार, अद्वैत और सन्मात्र है-न समवायकारण है और न निमित्तकारण। आत्मा अच्युत है अर्थात् स्वरूप से कभी नहीं गिरता। तब वह समवायकारण कैसे हो ? वह निमित्तकारण भी नहीं; क्योंकि निराकार है। इससे आत्मा में जगत् कुछ नहीं है, भ्रान्तिमात्र और अविद्या से भासित है। जो वस्तु हो नहीं और प्रत्यक्ष दिखे उसे अविद्या कृत जानिये। हे राम!

ब्रह्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। जल में जो तरंग और आवर्त उठते हैं, वे जलरूप हैं, जल से भिन्न कुछ नहीं जब तुम अपने आपमें स्थित होगे, तब जगत् का शब्द-अर्थ भिन्न न भासित होगा; क्योंकि कुछ दूसरी वस्तु नहीं है। हे राम ! ब्रह्म अमूर्त है; उसमें यह मूर्ति कैसे उत्पन्न हो ? यह भ्रान्तिमात्र है। जो वस्तु कारण से उपजी हो, वह सत् होती है और जो कारण बिना देख पड़े उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा दिखता है तो उसका कोई कारण नहीं इससे मिथ्याभ्रम से भासित होता है, वैसे ही यह जगत् मिथ्या है, विचार किये से नहीं रहता। हे राम! आकाश काल आदि जो पदार्थ हैं वे सब शून्य हैं। आत्मा में न उदय हुए हैं और न अस्त होते हैं-ज्यों का त्यों आत्मा ही स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनं नाम
शताधिकत्रिसप्ततितमस्सर्गः ।। १७३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, वैसे ही ब्रह्मरूपी आकाश अपने आपमें स्थित है। फिर वह कैसे किसी का कारण हो ? कारण और कार्य तब होता है, जब द्वैत और आरम्भ, परिणाम होता है; पर आत्मा तो अद्वैत, अच्युत और निर्गुण है। उसमें आरम्भ कैसे हो ? हे राम ! जो कुछ जगत् तुमको भासित होता है, वह सब काठ की तरह मौन है, अर्थात् वहाँ मन का फुरना शून्य है। हे राम! जो कुछ द्वैत भासित होता है, वह भ्रममात्र है, जो कुछ हुआ होता तो ज्ञानी को भी प्रत्यक्ष होता पर ज्ञानकाल में नहीं भासित होता, इससे भ्रममात्र है। हे राम ! पृथ्वी, जल आदि जो पदार्थ हैं, उनका फुरना स्वप्न की तरह है। जैसे स्वप्न में जो चेष्टा होती है, वह पास बैठे को नहीं दिखती, क्योंकि है ही नहीं, वैसे ही सृष्टि अकारण संकल्पमात्र है। हे राम ! जैसे मिथ्या, खरगोश के सींगों का कारण कोई नहीं वैसे ही जगत् का कारण कोई नहीं। जो कुछ हो तो उसका कारण भी हो; पर जब कुछ है ही नहीं तो किसका कारण कौन हो ? राम ने पूछा, हे भगवन् ! जैसे वट के बीज में वृक्ष का भाव या अस्तित्त्व होता है, पर काल पाकर बीज से वृक्ष निकल आता है,

वैसे ही इस जगत् का कारण परमाणु क्यों न हो ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! सूक्ष्म में स्थूल संकल्पमात्र होता है। मैं भी कहता हूँ कि सूक्ष्म में स्थूल होता है परन्तु संकल्पमात्र होता है—कुछ सत्य नहीं होता। जो कहिये कि सत्य होता है तो नहीं हो सकता। जैसे राई के कणके में सुमेरु पर्वत का होना संभव नहीं, वैसे ही सूक्ष्म परमाणु से जगत् का उत्पन्न होना असम्भव है।

हे राम ! सूक्ष्म परमाणु का कार्य भी जगत् तब कहा जाय, जब सूक्ष्म अणु भी आत्मा में पाया जाय। आत्मा तो अद्वैत है और उसमें द्वैत-अद्वैत या एक और दो कहने का अभाव है। आत्मा में जानना भी नहीं—केवल आत्मतत्त्वमात्र है। वह आधार-आधेय से रहित है। बीज भी तब परिणाम को प्राप्त होता है, जब उसको जल देते हैं और रक्षा करने का स्थान होता है। पर आत्मा आधार-आधेय से रहित केवल अपने भाव में स्थित और अद्वैत सत्तामात्र है। जैसे वन्ध्या के पुत्र का कारण कोई नहीं, वैसे ही जगत् का कारण कोई नहीं है। जब वन्ध्या का पुत्र ही नहीं तो उसका कारण कौन हो ? वैसे ही जगत् जब है ही नहीं तो ब्रह्म इसका कारण कैसे हो ? जिसको तुम दृश्य कहते हो वह द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है। हे राम ! जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होकर स्थित है, वैसे ही ब्रह्म ही जगत् आकार होकर दृष्टि में आता है। दृश्य भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं। जैसे समुद्र ही तरंग और आवर्तरूप होकर भासता है, वैसे ही अनन्तशक्ति होकर परमात्मसत्ता ही स्थित है। हे राम ! मैं और तुम आदि जगत् के पदार्थ सब स्फुरण मात्र हैं। जैसे संकल्पनगर होता है, जो मन से रचा है, वैसे ही यह जगत् आत्मा में कुछ बना नहीं, केवल ब्रह्म अपने आपमें स्थित है, हमको तो सदा वही भासता है। हे राम ! आत्मा में यह जगत् न उदय होता है और न अस्त, सदा ज्यों का त्यों निर्मल शान्तपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्वैतैकताप्रतिपादनंनाम शताधिकचतुःसप्ततितमस्सर्गः ।। १७४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जगत् का भाव-अभाव, जड़-चैतन्य, स्थावर जंगम, सूक्ष्म-स्थूल, शुभ-अशुभ कुछ हुआ नहीं तो मैं तुमसे क्या कहूँ कि यह कार्य है और इसका यह कारण है ? यह हुआ ही नहीं तो फिर कारण-कार्य कैसे हो ? जो सब देश, सब काल और सब वस्तु हो वह कारण-कार्य कैसे हो ? आत्मा केवल अपने आपमें स्थित है और जो है और नहीं की नाईं स्थित हुआ है, उसमें संवेदन है और उसके फुरने से जगत् भासता है। वह फुरना चैतन्यमात्र का विवर्त है और उस विवर्त से जगत्भ्रम हुआ है। जब यही फुरना उलटकर अपनी ओर आता है, तब जगत् भ्रम मिट जाता है और जब फुरता है तब ध्यान, ध्याता और ध्येयरूप होकर स्थित होता है। इसी का नाम जगत् है, और इसी में बन्धन और मुक्ति है। आत्मा में न बन्धन और न मोक्ष है। हे राम ! जब तरंग घन होकर बहता है, तब एक नदी होकर चलता है, वैसे ही जब वासना दृढ़ होती है, तब जगत्रूप होकर स्थित होता और भासित होता है। जब ऐसी वासना दृढ़ हुई, तब रागद्वेष संकल्प से बन्धनवान् होता है और जब वासना क्षय होती है तब जगत् का अभाव होकर स्वच्छ आत्मा दिखता है। जैसे शरत्काल का आकाश स्वच्छ होता है-उससे भी निर्मल दिखता है। हे राम ! जीव जो निकल जाता है सो मरता नहीं। मुआ तब कहा जाय, जब अत्यन्त अभाव को प्राप्त हो और न जाना जाय। इससे यह मरना नहीं, क्योंकि फिर जगत् भासता है। यह मरना सुषुप्ति की नाईं हुआ-जैसे सुषुप्ति से जागने पर जगत् भासता है और वही चेष्टा करने लगता है और जैसे स्वप्न और जाग्रत् होता है, वैसे ही मृत्यु और जन्म भी है।

यदि मरने का शोक उपजे तो जीने का सुख भी मानिये और जो जीने का हर्ष उपजे तो उसमें मरने का शोक मानिये-दोनों अवस्था शरीर की सम रची हैं। जब यह अवस्था शरीर की जानोगे तब तुम्हारा हृदय शीतल हो जायगा। जब संवेदन फुरने का अत्यन्त अभाव हो, तब परम शान्ति होती है। ध्यान, ध्याता और ध्येय तीनों का अभाव हो जाता है और अज्ञान भी नहीं रहता। जब ऐसा अभाव होता है, तब पीछे स्वच्छ निर्मल

पद रहता है। हे राम ! अब भी निर्मलपद है, परन्तु भ्रम से पदार्थसत्ता भासती है। जैसे निद्रा-दोष से केवल अनुभव में पदार्थसत्ता होकर भासती है और जागे से कहता है कि केवल भ्रममात्र ही था, वैसे ही इस जगत् को भ्रममात्र जानो परमार्थ स्वरूप के प्रमाद से यह जगत् दिखता है और स्वरूप में जागने से इसका अभाव हो जाता है। हे राम ! जैसे स्वप्न में जीव अनहोता ही राज्य देखता है, वैसे ही तुम इस जगत् को जानो। इसका फुरना ही इसके बन्धन का कारण है। जैसे कुसवारी कीड़ा आप ही स्थान बनाकर आप ही फँस मरता है और जैसे मद्यपान करनेवाला मद्यपान करके और का और बकता है और उससे बँधता है, वैसे ही जीव अपने संकल्प ही से बँधता है और जब संकल्प मिटता है, तब परमानन्द को प्राप्त होकर परम स्वच्छ शान्ति उदय होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमशान्तिनिर्वाणवर्णनं नाम शताधिकपञ्चसप्ततितमस्सर्गः ।। १७५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जहाँ आकाश होता है, वहाँ शून्यता भी होती है। जहाँ अवकाश होता है, वहाँ आकाश भी होता है और जहाँ आकाश है, वहाँ पदार्थ भी होते हैं। वैसे ही जहाँ चैतन्यसत्ता है, वहाँ सृष्टि भी भासती है। पर बनी कुछ नहीं, और सदा रहती है। जैसे सूर्य की किरणों में जल कदापि नहीं उत्पन्न हुआ और जलाभास सदा रहता है, क्योंकि उसी का विवर्त है, वैसे ही सृष्टि आत्मा का विवर्त है—जहाँ चैतन्यसत्ता है, वहाँ सृष्टि भी है। इसी पर मैं एक इतिहास तुमसे कहता हूँ, जिसके सुनने और समझने से जरा-मृत्यु से रहित होगा। वह इतिहास परमसुन्दर और चित्त को मोहनेवाला आश्चर्यरूप है और मेरा देखा हुआ है। हे राम ! एक काल में मेरा चित्त जगत् से उपरत हुआ तो मैंने विचार किया कि किसी एकान्त स्थान में जाकर समाधान करूँ; क्योंकि जगत् मोहरूप व्यवहार से दृढ़ हुआ है। जितना कुछ जानने योग्य है, उसको मैं जानता हूँ, परन्तु व्यवहार करके भी शान्तरूप होऊँ। तब ऐसा मैंने विचार किया कि निर्विकल्प समाधि करके परमशान्ति पाऊँ, और जो आदि, अन्त

और मध्य से रहित परमानन्दस्वरूप अविनाशी पद है, उसमें विश्राम करूँ। हे राम ! तब भी मैं ज्ञानवृत्तिमान् और परमात्मस्वरूप ही था, परन्तु चित्त की वृत्ति जब जगत्भाव से उपरत हुई तो व्यवहार से भी एकान्त समाधि की इच्छा की कि जहाँ कोई क्षोभ न हो, वहाँ स्थित होऊँ। यों विचार कर मैं आकाश में उड़ा और एक देवता के पर्वत पर जा बैठा तो वहाँ बहुत प्रकार के इन्द्रियों के विषय देखे। अंगना गान करती हैं, सिर पर चमर होते हैं, और मन्द-मन्द पवन चलता है। पर वह भी मुझको आपातरमणीय अस्थिर लगे, क्योंकि वे किसी काल में किसी को सुखदायक नहीं—समाधिवाले के ये शत्रु हैं। उनको नीरस जानकर मैं फिर उड़ा और एक पर्वत की कन्दरा में, जो बहुत सुन्दर थी और जहाँ एक सुन्दर वन था, उसमें सुन्दर पवन चलता था, पहुँचा। ऐसे स्थान को मैंने देखा तो वह भी मुझको शत्रुवत् लगा, क्योंकि पक्षियों के शब्द होते थे और पवन का स्पर्श होता था व और भी अनेक विघ्न थे। उनको देखकर मैं आगे चला तो नागों के देश और सुन्दर नागकन्या देखीं, इन्द्रियों के बहुत सुन्दर विषय भी देखे, पर वे भी मुझको सर्पवत् लगे। जैसे सर्प का स्पर्श करने से अनर्थ होता है, वैसे ही मुझको विषय लगे। हे राम ! जितने इन्द्रियों के विषय हैं, वे सब अनर्थ का कारण हैं। उनमें प्रीति मूढ़ और अज्ञानी करते हैं। फिर मैं समुद्र के किनारे गया और उसके पास जो पुष्प के स्थान थे, उनमें बिचरा और कन्दरा और वन को देखता हुआ पर्वत, पाताल और दसों दिशा देखता फिरा। परन्तु मुझको कोई एकान्त स्थान पसन्द न आया। तब मैं फिर आकाश को उड़ा और पवन, मेघों, देवगणों, विद्याधरों और सिद्धों के स्थान लाँघता गया। आगे देखा कि कई ब्रह्माण्ड भूतों के उड़ते थे। उनमें मैंने अपूर्वभूत और नाना प्रकार के स्थान देखे।

फिर गरुड़ के स्थान लाँघे तो कहीं सूर्य का प्रकाश होता था और कहीं सूर्य का प्रकाश ही न था। फिर मैं चन्द्रमा के मण्डल को लाँघ गया और अग्नि के स्थान लाँघकर महाआकाश में गया, जहाँ इन्द्रियों को रोकना भी न था, क्योंकि इन्द्रियों के विषय कोई दृष्टि में न आते थे।

केवल एक आकाश ही आकाश दिखता था और वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी चारों का अभाव था। हे राम ! निदान मैं उस स्थान में गया, जहाँ भूत स्वप्न में भी न दिखते थे और सिद्धों की भी गति न थी। वहाँ मैंने संकल्प की एक कुटी रची और उसके साथ फूल और पत्तों से पूर्ण कल्पवृक्ष रचे और उसके एक ओर मैंने छिद्र रक्खा। मेरा तो सूक्ष्म संकल्प था, इसलिए सब प्रत्यक्ष प्रकट हुआ। उस कुटी को रचकर उसमें मैंने प्रवेश किया और संकल्प किया कि एक वर्ष पर्यन्त मैं समाधि में रहूँगा और उसके उपरान्त समाधि से उतरूँगा। ऐसे विचारकर मैंने पद्मासन बाँधा और समाधि में स्थित होकर परमशान्ति में एक वर्ष पर्यन्त स्थित हुआ, जहाँ कोई क्षोभ न था। जब वर्ष व्यतीत हुआ, तब वह भावी समाधि के उतरने की थी इसलिए वह संकल्प हुआ। जैसे पृथ्वी में बोया हुआ बीज काल पाकर अंकुर उगता है, वैसे ही वह संकल्प मन में उगा। प्रथम जैसे सूखा वृक्ष वसन्तऋतु में हरा हो आता है, वैसे ही प्राण फुरे। फिर जैसे वसन्तऋतु में फूल खिलते हैं, वैसे ही ज्ञान-इन्द्रियाँ खिलकर विकसित हुईं और फिर स्पन्दन जो अहंकाररूपी पिशाच है, वह फुरा कि मैं वशिष्ठ हूँ। फिर उसकी इच्छारूपी स्त्री फुरी। हे राम ! वह वर्ष मुझको ऐसे व्यतीत हुआ, जैसे पलक का खोलना होता है। काल भी बहुत प्रकार से व्यतीत होता है। किसी को थोड़ा ही बहुत हो जाता है और किसी को बहुत थोड़ा हो जाता है। जब सुख होता है, तब बहुत काल भी थोड़ा लगता है और जब दुःख होता है, तब थोड़ा काल भी बहुत हो जाता है। हे राम ! इस समाधि का जो मैंने वर्णन किया, यह शक्ति सब जीवों में है, परन्तु सिद्ध नहीं होती, क्योंकि नानाप्रकार की वासना से अन्तःकरण मलिन रहता है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो, तब जैसे संकल्प करे वैसा ही सिद्ध होता है। पर मलिन अन्तःकरणवाले का संकल्प सिद्ध नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे आकाशकुटीवशिष्ठसमाधि वर्णनं नाम षट्शताधिकसप्ततितमस्सर्गः ।। १७६ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन्‌ ! तुम तो निर्वाणस्वरूप हो, तुमको अहंकाररूपी पिशाच कैसे हुआ—यह मेरा संशय दूर कीजिये ! वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी जब तक शरीर का सम्बन्ध है, तब तक अहंकार दूर नहीं होता। जैसे जहाँ आधार होता है, वहाँ आधेय भी होता है और जहाँ आधेय होता है वहाँ आधार भी होता है, वैसे ही जहाँ देह होती है, वहाँ अहंकार भी होता है, और जहाँ अहंकार होता है, वहाँ देह भी होती है। हे राम ! अहंकार बिना शरीर नहीं रहता, पर उस अहंकार को अज्ञानरूपी बालक ने कल्पना की है। पर ज्ञानी का अहंकार नष्ट हो जाता है। हे राम ! यह अहंकार अविद्या ने उपजाया है। जो वास्तव में मिथ्या हो और भासित हो, वह अविद्या है। और जब अविद्या ही मिथ्या है, तो उसका कार्य अहंकार कैसे सत्‌ हो ? यह केवल मिथ्या भ्रम से उदय हुआ है। जैसे भ्रम से वृक्ष में वैताल भासता है, वैसे ही भ्रम से अहंकाररूपी वैताल उदय हुआ है और इसका कारण अविचार सिद्ध है। विचार करने से इसका अभाव हो जाता है। जहाँ विचार होता है। वहाँ अविद्या नहीं रहती। जैसे जहाँ दीपक होता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता, क्योंकि दीपक के जलाने से अन्धकार का अभाव हो जाता है, वैसे ही विचार के उदय होने पर अविद्या का अभाव हो जाता है। जो वस्तु विचार करने से न रहे, उसे मिथ्या जानिये और जो आप ही मिथ्या है तो उसका कार्य कैसे सत्य हो ? इससे अहंकार को मिथ्या जानो।

हे राम ! जैसे आकाश के वृक्ष का कारण कोई नहीं, वैसे ही अहंकार का कारण कोई नहीं। मन सहित जो छः इन्द्रियाँ हैं, शुद्ध आत्मा उनका विषय नहीं, क्योंकि वे साकार और दृश्य हैं। साकार का कारण निराकार आत्मा कैसे हो ? जो आकार हैं वे सब मिथ्या हैं जो बीज होता है, उससे अंकुर उत्पन्न होता है, तब जाना जाता है कि बीज से अंकुर उत्पन्न है; परन्तु बीज ही न हो तो उसका कार्य अंकुर कैसे उत्पन्न हो? वैसे जगत्‌ का कारण संवेदन ही न हो तो जगत्‌ कैसे हो । जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा हो तो उसका कारण भी मानिये और जब दूसरा चन्द्रमा

ही नहीं तो उसका कारण कैसे मानिये ?

हे राम ! ब्रह्म आकाश, अद्वैत, शुद्ध, फुरने से रहित, अच्युत और अविनाशी है, वह कारण कार्य कैसे हो ? हे राम ! पृथ्वी आदिक तत्त्व अविद्यमान हैं, पर भ्रम से भासते हैं। केवल शुद्ध आत्मा अपने रूप में स्थित है। जो तुम कहो कि अविद्यमान हैं तो भासते क्यों हैं, तो उसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न में अनहोती सृष्टि भासती है, वैसे ही यह जगत् भी अनहोता भासता है। जैसे भ्रम से आकाश में वृक्ष अनहोते भासते हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं और संकल्पनगर रच लीजे तो चेष्टा भी होती है। परन्तु इसका स्वरूप संकल्पमात्र है, वास्तव में अर्थाकार कुछ नहीं होता और अपने काल में सत्य भासता है, पर जब संकल्प का लय होता है तब उसका भी अभाव हो जाता है—इससे आकाश वृक्ष की नाईं हुआ है। जैसे आकाश के वृक्ष भावना से भासते हैं, वैसे ही यह जगत् संकल्पमात्र हैं स्वरूप से कुछ नहीं है, जो विचार करके देखिये तो इसका अभाव हो जाता है। हे राम ! शुद्ध आत्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है, वही जगत् का आकार हो दिखता है—दूसरी वस्तु कुछ नहीं । जैसे स्वप्न में जितने पदार्थ दिखते हैं, वे सब अनुभवरूप हैं, वैसे ही जगत् भी ब्रह्मरूप है। हे राम ! हमको सदा वही भासता है तो अहंकार कहाँ हो ? न मैं अहंकार हूँ और न मेरा अहंकार है । केवल आकाश में अहंकार कहाँ हो? हे राम ! न मैं हूँ और न मुझ में कुछ फुरना है, अथवा सब आत्मसत्ता मैं ही हूँ तो भी अहंकार न हुआ। हे राम ! हमारा अहंकार ऐसा है, जैसे अग्नि की मूर्ति लिखी होती तो उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता दृश्यमात्र होती है, वैसे ही ज्ञानी का अहंकार देखने भर को है। उसे कर्तृत्व या भोक्तृत्व नहीं होता और वे अपने स्वभाव में स्थित हैं। सब ज्ञानवानों का एक ही निश्चय है कि ब्रह्म ही है और अहंकार का अभाव है। अहंकार न आगे था, न अब हैं और न फिर होगा—भ्रम से अहंकार शब्द जाना जाता है।

हे राम ! जब ऐसे जानोगे, तब अहंकार नष्ट हो जायगा । जैसे

शरत्काल में मेघ देखने भर को वर्षा से रहित होता है, वैसे ही ज्ञानी का अहंकार देखने भर को होता है। और की बुद्धि में भासता है, परन्तु ज्ञानी के निश्चय में असंभव है, क्योंकि उसका अहंप्रत्यय आत्मा में रहता है और परिच्छिन्न अहंकार का अभाव हो जाता है जब अहंकार नष्ट होता है, तब अविद्या का भी नाश हो जाता है और यही अज्ञान का नाश है—ये तीनों पर्याय हैं। हे राम ! अपने स्वभाव में स्थित रहो और प्रकृत आचार करो; हृदय से शिलाकोषवत् हो रहो और बाहर इन्द्रियों की सब क्रियाएँ हों, अपने निश्चय को गुप्त रक्खो और सब इन्द्रियों को इस प्रकार धारण कर, जैसे आकाश सबको धारण कर रहा है; अन्तर से शिला के जठरवत् रहो। तब देखने भर को तुम में भी अहंकार दृष्ट होगा। जैसे अग्नि की मूर्ति लिखी दृष्टि में आती है, वैसे ही तुम में अहंकार दृष्ट होगा, परन्तु अर्थाकार न होगा। केवल ब्रह्मसत्ता ही भासेगी, और कुछ न भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विदितवेदाहंकारवर्णनं नामशताधिकसप्तसप्ततितमस्सर्गः ।। १७७ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! बड़ा आश्चर्य है कि तुमने अहंकार के त्याग से परम सत्य की प्राप्ति का उपदेश किया है। यह परम दशा है और राग-द्वेष मल से रहित, निर्मल, उत्तम, अविनाशी और आदि-अन्त से रहित है। यह दशा तुमने परमविभुता के लिए कही है। हे भगवन् ! सर्वदा, सब प्रकार सब वस्तुएँ वही ब्रह्मसत्ता है और समरूपसत्ता के अनुभव से परम निर्मल है तो शिलाख्यान किस निमित्त कहा है सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वह तो सबमें, सर्वदा और सबसे रहित है, पर उसके बोध के लिए मैंने तुम से शिलाख्यान का दृष्टान्त कहा है। हे राम ! ऐसा स्थान कोई नहीं, जहाँ सृष्टि न हो। सब स्थानों में सृष्टि है, पर आदि से कुछ नहीं बना और सर्वदा सृष्टि बसती है—शिला के कोष में भी अनेक सृष्टि हैं। जैसे आकाश में शून्यता है, वैसे ही शिलाकोष में भी सृष्टि हैं। श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् ! जो सबमें सृष्टि बसती है तो आकाशरूप क्यों न

हुई? वशिष्ठजी बोले , हे राम ! यही मैं भी तुमसे कहता हूँ कि जो कुछ सृष्टि है वह सब आकाशरूप है। स्वरूप में सृष्टि उपजी ही नहीं, सर्वदा आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। और आकाश की बात क्या कहनी है। शिलाकोष में सृष्टि बसती है और आकाशरूप है, अर्थात् कुछ हुई नहीं। हे राम ! पृथ्वी में ऐसा अणु कोई नहीं, जिसमें सृष्टि न हो। अणु-अणु में सृष्टि है और सब ओर से बसती है, परन्तु परमार्थ से कुछ नहीं बना, केवल आत्मरूप है और सब सृष्टि शब्दमात्र है। जैसे यह सृष्टि भासती है, वैसे ही वह भी है। जो यह शब्दमात्र है तो वह भी शब्दमात्र है और जो यह सत्य भासती है तो वह भी सत्य भासती है।

हे रामजी ! ऐसा कोई जल का कण नहीं, जिसमें सृष्टि न हो । सभी में सृष्टि है और यह आश्चर्य देखो कि इसके बिना कुछ नहीं। ऐसा कोई अग्नि और वायु का कण नहीं, जिसमें सृष्टि न हो । सबमें सृष्टि है और वह आकाशरूप है, कुछ बना नहीं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें सदा ज्यों की त्यों स्थित है। हे राम ! आकाश में ऐसा कोई अणु नहीं, जिसमें सृष्टि न हो, परन्तु कुछ उपजी नहीं। ऐसा ब्रह्म अणु कोई नहीं, जहाँ सृष्टि न हो, परन्तु स्वरूप से कुछ हुई नहीं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें सदा स्थित है। हे राम ! ऐसा अणु कोई नहीं, जिसमें ब्रह्मसत्ता नहीं और ऐसा कोई चित्अणु नहीं, जिसमें सृष्टि नहीं । पर जैसे किसी ने अग्नि कही और किसी ने उष्णता कही तो उसमें भेद कोई नहीं, वैसे ही कोई ब्रह्म कहते हैं और कोई जगत् कहते हैं। शब्द दो हैं, परन्तु वस्तु एक ही है। जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है, कुछ भेद नहीं । जैसे बहते जल का शब्द होता है, पर उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता, वैसे ही जगत् मुझको कुछ पदार्थ नहीं भासित होता है, क्योंकि दूसरी कोई वस्तु बनी नहीं। मैं, तुम और यह जगत्, सुमेरु आदि पर्वत, देवता, किन्नर, दैत्य, नाग इत्यादि सब जगत् निर्वाणस्वरूप हैं—आत्मतत्त्व में कुछ नहीं बना। ये बोलते-चालते जो जीव भासते हैं, उसे स्वप्न की नाईं जानो। जैसे कोई पुरुष सोया हो और स्वप्न में उसे नाना प्रकार के युद्ध होते या यन्त्र बजते और चेष्टा

होती दिखाई दें, पर जो उसके निकट जाग्रत् पुरुष बैठा हो, उसको कुछ नहीं भासित होता, क्योंकि बना कुछ नहीं और उसको सब कुछ भासता है, वैसे ही ज्ञानी के हृदय में जगत् शून्य है और अज्ञानी को भ्रम से नाना प्रकार का दिखता है। इससे हे राम ! इस जगत् को स्वप्नवत् जानकर प्रकृत आचार करो और हृदय से शिला की नाईं हो कि कुछ न फुरे। ब्रह्म और जगत् में रञ्च भी भेद नहीं। ब्रह्म ही जगत् और जगत् ही ब्रह्म है। जगत् का स्पष्ट अर्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादनं
नाम शताधिकाष्टसप्ततितमस्सर्गः ।। १७८ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने आकाशकोष में कुटी बनाकर एक वर्ष की समाधि लगाई तो उसके अनन्तर जो वृत्तान्त हुआ सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब मैं समाधि से जगा, तब आकाश में एक परम मनोहर वीणा की तान के सदृश अंगना का शब्द सुना। तब मैंने विचार किया कि मैं तो बहुत ऊँचे पर आया हूँ , जहाँ सिद्धों की भी गति नहीं और सिद्धों से भी तीन लाख योजन ऊँचा आया हूँ। यह शब्द कहाँ से आया ? ऐसे विचारकर मैं देखने लगा तो दशों दिशाओं में आकाश ही दीखा, परन्तु सृष्टि का कर्ता कोई न देख पड़े। तब मैंने विचार किया कि सृष्टि आकाश में होती है, इससे मैं आकाश ही हो जाऊँ और इस शब्द को जान पाऊँ कि किसका शब्द है। बल्कि आकाश को भी त्यागकर चिदाकाश हो जाऊँ, जहाँ भूताकाश भी कुटी सा भासता है, तब इसका भी अन्त भासेगा और जान लूँगा कि यह किसका शब्द होता है। ऐसे विचारकर मैंने निश्चय किया कि यह शरीर यहाँ रहे और नेत्र मूँदे रहें। तब पद्मासन लगाकर मैंने बाहर की इन्द्रियों को रोका और जो इन्द्रियों की वृत्ति शब्द आदि को ग्रहण करती थी, उसको भी रोक लिया। निदान भीतर-बाहर की सब वृत्तियों के साथ अहंवृत्ति त्यागकर मैं आकाशरूप हो गया। जैसे इस ब्रह्माण्ड में आकाश का अन्त नहीं मिलता, वैसे ही मैं इसको त्यागकर चिदाकाशरूप हो गया, जिसका संकल्प ही रूप है। उसको

भी त्यागकर मैं बुद्धि-आकाश में आया। फिर उसको भी त्यागकर चिदाकाश में आया और उस शब्द को सुनने के संकल्प से चिदाकाशरूप हो गया। जैसे समुद्र में मिली जल की बूँद समुद्ररूप हो जाती है, वैसे ही मैं चिदाकाश हो गया, जो निराकार और निराधार है; सबको धारण कर रहा है और परमानन्दस्वरूप, शान्त और अनन्त है और जिसमें सब ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित होते है। जब मैं आत्मा के आदर्श में स्थित हुआ, तब मुझको अनन्त सृष्टियाँ अपने आपमें भासित होने लगीं।

जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु होते हैं, वैसे ही ब्रह्म में सृष्टियाँ हैं। परन्तु जीव जीव की अपनी-अपनी सृष्टि है। एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता । जैसे कई एक मनुष्य सोये हों और अपनी-अपनी स्वप्नसृष्टि को देखें तो उसमें अपना आकाश और काल देखते हैं, एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता, परन्तु ज्ञानी सब सृष्टियाँ अपने में देखता है, वैसे ही मुझको सब सृष्टियाँ चिदाकाश में भासित हुईं। पर जीवों को अपनी-अपनी सृष्टि भासती थी। हे राम ! एक सृष्टि ऐसी भासी कि उसमें कोई आवरण न था, जैसे पृथ्वी के चौफेर समुद्र होते हैं—कहीं-कहीं एक ही भूत का आवरण था। कहीं ऐसी सृष्टि दृष्टि में आई जिस पर पाँचों तत्त्वों का आवरण था। प्रथम पृथ्वी का दूसरा जल का, तीसरा अग्नि का, चतुर्थ वायु का और पञ्चम आकाश का । कहीं ऐसी सृष्टियाँ देखीं, जिन पर चार ही तत्त्वों का आवरण था। कहीं ऐसी सृष्टि देखीं जिन पर षट् आवरण थे। कहीं दस आवरण नजर आये, कहीं ऐसी सृष्टि दृष्टिगत हुई जिस पर षोडश आवरण थे और कहीं ऐसी देख पड़ी जिन पर चौंतीस आवरण थे। कहीं तत्त्वों के छत्तीस आवरण संयुक्त सृष्टियाँ भी देखीं। हे राम ! इस प्रकार मैंने चिदाकाश में अन्नत सृष्टियाँ देखी, परन्तु सब आकाशरूप थीं; आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु न थी । मन के फुरने से मुझको सृष्टि देख पड़ी, क्योंकि सब संकल्पमात्र ही थी—कुछ बना नहीं। जैसे दीवार पर चित्र लिखे हों, वैसे ही आत्मारूपी दीवार पर चित्ररूप सृष्टि दीखी कि अपने-अपने व्यवहार में सब मग्न हैं।

हे राम ! ऐसी अनन्त सृष्टियाँ देखीं, पर एक की सृष्टि को दूसरा न जानता था; सब अपनी-अपनी सृष्टि को जानते थे। जैसे अनेक मनुष्य एक ही काल में शयन करते हैं और अपनी-अपनी स्वप्न सृष्टि देखते हैं, तो भी दूसरी सृष्टि को वे नहीं जानते । हे राम ! कुछ ऐसी सृष्टियाँ देखीं, जहाँ न सूर्य का प्रकाश था न चन्द्रमा का। न अग्नि का प्रकाश था। पर उनकी चेष्टा होती थी । कहीं ऐसी सृष्टि देखी, जहाँ सूर्य और चन्द्रमा हैं और कहीं ऐसी देखी कि उसको काल का ज्ञान भी नहीं और न वहाँ कोई दिन है, न रात्रि है, सदा एक समान रहती हैं। कहीं महाशून्यरूप तम ही दिखा, कहीं ऐसा दिखा कि देवता ही रहते हैं। कहीं मनुष्य ही रहते हैं। कहीं तिर्यक् पशु-पक्षी कीट-पतंग ही रहते हैं। कहीं दैत्य ही देखे। कहीं जल ही देखा, और कोई तत्त्व न देख पड़ा। कहीं ऐसी सृष्टि नजर आई, जहाँ शास्त्र का विचार ही नहीं। कहीं शास्त्र-पुराण विपर्ययरूप थे और कहीं समान थे । कहीं प्रलय होता देखा, और कहीं उत्पत्ति होती देखी। हे राम ! इसी प्रकार अनन्त सृष्टियाँ मैंने देखीं, परन्तु जब स्वरूप की ओर देखता, तब केवल ब्रह्मरूप ही दिखता और कुछ बना न दिखता। और जब संकल्प करके देखता, तब अन्नत सृष्टि दिखती। कहीं ऐसी सृष्टि दिखती, जहाँ बालक, वृद्ध, यौवन अवस्था की मर्यादा ही नहीं-जैसे जन्मे वैसे ही रहे-कहीं ऐसी सृष्टि है कि चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश नहीं, अग्नि के प्रकाश से उनकी चेष्टा होती है। कहीं ऐसा दिखा कि ऊपर को चले जावें; कहीं नीचे को चले जावें। कहीं ऐसे प्राणी देखे; जो शास्त्र की मर्यादा से चेष्टा करते हैं। कहीं कृमि ही बसते हैं, और कोई नहीं। हे राम! चैतन्यरूपी वन में मैंने अनन्त सृष्टिरूपी वृक्ष देखे, परन्तु दूसरा कुछ बना न देख पड़ा, सब चैतन्य का आभास ही नजर आया। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है और बना कुछ नहीं, वैसे ही सृष्टि बनी कुछ नहीं। जैसे आकाश में नीलापन और दूसरा चन्द्रमा भासता है, वैसे ही अनहोती सृष्टि दिखती है। जैसे मरुस्थल में जल और गन्धर्वनगर की सृष्टि दिखती है, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टि भासित होती है।

हे राम ! ब्रह्मरूपी आकाश में चित्तरूपी गन्धर्व ने सृष्टि रची है, पर स्वरूप से भिन्न कुछ उपजा नहीं-सब अकारण है। जो समवायकारण बिना सृष्टि भासित हो, उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे स्वप्न की सृष्टि बिना कारण होती है और अर्थाकार भासती है तो भी अजात जात है अर्थात् उपजे बिना उपजी भासित है, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टि आभास मात्र है। हे राम ! आभास में भी अधिष्ठानसत्ता होती है, जिसके आश्रय से अभास फुरता है। सच्चिदानन्द ब्रह्म सबका अधिष्ठान है। सब आत्मता से ही स्थित हैं-ब्रह्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। चेतना से ही नानात्व भासता है, परन्तु नानात्व हुआ कुछ नहीं; आत्मा ही सर्वदा अपने आपमें स्थित है। जैसे क्षीरसमुद्र में वायु से नाना प्रकार के तरंग उठते दिखते, तो भी क्षीर से भिन्न नहीं-ऐसा क्षीरसमुद्र का तरंग कोई नहीं, जिसमें घृत न हो, वैसे ही जो कुछ पदार्थ हैं, उन सबमें ब्रह्मसत्ता प्रविष्ट है। जैसे दूध को मथने से घृत निकलता है, वैसे ही विचार करने से जगत् ब्रह्मस्वरूप भासता है-कुछ भिन्न नहीं दिखता, क्योंकि कारण द्वारा कुछ नहीं उपजा, परमार्थ से केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। स्फुरणरूपी भ्रम से कुछ हुआ दृष्टिगत होता है और जब स्फुरणरूपी भ्रम निवृत्त होता है, तब ब्रह्म ही दिखता है; इससे अविद्यारूप स्फुरण को त्यागकर अपने निर्विकल्प स्वरूप में स्थित होओ। तब जगत् भ्रम निवृत्त हो जायगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगज्जालसमूहवर्णन्नाम
शताधिकनवसप्ततितमस्सर्गः ।। १७९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार मैंने सृष्टि देखी, तब फिर विचार हुआ कि वह शब्द करने वाला कौन था, उसको देखूँ। तब मैं देखने लगा तो देखते-देखते तीतरी का सा शब्द सुना। परन्तु उसको न देखा। तब फिर देखा तो शब्द का अर्थ भासित होने लगा। फिर देखा तो एक स्त्री देख पड़ी, जिसका शरीर सुवर्णसदृश था; बहुत सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी और सब अंग भूषणों से भूषित थे; मानो लक्ष्मी या भवानी थी। जब मैंने उसको देखा, तब वह मेरे निकट आई और कहने लगी—हे

मुनीश्वर! और संसार जो मैंने देखा है वह सामान्यधर्मा मुझको दिखा है, पर तुम उत्तमधर्मा और संसारसमुद्र के पार हुए दिखते हो। तुम संसारसमुद्र से पार हो। जो कोई तुम्हारी ओर आता है, उसके आश्रयस्वरूप हो और उसको भवसागर से निकाल भी लेते हो, पर और जीव संसारसमुद्र में बहे जाते हैं और तुम पार हुए हो; इससे तुमको नमस्कार है। हे राम ! जब इस प्रकार उस अंगना ने कहा, तब मैं आश्चर्य में हुआ कि इसने मुझे कभी देखा सुना भी नहीं, फिर क्योंकर जाना ? तब मैंने ऐसे विचार किया कि यह माया का कोई चरित्र है और सब ब्रह्माण्ड मुझको इसी से दिखे हैं। हे राम ! ऐसे विचारकर मैं फिर आकाश को उड़ा। तब और सृष्टि दिखने लगी। जैसे स्वप्न की सृष्टि, संकल्प की सृष्टि और गन्धर्वनगर की सृष्टि होती हैं, वैसे ही यह सृष्टि है—वास्तव में कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्नादिक की सृष्टि अनहोती भासती है, वैसे ही यह जगत् है—केवल बोधमात्र आत्मा अपने आपमें स्थित है। हे राम ! जब मैं बोध में स्थित होकर देखता, तब मुझको आत्मा ही दिखता; और जब संकल्प करके देखता, तब नाना प्रकार के जगत् भासित होते—कहीं नष्ट होते और कहीं नष्ट होकर उत्पन्न होते जैसे पीपल के पत्ते गिरते हैं और वैसे ही उपजते हैं, वैसे ही जगत् उपजते देखे। कहीं ऐसे दिखते कि नाश होकर और के और उत्पन्न हो रहे हैं, कहीं उत्पन्न होते ही दिखते और कहीं भिन्न-भिन्न सृष्टि और भिन्न-भिन्न शास्त्र देखे। कहीं सूर्य, चन्द्रमा तारों का चक्र ऐसे ही फिरता दिखा और कहीं और प्रकार देखा। कहीं नरक की सृष्टि और कहीं स्वर्ग के स्थान देखे। इसी प्रकार अनन्त सृष्टियाँ देखीं। अनन्त रुद्र देखे। अनन्त ब्रह्मा देखे। अनन्त विष्णु देखे। कहीं प्रलय के मेघ गर्जते थे। कहीं सुमेरु आदिक पर्वत उड़ते दिखते थे। कहीं ब्रह्माण्ड जलते और द्वादश सूर्य तपते थे और कहीं ऐसे स्थान नजर आते थे कि प्राणी जन्मते ही पुष्ट हो जाते। कहीं ऐसी सृष्टि दृष्टि गोचर हुई कि एक सृष्टि में मरा और दूसरी सृष्टि में आया और दूसरी सृष्टि में मरा उसी सृष्टि में आया। कहीं प्रलय होता देखा कहीं ज्यों की त्यों सृष्टि देखी। जैसे दो पुरुष एक

ही शय्या पर सोये हों और दोनों को स्वप्न आवे तो एक की सृष्टि में प्रलय होता है और दूसरे की ज्यों की त्यों रहती है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

हे राम ! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखीं, परन्तु उनमें सार ब्रह्मसत्ता ही थी और सब स्वप्नवत्‌ थे। जैसे केले के वृक्ष में सार कुछ नहीं निकलता, वैसे ही उस स्थान में सार कुछ न देखा। हे राम ! क्रिया—काल आदि सब विश्व ब्रह्मस्वरूप हैं। जैसे समुद्र में तरंग बुलबुले सब जलरूप हैं, वैसे ही सब जगत्‌ ब्रह्मस्वरूप है, भिन्न नहीं। जैसे क्षीरसमुद्र में तरंग क्षीर से भिन्न नहीं होते, वैसे ही तुम और मैं, सब जगत्‌ ब्रह्म ही है। जब मैं बोध की ओर देखता, तब सब ब्रह्म ही दिखता। और जब संकल्प की ओर देखता, तब नाना प्रकार का जगत्‌ दिखता। इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखीं। कहीं ऐसी सृष्टि देखी जो अधूरी ही थी। कहीं गुणों की सृष्टि देखी। कहीं ऐसी सृष्टि थी कि धर्म-अधर्म को जानती ही न थी। हे राम ! एक सौ पचास सृष्टियाँ त्रेतायुग की मैंने देखीं, जो भिन्न-भिन्न थीं और भिन्न ही भिन्न जगत्‌ भी थे। उनमें ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ भिन्न-भिन्न देखे, जिनको मेरे ही समान ज्ञान था और जिनकी मेरे ही समान मूर्ति थी। उनमें कोई-कोई मुझसे उत्तम भी थे और उन सबके आगे उपदेश लेने के निमित्त राम बैठे थे। त्रेतायुग में अनेक युग और अनेक द्वापर, त्रेता और सतयुग देखे, जो सब चैतन्य आकाश के आश्रय में थे। हे राम ! हुए बिना ही यह सब दिखी। जैसे मरुस्थल में जल, आकाश में अनहोती नीलता और रस्सी में सर्प भासित होता है, वैसे ही ब्रह्म से अनहोता जगत्‌ भासित होता है। हे राम ! मन के फुरने से जगत्‌ भासता है और उसके मिटने से सब ब्रह्म ही भासता है। हे राम ! जैसे सूर्य की किरणों में अनन्त त्रसरेणु दिखते हैं, वैसे ही अनन्त सृष्टियाँ देखीं, जो एक चैतन्य से अनेक चैतन्य दिखीं। जैसे वृक्ष से फल प्रकट होते हैं, वैसे ही संकल्परूपी वृक्ष में सृष्टिरूपी फल देख पड़े।

जैसे एक गूलर के फल में अनन्त मच्छर होते हैं, वैसे ही एक आत्मसत्ता के आश्रित अनन्त सृष्टियाँ संकल्प के फुरने से मुझको देख

पड़ीं। कहीं महाप्रलय के क्षोभ होते थे और समुद्र उछलते थे। उनके तरंग देवलोक को गिराते थे। कहीं श्याम रंग का चन्द्रमा उष्ण और सूर्य शीतल दीखता था। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि दिन को अँधेरा हो जाता और रात्रि को जीव उलूक आदि की नाईं चेष्टा करते थे। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि उनको रात्रि और दिन का कुछ ज्ञान न था। काल का ज्ञान नहीं, और धर्म-अधर्म का भी ज्ञान नहीं। मनमाने आचरण करते थे। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि पुण्य करने वाले नरक को जाते थे और पापी स्वर्ग को जाते थे। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि बालू से तेल निकलता था, विषपान से लोग अमर होते थे और अमृतपान से मर जाते थे। हे राम ! जैसे किसी का निश्चय होता है, वैसा ही आगे भासित होता है। यह जगत् संकल्पमात्र है। जैसी भावना होती है, वैसा ही आगे होकर भासता है। कहीं पत्थरों में कमल उपजते थे और कहीं वृक्षों में रत्न और हीरे नजर आते थे। आकाश में बड़े प्रकाश से युक्त वृक्षों के वन देख पड़े। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि बादल ही उनके वस्त्र हैं और वस्त्रों की नाईं बादलों को पहन लें। कहीं शीश पर भार लिये सब चेष्टा करते थे। निदान अन्धे, काने, बहरे इत्यादि लोगों की नाना प्रकार की सृष्टि देखी। हे राम ! जब मैं स्वरूप की ओर देखता, तब सब सृष्टि शून्यरूप दिखती और जब संकल्प की ओर देखता, तब नाना प्रकार का जगत् भासित हो। कहीं ऐसी ही सृष्टि दृष्टि आई कि लोग चन्द्रमा और सूर्य को जानते ही नहीं। कहीं एक पृथ्वी की सृष्टि पृथ्वी में; अग्नि की सृष्टि अग्नि में और जल की सृष्टि जल में देखी। कहीं पाँच भूतों की सृष्टि देखी-जैसे यह विद्यमान है। और कहीं कठपुतली की तरह सृष्टि चेष्टा करती देखी—जैसे यह विद्यमान है और भोजन करती है। कहीं-कहीं प्राणों बिना यन्त्र की पुतली सी चेष्टा करती देखी। हे राम ! जब ऐसी सृष्टियाँ देखीं तो मैं महाआकाश में अनन्त योजन पर्यन्त चला गया। परन्तु एक आकाश ही दृष्टिगोचर था, और कोई तत्त्व न दीखा। फिर ऐसी सृष्टि देखी कि वे खाना, पीना, आदि सब चेष्टा वैताल की नाईं करते थे, परन्तु देख न पड़ते थे। जैसे वैताल सब चेष्टा

करते हैं और दृष्टिगत नहीं होते, वैसे ही वे दृष्टि न आते थे। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि जहाँ मैं और तुम की कल्पना भी नहीं, केवल निश्चलभाव था, और कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि उनके मन ही नहीं था। कहीं अहंकार-सृष्टि देखी कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि वे सब में आत्मभावना करते हैं, कहीं सब अपना रूप ही जानें और भेद-भावना किसी में न करें। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि सब मोक्ष की लक्ष्मी से शोभित हैं। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि उपजकर नाश हो जाते हैं-जैसे नख और केश उपजते हैं-और कहीं ऐसे देखे कि चिरकाल पर्यन्त रहते हैं। हे राम ! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखी, जो अनहोती ही फुरती हैं और संकल्पमात्र हैं। जब संकल्प लय हो जाता है, तब जगत्‌भ्रम निवृत्त हो जाता है। चित्त के स्पन्दन में सब जगत्‌जाल देखे, पर मैं ऊपर गया, नीचे गया और दशों दिशाओं में गया, परन्तु सब चैतन्यरूपी समुद्र के बुलबुले थे, और कुछ न भासित हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगज्जालवर्णनं नाम
शताधिकाशीतितमस्सर्गः ।। १८० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! चिदाकाश ब्रह्म अपने आपमें स्थित है जैसे जल अपने जलभाव में स्थित है-और उसमें जो चैतन्योन्मुखत्व होता है, उसको मुनीश्वर चित्ताकाश कहते हैं। उस मन में संकल्प-विकल्प उठने से जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बन गये हैं; उनका नाम भूताकाश है। मन से उपजे हैं, इस कारण इनका नाम भूताकाश हैं ये संकल्पमात्र है। आत्मा से भिन्न नहीं। श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् ! यदि यह नियम है कि ब्रह्मा के दिन में प्राणी उत्पन्न होते हैं; रात्रि में उनका प्रलय हो जाता है और जब महाप्रलय होता है, तब कोई प्राणी नहीं रहता, सब ब्रह्मसत्ता में लीन हो जाते हैं और सब जीवन्मुक्त हो जाते हैं, केवल सूक्ष्म ब्रह्म ही शेष रहता है, तो उस सूक्ष्म ब्रह्म से फिर कैसे सृष्टि उत्पन्न होती है सो कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब महाप्रलय होता है, तब सब भूत नष्ट हो जाते हैं, और ब्रह्मसत्ता ही शेष रहती है। उसको तुम मानते हो;

क्योंकि तुमने भी कहा कि पीछे ब्रह्मसत्ता ही शेष रहती है। जब तुमने माना कि सबका कारण ब्रह्म ही शेष रहता है, तब सोचो, वह ब्रह्मसत्ता शुद्धस्वरूप और आकाश से भी सूक्ष्म है; वरन् आकाश के हजारहवें भाग से भी अतिसूक्ष्म है। हे राम ! ऐसे सूक्ष्म ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे कहूँ ? और जब उत्पत्ति ही नहीं तो उसका प्रलय कैसे हो ? यह जगत् जो दिखता है, वह ब्रह्म का हृदय है। अपनी स्वभावसत्ता का नाम हृदय है। जैसे स्वप्न में अपनी संवित् ही देश, काल, पर्वत आदिकरूप रखती है; वैसे ही यह जगत् संवित्रूप है और अपने स्वरूप के अज्ञान से हुए की नाईं दुःखदायक भासता है। जैसे अपनी परछाहीं में अज्ञान से भूत की कल्पना करके बालक भय पाता है, पर जब विचार से देखता है, तब भय निवृत्त हो जाता है, वैसे ही यह जगत् उपजा नहीं। हे राम! चैतन्य-संवित् ही जगत् के आकार से भासित होती है, और कुछ वस्तु नहीं। जब सब वही हुआ, तब आदिसर्ग और प्रलय, सब उसी के अंग हैं, भिन्न नहीं। 'अस्ति', 'नास्ति', 'उदय', 'अस्त' आदि सब शब्द आकाशरूप हैं और सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता है। सब शब्द ब्रह्म ही में होते हैं, और ब्रह्म सब शब्दों से रहित भी है। जो वह शब्दों से रहित हुआ तो जगत् की उत्पत्ति और प्रलय क्योंकर कहा जाय ? आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अदृश्य है, इन्द्रियों का विषय नहीं है। जगत् भी अविनाशी है; क्योंकि उपजा ही नहीं। हे राम ! जगत् भी आत्मा से भिन्न नहीं—आत्मरूप ही है और जब आत्मरूप है तो विकार कहाँ हो ? सब शब्द और अर्थ का अधिष्ठान आत्मसत्ता है। इससे जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जैसे अंगवाला सब अंग अपने ही जानता है, वैसे ही सब जगत् ब्रह्म के अंग हैं और वह सबको जानता है। वास्तव में आकाशवत् स्वच्छ, और देश, काल, वस्तु, सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार, केवल, अकेवल, नाशी, अविनाशी इत्यादिक सब शब्द और अर्थ उसी के नाम हैं। जैसे सब अवयव अवयवी पुरुष के हैं, जो उनको फैलावे तो भी अपना

स्वरूप हैं, जो समेटे तो भी अपने अवयव हैं, वैसे ही उत्पत्ति और प्रलय सब ब्रह्म ही के अवयव हैं; भिन्न नहीं। परन्तु भिन्न की नाईं जगत् हुआ भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल उत्पन्न नहीं हुआ, परन्तु हुए की नाईं लगता है और किरणें ही जल होकर दिखती हैं, वैसे ही आत्मा जगत् के आकार से भासता है। वह आत्मस्वरूप ही है।

हे राम ! शुद्ध, चिन्मात्र, ब्रह्मरूपी एक वृक्ष है, उसमें जो संवित् का फुरना हुआ है, वही उसकी दृढ़मूल है। चित्त शरीररूपी स्तम्भ है। लोकपाल डालें हैं। शाखा जगत् है। फल प्रकाश है, जिससे जगत् प्रकाशित होता है। अन्धकार श्यामता है। पोल आकाश है। फूलों के गुच्छे प्रलय हैं। गुच्छों को हिलानेवाले भौंरे विष्णु, रुद्रादिक हैं। जड़ता त्वचा है। इस प्रकार सब आत्मब्रह्म है। ब्रह्मत्वभाव से भी कुछ नहीं बना। सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है। हे राम ! जगत् का भाव, अभाव, उत्पत्ति, प्रलयादिक अनुभवरूप ब्रह्म स्थित है। उसमें कोई विकार नहीं। वह केवल, शुद्ध, निरञ्जन, निर्मल आत्म-आकाश है। जैसे चन्द्रमा के मण्डल में विष की बेल नहीं होती, वैसे ही आत्मा में कोई विकार नहीं होता, वह निर्मल आकाशरूप, आदि-अन्त-मध्य की कलना से रहित है। तब लोकपाल आदि का भ्रम कैसे हो ? ये सम्पूर्ण विकार आत्मा के अज्ञान से भासित होते हैं। जब तुम एकाग्रचित्त होकर देखोगे, तब जगत्भ्रम शान्त हो जायगा। यह जगत्भ्रम फुरने से भासित हुआ है। जब फुरना उलटकर आत्मा की ओर आवेगा, तब यह जगत्भ्रम मिट जायगा। जैसे पवन से अग्नि जागता है और पवन ही से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही चित्त के फुरने से जगत् भासता है और जब चित्त का फुरना अन्तर्मुख होता है, तब जगत्भ्रम मिट जाता है। हे राम ! जब ज्ञान से देखोगे, तब अज्ञानरूप फुरने का त्रैकालिक अभाव हो जायगा और आत्मा में बन्धनमुक्ति न भासित होगी-इसमें कुछ संशय नहीं। यह जगत्जाल आत्मा में नहीं उपजा,

अज्ञान से भासित होता है। जब विचार करके देखोगे, तब अष्टसिद्धि का ऐश्वर्य तृणवत् भासित होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बोधजगदेकताप्रतिपादनं नाम शताधिकैकाशीतितमस्सर्गः ।। १८१ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जगत्जाल तुमने चिद्रूप होकर एक स्थान में बैठकर देखा अथवा सृष्टि में जाकर देखा ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं अनन्त आत्मा, सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वव्यापी चिदाकाश हूँ। मुझमें आना जाना कैसे हो ? न एक स्थान में बैठकर देखा और न सृष्टि में जाकर देखा। हे राम ! मैं चिदाकाश हूँ; मैंने चिदाकाश में ही यह सब देखा। हे राम ! जैसे तुम अपने अंगों को शिखा से लेकर नखपर्यन्त देखते हो, वैसे ही मैंने ज्ञाननेत्र से अपने आप ही में जगत् देखा, जो निराकार, निरवयव, आकाशरूप निर्मल, सावयव और फुरने से देख पड़ा है, वास्तव में कुछ नहीं, केवल आकाशरूप है। जैसे स्वप्न में सृष्टि का अनुभव हो, परन्तु संवित्रूप है, बना कुछ नहीं, और जैसे वृक्ष के पत्ते, टास, फूल, फल सब वृक्ष के अंग होते हैं, वैसे ही ज्ञाननेत्र से मैंने जगत् को देखा। हे राम ! जैसे समुद्र अपने तरंग, फेन, बुलबुले और जल को अपने आप ही में देखता है, वैसे ही मैं अपने आपमें जगत् को देखता हूँ। अब भी मैं इस देह में स्थित हुआ पर्वत की सृष्टि को ज्ञान से देखता हूँ। जैसे कुटी के भीतर-बाहर आकाश एकरूप है, वैसे ही मुझको आगे और अब भी आकाशरूप जगत् अपने आपमें भासित होते हैं। जैसे जल अपने रस को जानता है, बरफ अपनी शीतलता को जानता है और पवन अपनी स्पन्दता को जानता है, वैसे ही मैंने ज्ञान से सृष्टि को अपने में देखा। जिस ज्ञानवान् पुरुष की शुद्धि बुद्धि में एकता हुई है, वह अपने को सर्वात्मा देखता है और जिसको आत्मस्थिति हुई है, वह अवेदन को भी अवेदन देखता है और कभी उपजा नहीं मानता। जैसे देवता अपने-अपने स्थान में बैठे हुए दिव्यनेत्रों से कोटि योजनपर्यन्त अपने को विद्यमान देखते हैं, वैसे ही जगतों को मैंने सर्वात्म होकर देखा। जैसे पृथ्वी में जो निधि,

औषधि और रससहित पदार्थ होते हैं, उन्हें पृथ्वी अपने में ही देखती है, वैसे ही मैंने जगत् को अपने में ही देखा।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह जो छन्द का पाठ करनेवाली कमलनयनी कान्ता थी, उसने फिर क्या किया ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! वह आकाश शरीर को धारण करके मेरे निकट आई और जैसे भवानी आकाश में आकर स्थित हों, वैसे ही आकर स्थित हुई। जैसे मैं आकाशशरीर था, वैसे ही उसको भी मैंने आकाश-शरीर देखा। प्रथम मैंने आकाश में इस कारण न देखा कि मेरा आधिभौतिक शरीर था। जब चित्पद होकर मैं स्थित हुआ, तब वह कान्ता देखी। मैं आकाशरूप हूँ और वह सुन्दरी भी आकाशरूप है और जगत्जाल जो देखे वे भी आकाशरूप हैं। श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम भी आकाशरूप थे और वह भी आकाशरूप थी, पर वचन-विलास तो तब होता है, जब शरीर होता है, उसमें बोलने का स्थान कण्ठ, तालु, नासिका, दन्त, होठ और हृदय में प्रेरनेवाले प्राण होते हैं और अक्षर का उच्चारण होता है। पर तुम दोनों तो निराकार थे; तुमने देखा और बोला किस प्रकार ? बोलना रूप, अवलोक और मनस्कार से होता है—रूप अर्थात् दृश्य, अवलोक अर्थात् इन्द्रियाँ और मनस्कार अर्थात् मन का फुरना—इन तीनों के बिना तुम कैसे बोले ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! स्वप्न में रूप, अवलोक और मनस्कार; शब्दपाठ और परस्पर वचन जो होते हैं, वे आकाशरूप होते हैं। वैसे ही हमारा देखना, बोलना और आपस में संवाद हुआ था। जैसे स्वप्न में रूप, अवलोक और मनस्कार आकाशरूप होते हैं और प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं, वैसे ही हमारा देखना और बोलना हुआ। यह प्रश्न तुम्हारा सही नहीं कि देखना और बोलना कैसे हुआ ? जैसे आकाश में सृष्टि देखी है, वैसे ही यह सृष्टि भी है, और जैसे उनके शरीर थे, वैसे ही इनके और हमारे शरीर हैं, जैसे यह जगत् है, वैसे ही वह जगत् है।

हे राम ! यह आश्चर्य है कि सत् वस्तु नहीं भासित होती और असत् वस्तु भासित होती है। जैसे स्वप्न में पृथ्वी पर्वत, समुद्र और

जगत्-व्यवहार वास्तविक नहीं, पर प्रत्यक्ष लगता है और सत् वस्तु अनुभवरूप नहीं भासती, वैसे ही हम, तुम, जगत्, सब आकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न में युद्ध होते दिखते हैं, शब्द होते हैं और आना जाना दिखता है, वह सब आकाशरूप है, हुआ कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् भी है। हे राम ! स्वप्न-सृष्टि मिथ्या है, कुछ बनी नहीं और जो कुछ है सो अनुभव रूप है—भिन्न कुछ नहीं। जो तुम पूछो कि स्वप्न क्या है और कैसे होता है, तो सुनो, आदि परमात्मतत्त्व में स्वप्न में किंचन हुआ है, सो वह विराट् आत्मा है। फिर उससे ये जीव हुए हैं, सो वे आकाशरूप हैं; क्योंकि विराट् आकशरूप है और ये सब भी आकाशरूप हैं। स्वप्न का दृष्टान्त भी मैंने बोध के निमित्त तुमसे कहा है, क्योंकि स्वप्न भी कुछ हुआ नहीं, केवल आत्मत्वमात्र है; ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। हे राम ! वह कान्ता जब मैंने देखी तो मैंने उससे पूछा, क्योंकि संकल्प मेरा और उसका एक था। जैसे स्वप्न में स्वप्न होता है, वैसे ही हमारा हुआ। हे राम ! जैसे स्वप्न की सृष्टि आकाशरूप होती है, वैसे ही हम, तुम और सब जगत् आकाश हैं, कुछ हुआ नहीं। स्वप्न-जगत् और जाग्रत्-जगत् एक रूप हैं, परन्तु जाग्रत् दीर्घकाल का स्वप्न है, इससे इसमें दृढ़ व्यवहार, उत्पत्ति और प्रलय होने लगते हैं। हे राम ! स्वप्न में भोग होते जान पड़ते हैं, सो भ्रान्तिमात्र है; निर्मल आकाशरूप आत्मा से भिन्न कुछ नहीं बना। दृश्य और द्रष्टा स्वप्न की नाईं अनहोते भी भासित होते हैं। हम, तुम आदि दृश्य को मनरूपी द्रष्टा जो सत्य मानता है सो दोनों अज्ञान से भ्रममात्र उदय हुए हैं। जो शुद्ध द्रष्टा है, वह दृश्य से रहित है। जैसे द्रष्टा आकाशरूप है, वैसे ही दृश्य भी आकाशरूप है और जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही जाग्रत् भी अनुभवरूप है।

हे राम ! चिदाकाश जो अनन्त आत्मा है, वह इस जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? जैसे स्वप्न की सृष्टि का कारण कोई नहीं, वैसे ही इस जाग्रत्-जगत् का कारण भी कोई नहीं; क्योंकि हुआ कुछ नहीं, जो कुछ है वह अनुभवरूप है—इससे यह जगत् अकारण है। हे राम ! सब

जीव आकाशरूप हैं और अनेक स्वप्न की सृष्टि जो नाना प्रकार की होती है वह भी आकाशरूप है। उसका कुछ आकार नहीं। जो निराकार अद्वैत आत्मसत्ता है, उसमें आदि में आभासरूप जगत् फुरा है, तो वह आकाशरूप क्यों न हो ? अब साकार और निराकार का भेद कहते हैं, सो सुनो। एक चित् है, दूसरा चैत्य। चित्शुद्ध चिन्मात्र का नाम है और चैत्य दृश्य फुरने को कहते हैं। जिस चित् से दृश्य का सम्बन्ध है, उसका नाम जीव है। जिस चित् का अज्ञान से द्वैत का सम्बन्ध है, और अनात्म में आत्म-अभिमान है, वह जीव साकाररूप है। उसके स्वप्न की सृष्टि भी आकाशरूप है। जो अचैत्य चिन्मात्र निराकार सत्ता है, तो उसका स्वप्न आभासरूप जगत् आकाशरूप क्यों न हो ? हे राम ! यह जगत् निरुपादान है अर्थात् कुछ बना नहीं और चिदाकाश निराकाररूप है। जैसे स्वप्न में जगत् अकृत्रिम होता है, वैसे ही यह जगत् है। न इसका कोई निमित्तकारण है और न समवायकारण। पर आत्मा अच्युत और अद्वैत है। उसे दृश्य का कारण कैसे कहिये। हे राम ! न कोई कर्त्ता है, न भोक्ता है, न कोई जगत् है और नहीं कहना भी नहीं बनता। जो ज्ञानवान् है वह पाषाणवत् मौन स्थित होता है और जब प्रकृत आचार आ पड़ता है, तब उसको भी करता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदेकताप्रतिपादनं नाम
शताधिकद्व्यशीतितमस्सर्गः ।। १८२ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह जो तुम्हारे निकट आकाशरूप कान्ता आई तो वह शरीर बिना अनेक क, च, ट, त आदिक अक्षर कैसे बोली? जो तुम स्वप्न की नाईं कहो तो स्वप्न में भी केवल आकाश होता है। वहाँ य, र, ल, व आदिक कैसे बोलते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! स्वप्न में जो शरीर होता है वह आकाशरूप है। उसमें क, च, ट, त, आदिक अक्षर कभी उद्दिष्ट नहीं हुए, जैसे मृतक कभी नहीं बोलता वैसे ही आकाशरूप आत्मा में शब्द कभी नहीं उठता। जो तुम कहो कि स्वप्न में जो य, र, ल, व आदिक अक्षर प्रवृत्त होते हैं, तो उसका उत्तर यह है कि जो कुछ शब्द वहाँ सत् हुए होते तो उन्हें निकट बैठे लोग भी सुनते। हे

राम ! निकट बैठे ने नहीं सुना तो ऐसे मैं कहता हूँ कि आकाशरूप है, कुछ हुआ नहीं, और जो हुआ भासित होता है, वह भ्रान्तिमात्र केवल चिन्मात्र आकाश का किञ्चन है। आकाश में आकाश ही स्थित है। वैसे ही यह जगत् भी कुछ हुआ नहीं। हे राम ! जैसे चन्द्रमा में श्यामता, आकाश में वृक्ष और पत्थर में पुतलियाँ नृत्य करती लगें तो मिथ्या है, वैसे ही इस जगत् का होना भी मिथ्या है। हे राम ! स्वप्न में जो जगत् दिखता है, वह चिदाकाश का किञ्चन है। वह भी आकाशरूप है—उससे भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न का जगत् आकाशरूप है, वैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है और जैसे यह जगत् है, वैसे ही वे जगत् भी थे। यह जो आकाश है सो आत्मकाश में अनाकाश है। जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रम से दिखती है, वैसे ही जगत् भी भ्रम से प्रत्यक्ष लगता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो यह जगत् स्वप्न है तो जाग्रत् सा क्यों भासित होता है और जो असत् है तो सत्य की नाईं क्यों लगता है ?

वशिष्ठजी बोले—हे राम ! एक मृदुसंवेग, दूसरा मध्यसंवेग और तीसरा तीव्रसंवेग है। संवेग संकल्प के परिणाम को कहते हैं। वह उक्त प्रकार से त्रिविधि है। जैसे पुरुष अपने स्थान में बैठा हुआ मनोराज्य से किसी व्यवहार को रचता है, तो उसको जानता है कि संकल्पमात्र है और नट स्वाँग भरता है, तब वह जानता है कि मेरा स्वाँग है और अपने स्वरूप को सत्य जानता है। इसका नाम मृदुसंवेग है; क्योंकि अपना स्वरूप नहीं भूला। मध्यसंवेग यह है कि जैसे किसी पुरुष को स्वप्न आता है तो उसमें स्वप्न की सृष्टि भासित होती है और एक शरीर अपना भासित होता है; तब जीव अपने शरीर को सत्य जानता है और जगत् को भी सत्य जानता है। स्वरूप का प्रमाद होने के कारण स्वप्नकाल की सृष्टि को जीव सत्य जानता है और आगे हुए को असत्य जानता है। इसका नाम मध्यसंवेग है; क्योंकि सोया हुआ शीघ्र ही जाग उठता है। और जो सोया और जागे नहीं, उसका नाम तीव्रसंवेग है। हे राम ! आदिसंकल्प स्वप्न में रूप भासते हैं और उसमें नाना प्रकार की सृष्टि होकर स्थित है।

जिनको आदिस्वरूप का प्रमाद नहीं हुआ, उनको यह जगत्र मृदुसंवेग है; क्योंकि वे अपनी लीलामात्र असत्य जानते हैं। और जिनको आदिस्वरूप का प्रमाद हुआ है, वे फिर शीघ्र ही जाग उठते हैं। तब उनको वह जगत्र असत्य भासता है और इस जगत् में सत्य की प्रतीति नहीं होती। जिनको प्रमाद हुआ है और फिर नहीं जागे, उनको यह जगत्र सत्य ही लगता है; क्योंकि उनकी चित्त की वृत्ति का परिणाम तीव्र हो गया है, इस कारण अज्ञानी को यह जगत्र स्वप्न-जाग्रत्र होकर भासता है-जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न की सृष्टि सत्य भासती है।

हे राम ! चित्त के फुरने का नाम जगत्र है। जब चित्त बहिर्मुख होता है, तब जगत्ररूप से भासता है और स्वरूप का अज्ञान होता है। जब अज्ञान होता है, तब जगत्रभ्रम दृढ़ होता जाता है—इससे इस जगत्र का कारण अज्ञान है। हे राम ! आत्मा के अज्ञान से जगत्र-भासता है। जब आत्मज्ञान होगा तब जगत्रभ्रम निवृत्त हो जायगा। वह आत्मा अपना आप है, इससे आत्मपद में स्थित होओ, तब जगत्र भ्रम निवृत्त हो जायगा। हे राम ! अज्ञान से इस जगत्र की सत्य प्रतीति होती है और उसमें जैसी-जैसी भावना होती है वैसे ही रूप में जगत्र भासता है। हे राम ! जिस प्रकार जगत्रभ्रम सत्य होकर भासता है, वह भी सुनो। जो अज्ञानी जीव है, वह जब मृतक होता है तब मुक्त नहीं होता, बल्कि अज्ञान के वश जड़ पत्थर सदृश होता है, क्योंकि चेतनरूप है। हे राम ! जब मृत्यु होती है, तब आकाशरूप चित्त में ही जगत्र फुर आता है और अपनी वासना के अनुसार नाना प्रकार का होकर जगत्र भासता है, एवं नाना प्रकार के व्यवहार रचनाक्रिया सहित होकर भासते हैं। जीवों की कल्पपर्यन्त सब क्रियाएँ अन्तवाहक होती हैं—जैसी हमारी हैं।

हे राम ! तुम देखो, वह जगत्र क्या है—किसी कारण से तो नहीं उपजा ? जैसे स्वप्न-जगत्र कलनामात्र से सत्र भासता है, वैसे ही इस जगत्र को भी जानो। हे राम ! यह जो तुमको स्वप्न आता है, उसमें जो पुरुष और पदार्थ हैं, वे भी सत्य हैं, क्योंकि ब्रह्मसत्ता सर्वात्मा है। हे राम!

प्रबोध होने से भी स्वप्न के पदार्थ विद्यमान भासते हैं। इसी से कहा है कि स्वप्न, संकल्प और जाग्रत् तुल्य हैं। जैसे आगे शुक्र, ब्राह्मण के पुत्र इन्द्र, लवण और गाधि का उदाहरण कहा है। इनको मनोराज्यभ्रम प्रत्यक्ष हुआ है। दीर्घतपा को जिसका उदाहरण आगे कहेंगे, प्रत्यक्ष स्वप्न हुआ है। प्रत्येक जीव की अपनी सृष्टि है। संकल्प अपना-अपना है, इससे सृष्टि भिन्न-भिन्न है। पर सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता है। सब सृष्टि का प्रतिबिम्ब आत्मरूपी आदर्श में होता है और सब सृष्टि आत्मा का अनुभव है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और उस वृक्ष से और वृक्ष होते हैं तो भी विचार से देखो कि बीज तो एक ही था और सब वृक्ष आदि उसी बीज से उपजे हैं, वैसे हीं एक आत्मा से अनेक सृष्टियाँ प्रकाशित होती हैं, परन्तु स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं। जैसे एक पुरुष सोया है और उसको स्वप्न की सृष्टि भासती है और फिर स्वप्न में जो बहुत जीव भासते हैं उनको भी अपने-अपने स्वप्न की सृष्टि भासती है।

हे राम ! जिससे आदि-स्वप्न की सृष्टि भासती है, वह पुरुष एक ही है। उसे एक ही में अनन्त सृष्टियाँ चित्त के फुरने से होती है। वैसे ही आत्मसत्ता के आश्रय से अनन्त सृष्टियाँ फुरती हैं। परन्तु स्वरूप से कुछ हुआ नहीं, सब आकाशरूप हैं। जीवों को अपनी-अपनी सृष्टि अज्ञान से भासती है। हे राम ! जीवों को अन्य सृष्टि का ज्ञान नहीं होता, वे अपनी ही सृष्टि को जानते हैं, क्योंकि संकल्प भिन्न-भिन्न हैं। कितनों के लेखे हम स्वप्नों के नर हैं और कितने ही हमारे लेखे स्वप्न के नर हैं। वे और सृष्टि में सोये हैं और हमारी सृष्टि उसको स्वप्न में दिखती है। तिनके लिए हम स्वप्न के नर हैं। और जो हमारी सृष्टि में सोये हैं, उनको स्वप्न में और सृष्टि भासित हुई है। वे हमारे स्वप्न के नर हैं। हे राम ! इस प्रकार आत्मतत्त्व के आश्रय से अनन्त सृष्टि भासती हैं। जो जीव सृष्टि को सत् जानकर बिचरते हैं, वे मोक्षमार्ग से शून्य हैं। जैसे जो मनुष्य शयन करता है, उसको स्वप्न में चित्त का परिणाम होता है। उसमें जो जीव होते हैं उनको फिर स्वप्न होता है। तब उनको अपनी-अपनी सृष्टि भासती है।

तो वह अनन्त सृष्टि अनुभव के आश्रय होती है। वैसे ही एक आत्मा के आश्रय में जो असंख्य सृष्टियाँ फुरती हैं वे कई समान, कई अर्धसमान और कई विलक्षण भासित होती हैं पर जीव अपनी-अपनी सृष्टि को जानते हैं। जैसे एक घर में दस पुरुष सोये हैं और उनको अपना-अपना स्वप्न आवे, तब एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता। वैसे ही यह सृष्टि भी और जीव को नहीं भासती; क्योंकि संकल्प अपना-अपना है। जैसे पत्थर को पत्थर नहीं जानता। जो अन्तवाहक शरीर योगेश्वर हैं, उनको और सृष्टियों को भी ज्ञान होता है।

हे राम ! वास्तव में सृष्टि भी निराकार आकाशरूप है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है, वैसे आत्मा में सृष्टि है। और जैसे रस्सी में सर्प भासता है, वैसे ही आत्मा में सृष्टि भासती है। हे राम ! वास्तव में कुछ हुआ नहीं; सर्वदा सब प्रकार आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। जिनको आत्मा का प्रमाद हुआ है, उनको जगत् भासता है। वास्तव में जगत् किसी कारण से नहीं उपजा—आभासरूप है। सम्यक्ज्ञान के होने पर ब्रह्म अद्वैत भासता है और असम्यक्ज्ञान से द्वैतरूप जगत् होकर भासता है। जैसे रस्सी के सम्यक्ज्ञान से रस्सी ही दिखती है और सम्यक्ज्ञान से सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा के असम्यक्ज्ञान से जगत् का भान होता है। हे राम ! मैंने उस देवी से प्रश्न किया कि हे देवि ! तुम कहाँ से आई हो; तुम्हारा स्थान कहाँ है; तुम कौन हो और यहाँ किस निमित्त आई हो ? तब वह देवी बोली, हे मुनीश्वर ! ब्रह्मरूपी महाकाश के अणु का भी जो अणु है और उसके छिद्र में भी जो छिद्र है, उसमें तुम रहते हो और तुम्हारा यह जगत् भी उसी में है। तुम्हारी सृष्टि का जो ब्रह्मा है उसकी संवेदनरूपी कन्या ने यह जगत् रचा है। उस तुम्हारे जगत् में पृथ्वी है और उसके ऊपर समुद्र है, जिनसे पृथ्वी घिरी हुई है। उसके ऊपर दूना और द्वीप है और उस द्वीप के ऊपर दूना समुद्र है। इसी प्रकार पृथ्वी को लाँघ के आगे सुवर्ण की पृथ्वी आती है, जो दशसहस्र योजन पर्यन्त महासुन्दर प्रकाशरूप है। उसने सूर्य-चन्द्रमा के प्रकाश को भी लज्जित

किया है। उसके बाद और लोकालोक पर्वत हैं, जो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, और उनमें बहुत से नगर बसते हैं। कहीं ऐसे स्थान हैं, जहाँ सदा प्रकाश ही रहता है—जैसे ज्ञानी के हृदय में सदा प्रकाश रहता है। कहीं ऐसे स्थान हैं, जहाँ सर्वदा अन्धकार ही रहता है-जैसे अज्ञानी के हृदय में अन्धकार रहता है। कहीं ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ प्रत्यक्ष पदार्थ मिलते हैं-जैसे पंडित के हृदय में अर्थ प्रत्यक्ष होते हैं। कहीं ऐसे स्थान हैं, जहाँ पदार्थ नहीं मिलते-जैसे मूर्ख के हृदय में वेद का अर्थ नहीं प्रकट होता। कहीं ऐसे स्थान हैं, जिनके देखने से हृदय प्रसन्न होता है-जैसे सन्तों के दर्शन से हृदय प्रसन्न होता है। कहीं ऐसे स्थान हैं, जिनमें सदा दुःख ही रहता है—जैसे अज्ञानी की संगति में सदा दुःख रहता है। कहीं ऐसे स्थान हैं, जहाँ सूर्य उदय नहीं होता। कहीं सूर्य-चन्द्रमा दोनों उदय होते हैं। कहीं पशु ही रहते हैं। कहीं मनुष्य ही रहते हैं। कहीं दैत्य और कहीं देवता ही रहते हैं। कहीं किसान रहते हैं। कहीं धर्म का व्यवहार होता है। कहीं विद्याधर ही रहते हैं। कहीं उन्मत्त हाथी हैं। कहीं बड़े नन्दनवन हैं। कहीं ऐसे स्थान हैं जहाँ शास्त्र का विचार ही नहीं। कहीं शास्त्र के विचारवान् हैं। कहीं राज्य ही करते हैं। कहीं बड़ी बस्तियाँ हैं। कहीं उजाड़ वन हैं। कहीं पवन चलता है। कहीं बड़े खात छिद्र हैं। कहीं ऊर्ध्वशिखर हैं, जहाँ विद्याधर और देवता रहते हैं, कहीं मच्छ, यक्ष और राक्षस हैं और कहीं विद्याधरी देवियाँ महामत्त रहती हैं। इसी प्रकार अनन्त देशों और स्थानों की बस्तियाँ हैं। उस लोकालोक के शिखर पर सात योजन का एक तालाब है, जिसमें कमल लगे हैं; सब ओर कल्पवृक्ष हैं और वहाँ के सब पत्थर चिन्तामणि हैं। उसके उत्तर ओर एक सुवर्ण की शिला पड़ी है, जिसके शिखर पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र बैठते और विलास करते हैं। उसकी शिला में मैं रहती हूँ और मेरा भर्ता और सम्पूर्ण परिवार भी वहीं रहता है।

हे मुनीश्वर ! उसमें एक वृद्ध ब्राह्मण रहता है, जो अब तक जीता है और एकान्त में जाकर सदा वेद का अध्ययन करता है। उसने मुझको अपने विवाह के निमित्त अपने मन से उपजाया था और अब मैं बड़ी हुई

हूँ तो वह मेरे साथ विवाह नहीं करता। वह जब से उपजा है, तब से ब्रह्मचारी ही रहता है और वेद का अध्ययन करके विरक्तचित्त हुआ है। हे मुनीश्वर ! मैं वस्त्रों और भूषणों से युक्त हूँ; चन्द्रमा की नाईं मेरे सुन्दर अंग हैं और मैं सब जीवों को मोहनेवाली हूँ। मुझको देखकर कामदेव भी मूर्च्छित हो जाता है। फूलों की नाईं मेरा हँसना है और सब गुण मुझमें हैं। महालक्ष्मी की मैं सखी हूँ। पर मुझको त्यागकर वह ब्राह्मण एकान्त में जाकर बैठा है और सदा वेद का अध्ययन करता है। वह बड़ा दीर्घसूत्री है। जब मैं उत्पन्न हुई थीं, तब वह कहता था कि मैं तुझको ब्याहूँगा, पर अब मैं यौवन अवस्था को प्राप्त हुई हूँ, तब त्यागकर एकान्त में जा बैठा है। हे मुनीश्वर ! स्त्री को सदा भर्ता चाहिए। अब मैं यौवन अवस्था से जलती हूँ। बड़े तालाब जो कमल सहित दृष्टिगत होते हैं, वे भर्ता के वियोग से मुझे अग्नि के अंगारे से लगते हैं। नन्दनवन आदि बड़े बाग मुझको मरुस्थल से लगते हैं। इनको देखकर मैं रुदन करती हूँ और नेत्रों से ऐसा जल बहता है, जैसे वर्षाकाल का मेघ बरसता है।

जब मैं मुख आदि अपने अंगों को देखती हूँ, तब नेत्रों के जल से कमलिनी डूब जाती है, और जब कल्पतरु और तमाल वृक्ष के फूलों और पत्रों की शय्या पर शयन करती हूँ, तब अंगों के स्पर्श से फूल जलते हैं। जिस कमल से मेरा स्पर्श होता है, वह जल जाता है। हे भगवन् ! भर्ता के वियोग से मैं तपी हुई हूँ। जब मैं बरफ के पर्वत पर जा बैठती हूँ, तब वह भी अग्नि सा हो जाता है। मैं नाना प्रकार के फूलों को गले में डालती हूँ, तब भी तपन नहीं निवृत्ति होती। मेरे भर्ता की देह त्रिलोकी है और उसके चरणों में सदा मेरी प्रीति रहती है। मैं गृह के सब आचार करती हूँ और सब गुणों से सम्पन्न हूँ; सबको धारण कर रही हूँ; सबकी प्रतिपालक हूँ और ज्ञेय की मुझको सदा इच्छा रहती है। हे मुनीश्वर ! मैं पतिव्रता हूँ; जो पुरुष पतिव्रता स्त्री को ग्रहण करता है, वह बहुत सुख पाता है और तीनों ताप से

रहित होता है, क्योंकि उसमें सब गुण मिलते हैं। वह सदा भर्ता में प्रीति करती है और भर्ता की प्रीति उसमें होती है—ऐसी मैं हूँ। पर मुझको त्यागकर वह ब्राह्मण एकान्त में जा बैठा है और सब समय वेद का अध्ययन और विचार करता रहता है। मेरे भर्ता ने कामना का त्याग किया है, उसको कोई इच्छा नहीं रही और मैं उसके वियोग से जलती हूँ। हे भगवन् ! वह स्त्री भी भली है, जिसका भर्ता विवाह करके मर गया हो। कुँआरी भी भली है और जो भर्ता के संयोग से प्रथम ही मर जाती है यह भी श्रेष्ठ है। पर जिसको भर्ता प्राप्त हुआ है परन्तु उसको स्पर्श नहीं करता तो उसको बड़ा दुःख होता है। हे मुनीश्वर ! जो पुरुष परमात्मा की भावना के संस्कार से रहित उत्पन्न हुआ है वह वैसे ही निष्फल है, जैसे पात्र बिना अन्न निष्फल होता है। मतलब यह कि सन्तजन, तीर्थ आदि से रहित पाप स्थानों में डाला हुआ धन निष्फल होता है। जैसे सम-दृष्टि बिना बोध और वेश्या की लज्जा निष्फल है, वैसे ही मैं पति बिना निष्फल हूँ। हे भगवन् ! जब मैं शय्या बिछाकर शयन करती हूँ, तब फूल भी जल जाते हैं। जैसे समुद्र को बड़वाग्नि जलाता है, वैसे ही कमलों को मेरे अंग जलाते हैं। हे मुनीश्वर ! जो सुख के स्थान हैं वे मुझको दुःखदायक हैं और जो मध्य स्थान हैं, वे न सुख देते हैं न दुःख देते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधरीविशोकवर्णनं नाम शताधिकत्र्यशीतितमस्सर्गः ।। १८३ ।।

हे मुनीश्वर ! इस प्रकार मैं तप करती फिरती हूँ। अब मुझको भी भर्ता के वियोग से वैराग्य उपजा है। भर्ता की वैराग्यरूपी ओस मेरी तृष्णारूपी कमलिनी पर पड़ी है और उससे मैं जल गई हूँ, इससे जगत् मुझको नीरस लगता है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् असार है इसमें स्थित वस्तु कोई नहीं; इस कारण मुझको भी वैराग्य उपजा है। मेरा भर्ता स्वयम्भू संसार से विरक्त होकर एकान्त में जा बैठा है और वेद को विचारता रहता

है, परन्तु आत्मपद को नहीं प्राप्त हुआ। वह मन को स्थिर करने का उपाय करता है, परन्तु अब तक उसका मन स्थिर नहीं हुआ। सब एषणाओं से रहित होकर वह शास्त्र को विचारता रहता है पर आत्मा का साक्षात्कार उसे नहीं हुआ। मुझको भी वैराग्य उपजा है। अब हम दोनों वैराग्य से सम्पन्न हुए हैं और परमपद पाने की इच्छा हुई है। शरीर हमको नीरस हो गया है—जैसे शरत्काल की बेल नीरस होती है—इस कारण मैं योग की धारणा, करने लगी हूँ। यह शक्ति अब मुझको उत्पन्न हुई है कि आकाशमार्ग को आऊँ और जाऊँ; योगधारण से आकाश पर उड़ने की भी शक्ति हुई है और सिद्धमार्ग की धारणा से सिद्धों के मार्ग में भी आती जाती हूँ, परन्तु अर्थ कुछ सिद्ध न हुआ, क्योंकि पाने योग्य आत्मपद नहीं प्राप्त हुआ, जिसके पाने से कोई दुःख न रहे। अब मुझे निर्वाण की इच्छा हुई है।

मैंने सिद्धों के गण, देवता, विद्याधर और ज्ञानियों के बहुत स्थान देखे हैं; परन्तु जहाँ गई, वहाँ सब तुम्हारी ही स्तुति करते हैं कि वशिष्ठजी आत्मज्ञान के द्वारा अज्ञान को निवृत्त करते हैं। जैसे बड़ा मेघ बरसता है, परन्तु जब वायु चलता है, तब मेघ को दूर करता है, वैसे ही तुम्हारे वचन अज्ञान को दूर करते हैं। जब ऐसे मैंने तुम्हारी स्तुति सुनी, तब मैंने इस सृष्टि में आने का अभ्यास किया और धारणा के अभ्यास से तुम्हारी सृष्टि में आई हूँ। इससे हे मुनीश्वर ! मेरी और मेरे भर्ता की शान्ति के लिए आत्मज्ञान का उपदेश करो। मेरा भर्ता, जो मन को स्थिर करने का यत्न करता है, उसको तुम ऐसा उपदेश करो कि शीघ्र ही स्थिर हो और आत्मज्ञान को पावे। और मुझको भी आत्मज्ञान का उपदेश करो। हे भगवन् ! तुम माया से पार मुझको देखते हो, इस कारण मैं तुम्हारी शरण आई हूँ। मैं स्त्री बुद्धि से तुम्हारे निकट नहीं आई, शिष्यभाव को लेकर आई हूँ और मैं जानती हूँ कि मेरा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है, क्योंकि जो कोई महापुरुष की शरण आता है तो निष्फल नहीं जाता, बल्कि सब

प्रयोजन पूर्ण होता है। जैसी किसी की कामना होती है, उसे महापुरुष सिद्ध कर देते हैं। जैसे कल्पवृक्ष के निकट कोई जाता है तो उसकी इच्छा पूर्ण होती है, वैसे ही मेरी कामना सफल हो जावेगी। इससे कृपा करके मुझको उपदेश करो। हे मुनीश्वर ! तुम मानो दया के समुद्र हो। सबके मनोरथ पूर्ण करने को तुम समर्थ हो। तुम सुहृद् हो अर्थात् उपकार की अपेक्षा बिना उपकार करते हो। इससे मैं अनाथ तुम्हारी शरण में आई हूँ। मुझे आत्मपद कराओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधरीवेगवर्णनन्नाम
शताधिकचतुरशीतितमस्सर्गः ।। १८४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार विद्याधरी ने मुझसे कहा तब मैं आकाश में संकल्प का आसन रचकर उस पर बैठा और संकल्प से ही एक आधारभूत का आसन रचकर उसको बिठाया, क्योंकि मेरा संकल्प शुद्ध है, जो कुछ चिन्तन करता हूँ, वह हो जाता है। तब मैंने कहा हे देवि ! यह तू कैसे कहती है कि शिला में मेरी सृष्टि है, सो कह ? शिला में सृष्टि कैसे बसती है ? विद्याधरी बोली, हे भगवन्, तुम्हारी सृष्टि में जो लोकालोक पर्वत प्रसिद्ध है। उसके उत्तर ओर के शिखर पर एक सुवर्ण की शिला है। उसमें हमारी सृष्टि है। उस शिला में सृष्टि बसती है। उस सृष्टि का ब्रह्मा मेरा भर्ता है और मैं उसकी स्त्री हूँ। त्रिलोकी इस प्रकार बसती है कि ऊर्ध्वलोक में देवता, तथा पाताल में दैत्य और नाग रहते हैं। मध्यमण्डल में मनुष्य, पशु, पक्षी बसते हैं और समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश भी हैं। समुद्र ने गम्भीरता, जीवों ने प्राण, पवन ने आकाश में चलना, आकाश ने पोल, पृथ्वी ने धैर्य, विद्याधरों ने ज्ञान, अग्नि ने उष्णता, सूर्य ने प्रकाश, दैत्यों ने क्रूरता, विष्णु ने जगत् की रक्षा के निमित्त अवतार, नदियों ने चलना और पर्वतों ने स्थिरता अंगीकार की है। इस प्रकार सब नीति परमात्मा के आश्रय में रची हुई है और कल्पपर्यन्त ज्यों की त्यों मर्यादा रहती है। इसी प्रकार जीव जन्मते और मरते हैं। देवता विमान पर सवार फिरते हैं। दिन का स्वामी सूर्य है। रात्रि

का स्वामी चन्द्रमा है। नक्षत्रों और तारों का चक्र पवन से फिरता है। इस चक्र के दो ध्रुव हैं। काल इस चक्र को फेरता है। सो फेरता-फेरता नाशरूप जो काल है, वह कल्प के अन्त में उस चक्र के मुख में जा समाता है।

हे मुनीश्वर ! परमात्मा अनन्त है, उसका कोई अन्त नहीं जान सकता। जब संवेदन जगता है तब जीव जानता है कि यह जगत् ईश्वर की सत्ता से है और जब फुरने से रहित होता है, तब जाना नहीं जाता कि जगत् कहाँ गया। हे मुनीश्वर ! तुम चलो और मेरी सृष्टि का विलास देखो। तुम तो जगत् के विलास से पार हुए हो और यद्यपि तुमको इच्छा नहीं है तो भी कृपा करके उस शिला में हमारी सृष्टि देखो। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार कहकर वह आकाशमार्ग में मुझे ले चली—जैसे गन्ध को वायु ले जाता है। तब मैं और वह दोनों आकाशमार्ग में उड़े और भूताकाश में चिरकाल तक उड़ते गये। तब हमको लोकालोक पर्वत देख पड़ा। उसके निकट जाकर उसके शिखर देखे कि बहुत ऊँचे गये हैं और बड़े मेघ उस पर बिचरते हैं। शिखर ऐसे सुन्दर हैं, मानो क्षीरसमुद्र से चन्द्रमा निकला है। वहाँ जाकर मैंने महासुन्दर सुवर्ण की एक शिला देखी। उसके निकट गया तो मैंने कहा, हे देवि ! वह तो शिला पड़ी है, तुम्हारी सृष्टि कहाँ है ? इसमें पृथ्वी, द्वीप की मर्यादा, जिसका आवरण चहुँफेर समुद्र होता है, और उन पर की दससहस्त्र योजन—पर्यन्त सुवर्ण की पृथ्वी, पर्वत, सप्तलोक, आकाश, दशोंदिशा, तारामण्डल, रात्रि-दिन के प्रकाश सूर्य, चन्द्रमा, और भूतों का संचार, देवगण, विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व, योगीश्वर, वरुण, कुबेर, जगत् की उत्पत्ति प्रलय का संचार, पाताल की भूमिका, मण्डलेश्वर, न्याय करनेवाले, मरुस्थल की भूमिका, नन्दनवन आदिक, दैत्यों के विरोधी देवता आदि कहाँ है ? यह तो एक शिला मात्र है।

हे राम ! जब मैंने आश्चर्य को प्राप्त होकर ऐसे कहा, तब विद्याधरी बोली—हे भगवन् ! मुझको तो प्रत्यक्ष इस शिला में अपनी सृष्टि दिखती है—जैसे शुद्ध आईने में अपना मुख दिखता है, वैसे ही मुझको अपनी

सृष्टि इस शिला में प्रत्यक्ष दिखती है—जैसी मर्यादा देश देशान्तर की मुझको भासित होती है, इसका संस्कार मेरे हृदय में है, इसी से मुझको प्रत्यक्ष भासित है। तुम्हारे हृदय में इसका संस्कार नहीं है, इसी से तुमको नहीं भासित होती। तुम्हारी सृष्टि की अपेक्षा यह शिला पड़ी है और तुमको शिला का निश्चय है, इस कारण तुमको इसमें जगत् नहीं दीखता। हे भगवन् ! जिसका अभ्यास होता है, वह पदार्थ अवश्य प्राप्त होता है और वही भासित होता है। हे मुनीश्वर ! गुरु शिष्य को उपदेश करता है, पर उपदेशमात्र से इष्ट की प्राप्ति नहीं होती। जब उसका अभ्यास करे, तब इष्ट की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर ! ऐसा न्याय और सिद्धता कोई नहीं, जो अभ्यास करने से न मिले, ऐसी कला कोई नहीं, जो अभ्यास करने से न प्राप्त हो और ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो अभ्यास की प्रबलता से सिद्ध न हो। जो थककर छोड़े नहीं तो अवश्य सिद्ध होते हैं। हे मुनीश्वर ! जो कुछ सिद्ध होता दिखता है, सो सब अभ्यास से होता है। प्रथम जब मैं तुम्हारे साथ आई थी, तब मुझको भी शिला में सृष्टि नहीं दीखी थी, क्योंकि यह सृष्टि अन्तवाहक शरीर में स्थित है। तुम्हारे साथ द्वैतरूपी कथा के कहने से अन्तवाहक शरीर मुझको भूल गया था, इससे विश्व की चर्चा और तुम्हारी सृष्टि की चर्चा करके मुझको वह स्पष्ट नहीं भासित होती। जैसे मलिन दर्पण में सुख नहीं दिखता, वैसे ही तुम्हारी सृष्टि के संकल्प से मुझको भी अपनी सृष्टि नहीं दिखती, परन्तु चिरकाल जो अभ्यास किया है, इससे फिर भासित होती है, क्योंकि जो दृढ़ अभ्यास होता है, उसकी जय होती है। हे मुनीश्वर, चिन्मात्र पद में फुरने से आदि जीवों के शरीर अन्तवाहक हुए हैं, अर्थात् आकाशरूप शरीर थे। जब उनमें प्रमाद से दृढ़ अभ्यास हुआ, तब आधिभौतिक होकर दिखने लगे। जब फिर भावना उलटकर योग की धारणा से अभ्यास होता है, तब आदिभौतिकता क्षीण हो जाती है और अन्तवाहकता प्रकट होती है। उससे जीव आकाश में पक्षी की नाईं उड़ता फिरता है। इससे तुम देखो कि अभ्यास के बल से सब कुछ सिद्ध होता है।

हे मुनीश्वर ! अज्ञान से मनुष्यों को अहंकाररूपी पिशाच लगा है, सो दृढ़ स्थित हुआ है। जब शास्त्र के वचनों में दृढ़ अभ्यास होता है, तब वह क्षीण हो जाता है। हे मुनीश्वर ! तुम देखो, जिस किसी को इष्ट की प्राप्ति होती है सो अभ्यास के बल से होती है। जो अज्ञानी होता है और ब्रह्म का अभ्यास करता है तो ज्ञानी होता है। पर्वत बड़ा है, परन्तु अभ्यास से कोई उसे चूर्ण किया चाहे तो वह चूर्ण हो जाता है। सम्पूर्ण वृक्ष को खा लेना कठिन है, परन्तु अभ्यास करके शनैः शनैः घुन उसे खा जाता है। आप तो छोटा है, परन्तु जो वस्तु पानी कठिन हो, वह उसे अभ्यास से सुगम हो जाती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु के निकट जाकर जिस पदार्थ की इच्छा करो वह सिद्ध होती है, वैसे ही आत्मरूपी चिन्तामणि और कल्पतरु में जीव जिस पदार्थ का अभ्यास करता है, वह सिद्ध होता है और—अभ्यासरूपी भूमिका फल देती है। बालक अवस्था से जो अभ्यास होता है, वही वृद्धावस्था तक रहता है। हे मुनीश्वर ! जो बान्धव नहीं होता और निकट रहता है तो निकट के अभ्यास से बान्धव हो जाता है, परन्तु बान्धव जो विदेश में रहता है तो अभ्यास की क्षीणता से वह अबान्धव हो जाता है। हे मुनीश्वर ! विष भी अमृत की भावना करने से अभ्यास के द्वारा अमृत हो जाता है। जो मिष्ठान्न में कटुक भावना होती है तो वह कटु लगता है और कटु में मिष्ठान्न की भावना कीजिये तो वह मिष्ठान्न लगता है-जैसे किसी को नींब और किसी को मिष्ठान्न प्रिय है।

हे मुनीश्वर ! जो कुछ सिद्ध होता है, वह अभ्यास के बल से सिद्ध होता है। जो पुण्य किया होता है तो पाप के अभ्यास से नष्ट हो जाता है और पाप का पुण्य के अभ्यास से नाश होता है। माता भी अमाता हो जाती है। अर्थ के अनर्थ हो जाते हैं। मित्र अमित्र हो जाता है और भाग्य अभाग्य हो जाता है। निदान सब पदार्थ चल हो जाते हैं, परन्तु अभ्यास का नाश कदाचित् नहीं होता। हे मुनीश्वर ! जो पदार्थ निकट पड़ा होता है और साधक इन्द्रियाँ भी विद्यमान होती हैं, तो भी वह अभ्यास के बिना नहीं प्राप्त होता। जहाँ अभ्यासरूपी सूर्य उदय होता है, वहाँ इष्ट की प्राप्ति

होती है। अज्ञानरूपी विशूचिका रोग ब्रह्मचर्चा के अभ्यास से नष्ट हो जाता है। हे मुनीश्वर ! संसाररूपी समुद्र आदि-अन्त से रहित है, पर आत्मअभ्यासरूपी नौका द्वारा जीव उसे तर जाता है-जो अभ्यास को न त्यागोगे तो अवश्य तरोगे। हे मुनीश्वर ! जो पदार्थ उदय हो, उसके अभाव की भावना कीजिये तो अस्त हो जाता है, और जो अस्त हो, पर उसके उदय होने की भावना कीजिये तो वह उदय होता है। जैसे सिद्ध के शाप से प्रत्यक्ष प्राप्त पदार्थ नष्ट हो जाता है और वरदान से अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर ! जो पुरुष शास्त्र से इष्ट पदार्थ को सुनता है और उसका अभ्यास नहीं करता, उसे मनुष्यों में नीच जानो। उसको इष्ट पदार्थ की प्राप्ति कभी नहीं होती। जैसे वन्ध्या के पुत्र नहीं होता, वैसे ही उसको इष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। हे मुनीश्वर ! जो आत्मरूपी इष्ट को त्यागकर और किसी पदार्थ की वाञ्छा करता है, वह अनिष्ट के बाद अनिष्ट पाकर एक नरक से दूसरे नरक को भोगता है। हे मुनीश्वर! जिसको अभ्यास का भी अभ्यास प्राप्त हुआ है, उसको शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। जीव अभ्यास के बल से इष्ट को पाता है—जैसे प्रकाश से पदार्थ देखिये कि वह पड़ा है। तो उसका नाम अभ्यास है और उसके निमित्त यत्न करना अभ्यास का अभ्यास है। जब यत्न और अभ्यास करते हैं, तब पदार्थ को पाते हैं। बारम्बार चिन्तन करने का नाम अभ्यास है। जब ऐसा अभ्यास हो, तब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होती है-अन्यथा नहीं होती। हे मुनीश्वर ! चौदह प्रकार के भूतजात हैं; जैसा-जैसा किसी को अभ्यास है उसके बल से वैसा ही वैसा वह सिद्ध होता है। अभ्यासरूपी सूर्य के प्रकाश से जीव अपने इष्ट पदार्थ पाता है। अभ्यास के बल से भय निवृत्त होता है और पृथ्वी, पर्वत, वन, कन्दरा में निर्भय होकर जीव विचरता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधरी अभ्यासवर्णनं नाम शताधिकपञ्चाशीतितमस्सर्गः ।। १८५ ।।

विद्याधरी बोली, हे मुनीश्वर ! जब पदार्थ निरन्तर अभ्यास से सिद्ध

होते हैं। तुम्हारा शिला में दृढ़ निश्चय है, इससे तुमको शिला ही दिखती है और मुझको इसमें सृष्टि दिखती है। जब तुम्हारा संकल्प भी मेरे संकल्प के साथ मिले, तब तुमको भी यह जगत् भासित हो। यह जगत् जो स्थित है सो मेरे अन्तवाहक में है। आदि-वपु सबका अन्तवाहक है। अतः अन्तवाहक में सबकी एकता है-जैसे समुद्र में सब तरंगों की एकता होती है। हे मुनीश्वर ! जब तुम धारणा का अभ्यास करके शुद्ध बुद्धि को प्राप्त होगे, तब तुमको इस शिला में सृष्टि भासित होगी। वशिष्ठजी बोले, हे राम! जब उसने इस प्रकार मुझसे शुद्ध युक्ति कही, तब मैंने पद्मासन लगाकर सब विषय त्याग दिये और कथा के क्षोभ का भी त्यागकर अपने आधिभौतिक का भी त्याग किया। तब निरन्तर शुद्ध बोध का अभ्यास करने से मुझमें बोध का अनुभव उदय हुआ। जैसे मेघ के अभाव से शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही कलना से रहित मुझमें शुद्ध बोध का अनुभव उदय हुआ, जो उदय और अस्त से रहित परम शान्तरूप है। उसमें वह शिला मुझको आकाशरूप देख पड़ी और शिलातत्त्व से केवल बोधमात्र दृष्टिगोचर हुई। पृथ्वी आदि तत्त्व कोई मुझको नजर न आये, केवल अद्वैत आकाश आत्मतत्त्वमात्र अपना रूप ही दृष्टिगोचर हुआ पर जब बोधमात्र से अन्तवाहकरूप होकर स्पन्दन फुरा, तब अन्तवाहक से उस शिला में सृष्टि भासित होने लगी। जैसे मनोराज्य की सृष्टि होती है और बोध से भिन्न-भिन्न नहीं होती, वैसे ही वह सृष्टि मुझको दिखी और शिला का रूप प्रतीत हुई। जैसे स्वप्न के गृह में शिला दिखे तो वह अनुभव ही शिला और गृहरूप होकर भासित होता है, कुछ भिन्न नहीं होता, वैसे ही वह शिला देख पड़ी।

हे राम ! जैसे मैंने आकाशरूप वह शिला देखी, वैसे ही सब जगत् चिदाकाशरूप है, कुछ द्वैत नहीं बना। सर्वदा आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है, पर आत्मा के अज्ञान से द्वैत भासित होता है-जैसे कोई पुरुष स्वप्न में अपना सिर कटा देखे और रुदन करे, पर जागकर अपने को ज्यों का त्यों देखता है, वैसे ही जब तक जीव अज्ञाननिद्रा में सोता है, तब

तक जगत्-भ्रम नहीं मिटता। जब स्वरूप में जागकर देखेगा, तब सब भ्रम मिट जावेगा और केवल अपना ही रूप भासित होगा। हे राम ! यह आश्चर्य देखो कि जो वस्तु सत्रूप है, वह असत् की नाईं भासित होती है। आत्मा सदा सत्रूप है, पर अज्ञान से नहीं भासित होता और जो असत्यरूप है वह सत् की नाईं भासित होता है। शरीरादिक दृश्य असत्रूप हैं, वे सत्य से होकर भासित होते हैं। हे रामचन्द्र ! आत्मा सदा प्रत्यक्ष है और शरीरादिक परोक्ष हैं, पर अज्ञान से शरीरादिक प्रत्यक्ष लगते हैं, और आत्मपद परोक्ष लगता है। हे राम ! आत्मा सदा प्रत्यक्ष है और इस लोक अथवा परलोक की क्रिया जो सिद्ध होती है, वह सम्पूर्ण आत्मसत्ता से ही सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण आत्मसत्ता से ही भासित होता है—आदि प्रत्यक्ष आत्मा ही है और सब कुछ आत्मा के पीछे जाना जाता है। जो पुरुष कहते हैं कि आत्मा योग और मन से प्रत्यक्ष होता है, वे मूर्ख हैं; आत्मा सदा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी आत्मा से ही सिद्ध होते हैं। माया इसी का नाम है कि सदा अपरोक्ष वस्तु आत्मा को परोक्ष जानना और शरीरादिक असत्य को सत्य मानना। हे राम ! जितने जीव हैं उनका वास्तव रूप ब्रह्म ही है। उनमें आदि फुरना अन्तवाहकरूप हुआ है। उसके अनन्तर आधिभौतिक भासित होने लगा है। लोग भ्रम से आधिभौतिक को अपना रूप जानते हैं। पर जो सदा निर्विकार, निराकार, निर्गुण स्वरूप अपना रूप अनुभव है, उसको कोई नहीं जानता। सब जीवों का आदि शरीर अन्तवाहक है। वह शुद्ध आत्मा का किञ्चन केवल आकाशरूप है। और कुछ बना नहीं संकल्प करके आधिभौतिकता दृढ़ हुई। मिथ्या भ्रान्ति से भासित होती है। जैसे स्वप्न में आधिभौतिक शरीर भासित होता है, वैसे ही जाग्रत् में आधिभौतिक शरीर भासित होता है। अन्तवाहक अविनाशी है—इस लोक और परलोक में इसका नाश नहीं होता। वास्तव में बोधस्वरूप से भिन्न कुछ नहीं, भ्रम से आधिभौतिक दिखता है।

जैसे सूर्य की किरणों में जल, सीपी में रूपा, रस्सी में सर्प और

आकाश में दूसरा चन्द्रमा दिखता है, वैसे ही भ्रम से अपने में आधिभौतिक शरीर भासित होता है। हे राम ! यह आश्चर्य है कि सत्य वस्तु असत्य लगती है, और जो असत्य वस्तु है वह सत्य लगती है। इसका कारण अविचार है। यह मोह का माहात्म्य है कि सबका आदि जो प्रत्यक्ष आत्मा है, उसको लोग अप्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् को प्रत्यक्ष जानते हैं। हे राम! यह जगत् भ्रम से भासित होता है और स्वप्न की नाईं मिथ्या है। जिन पदार्थों को जीव सुखरूप मानते हैं, वे दुःख के कारण हैं; क्योंकि इनका परिणाम दुःख है। इनसे प्रथम क्षीण-सुख लगता है और फिर उनके वियोग से दुःख होता है, इसी कारण इनका नाम आपातरमणीय है—इनको पाकर शान्तिमान् कोई नहीं होता। जैसे मृगतृष्णा का क्षीणसुख होता है और फिर उसके वियोग से दुःख होता है; क्योंकि उस जल को पाकर कोई तृप्त नहीं होता, वैसे ही विषय के सुखों से कोई तृप्त नहीं होता। जो उनमें लगते हैं, वे मूर्ख हैं। जो अत्युत्तम सुख है, वह अनुभव से प्रकाशित होता है। उसको त्यागकर विषय के सुख में जो लगते हैं वे मूर्ख हैं; वे शुद्ध आकाशरूप अन्तवाहक में जगत् देखते हैं। हे राम ! जगत् जाल हुए की नाईं भासते हैं तो भी हुए नहीं—जैसे स्थाणु में पुरुष दिखता है तो भी हुआ नहीं, और जैसे सुवर्ण में भूषण दिखते हैं, वैसे ही यह जगत् प्रत्यक्ष दिखता है, पर कुछ नहीं है। हे राम ! प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं है, तब अनुमानादिक प्रमाण कहाँ से सत्य हों ? जैसे जिस नदी में हाथी बहे जाते हैं, उसमें रुई के बहने में क्या आश्चर्य है, वैसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय जगत् को जब असत् जाना तब अनुमानप्रमाण से क्या वह सत् होता है?

हे राम ! केवल बोधमात्र में जगत् कुछ बना नहीं। हमको तो सदा ऐसे ही लगता है। पर अज्ञानी को जगत् भासित होता है—जैसे किसी पुरुष को स्वप्न में पर्वत देख पड़ते हैं और जाग्रत् पुरुष को नहीं दिखते, वैसे ही अज्ञानी को यह जगत् दिखता है, पर हमको तो आकाश, समुद्र, पर्वत, सब केवल बोधमात्र लगते हैं। जैसे कथा के अर्थ श्रोता के हृदय में होते हैं, और जिसने नहीं सुनी, उसके हृदय में नहीं होते, वैसे ही मेरे

सिद्धान्त को ज्ञानवान् जानते हैं; अज्ञानी नहीं जान सकते। हे राम ! जितना कुछ आधिभौतिक जगत् दिखता है वह अप्रत्यक्ष है और आत्मा सदा प्रत्यक्ष है। जो इस लोक अथवा परलोक का अर्थ है वह अनुभव से सिद्ध होता है; क्योंकि सबका आदि अनुभव प्रत्यक्ष है। उसको त्यागकर जो देहादिक दृश्य को अपना रूप जानते हैं और इन्हीं को प्रत्यक्ष जानते हैं, वे मूर्ख पशु और पत्थर से हैं और सूखे तृण की नाईं तुच्छ हैं। जैसे भ्रमण से पर्वत आदि पदार्थ घूमते लगते हैं, वैसे ही अज्ञानी को आधिभौतिक भासित होते हैं। हे राम ! यह सब जगत् परोक्ष है; क्योंकि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। जो नेत्र होते हैं तो रूप दिखता है और जो नेत्र न हों तो न दिखे, इसी प्रकार सब इन्द्रियों के विषय हैं। जो हो तो दिखें, नहीं तो न दिखें। आत्मा सदा प्रत्यक्ष है। उसके देखने में किसी और की अपेक्षा नहीं। हे राम ! जो इन्द्रियों से सिद्ध हो वह असत् है। जो जगत् ही असत् हुआ तो उसके पदार्थ कैसे सत् हों ? इससे इस जगत् की सत्यता छोड़कर शुद्धबोध में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रत्यक्षप्रमाणजगन्निराकरणं
नाम शताधिकषडशीतितमस्सर्गः ।। १८६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब मैं उस शिला को बोधदृष्टि से देखता, तब वह मुझको ब्रह्मरूप लगती और जब संकल्पदृष्टि से देखता, तब पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, पर्वत, लोक, लोकपाल, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, पातालसंयुक्त जगत् दिखता। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखता है, वैसे ही आत्मारूपी आदर्श में जगत् दिखता है। तब देवी ने शिला में प्रवेश किया और मैं भी संकल्परूपी शरीर से उसके साथ चला गया। हम दोनों जगत् के व्यवहार को नाँघते गये और जहाँ परमेष्ठी ब्रह्मा का स्थान था, वहाँ जा बैठे। तब देवी ने कहा, हे भगवन् ! तुम परमेष्ठी से ऐसे कहना कि मुझको यह ले आई है और यह पूछना कि इसको जो तुमने विवाह के निमित्त उपजाया था तो फिर क्यों इसका त्याग किया ? हे मुनीश्वर ! उसने मुझको विवाह के अर्थ उत्पन्न किया था, पर जब मैं बड़ी हुई तब उसने मेरा त्याग

किया है। उसको वैराग्य उपजा है और उसे देखकर अब मुझको भी वैराग्य उपजा है। इसी से मैं परम-पद की इच्छा रखती हूँ, जहाँ न द्रष्टा है, न दृश्य है, और न शून्य है, केवल शान्तरूप हैं, और जो सर्ग के आदि और महाकल्प के अन्त में रहता है उसमें स्थित होने की इच्छा है, जिसमें स्थित होने पर पहाड़ की सी निश्चल समाधि हो जाती है। ऐसे परमपद का उपदेश करो। हे राम ! इस प्रकार कहकर वह भर्ता के जागने के लिए निकट जाकर बोली, हे नाथ ! तुम जागो; तुम्हारे गृह में दूसरी सृष्टि के ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठमुनि आये हैं। तुम उठकर इनका अर्घ्यपाद्य से पूजन करो; क्योंकि गृह में अतिथि आये हैं। महापुरुष केवल पूजा से ही प्रसन्न होते हैं।

हे राम ! जब इस प्रकार देवी ने कहा तब ब्रह्माजी समाधि से उठे और उनके प्राण देह और नाड़ियों में आकर स्थित हुए। जैसे वसन्त ऋतु से सब वृक्षों में रस हो आता है, वैसे ही उनकी दशों इन्द्रियों और चारों अन्तःकरण में शनैःशनैः करके प्राण स्थित हुए और सब इन्द्रियाँ खिल आईं। तब उन्होंने मुझको और देवी को अपने सम्मुख देखा और ज्ञान से ॐकार का उच्चारण करके सिंहासन पर बैठे। ब्रह्माजी के जागने से बड़ा शब्द होने लगा और विद्याधर, गन्धर्व, ऋषि मुनि आकर प्रणाम करके स्तुति और ध्वनि से वेद पाठ करने लगे। ब्रह्माजी बोले, हे ऋषि ! कुशल तो है ? तुम इतनी दूर से क्यों आये हो ? तुम तो सार असार को जाननेवाले हो। जैसे हाथ में बेल का फल होता है, वैसे ही तुमको सम्पूर्ण ज्ञान है, बल्कि तुम ज्ञान के समुद्र हो। ऐसे कहकर उन्होंने अपने निकट आसन दिया और नेत्रों से आज्ञा की कि इस पर विश्राम करो। हे राम! जब इस प्रकार उन्होंने मुझसे कहा, तब मैं प्रणाम करके उनके निकट जा बैठा और एक मुहूर्तपर्यन्त देवता, सिद्ध और ऋषियों के प्रणाम होते रहे।

उसके अनन्तर जब विद्याधर और देवता सब चले गये, तब मैंने कहा, हे भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता ईश्वर परमेष्ठी ! तुम ऊँचे आसन पर विराजमान हो और साक्षात् ब्रह्मज्ञान के समुद्र हो यह

तुम्हारी शक्ति देवी है, जिसको तुमने भार्या बनाने के लिए उत्पन्न किया था और फिर उसे विरस जानकर त्याग दिया। तुम्हारे वैराग्य से इसको भी वैराग्य उपजा है। इसलिए यह मुझको यहाँ ले आई है कि तुम परमात्मतत्त्व की वाणी से हमको उपदेश करो। सो इससे इसका क्या अभिप्राय है ? ब्रह्माजी बोले, हे मुनीश्वर ! मैं शान्त, अजर-अमररूप हूँ और मुझमें उदय-अस्त कदापि नहीं होता। मैं परम आकाशरूप हूँ और अपने आपमें स्थित हूँ। न मेरी कोई स्त्री है और न मैंने किसी को उत्पन्न किया है, तथापि जो वृत्तान्त हुआ है, वह मैं कहता हूँ, क्योंकि महापुरुष के सामने ज्यों का त्यों कहना चाहिए। हे मुनीश्वर ! आदि शुद्ध चिदात्मा चिन्मात्र पद है। उसका किंचन जो अहं होकर फुरा है, उसका नाम आदि ब्रह्मा है। वही मैं हूँ, जैसे भविष्यत् सृष्टि का हो-मतलब यह कि मैं संकल्परूप द्रष्टा और संकल्परूप हूँ-पर वास्तव में आकाशरूप सदा निरावरण हूँ और अपने आप ही में मेरी अहंप्रतीत है। उसमें आदि जो संकल्प का फुरना हुआ है, उसमें जगत्-भ्रम रचा है और उस जगत्भ्रम में मर्यादा हुई है। संकल्प की अधिष्ठात्री जो ब्रह्मशक्ति है, वह भी शुद्ध है। हे मुनीश्वर, उस मार्यादा को युगों की सहस्त्र चौकड़ी बीती हैं-अब कलियुग है। कल्प और महाकल्प की मर्यादा पूरी हुई है, इससे मुझको परम चिदाकाश में स्थित होने की इच्छा हुई है और इसी से इसको नीरस जानकर मैंने त्याग किया है। जब इसका त्याग करूँगा, तब निर्वाणपद को प्राप्त होऊँगा, क्योंकि यह मेरी इच्छा वासनारूप है। वासना का त्याग हो तो निर्वाणपद प्राप्त हो। यह जो शुद्ध चित्तकला है, इसने धारणा का अभ्यास किया था, इससे इसमें अन्तवाहक शक्ति प्राप्त हुई है। अन्तवाहक शक्ति से यह आकाश में उपजी है और संसार से विरक्त हुई है। आकाशमार्ग में इसको तुम्हारी सृष्टि दिखी और परमपद पाने की इच्छा से इसको तुम्हारी संगति प्राप्त हुई-इससे तुम्हारी शरण आई है और तुमको ले आई है। जो श्रेष्ठ हैं वे बड़ों की शरण जाते हैं। यह अपने कल्याण के लिए तुमको ले आई है।

हे मुनीश्वर ! यह मेरी मूर्तिरूप वासनाशक्ति है। पहले मैंने इसको उत्पन्न करके इस जगत्-जाल को रचा, पर अब मुझको निर्विकल्प निर्वाणपद की इच्छा हुई है, इससे मैंने इसका त्याग किया है। अब इसको भी वैराग्य उपजा है, उस कारण बोधरूप तुम्हारी शरण में आई है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् विलास संकल्प से हुआ है; वास्तव में कुछ हुआ नहीं; परमात्मतत्त्व ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है। मैं, तुम, मेरा, तेरा इत्यादिक शब्द समुद्र के तरंग की नाईं हैं। जैसे समुद्र में तरंग उपजकर शब्द करते हैं और फिर लीन हो जाते हैं, वैसे ही हमारा तुम्हारा बोलना और मिलाप होना है। हे मुनीश्वर ! वास्तव में न कोई उपजा है और न कोई लीन होता है जैसे तरंग जलरूप है-भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है-भिन्न कुछ नहीं। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब वही हैं। हे मुनीश्वर ! मैं चिदाकाश हूँ और चिदाकाश में स्थित हूँ। यह ब्रह्मशक्ति है, जिसने जगत् रचा है। यह भी अजर और अमर है। न कभी उपजी है और न इसका नाश होगा। शुद्ध आत्मा किञ्चन द्वारा जगत् होकर भासित होता है जैसे सूर्य की किरणें जल होकर भासित होती हैं, परन्तु जल कुछ हुआ नहीं, वैसे ही सब आत्मा ही है; विश्व कुछ हुआ नहीं। हे मुनीश्वर ! जगत्जाल होकर आत्मा ही दिखता है, पर जगत् के उदय अस्त होने से आत्मा में कुछ क्षोभ नहीं होता; वह ज्यों का त्यों एकरस स्थित है। जैसे समुद्र में तरंग उपजते और लीन होते हैं, परन्तु समुद्र ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही जगत् कुछ उपजा नहीं, संकल्प से उपजे की नाईं लगता है। जैसे दृढ़ता से जल ओला हो जाता है, वैसे ही चिन्मात्र में चैतन्य से पिण्डाकार भासित होता है, परन्तु उपजा कुछ नहीं।

हे मुनीश्वर ! यह जो शिला है, जिसमें हमारी सृष्टि है, सो केवल चिद्र्घनरूप है। तुम्हारी सृष्टि में यह शिला है और हम चैतन्य घन हैं। चैतन्य आकाश आत्मा ही शिला होकर भासित होती है। जैसे स्वप्न में सब सृष्टि जाग्रत्रूप दिखती है वह बोधरूप है-बोध ही जगत् सा भासित होता है, वैसे ही यह जगत् और शिलारूप होकर बोध ही भासित होता है। हे

मुनीश्वर ! जैसे स्वप्न में ग्रह-चक्र फिरता दिखता है, वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, नदी, वरुण, कुबेर आदि जगत् जो भ्रम से दृष्टिगोचर होता है सो कुछ बना नहीं-चैतन्य का किञ्चन ही ऐसे भासित होता है। जैसे सूर्य की किरणों में किञ्चन जलाभास होता है, वैसे ही जहाँ आत्मसत्ता है, वहाँ जगत् दिखता है, सब पदार्थ आत्मसत्ता से ही भासित होते हैं, ब्रह्मसत्ता सबमें अनुस्यूत है, इससे सब ओर सृष्टि बसती है। जैसे इस शिला में हमारी सृष्टि में जो कुछ पदार्थ दिखते हैं और इनमें सृष्टि बसती है, सो परिच्छिन्न दृष्टि से नहीं दिखती, पर जब अन्तवाहक दृष्टि से देखिये, तब प्रतीत होती है। घटों में, गढ़ों में और पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश आदि स्थानों में सृष्टि है, पर बना कुछ नहीं। जैसे जहाँ समुद्र है वहाँ तरंग भी होते हैं, परन्तु समुद्र से भिन्न तरंग नहीं-वही रूप हैं, वैसे ही यह जगत् उपजा नहीं और न लीन होता है; ज्यों का त्यों आत्मसमुद्र अपने आप में स्थित है।

जगत् संकल्प से फुरता है, और संकल्प ही अहंरूपी किञ्चनमात्र उदय हुआ है। जैसे कमल से सुगन्ध लेकर तरियाँ निकलती हैं, वैसे ही भूल से देवी जगत्रूपी सुगन्ध को लेकर उदय हुई हैं, परन्तु वास्तव जगत् कुछ बना नहीं, केवल संकल्प से बने की नाईं भासित होता है। हे मुनीश्वर! वास्तव में न कोई संकल्प है और न प्रलय, ज्यों का त्यों ब्रह्म अपने स्वभाव में स्थित है। जैसे आकाश में आकाश समुद्र में समुद्र स्थित है, वैसे ही ब्रह्म में ब्रह्म स्थित है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् न सत्य है और न असत्य; आत्मा में न यह उदय हुआ और न अस्त होवेगा। जैसे आकाश में नीलता न सत्य है, न असत्य, वैसे ही ब्रह्म में जगत् न सत्य है और न असत्य। मैं उस ब्रह्म का किञ्चन ब्रह्मा हूँ और यह जगत् मेरे संकल्प से उत्पन्न हुआ है। अब मैं संकल्प को निर्वाण करता हूँ। जब संकल्प निर्वाण होगी, तब जैसे कमल का नाश होने पर सुगन्ध का अभाव हो जाता है, वैसे ही जगत् का अभाव हो जायगा। मुझसे इच्छा फुरी थी, उस वासना में जगत् है। अब मैं इसका निर्वाण करता हूँ। जब इच्छा निर्वाण

होगी, तब जगत् का भी स्वाभाविक अभाव हो जायगा। तुम्हारा शरीर संकल्प से भासित होता है, इससे तुम अपनी सृष्टि में जाओ। ऐसा न हो कि तुम्हारा शरीर भी यहाँ निर्वाण हो जावे। हे राम ! इस प्रकार वह मुझसे कहकर फिर देवी से बोले, हे देवि ! अब तू निर्वाण हो और अपने आपमें बोध आदिक को भी लीन कर।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिलान्तरवशिष्ठब्रह्मसंवाद-
वर्णनन्नाम शताधिकसप्ताशीतितमस्सर्गः ।। १८७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार कहकर ब्रह्मा ने पद्मासन लगाया और सब जनों के साथ 'अकार', 'उकार', 'मकार' को छोड़कर अर्धमात्रा में स्थित हुए। तब उनकी मूर्ति ऐसी दिखने लगी, जैसे कागज पर मूर्ति लिखी होती है। उन्हें सम्पूर्ण जगत्जाल का ज्ञान भूल गया। देवी भी उसी प्रकार पद्मासन बाँधकर ब्रह्माजी के निश्चय में लीन हो जाने लगी। जब ब्रह्माजी निर्वेदनरूप ब्रह्म में लीन होने लगे उस समय जितने उपद्रव थे, सब उदय हुए। मनुष्य पाप करने लगे। स्त्रियाँ दुराचारिणी हो गईं। सब जीवों ने धर्म को त्याग दिया। कामी पुरुष बहुत हुए जो परनारियों के साथ भोग करते थे और पुरुष स्त्रियाँ किसी की शंका न करती थीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष बढ़ गये और शास्त्र की मर्यादा त्यागकर लोग अनीश्वरवादी हुए। वर्षा बन्द हो गई और कुहिरा पड़ने लगा। दुष्काल पड़ा। दुष्टजन धनपात्र होने लगे। धर्मात्मा आपदा भोगने लगे। चोर चोरी करने लगे। राजा मद्यपान करने लगे। जीवों को बड़े दुःख प्राप्त होने लगे, वे तीनों तापों से जलने लगे। राजाओं ने न्याय को त्याग दिया। निदान जो पाप आचार थे, वे उदय हुए और धर्म छिप गया। अज्ञानी राज्य करते; पण्डित ज्ञानी टहल करते, दुर्जनों की मानपूजा होती; सत् पण्डितों का निरादर होता; जीवों के समूह इकट्ठे हुए और पृथ्वी ने अपनी सत्ता को त्याग दिया क्योंकि पृथ्वी ब्रह्मा के संकल्प में थी। जब उन्होंने अपना संकल्प खींचा, तब वह निर्जीव हो गई और चेतनता निकल गई। जो स्थान भूतों के विचरने के थे, वे खाईं की नाईं हो गये।

भूत नष्ट हो गये और पृथ्वी भी नष्ट होने लगी। पर्वत काँपने लगे, भूचाल और हाहाकार शब्द होने लगे। जैसे शरत्काल में बेल सूख कर जर्जर हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी जर्जर हुई, क्योंकि चेतनता रूप शरीरों का और सब जगत् का कारण ब्रह्मा है। ज्यों-ज्यों संकल्परूपी चेतनता क्षीण होती गई, त्यों-त्यों पृथ्वी जर्जर होती गई।

जैसे किसी पुरुष का अर्धांग मारा जाता है, तब वह अंग शव-सा हो जाता है और फुरना उसमें नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मा की संकल्परूप चेतनता पृथ्वी से निकलती जाती थी, इस कारण पृथ्वी दुखी हुई। धूल उड़ने लगी और नगर नष्ट होने लगे। इस प्रकार उपद्रव हुए, क्योंकि पृथ्वी के नाश का समय निकट आ गया था। समुद्र जो अपनी मार्यादा में स्थित थे, उन्होंने भी अपनी मर्यादा त्याग दी। जैसे कामी पुरुष मद्यपान कर अपनी मर्यादा को छोड़ देता है, वैसे ही समुद्र उछले, किनारे गिर गये और पर्वत कन्दरा से निकलकर पृथ्वी का नाश करने लगे। राजा और नगरवासी भागने लगे और उनके पीछे तीव्र वेग से जल चलने लगा; बड़े पर्वत गिरने लगे और चक्र की नाईं घूमने लगे। समुद्र की लहरों से पर्वत गिरते और उड़ते थे। लहरें उछलकर पाताल को गईं और पाताल का नाश होने लगा। बड़े रत्नों के पर्वत जब गिरे, तब रत्नों की ऐसी चमक हुई, जैसी तारामण्डल की होती है। इसी प्रकार बड़ा क्षोभ होने लगा और तरंग उछलकर सूर्य-चन्द्रमा के मण्डल को जाने लगे। उनका प्रकाश जाता रहा। बड़वाग्नि प्रकट हुई, तब वरुण, कुबेर आदि देवताओं के वाहन डरे। जल के वेग से पर्वत नृत्य करने लगे—मानों पर्वतों के पंख लगे हैं। स्वर्ग के कल्पतरु समुद्र में गिर पड़े। चिन्तामणि, सिद्ध और गन्धर्व भी गिरने लगे। समुद्र इकट्ठे हो गये। जैसे गंगा, यमुना और सरस्वती एकत्र होती हैं, वैसे ही समुद्र भी मिलकर शब्द करने लगे। उनमें से ऐसे मच्छ निकले जिनकी पूँछों के लगने से पर्वत उड़ जावें। कन्दरा में जो हाथी थे, वे चिघारने लगे और सूर्य, चन्द्रमा तारागण क्षोभ को प्राप्त होकर समुद्र में गिरने लगे। हे राम ! इस प्रकार प्रलय के क्षोभ से जितने लोकपाल थे, वे सब समुद्र के मुख में आ पड़े और मच्छ उनको भक्षण कर गये। तरंग

आपस में टकराने लगे, जैसे मतवाले हाथी शब्द करते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अन्यजगत्प्रलयवर्णनं नाम शताधिकाष्टाशीतितमस्सर्गः ।। १८८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! उस विराट्रूप ब्रह्मा ने, जिसकी देह सम्पूर्ण जगत् था, अपने प्राण को खींचा, तब नक्षत्र-चक्र को घुमाने-वाला वायु अपनी मर्यादा त्यागकर क्षोभ करने लगा, और वे चक्र नष्ट होने लगे; क्योंकि वे ब्रह्मा के संकल्प में थे। किसी की सामर्थ्य नहीं कि उनको रक्खे। तेजोमय देवता जो पवन के आधार थे, पवन के निकलने से निराधार होकर समुद्र में गिरने लगे और जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं, वैसे ही गिरने लगे। जैसे संकल्प का नाश होने पर संकल्प का वृक्ष गिरता है और जैसे पका फल समय पर वृक्ष से गिरता है, वैसे ही सब गिरने लगे। सुमेरु की कन्दरा गिरी। पवन का बड़ा क्षोभ और शब्द हुआ। जैसे पवन में तृण घूमता है, वैसे ही आकाश में पवन घूमने लगा। देवताओं का घर सुमेरु पर्वत भी गिर पड़ा। राम ने पूछा, हे भगवन् ! संकल्परूप जो ब्रह्मा था, वह तो विराट् आत्मा है और सब जगत् उसकी देह है। अब बताइए भूमण्डल, पाताल और स्वर्गलोक उसके कौन अंग हैं और संकल्परूप कैसे अंग होते हैं ? संकल्प तो आकाशरूप होते हैं और जगत् प्रत्यक्ष पिण्डाकार दिखता है ? जो जिससे उपजता है, वह वैसा ही होता है, तो यह जगत् ब्रह्मा के अंग कैसे हैं ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस जगत् से पहले केवल चिन्मात्र था और उसमें जगत् न सत्य था, न असत्य; केवल आत्मत्वमात्र अपने आपमें स्थित था, जैसे आकाश अपने आपमें स्थित है और एक और दो शब्द से रहित है। उस केवल चिन्मात्र का किञ्चन अहं होकर स्थित हुआ है। उसका दृश्य से सम्बन्ध हुआ और उसके अनुभव-ग्रहण से जो निश्चय हुआ, उसका नाम बुद्धि है। जब मनन हुआ, उसका नाम मन है। उस मन के फुरने से जगत् दृश्य हुआ है। हे राम ! शुद्ध चिन्मात्र में जो चैत्य है, वही ब्रह्मा कहाता है। उसके फुरने पर फिर जगत् हुआ है। उस

संकल्परूप जगत् का वह विराट् है, परन्तु आकाशरूप है, और कुछ नहीं बना। यह जो आकार-सहित जगत् दिखता है, सो भ्रम से। पर सब संकल्प आकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न में जगत् दिखता है सो सब आकाशरूप होता है, परन्तु निद्रादोष से पिण्डाकार भासित होता है और आत्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। हे राम ! अहं जो फुरा है, वह मिथ्या है, अज्ञान से दृढ़ स्थित हुआ है, और असम्यक्दर्शी को दृढ़ भासित होता है। सो केवल संकल्पमात्र है, और कुछ नहीं बना। इससे जितना जगत् भासता है, सो सब चिदाकाश है। एक और द्वैतकलना सब शब्दों से रहित आत्मत्वमात्र है। मैं और तुम शब्द कोई नहीं। यह जगत् उनका किञ्चन है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है, वैसे ही आत्मा का अभास जगत् है। संकल्प की दृढ़ता से यह दृश्य दिखता है, पर वास्तव में है नहीं। जैसे संकल्परूप गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर होते हैं, वैसे ही यह जगत् है।

हे राम ! जिस प्रकार मैंने जगत् का वर्णन किया है, उसे जो पुरुष मेरे कहे के अनुसार ज्यों का त्यों धारण करे तो उसकी वासना नष्ट हो जावे और पूर्ववत् आत्मा ज्यों का त्यों भासित हो। तब जैसे जगत् के आदि में आत्मत्वमात्र था, वैसे ही भासित होगा; क्योंकि और कुछ हुआ नहीं, केवल आत्मत्वमात्र ज्यों का त्यों स्थित है। जो आत्मा ही है तो समवायकारण और निमित्तकारण कैसे हो ? जगत् का उदय और नाश होना असत्य है, और अद्वैत और अनन्त कहना भी ठीक नहीं। जब सब शब्दों का अभाव होता है, तब परम चिदाकाश अनुभवसत्ता ही शेष रहती है। इसी का नाम मोक्ष है। हे राम ! मुझको तो अब भी संवित्सत्ता ही भासित होती है। मैं शुद्ध हूँ; सब कल्पना से रहित और चिदाकाश हूँ। मुझमें जो वशिष्ठ अहं फुरा है, वह फुरा नहीं, फुरे की नाईं लगता है और आत्मा का ही किञ्चन है; हुआ कुछ नहीं। इससे तुम भी इसी प्रकार जागकर निर्वासनिक हो जाओ और अपने प्रकृत आचार को करो अथवा न करो, जो इच्छा हो सो करो, परन्तु करने और न करने का संकल्प मत करो और परम मौन में स्थित हो रहो। ज्ञानवान् को यही

अनुभव होता है, इससे तुम भी ऐसे ही समझो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनन्नाम
शताधिकनवाशीतितमस्सर्गः ।। १८९ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! बन्धनमोक्ष जगत्-बुद्धि न सत् है और न असत्। उदय भी नहीं हुआ और अस्त भी नहीं होता। केवल ज्यों का त्यों आत्मा स्थित है। ऐसे आपने मुझको उपदेश किया है। इसलिए मैंने जाना है कि आत्मा में जगत् न उपजता है और न मिटता है, पर तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को सुनता हुआ भी मैं तृप्त नहीं होता और अमृत की नाईं पान करता हूँ। जगत् सत्-असत् से रहित सन्मात्र है, उसको मैंने जाना है। अब यह कहिये कि संसार भ्रम कैसे उपजता है और उसका अनुभव कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ तुमको स्थावर-जंगम जगत् सब प्रकार देशकाल-संयुक्त दीखता है, उसके नाश का नाम महाप्रलय है। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र भी लीन हो जाते हैं। उसके पीछे जो शेष रहता है, वह स्वच्छ, अज, अनादि, केवल आत्मतत्त्वमात्र है—उसमें वाणी की गति नहीं। वह केवल अपने आपमें स्थित और परम सूक्ष्म है, जिसमें आकाश भी स्थूल है। जैसे सुमेरुपर्वत के आगे राई का दाना सूक्ष्म है, वैसे ही आकाश से भी आत्मा सूक्ष्म है और संवेदन से रहित चिन्मात्र है। उसमें अहं किञ्चन होकर फुरा है। आत्मा सदा निर्विकल्प और समुद्र सदृश, देशकाल के भ्रम से रहित और केवल चैतन्यघन अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में अपने भाव को लेकर जीव स्थित होता है, वैसे ही आत्मा अपने भाव को लेकर चेतन किञ्चन होता है। उसी का नाम ब्रह्मा है, और वह भी चिद्रूप है। हे राम! चित्अणु जो अपने भाव को लेकर उदय हुआ है, उसने चैत्यनाम दृश्य को देखा। इससे उसका अनुभव मिथ्या हुआ। जैसे स्वप्न में कोई अपना मरण देखता है, सो वह अनुभव मिथ्या है; वैसे ही चित्अणु दृष्टि से दृश्य को देखता है। यह मिथ्यादृष्टि है। चित्अणु अपने स्वरूप को देखता है, सो केवल निराकाररूप है, परन्तु अहंरूप बीज दृढ़ होता है, उससे अपने आपसे निकल संकल्प से दृश्य को देखता है।

जैसे बीज से अंकुर निकलता है, वैसे ही संकल्प के फुरने से देश, काल, द्रव्य, द्रष्टा दर्शन और दृश्य होता है। वास्तव में हुआ कुछ नहीं। आत्मा सदा अपने स्वभाव में स्थित है, परन्तु संकल्प से हुए की नाईं भासित होता है। जहाँ चित्‌अणु भासित हो, वह देश है। जिस समय भासित हो, वह काल है। जो भान हो, वह क्रिया हुई। भान का ग्रहण द्रव्य है और देखने को जो वृत्ति दौड़ती है, वह नेत्र होकर स्थित हुई है। जिसको देखते हैं, वह भी शून्य है और देखनेवाले भी शून्य हैं। सब असत्‌ है–कुछ बना नहीं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आत्मा अपने में स्थित है। संकल्प द्वारा सब कुछ बनता जाता है। चित्‌अणु जो भासित हुआ, वह दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है। जब चित्‌अणु में स्वरूप की वृत्ति फुरती है, तब चक्षु इन्द्रिय स्थित होती है। जब सुनने की वृत्ति फुरती है, तब श्रोत इन्द्रिय स्थित होती है। जब स्पर्श की वृत्ति फुरती है, तब त्वक्‌ इन्द्रिय स्थित होती है। जब सुगन्ध लेने की वृत्ति फुरती है, तब नासिका इन्द्रिय स्थित होती है। और जब रस लेने की इच्छा होती है, तब जिह्वा इन्द्रिय स्वाद लेती हैं। हे राम ! प्रथम यह चित्‌अणु नाम से रहित फुरा है। सम्पूर्ण जगत्‌ भी तद्रूप ही था और अब भी वही केवल आकाशरूप है। संकल्प से अपने में पिण्डघन देखकर शरीर और इन्द्रियाँ देखीं, अनादि सत्‌स्वरूप चित्‌अणु इन्द्रियों के संयोग से पदार्थों को ग्रहण करता है। स्पन्दनरूप जो वृत्ति फुरी, उसी का नाम मन हुआ। जब निश्चयात्मक बुद्धि होकर स्थित हुई, तब चित्‌अणु में यह निश्चय हुआ कि मैं द्रष्टा हूँ–यही अहंकार हुआ। जब अहंकार से चित्‌अणु का संयोग हुआ, तब अपने में देशकाल का परिच्छेद देखा। आगे दृश्य और पूर्व उत्तरकाल देखा कि इस देश में बैठा हूँ और यह कर्म मैंने किया है–यह विषम अहंकार हुआ। निदान देश, काल, क्रिया, द्रव्य के अर्थ को भिन्न-भिन्न ग्रहण करता है और आकाश होकर आकाश को ग्रहण करता है।

हे राम ! आदि स्फुरण से चित्‌अणु में प्रथम अन्तवाहक शरीर हुआ। फिर संकल्प के दृढ़ अभ्यास से आधिभौतिक भासित होने लगा। जैसे आकाश में और आकाश हो, वैसे ही ये आकाश अनहोते भ्रम से उदय हुए

हैं और सत् की नाईं भासते हैं। जैसे मरुस्थल में भ्रम से नदी दिखती है, वैसे ही अविचार से संकल्प की दृढ़ता से पाञ्चभौतिक आकार भासित होते हैं। उनमें अहं प्रत्यय होने से जीव देखता है कि यह मेरा सिर है; ये मेरे चरण हैं, यह अमुक देश है इत्यादिक। यह जीव शब्द-अर्थ और नाना प्रकार का जगत् और भाव-अभाव ग्रहण करता है और कहता है कि यह देश है, यह काल है, यह क्रिया है और यह पदार्थ है। हे राम ! जब इस प्रकार जगत् के पदार्थों का ज्ञान होता है, तब चित्त विषयों की ओर दौड़ता है और रागद्वेष को ग्रहण करता है। जो कुछ देहादिक भूत फुरने से भासते हैं, वे केवल संकल्पमात्र हैं और संकल्प की दृढ़ता से दृढ़ हुए हैं। हे राम ! इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार कीट और पतंग भी उत्पन्न हुए हैं, परन्तु प्रमाद-अप्रमाद का भेद है। जो अप्रमादी हैं, वे सदा आनन्दरूप स्वतन्त्र ईश्वर हैं। उनको यह जगत् और वह जगत् अपना ही रूप प्रतीत होता है। और जो प्रमादी हैं, वे तुच्छ और सदा दुखी हैं, पर वास्तव में परमात्मतत्त्व से भिन्न कुछ हुआ नहीं। जैसे आकाश अपनी शून्यता में नित्य स्थित है, वैसे ही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। सबका बीज, त्रिलोकीरूप बूँद का मेघ, कारण का कारण, काल में नीति और क्रिया में क्रिया वही है। आदि-विराट् पुरुष का शरीर भी नहीं और हम तुम भी नहीं-केवल चिदाकाशरूप है। अब भी उनका शरीर आकाशरूप है और आत्मसत्ता भिन्न अवस्था को नहीं प्राप्त हुई-केवल आकाशरूप है। स्वप्न में युद्ध होते और मेघ गर्जते इत्यादि शब्द-अर्थ भासित होते हैं, सो वे केवल आकाशरूप हैं, बना कुछ नहीं, परन्तु निद्रादोष से भासते हैं और मनुष्य जब जागता है, तब जानता है कि हुआ कुछ न था-आकाशरूप है, वैसे ही जो पुरुष अनादि अविद्या से जागा है, उसको जगत् आकाशरूप भासित होता है। हे राम ! बहुत योजन पर्यन्त विराट् पुरुष का देह है, तो भी वह ब्रह्म आकाश के सूक्ष्म अणु में स्थित है। यह त्रिलोकी एक चित्अणु में स्थित है और इसका विराट् पुरुष ऐसा है, जिसका आदि, अन्त और मध्य नहीं देख पड़ता, तो भी एक चावल के समान भी नहीं है।

हे रामचन्द्र ! यह जगत् और जगत् के भोग विस्तीर्ण दिखते हैं, पर जैसे स्वप्न के पर्वत जाग्रत् के एक अणु के समान नहीं, वैसे ही विचाररूपी तराजू से तोलिये तो परमार्थसत्ता में इनकी कुछ सत्यता नहीं देख पड़ती; परन्तु आत्मसत्ता से कुछ भिन्न नहीं हुआ, आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। इसी का नाम स्वायम्भुव मनु और विराट् है, और इसी को जगत् कहते हैं। जगत् और विराट् में कुछ भेद नहीं—वास्तव में आकाशरूप है। सनातन भी इसी को कहते हैं। रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ, पर्वत, जल आदि जितने भूत हैं, वे उसका शरीर हैं। हे राम ! इसका आदि शरीर जो चिन्मात्ररूप है, उसमें चेतनता से अपना अणु सी देह देखता है—जैसे तेज का कणका होता है। उस तेज-अणु से चेतनता—और क्रम से अपना बड़ा शरीर जगत्रूप देखता है। जैसे स्वप्न में कोई पुरुष अपने को पर्वत देखे, वैसे ही वह अपने को विराट्रूप देखता है। जैसे पवन के दो रूप हैं-चलता है तो भी पवन है और नहीं चलता तो भी पवन है-वैसे ही जब चित्त फुरता है, तब भी ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों है और जब चित्त नहीं फुरता, तब भी ज्यों की त्यों है। परन्तु जब स्पन्दन फुरता है, तब विराट्रूप होकर स्थित होता है, और जब चित्त नहीं फुरता, तब अद्वैतसत्ता भासित होती है और सदा अद्वैत ही विराट्स्वरूप है। हे राम ! इस दृष्टि से उसके सिर और पैर नहीं दिखते। जितनी ब्रह्माण्ड की पृथ्वी है, वह उसका मांस है। सब समुद्र उसका रुधिर है। नदी नाड़ी है। दशो दिशा वक्षःस्थल है। तारागण रोमावली हैं। सुमेरु आदिक अँगुलियाँ हैं। सूर्यादिक तेज पित्त हैं। चन्द्रमा कफ है। पवन प्राणवायु है। सम्पूर्ण जगत्जाल उसका शरीर है। ब्रह्मा हृदय है, सो आकाशरूप है, पर संकल्प से नानारूप भासित होता है, स्वरूप से कुछ बना नहीं। आकाश आदिक सब जगत् चिदाकाशरूप और अपने आप ही में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विराडात्मवर्णनन्नाम शताधिकनवतितमस्सर्गः ।। १६० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आदि विराट् ब्रह्मा है। उसका आदि-अन्त नहीं। यह जगत् उसका छोटा शरीर है। उसी चैतन्य वपु का किञ्चन ब्रह्मारूप हुआ है। उसके विस्तार का क्रम सुनो-उस ब्रह्मा ने जिसका वपु संकल्पमात्र है, अपने संकल्प से एक अण्ड रचा और उसको तोड़-फोड़ डाला। ऊर्ध्वभाग ऊपर गया और नीचे का भाग नीचे गया। पाताल ब्रह्मा का चरण हुआ। ऊर्ध्व सिर हुआ। मध्य आकाश उदर हुआ। दसो दिशा वक्षःस्थल, हाथ सुमेरु आदिक पर्वत, मांस पृथ्वी, समुद्र और सब नदियाँ नाड़ी, जल रुधिर, प्राण अपान वायु पवन, हिमालय पर्वत कफ, सब तेज पित्त, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र, तारागण स्थूल लार है। लार प्राण के बल से निकलती है-जैसे ताराचक्र को पवन फेरता है। ऊर्ध्व-लोक उसकी शिखा है। मनुष्य, पशु और पक्षी रोम हैं। सब भूतों की चेष्टा उसका व्यवहार है। पर्वत उसकी अस्थि, ब्रह्मलोक उसका मुख और सब जगत् उस विराट् का वपु है। रामजी बोले, हे भगवन् ! यह जो आपने संकल्परूप ब्रह्मा और जगत् उसका वपु कहा, उसे मैं मानता हूँ; परन्तु यह जगत् तो उसी का शरीर हुआ; फिर ब्रह्मलोक में ब्रह्मा कैसे बैठता है और अपने शरीर में भिन्न होकर कैसे स्थित होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसमें क्या आश्चर्य है ? जो तुम ध्यान लगाकर बैठो और अपनी मूर्ति अपने हृदय में रच कर स्थित हो तो बन जाय। जैसे मनुष्य को स्वप्न आता है और उसमें जगत् भासित होता है सो सब अपना स्वरूप है। परन्तु अपनी मूर्ति रखकर और को देखता है। वैसे ही ब्रह्मा का एक शरीर ब्रह्मलोक में भी होता है। ब्रह्मा और जीव में इतना भेद है कि जीव भी अपनी स्वप्नसृष्टि का विराट् है, परन्तु उसको प्रमाद से नहीं भासित होती और ब्रह्मा सदा अप्रमादी है उसको सब जगत् अपना शरीर भासित होता है।

हे राम ! देवता, सिद्ध, ऋषीश्वर और विद्याधर उस विराट् पुरुष की ग्रीवा में स्थित हैं। भूत, प्रेत, पिशाच सब उस विराट् पुरुष के मल से उपजे हैं और कीट की नाईं उदर में स्थित हैं। सब स्थावर-जंगम जगत् संकल्प से रचा हुआ विराट् में स्थित है-सब उसी के अंग हैं। जो जगत्

है तो विराट् भी है, और जगत् नहीं तो विराट् भी नहीं। जगत्, ब्रह्म और विराट् तीनों पर्याय हैं। इससे सम्पूर्ण जगत् विराट् का शरीर है। निराकार क्या और आकार क्या-सब भीतर बाहर विराट् का शरीर है। जैसे भीतर-बाहर आकाश में भेद नहीं, वैसे ही विराट् आत्मा में भेद नहीं। जैसे पवन के चलने और ठहरने में भेद नहीं वैसे ही विराट् और आत्मा में भेद नहीं है। जैसे चलना और ठहरना दोनों पवन के रूप हैं, वैसे ही साकार-निराकार सब विराट् का शरीर है। हे राम ! इस प्रकार जगत् हुआ है, सो कुछ उपजा नहीं, संकल्प से उपजे की नाईं भासित होता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल नहीं है, और हुए की नाईं लगता है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता में जगत् उपजे की नाईं जान पड़ता है। पर उपजा कुछ नहीं—केवल अपने आपमें स्थित है। वह शिला की नाईं स्थित है, अर्थात् तुम्हारा संकल्प-विकल्प और चैतन्यरूप चैत्य से रहित चिन्मात्रस्वरूप है—इससे कलना को त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विराट्शरीरवर्णनंनाम शताधिकैकनवतितमस्सर्गः ।। १९१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम प्रलय का प्रसंग फिर सुनो। मैं ब्रह्मपुरी में ब्रह्मा के पास बैठा था। जब मैंने नेत्र खोलकर देखा कि मध्याह्न का समय है और दूसरा सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हुआ है, उसका बड़ा प्रकाश है—मानो सम्पूर्ण तेज इकट्ठा हुआ है या बड़वाग्नि की नाईं प्रकाश हुआ है और बिजली की नाईं स्थित हुआ है उसको देखकर मैं विस्मित हुआ। देख ही रहा था कि एक और सूर्य उदय हुआ। फिर उत्तर दिशा की ओर और सूर्य उदय हुआ। इसी प्रकार प्रथम के अलावा दस सूर्य आकाश में और प्रकट हुए। बड़वाग्नि समुद्र से प्रकट हुई। उससे एक सूर्य निकला। सब द्वादश सूर्य इकट्ठे होकर विश्व को तपाने लगे। हे राम! प्रलय के तीन नेत्र उदय हुए—एक नेत्र सूर्य, दूसरा नेत्र बड़वाग्नि और तीसरा नेत्र बिजली। वे तीनों विश्व को जलाने लगे। दिशा सब लाल हो गई। अट्टअट्ट शब्द होने लगे। नगर, वन, कन्दरा, पृथ्वी जलने लगीं।

देवताओं के स्थान जल जलकर गिरने लगे। पर्वत जलकर श्याम हो गये। ज्वाला के कण निकलकर पाताल को गये। वह भी जल गया। समुद्र जलकर सूख गये और हिमालय पर्वत का बरफ जल होकर जलने लगा—जैसे दुर्जनों से संगकर साधु का हृदय तप्त होता है। जब इसी प्रकार बड़ी अग्नि प्रज्वलित हुई, तब मुझको भी तपन आने लगी और मैं वहाँ से दौड़कर नीचे जाकर स्थित हुआ। वहाँ मैंने देखा कि अस्ताचल पर्वत जलता हुआ उदयाचल पर्वत के पास आ पड़ा। मन्दराचल और सुमेरु पर्वत जलकर गिरने लगे और अग्नि की ज्वाला ऊँचे उठकर भड़भड़ शब्द करने लगी।

हे राम ! इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व जलने लगा। बड़ा क्षोभ हुआ और जहाँ कुछ रस था सो सब सूख गया। हे राम ! जिसको अज्ञानी रस कहते हैं, वह सब विरस है। परन्तु अपने-अपने काल में सब रस-संयुक्त दिखते हैं। उस समय में मुझको सब ऐसे लगे, जैसे जली हुई बेल होती है। हे राम! इस प्रकार मैंने सब विश्व जलता देखा, परन्तु ज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हुआ था, वह सुखी दिखता था और सब अग्नि में जलते देख पड़ते थे और बड़े भयानक शब्द होते थे। शिव का जो कैलास पर्वत है, उसके निकट जब अग्नि आई, तब सदाशिव ने अपने नेत्र से अग्नि प्रकट की, जिससे बड़ा क्षोभ हुआ और ब्रह्माण्ड जलने लगा। तब महापवन चला जिससे बड़े पर्वत उड़ने लगे—जैसे तृण उड़ते हैं। जो स्थान जले थे, उनकी आँधी होकर यक्षों के स्थान भी उड़ने लगे। निदान बड़ा क्षोभ प्रकट हुआ और इन्द्रियादिक देवता अपने स्थान को त्यागकर ब्रह्मलोक में चले गये। बड़े मेघ, जो जल से पूर्ण थे, सूखकर जलने लगे। कल्परूपी पुतली नृत्य करने लगी। जले स्थानों से जो धुआँ निकलता था, वह उसके केश थे और प्रलय का शब्द उसका बोलना था। बड़ा पवन चलने लगा, पर्वत जलकर उड़ने लगे और सुमेरु आदिक पर्वत तृणों की नाईं उड़ते थे। निदान जीवों को बड़ा कष्ट हुआ, जो कहा नहीं जाता ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगद्ब्रह्मप्रलयवर्णनन्नाम
शताधिकद्विनवतितमस्सर्गः ।। १९२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब अग्नि से सब स्थान जल गये, तब उसके उपरान्त पुष्कल मेघ गर्जकर वर्षने लगे। प्रथम मूसल सी, फिर खंभा सी धारा बरसी। फिर नदी की नाईं और फिर महानद की नाईं मेघ बरसने लगे, जिनका गंगा यमुना नदी लहरें थीं। उनसे सब स्थान शीतल हो गये–जैसे तीनों तापों से जला हुआ अज्ञानी सन्तों के संग से शीतल होता है। हे राम ! फिर ऐसा जल चढ़ा, जिससे सुमेरु आदि पर्वत नृत्य करने लगे। जैसे समुद्र में झाग होते हैं, वैसे ही हो गये, अथवा ऐसे जान पड़ते थे, जैसे जलचर होते हैं। हे राम ! ऐसा जल चढ़ा कि कहा नहीं जाता। बड़े–बड़े स्थान और देवता, सिद्ध, गन्धर्व बहे जाते थे, जिनको अज्ञानी परमार्थ जानकर सेवन करते हैं, वे भी बहते देख पड़े। जैसे कोई पुरुष कण्टक के अन्धे कूप में गिरके दुःख पावे, वैसे ही वे दीखे, पर मुझको सब ब्रह्म ही देख पड़ता था। पर जब संकल्प की ओर देखता, तब महाप्रलय दीखता और मेघ गर्जते घटा होकर दिखाई देते थे। निदान ब्रह्मलोक तक जल चढ़ गया और मैं देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजलमयवर्णनं नाम शताधिकत्रिनवतितमस्सर्गः ।। १९३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! उस ब्रह्मा का जगत् जलमय हो गया और मुझे जल से भिन्न कुछ न देख पड़ा, सब शून्य ही देख पड़ा। ऊपर, नीचे और मध्य दिशा भी न दिखती थी। न कोई तत्त्व, न कोई पर्वत, न कोई देवता, न पशु और न पक्षी देख पड़ते थे। तब मैंने ब्रह्मपुरी को देखा कि इसकी क्या दशा है। फिर जैसे प्रातःकाल का सूर्य अपनी ज्योति को फैलाता है, वैसे ही मैंने ब्रह्मपुरी को दृष्टि फैलाकर देखा। तब ब्रह्माजी मुझको परम समाधि में देख पड़े, और भी जो जीवन्मुक्त ब्रह्मा के सभासद थे, वे भी सब पद्मासन से परमसमाधि लगाये बैठे थे। जैसे पत्थर की मूर्ति हो, वैसे ही सब परमसमाधि में अचल स्थित थे। उनमें संवेदन का फुरना नहीं था। चारों वेद मूर्ति धारण किये और बृहस्पति, वरुण, कुबेर, इन्द्र, यम, चन्द्रमा, अग्नि, देवता इत्यादि ऋषीश्वर मुनीश्वर आदि सब

जीवन्मुक्तों को मैंने ध्यान में स्थित देखा। द्वादश सूर्य भी जो विश्व को तपाते थे, वे पद्मासन लगाकर समाधि में स्थित थे। एक मुहूर्त तक मैंने इसी प्रकार देखा। जब एक मुहूर्त बीता, तब सूर्य के सिवा सब अन्तर्धान हो गये। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने में विद्यमान होती है और जागने से उसकी अभावना हो जाती है, वैसे ही मेरे देखते-देखते ब्रह्मपुरी शून्य वन की नाईं उजाड़ हो गई। जैसे राजपतन से मार्गप्रलय हो जाते हैं, वैसे प्रलय हो गया।

हे राम ! जैसे स्वप्न में मेघ गर्जते दिखते हैं, और यह दृष्टान्त तो बालक भी जानते हैं कि जो प्रत्यक्ष अनुभव को छिपाते हैं, वे मूर्ख हैं। मैं अनुभव से भी जानता हूँ, स्मृति भी होती है और सुना भी है कि जब तक निद्रा है, तब तक स्वप्न की सृष्टि दिखती है और जागने पर उसका अभाव होता है, वैसे ही जब तक ब्रह्मा की वासना थी, तब तक सृष्टि थी, जब वासना क्षय हुई, तब सृष्टि कहाँ रही ? जब वासना नष्ट होती है, तब अन्तवाहक आधिभौतिक शरीर नहीं रहते। हे राम ! जब शुद्धमात्र पद से चित्तशक्ति फुरती है, तब पिण्डाकार होकर भासित होती है। और जब तक वह शरीर है, तब तक संसार उपजता है और नष्ट भी होता है। वैसे ही ब्रह्मा की सुषुप्ति में जगत् लीन हो जाता है और जाग्रत् में उत्पन्न होता है; क्योंकि ब्रह्मा के शरीर का सुषुप्ति में लीन होना ही प्रलय है। यदि कहिये कि इस शरीर के नाश का नाम महाप्रलय हो तो ऐसे नहीं हैं, क्योंकि मृतक हुए शरीर का नाश होता है और फिर लोक भासित होता है। और जो कहिये कि जैसे वह परलोक भ्रममात्र है, वैसे ही यह भी भ्रान्तिमात्र है, इसी का नाम महाप्रलय है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति, स्मृति और पुराण सब कहते हैं कि महाप्रलय में कुछ नहीं रहता, केवल आत्मसत्ता ही रहती है। और जो कहिये कि परलोक भ्रान्तिमात्र है, इसका नाश होना क्या है तो श्रुति और शास्त्र का कहना व्यर्थ होता है और जो उनका कहना व्यर्थ हो तो इनके कहने से ब्रह्माकार वृत्ति किसी को उत्पन्न न हो। जो तुम कहो कि जैसे अंगवाला अंग को सिकोड़ लेता

है, वैसे ही स्थूल भूत सिमट कर अपने सूक्ष्मकारण में जाकर लीन होते हैं, इसी का नाम महाप्रलय है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सूक्ष्मभूत के रहते महाप्रलय नहीं होता। और जो तुम कहो कि संवेदन जो अज्ञान है, जिसमें अहं फुरता है, उसका नाम महाप्रलय है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मूर्च्छा में जीव को अज्ञान होता है, परन्तु फिर सृष्टि भासित होती है और मृत्यु होती है। सो मृत्यु बड़ी मूर्च्छा है। पर उसमें भी फिर पाञ्चभौतिक शरीर भासित होता है और आगे जगत् भासित होता है। इससे इसका नाम भी महाप्रलय नहीं। जो तुम कहो कि जब तक यह पाञ्चभौतिक शरीर है, तब तक जगत् है और इसका अभाव होने पर महाप्रलय होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब शरीर को जीव छोड़ता है और उसकी क्रिया नहीं होती तो वह पिशाच होता है।

इस शरीर का जब नीरूप होता है और मनुष्य शव हो जाता है, तब क्षत्रिय-ब्राह्मण की संज्ञा नहीं रहती। इससे तुम देखो कि केवल देह का नाश भी महाप्रलय नहीं है और प्रमाद से विपर्यय का नाम भी महाप्रलय नहीं है। महाप्रलय उसको कहते हैं, जिसमें सबका अभाव हो जाय। और सबका अभाव तब होता है, जब वासना का क्षय हो जाता है। इसलिए वासना के क्षय को ज्ञानी लोग निर्वाण कहते हैं। जैसे जब तक निद्रा है, तब तक स्वप्न का जगत् दिखता है और जाग्रत् में स्वप्न के जगत् का अभाव हो जाता है, वैसे ही जब तक वासना है, तब तक जगत् है, जब वासना का क्षय होता है, तब जगत् का अभाव होता है। हे राम ! वासना भी फुरती नहीं, आभासमात्र है। जो तुम कहो कि भासता क्यों है ? तो जो कुछ भासित होता है, वह वही अपने भाव में आप स्थित है। हे राम! उत्थान होने का नाम बन्धन है और उत्थान के मिटने का नाम मोक्ष है। हे राम ! नेत्र के खोलने और मूँदने में भी कुछ यत्न है, पर मुक्त होने में कुछ यत्न नहीं। जो वृत्ति बहिर्मुख हुई तो बन्धन हुआ और वृत्ति अन्तर्मुख हुई तो मुक्त हुआ। इसमें क्या यत्न है। इसलिए सुषुप्त की नाईं निर्वासनिक हो जाओ। जब अहंसंवेदन फुरता है, तब मिथ्या जगत् सत्य सा भासित

होता है। आगे तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो। पर जब अहं उत्थान से रहित होगे, तब निर्वाणपद को प्राप्त होगे। जहाँ एक और दो की कोई कल्पना नहीं, उस परमशान्त निर्विकल्प पद को प्राप्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वासनाक्षयप्रतिपादनं
नांम शताधिकचतुर्णवतितमस्सर्गः ।। १९४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! निदान वे ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये—जैसे तेल बिना दीपक बुझ जाता है। ब्रह्माजी जब ब्रह्मपद में निर्वाण हुए और द्वादश सूर्य फिर ब्रह्मपुरी को जलाने लगे और सम्पूर्ण ब्रह्मपुरी जल गई, तब वे सूर्य भी ब्रह्मा की नाईं पद्मासन लगाकर स्थित हुए। जैसे तेल बिना दीपक का निर्वाण होता है, वैसे ही वे सूर्य भी निर्वाण को प्राप्त हो गये। हे राम ! जब द्वादश सूर्य निर्वाण हो गये, तब समुद्र उमड़े और उन्होंने ब्रह्मपुरी को ढक लिया। जैसे रात्रि में अन्धकार नगर को ढक लेता है, वैसे ही ब्रह्मपुरी को उन्होंने आच्छादित किया। बड़े तरंग उछले और पुष्करमेघ भी तरंगों से छेदे गये और जलरूप हो गये। हे राम ! तब एक पुरुष आकाश से निकला मुझको देख पड़ा, जो महाभयानक श्यामवर्ण उग्र आकार था। उसने सबको ढक लिया। वह कृष्णमूर्ति ऐसा था, मानों कल्पपर्यन्त की रात इकट्ठी होकर उसके रूप में स्थित हुई हो। उसके मुख से ज्वाला निकलती थी। उसके शरीर में बड़ा प्रकाश या मानों कोटि सूर्य हों, या बिजली का प्रकाश इकट्ठा हुआ हो। उसके पाँच मुख थे, दस भुजाएँ थीं और तीन नेत्र थे—मानों तीनों सूर्य चमक रहे थे। उसके हाथ में त्रिशूल था और आकाश की नाईं उसकी मूर्ति थी।

जैसे क्षीरसमुद्र के मथने को भुजा बड़ी करके विष्णु ने शरीर धारण किया था और क्षीरसमुद्र को क्षुब्ध किया था, वैसे ही नासिका की साँस से वह समुद्र को क्षुब्ध कर रहा था। जैसे आकाश का बड़ा आकार है, वैसा ही स्वरूप उसने धारण किया—मानों प्रलयकाल के समुद्र मूर्ति धर के स्थित हुए हों, अथवा मानों सब अहंकार की समष्टि वह था, अथवा महाप्रलय की बड़वाग्नि की मूर्ति स्थित था, या प्रलयकाल के मेघ मूर्ति

धरके स्थित हुए थे। हे राम ! मैंने जाना कि यह महारुद्र हैं, क्योंकि इनके हाथ में त्रिशूल है, तीन नेत्र और पाँच मुख हैं। यह जानकर मैंने उन्हें प्रणाम किया। राम ने पूछा, हे भगवन् ! उनका भयानक रूप क्या था और रुद्र किसको कहते हैं ? उनका बड़ा आकार, दस भुजा, पञ्चमुख और तीन नेत्र क्या थे और हाथ में त्रिशूल क्या था ? क्या वह किसी के भेजे आये थे ? उन्होंने क्या किया और कहाँ गये ? वह अकेले थे अथवा उनके साथ कोई और था ? वह श्यामवर्ण क्यों थे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! विषम विष परिच्छिन्न जो अहंकार है, वह त्यागने योग्य है, और समष्टि अहंकार सेवन करने के योग्य है। सब आत्मा प्रतीति का नाम समष्टि अहंकार है। उसी का नाम रुद्र है। कृष्णवर्ण इसलिए था कि वह आकाशरूप है। जैसे आकाश में नीलापन है, वैसे ही उसमें कृष्णता थी सब जीव जो अपने अहंकार को त्यागकर निर्वाण हुए, उनकी समष्टि होकर रुद्ररुप प्रकट हुई, इसी से वह उग्र था। पञ्चमुख ज्ञान इन्द्रियों की समष्टि थी और दस भुजा कर्म इन्द्रियों की समष्टि थी। राजस, तामस, और सात्त्विक तीन गुण तीनों नेत्र थे अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान या ऋग्, यजुः, शाम ये तीनों वेद नेत्र थे। अथवा मन, बुद्धि और चित्त तीनों नेत्र थे। ॐकार की तीन मात्रा उसके नेत्र और आकाश वपु था। त्रिलोकीरूपी हाथ में त्रिशूल था। चित्संवित् से वह फुरा था, इससे उसी का भेजा आया था और फिर उसी में लीन होगा। वह केवल आकाशरूप था। जो कुछ उसने किया, वह भी सुनो। हे राम ! ऐसा वह रुद्र था मानो आकाश को पंख लगे हों। उसने अपने नेत्र प्राणों को खींचा तो सब जल उसके मुख में प्रवेश करने लगे। जैसे नदी समुद्र में प्रवेश करती है, वैसे ही जल रुद्र में लीन हुए। जैसे बड़वाग्नि समुद्र को पी लेती है वैसे ही सब उस रुद्र ने एक मुहूर्त में सब जल पान कर लिया। कहीं जल का अंश भी न देखने को रह गया । जैसे अन्धकार को सूर्य सोख लेता है या जैसे अज्ञानी का अज्ञान सन्त के संग से नष्ट हो जाता है, वैसे ही उसने जल को पान कर लिया। तब केवल शुद्ध आकाश हो गया। न कहीं पृथ्वी

दिखती; न अग्नि, न वायु, कोई तत्त्व कहीं न दिखता—एक आकाश ही दिखता जैसा उज्ज्वल मोती होता है वैसा ही उज्ज्वल आकाश दिखता था, और चारों तत्त्व न दिखता था। एक तो अधोभाग दिखता; दूसरे मध्य भाग आकाश, सो रुद्र ही दिखता; तीसरे ऊर्ध्वभाग देख पड़ता और चौथे चिदाकाश देख पड़ता जो सर्वात्मा है। और कुछ न देख पड़ता। हे राम ! वह रुद्र भी आकाशरूप था और उसका कोई आकार न था। केवल भ्रान्ति से आकार भासित होता था। जैसे भ्रम से आकाश में नीलापन और तरुवर और स्वप्न में भ्रम से आकार भासते हैं, वैसे ही रुद्र का आकार देख पड़ा; पर आत्मा आकाश से भिन्न न था। जैसे भ्रम से चिदाकाश में भूताकाश भासता है, वैसे ही रुद्र का शरीर भासित हुआ। वह रुद्र सर्वात्मा था और आकाश होकर जो भासित हुआ, वह किञ्चन था। हे राम ! आकाश में रुद्र निराधार दिखता था। जैसे मेघ निराधार होते हैं, वैसे ही वह निराधार दिखता था। श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् ! इस ब्रह्माण्ड के ऊपर और उसके ऊपर क्या है, सो कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम! यह जो ब्रह्माण्ड का आकाश है, उस पर दस गुना जल है। जल के ऊपर दस गुना अग्नि है। उसके ऊपर दसगुना वायु है। उसके ऊपर दसगुना आकाश है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! ये तत्त्व जो तुमने वर्णन किये, सो किसके ऊपर हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये तत्त्व पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं। जैसे माता की गोद में बालक आ बैठता है, वैसे ही ये तत्त्व पृथ्वी पर हैं और पृथ्वी भागों के आश्रय में है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! पृथ्वी आदि तत्त्वों सहित निराधार ब्रह्माण्ड किसके आश्रय से स्थित हुआ है। उनका चलना और ठहरना कैसे होता है और वे नष्ट कैसे होते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम्हीं कहो कि आकाश में मेघ किसके आश्रय होते हैं ? सूर्य और चन्द्रमा किसके आश्रय होते हैं ? जैसे ये संकल्प के आश्रित हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड भी संकल्प के आश्रित है। जैसे स्वप्न की सृष्टि संकल्प ही के आश्रित है और संकल्प आत्मा के आश्रित है, वैसे ही यह जगत्

और तत्त्व भी आत्मसत्ता के आश्रित स्थित है। इनका ठहरना और गिरना भी आत्मा के आश्रित है। जैसे आदि चित्त का स्पन्दन होकर नीति हुई है, वैसे ही है। इस प्रकार इसका गिरना है, इस प्रकार ठहरना है, इस प्रकार इसका नाश होना और इस प्रकार रहना है। वास्तव में परम स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं-केवल भ्रममात्र है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है, वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और चित्संवित् ही जगत् के आकार से भासित होता है। जैसे आकाश में नीलिमा प्रतीत होती है, वैसे ही आत्मा में जगत् की प्रतीत है और जैसे तलवार में श्यामता झलकती है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। जैसे नेत्रदोष से आकाश में मोती दिखते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है और मिथ्या जगतों की संख्या कीजिये तो नहीं गिने जा सकते। जैसे सूर्य की किरणों का आभास और रेत के कणों की संख्या नहीं होती, वैसे ही जगतों की संख्या नहीं होती। पर वास्तव में कुछ बना नहीं—सब अजातजात हैं। जैसे स्वप्न में अनहोती सृष्टि भासती है, वैसे ही यह जगत् भासता है, इससे दृश्य को मिथ्या जानकर जगत् की वासना त्यागो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं
नाम शताधिकपञ्चनवतितमस्सर्गः ।। १९५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! उस रुद्र का तो मैंने बड़ा भयानक रूप देखा था। उसके नेत्र बड़े तेज से पूर्ण थे—चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि ये तीनों उसके नेत्र थे और वह महाभयानक था—मानो प्रलय के समुद्र साक्षात् स्थित हैं। रुण्डों की माला उसके कण्ठ में थी और उसकी परछाहीं बड़ी और श्याम पड़ती थी। उसको देखकर में आश्चर्यचकित हुआ कि यहाँ सूर्य और अग्नि भी नहीं और किसी का प्रकाश भी नहीं है, तब यह परछाहीं किस प्रकार है और क्या है ? ऐसे मैं देखता ही था कि वह परछाहीं नृत्य करने लगी। उससे एक स्त्री निकली, जिसका शरीर दुर्बल आकार बड़ा ऊँचा और वर्ण कृष्ण था—मानो साक्षात् अँधेरी रात्रि है। उसके तीन नेत्र, बड़ी भुजा ऊँची ग्रीवा थी—मानो प्रलयकाल के मेघ मूर्ति

धारण कर स्थित हुए हैं। उसके गले में रुद्राक्ष और रुण्डों की माला पड़ी हुई थी। वह विकराल स्वभाव की नारी हाथों में त्रिशूल, खड्ग, बाण, ध्वजा, ऊखल, मूशल आदिक आयुध लिये थी। ऐसा भयानक आकार देखकर मैंने विचार किया कि यह काली भवानी है। उसको मैंने नमस्कार किया। जैसे अग्नि के जले हुए पर्वत के शिखर श्याम होते हैं, वैसे ही वह श्यामवर्ण थी। उसके मस्तक में तीसरा नेत्र बड़वाग्नि की नाईं तेज से युक्त निकला था। कभी उसकी दो भुजा दिखती, कभी सहस्रभुजा दिखती, कभी अनन्त भुजा हो जाती, कभी एक ही भुजा दीखती और कभी कोई भुजा न देख पड़ती। कभी सिर पैर कोई न रहता, केवल एक बुत सी लगती और नृत्य करती थी।

ज्यों-ज्यों वह नृत्य करती, त्यों-त्यों उसका शरीर स्थूल देख पड़ता, मानो आकाश को भी ढक लिया है, और दसों दिशाओं से आकाश को पूर्ण किये हैं। नख-शिख की सीमा कुछ न दिखती, ऐसा आकार बढ़ाया। जब वह भुजा को हिलाती, तब मानो आकाश को मापती थी। पाताल तक उसके चरण आकाश पर्यन्त सीस, पृथ्वी उसका उदर, सुमेरु आदि पर्वत नाभिस्थान और दशों दिशा भुजा थीं, मानो प्रलय काल की मूर्ति रखकर स्थित हुई है। बड़े पर्वत की कन्दरा सदृश उसकी नासिका थी। लोकालोक पर्वत हाड़ थे और कण्ठ में नदियों की माला थी, जो हिलती थी। वरुण, कुबेर आदि देवताओं के सिर की माला उसके कण्ठ में थी। पवन नासिका के मार्ग से निकलता था, जिससे सुमेरु आदि पर्वत तृणों की नाईं उड़े जाते थे। ब्रह्माण्ड की माला उसके गले में थी। हाथों में ब्रह्माण्डरूपी भूषण थे और कटि में ब्रह्माण्ड के घुँघरू और करधनी थी। जब वह नृत्य करती, तब सब ब्रह्माण्ड नृत्य करने लगता था। जैसे पवन से पत्ते नाचते हैं, वैसे ही सुमेरु आदि नृत्य करते थे। उसके एक-एक रोम में ब्रह्माण्ड थे। जैसे तारागण वायु के अधीन हैं। उसके कानों में धर्म-अधर्मरूपी मुद्राएँ थीं। बड़े-बड़े कान और बड़ा मुख था, मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भक्षण कर लेगी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्तन थे। उन स्तनों में चारों वेदों और

शास्त्रों के अर्थरूपी दूध निकलता था। निदान जगत् की सब मर्यादा मुझको उसमें दिखाई दी। उसके नृत्य करने से ब्रह्माण्ड और अस्ताचल आदि पर्वत तृणों की नाईं नृत्य करते थे और सब कुछ उलट-पलट होता दिखता था। उसके शरीर में नीचे आकाश ऊपर पृथ्वी थी। तारामण्डल सिद्ध, देवता, विद्याधर, गंधर्व, किन्नर, दैत्य, स्थावर, जगंम सब उस शरीर में दृष्टिगोचर होता था—मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का आदर्श हो। भुजाओं के उछलने से चन्द्रमा की नाईं नखों का प्रकाश होता था। मन्दराचल, उदयाचल पर्वत कानों के भूषण से और हिमालय पर्वत बरफ के कण के समान दिखता था।

हे राम ! इस प्रकार उस देवी के शरीर में मुझको अनन्त सृष्टि दीखी। कहीं इकट्ठी और कही भिन्न-भिन्न, कहीं एक ही सी चेष्टा करे और कहीं भिन्न-भिन्न चेष्टा करे। मानों ब्रह्माण्डरूपी रत्नों का डब्बा है। हे राम! जब मैं संकल्प-सहित देखता, तब मुझको सृष्टि दृष्टिगत होती और जब आत्मा की ओर देखता, तब केवल आत्मरूप ही दिखता और कुछ न दिखता। संकल्पदृष्टि से सम्पूर्ण जगत् नृत्य करता देख पड़ता, पर ऐसी सामर्थ्य किसी की न दिखती कि नृत्य न करे। जगत् की उत्पत्ति, स्थित और प्रलय सब उसी में दिखते और सम्पूर्ण क्रिया उसी से होती दिखतीं। उसी में सिद्ध, देवता, गन्धर्व, अप्सरा विमान पर आरूढ़ फिरते और नक्षत्रों के चक्र फिरते—मानों ब्रह्माण्ड फिर उदय हुए हैं। जब मैं फिर आत्मदृष्टि से देखता, तब ब्रह्मस्वरूप भासती और संकल्पदृष्टि से जगत् भासित होता। वह चित्तकला, जो संकल्परूप है उसमें सभी दिखते। हे राम! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब उसी में दृष्टिगत होते थे। जैसे मच्छड़ वायु से उड़ते हैं, वैसे ही अनन्त सृष्टि उसके शरीर में उड़ती दृष्टिगत होती। इससे मुझे महान् आश्चर्य हुआ। वह भैरव था और यह भैरवी उसकी शक्ति थी। दोनों मुझको विशालकार्य देख पड़े। यह नित्य शक्ति सर्वात्मा थी और परमात्मा की क्रियाशक्ति सब विश्व को अपने आपमें जानती थी। जैसे समुद्र सब तरगों को अपने में

अपना रूप जानता है, वैसे ही सब ब्रह्माण्ड को वह अपने में अपना रूप जानती थी। वह तो सदाशिव से भी बड़े अहंकार को धारण किये थी, मानो सब ब्रह्माण्ड की माला कण्ठ में डाले हैं और यमादिक सब उसकी मर्यादा हैं।

हे राम ! इस प्रकार मैंने रुद्र और काली भवानी को देखा। रुद्र के शिर पर जो जटा थी, वे मोर पंख की नाईं थीं। काली को मैंने देखा कि नाना प्रकार के मृग उसके साथ हैं और वह डम-डम शब्द करती है। यह शब्द भी वह करती थी—"दिग्वंदिग्वं तुदिग्वं पंचमना वह संमंमप्रलये मियतुयत्रिपंत्रो त्रीलं त्रीषलषलुमं षनुषं सुमंष मषमभ्रिगु ही गुंहीगुंही उगुमियगुं दलुमददारी मीदातंदती।" हे राम ! इस प्रकार के शब्द करती हुई वह श्मशानों में नृत्य करती थी। हे राम ! ऐसी देवी तुम्हारी सहायक हो, जो सर्वशक्ति परमात्मा है और सब ब्रह्माण्ड उसके आश्रय है। क्षण में वह अंगुष्ठप्रमाण हो जाती थी और क्षण में बड़े दीर्घ आकार धारण करती थी। सब जगत् में जो क्रिया होती है, वे उसके आश्रय से होती हैं। कहीं उत्पत्ति होती है, कहीं युद्ध होते हैं। ऐसी नाना प्रकार की क्रिया उस देवी के आश्रय से होती हैं। जैसे आइने में प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही उस देवी में क्रिया होती हैं।

इति श्रीयोगवशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देवीरुद्रोपाख्यानवर्णनन्नाम
शताधिकषण्णवतितमस्सर्गः ।। १९६ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो तुमने रुद्र और कालिका का वर्णन किया, सो वे कौन थे ? महाप्रलय में तो कुछ नहीं रहता। उनके शरीर में तुमने सृष्टि कैसे देखी और महाप्रलय होकर उनके शरीर में सृष्टि ने कैसे प्रवेश किया ? उस काली के हाथ में शस्त्र क्या थे ? कहाँ से आई थी और कहाँ गई ? उसका आकार क्या था ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! न कोई रुद्र है, न काली है, न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री है, न कोई नपुंसक है, न पुरुष। मिलकर कुछ नहीं हुआ है। न ब्रह्माण्ड है और न पिण्ड है केवल चिदाकाश है और संकल्प से उपजे सब आकार भासित होते हैं। जैसे

स्वप्न में आकार भासित होते हैं वैसे ही वे आकार भी भसित होते हैं। वास्तव में केवल चिदाकाश ज्यों का त्यों है। हे राम ! आत्मपद अनन्त, चैतन्य, सत्य, प्रकाशरूप, अविनाशी और अपने आपमें स्थित है। रुद्रदेव का आकार जो दिखा था, सो वह चैतन्य आत्मा-ही ऐसे होकर भासित हुआ था-कोई और आकार न था। जैसे सुवर्ण ही भूषण होकर दिखता है, वैसे ही परमदेव चिदाकाश ऐसे होकर भासित हुआ था, क्योंकि वह चैतन्यस्वरूप है। जैसे मधुरता पौंड़े का स्वरूप है, वैसे ही आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। हे राम ! चैतन्यसत्ता अपने स्वरूप को नहीं त्यागती, आकार होकर भासित होती है और सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे पौंड़े के रस में मुधुरता न हो तो उसको कोई रख नहीं सकता, वैसे ही आत्मसत्ता में चेतनता न हो तो उसे चैतन्य कोई न कहे। जो आत्मा चेतनता को त्यागे तो परिणामी हो और चैतन्य न कहावे; परन्तु वह तो सदा आप अपने स्वभाव में स्थित है और किसी और अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ। इसी से कहा कि जो कुछ भासित होता है, वह आत्मा का किञ्चन हैं।

हे राम ! जैसे पौंड़े के रस में मधुरता होती है, वैसे ही आत्मा में चेतनता है। चैतन्यमात्र में चेतनता लक्षण चेतनतारूप रहता है, इससे यह जगत् भावरूप है जो शुद्धचिन्मात्र में चित्त का उत्थान न होता तो जगत्‌भाव न लखाता। आत्मसत्ता दोनों अवस्थाओं में सदा ज्यों की त्यों है—जैसे वायु जब स्पन्दित होती है, तब उसका स्पर्शरूप लक्षण प्रतीत होता है और जब निस्पन्द होता है, तब उसमें कोई शब्द नहीं प्रवेश कर सकता, पर वायु दोनों अवस्थाओं से तुल्य है, वैसे ही शुद्ध चैतन्य में किसी शब्द का प्रवेश नहीं; पर चेतनताभाव में है और आत्मसत्ता सदा एकरस है—इससे वास्तव में यह जगत् ही नहीं है। हे राम ! आदि, मध्य, अन्त, जगत्, आकाश, कल्प, महाकल्प, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, जन्म, मरण, सत्, असत्, प्रकाश, अन्धकार, पण्डित, मूर्ख, ज्ञानी, अज्ञानी, नामरूप, कर्मरूप, अवलोक, मनस्कार, विद्या, अविद्या, दुःख, सुख, बन्धन, मोक्ष,

जड़, चेतन, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आना, जाना, जगत्, अजगत्, कुछ नहीं है बढ़ना, घटना, मैं, तुम, भेद शास्त्र, पुराण, मन्त्र, आकार, उकार, मकार, जय, नाम आदिक स्थावर-जगंम सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे समुद्र में तरंग, बुलबुले और आवर्त सब जलरूप हैं, वैसे ही सब ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म से भिन्न जगत् कुछ वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न में जो पर्वत दिखते हैं, वे अनुभव से भिन्न नहीं होते, वैसे ही यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं। जैसे सूर्य की किरणों में जल जान पड़ता है, वैसे ही आत्मसत्ता जगत् रूप होकर भासित होती है।

हे राम ! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि जितने शब्द हैं, वे सब ब्रह्मसत्ता ही से होकर स्थित हुए हैं, परन्तु सत्ता अपने आपमें ज्यों की त्यों है, कभी परिणाम को नहीं प्राप्त हुई और वही सत्ता सबकी आत्मा है। जैसे समुद्र अपने तरंगभाव को त्यागे तो अपने सौम्यभाव में स्थित होता है; वैसे ही ब्रह्मसत्ता फुरने को त्यागे तो अपने स्वभाव में स्थित हो, जो अनामय है अर्थात् दुःखों से रहित, परमशान्तिरूप, अनन्त और निर्विकार है। जब इस प्रकार बोध हो, तब जीव उस ब्रह्मसत्ता को प्राप्त हो। बोध, अबोध, विधि निषेध भी वही है। जैसे जल और समुद्र की संज्ञा कही है और तरंग शब्द कहने से विलक्षण भासित होता है, पर जब जल तरंग-बुद्धि को त्यागे, तब केवल समुद्ररूप है, वैसे ही यह जीव जब अपने जीवत्वभाव को त्यागे, तब आत्मरूपी समुद्र को प्राप्त हो, अर्थात् जब दृश्य का सम्बन्ध त्याग करे, तब आत्मा हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अन्तरोपाख्यानवर्णनं नाम
शताधिकसप्तनवतितमस्सर्गः ।। १९७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुमसे मैंने जो चिदाकाश कहा है, वह परमचिदाकाश है और सदा अपने आपमें स्थित है। हे राम ! शुद्ध चिदाकाश जो मैंने तुमसे कहा है, वही यह रुद्ररूप है और वही नृत्य करता था। वहाँ आकार कोई न था, केवल चिद्‌घनसत्ता थी और वही ऐसे होकर

किञ्चन होती थी। हे राम ! जब मैं आत्मदृष्टि से देखता था, तब मुझको चिदाकाशरूप ही भासित होता था। हे राम ! जो मेरे जैसा हो, वही वैसा रूप देख सकता है और नहीं देख सकता। हे राम ! जिसका नाम कृतान्त है वही रुद्र और वही भैरव है। वही कृतान्त की मूर्ति नृत्य करके अन्तर्धान हो गई। वास्तव में वह रूप मायामात्र था। यह चैतन्यसत्ता के आश्रय नाचते थे। हे राम ! जैसे सोने में भूषण हैं, परन्तु वे सोने के बिना नहीं होते, वैसे ही चेतनता किञ्चन से जगत् भासित होता है और फिर वही प्रमाद से आधिभौतिक हो जाता है। वास्तव में शुद्ध चिदाकाशरूप ही है और चेतनता से वही जगत्रूप दिखता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! प्रथम तो आपने कहा कि अद्वैत आत्मतत्त्व में यह जगत् प्रमाद से कल्पित है और जो है तो कल्प के अन्त में नाश हो जाता है, केवल अद्वैतसत्ता रहती है, अब फिर आप ही कहते हो कि चैत्यता से जगत्रूप भासता है। अद्वैत में चैत्यता कैसे हुई और कौन चेतनेवाला हुआ ? प्रलय के अनन्तर काली क्योंकर भासित हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! न कोई चैत्य है और न कोई चेतता है केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, जो चैतन्यघन परम निर्मल और शान्तरूप है। उसी को शिवतत्त्व भी कहते हैं। वही शिवतत्त्व रुद्र आकार को धारण किये देख पड़ा था, दूसरा कुछ नहीं—केवल परम चिदाकाश है। वही चिदाकाश आकार रखकर भासित होता है। पर वास्तव में कोई आकार नहीं हुआ। न भैरव है, न भैरवी है, न काली है, न यह जगत् है। सब मायामात्र है।

जैसे स्वप्न में आत्मसत्ता चैत्यता के कारण जगत्रूप दिखती है, पर स्वरूप से न कुछ चैत्यता है और न जगत् है, आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है, वैसे ही उस जगत् को भी जानो। कुछ और नहीं हुआ, अद्वैतसत्ता ही है। इससे चैत्य और चेतनेवाला सब भ्रम से भासते हैं; आत्मा में ये नहीं उपजे, केवल स्वच्छ चिदाकाश है। मुझको तो सदा वही भासता है, पर अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् भासता है। आत्मा सदा एक है किञ्चन से उसमें आकार दिखते हैं। भैरव और काली, सब

निराकार हैं। भ्रान्ति से आकार प्रतीत होते हैं। जैसे मनोराज्य में युद्ध भासते हैं और जैसे कथा में अर्थ भासते हैं, वे अनहोते ही संकल्प-विलास से हैं, वैसे ही चिदात्मा में यह जगत् भासित होता है। जैसे आकाश में तरुवर दिखते हैं, वैसे ही ये आकार दिखते हैं। हे राम ! ये जो जगत् प्रलय और महाप्रलय आदि शब्द हैं, उनका नाश करने के लिए मैं तुमको कहता हूँ। आत्मा एक अद्वैत चैतन्य है, उस चेतनता का अभाव कभी नहीं होता। वह अपने आपमें स्थित है और किञ्चन है। जैसे सूर्य की किरणें किञ्चनरूप होती हैं और उनमें जल भासता है, वैसे ही चित् का किञ्चन जगत् भासता है। वही महाप्रलय में रुद्र और भैरवी होकर भासता है। वास्तव में न कुछ रुद्र है और न काली है, सब आत्मा ही है।

हे राम ! जो कुछ कहना-सुनना होता है तो वाच्य तथा वाचक से होता है, आत्मा में कहना और सुनना कुछ नहीं। वही चिदाकाश रुद्र संकल्प से नृत्य करता था। जैसे सुवर्ण भूषण होकर भासित होता है, वैसे ही चिदाकाश संकल्प से आकार होकर भासित होता है, दूसरा कुछ नहीं बना। मैं, तुम और जगत्, चैत्य और अचैत्य सब वही रूप है; उसमें कोई शब्द नहीं फुरा। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के शब्द भासित होते हैं सो कुछ वास्तव नहीं—पत्थर की नाईं मौन हैं—वैसे ही जाग्रत् जगत् में भी जितना शब्द होता है सो सब स्वप्न है; कुछ हुआ नहीं। केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, वैसे ही आत्मसत्ता अपने आप भाव में स्थित है, जहाँ न एक है, न द्वैत है, न सत्य है, न असत्य है, न चित्त है, न चेत है, न मौन है, न अमौन है और न कोई चेतनेवाला है। चेत के अभाव सा केवल अचेत चिन्मात्र आत्मसत्ता निर्विकल्परूप स्थित है। हे राम ! सबसे बड़ा शास्त्र का सिद्धान्त यही है; इस दृष्टि से तुम मौन में स्थित हो। हे राम ! सब सिद्धान्तों की समता है निर्विकल्प होना। जैसे पत्थर की शिला मौन होती है, वैसे ही चैत्य से रहित रहकर ही जो कुछ प्रत्यक्ष आचार प्राप्त हो, उसमें वृत्त होना और सदा आत्म, निश्चय रखना, इसी का नाम परम मौन है। सब क्रिया होती

रहें, पर अपने से कुछ न देखना—जैसे नट स्वाँग भरता है और उसके अनुसार विचरता है, परन्तु निश्चय उसका आदि शरीर में ही होता है, उससे वह चलायमान नहीं होता, वैसे ही जो कुछ अनिच्छित प्राप्त हो, उसको यथाशास्त्र करे, परन्तु अपने निर्गुण निष्क्रियस्वरूप से चलायमान न हो, उसी अद्वैत स्वरूप में स्थित रहे।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह रुद्र क्या था और वह काली शक्ति क्या थी ? उनके अंगों को बढ़ना-घटना और नृत्य करना क्या था और वस्त्र क्या थे, सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शिवतत्त्व ही आकार होकर भासता है और कोई आकार नहीं। वह चिन्मात्र, अमल विद्या और अविद्या के कार्य से रहित, शान्त और अवाच्यपद है। यह संज्ञा भी संकल्प में तुमसे कही है, आत्मवेत्ता आत्मपद को अवाच्यपद कहते हैं, तथापि मैं कुछ कहता हूँ। हे राम ! केवल आत्मतत्त्वमात्र जो चिदाकाश है, वही शिव भैरव है। उसी के चमत्कार का नाम चित्तशक्ति है। उसी का नाम काली है। उस काली, आत्मा और शिवरूप में कुछ भेद नहीं। जैसे पवन और स्पन्दन में और अग्नि तथा उष्णता में कुछ भेद नहीं होता, वैसे ही चित्तकला और आत्मा में कुछ भेद नहीं। जैसे पवन निस्पन्द होता है, तब उसका लक्षण नहीं होता, अवाचकरूप होता है, और जब स्पन्दन होता है, तब उसका लक्षण भी होता है और उसमें शब्द प्रयोग होता है वैसे ही चित्तशक्ति से उसका लक्षण होता है। उसके अनेक नाम हैं। उसी का नाम स्पन्दन और इच्छा है। उसी को चैत्योन्मुखत्व से वासना कहते हैं। उसी के स्वाद की इच्छा से जब चित्तसंवित् में वासना फुरती है, तब उसका नाम वासना करने वाला वासक कहाता है—फिर आगे दृश्य होता है। जब त्रिपुटी हुई अर्थात् वासना, वासक और वास्य हुए, तब वासक को जीव कहते हैं—जो जीवत्व भाव लेकर स्थित होता है। तब इसको यह भावना होती है कि मैं जीव हूँ और मेरा नाश कभी न हो, इस इच्छा से जीव कहाता है। चित्तशक्ति की जो ऐसी संज्ञा होती है, वह स्पन्दन में होती है। पर शिवतत्त्व अस्फुरण है और अचेत शक्ति में फुरने की नाईं स्थित है।

जैसे सूर्य की किरणों में जल नहीं होता और हुए की नाईं भासता है, वैसे ही यह जगत् है नहीं और हुए की नाईं दिखता है, इससे उसको यह संज्ञा देते हैं। परमात्मा की क्रियाशक्ति काली प्रथम तो कारणरूप-प्रकृति है और उसी से सब हैं—इसी से प्रकृतिरूप है। वह विकृति अर्थात् किसी का कार्य नहीं है। महत्तत्त्व, पञ्चभूत, और अहंकार ये सात प्रकृति—विकृत हैं—अर्थात् कार्य भी हैं और कारण भी हैं। कार्य आदि देवी के हैं और कारण षोडश के हैं—पञ्चज्ञान इन्द्रियाँ, पञ्चकर्म इन्द्रियाँ, पञ्चप्राण और एक मन। इनके सप्तदश कार्य हैं। षोडश विकृति हैं अर्थात् कार्यरूप हैं, कारण किसी के नहीं। सत्रहवाँ पुरुष जो परमात्मा का अंश है वह अद्वैत, अचिन्त्य और चिन्मात्र है। न किसी का कारण है और न कार्य अपने आपमें स्थित है। इससे कारणकार्य में जितनी द्वैतकलना है, वह सब चित्तशक्ति में स्थित है। जब यह निस्पन्द होती है, तब तत्त्वरूप शिवपद में निर्वाण हो जाती है और कारण-कार्यरूपी सब भ्रम मिट जाता है, केवल आकाशवत् शेष रहता है। वह शुद्ध, अद्वैत, अचेत चिन्मात्र सदा अपने आपभाव में स्थित है और उसकी स्पन्दनरूप क्रियाशक्ति की ये सब संज्ञा हैं। प्रथम तो सबका कारणरूप प्रकृति है, जो शोष है, अर्थात् जैसे बड़वाग्नि समुद्र को सुखाती है, वैसे ही वह जगत् को सुखाती है। वह सिद्ध है, अर्थात् साधक उसे आश्रय करके सेवते हैं। वह जयन्ती है, अर्थात् उसकी जय है। वह चण्डिका है अर्थात् उसके क्रोध से जगत् का प्रलय होता है और संसार डरता है। वह वीर्य है, अर्थात् उसका वीर्य अनन्त है। वह दुर्गा है, अर्थात् उसका रूप जानना कठिन है वह गायत्री है, अर्थात् उसके पाठ से संसार समुद्र से रक्षा होती है। वह सावित्री है, अर्थात् जगत् का पालन करती है। वह कुमारी अर्थात् कोमलस्वभाव है। वह गौरी अर्थात् गौर अंगवाली है। वह शिवा अर्थात् शिव के बायें अंग में बसनेवाली है। वह विजया अर्थात् सब जगत् को जीत रही है। वह सुशक्ति है, अर्थात् अद्वैत आत्मा में उसने विलास रचा है। वह इन्द्रसारा है, अर्थात् यह जो उकार इन्द्र आत्मा है उसका सार अर्धमात्रा है, और

उकार अकार-मकार तीनों मात्राओं का अधिष्ठान है।

हे राम ! राजसी, तामसी और सात्त्विकी तीन प्रकार की जो क्रिया होती हैं, वे इसी से होती हैं। ये सब क्रिया शक्ति की संज्ञाएँ कही हैं। अब उसका शस्त्र और बढ़ना-घटना सुनो। हे राम ! वह जो नृत्य करती थी, वही क्रिया है। वह क्रिया सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है। मुसल जो था, वह ग्राम, पुर और नगर थे। और उसके अंग सृष्टि थे। जब उसका शिव से व्यतिरेक होता था, तब उसके अंग सृष्टिरूप बहुत हो जाते थे, और जब वह शिव की ओर आती थी, तब सृष्टिरूप अंग थोड़े हो जाते थे। वह जब शिव को आ मिलती थी तब शिव ही होती थी—सृष्टिरूपी अंग कोई न रहता था। यह तो आत्मा की कालीशक्ति की क्रिया का वर्णन तुमको सुनाया अब शिव का वर्णन सुनो। वह तो वाणी से अतीत है तथापि मैं कुछ कहता हूँ वह परमशुद्ध, निर्मल और अच्युत है उसमें कुछ हुआ नहीं, केवल क्रियाशक्ति के उद्‍भव से जगत् होकर भासित होता है। जब वह अपने अधिष्ठान की ओर देखता है, तब अपना स्वरूप देख पड़ता है। क्रियाशक्ति और आत्मा में कुछ भेद नहीं—जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, क्योंकि आकाश का अंग शून्यता है—और अवयवी और अवयव में भी कुछ भेद नहीं जैसे अग्नि का रूप उष्णता है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव चित्तशक्ति है। इसका नाम काली इसलिए है कि वह कृष्णरूप है। जैसे आकाश ऊपर को श्याम लगता है, वैसे ही आकाश वपु है, जैसे आकाश निराकार है, वैसे ही काली निराकार श्याम भासती है। आकाश की नाईं इसका शरीर है, इससे इनका नाम कृष्णवपु है और काली का अर्थ जगत् के नाश के अर्थ है। वह जब स्वरूप की ओर आती है तब जगत् का नाश करने वाली है।

हे राम ! स्पन्दन शक्ति का जब तक शिव से व्यतिरेक है, तब तक वह जगत् को रचती है—जहाँ यह है, वहाँ जगत् है—जगत् से बिलग नहीं रहती। जैसे जहाँ सूर्य की किरणें हैं, वहाँ जलाभास होता है—किरण बिना जलाभास नहीं रहता, वैसे ही स्पन्दनशक्ति जगत् के बिना नहीं रहती।

जैसे आकाश के अंग आकाश हैं, वैसे ही इसके अंग जगत् हैं और जैसे समुद्र में तरंग समुद्ररूप हैं, वैसे ही जगत् इसका रूप है। यह शक्ति चिदाकाश है, उससे व्यतिरिक्त नहीं। जब यह फुरती है, तब जगदाकार भासती है और जब शिव की ओर आती है, तब शिवरूप हो जाती है, और जगत् का भाव नहीं रहता। इससे हे राम ! तुम्हारी चित्तशक्ति जब तुम्हारी ओर आवे, तब जगत्भ्रम मिटे। इस चित्त शक्ति ने ही जगत्भ्रम रचा है। शिव शान्तरूप हैं और अजर, अमर, अचेत, चिन्मात्र है। उसमें कुछ क्षोभ नहीं—आत्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुमने काली के अंगों की जो सृष्टि देखी थी, वह आत्मा में सत् है अथवा असत्, सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह काली देवी आत्मा की क्रियाशक्ति अर्थात् स्फुरणशक्ति है, इससे आत्मा में सत्य है और वास्तव में आत्मा में कुछ नहीं, मिथ्या है। जैसे तुम मनोराज्य से अपने में दूसरा चिन्तन करो तो वह कुछ वस्तु नहीं पर, उस काल में सत् भासता है, वैसे ही जितनी सृष्टियाँ हैं, वे आत्मा में सत्य नहीं, परन्तु चित्तशक्ति से बसती दिखती हैं जैसे जितने कुछ विधि-निषेध पदार्थ और आकाश, पर्वत, समुद्र, वन, जगत्, तीर्थ, कर्म, बन्ध, मोक्ष, गुरु, शास्त्र, युद्ध, शस्त्र आदि भासते हैं, वे सब चिदाकाश ब्रह्मरूप हैं और वास्तव में इनका होना ब्रह्म से भिन्न नहीं। सब प्रकार और सर्वदा आत्मा अपने आपमें स्थित है। वह शुद्ध, अद्वैत, निराकार, निर्विकार और ज्यों का त्यों है। उसमें जगत् कोई नहीं उपजा।

सब जगत् आत्मा में क्रियाशक्ति ने रचा है, सो वह माया काल में सत्य है, वास्तव में कुछ नहीं। जैसे सोनेवाले को स्वप्न में सृष्टि दिखती है और उसके शरीर को कोई हिलावे तो वह नहीं जागता, पर जो कुछ सृष्टि होती तो हिलाने से उसका कोई स्थान गिर पड़ता—इसी से जाना जाता है कि किसी का नाश नहीं होता—वास्तव कुछ नहीं है। हे राम ! वह सृष्टि, जो प्रत्यक्ष अर्थाकार होती है, उसके चित्तस्पन्दन में स्थित है, परन्तु जब तक निद्रा है, तभी तक वह सृष्टि है; जब निद्रा निवृत्त होती

है तब स्वप्नसृष्टि भी नहीं दिखती। वैसे ही यह सृष्टि भी वास्तव में कुछ नहीं है, अज्ञान से चित्तशक्ति में भासती है। हे राम ! सब पदार्थ चित्त के फुरने से भासते हैं जिसका संकल्प शुद्ध होता है, उसके मनोराज्य की सृष्टि यदि देशकाल से प्रत्यक्ष होती है तो संकल्परूप होती है, क्योंकि कुछ बना नहीं। जब संकल्प फुरता है, तब संकल्प के अनुसार सृष्टि भासती है; इससे संकल्परूप ही हुई। और जब उसकी सत्यता हृदय में होती है, तब इसका अर्थ हृदय में अनुभव होता है। जैसे परलोक अदृष्ट है, पर जब उसकी सत्यता हृदय में होती है, तब उसका राग-द्वेष भी हृदय में फुरता है, क्योंकि संकल्प में उसका भाव है। वैसे ही जब तक चित्त में स्पन्दन फुरता है, तब तक जगत् है, और जब चित्त निस्पन्दन होता है, तब जगत् की सत्यता नहीं भासती।

हे राम ! यह सब जगत् क्रियाशक्ति ने आत्मा में रचा है। जब तक यह क्रियाशक्ति काली शिव से व्यतिरिक्त होती है, तब तक नाना प्रकार के जगत् रचती है और क्षोभ को प्राप्त होती है। और जब शिव की ओर आती है तब शान्तरूप हो जाती है। तब फिर उसकी प्रकृति संज्ञा नहीं रहती—वह अद्वैततत्त्व में अद्वैतरूप ही हो जाती है। जैसे जब तक पवन चलता है, तब तक शीत, उष्ण, सुगन्ध, दुर्गन्ध, बड़ी और छोटी संज्ञा होती है, और जब ठहरता है, तब यह नहीं कहा जाता कि ऐसा है अथवा वैसा है। वैसे ही जब तक चित्तशक्ति स्पन्दनरूप होती है, तब तक जगत् रचती है और प्रकृति कारण रूप कहाती है। उसमें दो प्रकार के शब्द होते हैं—विद्या और अविद्या ! हे राम ! जो कुछ कहना होता है वह स्पन्दनरूप जो चित्र लिखा है, उसमें है। वह जब शिवतत्त्व के अन्तर्गत होती है, तब अद्वैतरूप हो जाती है—वहाँ किसी शब्द की गति नहीं।

हे राम ! शिव क्या है और शक्ति क्या है, यह भी सुनो। ये सब जीव शिवरूप हैं और इनके चित्त का फुरना काली है। जब तक इच्छा से चित्तशक्ति बाहर फुरती है, तब तक भ्रम का अन्त नहीं होता और

नाना प्रकार के विकारों का अनुभव होता है, कभी शान्ति नहीं होती। और जब चित्तशक्ति उलटकर अधिष्ठान को देखती है, तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है। हे राम ! आत्मा और चित्तसंवित् में कुछ भेद नहीं। जैसे वायु के स्पन्दन और निस्पन्द में कुछ भेद नहीं होता, परन्तु जब स्पन्दन होता है, तब जाना जाता है और निस्पन्द नहीं जाना जाता, वैसे ही चित्तसंवित् जब फुरता है, तब जाना जाता है, और नहीं फुरता तब नहीं जाना जाता, और जानना और न जानना दोनों नहीं रहते हैं। हे राम ! जब तक इच्छाशक्ति शिव की ओर नहीं देखती, तब तक नाना प्रकार के नृत्य करती है अर्थात् जगत् को रचती है, और जब शिव की ओर देखती है, तब नृत्य बन्द हो जाता है। और सब अंग सूक्ष्म हो जाते हैं। हे राम ! इस काली का आकार अपरिमित था, पर शिव की ओर देखने से सूक्ष्म हो गया। पहले पर्वत-समान था; फिर निकट आई तब ग्राम के समान हुआ; फिर वृक्ष के समान हुआ। जब और निकट आई, तब सूक्ष्म आकार हो गया और शिव के साथ मिली तब शिवरूप हो गई। शिव के सम्मिलन से इसका जो विलास है, वह शून्य हो जाता है और परमशान्त शिवपद की प्राप्ति होती है।

श्रीराम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यह जो परमेश्वरी कालीशक्ति है, वह उसको मिलकर शान्त कैसे हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! देवी परमात्मा की इच्छाशक्ति है। इसका नाम जगन्माता है। जब तक यह शिवतत्त्व से अलग रहती है, तब तक जगत् को रचती है और जब अपने अधिष्ठान की ओर आती है, जो नित्यतृप्त, अनामय, निर्विकार, द्वैतभाव से रहित है, तब परमशान्ति को प्राप्त होती है, तब इसकी प्रकृतिसंज्ञा जाती रहती है। जैसे नदी जब तक समुद्र को नहीं प्राप्त हुई, तब तक दौड़ती और शब्द करती है, पर जब समुद्र को मिली, तब शब्द करना और दौड़ना नष्ट हो जाता है और नदीसंज्ञा भी नहीं रहती—समुद्र को मिलकर परमगम्भीर समुद्ररूप हो जाती है, वैसे ही

जब तक चित्तशक्ति शिव से अलग होती है, तब तक जगत्‌भ्रम को रचती है और जब शिवतत्त्व को मिलती है, तब शिवरूप हो जाती है और द्वैतभ्रम मिट जाता है। हे राम ! जब यह चित्तशक्ति शिवपद में लीन हो जाती है, तब प्रथम जो देह और इन्द्रियों से तद्रूप हुई थी, इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट में अपने को सुखी-दुखी मानती थी और रागद्वेष से जलती थी, वह भाव जाता रहता है, और नित्यतृप्त अनामय पद के मिलने से सुख-दुःख से रहित हो जाती है, क्योंकि अनात्मदेह इन्द्रियों की तद्रूपता का अभाव हो जाता है और आत्मतत्त्व के साथ यह तद्रूप हो जाती है। जैसे पत्थर की शिला से मिलकर खंग की धार तीक्ष्ण होती है, वैसे ही चित्तसंवित् जब आत्मपद में मिलती है, तब एक अद्वैतरूप हो जाती है। तब आत्मपद का स्पर्श करने से अनात्मभाव का त्याग करती है।

जैसे ताँबा पारस के स्पर्श से सुवर्ण हो जाता है और फिर ताँबा नहीं होता, वैसे ही यह वृत्ति अनात्मभाव को नहीं प्राप्त होती। चित्तकला तब तक विषय की ओर दौड़ती है, जब तक अपने वास्तव स्वरूप को नहीं प्राप्त हुई। जब अपने वास्तवस्वरूप को प्राप्त होती है, तब विषय की ओर नहीं दौड़ती है। जैसे जिस पुरुष को अमृत प्राप्त होता है और उसके स्वाद का अनुभव होता है, वह नीम खाने की इच्छा नहीं करता, वैसे ही जिसको आत्मानन्द प्राप्त हुआ है, वह विषयों के सुख की इच्छा नहीं करता। हे राम ! यह संसारभ्रम चित्तसंवित् में दृढ़ सत्य होकर स्थित है और संसार के सुख का त्याग नहीं कर सकता। पर जब आत्मसुख प्राप्त होगा, तब उस तुच्छ सुख को त्याग देगा। जैसे किसी पुरुष को जब तक पारस नहीं मिलता, तब तक वह और धन को त्याग नहीं सकता, पर जब पारस प्राप्त हो जाता है, तब तुच्छ धन का त्याग करता है और फिर धन के लिए कोई यत्न नहीं करता, वैसे ही जब जीव को आत्मानन्द प्राप्त होता है, तब वह विषय के सुख का त्याग करता है, उसे पाने का यत्न नहीं

करता। हे राम! भौंरा तब तक और स्थानों में घूमता है, जब तक कमल की पंक्ति पर नहीं पहुँचता, पर जब उस पंक्ति पर पहुँच जाता है, तब और स्थान को त्याग देता है, वैसे ही चित्तशक्ति जब आत्मपद में लीन होती है, तब किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करती, निर्विकल्पपद को प्राप्त होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पुरुषप्रकृतिविचारो नाम शताधिकाष्टनवतितमस्सर्गः ।। १६८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अब पूर्व प्रसंग फिर सुनो। जब काली नृत्य करके निर्वाण हो गई, तब शिव अकेला रह गया। वही मुझे देख पड़ता था और दो खण्ड आकाश के देख पड़े—एक अधोभाग और दूसरा ऊर्ध्वभाग। और कुछ न देख पड़ता था। तब रुद्र ने नेत्रों को फैलाकर दोनों खण्ड देख—जैसे सूर्य जगत् को देखता है—और प्राण को भी खींचा। तब ऊर्ध्व और अधः दोनों खण्ड इकट्ठे हो गये और ब्रह्माण्ड को अन्तर्मुख कर लिया—एक शिव ही रह गया और कुछ न दिखता था। हे राम ! जब एक क्षण व्यतीत हुआ, तब रुद्र बड़े आकार को धारण कर ब्रह्माण्ड को भी नाँघ गया और एक वृक्ष के समान हो गया। फिर अंगुष्ठमात्र शरीर रखकर एक क्षण में सूक्ष्म अणु सा हो गया। फिर रेत के कण से भी सूक्ष्म हो गया। फिर नेत्रों से अदृश्य हो गया। तब दिव्यदृष्टि से मैं देखता रहा। फिर वह भी लुप्त हो गया, केवल चिदाकाश ही शेष रहा और दूसरी वस्तु कुछ न दिखी। जैसे वर्षाकाल के मेघ शरत्काल में नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही वह रुद्र भी लुप्त हो गया। हे राम ! उस काल में मुझको तीनों इकट्ठे दीखे-एक देवी ब्रह्मा की शक्ति; दूसरी कालीशक्ति और तीसरी शिला। तब मैंने विचार किया कि यह स्वप्न गन्धर्व नगर सा आश्चर्य था, और कुछ नहीं। तब मैंने क्या देखा कि स्वर्ण की शिला ही पड़ी है। यह सृष्टि शिलाकोष में स्थित थी। तब मैंने विचार किया कि यह सृष्टि शिलाकोष में है तो और सृष्टि भी होगी, क्योंकि सब वस्तु सब प्रकार और सब स्थान पूर्ण है। इसलिए मैं उसमें भी सृष्टि देखने लगा और नाना प्रकार

की सृष्टि देखी। जब मैं बोधदृष्टि से देखता, तब सब ब्रह्म ही दिखता। संकल्पदृष्टि से आत्मरूपी आदर्श में अनन्तसृष्टि देख पड़तीं और चर्मदृष्टि से शिला ही दीखती। इस प्रकार मैं शिलाकोष में चला तो वहाँ मुझे घास, तृण, पत्थर, फल और फूलों की अनन्त सृष्टि दृष्टिगत होती और निस्संकल्प आत्मदृष्टि से देखता तो अद्वैत आत्मा ही दीखता।

हे राम ! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टि देखी। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि ब्रह्मा उपजे हैं और रचना रचने को समर्थ हुए हैं। कहीं ब्रह्मा ने चन्द्रमा सूर्य उपजाये हैं, और मर्यादा स्थापित की है। कहीं सम्पूर्ण पृथ्वी आदि तत्त्व उपजाये हैं। पर उसमें प्राण नहीं पड़े। कहीं समुद्र नहीं उपजे। कहीं आचार सहित सृष्टि दिखी। कहीं चन्द्रमा-सूर्य नहीं उपजे और कहीं उपजे थे। कहीं चन्द्रमा शिव से नहीं निकले। कहीं क्षीरसमुद्र मथा नहीं गया और अमृत नहीं निकला और लक्ष्मी, हाथी, घोड़ा, धन्वन्तरि वैद्य भी नहीं निकले। कहीं विष और अमृत नहीं निकला। कहीं देवता मरते हैं। कहीं क्षीरसमुद्र मथा गया है और उससे अमृत निकला है। कहीं प्रकाश नहीं होता; कहीं सदा प्रकाश ही रहता है। कहीं पृथ्वी पर पर्वतों के सिवा कुछ नहीं देख पड़ता। कहीं इन्द्र के वज्र से पर्वतों के पंख कटे थे और कहीं वे पर्वत उड़ते थे। कहीं प्राणियों को जरा-मृत्यु का भय नहीं होता, कल्पपर्यन्त ज्यों के त्यों रहते हैं। कहीं प्रलय होता है। कहीं मेघ गर्जते हैं। कहीं सम्पूर्ण जल ही जल भरा है। कहीं आकाश ही है और प्राणी कोई नहीं दिखता। कहीं देवताओं के युद्ध होते थे; कहीं देवताओं को दैत्य जीतते थे; कहीं दैत्यों को देवता जीतते थे। कहीं देवता और दैत्यों में परस्पर प्रतीति थी। कहीं बलि और इन्द्र, रुद्र और वृत्तासुर का युद्ध होता था। कहीं मधुकैटभ दैत्य ब्रह्मा की कन्या से उत्पन्न होते थे। कहीं देखा सदा प्रसन्नता ही रहती है और लोग तीनों कालों की बातें जानते हैं। कहीं सदा शोकाकुल ही रहते हैं। कहीं सतयुग का समय है और दान, पुण्य, तप होते हैं। कहीं कलियुग का समय है और प्राणी पाप में लिप्त हैं। कहीं अर्द्धयुग बीता था। कहीं राम और रावण का युद्ध होता था। कहीं रावण

का राम ने मर्दन किया था; कहीं राम का रावण ने मर्दन किया था। कहीं सुमेरु पर्वत तले है और पृथ्वी ऊपर है। कहीं शेषनाग पर पृथ्वी है और भूचाल से घूमती है। कहीं प्रलयकाल का जल चढ़ा है और एक बालक वट के वृक्ष पर बैठा अपने अंगुष्ठ को चूसता है। वह विष्णु भगवान हैं। कहीं ब्रह्मा के कल्प की रात्रि है और महाशून्य अन्धकार है। कहीं कौरव-पाण्डवों की सहायता कृष्ण करते हैं। कहीं महाभारत का युद्ध होता है, दोनों ओर से कई अक्षौहिणी सेना निकली है और श्रीकृष्णजी पाण्डवों की सहायता करते हैं। कहीं एक सृष्टि का नाश होता है और दूसरी उसी में वैसी ही और उत्पन्न होती है और वैसे कर्म, वैसा ही कुल, जाति और गोत्र होते हैं। कहीं उससे अर्धभाग मिलता है। कहीं चतुर्थ भाग उसी का सा मिलता है। कहीं-कहीं उससे विलक्षण है।

हे राम ! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टि देखीं, जो आत्मआदर्श में प्रतिबिम्बित थीं। जब मैं आत्मदृष्टि से देखता, तब सब चिदाकाश ही दिखता और जब संकल्पदृष्टि से देखता, तब जगत् भासित होता। कहीं ऐसी सृष्टि देखी, जहाँ दशरथ के पुत्र राम हैं और रावण के मारने को समर्थ हुए हैं। कहीं तुम्हारे रूप के बड़े तपस्वी रहते हैं, जिनके मन सदा प्रसन्न हैं। ऐसी अनन्त सृष्टि देखीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! मैं आगे भी ऐसा ही हुआ हूँ, अथवा किसी और प्रकार का हुआ हूँ, सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कई वैसे ही, कई अर्धलक्षण के और कई चौथाई लक्षणवाले होते हैं। जैसे अन्न का बीज वैसा ही होता है, और कोई उससे विशेष भी होता है, वैसे ही ये सब पदार्थ होते हैं, हे राम ! तुम भी आगे होगे और मैं भी आगे हूँगा, परन्तु आत्मा का विवर्त है। जैसे समुद्र में एक से तरंग भी होते हैं और विलक्षण भी देख पड़ते हैं। परन्तु वही जलरूप हैं वैसे ही हमारे सदृश भी फिर होंगे परन्तु आत्मतत्त्व से भिन्न कुछ नहीं—संकल्प से भिन्न की नाईं विलक्षणरूप भासित होते हैं। जैसे समुद्र में वायु से तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मा संकल्प से जगत्रूप होकर भासित होता है। यद्यपि नाना प्रकार होकर जगत्

भासता है तो भी दूसरा कुछ नहीं हुआ। यह जगत् चैतन्य का विलास है और चित्त के फुरने में अनन्त सृष्टि भासित होती हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि बड़े आरम्भ से भासित होती है, परन्तु स्वरूप से कुछ भी भिन्न नहीं, वैसे ही यह जगत् आरम्भ परिणाम से कुछ नहीं बना, आत्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अनन्तजगद्वर्णनं नाम
शताधिकनवनवतितमस्सर्गः ।। १९९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार मैंने सृष्टि देखी और फिर दृश्य भ्रम को त्यागकर अपने वास्तव स्वरूप में स्थित हुआ। मैं अनन्त, नित्य, शुद्ध, बोध, चिदाकाश और सर्वदा अपने आपमें स्थित हूँ। हे राम ! चिन्मात्र आत्मा के किसी स्थान में संवेदन का आभास फुरा है—जैसे अनाज के कोठे से एक मुट्ठी भर अन्न निकालिये और खेत में डालिये तो उसी से अंकुर निकलते हैं, वैसे ही चैतन्य में संवेदन फुरा है और उस संवेदन से जगत् उपजा है। जैसे जल डालने से अंकुर निकल आता है, वैसे ही मुझमें सृष्टि का अनुभव होने लगा और मैंने जाना कि सृष्टि मुझसे उपजी है। राम बोले, हे भगवन् ! तुम जो आकाशरूप अपने आपमें स्थित थे, उसमें सृष्टि तुमको कैसे फुरी ? दृढ़बोध के निमित्त मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वास्तव में तो कुछ उपजा नहीं, परन्तु जैसे सृष्टि हुई है, सो सुनो। मुझे अनुभव आकाश और अनन्त के किसी स्थान में संवेदन चित्त 'अहं' फुरा, अर्थात् 'मैं हूँ' यह अनुभव हुआ। उस अहंभाव के होने से मैं अपने को सूक्ष्म तेज अणु सा जानने लगा, और उस अणु में अहंकार उपजा। जिसको तुम अहंकार कहते हो, उस अहंकार की दृढ़ता से निश्चयात्मक बुद्धि उपजी। उस बुद्धि से संकल्प-विकल्प रूप मन उपजा और उस मन ने प्रपञ्च रचा। उस मन में देखने का स्पन्दन फुरा, तब चक्षु इन्द्रिय हुई और जिसको वह देखने लगा वह रूप दृश्य हुआ। फिर सुनने की इच्छा फुरी, तब श्रवण इन्द्रिय हुई और वह शब्द ही सुनने लगी। फिर रस लेने की इच्छा हुई, तब जिह्वा इन्द्रिय हुई और

वह रस को ग्रहण करने लगी। जब सुगन्ध लेने की इच्छा की; तब नासिका इन्द्रिय हुई और सुगन्ध ग्रहण करने लगी। फिर स्पर्श करने की इच्छा से त्वचा इन्द्रिय प्रकट होकर स्पर्श ग्रहण करने लगी। इस प्रकार मुझको ज्ञानइन्द्रियाँ फुरीं और उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषय उदय हुए। तब मैंने अपने साथ स्थूल देह देखा। जैसे कोई स्वप्न में अपना शरीर देखता है, वैसे ही मैंने देखा।

हे राम ! जिसको मैं देखने लगा, वह दृश्य हुआ और जिससे मैं देखता था, वे इन्द्रियाँ हुईं । जब दृश्य फुरना हुआ; वह काल हुआ। जहाँ हुआ, वह देश हुआ, और जैसे हुआ, वह क्रिया हुई। इस प्रकार सब देश, काल, पदार्थ हुए हैं; सो मैंने तुमसे कहे। हे राम ! वास्तव में न कोई देह है, न इन्द्रियाँ हैं और न सृष्टि है, पर चित्तकला में हुए की नाईं देख पड़ते हैं, जैसे स्वप्न की सृष्टि दिखती है। जब वह सृष्टि मुझको फुरी, तब पूर्वस्वरूप मुझे भूल गया। जैसे सुषुप्ति में अपना स्वरूप विस्मृत सा होता है, वैसे ही मुझको भूले की नाईं प्रतीत हुआ। तब जैसे स्वप्न में जाग्रत्स्वरूप का और जाग्रत् में स्वप्न के स्वरूप का विस्मरण होता है, वैसे ही पूर्व का स्वरूप मुझे भूल गया। जब शरीर और इन्द्रियाँ मुझको अपने साथ लगी जान पड़ीं तो उनमें मैंने अहंप्रत्यय करके ॐकार शब्द का उच्चारण किया। जैसे बालक माता के गर्भ से उत्पन्न होकर शब्द करता है, वैसे ही मैंने ॐशब्द का उच्चारण किया। जैसे कोई पुरुष स्वप्न में उड़ता और शब्द करता है, वैसे ही मैंने ॐकार का उच्चारण किया। ॐकार आदि, मध्य, अन्त से रहित परब्रह्म है और सर्वब्रह्माण्डरूपी तरंग का आधार समुद्र है। हे राम ! जब मैं आधिभौतिक दृष्टि से देखूँ, तब मुझको शिला ही दिखे और जब अन्तवाहक दृष्टि से देखूँ, तब अनन्त ब्रह्माण्ड देख पड़े और नाना प्रकार की क्रिया और मर्यादा सहित भासित हो, पर जब आत्मदृष्टि से देखूँ तब अद्वैत अपना रूप ही भासित हो। हे राम ! जैसे सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी भासती है, वैसे ही मुझको सृष्टि भासित होती थी। जैसे मरुस्थल की नदी मिथ्या है, वैसे ही ग्रहण

करनेवाली वृत्ति मिथ्या है। जैसे संवेदन में जो मनन फुरता है, वह भी मिथ्या है—क्योंकि नदी मिथ्या है तो उसका मनन कैसे सत् हो—वैसे ही यह जीव का रूप-अवलोक भी मिथ्या है और भ्रान्ति से सत्य जान पड़ता है। जैसे स्वप्नसृष्टि, संकल्प और मनोराज्य का नगर मिथ्या है और कथा का वृत्तान्त अनहोता ही भ्रान्ति से प्रत्यक्ष लगता है, वैसे ही यह जगत् भ्रान्ति से सत्य लगता है—वास्तव में कुछ नहीं; पर संकल्पविलास में बना देख पड़ता है।

हे राम ! जिस प्रकार मुझको सृष्टि भासित हुई, सो सुनो। जब मुझमें पृथ्वी की धारा हुई, तब पृथ्वी मुझको शरीर होकर भासित होने लगी; क्योंकि मैं विराट् आत्मा था। उस पृथ्वी पर वन, पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्ष, फल, फल, मनुष्य, पक्षी, देवता, ऋषीश्वर, दैत्य और नाग आदि जो स्थित हैं, अतः पृथ्वी मेरा शरीर हुई, पर्वत मेरे मुख हुए, सुमेरु आदि पर्वत मेरी भुजा हुई, सप्त समुद्र इन्द्रियाँ हुए, सब नदी मेरे कण्ठ की माला और वन मेरी रोमावली हुए। मरुस्थल की नदी मेरे ऊपर विस्तार को प्राप्त हुई और देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और दैत्य इत्यादि मुझमें कीट—सदृश भासे—जैसे शरीर में जुआँ, लीख, आदिक होते हैं। किसी जगह मेरे ऊपर हल चलाते हैं और बीज बोते हैं, जिससे खेती उगती है और प्राणी अन्न खाते हैं। कहीं मुझे खोदते हैं, कहीं पूजा करते हैं। कहीं समुद्र स्थित हैं, कहीं नदी बहती है, कहीं राजा राज्य करते हैं और कहीं मेरे लिए झगड़ते मरते हैं। एक कहता है कि पृथ्वी मेरी है, दूसरा कहता है मेरी है। इस प्रकार मुझ पर ममता करके युद्ध करते हैं। कहीं हाथी चेष्टा करते हैं। कुछ लोग रुदन करते हैं, कुछ हास्य करते हैं। कहीं वृत्ति फैलाते हैं। कहीं सुगन्ध है, कहीं दुर्गन्ध है। कहीं नदियाँ बहती और क्षोभ को प्राप्त होती हैं, कहीं देवता और दैत्य मेरे ऊपर युद्ध करते हैं। कहीं शीतलता से जल मेरे ऊपर बरफ हो जाता है। इस प्रकार मैंने अपने ऊपर इष्ट-अनिष्ट स्थान देख और राजसी, तामसी और सात्त्विकी

जितनी जीवों की क्रिया होती हैं उन सबका आधार मैं हुआ। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं की संज्ञा संवेदन फुरने से हुई है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्याने पृथ्वीधातु-
वर्णनंनाम द्विशततमस्सर्गः ।। २०० ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुमको जो धारणा से पृथ्वी का अनुभव हुआ और उसमें जगत् उत्पन्न हुआ, वह संकल्परूप था या मन से उपजा था अथवा आधिभौतिक था ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब जगत् संकल्परूप है, पर आधिभौतिक की नाईं भासित होता है। वास्तव में केवल चिदाकाश अपने आपमें स्थित है। वह चिदाकाश मैं हूँ। मैं न कभी उपजा हूँ और न मेरा नाश होगा, सर्वदा मैं अद्वैत, अचैत्य, चिन्मात्ररूप हूँ। उसके संकल्प का नाम मन और आभास का नाम संकल्प है। उसी का नाम ब्रह्मा और इच्छा है। उसी में जगत् स्थित है। वह आकाशरूप है—बना कुछ नहीं। हे राम ! जिसको सत्य और असत्य कहते हो, वह शुभ-अशुभरूप जगत् मन में स्थित है, और सब आकार निराकार रूप हैं, भ्रान्ति से पिण्डाकार दिखते हैं। जैसे स्वप्न में जो शुभ-अशुभ पदार्थ दिखते हैं, वे निराकार हैं, पर भ्रान्ति से पिण्डाकार जान पड़ते हैं, वैसे ही वे जगत् भी निराकार हैं, पर भ्रम से पिण्डाकार लगते हैं और विचार करने से शून्य हो जाते हैं। जैसे मनोराज्य से आकार रचित है, वैसे ही मेरे आकार जानो-स्वरूप से कुछ नहीं उपजे। जैसे मृत्तिका से बालक नाना प्रकार की सेना रचते हैं और उस मृत्तिका के उनको भिन्न-भिन्न भाव निश्चय होते हैं, वैसे ही अद्वैत आत्मा में मनरूपी बालक ने जगत् की कल्पना की है, वास्तव में कुछ नहीं, आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे मृगतृष्णा का जल ही नहीं तो उसमें डूबा किसे कहिये, वैसे ही मन आप आभासरूप है तो उसका रचा जगत् कैसे सत् हो ?

हे राम ! सब चिदाकाशरूप है-दूसरा कुछ नहीं बना। आत्मरूप आकाश में जो मनरूपी नीलता है, सो अविचार-सिद्ध है। विचार करने से नीलता कुछ वस्तु नहीं। जैसे दीपक के रहने से अन्धकार नहीं रहता,

वैसे ही विचार किये से मन और मन की रचना जगत् नहीं रहता। मन का निर्वाण करना ही परमशान्ति है, और कोई उपाय नहीं। हे राम ! जितने क्षोभ हैं, उनका कर्ता मन है। सम्पूर्ण शब्द-अर्थ की कल्पना मन से उठती है—मन का निर्वाण होने पर कोई नहीं रहती। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! आप अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुए सो कुछ और रूप भी हुए, अथवा नहीं हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मरूपी जो जाग्रत् है, उसमें अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुआ। मैं चैतन्य था और जड़ की नाईं स्थित हुआ—वास्तव में मैं जगत् न था, केवल चिदाकाश था, जिसमें न कुछ नानात्व है, न अनानात्व है, न अस्ति है न नास्ति है, और अहं-त्वं-इदं का अभाव है। वह केवल परम आकाश है, जो आकश से भी निर्मल चिदाकाश है, और जो है सो सब शब्द-ब्रह्म है। जगत् के होते भी वह अरूप है; क्योंकि कुछ आरम्भ परिणाम से नहीं बना—केवल आत्मा का चमत्कार है।

हे राम ! जहाँ-जहाँ पदार्थसत्ता है, वहाँ-वहाँ जगत् वस्तु है। सर्वदा, सब प्रकार, सब पदार्थों का स्पन्दन ब्रह्म है। जहाँ ब्रह्मसत्ता है, वहाँ जगत् है। इस प्रकार मैंने अनन्त ब्रह्माण्ड को देखा। जब मैं अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुआ तो जब जल की धारणा की, तब जल-रूप होकर फैला। वृक्ष, घास, फूल, गुच्छे, डाल, तमाल और पत्तों में रस होकर स्थित हुआ। खम्भे में मैं ही बल हुआ और समुद्र हुआ, नदियों के प्रवाह होकर मैं ही बहने लगा और उनमें गड़गड़ शब्द करने लगा। तरंग बुलबुले और फेन को फैलाकर विलास किया। ओस के कण होकर मैं ही स्थित हुआ। आकाश में मेघ होकर बरसता और प्राणियों को तृप्त करने लगा। उनमें रुधिर आदि रस होकर मैं ही स्थित हुआ और उनकी नाड़ियों में मथन करके आप ही प्रवेश किया। जैसी-जैसी नाड़ी होती है, वैसा-वैसा रस होकर मैं स्थित हुआ। सब नाड़ियों में रस, बीज, कफ, पित्त, मूत्र आदि मैं ही स्थित हुआ। सब प्राणियों की जिह्वा के अग्रभाग में रस होकर मैं स्थित हुआ। अपने का आप स्वाद ग्रहण करने लगा। हिमालय में बरफ

होकर स्थित हुआ। हे राम ! मैं चैतन्य होकर जड़ की नाईं स्थित हुआ। बीज होकर मैंने ही अपने को उत्पन्न किया और प्रलय के मेघ होकर मैंने ही अपना नाश किया। इस प्रकार जल होकर स्थावर, जंगम सब जगत् में स्थित हुआ और सदा अपने आपमें स्थित होकर अपने स्वरूप को न त्यागा। जैसे स्वप्न में जगत् अनुभवरूप है और अनहोता भासित होता है, वैसे ही मैंने जलरूप होकर जगत् को धारण किया। हे राम ! मैं नाना प्रकार के स्थानों में स्थित हुआ। फूलों की शय्या पर चिरकाल तक विश्राम करता रहा। गन्ध होकर फूलों में स्थित हुआ। मेघ होकर आकाश में विचरा और ऐसी वर्षा की कि पर्वतों पर वेग से प्रवाह चलने लगा। मैं कण-कण होकर समुद्र और नदी में विचरा। यह भावना चित्अणु में मुझको हुई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्याने जलरूपवर्णनन्नाम द्विशताधिकप्रथमस्सर्गः ।। २०१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जल के अनन्तर मैंने तेज की भावना की, अर्थात् तेज धारण किया, तब मुझमें इतने अंग उदय हुए-चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि-और इनसे जगत् की क्रिया सिद्ध होने लगी। जैसे राजा के अंग अनुचर और हरकारे होते हैं, वैसे ही तमरूपी चोर को दीपकरूपी हरकारे मारने लगे। मैं आकाशरूपी था, इससे मेरे कण्ठ में तारावलीरूपी माला पड़ी थी। सूर्य होकर मैं जल को सोखता और दसों दिशाओं को प्रकाश देता रहा। आकाश जो ऊँचाई के कारण श्याम भासित होता है, वह मेरे निकट प्रकाशमान होता था। सब जगत् में मैं ही फैल रहा था। जहाँ मैं रहता, वहाँ से तम का अभाव हो जाता। चन्द्रमा और सूर्यरूपी डब्बा है, जिसमें दिन-रात और कालवर्षरूपी अनेक रत्न सर्वदा निकलते रहते हैं। राजसी, सात्त्विकी और तामसी क्रियारूपी कमलिनी का मैं सूर्य हुआ और सब देवताओं और पितरों को तृप्त करता रहा। यज्ञ की अग्नि और रत्न, मोती, मणि आदिक जो प्रकाशमान पदार्थ हैं, उनमें प्रकाश मैं ही हुआ। प्राणों के भीतर मैं स्थित हुआ और प्राण-अपान के क्षोभ से अन्न

को पचाने लगा। जैसे आत्मा के प्रकाश से रूप, अवलोक और मनस्कार प्रकाशित होते हैं, वैसे ही सब पदार्थ मेरे प्रकाश से प्रकाशित होने लगे, क्योंकि मैं तेजरूप था—मानों चैतन्यसत्ता का दूसरा भाई हूँ। जैसे सब पदार्थ आत्मा से सिद्ध होते हैं, वैसे ही मुझसे सिद्ध होने लगे। हे राम ! राजाओं में तेज और सिद्धों में वीर्य मैं ही था। बलरूप होकर जगत् को मैं ही पुष्ट करता था। बड़वाग्नि की दाहकशक्ति होकर जगत् को मैं ही नष्ट करता था। तेजवानों में तेज और बलवानों में बल मैं ही था। तले भी मैं था, मध्य भी मैं ही था और चन्द्रमा सूर्य से रहित जो स्थान हैं, उनमें भी मैं ही था। मैं अग्निरूपी दीपक और चन्द्रमा-सूर्यरूपी नेत्रों से मध्यमण्डल में स्पष्ट देखता था।

हे राम ! इस प्रकार मैं तेजरूप होकर भीतर-बाहर सब स्थावर-जंगम पदार्थों में स्थित हुआ, पर जब बोधदृष्टि से देखता, तब सब आत्मा ही का भान होता और जब अन्तवाहक दृष्टि से देखता तब अपने को विराट्रूप जानता कि सब जगत् में मैं ही फैल रहा हूँ और सब पदार्थ मेरे ही अंग हैं। निदान तेजवानों में तेज और क्रोधवानों में क्रोध, यतियों में यती और अजित मैं हुआ। सब ओर मेरी ही जय है; क्योंकि जय उसकी होती है, जिसमें बल और तेज होता है-सो बल मैं हूँ और तेज भी मैं हूँ, इससे मेरी जय है। हे राम ! सुवर्ण और रत्नमणि में जो प्रकाश और रूप है, वह मैं हुआ। राम ने पूछा, हे भगवन् ! इस प्रकार जो आप जगत् की क्रिया अनुभव करने लगे कि जलरूप होकर अग्नि को बुझाया और अग्नि होकर जल को जलाया, ये क्रियाएँ जो तुम्हारे ऊपर इष्ट-अनिष्ट से होती रहीं, उनको तुमने सुख-दुःख के साथ अनुभव किया या नहीं किया ? यह मेरे बोध के लिए कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे चैतन्य पुरुष स्वप्न में पर्वत, वृक्ष, देह, इन्द्रियाँ और नाना प्रकार के जड़ पदार्थ देखते हैं, जो वास्तव में उनमें नहीं हैं, केवल अनुभवरूप हैं, परन्तु निद्रादोष से वे उन्हें द्वैत की नाईं जानते हैं, और उनका राग-द्वेष अपने में मानते हैं—यथार्थ में द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर स्थित होता है, परन्तु निद्रादोष से

नहीं जान सकता, और जब जागता है, तब स्वप्न की सब सृष्टि को अपना रूप ही जानता है—वैसे ही यह जगत् अपने स्वरूप में नहीं है। जब बोधस्वरूप में जागोगे तब पदार्थ-भावना जाती रहेगी और सब जगत् बोधस्वरूप प्रतीत होगा।

हे राम ! जिस पुरुष को देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित अखण्ड सत्ता उदय हुई है, उसको ज्ञानी कहते हैं। जब यह पुरुष परमात्मा का अवलोकन करता है, तब सब जगत् आत्मस्वरूप ही भासित होता है। जिस पुरुष को स्वप्न की सृष्टि में पूर्व का स्वरूप नहीं भूला, उसको अन्तवाहक कहते हैं। उसको पत्थर, जल और अग्नि में प्रवेश करने से भी खेद नहीं होता। हे राम ! मैं जो आकाश में उड़ता फिरा और आकाश को भी नाँघकर ब्रह्माण्ड के खप्पर पर फिरा हूँ सो अन्तवाहक शरीर से ही फिरा हूँ। जिसको अन्तवाहक शरीर प्राप्त होता है, उसको कोई आवरण नहीं रोक सकता, क्योंकि सब उसके अंग होते हैं। मुझको शुद्ध आत्मा में स्वप्न हुआ था पर पहले का स्वरूप नहीं भूला, इससे सब जगत् मुझको अपना स्वरूप ही भासित होता रहा। अपने संकल्प से कल्पित अपने ही अंग भासित होते थे। जैसे कोई मनोराज्य से अग्नि का समुद्र रचे और उसमें स्नान करे तो वह भी होता है; क्योंकि उसको खेद नहीं होता, सब अपने संकल्प में ही उसको भासित होते हैं। अन्तवाहक शरीर से विराट् सबको अपना रूप देखता है। वैसे ही सब जगत् मुझको अपना रूप भासित होता था, तो खेद कैसे हो ? स्वप्न देखनेवाला स्वप्न में पर्वत, नदियाँ और अग्नि देखता है, सो वही रूप है, और आप भी एक आकार धारण करके वन जाता है और पहले का स्वरूप उसकी परिच्छिन्नता से भूल जाता है और राग-द्वेष से जलता है। मैंने तत्त्वरूप बन अपने को जड़रूप देखा और चैतन्यरूप भी देखा। इस प्रकार मुझको अपना स्वरूप न भूला। तब मैं विराट्रूप हो सबको अपना अंग ही देखता रहा, इससे मुझे खेद कैसे होता ? खेद तब होता है, जब अपना स्वरूप भूलता है और परिच्छिन्न सा बन जाता

है; पर मैं तो बोधवान् रहा कि मैंने स्पन्दन से सब रूप धारण किये हैं। हे राम ! जिसको यह निश्चय है, उसको दुःख कहाँ ? सुखदुःखरूप जो पदार्थ हैं, वे मैंने अपने में ऐसे देखे, जैसे आईने में प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिसको यह दृष्टि हो, उसको दुःख कहाँ है ?

हे राम ! जिसको अन्तवाहक शक्ति प्राप्त होती है, वह पाताल और आकाश में जाने को समर्थ होता है और जहाँ प्रवेश किया चाहे वहाँ जा सकता है, क्योंकि सृष्टि संकल्पमात्र है। हे राम ! और कुछ सृष्टि नहीं बनी। आत्मा का किञ्चन ही सृष्टिरूप होकर भासित होता है। हे राम ! यह सब सृष्टि ब्रह्मस्वरूप है। मुझको तो सदा ऐसी ही भासती है। जब तुम जागोगे, तब तुमको भी ऐसी ही भासित होगी। तुम भी अब जागे हो। उस प्रकार मैं अग्नि होकर स्थित हुआ कि जिसकी शिखा से कालख निकलती थी। प्रकाश मैं ही हुआ और अपने चित्तस्वरूप अनुभव में मुझको जगत् भासित हो रहा था, उसमें मैं स्थित हुआ। अन्धकार और उलूकादि भी मेरे प्रकाश से प्रकाश पाते हैं और भावरूप पदार्थ भी मैंने अपने में जाने क्योंकि भावरूप पदार्थ तब भासित होते हैं, जब उनका रूप होता है। सो रूपवान् पदार्थ मैं ही था, इस कारण सब मुझ ही में सिद्ध होते थे। इस प्रकार मुझको यह भावना हुई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्याने चिद्रूपवर्णनन्नाम द्विशताधिकद्वितीयस्सर्गः ।। २०२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! फिर मैंने पवन की धारणा का अभ्यास किया, तब पवनरूप होकर विचरने लगा और कमल के फूलों और वृक्षों को हिलाने लगा। तारों और नक्षत्रों का आधारभूत हुआ और वे मेरे आधार पर फिरने लगे। चन्द्रमा और सूर्य को चलानेवाला भी मैं ही हुआ। समुद्र और नदियों के प्रवाह भी मेरे ही शक्ति से चलते रहे। मन का बड़ा वेग भी मैं ही हुआ प्राणियों के शरीरों में मेरा निवास हुआ। मैं ही प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान पञ्चरूप होकर स्थित हुआ और सब नाड़ियों में मेरा निवास हुआ। सब नाड़ियों को अपना-अपना भाग रस मैं

ही पहुँचाता रहा। हिलना, चलना, बोलना, लेना, देना, सब मुझ ही से सिद्ध होता था। निदान सब पदार्थों में स्पर्शशक्ति मैं ही हुआ और सब शब्द मुझ ही से सिद्ध होते थे। क्रियारूपी बूँद का मैं मेघ हुआ। आकाशरूपी गृह में मेरा निवास था और दशों दिशाएँ सब मुझ में ही फुरी थीं। देवताओं को गन्ध से मैं ही सुख देता था और दीपक को मैं ही प्रज्वलित करता था। पक्षियों में मेरा सदा निवास था। जैसे अग्नि में उष्णता रहती है, वैसे ही सबके सुखाने और हरियावल करने वाला मैं ही हूँ। हे राम ! इस प्रकार मैं पवन होकर स्थित हुआ, इसलिए रूप, अवलोक और मनस्कार सब पदार्थ मैं ही हुआ। चन्द्रमा, सूर्य, तारे, अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वरुण, कुबेर और यम आदि का जगत् होकर मैं ही स्थित हुआ। पञ्चभूतों के भीतर और बाहर भी मैं था। प्राण-अपान के क्षोभ से दुःख होता है। मैं ही साकार-निराकाररूप हूँ। सब रक्त-पीत श्यामरंग पदार्थ मैं ही हूँ। पञ्चभूत जो चित्अणु से फुरे हैं, सो उसी का रूप है, जैसे स्वप्न की सृष्टि सब अपना ही रूप होती है, इतर कुछ नहीं होती। हाड़, मांस, पृथ्वी होकर भूतों में स्थित हुआ और वायुरूप प्राण, अग्निरूप समिधा और आकाशरूप अवकाश हुआ। इस प्रकार मैं सब में स्थित हुआ। मैं भी चैतन्य शरीर था और वे तत्त्व भी चैतन्य शरीर थे। जैसे स्वप्न में जगत् आकाशरूप होता है, वैसे ही वे भी आकाशरूप हैं।

हे राम ! सब कालों में सब प्रकार सबका सर्वात्मा स्थित है, दूसरा कुछ नहीं। आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, इससे भिन्न जानना भ्रान्तिमात्र है। यह दृष्टि ज्ञानवान् की है। पर जो असम्यक्दर्शी हैं, उनको भिन्न-भिन्न पदार्थ भासित होते हैं। इस प्रकार मैंने सम्पूर्ण जगत् अपने में ही देखा। हे राम ! मैं ब्रह्मरूप था, इससे उसमें जगत् उत्पन्न होते दिखे। जो मैं ब्रह्म से इतर होता तो एक तृण भी न उत्पन्न होता। मैं जो ब्रह्मरूप था, इससे सृष्टि उत्पन्न होती है। हे राम ! जब मैंने बोध-दृष्टि से देखा तब आत्मा से भिन्न कुछ न दीखा और जब अन्तवाहक दृष्टि से

देखा तब स्पन्दन के कारण अणु-अणु में सृष्टि भासित हुई। जैसे जहाँ चन्दन का अणु होता है, वहाँ सुगन्ध भी होती है; वैसे ही जहाँ-जहाँ तत्त्व के अणु हैं, वहाँ-वहाँ सृष्टि भी हैं। हे राम ! एक अणु में अनन्त सृष्टि मुझको भासित हुईं। जैसे एक पुरुष शयन करता है और उसको स्वप्न में सृष्टि दिखती है और फिर स्वप्न से स्वप्नान्तर की सृष्टि देखता है, तो एक ही जीव में बहुत भासते हैं; वैसे ही एक अणु से अनेक सृष्टि होती हैं। हे राम ! जो सृष्टि है, वह आभासरूप है और आभास अधिष्ठान के आश्रित होता है। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है, जो देश और काल के परिच्छेद से रहित अखण्ड अद्वैतसत्ता है। इसी से कहा है कि अणु-अणु में सृष्टि है; क्योंकि कोई अणु भिन्न नहीं, ब्रह्मसत्ता ही है। जो सब ब्रह्म है तो सृष्टि भी ब्रह्मरूप है, इससे सब ब्रह्म ही जानो। ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे वायु और स्पन्दन में भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकतृतीयस्सर्गः ।। २०३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार जब मुझमें सृष्टि फुरी, तब मैं उनके भ्रम को त्याग और संकल्प को खींचकर अन्तर्मुख हुआ और अपनी जो कुटी थी, उसकी ओर आया। जब मैंने कुटी देखी तो उसमें एक पुरुष बैठा मुझको देख पड़ा। तब मैंने विचार किया कि यह कौन है, मेरा शरीर कहाँ है ? मैंने विचार करके देखा कि यह कोई महासिद्ध है। मेरा शरीर इसने मृतक जानकर गिरा दिया है और आप पद्मासन बाँधकर, दोनों टखने पुट्ठों के ऊपर किये और शिर और ग्रीवा सीधी किये बैठा है। दोनों हाथ कंधों पर ऊपर किये है, मानों कमल फूल है या मानों अन्तर का प्रकाश बाहर उदय हुआ है और नेत्र मूँदे हैं, मानों सब वृत्ति खींच ली है। हे राम ! इस प्रकार समाधि लगाकर पद्मासन बाँधे वह आत्मपद में स्थिर बैठा था। उसका मुख सूर्य की भाँति प्रकाशता था। जैसे धुएँ से रहित अग्नि प्रकाशित होता है, वैसे ही वह सिद्ध प्रकाशमान था। इस प्रकार मैंने

उसको आत्मपद में स्थित देखा। जैसे दीपक निर्वाण में स्थिर होता है, वैसे ही उसे स्थिर देखकर मैंने विचार किया कि इसे यहीं बैठा रहने दूँ और मैं अपने स्थान सप्तर्षियों में जाऊँ। इस प्रकार कुटी के संकल्प को त्यागकर मैं उड़ा। उड़ते हुए मार्ग में मेरे मन में आया कि देखूँ अब उस सिद्ध की क्या दशा है। फिर उलटकर देखा तो कुटी सहित सिद्ध वहाँ नहीं था; क्योंकि कुटी उसकी आधारभूत थी, सो मेरे संकल्प में स्थित थी। जब मेरा संकल्प निर्वाण हो गया, तब वह कुटी गिर पड़ी। तब उसमें वह सिद्ध कैसे रहे ? वह भी गिर पड़ा। हे राम ! उसको गिरता देखकर मैं भी उसके पीछे हुआ कि उसका कौतुक देखूँ। निदान आगे वह और पीछे-पीछे मैं चला। परन्तु मैं स्वाधीन और वह पराधीन चला जाता था। जैसे मेघ से बूँद गिरती है तो नहीं ठहरती, वैसे ही वह चला और सप्तद्वीप के पार दशसहस्त्र योजन स्वर्ण की जो धरती है, उस पर आ पड़ा और उसी प्रकार पद्मासन बाँधे हुए शीश और ग्रीवा उसी प्रकार सम ठहरे रहे, क्योंकि उसके शीश और ग्रीवा ऊपर को थे।

हे राम ! शरीर प्राण से हिलता चलता है। जब प्राण ठहर जाते हैं, तब शरीर नहीं हिलता चलता। इस कारण उसका शरीर सम ही रहा और जैसे कुटी में बैठा था, उसी प्रकार आसन से पृथ्वी पर आ पड़ा। तब मेरे मन में आया कि इसके साथ कुछ चर्चा भी करनी चाहिए। परन्तु यह तो समाधि में स्थित है, इसलिए प्रथम किसी प्रकार इसको जगाऊँ। हे राम ! ऐसा विचार करके मैं मेघ होकर उसके शिर पर वर्षा करने लगा और बड़ा शब्द किया, जिससे पहाड़ फटने लगे। पर उस शब्द और वर्षा से भी वह न जागा। फिर जब मैं ओले होकर उसके ऊपर बरसने लगा—जैसे पत्थर की वर्षा होती है तब ऐसी वर्षा होने से वह नेत्र खोलकर देखने लगा—जैसे पर्वत पर मोर मेघ को देखने लगे। मैं उसके आगे आकर उपस्थित हुआ। तब उसने समाधि खोली और उसकी प्राण-इन्द्रियाँ अपने स्थान में आईं। हे राम ! उसने जब मुझको अपने आगे देखा, तब मैं अद्वैतभाव को त्यागकर बोला, हे साधो ! तू कौन है, कहाँ स्थित है, क्या

करता था और किस निमित्त कुटी में स्थित था ? सिद्ध बोले, हे मुनीश्वर! मैं अपने प्रकृतभाव में स्थित हूँ और सब कुछ कहूँगा। परन्तु जल्दी मत कर—मैं स्मरण करके कहता हूँ। हे राम ! मुझसे इस प्रकार कहकर वह स्मरण करने लगा और फिर स्मरण करके बोला—हे वशिष्ठजी ! मुझको क्षमा करो, क्योंकि सन्तों का स्वभाव शान्त होता है। मुझसे तुम्हारी बड़ी अवज्ञा हुई है, परन्तु तुम क्षमा करो-मेरा तुमको नमस्कार है।

हे राम ! इस प्रकार नमस्कार करके उसने निर्मल आनन्द उपजाने-वाले ये वचन कहे—हे मुनीश्वर ! संसार एक नदी है, जिसका बड़ा प्रवाह है और वह कभी नहीं सूखता। चित्तरूपी समुद्र से यह प्रवाह निकलता है। जन्म-मरण इसके दोनों किनारे हैं। रागद्वेष ही इसमें तरंग हैं। भोग की तृष्णा इसमें आवर्त है—उसमें मैंने बड़ा दुःख पाया है। हे मुनीश्वर ! अपने सुख के निमित्त देवों के स्थानों में भी मैं गया, दिव्यभोग भोगे और स्पर्श आदि जो भोग हैं, वे भी सब मैंने भोगे। परन्तु मुझको शान्ति नहीं प्राप्त हुई। जिस सुख को मैं चाहता था, वह न पाया। जैसे पपीहा मेघ की बूँद चाहता है और मरुस्थल की भूमि में उसको शान्ति नहीं मिलती, वैसे ही मुझको विषयों के सुख में शान्ति न हुई। हे मुनीश्वर ! इस जगत् को आसार जानकर मेरा चित्त विरक्त हुआ है कि इतने काल तक मैंने भोग भोगे, परन्तु मुझको शान्ति न हुई। इनको असत् जानकर मैं फिरा और विचार किया कि जो सार हो, उसे अपनाऊँ। तब मैंने जाना कि सार अपना अनुभवरूप ज्ञानसंवित् ही है—इससे मैं उसी में स्थित हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! जितने विषय हैं, वे विषरूप हैं। विष के पान से मृत्यु ही होती है। स्त्री, धन आदि सुख मोह और दुःख देनेवाले हैं। ऐसा कौन पुरुष है, जो इनमें पड़कर सावधान रहता है ? ये तो स्वरूप को भुलानेवाले हैं। हे मुनीश्वर ! देहरूपी एक नदी है, जिसमें बुद्धिरूपी एक मछली रहती है। जब वह सिर बाहर निकालती है अर्थात् इच्छा करती है, तब भोगरूपी बगला इसको खा जाता है, अर्थात् आत्ममार्ग से भ्रष्ट करता है। ये जो भोगरूपी चोर हैं, इनका संग जब जीव करता है। तब वे इसको लूट लेते

हैं, अर्थात् आत्मज्ञान से शून्य करते हैं। और जब यह आत्मज्ञान से शून्य होता है, तब जन्मों का अन्त नहीं आता—अनेक शरीर पाता है। जैसे चाक पर चढ़ी हुई मृत्तिका अनेक बर्तनों के आकार धारण करती है, वैसे ही आत्मज्ञान से रहित जीव अनेक शरीर धारण करता है। पर अब मैं जागा हूँ। मुझको वे अब नहीं लूट सकते।

हे मुनीश्वर ! भोगरूपी बड़े नाग हैं। और जो नागों के डसने से शरीर मृतक होते हैं, पर विषयरूपी सर्प के फूत्कार से ही जीव मृतक होता है अर्थात् इच्छा करने से ही आत्मपद से शून्य हो जाता है। जब जीव का विषयों की इच्छा से सम्बन्ध होता है, तब क्षण-क्षण में उसका निरादर होता है—जैसे कदली वन से निकला और महावत के वश में आया हाथी निरादर पाता है। हे मुनीश्वर ! जिस शरीर के लिए जीव विषयों की इच्छा करता है, वह शरीर भी नाशवान् है। इसमें अहंप्रतीति करना परम आपदा का और अहंप्रतीति न करना परमसुख का कारण है। जैसे सर्प के मुख में पड़ा हुआ मेढक मच्छर खाने की इच्छा करता है, वह महामूर्ख है। किसी क्षण काल इसको ग्रस लेगा। इससे भोगों की इच्छा करना व्यर्थ है और दुःख का कारण है। हे मुनीश्वर ! जब बाल अवस्था व्यतीत होती है, तब युवा अवस्था आती है और युवा के उपरान्त जब वृद्धावस्था आती है, तब शरीर जर्जर हो जाता है। जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी जेठ-आषाढ़ में सूख जाती है, वैसे ही वृद्धावस्था में शरीर जर्जर होकर दुःख पाता है। बाल अवस्था में जीव क्रीड़ा में मग्न होता है। यौवन अवस्था में कामादिक का सेवन करता और वृद्ध होकर चिन्ता में मग्न रहता है। इस प्रकार जब ये तीनों अवस्था व्यतीत होती है, तब मर जाता है। जीवों की आयु इस प्रकार व्यतीत होती है और वे परमपद से वंचित रहते हैं। हे मुनीश्वर ! यह आयु बिजली की चमक की तरह है। इस क्षणभंगुर अवस्था में जो भोगों की वाञ्छा करते हैं, वे महादुःख को प्राप्त होते हैं। इनमें सुख देखकर जो कोई कहे कि मैं स्वस्थ रहूँगा तो कभी न होगा जैसे जल के तरंगों में बैठकर कोई पार हुआ चाहे तो नहीं हो सकता—अवश्य मरेगा—वैसे ही

विषय-भोगों से शान्ति-सुख नहीं मिलता। जैसे कोई तेज धूप से तपा हुआ सर्प के फन की छाया के नीचे बैठकर सुख की वाञ्छा करे तो सुख न पावेगा, पर जब आत्मज्ञानरूपी वृक्ष की छाया के नीचे बैठे, तब शान्त और सुखी होगा। जिन पुरुषों ने विषयों का सेवन किया है, वे परम दुःख पाते हैं और जिन्होंने आत्मपद का सेवन किया है, वे परमानन्द को प्राप्त होते हैं। जैसे नदी का प्रवाह नीचे जाता है, वैसे ही मूर्ख का मन विषयों की ओर दौड़ता है। यह संसार मायामात्र है और इसमें शान्ति कभी नहीं प्राप्त होती। जैसे मरुस्थल की नदी के जल से प्यास नहीं मिटती, वैसे ही विषयभोगों से शान्ति कभी नहीं होती। जो आत्मपद से विमुख हैं, वे विषयों की ओर दौड़ते हैं और जो आत्मपद में स्थित हैं, वे विषयों की ओर नहीं दौड़ते। जैसे समुद्र में तरंग उपजकर नष्ट होते हैं और नदी का वेग समुद्र की ओर गमन करता है, पर पत्थर की शिला गमन नहीं करती, वैसे ही भोगरूपी समुद्र की ओर अज्ञानी दौड़ता है, ज्ञानी नहीं जाता। हे मुनीश्वर ! कमल में सुगन्ध तभी तक होती है, जब तक सर्प के मुख की वायु नहीं लगी। वैसे ही बुद्धि में विचार तभी तक है, जब तक चित्तरूपी सर्प को भोग और इच्छारूपी वायु नहीं लगी। जब यह लगती है, तब विचाररूपी सुगन्ध ले जाती है और विषरूपी तृष्णा को छोड़ जाती है। बाण निशाने की ओर तब दौड़ता है, जब धनुष और चिल्ले को त्यागता है और त्यागने पर फिर नहीं मिलता। वैसे ही आत्मारूपी चिल्ले से जब चित्तरूपी बाण छूटता है, तब भोगरूपी निशाने की ओर दौड़ता है और जब जाता है, तब फिर आना कठिन होता है—अर्थात् अन्तर्मुख होना कठिन होता है।

हे मुनीश्वर ! यह आश्चर्य है कि जो पदार्थ सुखदायक नहीं है, उनकी ओर चित्त बड़ा यत्न करता है, पर तो भी वे सिद्ध नहीं होते, पर वे अयत्नसिद्ध आत्मपद को त्याग देते हैं। जिनको यह जीव सुख जानता है, वे सब दुःख के स्थान हैं। जिस अपने होने को यह भला जानता है, वह अनर्थ का कारण है। जिस देह को जीव सुखरूप जानता है, वह सब

रोगों का मूल है। जिनको यह भोग जानता है, वे इसको दुःख देनेवाले परमरोग हैं, और जिनको यह सत्य जानता है, वे सब मिथ्या हैं। जिनको यह स्थिर जानता है, वे स्थिर नहीं चलरूप हैं। जिनको यह रस जानता है, वे सब विरस हैं। जिनको बान्धव जानता है, वे सब अबान्धव और दृढ़ बन्धनरूप हैं। जिसको यह सुख देनेवाली स्त्री जानता है, वह सर्पिणी परम विष उगलनेवाली है। उसका काटा मर जाता है, फिर नहीं जीता, अर्थात् आत्मपद में स्थित नहीं होता। हे मुनीश्वर ! मैं देह को परम आपदा का कारण जानता हूँ। इसके निवृत्त होने पर जीव परमपद को प्राप्त होता है। जिन पुत्र, धन आदिक को यह जीव संपदा जानता है, वे परम दुःखरूप आपदा हैं; इनमें सुख कदापि नहीं। यह बात मैं सुनकर नहीं कहता; मैंने देखकर विचार किया है; विचार करके अनुभव किया है और अनुभव करके कहा है कि यह संसार मायामात्र है। बड़े-बड़े स्थानों में भी मैं गया हूँ, परन्तु सार पदार्थ मुझको कोई नहीं देख पड़ा। स्वर्ग में नन्दनवन आदि काष्ठरूप ही दीखे। मृत्युलोक में आकर देखा तो पञ्चभूत ही देखे। शरीर में रक्त, मांस, हाड़, मूत्र आदि देखे। ऐसे शरीर में जो अहंप्रत्यय करते हैं, उनको मैं धिक्कार देता हूँ। शरीर की आयुष्य ऐसी है, जैसे दोनों हाथों में जल लीजिए तो बह जाता है अथवा जैसे जल में तरंग बुलबुले उपजकर नष्ट होते हैं या बिजली की चमक होकर नष्ट हो जाती है। जो ऐसे शरीर को पाकर सुख की तृष्णा करते हैं वे महामूर्ख हैं। बाल अवस्था तरंग की नाईं नष्ट हो जाती है। यौवन अवस्था बिजली की चमक सी छिप जाती है। वृद्ध अवस्था में केश श्वेत हो जाते हैं और दाँत घिसकर गिर पड़ते हैं। जैसे नीचे स्थान में जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही सब रोग वृद्धावस्था में घेर लेते हैं और तृष्णा दिन-दिन बढ़ती जाती है।

हे मुनीश्वर ! उस समय सब पदार्थ जर्जर हो जाते हैं और तृष्णा जवान होती है—जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी बढ़ती जाती है—और जो सुखभोग प्राप्त होकर बिछुड़ जाते हैं, उनका दुःख होता है। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार इनको असत्य जानकर मैं स्वरूप में स्थित हुआ हूँ। यदि पाँचों

इन्द्रियों के इष्ट विषय बड़ी उत्तम मूर्ति रखकर उपस्थित हों तो भी मुझको आकृष्ट नहीं कर सकते। जैसे मूर्ति की लिखी कमलिनी भौंरे को नहीं खींच सकती, वैसे ही मुझ सरीखों को विषय नहीं चलायमान कर सकते। हे मुनीश्वर ! तुम्हारा शरीर मैंने अवज्ञा करके डाल दिया है—विचार से नहीं फेंका। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक जो त्रिकालज्ञ हैं, वे भी इस चर्मदृष्टि से नहीं देख सकते; जब विचार से देखते हैं तभी जानते हैं। इस कारण विचार बिना मैंने तुम्हारा शरीर फेंक दिया था। अब तुम क्षमा करो। योगेश्वर विचार से ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानता है। इन नेत्रों से तो वही जाना जाता है कि जो अग्रभाग में होता है, विशेष नहीं जाना जाता, इस कारण मुझसे तुम्हारा शरीर गिरा है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे आकाशकुटीसिद्धिसमाधि-
योगवर्णनन्नाम द्विशताधिकचतुर्थस्सर्गः ।। २०४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे साधु ! मैंने भी तुझे विचार बिना गिराया है कि विचार बिना मैं उठ गया था। यह कुटी मेरे अन्तवाहक संकल्प में थी सो मैं अपने स्थान को चला, इस कारण यह कुटी गिर पड़ी और तुम भी गिर पड़े। जो बीत गई सो भली हुई, उसकी क्या चिन्ता कीजिए ? ज्ञानवान् बीती की चिन्ता नहीं करते। जो होनी थी, सो भली हुई। हे साधु ! अब जहाँ तुम्हें जाना है, वहाँ जाओ और हम भी जाते हैं। हे राम ! इस प्रकार चर्चा करके हम दोनों आकाशमार्ग को उड़े—जैसे पक्षी उड़ते हैं—और परस्पर नमस्कार करके अलग हो गये। वह अपने स्थान को गया और अपने स्थान को चलकर बहुतेरे स्थान देखता गया, परन्तु मुझको कोई न जानता था। हे राम ! यह सम्पूर्ण वृत्तान्त जो मैंने तुमसे कहा है, उसे तुम विचारो। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आपने जो सिद्ध के साथ समागम किया था तो आकाशमार्ग में कैसे शरीर से किया ? आपका पाञ्चभौतिक शरीर तो पृथ्वी पर पड़ा था और पृथ्वी में अणुरूप हो गया था, फिर आप किस शरीर में बिचरे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अन्तवाहक शरीर से मैं बिचरता फिरा था और उसी से सिद्धों, देवताओं, इन्द्र, वरुण और कुबेर

के स्थानों में फिरा हूँ। परन्तु मुझे कोई न देखता था, मैं सबको देखता था। संकल्परचित पुरुष से मेरा व्यवहार हुआ था और किससे कहूँ ?

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! अन्तवाहक शरीर तो इन्द्रियों का विषय नहीं है, फिर सिद्ध से आपने चर्चा कैसे की और उसने आपको कैसे देखा? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार जो तुम कहते हो तो सुनो। सिद्ध को मैं इसलिए देख पड़ा कि मेरा संकल्प सत्य था। मुझे यह फुरना हुआ कि सिद्ध मुझको देखे और मुझसे चर्चा करे इससे उसने मुझको देखा और उसका संकल्प भी मुझमें आया तब जाना। जो दोनों सिद्ध हों और उनका संकल्प भिन्न-भिन्न हो तो एक दूसरे के संकल्प को नहीं जानते, परन्तु किसी का विशेष संकल्प हो तो वह दूसरे के संकल्प को जानता है। इससे यद्यपि उसका संकल्प मेरे देखने को न था, पर मेरा दृढ़ संकल्प था, इससे मैं उसके संकल्प को खींचकर अपनी ओर ले आया। जो बली होता है, उसी की जय होती है—इससे उसने मुझको देखा। हे राम ! जो अन्तवाहक में स्थित होता है, उसको तीनों कालों का ज्ञान होता है, परन्तु व्यवहार में लगे तो उसे भूल जाता है, और जो वर्तमान पदार्थ होता है, उसी का ज्ञान होता है। इसी कारण उसने मेरा शरीर डाल दिया था; क्योंकि वह समाधि के व्यवहार में लगा था, और मेरे संकल्प से वह कुटी भी तब गिरी थी, जब मैं अपने स्थान के व्यवहार को ऐसा चिन्तन करके चला था। जो मैं चिन्तन में न होता, अन्तवाहक शरीर में होता और उस कुटी का भविष्यत् विचार उस संकल्प को रहने देता तो वह सिद्ध न गिरता। पर मैं तो और ही व्यवहार में लगा था, इससे अन्तवाहक शरीर भूल गया, जिससे वह कुटी गिर पड़ी और सिद्ध भी गिर पड़ा।

हे राम ! इस प्रकार सिद्ध गिरा। उससे चर्चा हुई, तब मैं वहाँ से चला और अन्तवाहक शरीर से आकाशमार्ग में फिरने लगा। सिद्धों के समूह और देवता, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, ऋषि, मुनि, वरुण, कुबेर, इन्द्र, यम आदि सबके स्थान देखे; परन्तु मुझको किसी ने न देखा। मैं बड़े-बड़े शब्द करता कि किसी प्रकार कोई शब्द सुने और मुझको देखे,

परन्तु मेरा शब्द कोई न सुनता और न कोई मुझको देख पाता। जैसे स्वप्न में कोई शब्द करे तो उसका शब्द कोई जाग्रत् मनुष्य नहीं सुनता, और जैसे न संकल्पवाला दूसरे के सृष्टिव्यवहार का शब्द नहीं जानता, वैसे ही मुझको कोई न जानता था। हे राम ! इस प्रकार मैं प्रथम आकाश में पिशाच की नाईं बिचरा। फिर दैत्यों के स्थानों में बिचरा। मैं सबको देखता था, पर मुझको कोई न देख पाता था। राम ने पूछा, हे भगवन् ! पिशाच का शरीर, जाति और क्रिया कैसी होती है ? उनके रहने का स्थान कौन है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! पिशाच की कथा से कुछ प्रयोजन न था, तथापि तुमने प्रसंगवश पूछा है, इससे मैं कहता हूँ। पिशाच का आकार नहीं होता। वे जो जो रूप रखते हैं, सो सुनो। कई तो आकाश की नाईं शून्य होते हैं और परछाहीं की नाईं डराते हैं। कई शूकर और कई काकरूप रखकर स्थित होते हैं। ऐसे रूप रख वे बिचरते हैं और सबको देखते और जानते हैं, पर उनको कोई नहीं जानता। शीत-उष्ण से भी वे दुःख पाते हैं और इच्छा, द्वेष, लोभ, मान, मोह, क्रोध आदि विकार उनमें भी रहते हैं। शीतल जल और अच्छे भोजन की भी वे इच्छा करते हैं और नगरों, वृक्षों और दुर्गन्धपूर्ण स्थानों में भी रहते हैं। कहीं सियार होकर दिखाई देते हैं, और कहीं श्वान होकर दिखते हैं। मन में भी प्रवेश करते हैं और मन्त्र, पाठ, दान आदि से जो वश होते हैं वह भी अपनी अपनी वासना के अनुसार होते हैं। इनमें भी उत्तम, मध्यम और नीच होते हैं। जो उत्तम हैं वे देवताओं के स्थानों में, मध्यम मनुष्यों के स्थानों में और नीच नरकों में रहते हैं। इनकी उत्पत्ति अचैत्य चिन्मात्र से, जो दृश्य से रहित शुद्ध चैतन्य है, हुई है।

हे राम ! सबका अपना रूप वही चैतन्यसत्ता कल्पवृक्ष की नाईं है। उसमें जैसी-जैसी वासना होती है, वैसा ही वैसा पदार्थ होकर भासित होता है। हे राम न कहीं पिशाच है और न जगत् ! ब्रह्मसत्ता ही ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। शुद्ध आत्मत्वमात्र में किञ्चन 'अहं' होकर फुरा है। उसी को जीव कहते हैं। उस अहं की दृढ़ता से मन फुरा है। वह मन

ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है। उस ब्रह्मा ने मनोराज्य से आगे जगत् उत्पन्न किया है और ब्रह्मा ही जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है। वह ब्रह्मा ब्रह्म में स्थित है। हे राम ! ब्रह्मा का शरीर अन्तवाहक और केवल आकाशरूप है और उसके दृढ़ संकल्प से आधिभौतिक जगत् दृढ़ हुआ है—उसी मन से और मन हुआ है। हे राम ! जैसे ब्रह्मा का शरीर अन्तवाहक है, वैसे ही सबका शरीर अन्तवाहक है। परन्तु संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासित होता है और सब मनरूप है परन्तु दीर्घकाल का स्वप्न है। वह जाग्रत् होकर स्थित हुआ है, इससे दृढ़ भासित होता है। जिनको शरीर में अहंकार है, उनको जगत् आधिभौतिक भासित होता है, और जो प्रबोधरूप हैं, उनको सब जगत् संकल्परूप है—वास्तव में कुछ उपजा नहीं। न तुम हो, न मैं हूँ, न ब्रह्मा है और न जगत् है—सभी ब्रह्मरूप है। जैसे आकाश और शून्यता में, अग्नि और उष्णता में, वायु और स्पन्द में कुछ भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं है ब्रह्मा और जगत् दोनों अज हैं। न ब्रह्मा ही उपजा है और न जगत् ही उपजा है-दोनों ब्रह्मरूप हैं। जो ब्रह्म से भिन्न दिखता है, वह भ्रान्तिमात्र है।

हे राम ! पञ्चभूत और छठा मन इनका नाम जगत् है। जब तक ये भूत उसमें दिखते हैं, तब तक भ्रान्ति है और जब इनसे रहित केवल चैतन्य भासित हो, तब उसी का नाम परमपद है। हे राम ! जब आत्मपद में जागोगे, तब पञ्चभूत भी आत्मा से भिन्न न दिखेंगे। सबका अधिष्ठान चैतन्यसत्ता है। जब तक आत्मा का प्रमाद है, तब तक संसारभ्रम न मिटेगा। सब जगत् निराकार संकल्पमात्र है, परन्तु संकल्प की दृढ़ता से आकाश में स्थूलभूत दिखते हैं। ज्ञानकाल और अज्ञानकाल में जगत् उपजा नहीं, परन्तु अज्ञानी को दृढ़ भासित होता है। जैसे मनोराज्य से किसी ने नगर रचा हो तो वह उसी के हृदय में है और कहीं नहीं दिखता, वैसे ही जब तक जीव अज्ञाननिद्रा में सोया है, तब तक जगत् भासित होता है, पर जब जागेगा, तब आकाशरूप देखेगा। हे राम ! अपना संकल्प अपने

को नहीं बाँधता। जब तक स्वरूप का प्रमाद नहीं होता, तब तक ब्रह्मा का संकल्प ब्रह्मा को नहीं बन्धन करता। स्वरूप भी अहंप्रत्यय से तो संकल्परूप है। दूसरी कुछ वस्तु सत्य नहीं—आत्मा ही है। वास्तव में न जगत् का आदि है, न मध्य है और न अन्त है। न जगत् का होना है और न अनहोना है—आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। हे राम ! जब सर्वात्मा ही है, तब राग-द्वेष किसका हो ? सब अपना रूप ही है। अपना रूप जो आत्मतत्त्व है उसका किञ्चन संवेदन फुरने से जगत्रूप होकर स्थित हुआ है। जैसे किसी पुरुष ने मनोराज्य में एक स्थान रचा और उसमें भावना हुई तो वह आधिभौतिक भासित होने लग जाता है, वैसे ही यह जगत् भी ब्रह्मा का संकल्प है। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, रुद्र, वरुण और कुबेर आदि सब संकल्परूप हैं, पर संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासित होते हैं। हे राम ! आत्मारूपी एक तालाब है, जिसमें चैतन्यरूपी जल है, फुरनरूपी कीचड़ है। उसमें चौदह प्रकार के भूतजातरूप मेढक रहते हैं। वे सब संकल्पमात्र हैं।

हे राम ! आकाश में एक आकाशक्षेत्र है, जिसमें शिला उत्पन्न होती है। स्वर्गलोक और देवता बड़ी शिला हैं। एक उनमें उज्ज्वल शिला है, वह ज्ञानवान् है। मध्यम शिला मनुष्य हैं। नीच शिला तिर्यक् आदि योनि हैं। सो भी निर्बीज अर्थात् कारण से रहित हैं। अद्वैत आत्मा सदा अपने आपमें स्थित है—कुछ उत्पन्न नहीं हुआ परन्तु भ्रान्ति से भिन्न-भिन्न भासता है। जैसे फेन बुलबुले और तरंग सब जलरूप हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मरूप है। जैसे स्वप्न और संकल्प की सृष्टि कारण बिना होती है, वैसे ही यह जगत् कारण बिना संकल्प से उत्पन्न हुआ है। जैसे ब्रह्मादिक हुए हैं, वैसे ही पिशाच भी प्रकट हुए हैं। हे राम ! जैसा किञ्चन आत्मा में होता है, वैसा ही होकर दिखता है। वास्तव में पृथ्वी आदि तत्त्व कहीं नहीं हैं। न कहीं ब्रह्मा उपजा है, न कोई जगत् उपजा है, सब भ्रममात्र हैं। जितने शरीर दिखते हैं, वे सब निर्वपु हैं; चेतनता से फुरे हैं सब जीवों का आदि अन्तवाहक शरीर है। जैसे ब्रह्मा का अन्तवाहक शरीर

था, वैसे ही सब जीवों का अन्तवाहक शरीर होता है, परन्तु संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासित होता है।

सब जीवों का अपना-अपना भिन्न-भिन्न संकल्प है। उसी के अनुसार सबकी अपनी-अपनी सृष्टि होती है। जो तुम कहो कि भिन्न-भिन्न हैं, तो जीव इकट्ठे क्यों दिखते हैं ? चाहिए तो यह कि अपनी-अपनी सृष्टि में हों ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक नगरवासी और नगर में जाय और एक नगरवासी और में आवे और दोनों जाकर इकट्ठे बैठें, वैसे ही सब जीव इकट्ठे दिखते हैं, पर उनके इकट्ठे होने पर भी इसकी सृष्टि को वह नहीं देखता और उसकी सृष्टि को यह नहीं देखता, जैसे स्वप्न में जो भिन्न-भिन्न भूतजात होते हैं, वे अनुभव में इकट्ठे दिखते हैं और एक अनुभव में भिन्न-भिन्न होते हैं, एक दूसरे की सृष्टि को नहीं जानते। जीव को अन्तवाहक भूल गया है, इससे आधिभौतिक दृढ़ हो रहा है। जैसा अनुभव में अभ्यास होता है, वैसा ही दिखता है। जहाँ पिशाच होता है, वहाँ अन्धकार भी होता है। जो मध्याह्न का सूर्य उदय हो और पिशाच आगे आवे तो अन्धकार हो जाता है, ऐसा तमरूप वह होता है। जैसे उलूकादिक को प्रकाश में अन्धकार होता है, वैसे ही अनेक सूर्यों का प्रकाश हो तो भी प्रिशाच को अन्धकार ही रहता है। हे राम ! जैसा उनमें निश्चय होता है, वैसा ही भान होता है, क्योंकि उनका ओज तमरूप है। जैसा किसी को निश्चय होता है, वैसा ही भासता है। मुझको तो सदा आत्मा का निश्चय है, इससे मुझे सदा आत्मतत्त्व का भान होता है। जैसे पिशाच पाञ्चभौतिक शरीर से रहित चेष्टा करते हैं वैसे ही मैं पाञ्चभौतिक शरीर से रहित आकाश में चेष्टा करता रहा हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्यानवर्णनन्नाम द्विशताधिकपञ्चमस्सर्गः ।। २०५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं चिदाकाश हूँ, इसलिए पाञ्चभौतिक शरीर से रहित अन्तवाहक शरीर से बिचरता रहा परन्तु मुझको कोई न

देखता था। चन्द्रमा, सूर्य, सहस्र नेत्रवाले इन्द्र, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषीश्वर, मुनीश्वर, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी इस चर्मदृष्टि से मुझे न देख सके और मैं सबको देखता फिरता था। इन्द्र के निकट जाकर मैंने उसके अंग हिलाये, परन्तु उसने मुझको न जाना। जैसे संकल्प का नर किसी को हिलाये और वह न देखे और आधिभौतिक शरीर न हिले, वैसे ही उनके शरीर मेरे हिलाने से नहीं हिले। इससे मैं अति मोह को प्राप्त हुआ कि इतने काल तक मैं रहा और मुझको कोई देख नहीं सकता। तब मैंने यह इच्छा की कि मुझको सब देखें। मैं तो सत्य-संकल्प था, इससे सब मुझे देखने लगे। जैसे कोई इन्द्रजाल को देखे; वैसे ही वे मुझको देखने लगे। जिसने पृथ्वी पर देखा उसने पृथ्वी से उपजा वशिष्ठ जाना । मनुष्यलोक में कई ने जल से उपजा जाना कि वारिज वशिष्ठ है । कई न वायु से उपजा जाना और कई ने जाना कि सप्तऋषियों के बीच जो तेजोमय वशिष्ठ है, वही यह है। इस प्रकार जगत् में मुझको सब देखने लगे, और मैं सबके साथ व्यवहार करने लगा। इसी प्रकार जब बहुत काल व्यतीत हुआ, तब सबने भावना की दृढ़ता से पाञ्चभौतिक शरीर में मुझको देखा। सबको प्रथम वृत्तान्त भूल गया, आधिभौतिकता दृढ़ हो गई, जैसे अज्ञान से जीव स्वप्न के नर को आधिभौतिक देखता है, वैसे ही मेरे साथ उन्होंने आकार देखा, पर मुझको सदा अपने स्वरूप में अहंप्रत्यय से भिन्न कुछ द्वैत न भासित होता था, क्योंकि मैं ब्रह्मरूप था। मेरा वशिष्ठ नाम ऐसा है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। मैं तो चिदाकाशरूप हूँ, पर औरों को वशिष्ठ की प्रतीति उपजी है।

हे राम ! तुम सरीखों को मेरा आकार दिखता है, पर मुझको आधिभौतिक और अन्तवाहक, दोनों शरीर चिदाकाश का किञ्चन भासते हैं। मैं सदा अद्वैतरूप निराकार हूँ। तुम्हारी और मेरी चेष्टा समान है, परन्तु मुझको सदा आत्मपद का निश्चय है, इस कारण मैं जीवन्मुक्त होकर बिचरता हूँ। अज्ञानी को क्रिया में द्वैत भासता है और मुझको अक्रिया में भी अद्वैत भासता है। ब्रह्मा भी ब्रह्मरूप जान पड़ता है और उसका संकल्प

जो जगत् है, वह भी ब्रह्मरूप है। जैसे समुद्र में तरंग जलरूप है—भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है—भिन्न कुछ नहीं। इससे मैं चिदाकाशरूप हूँ—द्वैत कुछ नहीं फुरता। जब अहं जगता है, तब जगत् द्वैतरूप होकर भासता है। जैसे अहं के फुरने से स्वप्न की सृष्टि होती है, वैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी होती है। सो संकल्पमात्र है। ब्रह्मा और ब्रह्मा का जगत् संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक की नाईं प्रतीत होता है, पर वास्तव में न ब्रह्मा उपजा है और न जगत् उपजा है। चिदानन्द ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। वह सदा एकरस है। हे राम ! सृष्टि के आदि से प्रलयपर्यन्त जो कुछ क्षोभ है, उसमें आत्मा सदा एकरस है। उसमें कभी क्षोभ नहीं, क्योंकि वास्तव में कुछ उपजा नहीं। जो कुछ भासता है, वह अज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान से जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे स्वप्नसृष्टि में किसी को कहीं निधि दिखे तो वह उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करता है, पर जब जागता है तो उसको स्वप्न जानकर फिर उसे पाने का यत्न नहीं करता, वैसे ही जब आत्मबोध होता है, तब फिर इस जगत् में जगत्-बुद्धि नहीं रहती।

अज्ञान ही जगत्भ्रम का कारण है। उस अज्ञान की निवृत्ति का उपाय यही है कि इस महारामायण का विचार करे—उसी से संसारभ्रम निवृत्त होगा। यह संसार अविद्या से वासनामात्र है। जो इसको सत्य जानकर इसकी ओर दौड़ते हैं, वे परमार्थ से शून्य, मूढ़, कीट और वानर की नाईं चञ्चल हैं। जिनके भोगों की सदा इच्छा रहती है, वे नीच पशु है, उनका संसार से उबरना कठिन है, क्योंकि उनके हृदय में सदा तृष्णा रहती है। वे वैराग्य को नहीं प्राप्त होते। हे राम ! भोग तो ज्ञानवान् भी भोगते हैं, परन्तु वे भोगबुद्धि से नहीं भोगते, किन्तु प्रवाहपतित जो कुछ प्रारब्धवेग से प्राप्त होता है, उसको भोगते हैं, वे जानते हैं कि गुणों में गुण बरतते हैं। वे इन्द्रियों सहित भोग को भ्रान्तिमात्र जानते हैं। जो अज्ञानी हैं, वे आसक्त होकर भोगते और तृष्णा करते हैं और भोग की तृष्णा से उनका हृदय जलता है—इसी का नाम बन्धन है। भोग दुःखरूप हैं। जो

इनको सेवते हैं वे हृदय में सदा तृष्णा से जलते हैं। उनका द्वैतरूप जगत्भ्रम कभी नहीं मिटता। पर ज्ञानवान् सदा आत्मा से तृप्त रहते हैं, इससे शान्तरूप हैं। जैसे हिमालय पर्वत में सब पदार्थ शीतल हो जाते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान से हृदय शीतल हो जाता है, आत्मानन्द की प्राप्ति होती है और कोई दुःख नहीं रहता। जिनका चित्त सदा स्त्री, पुत्र और धन में आसक्त है और इनकी जो इच्छा करते हैं, वे महामूर्ख और नीच हैं। उनको धिक्कार है। जिसको आत्मपद की इच्छा हो, उसको सदा सन्तों का संग करना चाहिए और शास्त्रों को श्रवण कर उन पर विचार करना चाहिये। इस अभ्यास से आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामचन्द्र ! इस शास्त्र का विचार परमपद को प्राप्त करानेवाला है। जो पुरुष इस शास्त्र को त्यागकर और की ओर लगते हैं, वे मूर्ख हैं। बाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा, तब सायंकाल का समय हुआ और सब श्रोता परस्पर नमस्कार करके गये और सूर्य की किरणों के उदय होने पर फिर आकर स्थित हुए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अन्तरोपाख्यान वर्णनसमाप्ति-
र्नामद्विशताधिकषष्ठस्सर्गः ।। २०६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुमको यह अन्तरोपाख्यान सुनाया है, इसके विचार से जगत्भ्रम नष्ट हो जावेगा। ऐसे जब तुम विचार कर देखोगे, तब आत्मा में अनन्त ब्रह्माण्ड समाते देख पड़ेंगे। हे राम ! आत्मा में जगत् कुछ वास्तव में नहीं हुआ, इससे मिटता भी नहीं। चित्त के फुरने से भासता है। जब चित्त का फुरना अधिष्ठान में लीन हो जावेगा, तब अद्वैततत्त्व आत्मा ही भासित होगा। हे राम ! अद्वैततत्त्व में जगत् भ्रम से दिखता है। ज्ञानवान् की दृष्टि में सदा अद्वैत ही आता है। जगत्, मैं और तुम, सब चिदाकाश हैं। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं—आत्मसत्ता ही जगत् होकर दिखती है। जैसे अपना अनुभव स्वप्न में स्वप्न की सृष्टि होकर दिखता है, सो अनुभवरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप है। यदि नाना प्रकार के विकार भी दिखते हैं, तो भी आत्मसत्ता उनमें

अनुस्यूत और अखण्डरूप है—आत्मसत्ता और जगत् में भेद कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण और भूषणों में भेद नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। ब्रह्म ही चेतनता से जगत्रूप होकर दिखता है। जैसे स्वप्न में अपने ही अनुभव से बहुत विस्तृत होकर जगत् भासित होता है, सो अनुभव से इतर कुछ नहीं हुआ, और जैसे समुद्र और तरंगों में कुछ भेद नहीं; वैसे ही ब्रह्म, जगत् और अनुभव तीनों में कुछ भेद नहीं—असम्यक्दृष्टि से भेद भासता है, सम्यक्दृष्टि से कोई भेद नहीं। हे राम ! आत्मसत्ता में प्रथम जो आभास फुरा है वह ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है। वह चिदाकाशरूप ब्रह्मा है और वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। उसी ब्रह्मसत्ता ने अपने भाव को नहीं त्यागा और ब्रह्मारूप होकर स्थित हुई है। फिर उसने जगत् रचा। इसलिए वह जगत् भी आकाशरूप है। पर वास्तव में न जगत् उपजा है, न ब्रह्मा उपजा है और न स्वप्न हुआ है। परमार्थसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। वह शुद्ध, अनन्त, अविनाशी अचेत चिन्मात्र है। जगत् भी वही स्वरूप है।

हे राम ! मैं चिदाकाशरूप हूँ। न मेरे साथ कोई आकार है, न मैं कभी उपजा हूँ और न मैं कभी मृतक होता हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, अजर, अमर, सदा अपने स्वभाव में स्थित हूँ। मैं अनेक विकारों में भी एकरस हूँ। जैसे स्वप्न में बड़े क्षोभ होते हैं, तो भी जाग्रत् शरीर को स्पर्श नहीं करते, क्योंकि उसमें कुछ हुए नहीं, आभासमात्र हैं, वैसे ही जगत् की उत्पत्ति-प्रलयादिक क्षोभ में आत्मसत्ता को स्पर्श नहीं होता, अर्थात् वह क्षोभ से रहित सदा अनुभवरूप है। जिस पुरुष ने ऐसे अनुभव को नहीं पहिचाना, जिससे सब कुछ सिद्ध होता है, और उसे छिपाया है, वह महामूर्ख और आत्महंता है—वह महाआपदा के समुद्र में डूबेगा। जिसको अपने स्वरूप में अहं-प्रत्यय हुआ है, उसको मानसी दुःख कभी नहीं स्पर्श करता। जैसे पर्वत को चूहा नहीं चूर्ण कर सकता, वैसे ही उसको दुःख नहीं स्पर्श करता। जिसको आत्मा में अहं-प्रत्यय नहीं, उसको शान्ति नहीं प्राप्त होती। जैसे बवंडर में उड़ा हुआ तृण स्थिर नहीं होता, वैसे ही

देह-अभिमानी को कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती। जो अपने शुद्ध स्वरूप को त्यागकर अपने को देह से मिला हुआ जानता है, वह क्या करता है? चिन्तामणि को त्यागकर राख को अंगीकार करना और शुद्ध चिन्मात्र अपने स्वरूप को त्यागकर देह में आत्म-अभिमान करना समान है।

हे राम ! जब जीव अनात्म में आत्मअभिमान करता है, तब अपने को विकारवान् और जन्मता-मरता मानता है। और जब देह अभिमान को त्यागकर आत्मा को आत्मा मानता है, तब न जन्मता है, न मरता है, न शस्त्र से कटता है, न अग्नि से जलता है, न जल में डूबता है और न पवन से सूखता है—क्योंकि वह निराकार, अविनाशी और चिदाकाशरूप है। हे राम ! यदि चेतन की मृत्यु होती हो तो पिता के मरने से पुत्र भी मर जाता और एक के मरने से सभी मर जाते, क्योंकि आत्मसत्ता चेतन एक और सबमें अनुस्यूत है। पर एक के मरने से सब नहीं मरते, इससे चैतन्य आत्मा की मृत्यु कभी नहीं होती। शरीर को काटने से आत्मा नहीं कटता, शरीर के जलने पर आत्मा नहीं जलता। सम्पूर्ण विश्व भस्म हो जाय तो भी आत्मा भस्म नहीं होता। आत्मा नित्य, शुद्ध, अनन्त, अच्युतरूप है—कभी स्वरूप से अन्यथा भाव को नहीं प्राप्त हुआ। हे राम! मैं ब्रह्मरूप हूँ, अर्थात् सबमें अहंरूप निराकार अखण्ड मैं हूँ। न मुझको जन्म है और न मृत्यु है। सुख की इच्छा नहीं। न कुछ हर्ष है, न शोक है। न जीने की इच्छा है न मरने की। जैसे रस्सी में सर्प और सुवर्ण में भूषण कल्पित हैं, वैसे ही आत्मा में वशिष्ठ नाम-रूप है। मैं देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित अनन्त आत्मा, नित्य, शुद्ध और बोधरूप हूँ। सबका स्वरूप आत्मतत्त्व है। परन्तु वास्तवस्वरूप के प्रमाद से अवस्तु को प्राप्त हुए की नाईं भासित होता है। जो पुरुष स्वरूप में स्थित नहीं हुए, वे संसार-मार्ग की ओर दृढ़ हुए हैं। उनका जीना वृथा है। वे कहने भर को चैतन्य हैं। असल में पाषाण की शिला-सदृश हैं। जैसे लुहार की धौंकनी से पवन निकलता है, वैसे ही उनका साँस लेना वृथा है। वे घड़ीयन्त्र की नाईं वासना में भटकते हैं, आत्मानन्द को नहीं प्राप्त होते

और सदा तपते रहते हैं। जिनकी आत्मपद में स्थिति हुई है, उनको दुःख कभी स्पर्श नहीं करता। यदि प्रलयकाल का पवन चले और पुष्करमेघ की वर्षा हो, बड़वाग्नि लगे और द्वादश सूर्य तपें, तो भी वे ऐसे क्षोभों में भी चलायमान नहीं होते, क्योंकि वे सब ब्रह्मस्वरूप जानते हैं। जैसे तृण से पर्वत चलायमान नहीं होता, वैसे ही वे बड़े दुःखों से भी चलायमान नहीं होते। दुःख तब होता है, जब आत्मा से भिन्न कुछ भासता है। पर उनको तो आत्मा से भिन्न कुछ भासता ही नहीं।

हे राम ! यह सब जगत् आत्मअनुभवरूप है, क्योंकि यह आत्मरूप है। जैसे स्वप्न में अनुभव से भिन्न कुछ वस्तु नहीं होती, वैसे ही सब जगत् अनुभवरूप है। जो भिन्न भासता है, वह भ्रान्तिमात्र है। यह जगत् तो नाना प्रकार का दिखता है, सो आत्मा में अव्यक्तरूप है और भ्रम से प्रकट दिखता है। जैसे आकाश में नीलापन भ्रम से सिद्ध है, वैसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से सिद्ध है। वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं; आत्मसत्ता ही जगत्रूप होकर दिखती है और उसमें जैसा-जैसा निश्चय होता है, वैसा ही वैसा अधिष्ठानरूप होकर भासित होता है। जिनको कारण से सृष्टि का होना दृढ़ हो रहा है, उनको वैसा ही भासता है। जिनको परमाणुओं से सृष्टि उत्पन्न होने का निश्चय है, उनको वैसे ही सृष्टि सत्य भासित होती है और माध्यमिक सत्-असत् के मध्य वस्तु को मानते हैं एक चार्वाक म्लेच्छ हैं, जो चारों तत्त्वों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं बौद्ध कहते हैं कि जो कुछ वस्तु है, वह बोध है। इसका अभाव होने से सब शून्य है। ब्राह्मण, हाथी, गौ, श्वान, घोड़ा, सूर्यादिक में भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रही है, पर जो ज्ञानवान् ब्राह्मण हैं, वे सबमें एक ब्रह्मसत्ता अनुस्यूत देखते हैं। हे राम ! वस्तु तो एक है पर उसमें जिसको जैसा निश्चय हुआ है, उसे वैसा ही भासता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु में जैसी भावना करते हैं, वैसी ही सिद्धि होती है, वैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना करते हैं, वैसा ही रूप भासता है। हे राम ! बुद्धिमानों ने निर्णय किया है कि आत्मसत्ता ही सारभूत है; जब उसमें दृढ़ अभ्यास करोगे तब आत्मसत्ता

ही दिखेगी और फिर उस निश्चय से चलायमान न होगे। राम ने पूछा, हे भगवन् ! पाताल, भूतल और स्वर्ग में बुद्धिमान कौन हैं, जिनको पूर्वापर के विचार से परावर का साक्षात्कार हुआ है ? और वे आत्म-स्वरूप का निश्चय कैसे करते हैं ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब जगत् इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा से जलता है, इष्ट की प्राप्ति में हर्ष और अनिष्ट की प्राप्ति में शोक करता है। ऐसा कोई बिरला ही है, जो जगत् में सूर्य की नाईं प्रकाशता है, नहीं तो सब तृण की तरह भोगरूपी वायु में भटकते हैं। जो सबमें श्रेष्ठ कहाता है, वह भी विषयरूपी अग्नि में जलता है। जैसे कीड़े अशुभ स्थानों में रहते हैं और उनमें अपने को प्रसन्न मानते हैं, वैसे ही देवता भी सदा भोगरूपी अपवित्र स्थानों में अपने को प्रसन्न मानते हैं, सो वे मेरे मत में दुर्गन्ध के कृमि हैं। गन्धर्व तो मूढ़ हैं। उनको तो कुछ सुधि नहीं अर्थात् आत्मपद की गन्ध भी नहीं-वे तो मेरे मत में मृग हैं। जैसे मृग को राग में आनन्द होता है, वैसे ही गन्धर्व राग में उन्मत्त रहते हैं और आत्मपद से विमुख हैं। विद्याधर भी मूर्ख हैं, क्योंकि वे वेद के अर्थरूपी चतुराई को अग्नि में जलाते हैं और वेद के सारभूत अमृत को नहीं जानते, इसलिए आत्मपद से विमुख हैं। सिद्ध मेरे मत में पक्षी हैं। वे पक्षी की नाईं उड़ते फिरते हैं। और अभिमानरूपी पवन के चलने से अनात्मरूपी गढ़े में आ पड़ते हैं। अपने वास्तवस्वरूप में स्थित नहीं होते। यक्ष धन के अभिमान से मूर्ख की नाईं प्रीति कर जलते हैं और आत्मपद में स्थित नहीं पाते। योगिनी भी मद से सदा उन्मत्त रहती हैं, इससे आत्मपद में स्थिति नहीं पातीं। दैत्यों को भी सदा देवताओं को मारने की इच्छा रहती है, इससे सदा शोक में रहते हैं और आत्मपद से विमुख हैं। तुम तो पहिले से ही जानते हो मनुष्य भी आत्मपद से गिरे हुए हैं; क्योंकि उनकी सदा यही इच्छा रहती है कि गृह बसाइये। वे खाने और धन इकट्ठा करने के निमित्त यत्न करते हैं और इन्द्रियों के विषयों में डूबे हुए हैं। पाताल में नाग रहते हैं, जिनका जल में भी निवास है। वे सुन्दर नागिनियों में आसक्त

रहते हैं, इसलिए वे भी आत्मानन्द से गिरे हुए हैं। निदान जितने प्राणी हैं, वे सब विषयों के सुख में लगे हुए हैं और आत्मपद से विमुख हैं। सब जातियों में बिरले जीवन्मुक्त और ज्ञानवान् भी हैं—उन्हें सुनो।

देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सदा आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, कुबेर, बृहस्पति, शुक्र, नारद, कच आदि जीवन्मुक्त पुरुष हैं। सप्तऋषि, दक्षप्रजापति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन जीवन्मुक्त हैं। और भी बहुत मुक्त हैं। सिद्धों में कपिलमुनि; यक्षों में विद्याधर और योगिनी और दैत्यों में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, बलि, विभीषण, इन्द्रजित, सारमेय, चित्रासुर और नमुचि आदि जीवन्मुक्त हैं। मनुष्यों में राजर्षि और ब्रह्मर्षि, नागों में शेषनाग, वासुकि नाग आदि जीवन्मुक्त हैं। ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोक में कोई कोई बिरले जीवन्मुक्त हैं। हे राम ! जाति जाति में जो जीवन्मुक्त हुए हैं, वे तुमसे संक्षेप से कहे हैं। जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ-वहाँ अज्ञानी ही बहुत हैं, ज्ञानवान् कोई बिरला ही दिखता है। जैसे सब जगह वृक्ष बहुत हैं, परन्तु कल्पवृक्ष बिरला होता है वैसे ही संसार में अज्ञानी बहुत हैं, ज्ञानी कोई बिरला है। हे राम ! सूरमा और कोई नहीं, जिसकी आत्मपद में स्थिति हुई है वही सूरमा है और संसार समुद्र तरना उसी के लिए सुगम है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मुक्तसंज्ञावर्णनन्नाम द्विशताधिकसप्तमस्सर्गः ।। २०७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो विवेकी विरक्तचित्त पुरुष हैं, जिनकी स्वरूप में स्थित हुई है, उनके राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, अभिमान, दम्भ आदि विकार स्वाभाविक नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय में अन्धकार स्वाभाविक निवृत्त हो जाता है और जैसे बाण को देखकर कौआ भाग जाता है, वैसे ही विवेकरूपी बाण को देखकर विकाररूपी कौए भाग जाते हैं। विवेकी पुरुषों के हृदय में इतने गुण स्वभाविक स्थित होते हैं कि वे किसी पर क्रोध नहीं करते, और जो करते भी दिखते हैं, सो किसी

निमित्तमात्र जानना। उनके हृदय में सदा शान्ति और दया रहती है। जो कोई उनके निकट आता है, वह भी शीतल हो जाता है, क्योंकि वे निरावरण स्थित हैं। जैसे चन्द्रमा के निकट जाने से शीतलता होती है, वैसे ही ज्ञानवान् के निकट आने से हृदय शीतल होता है, और कोई पुरुष उससे उद्विग्न नहीं होता। जो कोई निकट आता है, उसको वे विश्राम के लिए स्थान देते हैं और उसकी कामना भी पूर्ण करते हैं। जैसे कमलों के निकट भौंरा जाता है तो वे उसको विश्राम का स्थान देते हैं और सुगन्ध से उसको सन्तुष्ट करते हैं, वैसे ही सन्तजन निहाल कर देते हैं। वे यथाशास्त्र चेष्टा करते हैं और हेयोपादेय की विधि को भी जानते हैं। जो कुछ उन्हें स्वाभाविक प्राप्त हो, उसको वे शास्त्र की विधि सहित अंगीकार भी करते हैं और हृदय में गर्व की भावना से रहित हैं। उनमें दान-स्नान आदि शुभ क्रिया स्वाभाविक होती हैं। उदारता, वैराग्य, धैर्य, शम, दम आदि गुण भी स्वाभाविक होते हैं। वे इस लोक और परलोक में भी सुख देनेवाले हैं।

हे राम ! जिन पुरुषों में ऐसे गुण पाइये, वे ही सन्त हैं। जैसे जहाज के आश्रय से समुद्र के पार होते हैं, वैसे ही सन्तजन संसारसमुद्र से पार करनेवाले हैं। जिनको सन्तजनों का आश्रय हुआ है, वे ही तरे हैं। सन्तजन संसारसमुद्र के पार के पर्वत हैं। जैसे समुद्र में बहुत जल होता है, तो बड़े तरंग उछलते हैं और उसमें बड़े मच्छ रहते हैं, पर जब उसका प्रवाह उछलता है, तब पर्वत उस प्रवाह को रोकता है और उछलने नहीं देता, वैसे ही चित्तरूपी समुद्र में इच्छारूपी तरंग और राग-द्वेषरूपी मच्छ रहते हैं और जब इच्छारूपी तरंग का प्रवाह उछलता है, तब सन्तरूपी पर्वत उसको रोकते हैं। सन्तजन अपने चित्त को भी रोकते हैं और जो उनके निकट कोई जाता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं। यदि शरीर नष्ट होने लगे अथवा नगर नष्ट होने लगे या निकट अग्नि लगे तो भी ज्ञानवानों का हृदय स्वरूप से चलायमान नहीं होता। वे सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं। जैसे भूकम्प से सुमेरु चलायमान नहीं होता, वैसे ही वे

भी चलायमान नहीं होते। ये जो मैंने तुमसे शुभ गुण स्नान, दान आदि कहे हैं, सो जीवों को सुख देनेवाले और दुःख को निवृत्त करनेवाले हैं। इनसे सुख की प्राप्ति होती है। और दुःख नष्ट हो जाता है। जब स्नान-दान की ओर मनुष्य आता है, तब सन्तों की संगति में भी उसका चित्त लगता है। जब सन्तों की संगति में चित्त लगा, तब क्रम से परमपद की प्राप्ति होती है। इससे मनुष्य का यही कर्तव्य है कि शास्त्र के अनुसार शुभ चेष्टा करे और सन्तों के निश्चय का अभ्यास करे।

हे राम ! जिसको सन्तों की संगति प्राप्त होती है, वह भी सन्त हो जाता है। सन्तों का संग वृथा नहीं जाता। जैसे अग्नि से मिला पदार्थ अग्निरूप हो जाता है, वैसे ही सन्तों के संग से असन्त भी सन्त हो जाता है और मूर्खों की संगति से साधु भी मूर्ख हो जाता है। जैसे उज्ज्वल वस्त्र मल के संग से मलिन गंदा हो जाता है, वैसे ही मूढ़ का संग करने से साधु भी मूढ़ हो जाता है, क्योंकि पाप के वश उपद्रव भी होते हैं, इसी से पाप के वश साधु को भी दुर्जनों की संगति से दुर्जनता घेर लेती है। इससे हे राम ! दुर्जन की संगति सर्वथा त्यागनी चाहिए और सन्तों की संगति कर्तव्य है। जो परमहंस सन्त मिले और जो साधु हो और जिसमें एक गुण भी शुभ हो, उसको भी अंगीकार कीजिये, परन्तु साधु के दोष न विचारिये—उसके शुभगुण ही ग्रहण कीजिये—जैसे भौंरा केतकी के कण्टकों की ओर नहीं देखता, उसकी सुगन्ध को ग्रहण करता है। इससे हे राम ! संसारमार्ग को त्यागकर सन्तों की संगति करो, तब संसारभ्रम निवृत्त हो जायगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तव्यवहारोनाम
द्विशताधिकाष्टमस्सर्गः ।। २०८ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! हमारे दोष तो सत्‌शास्त्र, सत्‌संग और उनकी युक्ति से और तीर्थ-स्नान, दान, जप और पूजा से निवृत्त होते हैं, पर और जीव जो कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि हैं, उनके दुःख कैसे निवृत्त होंगे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो वास्तव सत्ता है, उसी का नाम ब्रह्म

है। वह अखण्ड अद्वैत है। उसमें कुछ द्वैत का विभाग नहीं है। परन्तु उसमें जो चित्त किञ्चन आभास फुरा है, वह फुरना ही नानात्व हुए की तरह स्थित हुआ है, वास्तव में कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्न में स्वप्न की सृष्टि दिखती है, परन्तु वास्तव में हुई नहीं, निद्रादोष से दिखती है, वैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी वास्तव में नहीं हुई, अज्ञान से जीवों को भासित होती है। वास्तव में सब जीव ब्रह्मरूप हैं, पर अपने स्वरूप के प्रमाद से जीवत्वभाव को अंगीकार किया है। उस अंगीकार और अनात्म देहादिक में आत्मअभिमान से जीव जैसा निश्चय करता है, वैसी ही गति पाता है। देश, काल, क्रिया और द्रव्य का जैसा संकल्प अनुभवसत्ता में दृढ़ होता है, वैसा ही भासता है। उसमें चार अवस्था कल्पित होती हैं और जैसी-जैसी भावना होती है, उसके अनुसार अवस्था का अनुभव होता है। वे चार अवस्था ये हैं—एक घनसुषुप्ति; दूसरी क्षीणसुषुप्ति, तीसरी स्वप्न अवस्था और चौथी जाग्रत्। पर्वत और पाषाण घनसुषुप्ति में हैं। जैसे सुषुप्ति अवस्था में कुछ नहीं फुरता, जड़ीभूत हो जाता है, वैसे ही इसको कुछ नहीं फुरता—घन सुषुप्ति में स्थित है। वृक्ष क्षीणसुषुप्ति में स्थित हैं। जैसे क्षीणसुषुप्ति में कुछ फुरना फुरता है, वैसे ही वृक्षों में भी फुरना होता है, इससे वे क्षीण, सुषुप्ति में हैं। पक्षी, कीट, पतंग आदि तिर्यक् जीव स्वप्न अवस्था में स्थित हैं। जैसे स्वप्न में पदार्थ दिखता है, परन्तु स्पष्ट नहीं दिखता, वैसे ही इनको थोड़ा सूक्ष्म ज्ञान है, इससे ये स्वप्न अवस्था में स्थित हैं। मनुष्य और देवता जाग्रत्रूप जगत् का अनुभव करते हैं।

हे राम ! ये चारों अवस्था आत्मा में स्थित हैं। छोटे बड़े सबका अहंप्रत्ययरूप आत्मा है। उसमें जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही वह दिखता है। हे राम ! हमको एक दिन व्यतीत होता है और चींटी को उसी में युग का अनुभव होता है। हमको जो सूक्ष्म अणु होता है, उनको वही पर्वत के समान लगता है। हे राम ! स्वरूप सबका एक आत्मसत्ता ही है, परन्तु भावना से भिन्न-भिन्न भासित होता है। एक कीट है, जो बहुत सूक्ष्म है। जब वह चलता है, तब जानता है कि मेरा गरुड़ का सा वेग है

और उसको वही सत्‌ हो रहा है। बाल-खिल्यों का अंगुष्ठप्रमाण शरीर है। उनको वही बड़ा दिखता है और विराट्‌ को वही अपना बड़ा शरीर लगता है। निदान जैसी जिसकी भावना होती है, वैसा ही उसको भासित होता है। मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, सबका अपना-अपना भिन्न-भिन्न संकल्प है। जैसा संकल्प किसी को दृढ़ हो रहा है, उसको वैसा ही स्वरूप भासित होता है। जैसे मनुष्य राग, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि विकारों में आसक्त होता है, वैसे ही कीट पतंग, पक्षी आदि को भी होता है, परन्तु भेद इतना ही है कि जैसे हमको यह जगत्‌ स्पष्टरूप दिखता है, वैसे उनको नहीं दिखता। संसारी सब हैं परन्तु वासना के अनुसार न्यून-अधिक भासता है और दुःख का अनुभव स्थावर-जंगम को भी होता है।

जब किसी स्थान में अग्नि लगती है और उसमें वृक्ष और पाषाण जलते हैं, तब उनको भी दुःख होता है, परन्तु सूक्ष्म-स्थूल का भेद है। जैसे और जीव के शस्त्रप्रहार करने से शरीर नष्ट होने का दुःख होता है, वैसे ही वृक्षादिक को भी होता है, परन्तु घनसुषुप्ति, क्षीण-सुषुप्ति और स्वप्न जाग्रत्‌ का भेद है। पर्वत पाषाण को सूक्ष्म दुःख होता है, वृक्ष को पाषाण से विशेष दुःख होता है, परन्तु स्पष्ट मान और अपमान का दुःख नहीं होता; स्वप्न की नाईं होता है। मनुष्य और देवताओं को स्पष्ट रागद्वेष जाग्रत की नाईं होता है; क्योंकि वे जाग्रत्‌ अवस्था में स्थित हैं। और वृक्ष, पाषाण आदि को स्पष्ट दुःख का विकल्प नहीं उठता; क्योंकि वे जड़ स्वभाव में स्थित हैं, पर दुःख तो सबको होता ही है। और आश्चर्य देखो कि कीट महादुःखी रहते हैं। जब वे मृतक होते हैं, तब सुखी होते हैं। अज्ञान से जो इस शरीर में आस्था हुई है, उसको भी मरना बुरा लगता है तो और जीवों को भला कैसे न लगे। हे राम ! अपने स्वरूप के प्रमाद से भय, क्रोध, लोभ, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृषा, राग-द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छा आदि विकारों की अग्नि से जीव जलते हैं, आत्मानन्द को नहीं प्राप्त होते और घड़ीयन्त्र की नाईं वासना के अनुसार भटकते हैं। जब वासना

दृढ़ पाप की होती है, तब जीव पाषाण और वृक्षयोनि पाते हैं। जब क्षीण वासना तामसी होती है, तब तिर्यक् पक्षी, सर्प और कीटयोनि पाते हैं। हे राम ! राजसी वासना से जीव मनुष्य होते हैं। सात्त्विकी वासना से देवता होते हैं। पर जब मनुष्य शरीर रखकर निर्वासनिक होते हैं, तब मुक्ति पाते हैं। जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब जीवों के दुःख नष्ट हो जाते हैं। दुःख के नाश का और कोई उपाय नहीं है। ये जगत् के दुःख तब तक जान पड़ते हैं, जब तक आत्मज्ञान नहीं उपजा। जब आत्मज्ञान उपजता है, तब सब जगत्भ्रम मिट जाता है। मुझसे पूछो तो वास्तव में न कोई देवता है, न मनुष्य है, न पशु है, न पक्षी है, न पाषाण है, न वृक्ष है और न कीट है सब चिदाकाशरूप हैं, दूसरा कुछ नहीं बना, भ्रान्ति से नानास्वरूप भासित होते हैं। सर्वदाकाल सब प्रकार आत्मसत्ता अपने ही में स्थित है।

हे राम ! न कुछ जगत् का होना है, न अनहोना है; न आत्मता शब्द है, न परमात्मता शब्द है, न मौन है, न अमौन है; न शून्य है, न अशून्य है; केवल अचेत चिन्मात्र अपने आपमें स्थित है। उसमें जन्म और जन्मान्तर भ्रम से भासित होते हैं। जैसे स्वप्न से स्वप्नान्तर भ्रम से भासित होता है। और जैसे स्वप्न में एक अपना रूप होता है निद्रादोष से द्वैत भासित होता है, वैसे ही अब भी आत्मा अद्वैत है; पर अविचार से नानात्व प्रतीत होता है। दुःख भी अज्ञान से होता है, विचार करने से दुःख कुछ नहीं। जो मृतक होकर उत्पन्न होता है, तो शान्ति हुई, दुःख कुछ नहीं, और जो मृतक होकर शान्त हो जाता है, उपजता नहीं, तो भी दुःख कोई नहीं, मुक्त हुआ। जो मरता नहीं तो भी ज्यों का त्यों हुआ, दुःख कोई नहीं हुआ। और जो सब चिदाकाश है तो भी दुःख की बात नहीं। हे राम ! अज्ञानी के निश्चय में दुःख है, पर विचार किये से दुःख कुछ नहीं। यह जगत् आत्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित है, परन्तु यह जगत्रूपी कैसा प्रतिबिम्ब है, जो अकारणरूप है। इसका कारणरूप बिम्ब कोई नहीं। यह कारण से रहित है। जैसे नदी में जो नीलता का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह अकारणरूप है, वैसे ही यह जगत् अकारणरूप है। अज्ञानी को प्रमाददोष

से उसमें सत्यता है और ज्ञानी को द्वैत नहीं भासित होता-अज्ञानी को द्वैत भासित होता है। हे राम ! हमको तो सदा चिदाकाश प्रतीति होता है—हम जागे हैं, इससे द्वैत नहीं भासित होता। जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं दिखता, वैसे ही हमको द्वैत नहीं दिखता। जो ज्ञानी है, उसको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं दिखता, उसे सर्वब्रह्म ही दिखता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थरूपवर्णनन्नाम द्विशताधिकनवमस्सर्गः ।। २०९ ।।

श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् । जो कुछ तुमने कहा सो तो मैंने जाना परन्तु अब प्रश्न यह है कि नास्तिकवादी का कल्याण किस प्रकार होता है, क्योंकि वे कहते हैं कि जब तक जीव है, तब तक सुख भोगे, जब मर जायगा तब भस्मीभूत होगा। न कहीं आना है, न जाना है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अखण्ड आत्मसत्ता आकाश की नाईं सर्वत्र व्याप्त है। जब तक उसका भान नहीं होता, तब तक मन का ताप नहीं नष्ट होता। जब आत्मसत्ता का भान होता है, तब शान्ति प्राप्त होती है और मनुष्य अपने को अमर जानता है। जिस पुरुष ने अखण्ड निश्चय अंगीकार किया है, उसको दुःख नहीं स्पर्श करता। वह ब्रह्मदर्शी होता है। और जिसको ब्रह्मसत्ता का निश्चय नहीं हुआ, उसको मन के ताप नहीं छोड़ते। वह स्वरूप के प्रमाद से अपने को मरता जानता है पर महाप्रलयरूप आत्मा में सब शब्दों का अभाव है। जैसे महाप्रलय में सब शब्दों का अभाव होता है, वैसे ही आत्मा में सब शब्दों का अभाव है। जिसको आत्मा में निश्चय हुआ है, उसको सब शब्दों का अभाव हो जाता है, वह महाज्ञानवान् है। उसको आत्मसत्ता ही दिखती है। जो वास्तव है, उसको हमारे उपदेश की आवश्यकता नहीं—वह ज्ञानी है। हे राम ! आत्मसत्ता में द्वैत जगत् कुछ नहीं बना परमार्थसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें जो सृष्टि भासती है, वह स्वप्न सदृश अकारण है, इसलिए ज्ञानवान् पुरुष सब शब्द-अर्थों को सत् नहीं जानता। ऐसे पुरुष को हमारे उपदेश की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब शास्त्रों का सिद्धान्त आत्मपद है, जो उसको

जानता है, उसको फिर कुछ कर्तव्य नहीं रहता। जिसको ऐसी दशा नहीं हुई, वही उपदेश का अधिकारी है। यह जगत् आत्मा का किञ्चन है, अज्ञानी को सत्य जान पड़ता है और ज्ञानी के निश्चय में कुछ नहीं है। जैसे किसी ने संकल्प से एक वृक्ष रचा हो तो उसके पत्ते, टास, फूल, फल उसको दिखते हैं, पर और के मन में शून्य होते हैं, वैसे ही अज्ञानी के निश्चय में जगत् होता है, पर ज्ञानी के निश्चय में विलास और आत्मा से भिन्न कुछ नहीं।

हे राम ! आत्मसत्ता सर्वत्र और सर्वव्यापी है। उसमें जैसा निश्चय फुरना होता है वैसा ही अहंप्रत्यय भावना की दृढ़ता से भासित होता है। जिस पदार्थ का निरन्तर दृढ़ अभ्यास होता है, वह अभ्यास, शरीर-त्याग करने पर भी, धारणारूप हो जाता है। पर आत्मसत्ता ज्ञानमात्र है और केवल अद्वैतसंवित् सबका अपना रूप है। जिसको स्वरूप का ज्ञान होता है, वह शास्त्रों के दण्ड से रहित होता है। वेद और शास्त्र जिसको भला, बुरा, सच या झूठ वर्णन करते हैं, उसमें जिस पुरुष को निश्चय होता है, उसको वे वासना के अनुसार फल देते हैं। और जिसके निश्चय में आत्मा से भिन्न सब शब्दों का अभाव होता है, उसको आत्म अनात्म विभाग की कलना भी नहीं रहती, चाहे देह रहे अथवा न रहे। हे राम ! जिसकी संवित् जगत् के शब्द-अर्थ में बँधी हुई है, उसको पदार्थों में राग-द्वेष उपजता है। जैसे सुषुप्ति में भी आत्मसत्ता है, पर अभाव की तरह स्थित है, वैसे ही नास्तिकवादी भी अपने जड़स्वरूप को देखते हैं, क्योंकि उनको जड़शून्यता का ही अभ्यास है और उसी से उनकी संवित् दृश्य सुख से बँधी हुई है, इससे उनका जगत्भ्रम नहीं मिटता। उस मलिन वासना से उन्हें संवित् मिली है, इससे उनको जड़ पत्थररूप प्राप्त होते हैं। उस जड़ता को भोगकर वे वासना के अनुसार फिर दुःख भोगेंगे। उस भावना से जगत् नहीं भासता, पर वे कुछ काल पीछे चैतन्य होकर फिर उन्हीं कर्मों को भोगते हैं। जैसे सूर्य के आगे बादल आवे और फिर हट जाय, वैसे ही उनके लिए जगत् होता है। स्फुरणरूपी जो जीव है, उसमें जैसा

निश्चय होता है, वैसा ही भासित होता है। जिसे एक आत्मा में निश्चय होता है, वह जन्म-मरण आदि विकारों से रहित होता है, और जिसे नानास्वरूप जगत् में निश्चय होता है वह जन्म-मरण से नहीं छूटता।

हे राम ! जिसकी बुद्धि में पदार्थों का रंग चढ़ता है, वह रागद्वेषरूपी नरक से मुक्त नहीं होता, और जिसको एक आत्मा का अभ्यास होता है, उसे अभ्यास के बल से सब जगत् आत्मतत्त्व भासित होता है, और वह राग-द्वेष से मुक्त होता है। जैसे स्वप्न में किसी को अपना जाग्रत्स्वरूप स्मरण आता है तो वह स्वप्न के सब जगत् को अपना देखता है, वैसे ही जिसको आत्मज्ञान होता है, उसको सब जगत् अपना रूप ही दिखता है। सर्वदा आत्मसत्ता अनुभवरूप जाग्रत् ज्योति है। जिसको ऐसी आत्मसत्ता में नास्ति की भावना होती है, वह कि गढ़े में कीट होता है; पाषाण, वृक्ष, पर्वत आदि स्थावरयोनियों को प्राप्त होता है और उनमें चिरकाल तक रहता है। जब तक उसकी बुद्धि का द्वैत का संयोग होता है, तब तक वह जगत्भ्रम देखता है—और भ्रम नहीं मिटता। पर जब उसकी संवित् को द्वैत का संयोग मिट जाता है, तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। हे राम! सम्यक्ज्ञान से जगत् के भ्रम का अभाव हो जायगा। अभाव का निश्चय जगने पर फिर जगत् नहीं भासित होता। जब संसार के पदार्थों से संवित् बिंधी हुई है, तब जैसा निश्चय होगा, वैसा ही प्राप्त होगा और उसी निश्चय के अनुसार गति होगी। राम ने पूछा, हे भगवन् ! नास्तिकवादी का वृत्तान्त तो आपने कहा, सो मैंने जाना, पर जो पुरुष हृदय में जगत् को सत्य जानता है, आत्मबोध के मार्ग से दूर है और शुद्धस्वरूप को नहीं जानता, उसके मोक्ष की क्या युक्ति है और उसकी क्या अवस्था होती है, यह मेरे बोध की दृढ़ता के निमित्त कहिए ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसका उत्तर मैंने प्रथम ही तुमसे कहा है पर अब फिर तुमने जो पूछा है इससे फिर कहता हूँ। पहले तो पुरुष का अर्थ सुनो। हे राम ! यह जगत् न नेत्रों में स्थित है, न श्रवण में है और न नासिका आदि इन्द्रियों में है—किन्तु चैतन्य संवित् में स्थित है। चैतन्य

संवित् ही पुरुषरूप है। जिसको उसमें निश्चय है, वह ज्ञानवान् है और उसको द्वैतकलना नहीं फुरती। और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगत भी होती है तो उसके निश्चय में नहीं होती है। जैसे आकाश में धूल दिखती है, परन्तु उसे स्पर्श नहीं करती, वैसे ही ज्ञानवान् को द्वैत-कलना स्पर्श नहीं करती। जिस चैतन्य संवित् में फुरने का सम्बन्ध है, उसको जगत् का आकार दिखता है, और जिस पुरुष की संवित् में देश, काल, क्रिया और द्रव्य का सम्बन्ध है, वह कंलक में दृढ़ हो रहा है। और जो अपने वास्तव अद्वैत स्वरूप के अभ्यास से मार्जन नहीं करता, वह वास्तव चैतन्य आकाशरूप होने पर भी कलंक से वासना के अनुसार जगत् उसे अपने से भिन्न लगता है—द्वैतभ्रम नहीं मिटता। हे राम ! जो पुरुष ऐसा है कि देह के इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति से सम रहता है, पर उसे आत्मसत्ता ज्यों की त्यों नहीं भासती, तो वह अज्ञानी है। आत्मसत्ता जाने बिना उसका संसार निवृत्त नहीं होता। जब आत्मसत्ता का साक्षात्कार होगा, तभी सब भ्रम निवृत्त होगा। हे राम ! यह पुरुष न जीव है, न स्फुरण है और न शरीर का नाश होने से इसका नाश होता है। यह केवल चिन्मात्रस्वरूप है, पर वासना से भ्रम को देखता है। शून्यवादी लोग वृक्ष, पर्वत आदि जड़ योनि पाते हैं जो सदा अनुभव स्वरूप हैं, उसको त्यागकर जो और को इष्ट मानते हैं वे मूर्ख हैं और उनको आत्मसुख नहीं प्राप्त होता। आत्मा के प्रमाद से अहं, त्वं, भीतर, बाहर आदि शब्द भासित होते हैं। जब आत्मज्ञान हुआ, तब सब शब्द आत्मरूप हो जाते हैं। जिन पुरुषों ने आत्म-अनात्म को निर्णय करके नहीं देखा, वे पुरुषों में नीच हैं। जिस पुरुष ने निर्णय करके आत्मा में अहं-प्रतीति की है और अनात्म का त्याग किया है, वह महापुरुष है। उसे मेरा नमस्कार है। जिसने अनात्मा में अहंप्रतीति की है और आत्मा का त्याग किया है, वह बालक है। जैसे आकाश में बादल ही हाथी और घोड़े के आकार से दिखते हैं और समुद्र में तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। पर द्वैत कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न के नगर अपने-अपने अनुभव में स्थित होते हैं, और बाहर

द्वैत की नाईं भासते हैं सो वे आभास मात्र हैं, वैसे ही आत्मा में जो जगत् भासित होता है, वह आभासमात्र है—वास्तव में कुछ नहीं। जिसको आत्मसत्ता का अनुभव हुआ है, उसे जगत् के शब्द अर्थ और रागद्वेष किसी की कल्पना नहीं रहती। उसको पुण्य-पाप का फल स्पर्श नहीं करता।

हे राम ! ज्ञानसंवित् का नाश कभी नहीं होता। इससे विश्व भी अनुभवरूप है। इस जगत् का निमित्तकारण और समवायकारण कोई नहीं; क्योंकि वह अद्वैत है। और जो तुम कहो कि प्रत्यक्ष घटादिक समवाय और निमित्तकारण उपजते दीखते हैं, तो जैसे स्वप्न में कारण-कार्य अनहोते भी दिखते हैं, वैसे ही यह भी जानो। प्रथम तो स्वप्न में ये बने हुए दिखते हैं और पीछे कारण से होते दिखते हैं, वैसे ही यह भी जानो—केवल भ्रममात्र है। जैसे स्वप्नदृष्टि का जागने पर अभाव होता है, वैसे ही ज्ञान से इसका भी अभाव हो जाता है। यह दीर्घकाल का स्वप्न है, इससे जाग्रत् कहाता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने आप होती है और निद्रादोष से भिन्न दिखती है, वैसे ही यह जगत् अपना ही रूप है, परन्तु अज्ञान से भिन्न दिखता है। जाग्रत् में ज्ञान से सब अपना रूप भासित होता है, इससे राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। जैसे चन्द्रमा और चन्द्रमा की चाँदनी में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं-आत्मा ही जगत्रूप होकर भासित होता है। हे राम ! तुम अपने अनुभव में स्थित होकर देखो कि सब ब्रह्मरूप है, जगत् कुछ नहीं। वह सर्वात्मकरूप और साध्य है। जैसे शरत्काल का आकाश शुद्ध निर्मल होता है, वैसे ही आत्मसत्ता स्फुरणरूपी बादल से परमशुद्ध और शान्तरूप है और उसमें स्थित होने से मान और मोह का अभाव हो जाता है, किसी पदार्थ की तृष्णा नहीं रहती। जीव प्रारब्धगति से जो कुछ आकार प्राप्त होता है, उसको भोगता है। वह आत्मदृष्टि द्वारा दुःख से रहित होकर प्रत्यक्ष आचार करता है। उसको शास्त्र का दण्ड नहीं रहता। वह परम शान्तरूप विराजता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे नास्तिकवादीनिराकरणंनाम द्विशताधिकदशमस्सर्गः ।। २१० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं चिदाकाशरूप हूँ और द्रष्टा दर्शन दृश्य त्रिपुटी जो भासती है, वह भी चिदाकाशरूप है। आत्मसत्ता ही त्रिपुटीरूप होकर भासती—दूसरी वस्तु कुछ नहीं। नास्तिकवादी जो यह कहते हैं कि परलोक कोई नहीं, अर्थात् जो कहते हैं कि आत्मसत्ता कोई नहीं, वे मूर्ख है। हे राम ! जो अनुभव आत्मसत्ता न हो तो नास्तिक किससे सिद्ध हो? जिससे नास्तिकवाद् भी सिद्ध होता है वही आत्मसत्ता है। जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ में राग-द्वेष करते हैं और आत्मा का नाश कहते हैं, वे महामूर्ख हैं। जैसे जाग्रत् के प्रमाद से स्वप्न में इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष होता है, जीव इष्ट को ग्रहण करता और अनिष्ट को त्यागता है, जागने पर सब अपना ही स्वरूप दिखता है और ग्रहण-त्याग तथा रागद्वेष किसी पदार्थ में नहीं रहता, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से किसी पदार्थ में राग होता है और किसी में द्वेष होता है। जब आत्मज्ञान होता है, तब सब अपना ही स्वरूप दिखता है और किसी में राग-द्वेष नहीं रहता। चित्त के फुरने से जगत् उत्पन्न होता है और चित्त के शान्त होने पर लय हो जाता है, इससे जगत् मन में स्थित है; और वह मन आत्मा के अज्ञान से हुआ है। जब आत्मज्ञान होता है, तब मनुष्य, देवता, हाथी, नाग आदि सब स्थावर-जंगम जगत् आत्मरूप दिखता है और किसी में राग-द्वेष नहीं रहता। नास्तिकवादी जो नास्ति कहते हैं, वही अस्ति का साक्षी सिद्ध होता है। जिससे नास्ति भी सिद्ध होता है, वह अस्ति आत्मपद है। उस अस्ति अनुभव के इतने नाम शास्त्रकार कहते हैं—सत्, आत्मा, विष्णु, शिव, चिदाकाश, ब्रह्म, अहंब्रह्म और अस्मि। एक कहते हैं कि शून्य ही रहता है और एक कहते हैं कि अस्ति पद रहता है।

हे राम ! ये सब संज्ञा आत्मसत्ता ही की हैं। वह आत्मसत्ता अपना ही आप स्वरूप है। वही आत्मा मैं हूँ । ये अंग जो मेरे साथ दिखते हैं, इनको इष्ट पदार्थों से लेपन कीजिये अथवा चूर्ण करिये तो मुझे हर्ष या शोक कुछ नहीं होगा। इनके बढ़ने से मैं बढ़ता नहीं और इनके नष्ट होने से मैं नष्ट नहीं होता। हे राम ! तीन शब्द होते हैं—मैं जन्मा हूँ', 'मैं जीता

हूँ', और 'मैं मरूँगा'। जो प्रथम न हो और उपजे उसको जन्म कहते हैं, मध्य में जीता कहते हैं और फिर नाश हो उसको मृतक कहते हैं। पर आत्मा में तीनों विकार नहीं हैं। आत्मा उपजा भी नहीं, क्योंकि आदि ही सिद्ध है। वह मृतक भी नहीं होता, क्योंकि अविनाशी है। चैतन्य आकाश सबका और काल का भी अधिष्ठान है, फिर उसका कैसे नाश हो ? वह तो उदय-अस्त से रहित है। जिसमें देश, काल, वस्तु और जगत् का किञ्चन होता है, उससे आत्मा का नाश कैसे हो ? इससे आत्मा अविनाशी है। हे राम ! जिस वस्तु को देश और काल का परिच्छेद होता है, उसका नाश भी होता है। ये देश, काल और वस्तु, तीनों आत्मा में कल्पित हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल कल्पित होता है, वैसे ही आत्मा में ये तीनों कल्पित हैं। कल्पित वस्तुओं से सत्य का नाश कैसे हो ? इससे आत्मा अविनाशी और अद्वैत है, उसमें दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे शून्य स्थान में वैताल कल्पित होता है, वैसे ही आत्मा में जगत् कल्पित है। उस अभावरूप जगत् में जीव प्रमाद से एक का अभाव और दूसरे का सद्भाव जानता है। जब इस निश्चय को त्यागकर मोक्ष हो, तब शान्ति प्राप्त होगी। विचार करके देखिये तो इस संसार में दुःख कहीं नहीं। जो मरकर फिर जन्म लेता है, तो भी दुःख न होना चाहिए; क्योंकि शरीर जब वृद्ध होकर क्षीण हुआ, तब उसको त्यागकर नव तनु को ग्रहण किया तो उत्साह हुआ होना चाहिए। जो मृतक होकर फिर नहीं उपजता तो भी आनन्द होना चाहिए, क्योंकि जब तक जीता था, तब तक ताप था। एक का भाव जानता था, एक को ग्रहण करता था और एक को त्याग करता था। इससे संतप्त होता था। उनसे यदि छूटा तो बड़े आनन्द की बात है। और जो सब चिदाकाशरूप है तो भी अपना रूप आनन्दरूप है; दुःख कुछ न हुआ।

हे राम ! एक प्रमाद से ही दुःख होता है, और किसी प्रकार दुःख नहीं होता। यह सब जगत् आत्मरूप है, और जब आत्मरूप है तो दुःख कैसे हो ? जो तुम कहो कि मैं अपने कर्मों से डरता हूँ, जो परलोक में मेरे लिए भय का कारण होंगे तो ऐसे जानों कि बुरे कर्म का दुःख-कष्ट

यहाँ भी होता है और परलोक में भी होगा-इससे बुरे कर्म मत करो। मैं तुमसे ऐसा उपाय कहता हूँ, जिससे तुम्हारे सब दुःख नष्ट हो जायँगे। वह उपाय यह है कि तुम जानो 'मैं नही'; अथवा ऐसे जानों कि 'सब मैं ही हूँ'। सब वासनाएँ त्यागकर अपने को अविनाशी जानो और आत्मसत्ता में स्थित होओ। यह सब जगत् भी तुम्हारा ही रूप है। जब ऐसे आत्मा को जानोगे, तब शरीर के त्याग से भी कोई दुःख न रहेगा और शरीर के होते भी दुःख न होगा। यदि पूर्व शरीर को त्यागकर नया जन्म लिया तो भी आनन्द हुआ, परम शान्ति हुई। और जो चिदाकाशरूप है तो भी परम आनन्द हुआ। हे राम ! सब प्रकार आनन्द है। केवल भ्रान्ति से दुःख होता है। जब स्वरूप का साक्षात्कार होगा, तब सब जगत् ब्रह्मानन्दस्वरूप प्रतीत होगा। हे राम ! जिसको आत्मसत्ता का प्रकाश प्राप्त है, वह पुरुष सदा आनन्द में मग्न रहता है। वह प्रकृत आचार भी करता है, परन्तु इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में स्वरूप से चलायमान कभी नहीं होता। जैसे सुमेरु पर्वत वायु से चलायमान नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में चलायमान नहीं होता और परम गम्भीर रहता है। अतएव जो कुछ आत्मा से भिन्न उत्थान होता है, उसको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो जाओ, क्योंकि चिन्मात्रसत्ता शरत्काल के आकाश सदृश निर्मल है। जब ऐसे स्वच्छ केवल और चिन्मात्र का अनुभव होगा, तब जगत् द्वैतरूप न भासेगा और व्यवहार में भी द्वैत न फुरेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमउपदेशवर्णनं नाम द्विशताधिकैकादशस्सर्गः ।। २११ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जिन पुरुषों को आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार हुआ है, वे कैसे हो जाते हैं और उनका कैसा आचार होता है, यह मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे उनकी चेष्टा और जैसा उनका निश्चय होता है, सो सुनो। उनका सबके साथ मित्रभाव होता है, बल्कि पाषाण से भी मित्रता होती है। बन्धुओं को वे ऐसे जानते हैं, जैसे वन के वृक्ष और पत्ते होते हैं, और स्त्री-पुत्रादिक के साथ वे वन के मृग

के पुत्र से होते हैं। जैसे जंगली मृगों को सन्तान से स्नेह नहीं होता, वैसे ही वे पुत्रादिक में भी स्नेह नहीं करते। जैसे माता की पुत्र पर दया और ममता होती है, वैसे ही वे सब पर दया करते हैं, और निश्चय में उदासीन रहते हैं। जैसे आकाश किसी का स्पर्श नहीं करता, वैसे ही वे किसी से लिप्त नहीं होते। आपदा उनको परमसुख होती है। जितने जगत् में रस हैं, वे उनको विरस हो जाते हैं। वे न किसी में राग करते हैं और न किसी से द्वेष। वे तृष्णा करते भी दिखते हैं, परन्तु हृदय से जड़ और पत्थर की नाईं होते हैं। व्यवहार करते भी हैं, परन्तु निश्चय में परमशून्य और मौन होते है; अर्थात् सदा समाधि में स्थित रहते हैं। वे सब कर्म करते दिखते हैं, सो इस प्रकार करते हैं कि सब उनकी स्तुति करते हैं। वे यत्न से रहित सब कर्मों का आरम्भ करते हैं, परन्तु निश्चय से सदा अपने को अकर्ता मानते हैं। जो कुछ उन्हें प्रारब्ध गति से प्राप्त होता है, उसे भोगते हैं और देश-काल-कर्म, सबको अंगीकार करते हैं। जो परस्त्री आदि अनिष्ट आकर प्राप्त होते हैं उनका त्याग भी करते हैं, परन्तु निश्चय में सदा अकर्ता ज्यों के त्यों रहते हैं। वे सुख-दुःख की प्राप्ति में समबुद्धि रहते हैं। प्रकृत आचार यथाशास्त्र करते हैं, परन्तु स्वरूप से कभी विचलित नहीं होते। जैसे फूल की चोट से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता, वैसे ही दुःख-सुख की प्राप्ति से नहीं डिगते। वे सदा स्वभाव में स्थित रहते हैं और सुख-दुःख को भोगते भी दिखते हैं, पर उनके निश्चय में कुछ नहीं होता।

जैसे स्फटिकमणि के सम्मुख कोई रंग रखिये तो उसमें झलकता है परन्तु उसका रूप कुछ और नहीं हो जाता, वह ज्यों की त्यों ही रहती है, वैसे ही सुख-दुःख के भोग ज्ञानवान् में भी दिखते हैं, परन्तु वे स्वरूप से कभी चलायमान नहीं होते। चेष्टा वे अज्ञानी की नाईं करते हैं, परन्तु निश्चय से परमसमाधिस्थ हैं। जैसे अज्ञानी को भविष्यत् का राग-द्वेष या सुख-दुःख नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी को वर्तमान का राग-द्वेष नहीं होता। उनकी स्वाभाविक चेष्टा ऐसी होती है—वह सबसे मित्रभाव रखता है। न

उससे कोई खिन्न होता है और न वह किसी से खिन्न होता है। जब उसे सुख प्राप्त होता है, तब वह रागवान् दिखता है और दुःख की प्राप्ति में द्वेषी दिखता है; परन्तु निश्चय से उसको हर्ष-शोक कुछ नहीं। जैसे नट स्वाँग लाता है और जैसा स्वाँग होता है, वैसी ही चेष्टा करता है—राजा का स्वाँग हो अथवा दरिद्री का, परन्तु निश्चय उसे अपने स्वरूप में ही होता है, वैसे ही ज्ञानवान् में सुख-दुःख दिखते है, परन्तु निश्चय उसका आत्मस्वरूप में ही होता है। वह पुत्र, धन, बान्धव आदि को बुलबुले की नाईं जानता है। जैसे जल में तरंग और बुलबुले उठते हैं और फिर लीन भी हो जाते हैं, परन्तु जल को कुछ राग द्वेष नहीं होता, वैसे ही ज्ञानवान् को रागद्वेष कुछ नहीं होता। वह सब पर दया रखता है और पतित-प्रवाह में जो सुख-दुःख आकर प्राप्त होता है, उसको भोगता है। जैसे वायु दुर्गन्ध-सुगन्ध को साथ ले जाती है, परन्तु उसको उससे रागद्वेष कुछ नहीं होता है, वैसे ही ज्ञानवान् को रागद्वेष नहीं होता। वह बाहर अज्ञानी की नाईं व्यवहार करता है, परन्तु निश्चय में जगत् को भ्रान्तिमात्र जानता अथवा 'सर्बब्रह्म' जानता है। वह सदा स्वभाव में स्थित रहता है और अनिच्छित प्रारब्ध को भोगता है, परन्तु जाग्रत् में सुषुप्ति की नाईं स्थित रहता है, भूत और भविष्य की चिन्ता नहीं करता और वर्तमान में बिचरता है—वह हृदय से शीतल रहता है और बाहर इष्ट-अनिष्ट दिखते हैं। पर हृदय से वह अद्वैतरूप है। ज्ञानवान् कर्म करता है परन्तु कर्म में अकर्म को जानता है और जीता ही मृतक की नाईं है। हे राम! जैसे मृतक होता और उसको फिर जगत् की कलना नहीं फुरती, वैसे ही जिसको आत्मपद में अहंप्रत्यय हुआ है, उसको द्वैत नहीं भासता। प्रत्यक्ष व्यवहार उसमें दिखता भी है, परन्तु निश्चय में अर्थ शान्त हो गया है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! ये ज्ञानी के जो लक्षण आपने कहे सो उनको वही जाने और कोई नहीं जानता; क्योंकि बाहर की चेष्टा तो अज्ञानी के तुल्य ही है, पर हृदय से वे शान्तरूप हैं। ब्रह्मचर्य से भी हृदय में धैर्य होता है और तपस्या से भी राग-द्वेष कुछ नहीं फुरता। एक मिथ्या

तपस्वी हैं, जो वैसे ही बन बैठते हैं। उनका निश्चय सत्य है अथवा असत्य, वे असल हैं या नकली, यह कैसे जानिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह निश्चय सत्य हो अथवा असत्य, ये लक्षण सन्त के ही है। आत्मा के साक्षात्कार का निश्चय मनुष्य अपने आपसे जानता है और किसी से नहीं जाना जाता, इस कारण उसका लक्षण ज्ञानी ही जानता है और कोई नहीं जानता। जैसे सर्प के खोज को सर्प ही जानता है और कोई नहीं जानता, वैसे ही ज्ञानी का लक्षण स्वसंवेद्य है। हे राम ! ये जो गुण कहे हैं, सो ज्ञानवान् में स्वाभाविक ही रहते हैं, दूसरे को यत्नसाध्य हैं। ज्ञानवान् को सब जगत् भ्रान्तिमात्र है अथवा अनुभवदृष्टि से अपना रूप ही दिखता है, इसी कारण ज्ञानी परमशान्त है और उसके निश्चय में राग-द्वेष नहीं फुरता। वह अपने निश्चय को बाहर नहीं प्रकट करता, पर जो अधिकारी है, वह उसको जानता है। जो अनधिकारी अज्ञानी है, वह उसको नहीं जान सकता। जैसे वन में चन्दन की बड़ी सुगन्ध होती है, परन्तु दूर से नहीं जान पड़ती, वैसे ही अज्ञानी उसके निश्चय से दूर है, इस कारण वह नहीं जान सकता। चर्मदृष्टि से उसको देखे तो नहीं देख सकता और वह अधिकारी बिना जताता भी नहीं। जैसे अमूल्य चिंतामणि नीच को दीजिये तो भी वह उसके माहात्म्य को नहीं जानता, इससे उसका निरादर करता है, वैसे ही आत्मरूपी चिन्तामणि है, अनधिकारी अज्ञानी उसका माहात्म्य नहीं जानता, इससे उसका निरादर करता है—इसी कारण ज्ञानवान् उसे प्रकट नहीं करते।

हे राम ! यह जो प्रकट है कि हमको अर्थ की प्राप्ति होगी, हमारा मान होगा, हमारे चेले बनेंगे और हमारी पूजा होगी, उसे ज्ञानवान् गन्धर्वनगर और इन्द्रजाल की नाईं जानते हैं। फिर वे किसकी चाह करें? इस कारण वे अनधिकारी को अपना इष्ट नहीं प्रकट करते, और जो कोई उनके निकट बैठता है तो भी अपने निश्चयरूपी अंग को वे सकुचा लेते हैं। जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही वे अपने निश्चयरूपी अंग को समेट लेते हैं, पर जिसको अधिकारी देखते हैं, उसके

आगे प्रकट करते हैं। हे राम ! पात्र में रक्खा पदार्थ शोभा पाता है, अपात्र में रक्खा अशोभन हो जाता है। जैसे गौ को घास देने से वह दूध हो जाती है और सर्प को दूध देने से वह विष हो जाता है, वैसे ही अधिकारी को दिया उपदेश शुभ होता है और अनधिकारी को अनिष्ट हो जाता है। हे राम ! अणिमा आदि जो सिद्धियाँ हैं, वे जप, द्रव्य, काल अथवा देश से सबको प्राप्त होती हैं—अभ्यास के बल से अज्ञानी को भी प्राप्त होती हैं—और ज्ञानी को तो होती ही हैं, परन्तु ये ज्ञान का फल नहीं, जप आदिक का फल हैं। जिसकी सिद्धि के लिए जो पुरुष दृढ़ होकर लगता है, वही सिद्ध होता है। जो इन सिद्धियों का दृढ़ अभ्यास करता है तो उनसे आकाशमार्ग में उड़ने और आने-जाने लगता है। पर ये पदार्थ तब तक अच्छे लगते हैं, जब तक आत्ममार्ग नहीं सूझता।

हे राम ! परम सिद्धता इनसे नहीं प्राप्त होती। परमसिद्धि आत्मपद है। जिसको आत्मपद की प्राप्ति हुई है, वह इन सिद्धियों की अभिलाषा नहीं करता। ऐसा पदार्थ पृथ्वी में कोई नहीं और न आकाश में देवताओं के स्थानों में ही है, जिसमें ज्ञानी का चित्त मोहित हो। ज्ञानवान् को सब पदार्थ मृगतृष्णा के जल से लगते हैं। मेरा सिद्धान्त तो यही है कि सदा विषयों से उपरत रहना और आत्मा को परम इष्ट जानना ही ज्ञान है। ज्ञानी को जो प्रारब्ध से प्राप्त हो, उसको वह करता है, परन्तु करने से उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और न करने में कुछ प्रत्यवाय भी नहीं होता। न किसी अर्थ का वह आश्रय करता है, न उसके निमित्त किसी भूत का आश्रय करता है, और सर्वदा अपने स्वाभाव में स्थित होता है। ऐसे निश्चय को पाकर उसे आश्चर्य होता है। वह कहता है कि बड़ा आश्चर्य है, जो सदा अपना स्वरूप है उसको भूल कर मैं इतने काल तक भरमता रहा ? पर अब मुझको शान्ति प्राप्त हुई है। जगत् को देखकर वह हँसता है, क्योंकि यह जगत् आभासरूप है और अपनी ही संवित् में स्थित है। जैसे आरसी में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही अपनी संवित् में जगत् स्थित है। उसको जो द्वैत जानता है और राग-द्वेष से जलता है, ऐसे अज्ञानी को

देखकर ज्ञानी हँसता है और व्यवहार करता भी हँसता है। जैसे किसी ने स्वप्न में हाथ में सुवर्ण दिया और फिर ले लिया और इसने उसको स्वप्न जाना तो चेष्टा करता है, परन्तु हँसता है और कहता है कि यह मेरा ही स्वरूप है, वैसे ही ज्ञानी व्यवहार करता भी अपने निश्चय में हँसता है। जैसे किसी ग्राम में अग्नि लगे और एक पुरुष उस गाँव से निकलकर पर्वत पर जा बैठे, तब वह जलतों को देखकर हँसता है, वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष भी संसाररूपी जलते नगर से निकलकर आत्मरूपी पर्वत पर जा बैठा है और अज्ञानियों को जलता देखकर हँसता है, अर्थात् आप अशोक होकर उनको सशोक देखता है।

हे राम ! जब ज्ञानवान् बोधदृष्टि से देखता है, तब अद्वैतसत्ता दिखती हैं, और जब अन्तवाहक में स्थित होकर देखता है, तब जैसे पदार्थ होते हैं, वैसा ही उनको देखता है और अपने को सदा शान्तरूप देखता है। मतलब यह कि जो आत्मतत्त्व परमानन्दस्वरूप है, उससे भिन्न जितने पदार्थ हैं वे सब दोषरूप है और सिद्धि आदि जितनी क्रिया हैं, वे संसार का कारण हैं। जैसे समुद्र में कई तरंग बड़े और कई छोटे होते हैं, परन्तु समुद्र ही में हैं। समुद्र जिस तरंग का आश्रय करेगा, वह सिद्धता को प्राप्त होगा और हिलने, डोलने, कहने से मुक्त होगा, वैसे ही सिद्धता आदि जो क्रिया हैं, वे कहीं बड़े ऐश्वर्य हैं और कहीं छोटे ऐश्वर्य हैं, परन्तु हैं संसार ही में। जो पुरुष इस क्रिया को त्यागकर अन्तर्मुख होगा, वह संसार-समुद्र से निकलकर आत्मारूपी पार को प्राप्त होगा। हे राम ! जिस पुरुष को जिस पदार्थ का अभ्यास होता है, उसे वही प्राप्त होता है। जैसे पत्थर को नित्यप्रति घिसते रहिये तो वह भी चूर्ण हो जाता है, वैसे ही मनुष्य जिस पदार्थ का अभ्यास करता है, वही प्राप्त होता है। जिसको अभ्यास से आत्मपद प्राप्त होता है, वह सर्वदा परम श्रेष्ठ हो जाता है, सब जगत् से ऊँचे विराजता है और परमदया की खान होता है। जैसे मेघ समुद्र से जल लेकर वर्षा करते हैं, सो उस जल का स्थान समुद्र ही होता है, तैसे ही जितने लोग दयालु दिखते हैं, वे ज्ञान के प्रसाद से ही दया करते हैं। दया

का स्थान ज्ञानवान् ही है। ज्ञानवान् सबका हृदय है। जो कुछ प्रवाहपतित कार्य आकर प्राप्त होता है, उसे वह करता है, और जो शरीर को दुःख आकर प्राप्त होता है, उसे ऐसे देखता है, जैसे अन्य के शरीर को हो रहा हो। अपने में वह सुख-दुःख, दोनों का अभाव देखता है।

जिनको यह अभ्यास नहीं हुआ, वे शरीर के राग-द्वेष से संतप्त होते हैं। ज्ञानी को शान्ति युक्त देखकर औरों को भी प्रसन्नता हो आती है। जैसे पुण्य करके जो स्वर्ग को गया है, उसे वहाँ इष्ट पदार्थ दिखते हैं, कल्पवृक्ष की सुन्दर मञ्जरियाँ और सुन्दर अप्सरा आदि दिखती हैं, जिन पदार्थों को देखकर प्रसन्नता उपजती है, वैसे ही ज्ञानवान् की संगति जो पुरुष करता है, उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शीतल करता है, वैसे ही ज्ञानवान् की संगति शीतलता उपजाती है। ज्ञानवान् आत्मपद को पाकर आनन्दित होता है और वह आनन्द कभी दूर नहीं होता, क्योंकि उसको उस आनन्द के आगे अष्टसिद्धियाँ तृण समान लगती हैं। हे राम ! ऐसे पुरुषों को आचार और जिन स्थानों में वे रहते हैं, वह भी सुनो। कई तो एकान्त में जा बैठते हैं, कई शुभ स्थानों में रहते हैं, कई गृहस्थी ही में रहते हैं, कई अवधूत होकर सबको दुर्वचन कहते हैं, कई तपस्या करते हैं, कई परम ध्यान लगाकर बैठते हैं, कई नंगे फिरते हैं, कई बैठे राज्य करते हैं, कई पण्डित होकर उपदेश करते हैं, कई परम मौन धारे हैं, कई पहाड़ की कन्दराओं में जा बैठते हैं, कई ब्राह्मण हैं, कई संन्यासी हैं, कई अज्ञानी की नाईं बिचरते हैं, कई नीच पामर होते हैं, कई आकाश में उड़ते हैं और नाना प्रकार की क्रिया करते दिखते हैं, परन्तु सदा अपने स्वरूप में स्थित हैं।

हे राम ! देह और इन्द्रियाँ पुरुष नहीं और अन्तःकरण चतुष्टय भी पुरुष नहीं, पुरुष केवल चिदाकाशरूप है। वह न कुछ करता है और न किसी से उसका नाश होता है। जैसे नट स्वाँग भरता और सब चेष्टा करता है, परन्तु नटभाव से अपने को असंग देखता है, वैसे ही ज्ञानवान् व्यवहार भी करते हैं, परन्तु अपने को अकर्ता और असंग देखते हैं। वे

ऐसा निश्चय रखते हैं कि हम अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन हैं। हे राम ! इस प्रकार जिसको आत्मा में अहं प्रतीति हुई है, उसका नाश कैसे हो और वह बन्धन में कैसे पड़े ? वह पुरुष चाहे जैसे आरम्भ करे और चाहे जैसे स्थान में रहे, उसको बन्धन नहीं होता। चाहे वह पाताल में चला जाय, आकाश में उड़ता फिरे अथवा देशान्तर में घूमता फिरे, उसको न कुछ अधिक है और न कुछ न्यून है। पहाड़ भी चूर्ण हो जाय तो भी वह चूर्ण नहीं होता। यह तो चैतन्य पुरुष है। शरीर का नाश होने से उसका नाश कैसे हो ? ऐसे अपने स्वरूप में वह सदा स्थित है और आकाश सदृश परम निर्मल, अजर, अमर और शिवपद है। इससे हे राम ! ऐसे जानकर तुम भी अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चैतन्यआकाश परमज्ञानवर्णनं नाम द्विशताधिकद्वादशस्सर्गः ।। २१२।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक भावमात्र, दूसरा भ्रासमात्र और तीसरा भासितमात्र है। भावमात्र केवल चैतन्यमात्र को कहते हैं। उसमें जो चैत्योन्मुखत्व अंहकार का उत्थान हुआ, उसका नाम भास है, और उसमें जो जगत् हुआ, उसका नाम भासित है। भासित कल्पित का नाम है। कल्पित के नाश से अधिष्ठान का नाश नहीं होता। जो अधिष्ठान कुछ और भाव हो तो उसका नाश भी हो। वह तो और कुछ बना नहीं। उसके फुरने से तीन संज्ञा हुई हैं; अतएव फुरना भी उसी का किञ्चन है। आत्मा फुरने या न फुरने में ज्यों का त्यों है। जैसे स्पंदन और निस्पंद वायु एक ही है, वैसे ही बोध और अबोध में आत्मा एक ही है। बोध, अबोध, फुरना न फुरना एक रूप है। हे राम ! उस आत्मा का किससे और कैसे नाश हो ? चैतन्य भी मरता हो तो इसका किञ्चन जगत् कैसे रहे ? किञ्चन आभास को कहते हैं, वह आभास अधिष्ठान के बिना नहीं होता, इससे आत्मा का नाश नहीं होता। और तुम जो चैतन्य को भी मरता मानो कि मरकर फिर नहीं उपजता तो भी आनन्द की बात है। मेरा भी यही उपदेश

है कि चेतनता मिटे। जब चेतनता उपजती है, तब जगत् भासित होता है। उसके मिटने पर आत्मा ही शेष रहेगा। ब्रह्म चैतन्य का तो नाश नहीं होता। जो तुम कहो कि वह चैतन्य नष्ट हो जाता है—यह और चैतन्य है, जिससे जगत् होता है, तो हे राम ! अनुभव तो एक ही है, उसका नाश कैसे मानिये ? जैसे बरफ शीतल है, चाहे किसी ठौर पान कीजिये वह सबको शीतल ही है, और अग्नि उष्ण ही है, चाहे जिस जगह से स्पर्श कीजिये, उष्ण ही अनुभव होता है, वैसे ही आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। वह एक अखण्डरूप है, जहाँ कोई पदार्थ दिखता है, उसी चेतनता से प्रकाशित होता है। वह चैतन्यसत्ता स्वच्छ, निर्मल और अद्वैत तथा सदा अपने आप में स्थित है; उसका नाश कैसे हो ?

जो तुम शरीर के नाश से आत्मा का नाश होता मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि शरीर यहाँ अखण्ड पड़ा है और वह परलोक में चेष्टा करता है। और पिशाच आदि का शरीर भी नहीं देख पड़ता। जो शरीर के बिना उसका अभाव होता हो तो उनका भी अभाव हो जाता। इससे शरीर का अभाव होने पर आत्मा का आभाव नहीं होता, क्योंकि शरीर के निर्जीव होने पर शरीर से कुछ चेष्टा नहीं होती, क्योंकि जीवकला में पुर्यष्टका नहीं है। शरीर तो अखण्ड पड़ा है, उससे कुछ नहीं होता और जीव परलोक में सुख-दुःख भोगता है, तो शरीर का नाश होने पर उसका नाश नहीं हुआ। जो तुम कहो कि सब स्वभाव उसमें रहता है तो सर्वदा उसको क्यों नहीं देखते ? उसी समय अपने को क्यों मृतक देखते हैं और बन्ध बान्धव भाई, सब उसी समय क्यों मृतक जानते हैं। जो तुम कहो कि जीवित धर्म से वेष्टित है, इसी से सब अवस्था का अनुभव नहीं करता, मृत्यु समय जब जीवत्व नष्ट हो जाता है तब मृतक होता है। तो जो ऐसा हो तो परलोक का अनुभव न करे। पर ऐसा तो नहीं है, क्योंकि जब शरीरपात होता है, तब सब अवस्था को भी जानता है और परलोक में जो शब्द होता है, उसका अनुभव करता है, अपने कर्म के अनुसार सुख दुःख भोगता है और देश स्थान को प्राप्त होता है। यह बात शास्त्र से भी

सिद्ध है और अनुभव से भी प्रसिद्ध है कि मृतक को किसी ने नहीं जाना और अभाव को किसी ने नहीं जाना। और जिसने जाना, वह आत्मा एक अखण्ड है—इससे हे राम ! शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। वह तो नित्य शुद्ध है और जैसा निश्चय उसमें होता है, वैसा ही होकर भासित होता है और जैसा मिलता है, वैसा ही प्रकाशता है। ऐसा जो सत्य आत्मा है, वह किसी में नहीं बँधता जैसे रस्सी में सर्प का आकार भासित होता है, पर वह रस्सी सर्प तो नहीं हो जाती; जब कल्पित सर्प का अभाव हो जाता है, तब रस्सी ज्यों की त्यों रहती है, वैसे ही आत्मसत्ता आकार होकर भासित होती है, परन्तु आकार तो नहीं होती, जब आकार का अभाव हो जाता है, तब आत्मसत्ता ज्यों की त्यों रहती है, इसी कारण उसे बन्धन नहीं होता। ऐसी आत्मसत्ता में जो विकार दिखते हैं, वे भ्रममात्र हैं और भ्रान्ति से ही लोग दुःख पाते है।

हे राम ! यह जगत् आभासमात्र है, और उस आभासमात्र में जो राग-द्वेष आदि फुरते हैं, उनकी निवृत्ति का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ। जो कुछ उपदेश मैंने किया है, उसके विचारने से भ्रान्ति निवृत्त हो जायगी और आत्मपद की प्राप्ति होगी। अभ्यास के बिना जीव जो आत्मपद की प्राप्ति चाहे तो कभी न होगी। जब बारम्बार अभ्यास करेगा, तब द्वैतभ्रम मिट जायगा और आत्मपद प्राप्त होगा। जिसका कोई नित्य अभ्यास करता है और यत्न भी करता है, वह प्राप्त होता है। वह कौन पदार्थ है, जो अभ्यास से प्राप्त न हो ? जो थककर फिरे नहीं और दृढ़ अभ्यास करे तो प्राप्त होता ही है। राज्य की लक्ष्मी तब प्राप्त होती है, जब रण में दृढ़ होकर युद्ध करते हैं और जय होती है। यदि केवल मुख से कहे कि मेरी जय हो तो नहीं होती। वैसे ही आत्मपद भी तब प्राप्त होगा, जब दृढ़ अभ्यास करोगे—अभ्यास के बिना कहने भर से कुछ प्राप्त नहीं होता। हे राम ! इस मन के दो प्रवाह हैं। एक जगत् का कारण है और दूसरा स्वरूप की प्राप्ति का कारण। जो असत् शास्त्र हैं और जिनमें आत्मज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा, उनको छोड़ो। यह जो महारामायण मोक्ष का उपाय है,

उसमें चार वेद, षट्शास्त्र और सब इतिहासों और पुराणों का सिद्धान्त मैंने कहा है। इसके समान और न किसी ने कहा है, न कोई कहेगा। ऐसे शास्त्र के विचार में मन लगाओ तो शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होगे।

हे राम ! आत्मज्ञान वर और शाप की नाईं नहीं है कि कहने भर से सिद्ध हो। इसकी प्राप्ति तब होगी, जब बारम्बार विचार करके दृढ़ अभ्यास करोगे और जब इसकी भावना होगी, तब मुक्ति पाओगे। ऐसा कल्याण पिता, माता और मित्र भी न करेंगे, और तीर्थ आदि सुकृत से भी न होगा, जैसा कल्याण बारम्बार विचारने से मेरा उपदेश करेगा। इससे और सब उपायों को त्यागकर इसी का विचार करो तो सब भ्रान्ति मिट जायगी। और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे राम ! अज्ञान एक विसूचिकारोग है और उससे जीव जलते हैं। जो मेरे शास्त्र को विचारेगा, उसका रोग नष्ट हो जायगा। ईश्वर की यह महामाया है कि मिथ्याभ्रम से जीव दुखी होते हैं। जो अपना दुःख दूर करना चाहे, वह मेरा शास्त्र विचारे। जितने सुन्दर पदार्थ दिखते हैं, सब मिथ्या हैं। उनके लिए यत्न करना परम आपदा है। ये सब पदार्थ आपातरमणीय हैं। ये देखने भर की सुन्दर हैं, पर भीतर से खोखले हैं। इनकी प्राप्ति में मूर्ख आनन्द मानते हैं। हे राम ! ये पदार्थ तब तक सुन्दर लगते हैं, जब तक मृत्यु नहीं आई। जब मृत्यु आवेगी तब सब काम रह जायँगे। इसलिए इनके निमित्त जो यत्न करते हैं, वे मूर्ख हैं। जिस काल में मृत्यु आती है, उस समय कष्ट प्राप्त होता है और यदि चन्दन का लेप कीजिए तो भी शांति नहीं मिलती। जिसके लिए जीव बड़े यत्न करता है, युद्ध करता है और प्राण त्यागता है, वह धन स्थिर नहीं रहता। एक दिन धन और प्राणी का वियोग हो जाता है। और जब वियोग होता है, तब मनुष्य कष्ट पाता है। मैं ऐसा उपाय कहता हूँ, जिसमें यत्न भी थोड़ा हो और सुगमता से आत्मपद प्राप्त हो। जब शास्त्र के अर्थ में दृढ़ अभ्यास होता है, तब वह अजर, अमरपद प्राप्त होता है। इससे तुम बोधवान् हो और बोध करके अभ्यास का यत्न करो। जो यत्न न करोगे तो अज्ञानरूपी शत्रु दबावेगा। यदि उस शत्रु को

मारना हो तो मान और मोह छोड़कर आत्मपद का अभ्यास करो।

हे राम ! जो पुरुष अब तक अज्ञानरूपी शत्रु को मारने और आत्मपद पाने का यत्न नहीं करते, वे परम कष्ट पावेंगे और संसाररूपी दुःख से कभी मुक्त न होंगे। इस कष्ट से निकलने का यही उपाय है कि महारामायण ब्रह्मविद्या का जो उपदेश है, उसको विचारकर अपने हृदय में धारणा करे। इस उपाय से भ्रान्ति मिट जायगी। यह महारामायण उपदेश सब सिद्धान्तों का सार है। और शास्त्रों से आत्मपद की प्राप्ति चाहे हो या न हो, परन्तु इसके विचार से अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। जैसे तिल की खली से तेल निकलना कठिन है, तिलों से ही तेल निकलता है, वैसे ही मेरा उपदेश तिल की नाईं है और अन्य उपदेश खली हैं। हे राम ! सम्पूर्ण शास्त्रों के मुख्य सिद्धान्तों का सार सिद्धान्त मैंने तुमसे कहा है। जो आत्मा सदा विद्यमान है, उसको लोग भ्रान्ति से अविद्यमान मानते हैं, इसलिए उसी के विद्यमान करने को सब शास्त्र यत्न करते हैं। पर जो उनके विचार से आत्मपद को विद्यमान नहीं जानता, वह मेरे उपदेश को विचारने से अवश्य आत्मपद को विद्यमान जानेगा, यह निश्चित है। हे राम! और शास्त्रों के दृढ़ विचार और यत्न से जो सिद्धि होती है, वह इस शास्त्र के विचार से अनायास प्राप्त होगी। शास्त्रकर्ता का और लक्षण न विचारना, पर शास्त्र की युक्ति विचार देखनी है। जो कुछ सब शास्त्रों का सार सिद्धान्त है, वह मैंने तुमसे सुगममार्ग से कहा है। इसके विचार से इसकी युक्ति देखो। अज्ञानी जो कुछ मुझे कहते और हँसते हैं, सो मैं सब जानता हूँ, परन्तु मेरा दया का स्वभाव है इससे मैं चाहता हूँ कि किसी प्रकार वे नरकरूप संसार से निकलें। इसी कारण मैं उपदेश करता हूँ।

हे राम ! मैं जो तुमको उपदेश करता हूँ सो किसी अपने मतलब से नहीं करता कि मेरा कुछ अर्थ सिद्ध हो। जो कोई तुमको उपदेश करता है, सो सुनो। तुम्हारा जो कोई बड़ा पुण्य है, वही शुद्ध संवित्

होकर मलिनसंवित् को उपदेश करता है। वह संवित् न देवता है, न मनुष्य है, न यक्ष है, न राक्षस है और पिशाच आदि भी नहीं है। केवल जो ज्ञानमात्र है, वही तुम हो, मैं भी वही हूँ और जगत् भी वही है। जब सब वही है तब वासना किसकी करनी है ? हे राम ! जीव के दुःख का कारण वासना ही है। जो पुरुष इस संसार-बन्धन के दुःख की चिकित्सा न करेगा, वह आत्महंता है और बड़े दुःख में जा पड़ेगा, जहाँ से निकलने की सामर्थ्य न होगी। इससे अब भी तुम मुक्ति का उपाय करो। जब तक सब भावों की वासना नहीं निवृत्त होती, तब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता-इसी का नाम बन्धन है। जब वासना क्षय होगी, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। जितने पदार्थ दिखते हैं, वे सब अविचार-सिद्ध हैं, विचार करने से कुछ नहीं रहते। और जो विचार करने से न रहे, उनकी अभिलाषा करनी व्यर्थ है। जो वस्तु होती हो, उसके पाने का यत्न भी करना ठीक है। जो वस्तु हो ही नहीं, उसके लिए यत्न करना मूर्खता है। ये जगत् के पदार्थ असत् हैं। जैसे खरगोश के सींग असत् हैं और मरुस्थल की नदी असत् होती है, वैसे ही यह जगत् असत् है। सम्यक्‌दर्शी ज्ञानवान् पुरुष जानता है कि यह जगत् खरगोश के सींगसदृश असत् और भ्रान्तिमात्र है। इसलिए इसके लिए यत्न करना मूर्खता है। जो पदार्थ कारण बिना देख पड़े, उसको भ्रान्तिमात्र जानिये। आत्मा जगत् का कारण नहीं, इससे जगत् मिथ्या है। आत्मपद सब इन्द्रियों और मन से अतीत है और यह जगत् पाञ्चभौतिक है। जगत् मन और इन्द्रियों का विषय है और आत्मपद मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है। तो उसे जगत् का कारण कैसे कहिये ? जो अशब्दपद है, वह नाना प्रकार शब्द का कारण कैसे हो और जो निराकार आत्मपद है सो पृथ्वी आदिक नाना प्रकार के भूत आकारों का कारण कैसे हो ?

हे राम ! जैसा कारण होता है, उससे वैसा ही कार्य उपजता है। आत्मा निराकार है और जगत् साकार, इसलिए निराकार साकार का

कारण कैसे हो ? जैसे वट का बीज साकार होता है, इसलिए उसका कार्य वट भी साकार होता है और साकार से निराकार कार्य नहीं होता, वैसे ही निराकार से साकार कार्य भी नहीं होता। इससे इस जगत् का कारण आत्मा नहीं। वह न समवाय कारण है, न निमित्त कारण। निमित्त कारण तब होता है, जब कुछ द्वितीय वस्तु होती है। जैसे मृत्तिका से कुम्हार घट बनाता है, पर आत्मा तो अद्वैत है, वह निमित्त कारण कैसे हो ? और समवाय कारण भी तब होता है, जब साकार वस्तु होता है—जैसे मृत्तिका के परिणाम से घट बनता है—पर आत्मा निराकार अपरिणामी है, वह जगत् का कारण कैसे हो ? जो दोनों कारणों से रहित दिखे, उसे भ्रान्तिमात्र जानिये। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के आकार कारण के बिना दिखते हैं, इसलिये वे भ्रान्तिमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी कारण के बिना भ्रान्तिमात्र भासित होता है। आत्मा में जगत् कभी नहीं हुआ। जैसे प्रकाश में अँधेरा नहीं होता, वैसे ही आत्मा में जगत् नहीं है। यदि तुम कहो कि फिर दिखता क्या है तो उसी का किञ्चन भासित होता है, जो वही रूप है। जैसे चलती है तो भी वायु है और ठहरती है तो भी वायु है, चलने और ठहरने में कुछ भेद नहीं होता, और जैसे आकाश और शून्यता में भेद कुछ नहीं होता वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं है—वही आत्मसत्ता फुरने से जगत्रूप होकर भासित होती है। जैसे जल और तरंग में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। कुछ द्वैत वस्तु नहीं है। जो लोग कहते हैं कि जगत् कर्मों से होता है सो असत्य है; क्योंकि कर्म भी बुद्धि से होते हैं तब आत्मा में बुद्धि ही नहीं तब कर्म कैसे हो ? और जब कर्म ही नहीं तो जगत् कैसे हो ?

जैसे खरगोश के सींग के धनुष से बाण चलाना असत्य है, वैसे ही कर्म से जगत् का होना असत्य है। एक कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु से जगत् हो जाता है। पर यह भी असत्य है; क्योंकि जो सूक्ष्म परमाणु

परिणाम से जगत्‌रूप हुए होते तो बुद्धिरूप जगत् न दिखता। पर यह तो बुद्धिरूप क्रिया होती दिखती है। जो परमाणु से जगत् होता तो इन्हीं से बढ़ता जाता; क्योंकि जो परमाणु जड़ हैं वे ही बढ़ते हैं। पर ऐसा तो नहीं होता। बुद्धिपूर्वक चेष्टा होती दिखती है। इसी से कहा है कि वे असत्य कहते हैं; क्योंकि सूक्ष्म भी किसी से उत्पन्न होना चाहिए और कोई उसके रहने का स्थान भी चाहिए; पर आत्मा में देश, काल और वस्तु तीनों कल्पित हैं। जब आत्मा में ये न हुए तो परमाणु कैसे हो और जगत् कैसे हो ? आत्मा अद्वैत है, इससे जगत् न उपजा है और न नष्ट होता है, जो जगत् उपजा होता तो नष्ट भी होता। जो उपजा ही नहीं तो वह नष्ट कैसे हो ? आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। इससे हे राम ! मैं, तुम और सब जगत् आकाशरूप है। किसी के साथ आकार नहीं-सब निराकाररूप है। जो तुम कहो कि फिर बोलते-चालते क्यों हैं तो जैसे स्वप्न में सब आकाशरूप होते हैं, पर नाना प्रकार की चेष्टा करते और बोलते-चालते हैं, वैसे ही ये भी बोलते-चालते हैं, परन्तु आकाशरूप है। तुम्हारा जो स्वरूप है, वह भी सुनो। देश को त्यागकर देशान्तर को जो संवित् जाती है, और उसके मध्य जो ज्ञानसंवित् है वही तुम्हारा स्वरूप है। वह अनामय और सब दुःखों से रहित है। जैसे जब जाग्रत् दशा को त्यागकर जीव स्वप्न में जाता है, तब जाग्रत् त्याग दिया हो, और स्वप्न न आया हो, ऐसे मध्य काल में जो अचेत चिन्मात्र सत्ता है, वही तुम्हारा स्वरूप है। उसमें पण्डितों और ज्ञानवानों का निश्चय है। ब्रह्मा, विष्णु रुद्रादिक उसी में स्थित रहते हैं, उनका कभी उत्थान नहीं होता। जैसे बरफ से अग्नि कभी नहीं उपजती, वैसे ही उनका स्वरूप से उत्थान कभी नहीं होता। वह आत्मसत्ता न उपजती है, न विनशती है और न और की होती है—सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है।

हे राम ! जितना कुछ जगत् तुम देखते हो, तो वास्तव में कुछ उपजा नहीं—भ्रम से भासता है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के

आरम्भ होते दिखते हैं और जागने से उनका अत्यन्त अभाव दिखता है, वैसे ही यह जगत् भी है। आदि में जो अद्वैत तत्त्व में स्वप्न हुआ है, उसमें ब्रह्मा उपजे और उन्होंने आगे जगत् रचा। वह ब्रह्मा भी आकाशरूप हैं। स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं हुआ—सब असत्‌रूप है। जैसे स्वप्न में नदी और पर्वत दिखते हैं, परन्तु उपजे नहीं, अनुभवसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है, वैसे ही ब्रह्मा से लेकर तृण तक जगत् सब असत्‌रूप है। जिसको तुम ब्रह्मा कहते हो, वह वास्तव में उपजे नहीं, जब उनसे जगत् की उत्पत्ति मैं तुमसे कैसे कहूँ। जैसे मरुस्थल की नदी उपजी ही नहीं तो उसमें मछलियाँ कैसे कहिये, वैसे ही आदि में ब्रह्मा नहीं उपजे तो उनमें जगत् कैसे उपजा कहिये ? केवल आत्मचैतन्यसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। यह जगत् भी वही है, परन्तु अज्ञान से विपर्ययरूप प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न में पुरुष अनुभवरूप होता है और अपने प्रमाद से नाना प्रकार के पदार्थ और पर्वत, जल, पृथ्वी, जन्म, मरणादिक विकार देखता है, परन्तु हुआ कुछ नहीं, आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है और अज्ञान से सब भासते हैं, वैसे ही इस जगत् को भी जानो। आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। सब चिदाकाशरूप है। अज्ञान से आत्मसत्ता ही जगत्‌रूप भासित होती है। इससे हे राम ! जिसके अज्ञान से यह जगत् भासता है और जिसके ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, ऐसे आत्मतत्त्व को पाने का यत्न करो। वह नित्य, शुद्ध परमानन्दस्वरूप और सदा अपने स्वभाव में स्थित है। वही तुम्हारा अनुभवरूप है, जो सदा अनुभव से प्रकाशित होता है। उसमें स्थित होने में क्या कायरता करनी है ? हे राम ! सब प्रपञ्च भ्रान्तिमात्र है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही आत्मा में जगत् भ्रममात्र है। इससे उसको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वपदार्थभाववर्णनं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमस्सर्गः ।। २१३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस प्रकार यह जगत् आभास फुरा है और भासित होता है, यह भी सुनो। आदि जो शुद्ध अचेत चिन्मात्र है, उसमें जब चेतनता फुरती है, तब वह वेदन होती है। उसमें शब्दतन्मात्रा होती है। फिर उसमें आकाश उत्पन्न होता है। फिर स्पर्श की इच्छा होती है, तब वायु उपजती है। जब आकाश में क्षोभ होता है, तब उस वायु और आकाश के संघर्षण से अग्नि उपजती है। जब अग्नि में उष्णस्वभाव होता है, तब जल उत्पन्न होता है, अर्थात् जब तेज की अधिकता होती है, तब जल उत्पन्न होता है। जब स्वेद-सा जल बहुत इकट्ठा होता है, तब उसमें पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार आकाश और वायु से जल और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। तब तत्त्वों से शरीर उपजते हैं और स्थावर-जंगम नाना प्रकार का जगत् दिखता है। वह सब पाञ्चभौतिक है। वास्तव में न पञ्चभूत हैं न कोई उपजता है और न नष्ट होता है, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में आरम्भ-परिणाम-सहित नाना प्रकार का जगत् भासित होता है, परन्तु वास्तव में कुछ उपजा नहीं, आत्मसत्ता ही जगत् के आरम्भ-परिणाम-सहित भासती है, परन्तु वास्तव में कुछ उपजा नहीं, आत्मसत्ता ही चित्त के फुरने से जगत्रूप भासती है, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी जानो। हे राम ! यह सब जगत् अपना अनुभवरूप है, पर भ्रम से आकारसहित दिखता है। जब भली-भाँति विचार करके देखिये तब जगत्भ्रम मिट जाता है, केवल चैतन्य आत्मतत्त्वमात्र शेष रहता है। जैसे निद्रादोष से स्वप्न में नाना प्रकार के क्षोभ होते हैं, और जब जागता है तब एक आप ही रहता है, वैसे ही आत्मसत्ता में जागने से अद्वैत-ही-अद्वैत भान होता है।

हे राम ! जो बोधसमय में द्वैत कुछ न भासित हो तो अबोध के समय भी जानिये कि द्वैत कुछ नहीं हुआ, और जो बोध के समय सत्य भासित हो तो जानिये कि सर्वदा यही सत्ता है। हे राम ! यह निश्चय करो कि जगत् कुछ वस्तु नहीं—जैसे आकाश में नीलता, किरणों में जल और रस्सी में सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है और विचार

करने से कुछ नहीं पाया जाता। हे राम ! अपनी कल्पना ही जीव को जगत्‌रूप भासित होती है, और कुछ नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपनी कल्पना है, परन्तु निद्रादोष से अपने से भिन्न दिखती है और उसमें राग-द्वेष उपजता है पर जागने पर सब क्षोभ मिट जाते हैं, वैसे ही अज्ञान से जगत् सत्य लगता है और उसमें रागद्वेष भाषित होते हैं और ज्ञान से शान्त हो जाते हैं। हे राम ! यह जगत् भ्रममात्र है। ज्ञानवान् के निश्चय में सब चिदाकाश है और अज्ञानी के निश्चय में जगत् है। यदि बड़े क्षोभ प्राप्त हों तो भी वे ज्ञानवान् को डिगा नहीं सकते, क्योंकि उसके निश्चय में कुछ द्वैत नहीं फुरता, वह सदा एकरस रहता है। यदि प्रलयकाल के मेघ गर्जे, समुद्र उमड़ें और पहाड़ के ऊपर पहाड़ पड़ें, जिससे भयानक शब्द हों तो भी ज्ञानवान् के निश्चय में कुछ द्वैत नहीं फुरता। जैसे कोई पुरुष सोया पड़ा हो तो उसके स्वप्न में बड़े क्षोभ होते हैं और जगत् को निकट बैठे भी नहीं भासित होते, वैसे ही ज्ञानवान् के निश्चय में द्वैत कुछ नहीं भासता; क्योंकि है नहीं। और अज्ञानी को होते भासते हैं। जैसे बन्ध्या स्त्री स्वप्न में अपने पुत्र को देखती है, सो अनहोता भी वह भ्रम से उसको भासता है, वैसे ही अज्ञानी को अनहोता जगत् सत्य लगता है।

हे राम ! भ्रम से अनहोता जगत् दिखता है और होते का अभाव प्रतीत होता है। जैसे बन्ध्या अनहोते पुत्र को देखती है और पुत्रवाली स्वप्न में पुत्र का अभाव देखती है, वैसे ही अज्ञान से अनहोता जगत् सत् भासित होता है और सदा अनुभवरूप आत्मा का अभाव प्रतीति होता है। सो भ्रम से ही और का और भासता है। दिन में सोया हुआ पुरुष स्वप्न में रात्रि देखता है और रात्रि को सोया हुआ स्वप्न में दिन देखता है, शून्यस्थान में नाना प्रकार के व्यवहार और अन्धकार में प्रकाश देखता है, सो भ्रम से ही देखता है। पृथ्वी पर सोया मनुष्य स्वप्न में आकाश पर दौड़ता फिरता है और अपने को गढ़े में गिरता देखता है। यह सब भ्रम से ही दिखता है। वैसे ही यह जाग्रत् जीव भ्रम से ही जगत् को विपर्ययरूप देखता है। जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद नहीं। जैसे स्वप्न में मुर्दे भी

बोलते-चालते दिखते हैं, जैसे स्वप्न में तुमको नाना प्रकार का जगत् दिखता है और जागकर कहते हो कि सब भ्रममात्र था, वैसे ही मुझको यह जाग्रत् जगत् भ्रममात्र जान पड़ता है। जैसे जल और तरंग में कुछ भेद नहीं, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद नहीं। जैसे दो मनुष्य एक ही से होते हैं, और दो सूर्य हों तो उनमें कुछ भेद नहीं होता, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद न जानना। राम ने पूछा, हे भगवन् ! स्वप्न की प्रतिभा अल्पमात्र भासती है और मनुष्य शीघ्र ही जागकर कहता है कि वह भ्रममात्र थी और जाग्रत् में वह दृढ़ होकर भासती है। पर तुम दोनों को समान कैसे कहते हो ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस प्रतिभा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह जाग्रत् कहाती है और जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और चित्त में स्मृति होती है, वह स्वप्न है। वह जाग्रत् और स्वप्न दो प्रकार का है—जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह जाग्रत् है और उसमें जब सो गया तब स्वप्न हुआ। उस स्वप्न में जगत् दिखा तो जहाँ जगत् दिखा वही उसका जाग्रत् हो गया और जहाँ से सोया था, वह स्वप्न हो गया। वहाँ जो स्वप्न भासित हुआ, उसको जाग्रत् जानो। मनुष्य लोगों से चेष्टा करने लगा। जब वहाँ से मृतक हो गया, फिर इस अवस्था में आया तो पिछली को स्वप्न जानने लगा। तो चित्त के भ्रम से स्वप्न को जाग्रत् देखा और जाग्रत् को स्वप्न देखा। हे राम ! यह क्या हुआ ? जैसे किसी को स्वप्न आया और उसमें अपनी चेष्टा और व्यवहार करने लगा, तब फिर उसमें स्वप्न हुआ, उस स्वप्नान्तर से जागा तो फिर उस पहले स्वप्न में आया तो उसको स्वप्न जानने लगा और उस स्वप्न को जाग्रत् जानने लगा। हे राम ! जैसे वह स्वप्नान्तर से जागकर उसको स्वप्न कहता है और स्वप्न को जाग्रत् कहता है, वैसे ही यहाँ जाग्रत् स्वप्नरूप है और आगे जो होता है, वह स्वप्नान्तर है। एक और प्रकार है। जो इस जाग्रत् में मृतक हुआ, शरीर छूट गया, तब परलोक देखता है तो वह परलोक जाग्रत् हो गया और इस जाग्रत् को जीव स्वप्न जानने लगा। जैसे स्वप्न से जागा स्वप्न

को भ्रम कहता है वैसे ही इस जाग्रत् को परलोक में भ्रम जानता है। फिर परलोक में स्वप्न आया, तब परलोक की जाग्रत् अवस्था स्वप्नवत् हो गई। और जो स्वप्न में सृष्टि देखी उसको जाग्रत् जानता है। फिर वहाँ से मृतक होकर यहाँ आया, तब यह जाग्रत् हो गई और परलोक स्वप्न हो गया। इससे हे राम ! स्वप्न और जाग्रत् दोनों मिथ्या हैं। जब मूर्ख स्वप्न से जागते हैं तब वे जानते है कि इसका नाम जागना है और इसको जाग्रत् मानते हैं और उसको स्वप्न जानते हैं। पर वास्तव में वह स्वप्नान्तर है और यह स्वप्न। इसमें जो तीव्रसंवेग हो रहा है, इससे इसको जाग्रत् और उसको स्वप्न जानते हैं, पर दोनों तुल्य हैं, कुछ भेद नहीं।

आत्मा में दोनों असत्‌रूप हैं और इनकी प्रतिभा भ्रममात्र भासती है। आत्मा न कभी उपजता है, न मरता है। और उपजता भी है और मरता भी है। उपजता इस कारण से नहीं कि पूर्व-सिद्ध है और मरता इस कारण नहीं कि भविष्यत्‌काल में भी सिद्ध है। परलोक में सुख-दुःख भोगता है और भ्रमकाल में जन्मता भी है और मरता भी है। सो प्रत्यक्ष भासित होता है, पर वास्तव में ज्यों का त्यों है। हे राम ! यह जगत् उसका आभास है और चैत्य का चमत्कार चैतन्य होकर भासित होता है। जैसे घट मृत्तिकारूप है-मृत्तिका से भिन्न नहीं, वैसे ही चेतन भी चैतन्यरूप है। चैतन्य से भिन्न जगत् नहीं-स्थावर-जंगम सब जगत् चिन्मात्र है। हे राम! जैसे तुमको स्वप्न आता है और उसमें पत्थर और पहाड़ दिखते हैं सो तुम्हारा ही अनुभवरूप है भिन्न तो नहीं, वैसे ही यह सब दृश्य चिन्मात्र का रूप है। जैसे घट मृत्तिका से भिन्न नहीं वैसे ही यह जगत् चिदाकाश से भिन्न नहीं है। जैसे काष्ठ के पात्र से भिन्न नहीं सब काष्ठ ही हैं, वैसे ही जगत् चैतन्यरूप है-चैतन्य से भिन्न नहीं। जैसे पाषाण की मूर्ति पाषाण है, वैसे ही जगत् भी चैतन्यरूप है। जैसे समुद्र ही तरंगरूप होकर दिखता है, वैसे ही चैतन्य जगत्‌रूप होकर दिखता है। जैसे अग्नि उष्णरूप है, वैसे ही चैत्य चैतन्यरूप है। जैसे वायु स्पन्दनरूप है, वैसे ही चैतन्य चैत्यरूप है। जैसे वायु निस्पन्दरूप है, वैसे चैतन्य चैत्यरूप है। जैसे पृथ्वी वन होती

है और आकाश शून्य होता है—जहाँ घना या ठोस है वहाँ पृथ्वी है और जहाँ शून्यता है, वहाँ आकाश है—वैसे ही जहाँ चैत्य है वहाँ चैतन्य है। जैसे स्वप्न में शुद्ध संवित् पहाड़ और नदियों के रूप से भासती है, वैसे ही चिन्मात्रसत्ता जगत्‌रूप होकर भासती है। हे राम ! जो कुछ पदार्थ तुमको दिखते है, उनको त्यागकर आत्मा की ओर देखो। यह सब विश्व आत्मरूप है। वह शुद्ध चिदाकाशरूप दुःखातीत और आकाश से भी निर्मल है, ऐसा जानकर उसमें स्थित होओ। हे राम ! जब तुमको स्वभावसत्ता का अनुभव साक्षात्कार होगा, तब सब द्वैतकलना जो भासती है सो शान्ति हो जायगी और केवल आत्मतत्त्वमात्र शेष रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्‌स्वप्नैकताप्रतिपादनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमस्सर्गः ।। २१४ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! चिदाकाश कैसा है, जिसे तुम परब्रह्म कहते हो और उसका रूप क्या है ? तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को पान करता मैं तृप्त नहीं होता, इससे कृपा करके कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे एक माता के गर्भ से दो जुड़वा पुत्र उत्पन्न होते है और उनका एक सा आकार होता है, पर जगत के व्यवहार के लिए उनका नाम भिन्न-भिन्न होता है और भेद कुछ नहीं, और जैसे दो पात्रों में जल रखिये तो जल एक ही है पर पात्रों के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही स्वप्न और जाग्रत् दो नाम हैं, परन्तु है एक ही से, किन्तु आत्मा में दोनों ही कल्पित हैं। जिसमें दोनों कल्पित हैं, वह चिदाकाश है। वृत्ति जो फुरती है और देशदेशान्तर को जाती है, उसके मध्य में जो ज्ञानरूप संवित् है, जिसके आश्रय से वृत्ति फुरती है, वह चिदाकाश संवित् है। वृक्ष जो रस को खींचकर ऊपर को जाते हैं सो उसी के आश्रय से जाते हैं। ऐसी जो सत्ता है, वह चिदाकाशरूप है। हे राम ! जैसे सब वृक्ष, फूल, फल, टास आदि सहित रस के आश्रय से उगते-बढ़ते हैं, वैसे ही यह सब जगत् चिदाकाश के आश्रय से फुरता है और उसी के आश्रय से वृत्ति फुरती है—वही सत्ता चिदाकाश है। जिसकी इच्छा सब निवृत्त हो गई है और

रागद्वेषरूपी मल से हीन जो शरत्काल के आकाशसम निर्मल हो गया है, उसकी शुद्ध संवित् है। उसको चिदाकाश जानो।

हे राम ! जगत् का जब अन्त हुआ, पर जड़ता नहीं आई, उस मध्य काल में जो अद्वैत सत्ता है, वह चिदाकाश है बेल, फूल, फल, गुच्छे और वृक्ष जिसके आश्रय से बढ़ते हैं, वह चिदाकाश है। रूप, अवलोक, मनस्कार, इन तीनों का जहाँ अभाव है, ऐसी शुद्धसंवित् ही चिदाकाश है। पृथ्वी, पर्वत और नदी आदि सबका जो आश्रय है, वह चिदाकाश है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, ये तीनों जिससे उपजे हैं और फिर जिसमें लीन होते हैं, वह अधिष्ठान सत्ता ही चिदाकाश है। जिससे सब उपजते हैं, जो यह सब है और जिसमें सब है ऐसा सर्वात्मा चिदाकाश है। अर्द्धरात्रि को उठने पर इन्द्रियों की चपलता का विषय से अभाव होता है। उस काल में जो शान्तसत्ता होती है, वह चिदाकाश है।

हे राम ! जिस संवित् में स्वप्न की सृष्टि जगती है और फिर जाग्रत् भासती है और दोनों के करनेवाले में सोहता है, वह चिदाकाश है। जैसा फुरना होता है, वैसा ही जगत् में भासित होता है। वही द्रष्टा, दर्शन, दृश्य होकरं भासता है, दूसरा कुछ नहीं। आत्मरूपी सूत्र में असत्य-सत्य जगत्रूपी मणि पिरोये हुए हैं। जिसके आश्रय से इनका फुरना होता है, वह चिदाकाश है। हे राम ! जिसके आश्रय से एक निमेष में जगत् उपजता है और उन्मेष में लीन हो जाता है, ऐसी जो अधिष्ठान सत्ता है, उसको चिदाकाश जानो। यह सब जगत् मिथ्या है और भ्रान्ति से भासता है, जैसे मरुस्थल की नदी भासती है। इससे जो रहित है और जिसमें संकल्प-विकल्प का क्षोभ नहीं और सदा अपने आपमें स्थित और दुःख से रहित निर्विकल्प सत्ता है वही चिदाकाश है। हे राम ! नेति-नेति के पीछे जो अनाद्यपद शेष रहता है उसको तुम चिदाकाश जानो। शुद्ध चैतन्य आत्मसत्ता सबका अपना और अनुभवरूप होकर प्रकाशित है। उसमें जैसे फुरना होता है कि ये ऐसे हैं वैसा ही भासित होता है। वह चिदाकाशरूप है। इससे शुद्ध आत्मसत्ता ही फुरने से जगत्रूप होकर प्रकट होती है।

जैसे जाग्रत् के अन्त में अद्वैत सत्ता होती है और फिर उससे स्वप्न की सृष्टि भासित होती है, पर स्वप्न की सृष्टि वास्तव में नहीं उपजी, वही अनुभव स्वप्न की सृष्टि होकर भासित होता है, वैसे ही यह जगत् जो कार्यरूप दिखता है, सो अविद्या से दिखता है, वास्तव में कुछ उपजा नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अकारण दिखती है, वैसे ही यह सृष्टि अकारण है। ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब स्थावर-जंगम जगत् चिदाकाश रूप है। कुछ उत्पन्न नहीं हुआ और जो दूसरा कुछ न हुआ तो कारण-कार्य भी कुछ न हुआ।

हे राम ! न कोई द्रष्टा है, न कोई दृश्य है न भोक्ता है और न भोग है, सब कल्पनामात्र है। आत्मा के अज्ञान से कल्पनाएँ उठती हैं और आत्मज्ञान से लीन हो जाती हैं—जैसे समुद्र के जाने से तंरग कल्पना मिट जाती है; क्योंकि अनुभव आत्मा में कारण-कार्य कुछ नहीं हुआ। जो तुम कहो कि कारण-कार्य क्यों भासित होते हैं, तो जैसे इन्द्रजाल की बाजी में नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं बने, वैसे ही यह जगत् कारण-कार्य कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही नगररूप होकर दिखता है, वैसे ही यह जगत् दिखता है। हे राम ! आत्मसत्ता ही फुरने से जगत् की नाईं भासती है। जिस जगत् को इदम् रूप कहते हैं, वह अहंरूप है। जिसको समुद्र कहते हैं, वह भी अहंकाररूप है। जिसको रुद्र कहते हैं, वह अपना ही अनुभवरूप है इत्यादि। जो सब जगत् भासित होता है वह भावनामात्र है। जिसकी जैसी भावना दृढ़ होती है, वैसा ही रूप होकर भासता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु में जैसी भावना होती है, वैसे ही सिद्ध होती है, वैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना होती है, वैसी ही होकर भासित होती है। इससे जब चिदाकाश का निश्चय दृढ़ होता है, तब अज्ञान से जो विरुद्ध भावना हुई थी, वह निवृत्त होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगन्निर्वाणवर्णनंनामपञ्चदशाधिकद्विशततमस्सर्गः ।। २१५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब मन थोड़ा भी फुरता है, तब यह

जगत् उत्पन्न हो आता है और जब फुरने से रहित होता है, तब जगत्भावना मिट जाती है। इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानवान् है। वह पुरुष इन्द्रियों से देखता, सुनता, ग्रहण करता भी निर्वासनिक हो जाता है और जगत् की ओर से घनसुषुप्त होता है। हे राम ! जिसका मन निर्वासनिक और शान्त हुआ है वह बोलता, चालता, खाता, पीता भी पाषाण-सदृश मौन हो जाता है—इससे यह जगत् कुछ उत्पन्न नहीं। जैसे मृगतृष्णा की नदी अनहोती भासती है और भ्रम से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासित होता है, वैसे ही मन के भ्रम से आत्मा में जगत् भासित होता है। आदिकारण से कुछ नहीं उत्पन्न हुआ। जिसका आदिकारण न पाइये वह कारण भी असत्य जानिये। इससे सब जगत् कारण के बिना ही भासता है, उपजा कुछ नहीं। हे राम ! जो पदार्थ कारण के बिना भासता है और जिसमें भासता है वह अधिष्ठानसत्ता है, क्योंकि जो अधिष्ठान में भासित होता है उसको भी वही रूप जानिये और जो अधिष्ठान से व्यतिरेक भासित हो, उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे स्वप्न में इन्द्रियादिक पदार्थ भासित होते हैं और उसमें दृश्य दर्शन सब मिथ्या हैं, हुआ कुछ नहीं, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी मिथ्या है। न कुछ उपजा है, न स्थित हुआ है। न आगे होना है और न नाश होता है। जब उपजा ही नहीं, तब नाश कैसे हो ? न कोई द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है; केवल चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य क्या है और कैसे भासित होता है ? यह आपने पहले भी कहा है और अब फिर भी कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह दृश्य सब अदृश्यरूप है; अकारण ही दृश्य होकर भासित होता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, जो कुछ जगत् विस्तारसहित दिखता है वह आदिस्वरूप है। जैसे स्वप्न में आकाश का वन दिखे और पदार्थ दिखें सो वे सब चिदाकाशरूप हैं, वैसे ही यह जगत् भी चिन्मात्ररूप है—कारण-कार्यभाव कहीं नहीं। जैसे वायु स्पन्दनरूप होती है, तब प्रतीत होती है और निस्पन्द होने पर नहीं, प्रतीत होती, वैसे ही आत्मा में जब चित्त

फुरता है, तब आत्मसत्ता जगत्‌रूप होकर भासती है। सो वही आत्मसत्ता भाव में अभावरूप है। जैसे आकाश में शून्यता है, वैसे ही आत्मा में जगत् आत्मरूप है। इससे जो कुछ भासित होता है, वह चैतन्य का आभास प्रकाश है और परमार्थसत्ता केवल अपने आप में स्थित है। इससे इतर कहिये तो न द्रष्टा है और न दृष्य है, आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों है। राम ने पूछा, हे ब्राह्मण, ब्रह्म के ज्ञाता ! जो इसी प्रकार है तो कारण-कार्य का भेद कैसे होता दींखता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! उसमें जैसा-जैसा फुरना होता है, वैसा ही वैसा रूप होकर भासित होता है। चैतन्य आकाश ही जगत्‌रूप होकर भासता है, और न कहीं कारण है, न कार्य। जैसे स्वप्नसृष्टि जो कारण-कार्यसहित भासित होती है, वह किसी कारण से नहीं उपजी—अकारणरूप है, वैसे ही यह सृष्टि किसी कारण से नहीं उपजी, अकारणरूप है। न कहीं कर्त्ता है और न भोक्ता। केवल भ्रम से कर्ता-भोक्ता भासित होता है और स्वप्न की नाईं विकल्प उठते हैं-वास्तव में ब्रह्मसत्ता ही है।

हे राम ! जैसे स्वप्न में नगर और जगत् ! दिखता है, वह चिदाकाश अनुभवसत्ता ही ऐसे होकर भासित होती है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं वैसे ही यह जगत् सम्पूर्ण चिदाकाश है। जब ऐसे जानोगे, तब जगत् भी ब्रह्मतत्त्व दिखेगा। हे राम ! यह जगत् चित्त के फुरने से उपजा है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है, वैसे ही चित्तभ्रम से जगत् की कल्पना होती है, पर इसका कारण ब्रह्म ही है। और कारण कहीं नहीं, क्योंकि महाप्रलय में चिदाकाश ही रहता है, अतःकारण किसका हो ? वही सत्ता इन्द्र, रुद्र, नदियाँ पर्वत आदि जगत् होकर भासती हैं। उससे भिन्न द्वैतरूप कुछ नहीं। इसमें जैसा-जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही रूप दिखता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में जैसी भावना होती है, वैसा ही रूप भासित होता है, वैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना होती है, वैसा ही पदार्थरूप होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कारणकार्याभाववर्णनं नाम षोडशाधिकद्विशततमस्सर्गः ।। २१६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अचैत्य चिन्मात्र आकाशरूप आत्मसत्ता ही जगत्रूप होकर दिखती है। शुद्ध चिन्मात्र में जब अहं का स्फुरण होता है तब जगत् होकर भासता है। वही अहंरूप जीव जगत् में जीता दिखता है, परन्तु मृतक की नाईं स्थित है। और तुम, मैं आदि सब जगत् जीता, बोलता, चलता और व्यवहार करता भी दिखता है, परन्तु काष्ठवत् मौन स्थित है। आत्मरूपी रत्न की चमक जगत् है और वह प्रकाश आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे आकाश में तरुवर, मरुस्थल में जल और धुएँ के पर्वत मेघ भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही यह जगत्लक्षण भी भासता है, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं, अवस्तु है—उपजा कुछ नहीं।

हे राम ! चित्तरूपी बालक ने जगत्-जालरूपी सेना रची है, सो असत्य है। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु आदि पंचभूत भ्रान्तिमात्र हैं और उनमें सत्य प्रतीति करना मूर्खता है। बालक की कल्पना में सत्य प्रतीति बालक ही करते हैं और जो इस जगत् का आश्रय करके सुख की इच्छा करते हैं, वे मानों आकाश के धोने का यत्न करते हैं। उनका सब यत्न व्यर्थ है। यह सब जगत् भ्रान्तिरूप है; इसमें आस्था करके जो इसके पदार्थ पाने का यत्न करते हैं, वे जैसे वन्ध्या स्त्री पुत्र पाने का यत्न करे वैसे ही व्यर्थ है। जगत् में जो सुख के पाने का यत्न करते हैं, वह व्यर्थ यत्न है। हे राम! ये पृथ्वी आदि जो सम्पूर्ण भूत पदार्थ दिखते हैं सो भ्रान्तिमात्र हैं जब भ्रान्तिमात्र हैं तब इनकी उत्पत्ति किससे और कैसे कहिये ? जो मूर्ख बालक हैं, उनको पृथ्वी आदि जगत् के पदार्थ सत्य लगते हैं। ज्ञानवान् को ये सत्य नहीं दिखते और अज्ञानी को सत्य लगते हैं। पर उनसे हमको क्या प्रयोजन है। जैसे सोये को स्वप्न में आत्म-अनुभवसत्ता ही पृथ्वी, पहाड़ और नदियाँ जगत् हो भासती हैं, पर वे सब आकार दिखने पर भी निराकाररूप हैं। वैसे ही यह जगत् आकाशसहित दिखता है, परन्तु आकार कुछ बना नहीं, निराकारसत्ता ही जगत्रूप भासित होती है। यह जगत् निराकार ही है, पर और कुछ नहीं, आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भावप्रतिपादनन्नाम सप्तदशाधिकद्विशततमस्सर्गः ।। २१७।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि जगत् अविद्यमान है, पर अज्ञान से स्वप्न की नाईं सत्य लगता है, इससे विद्यमान भी है; और जैसे स्वप्न का नगर शून्य है, वैसे यह जगत् अज्ञानरूप है। वह अज्ञान क्या है और अविद्या कितने काल की है, किसको होती है और इसका प्रमाण क्या है ? कृपा कर कहिए । वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ तुमको जगत् दिखता है, वह सब अविद्या है। वह अविद्या अनन्त है। देश और काल से इसका अन्त कभी नहीं होता। जिसको अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान है, उसको यह सत् दिखाई देता है। इस पर इतिहास है, सो सुनिये। हे राम ! आत्मरूप चिदाकाश के अणु में अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। उनमें से एक ब्रह्माण्ड इसी के समान है उस ब्रह्माण्ड के जगत् में तुरमत नाम का एक देश है, जिसका राजा विपश्चित् था। वह एक समय अपनी सभा में बैठा था। उसके चारों ओर उसकी बड़ी तेजस्वी सेना उपस्थित थी। वह अग्नि देवता के सिवा और किसी देवता को न पूजता था। राजा बड़ी लक्ष्मी से शोभित और बहुत गुणों और ऐश्वर्य से सम्पन्न था। एक समय वह सभा में बैठा था कि पूर्व दिशा की ओर से हरकारा आया और उसने कहा, हे भगवन् ! तुम्हारा जो पूर्व दिशा का मण्डलेश्वर था, वह बुढ़ापे से मरकर मानो यमराज को जीतने गया है। इसके पूर्व दिशा की रक्षा करो, क्योंकि वहाँ और मण्डलेश्वर आ रहा है। हे राम ! इस प्रकार वह कहता ही था कि दूसरा हरकारा पश्चिम से आया और कहने लगा कि हे भगवन् ! तुमने जो पश्चिम दिशा का मण्डलेश्वर किया था वह तप करते-करते मर गया है। वहाँ एक और मण्डलेश्वर आ रहा है, इसलिए वहाँ की रक्षा करो।

हे राम ! इस प्रकार दूसरा हरकारा कह ही रहा था कि एक और हरकारा आया। उसने कहा-हे भगवन् ! दक्षिण दिशा का मण्डलेश्वर पूर्व पश्चिम की रक्षा के निमित्त गया था, सो मार्ग ही में मर गया इससे दोनों की रक्षा के लिए सेना भेजो; क्योंकि एक प्रबल शत्रु आया है। अब और विलम्ब का समय नहीं है, शीघ्र सेना भेजिये। हे राम ! यह सुनकर राजा

बाहर निकला और कहने लगा कि सब सेना मेरे पास होकर दिशाओं की रक्षा के लिए जावे। बड़े-बड़े शस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ आदि सेना ले जाओ। हे राम ! इस प्रकार राजा कहता ही था कि एक और पुरुष आया और बोला कि हे भगवन् ! उत्तर दिशा की ओर जो तुम्हारा मण्डलेश्वर था, उसके ऊपर और शत्रु आ गया है और बड़ा युद्ध हो रहा है, इससे उसकी रक्षा के लिए शीघ्र ही सेना भेजो। अब विलम्ब का समय नहीं है। मैं लौटा जाता हूँ, क्योंकि मेरा स्वामी युद्ध कर रहा है। हे राम ! यों कहकर वह चला गया। तब द्वारपाल ने आकर कहा कि हे भगवन् ! उत्तर दिशा का मण्डलेश्वर आया है। आज्ञा हो तो ले आऊँ । राजा ने कहा, ले आओ। वह उसे ले आया। उस मण्डलेश्वर ने राजा के सम्मुख आकर प्रणाम किया। राजा ने देखा कि उसके अंग टूट गये हैं और मुख से रुधिर निकल रहा है। पर ऐसी अवस्था में भी उस धैर्यसंयुक्त मण्डलेश्वर ने कहा कि हे भगवन् ! मेरे अंगों की यह दशा हुई है। मैं तुम्हारे देश की रक्षा करने को चला था, पर मेरे ऊपर शत्रु ने आक्रमण किया। मेरी सेना थोड़ी थी, इस कारण दौड़कर तुम्हारे पास आया हूँ कि प्रजा की रक्षा करो।

हे राम ! जब इस प्रकार उसने कहा, तब राजा ने सब मन्त्रियों को बुलाया। मन्त्री राजा के पास आये और बोले, हे भगवन् ! अब तीन उपाय छोड़कर चौथा उपाय करो, अर्थात् एक नम्रता, दूसरा धन देना और तीसरा बुद्धि का भेद, ये तीनों अब नहीं चल सकते। ये दुष्ट नम्रता माननेवाले नहीं हैं; क्योंकि नीच और पापी हैं। धन इस कारण न देना चाहिए कि ये अधीन हैं। और भेदभाव भी नहीं चलेगा, क्योंकि सब मिलकर इकट्ठे हुए हैं। इससे ये तीनों उपाय छोड़ो और चौथा उपाय करो-युद्ध करो। अब विलम्ब का समय नहीं है, क्योंकि उनकी सेना निकट आ गई है-अब उत्साहसहित कर्म करना है। केवल प्राणों की रक्षा नहीं चाहिए। हे राम ! जब इस प्रकार मन्त्रियों ने कहा, तब राजा ने आज्ञा की कि सब सेना मेरी आज्ञा से उनके सम्मुख जावे और निशान, नगाड़े, हस्ती, घोड़ा, रथ, पियादे सेना के साथ जावें। इस प्रकार जब राजा

ने कहा, तब सब सेना आकर स्थित हुई और नौबत-नगाड़े बजने लगे। जब नाना प्रकार के शस्त्रों सहित चारों प्रकार की सेना इकट्ठी हुई, तब राजा ने कहा, हे साधु ! तुम आगे जाओ। आगे सेना हो, उसके पीछे सेनापति जावें। जाकर शत्रुओं के साथ युद्ध करो। मैं भी स्नान करके आता हूँ। हे राम ! इस प्रकार कहकर राजा ने मन्त्री को भेजा और आप गंगा-जल से स्नानकर एक स्थान में जो अग्नि-कुण्ड था, उसके निकट जाकर हवन करने लगा। जब अग्नि प्रज्वलित हुई, तब राजा ने कहा-हे भगवन् ! इतना समय मुझे यथाशास्त्र आचरण करते व्यतीत हुआ है। मैंने अपनी प्रजा सुखी रखी, निष्कंटक राज्य किया, शत्रु को नष्ट करके सिंहासन के नीचे दबाया और आप सिंहासन पर बैठा हूँ। पतालवासी दैत्य भी मैंने जीत लिये हैं। दसों दिशाएँ अपने अधीन की हैं। सातों समुद्रों तक सब लोग मेरे भय से काँपते हैं और सब जगह मेरी कीर्ति फैल रही है। रत्नों से मेरे कोष भरे हुए हैं। वस्त्र, सेना, घोड़े और हाथी भी बहुत हैं। मैंने बड़े भोग भी भोगे और बड़े-बड़े दान भी किये हैं। सिद्ध और देवता भी मेरा यश गाते हैं। निदान सब ओर मेरा यश फैला है। अब शरीर भी बूढ़ा हुआ और क्षोभ भी बड़ा प्राप्त हुआ है, इससे अब मेरा जीने से मरना भला है।

हे भगवन् ! मैं तुमको शीश निवेदन करता हूँ, कृपा करके स्वीकार करो। यदि मुझ पर प्रसन्न हो तो मुझे चार रूप दो, जिनसे मैं चारों ओर जाऊँ। और जब जहाँ मुझे कष्ट हो, वहाँ दर्शन देना। हे राम ! इस प्रकार कहकर उसने खंग निकाला और अपना शीश काटकर अग्नि में डाल दिया। तब धड़ भी आप ही अग्नि में जा पड़ा और शीश धड़ दोनों भस्म हो गये अथवा अग्नि ने भक्षण कर लिये। तब उसी की सी चार मूर्तियाँ कुण्ड से निकल आईं । वे उसी के से आकार, वस्त्र, भूषण, मुकुट, कवच और नाना प्रकार के शस्त्र धारण किये थीं। हे राम ! तब बड़े तेजस्वी वे चारों राजा विपश्चित् के रूप प्रकट हुए। रथ, हाथी, घोड़े, प्यादे और चारों प्रकार की सेना भी प्रकट हुई। निदान चारों ओर शत्रुओं से बड़ा युद्ध होने

लगा। नगर जलने लगे, बड़ा हाहाकार होने लगा। शूरवीर युद्ध में उछल-उछलकर लड़ते और प्राण त्यागते थे। बड़े रुधिर के प्रवाह चलते थे, खंग और बरछी की वर्षा होती थीं और अग्नि का अट्ट-अट्ट शब्द होता था-मानों समय बिना ही प्रलय होने लगा हो। निदान बड़ा युद्ध हुआ। जो सूरमा थे, वे युद्ध में मरने को जीना मानते थे और जीने को मरना जानते थे। ऐसा निश्चय करके वे युद्ध करते थे। और जो कायर थे, वे भाग जाते थे-जैसे गरुड़ के भय से सर्प भाग जाते हैं। पर सूरमा सम्मुख होकर लड़ते थे। इस प्रकार बड़ा युद्ध होने लगा। रुधिर की नदियाँ बह चलीं, जिनमें हाथी, घोड़े, रथ और सूरमा बहते जाते थे। बड़े-बड़े वृक्ष और नगर गिरते और बहते जाते थे। मांसभक्षण के लिए योगिनियाँ भी आकर उपस्थित हुईं। जो-जो युद्ध में मरता, उसे अप्सराएँ और अविद्याधरियाँ विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग को ले जाती थीं।

हे राम ! इस प्रकार जब युद्ध हुआ, तब राजा विपश्चित् की सेना सब शून्य हो गई अर्थात् थोड़ी रह गई। राजा ने सुना कि सेना बहुत मारी गई है, इसलिए उसने रथ पर सवार होकर देखा कि सेना थोड़ी रह गई है। तब एक एक राजा एक एक ओर को गया अर्थात् चारों राजा चारों ओर गये और विचार करने लगे कि यह महागम्भीर सेनारूपी समुद्र है। इसमें शस्त्र ही जल हैं, उनकी धार ही तरंग है और सूरमा ही मच्छ हैं। इस समुद्र को मैं अगस्त्य की तरह पी जाऊँगा। ऐसे विचारकर उसने उद्यम किया, क्योंकि शत्रु की विशेष सेना देखी-एक तो सेना आगे ही को चली आती थी, दूसरे बहुत सूरमा तेज से सेना को जलाते थे और तीसरे बहुत सेना आती थी। ऐसी तीन प्रकार की सेना के राजा ने तीन उपाय किये। प्रथम उसने वायव्यास्त्र हाथ में लिया और परमात्मा ईश्वर को नमस्कार कर और मन्त्र पढ़कर पवन का अस्त्र चलाया। इससे अँधेरी छा गई और जितनी सेना आगे चली आती थी, वह सब उलटी उड़ने लगी। फिर उसने मेघ का अस्त्र चलाया। तब वर्षा होने लगी और उससे जो तेज उनकी सेना को जला रहा था वह शान्त हो गया। उसके बाद उसने शिव

का अस्त्र चलाया। उसमें से प्रथम शस्त्रों की नदी चली, फिर त्रिशूलों की नदी चली, फिर चक्रों की नदी चली, फिर वज्र की नदी चली, बरछी की नदी चली, बिजली की नदी चली और अग्नि इत्यादिक की नदियाँ चलीं। दूसरे शस्त्रों और अस्त्रों की वर्षा हुई। जब इस प्रकार नदियाँ बह चलीं, तब जो कुछ सेना सम्मुख आती थी, वह मृतक हो गई। जैसे कमलिनी काटी जाती है, वैसे ही शूरवीर काटे गये। कोई पहाड़ों की कन्दराओं में गिरे और वहाँ से उड़कर समुद्र में जा पड़े और कोई सुमेरु की कन्दराओं में जाकर छिपे और समुद्र में जाकर डूबे—जैसे अज्ञानी विषयों में डूबते हैं इस प्रकार दोनों ओर से सेना शून्य हुई और चारों दिशाओं की सेना नष्ट हो गई। नीच से नीच देशों के और पहाड़ की कन्दराओं के रहनेवाले सब बहते जाते थे।

हे राम ! कई शस्त्रों से और कई आँधी से उड़े, वे सब क्षेत्रों में जा पड़े । कई वन में और कई नीचे देशों में गिरे। जो पुण्यवान् थे, वे उत्तम क्षेत्र में जा पड़े और मृतक होकर स्वर्ग को गये, और पापी नीच देशों में जा पड़े, उससे दुर्गति को प्राप्त हुए। कई पिशाच हुए, कितनों को विद्याधरियाँ ले गईं और कई ऋषीश्वरों के स्थानों में जा पड़े। उनकी उन्होंने रक्षा की। इसी प्रकार कितने बाणों से छेदे हुए नष्ट हुए और कई रुधिर की नदियों में बहते समुद्र की ओर चले गये। हे राम ! जब सब सेना नष्ट हो गई, तब आकाश शुद्ध हुआ। जैसे ज्ञानी का मन निर्मल होता है, वैसे ही आकाश अधिक क्षोभ से रहित हुआ। जब सब सेना समाप्त हो गई, तब चारों राजा आगे चले। हे राम ! निदान चारों विपश्चित् चारों दिशाओं के समुद्रों तक जा पहुँचे । तब उन्होंने क्या देखा कि बड़े गहरे समुद्र हैं। कहीं रत्न, कहीं हीरा, मोती इत्यादि चमकते हैं। बड़े गहरे समुद्र में बड़े मच्छ और तरंग उछलते हैं। रेती में नाना प्रकार के लौंग, इलायची, चन्दन इत्यादि के वृक्ष समुद्र तट पर जाकर देखे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चित् समुद्रप्राप्तिर्नाम द्विशताधिकाष्टादशस्सर्गः ।। २१८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार राजा विपश्चित् समुद्र के पार जा पहुँचा, तब उसके साथ जो मन्त्री पहुँचे थे, उन्होंने राजा को सब स्थान दिखाये, जो बड़े गम्भीर थे। बड़े गम्भीर समुद्र, जो पृथ्वी को चहुँफेर घेरे थे, वे भी दिखाये और बड़े-बड़े तमालवृक्ष, बावलियाँ, पर्वतों की कन्दरा, तालाब और नाना प्रकार के स्थान दिखाये । ऐसे स्थान राजा को मन्त्री ने दिखाकर कहा, हे राजन् ! तीन पदार्थ बड़े अनर्थ और परमसार के कारण हैं-एक तो लक्ष्मी, दूसरा आरोग्य और तीसरा यौवनावस्था। जो पापी जीव हैं वे लक्ष्मी को पाप में लगाते हैं, देह के आरोग्य से विषयों का सेवन करते हैं और यौवन अवस्था में भी सुकृत नहीं करते, पाप ही करते हैं और जो पुण्यवान् हैं, वे इन्हें मोक्ष में लगाते हैं अर्थात् लक्ष्मी से यज्ञादिक शुभकर्म और आरोग्य से परमार्थ साधते हैं और यौवन अवस्था में भी शुभ-कर्म करते हैं—पाप नहीं करते।

हे राम ! जैसे समुद्र और पर्वत के किसी स्थान में रत्न और किसी स्थान में घोंघे होते हैं, वैसे ही संसार-समुद्र में कहीं रत्नों की नाईं ज्ञानवान् होते हैं और कहीं अज्ञानीरूपी घोंघे होते हैं। हे राजन् ! यह समुद्र मानो जीवन्मुक्त है, क्योंकि जल से भी मर्यादा नहीं छोड़ता और रागद्वेष से रहित है। किसी स्थान में दैत्य रहते हैं, कहीं पंखों से युक्त पर्वत, कहीं बड़वाग्नि और कहीं रत्न हैं, परन्तु समुद्र को न किसी स्थान में राग है, न द्वेष। जैसे ज्ञानवान् को किसी में रागद्वेष नहीं होती, परन्तु सबमें ज्ञानवान् कोई बिरला ही होता है। जैसे जिस सीपी और बाँस से मोती निकलते हैं, वे बिरले ही होते हैं, वैसे ही तत्त्वदर्शी ज्ञानवान् कोई बिरला होता है। हे राम ! यहाँ की सम्पूर्ण रचना देखो कि कैसे पर्वत हैं, जिनके किसी स्थान में पक्षी रहते हैं, किसी स्थान में विद्याधर रहते हैं, कहीं देवियाँ विलास करती हैं, कहीं योगी रहते हैं और कहीं ऋषीश्वर, मुनीश्वर, कहीं ब्रह्मचारी, वैरागी आदि पुरुष रहते हैं। यह द्वीप है और सात समुद्र हैं जिनके बड़े तरंग उछलते हैं, और पर्वत का कौतुक, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, तारे, ऋषि, मुनि आदि को देखो। और देखो कि सबको आकाश स्थान दे रहा है, पर

महापुरुष की नाईं आप सदा असंग रहता है। वह शुभ अशुभ दोनों के लिए समान है। स्वर्गादिक शुभस्थान हैं और चाण्डाल, पापी आदि के निवासस्थान नरक अपवित्र हैं, परन्तु आकाश दोनों के लिए समान है—असंग होने के कारण निर्विकार है। जैसे ज्ञानी का मन सब स्थानों से निर्लेप होता है, वैसे ही आकाश सब पदार्थों से असंग, न्यारा है और महात्मा पुरुष की नाईं सर्वव्यापी है। हे आकाश ! तू प्रकाशरूप है, तुझमें अन्धकार दिखता है—यह आश्चर्य है। हे आकाश ! तू सबका आधार है। जो तुझको शून्य कहते हैं, वे मूर्ख हैं। दिन को तुझमें श्वेतता भासित होती है, रात्रि को अन्धकार भासित होता है और संध्याकाल में तुझमें लाली चमकती है; पर तू तीनों से न्यारा है। ये तीनों राजसी, तामसी और सात्त्विकी गुण हैं; पर तू इनके होते भी असंग है। हे आकाश ! तू निर्मल है और तम तुझमें दिखता है, परन्तु तू सदा ज्यों का त्यों है। यह अनित्यरूप है। चन्द्रमा तुझमें शीतलता करता है, सूर्य दाहक होते हैं। तीर्थ आदिक पवित्र स्थान हैं और पापमय अपवित्र स्थान हैं; परन्तु तू सबमें एक समान ज्यों का त्यों रहता है। वृक्षों को बढ़ने और ऊँचे होने की सत्ता तू ही देता है। अपनी महिमा को तू आप ही जाने। और कोई तेरी महिमा जान नहीं सकता। तू निष्किञ्चन अद्वैत है; सबको धारण कर रहा है। सबका प्रयोजन तुझसे ही सिद्ध होता है। जल नीचे को जाता है, पर तू सबसे ऊँचा और व्यापाक विभु है। अनेक पदार्थ तुझमें उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, पर तू सदा ज्यों का त्यों रहता है। जैसे अग्नि से चिनगारी उपजती और अग्नि ही में लीन हो जाती है, वैसे ही तुझमें अनन्त जगत् उपजते और लीन होते हैं और तू सदा ज्यों का त्यों रहता है। जो तुझको शून्य कहते हैं, वे मूढ़ हैं।

हे राजन् ! ऐसा आकाश कौन है, यह भी सुनो। ऐसा आकाश आत्मा है, जो चैतन्य आकाश है, और जिसमें जगत् उत्पन्न और लीन हो जाते हैं। उसको जो शून्य कहते हैं, वे महामूर्ख हैं जो सबका अधिष्ठान है, सबको धारण कर रहा है और सदा निःसंग है ऐसे चिदाकाश को

नमस्कार है। हे राजन् ! यह आश्चर्य है कि वह सदा एकरस है, पर उसमें नाना तरंग भासित होते हैं—यही माया है। हे राजन् ! एक विद्याधरी और विद्याधर थे। उनके मन्दिर में एक ऋषि आ पहुँचा, पर उस विद्याधर ने उनका आदर-सत्कार नहीं किया। इससे ऋषीश्वर ने शाप दिया कि तू बारह वर्ष तक वृक्ष होगा। निदान वह विद्याधर वृक्ष हो गया। पर अब हम आये हैं, हमारे देखते ही वह शाप से मुक्त हो वृक्षभाव को त्यागकर फिर विद्याधर हुआ है। यह ईश्वर की माया है कि कभी कुछ हो जाता है, और कभी कुछ हो जाता है। हे मेघ ! तू धन्य है ! तेरी चेष्टा भी सुन्दर है। तीर्थों में सदा तेरी स्थिति है। तू सबसे ऊँचे विराजता है और सब आचार तेरा भला दिखता है, परन्तु एक तुझमें नीचता है कि ओले की वर्षा करता है जिससे खेती नष्ट हो जाती और फिर नहीं उगती। वैसे ही अज्ञानी की चेष्टा देखने भर को सुन्दर है और हृदय मूर्ख है, उनकी संगति बुरी है। ज्ञानवान् की चेष्टा देखने में भली नहीं, तो भी उसकी संगति कल्याण करती है। हे राजन् ! सबमें नीच कुत्ता है; क्योंकि जो कोई उसके निकट आता है, उसे काट लेता है। वह घर-घर में भटकता फिरता और मलिन स्थानों में जाता है। वैसे ही अज्ञानी जीव श्रेष्ठ पुरुषों की निन्दा करता है, पर मन में तृष्णा रखता है। और विषयरूपी मलिन स्थानों में गिरता है। वह मूर्ख मनुष्य मानो कुत्ता है, बल्कि कुत्ते से भी नीच है। ब्रह्मा ने सम्पूर्ण जगत् रचा है, परन्तु उसमें कुत्ता सबसे नीच है। पर कुत्ता क्या समझता है, सो सुनो।

एक पुरुष ने कुत्ते से प्रश्न किया कि हे कुत्ते ! तुझसे कोई नीच है, या नहीं ? तब कुत्ते ने कहा कि मुझसे भी नीच मूर्ख मनुष्य है, उससे मैं श्रेष्ठ हूँ , क्योंकि प्रथम तो मैं सूरमा हूँ , दूसरे जिसका भोजन खाता हूँ, उसकी रक्षा करता हूँ , और उसके द्वारे बैठा रहता हूँ ; पर मूर्ख से ये तीनों कार्य नहीं होते। इससे मैं उससे श्रेष्ठ हूँ। मूर्ख को देहाभिमान है, इससे वह कुत्ते से भी नीच है। हे राजन् ! परम अनर्थ का करण देहाभिमन है। देहाभिमान से जीव परम आपदा को प्राप्त होता है। वह

मूर्ख नहीं, मानो कौआ है, जो सबसे ऊँची टहनी पर बैठकर काँ-काँ करता है। हे राजन् ! कमल की खान तालाब के निकट एक कौआ जा निकला तो क्या देखा कि भौंरे बैठे कमल की सुगन्ध लेते हैं। उनको देखकर वह हँसने लगा और काँ-काँ शब्द करने लगा। तब उसको देख भौंरे हँसे कि यह कमल की सुगन्ध क्या जाने। वैसे जिज्ञासु भौंरे के समान हैं, जो परमार्थरूपी सुगन्ध लेते हैं। जो अज्ञानीरूपी कौए हैं, वे परमार्थरूपी सुगन्ध को नहीं जानते। इस कारण मूर्ख को देखकर जिज्ञासु हँसते हैं, जो आत्मरूपी सुगन्ध को नहीं जानता। अरे कौए ! तू क्यों हंस की बराबरी करता है ? हंस तो मोती चुगने वाले हैं और तू नीच स्थानों में रहने वाला है। मन्त्री ने कहा, हे कोयल ! तुम कमल को देखकर क्यों प्रसन्न होती हो ? प्रसन्न तो तब हो, जब वसन्तऋतु हो; पर यह तो वर्षाकाल है—ये फूल ओलों से नष्ट हो जावेंगे।

हे राजन् ! कोयलरूपी जो जिज्ञासु हैं, उनको यह उपदेश है। हे जिज्ञासु ! जो सुन्दर पदार्थ तुमको दिखते हैं, उनको देखकर तुम क्यों प्रसन्न होते हो ? प्रसन्न तो तब हो, जो ये सत्य हों, पर ये तो मिथ्या हैं और अविद्या के रचे हैं। तुम क्यों प्रसन्न होते हो ? अपनी बिरादरी में जाकर बैठो और अज्ञानी की संग छोड़ दो। जैसे कौआ हंसों में जा बैठता है तो भी उसका चित्त गन्दगी खाने में लगा होता है और हंस के आहार मोतियों की ओर देखता भी नहीं, वैसे ही अज्ञानी जीव कभी सन्तों की संगति में जा बैठता है, तो भी उसका चित्त विषयों की ओर ही घूमता रहता है, स्थिर नहीं होता। जैसे कोयल का बच्चा कौए को माता-पिता जानकर उनमें जा बैठता है, तब उनकी संगति से वह भी गन्दगी खाने वाला हो जाता है। इससे कोयल उसको बर्जन करती है कि अरे बेटा ! तू कौए की संगति में मत बैठ, अपने कुल में बैठ; क्योंकि तेरा भी नीच आहार हो जायगा। वैसे ही जिज्ञासु जो अज्ञानी का संग करता है, तो उसके अनुसार उसको भी विषयों की तृष्णा उत्पन्न होती है। तब ज्ञानी उसको बर्जन करते हैं कि रे जिज्ञासु ! तू मूर्ख अज्ञानियों में मत बैठ।

अपना कुल जो सन्तजन हैं, उनमें बैठ। जैसे कोयल के बच्चे को कौए सुख देने वाले नहीं होते, वैसे ही मूर्ख तुझको सुख देनेवाले नहीं होंगे। मन्त्री फिर कहने लगा—

अरी चील ! तू क्यों हंस की बराबरी करती है ? तू भी बहुत ऊँचे उड़ती है; परन्तु तुझमें हंस का कोई गुण नहीं है। जब तू मांस को पृथ्वी पर देखती है, तब वहाँ गिर पड़ती है, पर हंस नहीं गिरते। वैसे ही जो मूर्ख हैं, वे सन्तों की तरह ऊँचे कर्म भी करते हैं, परन्तु विषयों को देखकर गिरते हैं; पर संत नहीं गिरते। तो मूर्ख सन्तों की बराबरी कैसे करें ? फिर मन्त्री ने कहा, हे बगले ! तू हंस की बराबरी क्या करता है ? अपने पाखण्ड को छिपाकर तू अपने को हंस की नाईं उज्ज्वल दिखाता है, पर जब मछली निकलती है, तब तू खा लेता है। यही तुझ में अवगुण है। हंस मानसरोवर के मोती चुगने वाले हैं, और तू गढ़े में से तृष्णा करके मछली खाने वाला है। तू क्यों अपने को हंस मानता है ? वैसे ही अज्ञानी जीव विषयों की तृष्णा करते हैं और ज्ञानवान् विवेक से तृप्त हैं। उनकी बराबरी अज्ञानी क्यों करते हैं ?

हे राजन् ! जो हंस हैं, वे सदा अपनी महिमा में रहते हैं और अपना जो मोती का आहार है, उसको करते हैं; दूसरे किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं करते। जैसे चन्द्रमुखी कमल चन्द्रमा को देखकर शोभा पाते हैं—चन्द्रमा बिना शोभा नहीं पाते, वैसे ही बुद्धि भी तब शोभा पाती है, जब ज्ञान का उदय होता है—आत्मज्ञान के बिना बुद्धि शोभा नहीं पाती। बड़े-बड़े सुगन्धवाले वृक्षों का माहत्म्य भौंरे ही जानते हैं, और जीव नहीं जानते। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! समुद्र के किनारे पर राजा विपश्चित् से मन्त्रियों ने ऐसे कहकर फिर कहा, हे राजन् ! अब पृथ्वीनगर के मण्डलेश्वर स्थापित करो। हे राम ! जब मन्त्री ने ऐसे कहा, तब सब दिशाओं के मण्डलेश्वर स्थापित किये गये। तब चारों राजा, जो अपनी-अपनी दिशा के समुद्र पर बैठे थे, उन्होंने अपने-अपने मन्त्री से कहा, हे साधु ! अब हमने समुद्रपर्यन्त दिग्विजय की है और हमारी जय हुई है। अब चैत्य

जो दृश्य है, उस दृश्य विभूति को देखो। समुद्र के पार द्वीप है, फिर उस समुद्र के पार और द्वीप हैं; फिर समुद्र है और फिर द्वीप है। इसी प्रकार सात द्वीप और सात समुद्र हैं, पर उनके आगे क्या है ? इस प्रकार सब दृश्य देखने की इच्छा करके उन्होंने अग्निदेवता का आवाहन किया। उनकी दृढ़भावना से अग्निदेवता सम्मुख आकर स्थित हुए और बोले, हे राजन् ! जो कुछ तुमको कामना हो, सो माँगो। राजा ने कहा, हे भगवन्! ईश्वर की माया से पाञ्चभौतिक दृश्य में जो प्राणी हैं, उनको देखने की मेरी इच्छा है। उसे पूर्ण करो। हे देव ! हम इसी शरीर से दृश्य देखने जावें और जब यह शरीर न चल सके, तब मन्त्रसत्ता से जावें। पर जहाँ मन्त्र की भी गति नहीं, वहाँ सिद्धि से जावें। और जहाँ सिद्धि की भी गति नहीं, वहाँ मन के वेग से जावें और मृतक भी न हों। यह वर हमको दो।

हे राम ! जब इस प्रकार राजा ने कहा, तब अग्नि ने कहा कि ऐसा ही होगा। यों कहकर अग्नि अन्तर्धान हो गये। जैसे समुद्र से तरंग उठकर फिर लय हो जाती है, वैसे ही अग्नि अन्तर्धान हो गये। जब राजा विपश्चित् वर पाकर चलने को उद्यत हुआ, तब जितने मन्त्री और मित्र थे, वे रोने लगे और बोले, हे राजन् ! तुमने यह क्या निश्चय किया है? ईश्वर की माया का अन्त किसी ने नहीं पाया, इससे तुम अपने स्थान को चलो। यह क्या तुमने निश्चय किया है। हे राम ! इस प्रकार मन्त्री कहते रहे, परन्तु राजा ने उनको आज्ञा देकर एक-एक दिशा के समुद्र में प्रवेश किया। यों चारों दिशाओं में चारों राजाओं ने गमन किया। तब जो बड़े-बड़े शक्तिशाली मन्त्री थे, वे साथ ही चले। तब राजा मन्त्रशक्ति से समुद्र को नाँघ गया। कहीं पृथ्वी पर चला और कहीं ऊँचे चला। इसी प्रकार और द्वीप में जो निकला। तब बड़ा समुद्र आया उसमें प्रवेश कर गया। उसमें बड़े तरंग उछलते थे और उसका सौ योजन विस्तार था। कभी नीचे और कभी ऊपर को जाते थे। हे राम ! ऐसे तरंग उछलते, मानो पर्वत उछलते हों। जब वे ऊपर को उछलते, तब स्वर्ग तक उछलने लगते, और जब नीचे जाते, तब पातालपर्यन्त चलते जान पड़ते। जैसे

पानी में तृण फिरता है, वैसे ही राजा फिरे। इस प्रकार कष्ट से रहित राजा समुद्र और दिशा को नाँघ गया, परन्तु बीच में जो वृत्तान्त हुआ सो सुनो। क्षीरसमुद्र में एक मच्छ रहता था, जिसको सब देवता प्रणाम करते थे और जो विष्णु भगवान् के मच्छ अवतार के परिवार में था। जब राजा ने क्षीरसमुद्र में प्रवेश किया, तब राजा को उसने मुख में डाल लिया। पर राजा मन्त्र के बल से उसके मुख से निकल गया। आगे फिर एक मच्छ मिला, उसने भी उसे मुख में डाल लिया। पर उससे भी वह निकल गया।

फिर आगे पिशाचों का देश था। वहाँ राजा को पिशाच ने काम से मोहित किया। फिर उसने दक्षप्रजापति की कुछ अवज्ञा की, जिससे उन्होंने शाप दिया और राजा वृक्ष हो गया। निदान कुछ काल वृक्ष रहकर फिर छूटा तो एक देश में मेढक हुआ और सौ वर्ष तक खाईं में पड़ा रहा। फिर उससे छूटकर मनुष्य हुआ। तब किसी सिद्ध के शाप से शिला हो गया और सौ वर्ष तक शिला ही रहा। उसके उपरान्त अग्नि देवता ने शिला की योनि से छुड़ाया तो फिर मनुष्य हुआ। तब उस सिद्ध को आश्चर्य हुआ कि मेरे शाप को दूर करके यह मनुष्य क्योंकर हुआ–यह तो मुझसे भी बड़ा सिद्ध है। ऐसे जानकर उसने उसके साथ मैत्री की। इसी प्रकार दूसरे समुद्रों को भी यह नाँघता गया। क्षीरसमुद्र, खारी समुद्र और इक्षु रस के समुद्र को नाघँकर द्वीपों को नाँघता गया। फिर एक अप्सरा पर मोहित हुआ और बहुत काल में वहाँ से छूटा। फिर एक देश में पक्षी हुआ। बहुत काल तक पक्षी रहकर छूटा तो एक गोपी पिशाचिनी ने बैल बनाकर उसे रक्खा। तब दूसरे विपश्चित् ने बैल विपश्चित् को उपदेश करके जगाया। निदान हे राम ! चारों दिशाओं में चारों विपश्चित् घूमते फिरे। दक्षिण दिशा का राजा तो पिशाचिनी से मोहित हुआ, इससे उसने बहुत जन्म पाये, और पूर्व का राजा बहता हुआ मच्छ के मुख में चला गया। उसने निकाल दिया, इससे उसने वह अवस्था देखी। उत्तर दिशा का जो राजा हुआ, उसने वही अवस्था देखी। पश्चिम दिशा का हेमचू पक्षी की पीठ पर पहुँचा। उसने उसे कुशद्वीप में डाल दिया, इससे उसने

भी अनेक अवस्था पाई। हे राम ! एक-एक विपश्चित् ने भिन्न-भिन्न योनियों और अवस्थाओं का अनुभव किया।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि विपश्चित् एक ही था और उन चारों की संवित् भी एक ही थी, आकार भी एक ही था तो भिन्न-भिन्न रुचि कैसे हुई, जो एक पक्षी हुआ, दूसरा वृक्ष हुआ और वे वासना के अनुसार अनेक शरीर पाते फिरे। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसमें क्या आश्चर्य है ? उनकी संवित् एक ही थी, परन्तु भ्रम से भिन्नता हो जाती है। जैसे किसी पुरुष को स्वप्न होता है तो उसमें वह पशु-पक्षी हो जाता है और भिन्न-भिन्न रुचि भी हो जाती है, वैसे ही उसकी भी भिन्न-भिन्न रुचि हो गई। जैसे देखो कि शरीर तो एक ही होता है, पर उसमें नेत्र, श्रवण, नासिका, जिह्वा और त्वचा की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं, सो एक ही शरीर में अनेकता भासित होती है, वैसे ही उनकी एक ही संवित् थी, परन्तु संकल्प भिन्न-भिन्न हो गया था, इससे मन के फुरने से एक देह में अनेक भासित हुई। जैसे एक ही योगेश्वर इच्छा करके और शरीर धर लेता है और एक से अनेक हो जाता है। एक सहस्रबाहु अर्जुन था। वह किसी भुजा से युद्ध करता था, किसी भुजा से दान करता था और किसी एक से लेता-देता था। इसी प्रकार सब भुजाओं से चेष्टा करता था—वे भी भिन्न-भिन्न हुए ? एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न चेष्टा होती है। जैसे विष्णु भगवान् कहीं दैत्यों के साथ युद्ध और कहीं कर्म करते हैं, कहीं लीला करते हैं और कही शयन करते हैं, सो संवित् तो एक ही है, परन्तु चेष्टा भिन्न-भिन्न होती हैं, वैसे ही उनकी संवित् में अनेक रुचि हुई तो इसमें क्या आश्चर्य है ? हे राम ! इस प्रकार उन्होंने जन्म से जन्मान्तर को अविद्याकृत संसार में देखा। राम ने पूछा, हे भगवन् ! वे तो बोधवान् विपश्चित् थे और बोधवान् जन्म नहीं पाता, फिर उनका किस प्रकार जन्म हुआ ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वे विपश्चित् बोधवान् न थे, परन्तु बोध के निकट धारणा अभ्यास वाले थे। जो वे ज्ञानवान् होते तो दृश्यभ्रम देखने की इच्छा क्यों करते ? इससे वे ज्ञानवान् न थे—धारणा के अभ्यासी थे, अतः समुद्र को नाँघ गये और मच्छ के उदर से बलपूर्वक निकल आये। वह प्रसिद्ध योगशक्ति है। ज्ञान का लक्षण स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। राजा विपश्चित् ज्ञानवान् न थे, इस कारण देश-देशान्तर में घूमते रहे और ज्ञान बिना अविद्याकृत संसार में जन्म-मरण में फटकते रहे। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञानवान् योगीश्वरों को भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालों का ज्ञान कैसे होता है ? ज्ञानी योगी एक देश में स्थित हुआ सर्वत्र कर्मों को कैसे करता है, यह मुझसे कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अज्ञानी की बात, यह मैंने तुमसे कही है। जितना जगत् है, सब चिदाकाशस्वरूप है। जिनको ऐसी सत्ता का ज्ञान हुआ है, वे महापुरुष हैं। जैसे स्वप्न से कोई पुरुष जागे तो स्वप्न की सब सृष्टि उसे अपना ही स्वरूप लगती है और उसमें वह नहीं बँधता। हे राम ! यह सब नानात्व भासता है, सो नाना नहीं और अनाना भी नहीं, केवल आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, वैसे ही आत्मा अपने आपमें स्थित है। ये तीनों काल भी ज्ञानवान् को ब्रह्मरूप हो जाते हैं, सब जगत् भी ब्रह्मरूप हो जाता है और उसका द्वैतभाव मिट जाता है। ऐसे ज्ञानवान् को ज्ञानी ही जानता है और कोई नहीं जान सकता। जैसे अमृत को जो पीता है, वही उसके स्वाद को जानता है, और कोई जान नहीं सकता। हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तो तुल्य दिखती है, परन्तु ज्ञानी का निश्चय कुछ और है और अज्ञानी का निश्चय और। जिसका हृदय शान्त हुआ है, वह ज्ञानवान् है और जिसका हृदय त्रिताप से जलता है, वह अज्ञानी है। वह बँधा हुआ है। ज्ञानवान् का शरीर चूर्ण हो अथवा उसे राज्य प्राप्त हो तो भी उसको रागद्वेष नहीं उपजता। वह सदा ज्यों का त्यों एकरस रहता है। वह जीवन्मुक्त है, परन्तु उसका यह लक्षण कोई नहीं जान सकता, वह आप ही जानता है। शरीर को दुःख और सुख भी प्राप्त

होता है; वह मरता और रुदन भी करता है, हँसता, लेता और देता भी है और इस प्रकार की सब चेष्टा करता दिखता है, पर वह अपने निश्चय में न दुखी होता है, न सुखी होता है, न देता है और न लेता है, सदा ज्यों का त्यों रहता है।

हे राम ! व्यवहार तो उसका भी अज्ञानी की नाईं ही दिखता है, परन्तु हृदय से उसका यही निश्चय होता है। वह अद्‌भुत पद में स्थित रहता है, कभी उससे नहीं गिरता। उसका परम उदितरूप होता है। वह राग सहित भी दिखता है। पर हृदय से राग किसी में नहीं करता। क्रोध करता भी दिखता है, पर उसको क्रोध कभी नहीं होता। जैसे आकाश शुभ पदार्थ को धारण करता है और धुएँ और बादल से ढका भी दिखता है, पर किसी का स्पर्श नहीं करता; वैसे ही ज्ञानवानों में सब क्रिया दिखती है, पर अपने निश्चय में उसे कोई स्पर्श नहीं करती। जैसे नट स्वाँग ले आता है और चेष्टा करता दीखता है, पर हृदय से अपने नटत्व भाव में उसे निश्चय होता है, वैसे ही ज्ञानवान् को भी सब क्रियाओं में अपने आत्मभाव का निश्चय होता है। जैसे जिसको स्वप्न आता है, वह यदि स्वप्न भी अपना पूर्वरूप स्मरण रखता है तो स्वप्न के पदार्थ में बर्तता है, तो भी स्वप्न के सुख में अपने को सुखी और दुख में दुखी नहीं मानता-सब सृष्टि उसको अपना ही स्वरूप भासित होती है, वैसे ही ज्ञानवान् को स्वरूप के निश्चय से सुख-दुःख का क्षोभ नहीं होता। जो ऐसे पुरुष हैं, उनको दुःख से कष्ट होता है ? जैसी उनकी इच्छा होती है, वैसे ही सिद्धि होकर भासती है। हे राम ! यह जितनी सृष्टि है, सब चित्‌सत्ता में है। योगीश्वर पुरुष उसी में स्थित होकर जहाँ पहुँचना चाहते हैं, वहाँ अन्तवाहक से जा पहुँचते हैं। तीनों काल उनको विद्यमान होते हैं। साधन कुछ नहीं, परन्तु ज्ञानी अवश्य किसी काम के लिए यत्न नहीं करते-जैसा प्राप्त होता है, उसी में प्रसन्न रहते हैं। हे राम ! एक समय ब्रह्माजी ऊर्ध्वमुख से सामवेद का गायन करते थे। उन्होंने सदाशिव का मान न किया, तब सदाशिव ने अपने नख से

ब्रह्मा का पाँचवाँ शीश काट डाला। परन्तु ब्रह्माजी के मन में कुछ क्रोध न फुरा। उन्होंने विचारा कि मैं चिदाकाश हूँ, सो अब भी चिदाकाश हूँ, मेरा तो कुछ गया नहीं। सिर से मुझे क्या प्रयोजन है ? न कुछ हानि है और न कुछ लाभ।

हे राम ! इस प्रकार सब विश्व रचनेवाले ब्रह्माजी का सिर कटा। जो वे फिर सिर लगा लेते तो समर्थ थे, पर उनको सिर लगाने का कुछ प्रयोजन न था और न लगाने में कुछ हानि भी न थी। उनका भी निश्चय सदा आत्मपद में है, इस कारण उन्हें कुछ क्षोभ न हुआ। हे राम ! काम के सदृश और कोई विकार नहीं है। जो सदाशिव पार्वती को बायें अंग में धारण करते हैं, उन्होंने ही जिस कामदेव के पाँच बाण चलने से सब विश्व मोहित होता है, उसी काम को भस्म कर डाला। तो क्या स्त्री को वह छोड़ नहीं सकते थे ? पर उनको रागद्वेष कुछ नहीं है, इस कारण त्याग नहीं करते। त्यागने से उन्हें कुछ अर्थ की सिद्धि नहीं होती और रखने से कुछ अनर्थ नहीं होता। जो कुछ प्रवाहपतित कार्य होता है, उसको करते हैं, खेद नहीं मानते, इसी से वे जीवन्मुक्त हैं। विष्णुजी सदा विक्षेप में रहते हैं। आप भी कर्म करते हैं और लोगों से भी कराते हैं। शरीर धारण करते हैं और त्याग भी देते हैं। इत्यादि क्षोभ वह रहते हैं। वह इसे त्यागने को समर्थ भी हैं, परन्तु त्यागने में उनका कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता और करने में कुछ हानि नहीं होती। उनको लोग कई गुणों से युक्त सगुण जानते हैं, मुझको तो उनका शुद्ध चिदाकाशरूप भासित होता है। मूर्ख कहते हैं कि विष्णु श्यामसुन्दर हैं, परन्तु वे शुद्ध चिदाकाशरूप हैं और उनको सदा शुद्धस्वरूप में अहंप्रत्यय है।

आकाशमार्ग में जो सूर्य स्थित हैं, वे कभी ऊपर और कभी नीचे जाते हैं। तो क्या उनमें स्थिर होने की सामर्थ्य नहीं है ? है, परन्तु चलना और ठहरना, दोनों उनके लिए समान हैं। वह खेद से रहित होकर प्रवाहपतित कार्य करते हैं, इससे जीवन्मुक्त हैं। जीवन्मुक्त चन्द्रमा भी हैं,

वह घटते-घटते सूक्ष्म होते दिखते हैं और कभी बढ़ते जाते हैं। शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्ष उनसे होते हैं। वह केवल रात्रि को प्रकाश करते हैं। तो क्या वे अपनी क्रिया को त्याग नहीं सकते ? त्याग सकते हैं; परन्तु क्षोभ से रहित होकर प्रवाहपतित कार्य में बचरते हैं, इससे जीवन्मुक्त हैं। अग्नि सदा दौड़ता रहता है और यज्ञ और होम की आहुतियाँ भोजन करने को सब ओर जाता है। तो क्या उसको गृह में बैठने की सामर्थ्य नहीं है ? अवश्य है, परन्तु जो कुछ अपना आचार है, उसको वह नहीं त्यागता, क्योंकि ठहरने में उसका कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता और चलने में कुछ हानि नहीं होती—दोनों में वह तुल्यरूप से जीवन्मुक्त हैं। हे राम ! बृहस्पति और शुक्र को बड़ा क्षोभ रहता है। बृहस्पति देवताओं की जय के लिए यत्न करते हैं और शुक्र दैत्यों की जय के लिए यत्न करते रहते हैं। तो क्या इनको त्यागने की सामर्थ्य नहीं है ? परन्तु दोनों इनको तुल्य हैं, इस कारण खेद से रहित होकर अपने कार्य में लगे रहते हैं, इससे जीवन्मुक्त पुरुष हैं। हे राम ! राज्य में बड़े क्षोभ होते हैं, पर राजा जनक आनन्दसहित राज्य करते हैं और जीवन्मुक्त हैं। प्रह्लाद, बलि, वृत्तासुर, और मुर आदि दैत्य जीवन्मुक्त हुए हैं। वे समताभाव को लिये, खेद से रहित नाना प्रकार की चेष्टा करते और हृदय से शीत और जीवन्मुक्त रहे हैं। राजा नल, दिलीप और मान्धाता आदि ने भी समताभाव से राज्य किया है। वे भी जीवन्मुक्त हैं। ऐसे ही अनेक राजा हुए हैं। उनमें रागवान् भी देखे गये हैं, परन्तु हृदय में वे रागद्वेष से रहित शान्ति चित्त थे।

हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तुल्य होती है, परन्तु भेद इतना ही है कि ज्ञानी का चित्त शान्त और अज्ञानी का चित्त क्षोभ में होता है। अज्ञानी इष्ट की प्राप्ति में हर्षवान् होता है और अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष करता है, और ग्रहण-त्याग की इच्छा से जलता है, क्योंकि उसको संसार सत्य भासित होता है। जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसके भीतर न राग है, न द्वेष। स्वाभाविक शरीर की जो प्रारब्ध होती है, उसमें उसे कुछ भी अपना अभिमान नहीं होता। उसके निश्चय में सब आकाशरूप

है। जगत् कुछ बना नहीं-भ्रममात्र है। जैसे आकाश में नीलिमा भ्रममात्र है, और दूर नहीं होती, वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासित होता है, परन्तु है नहीं। जैसे आकाश में नाना प्रकार के तरुवर दिखें, वैसे ही आत्मा में जगत् भासित होता है। जैसे काठ की पुतली काठरूप होती है, वैसे ही यह जगत् भ्रमरूप है। जो कुछ भ्रम से भिन्न भासता है, वह सब भविष्यन्नगर में असत्य है और जो कुछ तुम्हें देख पड़ता है, वह कुछ नहीं, केवल सब कलना से रहित, शुद्धसंवित्, जड़ता बिना, मुक्तस्वभाव, एक, अद्वैत आत्मसत्ता स्थित है। वह केवल आकाशरूप है। उसमें जगत् भी वही रूप है। वह पाषाण की शिला सदृश ठोस और मौन है। तुम भी उसी रूप में स्थित हो जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तलक्षणवर्णनन्नाम
द्विशताधिकैकोनविंशतितमस्सर्गः ।। २१९ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! उस राजा विपश्चित् ने फिर क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो उनकी दशा हुई, सो सुनो। पश्चिम दिशा का विपश्चित् वन में विचरता फिरता था कि एक मत्त हाथी के आगे जा पड़ा और उसने उसे पहाड़ की कन्दरा में मार डाला। दूसरे विपश्चित् को राक्षस ले गया और बड़वाग्नि में डाल दिया। वहाँ अग्नि ने उसे भक्षण कर लिया। तीसरे विपश्चित् को एक विद्याधर स्वर्ग में ले गया। उसने वहाँ इन्द्र का मान न किया, इसलिए उसको इन्द्र ने शाप दिया और वह भस्म हो गया। इसी प्रकार चौथा भी मरा। उसके एक मच्छ ने आठ टुकड़े कर डाले। जैसे प्रलयकाल में लोक भस्म हो जाते हैं, वैसे ही चारों विपश्चित् मर गये। तब उनकी संवित् आकाशरूप हुई, परन्तु उनको जगत् देखने का संस्कार था, इससे उनकी आकाशरूप संवित् फिर जगी, उससे जाग्रत् भासित होने लगा। उसने पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, स्थावर, जंगमरूप जगत् को देखा और अन्तवाहक शरीर से वे चेष्टा करने लगे। उनमें से एक पश्चिम दिशा का विपश्चित् विष्णु भगवान् के स्थान में मरकर निर्वाण हो गया इससे उसकी संवित् में सब अर्थ शून्य हो गये और

वह वहाँ मुक्त हुआ। एक मच्छ के उदर में सहस्र वर्ष पर्यन्त रहा। फिर एक देश का राजा हुआ और वहाँ राज्य करने लगा। एक चन्द्रमा के निकट गया, वहाँ मरकर चन्द्रमा के लोक को पहुँचा। और एक बहता हुआ समुद्र के पार हुआ और आगे चौरासी हजार योजन पृथ्वी को नाँघता गया। इसी प्रकार चारों फिर जिये और समुद्र, वन और पर्वतों को नाँघते गये।

सबको आगे दशसहस्र योजन सुवर्ण की पृथ्वी मिली, जहाँ देवताओं के विचरने के स्थान हैं। उसको भी वे नाँघते गये। आगे लोकालोक पर्वत आया, जिसने सब पृथ्वी को घेर लिया है। जैसे वृक्षों से वन का आवरण होता है, वैसे ही उस पर्वत ने पचास कोटि योजन पृथ्वी का आवरण किया है। वह पचास हजार योजन ऊँचा है—वे उस लोकालोक पर्वत में पहुँचे, जहाँ तारों का नक्षत्रचक्र घूमता है। उसको भी वे नाँघ गये। उसमें आगे एक शून्य नक्षत्र था। वह महाशून्य था। वहाँ पृथ्वी, जल आदि कोई तत्त्व न था। एक शून्य आकाश है, जहाँ न कोई स्थावर पदार्थ है, न कोई जंगम पदार्थ है, न कोई उपजता है न कभी मिटता है। उसको भी उन्होंने देखा। इसी प्रकार सम्पूर्ण भूगोल उन्होंने देखा। राम ने पूछा, हे भगवन् ! भूगोल क्या है ? किसके आश्रय में है ? उसके ऊपर क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे गेंद होता है, वैसे भूगोल है और वह संकल्प के आश्रय में है। उसके सब ओर आकाश है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सहित यह चक्र फिरता है। हे राम ! यह कोई वस्तु बुद्धि से नहीं बनी, संकल्प से बनी है। जो वस्तु बुद्धि से बनी होती है, वह क्रम से स्थित होती है, पर यह तो विपर्ययरूप से स्थित है। पृथ्वी के चहुँफेर दसगुना जल है। उसके बाद दसगुनी अग्नि है। उसके उपरान्त दसगुना वायु है और फिर ब्रह्माण्ड खप्पर है।

वह खप्पर एक नीचे और एक ऊपर को गया है उसके मध्य में जो पोल है, वह आकाश है, जो वज्रसार की नाईं है। उसका विस्तार

अनन्तकोटि योजन है। उस ब्रह्माण्ड का उसमें भूगोल है। उसके उत्तर में सुमेरु पर्वत, पश्चिम में लोकालोक पर्वत है, और ऊपर नक्षत्रचक्र घूमता है। जहाँ वह जाता है, वहाँ प्रकाश होता है, और जहाँ वह नहीं होता, वहाँ तमरूप भासित होता है सो सब संकल्प की रचना है। जैसे बालक संकल्प से पत्थर का बट्टा रचे, वैसे ही चैतन्यरूपी बालक ने यह संकल्परूपी भूगोल रचा है। हे राम ! जैसे-जैसे उस समय उसमें निश्चय हुआ है वैसे ही वैसे वह स्थित हुआ है। जहाँ पृथ्वी रची है, वहीं वह स्थित है। जहाँ खात रचा है, वहाँ खात ही है। परन्तु जैसे स्वप्न में अविद्यमान प्रतिभा होती है वैसे ही भूगोल है। हे राम ! जिनको ऐसा ज्ञान है कि सुमेरु में देवता और पूर्वादि दिशाओं में मनुष्य आदि जीव रहते हैं, वे पण्डित होने पर भी मूर्ख है; क्योंकि ये देवता आदि तो भ्रममात्र हैं, कुछ बने नहीं। जो मुझ सरीखे तत्त्वेत्ता हैं, उनको ज्ञाननेत्र से आत्मसत्ता ज्यों की त्यों दिखती है, और जो अज्ञानी मन सहित षट् इन्द्रियों से देखते हैं, उनको जगत् दिखता है ज्ञानवानों को परब्रह्म सूक्ष्म ज्यों का त्यों भासता है। वे जगत् को असत् जानते हैं। जैसे आकाश में अनहोती नीलिमा दिखती है, वैसे ही आत्मा में अनहोता जगत् दिखता है। जैसे नेत्र दोष से आकाश में तरुवर दिखते हैं, वैसे ही अज्ञान से आत्मा में जगत् भासित होता है। सो वह केवल आभासमात्र है।

हे राम ! जगत् उपजा भी दिखता है। और नष्ट होता भी दिखता है, परन्तु बना कुछ नहीं। जैसे संकल्प का रचा नगर अपने मन में भासित होता है, वैसे ही यह जगत् मन में फुरता है। यह सम्पूर्ण भूगोल संकल्प में स्थित है। जैसे बालक संकल्प करके पत्थर का बट्टा रचे, वैसे ही भूगोल है। यह ब्रह्माण्ड सौ कोटि योजन पर्यन्त विस्तृत है। उसका एक भाग नीचे गया है और एक ऊपर को। उसमें चैतन्यरूपी बालक ने यह भूगोल रचा है, सो संकल्प के आश्रय से खड़ा है। जैसे आदि नीति हुई है, वैसे ही भासता है। इस पृथ्वी के उत्तर में सुमेरु पर्वत है, पश्चिम ओर लोकालोक पर्वत है और ऊपर तारों और नक्षत्रों का चक्र घूमता है।

लोकालोक के जिस ओर वह आता है, उस ओर प्रकाश होता है। भूगोल ऐसे है, जैसे गेंद होता है। उसके एक ओर पाताल, एक ओर स्वर्ग है और एक ओर मध्यमण्डल है। आकाश सब ओर है। पातालवासी जानते हैं कि हम ऊपर हैं, आकाशवासी जानते हैं कि हम ऊपर हैं और मध्यवासी जानते हैं कि हम ऊपर हैं। इस प्रकार भूगोल है। इसके ऊपर महातमरूप एक शून्य खात है। वहाँ न पृथ्वी है, न कोई पहाड़ है, न स्थावर है, न जंगम है और न कुछ उपजा है। उसके ऊपर एक सुवर्ण की दीवार है, जिसका विस्तार दस सहस्र योजन है। उसके ऊपर दसगुना जल है। वह पृथ्वी को चहुँफेर से घेरे है। उससे परे दसगुना अग्नि है। फिर दसगुना वायु है। उसके आगे आकाश है। फिर ब्रह्माकाश महाकाश है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। परन्तु ये तत्त्व जैसे तृण के आश्रय से कपूर ठहरता है, वैसे ही पृथ्वीभाग के आश्रय से ठहरे हैं। वास्तव में यह शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का चमत्कार है, जो आकाशवत् निर्मल है। उसमें क्षोभ नहीं है। वह परमशान्त, अनन्त और सबका अपना रूप है।

हे राम ! अब फिर विपश्चित् का वृत्तान्त सुनो। जब वे लोकालोक पर्वत पर पहुँचे, तब एक शून्य खात (खाई) उनको देख पड़ा। वह पर्वत से उतरकर खात में जा पड़े। वह खात भी पर्वत के शिखर पर था। वहाँ शिखर की नाईं बड़े-बड़े पक्षी भी रहते थे, इस कारण उन पक्षियों ने चोंचों से इनके शरीर चूर्ण किये। तब उन्होंने अपने स्थूल शरीर को त्यागकर अपना सूक्ष्म अन्तवाहक शरीर जाना। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आधिभौतिकता कैसे होती है और अन्तवाहक क्या है ? फिर उन्होंने क्या किया ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे कोई संकल्प से दूर से दूर चला जाय तो जिस शरीर में जाय वह अन्तवाहक है; और जो पाञ्चभौतिक शरीर प्रत्यक्ष दिखता है वह आधिभौतिक है। जब मार्ग से कहीं जाने को चित्त में संकल्प उठता है, तब स्थूल शरीर गये बिना नहीं पहुँच सकता और जब मार्ग में चले तब पहुँचता है, वही आधिभौतिक है और यह प्रमाद से होता है। जैसे रस्सी को भूलने से सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा

के अज्ञान से आधिभौतिक शरीर भासित होता है, और जैसे कोई मनोराज्य का पुर बनाकर उसमें आप भी एक शरीर बनकर चेष्टा करता फिरे तो उसे जब तक पूर्व का शरीर नहीं भूलता, तब तक वह संकल्प शरीर से चेष्टा करता है। वही अन्तवाहक है। उस शरीर को संकल्पमात्र जानना 'विशेष बुद्धि' कहलाता है, आत्मबोध हुए बिना जो उस संकल्पशरीर में दृढ भावना होती है, तो उसका नाम आधिभौतिक होता है—वह घट-बढ़ कहाता है। इससे जब तक शरीर का स्मरण है, तब तक आधिभौतिकता नहीं निवृत्त होती। और जब शरीर का विस्मरण होता है, तब आधिभौतिकता मिट जाती है। विपश्चित् आत्मबोध से रहित थे और जहाँ चाहते थे वहाँ चले जाते थे, पर स्वरूप से न कुछ अन्तवाहक है और न कुछ आधिभौतिक है। प्रमाद से ये सब आकार भासित होते हैं। वास्तव में सब चिदाकाशरूप है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं बनी, सब वही है, और उसी के प्रमाद से विपश्चित् अविद्याकृत जगत् को देखने चले थे। वह अविद्या भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं—ब्रह्म ही है, तब ब्रह्म का अन्त कहाँ आवे ? वहाँ से वे चले, परन्तु जानते थे कि हमारा अन्तवाहक शरीर है।

निदान वे सब पृथ्वी को नाँघ गये। फिर जल को भी नाँघ गये। उसके बाद जो सूर्य सा दाहक अग्नि का आवरण प्रकाशमान है, उसको भी नाँघकर मेघ और वायु के आवरण को भी नाँघ गए। फिर आकाश को भी नाँघ गये। उसके बाद ब्रह्माकाश था, जहाँ उनको संकल्प के अनुसार फिर जगत् भासित होने लगा, पर उसको भी वे नाँघ गये। फिर आगे ब्रह्माकाश मिला, फिर उनको पञ्चभूत भासित हुए। उनके आवरण को भी वे नाँघ गये। फिर उस ब्रह्माण्डकपाट के बाद तत्त्वों को नाँघकर ब्रह्माकाश मिला। उसमें एक और पाञ्चभौतिक ब्रह्माण्ड था। उसको भी नाँघ गये, पर अन्त न पाया। स्वरूप के प्रमाद से दृश्य का अन्त जानने को वे भटकते फिरे, पर अविद्यारूप संसार का अन्त कैसे आवे ? यह जीव तब तक अन्त लेने को भटकता

फिरता है, जब तक अविद्या नहीं नष्ट होती; जब अविद्या नष्ट होगी, तभी अविद्यारूप संसार का अन्त होगा। हे राम ! जगत् कुछ बना नहीं, वही ब्रह्माकाश ज्यों का त्यों स्थित है। उसका न जानना ही संसार है। जब तक उसका प्रमाद है, तब तक जगत् का अन्त न आवेगा। जब स्वरूप का ज्ञान होगा, तब अन्त आवेगा। सो वह जानना क्या है ? चित्त का निर्वाण करना ही जानना है। जब चित्त का निर्वाण होगा; तब जगत् का अन्त आवेगा। जब तक चित्त भटकता फिरता है, तब तक संसार का अन्त नहीं आता। इससे चित्त का नाम ही संसार है। जब चित्त आत्मपद में स्थित होगा, तब जगत् का अन्त होगा। इस उपाय के बिना शान्ति नहीं प्राप्ति होती।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चिदुपाख्यानवर्णनं
नाम द्विशताधिकविंशतिस्सर्गः ।। २२० ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वे जो दो विपश्चित् थे, उनकी क्या दशा हुई, यह भी कहो। वे तो दोनों एक ही थे। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक का तो निर्वाण हुआ था, दूसरा ब्रह्माण्डों को नाँघता-नाँघता और एक ब्रह्माण्ड में गया। वहाँ उसको सन्तों का संग प्राप्त हुआ। उनकी संगति से उसको ज्ञान हुआ। ज्ञान को पाकर वह भी निर्वाण हो गया। बाकी एक अब तक दूर फिरता है और एक यहाँ पहाड़ की कन्दरा में मृग होकर बिचरता है। हे राम ! यह जगत् आत्मा का आभास है। जैसे सूर्य की किरणों में जल दिखता है और जब तक किरणें हैं, तब तक जलाभास निवृत्त नहीं होता, वैसे ही जब तक आत्मसत्ता है, तब तक जगत् का चमत्कार निवृत्त नहीं होता और आत्मा के जानने से जगत्सत्ता नहीं रहती। जैसे किरणों के अदृश्य होने से जलाभास नहीं रहता और जो जल दिखता है तो भी किरणों ही की सत्ता भासित होती है, वैसे ही आत्मा के जाने से आत्मा की सत्ता ही भासती है—भिन्न जगत् की सत्ता नहीं भासित होती। राम ने पूछा, हे भगवन् ! विपश्चित् एक ही था तो एक ही संवित् में भिन्न-भिन्न वासना

कैसे हुई ? एक मुक्त हो गया, एक मृग होकर फिरता रहा और एक आगे निर्वाण हो गया—वह भिन्नता कैसे हुई ? संवित् तो एक ही थी, उसमें कम और अधिक फल कैसे प्राप्त हुए ! वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वासना देश, काल और पदार्थों से होती है। उसमें जिसकी दृढ़ भावना होती है, उसकी जय होती है। जैसे एक पुरुष ने मनोराज्य से अपनी चार मूर्तियाँ कल्पित कीं और उनमें भिन्न-भिन्न वासना स्थापित की, पर संवित् तो एक है, यदि पहले का शरीर भूलकर उसमें दृढ़ हो गये तो जैसी-जैसी भावना उनके शरीर में दृढ़ होती है, वही प्राप्त होती है, वैसे ही संवित् में नाना प्रकार की वासनाएँ फुरती हैं। जैसे एक ही संवित् स्वप्न में नाना प्रकार रखती है और वासना भिन्न-भिन्न होती है, वैसे ही आकाशरूप संवित् में भिन्न-भिन्न वासना होती है।

हे राम ! उनकी संवित् एक थी, परन्तु देश, काल और क्रिया से वासना भिन्न-भिन्न हो गई और पूर्व की संवित् स्मृति भूल गई, उससे उन्होंने न्यून और अधिक फल पाये। उस संवित् का क्या रूप है ? हे राम ! देश से देशान्तर को जो संवेदन जाता है, उसके बीच जो संवित्सत्ता है, वह ब्रह्मसत्ता है। जाग्रत् के आकार को छोड़ने और स्वप्न न आने के मध्य जो ब्रह्मसत्ता है, वह किञ्चनरूप जगत् होकर भासित होती है, परन्तु किञ्चन भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं। वह एक है, न दो है, एक कहना भी नहीं होता तो दो कहाँ हो और जगत् कहाँ हो ? यही अविद्या है कि न होने पर भी भासती है। जैसी-जैसी वासना फुरती है, उसमें जो दृढ़ होती है, उसकी जय होती है। इस कारण एक विपश्चित् जनार्दन (विष्णु) के स्थान में निर्वाण को प्राप्त हो गया और दूसरा दूर से दूर ब्रह्माण्ड को नाँघता गया। उसे सन्तों का संग प्राप्त हुआ, जिससे ज्ञान उदय होकर वासना मिट गई और उसका अज्ञान नष्ट हो गया। जैसे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही जब उसका अज्ञान नष्ट हो गया, तब वह उस पद को प्राप्त हुआ जिसके अज्ञान से जीव दूर से दूर भटकता है। तीसरा दूर से दूर भटकता फिरता है और चौथा

पहाड़ की कन्दरा में मृग होकर बिचरता है। हे राम ! जगत् कुछ वस्तु नहीं, अज्ञान वश जीव भटकता है, इसलिए अज्ञान ही जगत् है। जब तक अज्ञान है तब तक जगत् है। जब ज्ञान उदय होता है। तब वह आज्ञान का नाश करता है और तभी जगत् का आभाव हो जाता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो मृग हुआ, वह कहाँ-कहाँ फिरा और कहाँ-कहाँ स्थित हुआ ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! दो ब्रह्माण्ड को नाँघते दूर से दूर चले गये थे। उनमें से एक अब तक चला जाता है और पृथ्वी, समुद्र, वायु, आकाश उसकी संवित् में फुरते हैं। यह तो दूर से दूर चला गया है और हमारी आधिभौतिक दृष्टि का विषय नहीं है। दूसरा ब्रह्माण्ड को नाँघता गया था, पर अब इस जगत् में पहाड़ की कन्दरा का मृग हुआ है। वह हमारी इस दृष्टि का विषय है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ये तो दूर गये थे और उनमें से एक इस जगत् में अब मृग हुआ है, तो तुमने यह कैसे जाना कि आगे वह ब्रह्माण्ड में था और अब इस जगत् में है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं ब्रह्म हूँ और सब ब्रह्माण्ड मेरे अंग हैं। मुझको सबका ज्ञान है। जैसे अवयवी पुरुष अपने अंगों को जानता है कि यह अंग फुरता है और यह नहीं फुरता, वैसे ही मैं सबको जानता हूँ। जिसे-जिसे यह नाँघता गया है, उसे बुद्धि के नेत्रों से मैं जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं जान सकते। जैसे समुद्र में अनेक तरंग उठते हैं और समुद्र सबको जानता है, वैसे ही मैं समुद्ररूप हूँ और मुझ में ब्रह्माण्डरूपी तरंगे उठी हैं, इससे मैं सबको जानता हूँ। हे राम ! वह जो मृग दूर ब्रह्माण्ड में फिरता है। वह विपश्चित् यह सामान्य मृग नहीं है, परन्तु जैसे है, सो सुनो। हे राम ! एक ब्रह्माण्ड इस हमारे ब्रह्माण्ड सा है, जिसका ऐसा ही आकार है, ऐसी ही चेष्टा है, एक ही सा जगत् है और स्थावर-जंगम सब एक ही से हैं। वहाँ जो देश, काल और क्रिया होती है, वह इसी के समान होती है। जैसे नाम, रूप और आकार यहाँ होते हैं, जैसे बिम्ब का प्रतिबिम्ब तुल्य ही होता है। और जैसे एक ही आकार का एक प्रतिबिम्ब जल में और दूसरा दर्पण में पड़ता

है वे दोनों तुल्य हैं, वैसे ही दोनों ब्रह्माण्ड एक समान हैं और ब्रह्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस कारण यह मृग विपश्चित् है, इसी निश्चय को धारण किये हुए है। यह और वह जो पहाड़ की कन्दरा में है दोनों तुल्य हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह विपश्चित् अब कहाँ है और उसका क्या आचरण है ? अब मैं जानता हूँ कि उसका कार्य हुआ है। अब चलकर मुझको दिखाओ और उसको दर्शन देकर अज्ञान पाश से मुक्त करो।

इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले, हे अंग ! जब रामजी ने इस प्रकार कहा, तब मुनिशार्दूल वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जहाँ तुम्हारा लीला का स्थान है और तुम क्रीड़ा करते हो उस जगह वह मृग बँधा हुआ है। यह तुमको तिरदेश के राजा ने दिया है और बहुत सुन्दर है, इस कारण तुमने उसे रक्खा है। उसको मँगाओ। तब रामजी ने अपने सखाओं से, जो निकटवर्ती थे, कहा कि उस मृग को सभा में ले आओ। हे राजन् ! जब इस प्रकार रामजी ने कहा, तब वे सभा में उस मृग को ले आये और जितने श्रोता सभा में बैठे थे वे बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुए। वह मृग बड़ी गर्दन से बड़ा सुन्दर और कमल दल से विशाल नेत्रवाला था। कभी वह घास खाने लगता, कभी सभा में खेलता और कभी ठहर जाता। तब रामजी ने कहा, हे भगवन् ! आप इसको कृपा करके मनुष्य बना दीजिये और उपदेश करके जगाइये, जिसमें हमारे साथ प्रश्न-उत्तर करे। अभी तो यह प्रश्न-उत्तर नहीं करता। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार इसको उपदेश न लगेगा, क्योंकि जिसका कोई इष्ट होता है, उसी से उसको सिद्धि होती है। इससे मैं इसके इष्ट को ध्यान करके बुलाता हूँ-इससे इसका कार्य सिद्ध होगा। वाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! इस प्रकार कहकर वशिष्ठजी ने कमण्डलु हाथ में लेकर तीन बार आचमन किया और पद्मासन बाँध, नेत्र मूँद, ध्यान में स्थित होकर अग्नि का आवाहन किया। हे अग्नि देव ! यह तुम्हारा भक्त है, इसकी सहायता और इस पर दया करो। तुम सन्तों का दयालु स्वभाव है। जब वशिष्ठजी ने ऐसे कहा, तब सभा

में बड़े तेजस्वी अग्नि की ज्वाला काष्ठ-अंगार से रहित प्रकट हुई और जलने लगी। जब ऐसे अग्नि जगी, तब वह मृग उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसके चित्त में बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई।

तब वशिष्ठजी ने नेत्र खोलकर अनुग्रह सहित मृग की ओर देखा। उससे उसके सम्पूर्ण पाप भस्म हो गये। वशिष्ठजी ने अग्नि से कहा, हे भगवन्, यह तुम्हारा भक्त है। अपनी पहले की भक्ति स्मरण करके इस पर दया करो और इसके मृगशरीर को दूर करके इसको विपश्चित् शरीर दो, जिसमें यह अविद्याभ्रम से मुक्त हो। हे राजन् ! इस प्रकार अग्नि से कहकर वशिष्ठजी राम से बोले, हे राम ! अब यह मृग अग्नि में प्रवेश करेगा, तब इसका मनुष्य शरीर हो जायगा। वशिष्ठजी ऐसे कहते ही थे कि वह मृग अग्नि को देखकर एक चरण पीछे को हटा और उछलकर अग्नि में प्रवेश कर गया। जैसे बाण निशाने में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसने प्रवेश किया। हे राजन् ! उस मृग को कुछ खेद न हुआ, बल्कि उसको अग्नि आनन्दरूप देख पड़ा। तब उसका मृगशरीर अन्तर्धान हो गया। वह महाप्रकाशरूप मनुष्यशरीर धारण किये अग्नि से निकला। जैसे कपड़े के ओढ़े से स्वाँगिया स्वाँग रखकर निकल आता है, वैसे ही वह निकल आया। वह अति सुन्दर वस्त्र पहने हुए, शीश पर मुकुट, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला और यज्ञोपवीत धारण किये था। अग्नि सो वह तेजस्वी था। सभा में जो लोग बैठे थे, उनसे भी अधिक उसका तेज था—मानो अग्नि को भी लज्जित कर रहा हो। जैसे सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा का प्रकाश फीका हो जाता है, वैसे ही वह सबसे अधिक प्रकाशमान हो गया। फिर जैसे समुद्र से तरंग निकलकर लीन हो जाता है, वैसे ही वह अग्नि अन्तर्धान हो गये। यह देखकर राम को आश्चर्य हुआ और सब सभा विस्मय को प्राप्त हुई।

तब बड़े प्रकाश से युक्त विपश्चित् निकलकर ध्यान में लग गया। विपश्चित् से लेकर इस शरीर तक अपने सब शरीर स्मरण करके नेत्र खोल वशिष्ठजी के निकट आ साष्टांग प्रणाम कर बोला, हे ब्राह्मण ! ज्ञान

के सूर्य और प्राण के दाता ! तुमको मेरा नमस्कार है। हे राजन् ! जब इस प्रकार उसने कहा तब वशिष्ठजी ने उसके शिर पर हाथ रक्खा और कहा, हे राजन् ! तू उठ खड़ा हो। अब मैं तेरी अविद्या दूर करूँगा और तू अपने स्वरूप को प्राप्त होगा। तब राजा विपश्चित् ने उठकर राजा दशरथ को प्रणाम किया और बोला, हे राजन् ! तुम्हारी जय हो। राजा दशरथ ने आसन से उठकर कहा, हे राजन् ! तुम बहुत दूर फिरते रहे हो, अब यहाँ मेरे पास बैठो। विश्वामित्र आदि जो ऋषि बैठे थे, उनको यथायोग्य प्रणाम करके राजा विपश्चित् बैठ गया। राजा दशरथ ने विपश्चित् को, जो बड़े प्रकाश को धारण किये था, भास कहके बुलाया और कहा, हे भास ! तुम संसारभ्रम के लिए चिरकाल फिरते रहे हो; थके होगे, अब विश्राम करो और जो-जो देश-काल-क्रिया की हैं और देखा है, सो कहो। यह आश्चर्य है कि अपने मन्दिर में सोये हो और निद्रादोष से गढ़े में गिरते फिरे और देश-देशान्तर में भटकते फिरे। यही अविद्या है। हे भास ! जैसे वन का बिचरनेवाला हाथी जंजीर से बँधा हुआ दुःख पाता है वैसे ही तुम विपश्चित् भी थे और अविद्या से जगत् के देखने के लिए भटकते रहे। हे राजन् ! जगत् कुछ वस्तु नहीं है, पर भासित होता है, यही माया है। जैसे भ्रम से आकाश में नाना प्रकार के रंग दिखते हैं, वैसे ही अविद्या से ये जगत् भासित होते और सत्य प्रतीत होते हैं, पर सब आकाशरूप हैं और आकाश में स्थित हैं। उस आकाश में जो कुछ तुमने आत्मरूपी चिन्तामणि के चमत्कार से देखा है, वह कहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चिच्छरीरप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकैकविंशतितमस्सर्गः ।। २२१ ।।

दशरथजी, बोले, हे भास ! बड़ा आश्चर्य है कि तुम विपश्चित् बुद्धिमान थे, और चेष्टा से तुमने अविपश्चित् (मूर्ख) बुद्धि की है, जो अविद्या के देखने को समर्थ हुए थे। यह जगत्प्रतिभा तो मिथ्या है; असत्य के ग्रहण की इच्छा तुमने क्यों की ? वाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! जब इस प्रकार राजा दशरथ ने कहा, तब प्रसंग पाकर विश्वामित्र बोले, हे राजन्,

दशरथ ! यह चेष्टा वही करता है, जिसको परम बोध नहीं होता, पर केवल मूर्ख और अज्ञानी भी नहीं होता, क्योंकि जिसको परमबोध और आत्मा का अनुभव होता है, वह जगत् को अविद्याकृत जानता है और उस अविद्यक जगत् का अन्त जानने को इतना यत्न नहीं करता, क्योंकि वह तो उसे असत्य जानता है। और जो देहाभिमानी मूर्ख अज्ञ है, वह भी यह यत्न नहीं करता, क्योंकि उसको देखने की सामर्थ्य भी नहीं होती। इससे मध्य भावी है। जो आत्मबोध से रहित है और जिसने आधिभौतिक शरीर का त्याग किया है, वही संसार देखने का यत्न करता है। जिनको उत्तम बोध नहीं हुआ, वे इस प्रकार बहुत भटकते फिरते हैं। हे राजन् ! इसी प्रकार बटधाना भी इसी ब्रह्माण्ड में फिरते हैं। सत्तर लाख वर्ष इनको इसी ब्रह्माण्ड में फिरते व्यतीत हुए हैं। उन्होंने भी यही निश्चय धारण किया है कि पृथ्वी कहाँ तक चली जाती है। इस निश्चय से वे निवृत्त नहीं होते और इसी ब्रह्माण्ड में घूमते हैं। उनको अपनी वासना के अनुसार विपरीत और ही और स्थान भासित होते हैं।

हे राजन् ! जैसे किसी बालक का रचा संकल्प का वृक्ष आकाश में हो, वैसे ही यह भूगोल ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है। संकल्प से गेंद के समान आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन पाँचों तत्त्वों का यह ब्रह्माण्ड रचा है। उसके चौफेर चींटियाँ फिरती हैं। जिस ओर से वे जाती हैं, वह ऊर्ध्व दिखता है सो और ही निश्चय होता है। वैसे ही इस संकल्प के रचे भूगोल के किसी कोण में बटधाना जीव हुआ है। हे राजन् ! उसके तीन पुत्र थे। उसके मन में यह संकल्प उदय हुआ कि हम जगत् का अन्त देखें। इसी संकल्प से फिरते-फिरते वे पृथ्वी नाँघते हैं। पृथ्वी और जल आता है। जल को नाँघते हैं। फिर आकाश आता है। फिर पृथ्वी, जल, वायु फिर उसी भूगोल के चहुँफेर फिरते हैं। जैसे आकाश में गेंद हो, वैसे ही यह पृथ्वी आकाश में है। इसका नीचे ऊपर कोई नहीं। चरण नीचे शिर ऊपर, इसी तरह बटधाना जीव उसी के चौफेर घूमते रहे, परन्तु अपने निश्चय से और का और जानते रहे। जब तक स्वरूप का प्रमाद

है, तब तक जगत् का अभाव नहीं होता और जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब जगत् ब्रह्मरूप हो जाता है। जगत् कुछ बना नहीं, फुरने से भासित होता है। जैसे स्वप्न में अज्ञान से अनन्त जगत् दीखते हैं। यह फुरना परब्रह्म में हुआ है, जो फुरने में है, वह भी परब्रह्म है। कुछ बना नहीं—आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे पत्थर की शिला ठोस होती है, वैसे ही आत्मतत्त्व चैतन्यघन है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। सब कल्पना परब्रह्मरूप है और ब्रह्म ही कल्पनारूप है। इस जड़ और चैतन्य में कुछ भेद नहीं। हे राजन् ! जिसको जगत् कहते हो, वह ब्रह्मसत्ता ही है। न कुछ उत्पन्न हुआ है और न प्रलय होता है-सब ब्रह्म ही है। जैसे पहाड़ में पत्थर के सिवा कुछ नहीं होता, वैसे ही यह जगत् ब्रह्मसत्ता के सिवा कुछ नहीं। जैसे पाषाण की पुतली पाषाणरूप ही है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्मरूप ही है। एक सूक्ष्म अनुभवअणु से अनेक अणु होते हैं, जैसे एक पहाड़ से अनेक शिलाएँ होती हैं। हे राजन् ! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् ब्रह्मरूप भासित होता है और जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार भासित होता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं है, परन्तु जब तक संकल्प है, तब तक जगत् फुरता है। जैसे रत्नों की चमक होती है, वैसे ही जगत् आत्मा का चमत्कार है। चैतन्य आत्मा के आश्रय से अनन्त सृष्टियाँ फुरती हैं, अतः सब सृष्टि आत्मरूप हैं। आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जो जाग्रत् पुरुष ज्ञानवान् हैं, उनको ब्रह्मरूप ही दिखता है और जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार का जगत् दिखता है।

हे राजन् ! कुछ लोग इसे शून्य कहते हैं कि अर्थात् यह शून्य ही है, और कुछ नहीं। कुछ इसको जगत् कहते हैं, और कुछ ब्रह्म कहते हैं। जैसा किसी को निश्चय होता है, उसको वही रूप दिखता है। आत्मरूपी चिन्तामणि है, जैसा-जैसा संकल्प उसमें फुरता है, वैसा-वैसा ही भासित होता है। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है। जैसा-जैसा उसमें निश्चय होता है, वैसा ही वैसा होकर भासित होता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—त्रिपुटी जो

दिखती है, वह भी ब्रह्म होकर भासित होती है, द्वितीय कुछ वस्तु नहीं और जो कुछ दिखता है, वही अज्ञान है। हे राजन् ! जब तक वासना नष्ट नहीं होती, तब तक दुःख भी नहीं मिटते, और जब वासना मिट जाती है, तब सब जगत् ब्रह्मरूप अपनारूप ही भासित हो और रागद्वेष किसी में न रहता। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि दिखती हैं, जब पूर्व का स्वरूप स्मरण होता है तो सब रूप आप ही हो जाता है और रागद्वेष मिट जाता है, वैसे ही ज्ञानवान् को यह जगत् ब्रह्मरूप अपनारूप भासित होता है और विकार से रहित होता है। पूर्व, अपूर्व और अपर को विचारना कि यह शुभ है और यह अशुभ है और अशुभ का त्याग करना, यह गौण विचार है। जब तक पूर्वापर विचार मन में रहता है, तब तक जीव जगत् में भटकता है और बँधा रहता है, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों जगत् में हैं। जब इनका विस्मरण हो जाय और सम्पूर्ण जगत् को भ्रममात्र जानकर आत्मपद में सावधान हो, तब जीव मुक्त होता है। इस जीव के बन्धन का कारण अपनी वासना ही है। जब तक जगत् में वासना होती है तब तक रागद्वेष उपजता है और जीव उससे बँधा रहता है। जिनको जगत् के सुख-दुख में रागद्वेष की भावना नहीं उपजती, और वासना भी नष्ट हो जाती है, उनको यह जगत् ब्रह्मरूप अपनारूप ही दिखता है और जगत् में दुःखदायक कुछ नहीं रहता। उनको सब ब्रह्म ही दिखता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बटधानोपाख्यानवर्णनन्नाम द्विशताधिकद्वाविंशतितमस्सर्गः ।। २२२ ।।

दशरथजी ने विपश्चित् से पूछा, हे भास ! तुम चिरकाल पर्यन्त जगत् में फिरते रहे हो। जिस प्रकार तुमने चेष्टा की है और जो देश, काल, पदार्थ देखे हैं, सो सब कहो। भास बोले, हे राजन् ! मैं जगत् को देखता फिरा हूँ और फिरता-फिरता थक गया हूँ, परन्तु देखने की इच्छा होने के कारण मुझको दुःख नहीं हुआ। जो कुछ मैंने चेष्टा की है और जो देखा है, वह कहता हूँ। हे राजन् ! मैंने बहुत जन्म पाये हैं, और बहुत

बार मृतक हुआ हूँ। बहुत बार शाप पाया है, ऊँच-नीच जन्म लिये हैं और मर-मर गया हूँ। बहुत ब्रह्माण्ड देखे हैं। परन्तु ये सब अग्निदेवता के वर से देखे हैं। एक बार मैं वृक्ष हुआ और सहस्र वर्ष पर्यन्त फूल, फल, टास से युक्त रहा। जब कोई काटता, तब मैं दुखी होता और मेरे हृदय में पीड़ा होती। फिर वह शरीर छूटा तो मैं सुमेरु पर्वत पर सुवर्ण का कमल हुआ और वहाँ का जल पिया। फिर एक देश में पक्षी हुआ। सौ वर्ष पक्षी रहकर फिर सियार हुआ। मुझे हाथी ने चूर्ण किया, इससे मृतक होकर फिर सुमेरु पर्वत पर सुन्दर मृग हुआ। देवता और विद्याधर मेरे साथ प्रीति करने लगे। कुछ काल में मरकर फिर देवताओं के वन में मञ्जरी हुआ। वहाँ देवियाँ और विद्याधरियाँ मुझको स्पर्श करती और सुगन्ध लेती थीं। तब मैं देवताओं की स्त्री हुआ, फिर सिद्ध हुआ और मेरा वचन सत्य होने लगा। फिर मैंने और शरीर धरा और एक ब्रह्माण्ड नाँघ गया। इसी प्रकार कई ब्रह्माण्ड मैं नाँघ गया। तब एक ब्रह्माण्ड में जो आश्चर्य देखा, सो सुनो। वहाँ मैंने एक स्त्री देखी, जिसके शरीर में कई ब्रह्माण्ड थे इससे मुझे आश्चर्य हुआ। फिर देश काल-क्रिया से पूर्ण कई त्रिलोकी देखीं। जैसे दपर्ण में प्रतिबिम्ब दिखता है, वैसे ही मुझको उसमें जगत् दिखे। तब मैंने उससे कहा, हे देवि ! तुम कौन हो और यह तुम्हारे शरीर में क्या है ? देवी बोली, हे साधो ! मैं शुद्ध चित्शक्ति हूँ और ये सब मेरे अंग मेरे में स्थित हैं। मेरी क्या बात पूछनी है—यह सब जगत् जो तू देखता है चिद्रूप हैं। चैतन्य से भिन्न और कुछ नहीं। सबमें ब्रह्माण्ड (त्रिलोकी) स्थित है, जो अपना रूप ही है। जो अपने स्वभाव में स्थित हैं, उनको अपने ही में ये दिखते हैं और जो स्वरूप में स्थित नहीं हैं, उनको जगत् बाहर और अपने से भिन्न भासित होते हैं।

हे राजन् ! यह जगत् कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि और गन्धर्व नगर दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। जैसे जल में तरंग दिखता है, सो जलरूप है—तरंग कुछ भिन्न वस्तु नहीं होते, वैसे ही सब जगत् चिद्रूप में भासित होता है, सो चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं।

परन्तु जब स्वभाव में स्थित होकर देखोगे, तब ऐसे ही दिखेगा। और जो अज्ञानदृष्टि से देखोगे तो नाना प्रकार का जगत् भासित दिखेगा। हे राजन् ! जब इस प्रकार उस देवी ने मुझसे कहा, तब मैं वहाँ से चला और आगे दूसरी सृष्टि में गया। वहाँ देखा कि सब पुरुष ही रहते हैं, स्त्री कोई नहीं। पुरुष से पुरुष उत्पन्न होते हैं। उससे भी आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ न सूर्य था, न चन्द्रमा न तारे थे, न अग्नि, न दिन था और न रात्रि। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और तारों का प्रकाश होता है वैसे ही सब अपने प्रकाश से प्रकाशित थे। उनको देखकर मैं आगे और सृष्टि में गया। वहाँ देखा कि आकाश ही से जीव उत्पन्न होकर आकाश ही में लीन हो जाते हैं। इकट्ठे ही सब उपजते और इकट्ठे ही लीन हो जाते हैं। न वहाँ मनुष्य हैं, न देवता हैं, न वेद हैं, न शास्त्र हैं, न जगत् है-इनसे विलक्षण ही प्रकार है।

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने कई सृष्टियाँ देखीं हैं, जो मुझको स्मरण आती हैं। आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ देखा कि सब जीव एक समान हैं। न किसी को रोग है, न किसी को दुःख है—सब एक से गंगा के तीर पर बैठे हैं। हे राजन् ! एक और आश्चर्य मैंने देखा है, वह भी सुनो। एक सृष्टि में मैं गया तो वहाँ क्षीरसमुद्र मन्दराचल से मथा जाता था। एक ओर विष्णु भगवान् और देवता थे। मन्दराचल पर्वत रत्नों से जड़ा हुआ था। शेषनाग रस्सी की नाईं लिपटा हुआ था। मथने के लिए दूसरी ओर दैत्य लगे थे। बड़ा शब्द होता था। वहाँ यह कौतुक देखकर मैं आगे गया तो एक और सृष्टि देखी, जहाँ मनुष्य आकाश में उड़ते फिरते थे और देवता मनुष्य की नाईं पृथ्वी पर बिचरते और वेदशास्त्र जानते थे। हे राजन् ! एक और आश्चर्य मैंने देखा, वह भी सुनो। एक सृष्टि में मैं जा निकला तो वहाँ मन्दराचल पर्वत पर कल्पवृक्ष का वन था और उसमें मदनिका नाम की एक अप्सरा रहती थी। वहाँ जाकर मैं सो रहा तो ज्यों ही रात्रि का समय आया कि वह अप्सरा मेरे कण्ठ आ लगी। मैंने जागकर उसको देखा और कहा कि हे सुन्दरी ! तूने मुझको किस निमित्त जगाया ? मैं तो

सुख से सो रहा था। उस अप्सरा ने कहा कि हे राजन् ! मैंने इसलिए तुझको जगाया है कि चन्द्रमा उदय हुआ है और चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर बहेगी और नदी की नाईं प्रवाह चलेगा। ऐसा न हो कि तू बह जाय। हे दशरथ ! इस प्रकार उसने कहा ही था कि नदी का प्रवाह चलने लगा। तब वह अप्सरा उस प्रवाह को देखकर मुझे आकाश को ले उड़ी और पर्वत के ऊपर जहाँ गंगा का प्रवाह चलता था उसके तट पर मुझको बिठा दिया। सात वर्ष पर्यन्त वहाँ रहकर मैं फिर एक और ब्रह्माण्ड में गया। देखा, वहाँ तारा, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य कुछ भी न थे। उसको देखकर मैं और आगे गया। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड मैंने देखे।

हे राजन् ! ऐसा देश व ऐसी पृथ्वी, नदी और पहाड़ न होगा, जिसको मैंने न देखा हो। ऐसी चेष्टा कोई न होगी, जो मैंने न की हो। कई शरीरों के सुख मैंने भोगे हैं; कितनों के दुःख भोगे हैं। वन, कन्दरा और गुप्त स्थानों में फिरकर सब देखा, परन्तु अग्निदेवता के वर को पाकर फिरता-फिरता मैं थक गया तो भी आगे ही चला गया। अनेक अविद्याकृत ब्रह्माण्ड भी देखे, परन्तु अब उनका अन्त यह पाया है कि यह जगत् भ्रममात्र है। मैंने शास्त्रों में सुना है कि यह जगत् है नहीं, तो भी दुःख देता है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल दिखता है, वैसे ही यह जगत् अविचार से दिखता और विचार से निवृत्त हो जाता है। एक आश्चर्य और सुनो। एक ब्रह्माण्ड में मैं गया तो वहाँ महाआकाश था। उस महाआकाश से गिरकर मैं पृथ्वी पर आ पड़ा और वहाँ सो गया। तब मैं महागाढ़ सुषुप्तिरूप हो गया। सब जगत् मुझे भूल गया। जब वह गाढ़ सुषुप्ति क्षीण हुई, तब एक स्वप्न देखा। उसमें तुम्हारा यह जगत् मुझको देख पड़ा। उसमें मुझको पहाड़, कन्दरा, देश और बहुत से गुप्त, प्रकट स्थान दिखे। जहाँ केवल सिद्धों की गति थी, वहाँ भी मैं गया और जहाँ सिद्धों की भी गति न थी, वहाँ भी मैं गया। इस प्रकार अनेक जगत् मैंने देखे, परन्तु आश्चर्य है कि स्वप्न की सृष्टि प्रत्यक्ष जाग्रत् की तरह दिखती थी और स्वप्न

के शरीर जाग्रत् में पड़े दिखते थे। इससे सब जगत् भ्रममात्र है और असत्य ही सत्य होकर दिखाई देता है। इस प्रकार देखकर मैं बड़े आश्चर्य में पड़ा हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चित्कथावर्णनन्नाम द्विशताधिकत्रयोविंशतितमस्सर्गः ।। २२३ ।।

विपश्चित् बोले, हे राजन् ! एक सृष्टि और भी मैंने देखी है, जो इसी महाआकाश में है—अर्थात् इस महाआकाश से भिन्न नहीं। जहाँ तुम्हारी भी गति नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि कोई जाग्रत् में देखा चाहे तो नहीं दिखती, वैसे ही वह सृष्टि है। हे राजन् ! पृथ्वी का एक स्थान मेरे देखते ही देखते परछाहीं की नाईं फ़िरने लगा। फिर उस आकाश में वही पहाड़ की नाईं दिखने लगा। यहाँ तक कि मनुष्यों के शरीर और दशों दिशाओं को उसने ढक लिया और आकाश से भी बड़ा दिखने लगा। इससे आकाश में भी न समाता था। उसने सूर्य और चन्द्रमा को भी मेरे देखते ही देखते ढक लिया। फिर भूकम्प सा आया, मानो प्रलयकाल ही आ गया। तब मैंने अपने इष्ट अग्निदेवता की ओर देखकर प्रार्थना की कि हे भगवन् ! तुम मेरी जन्म-जन्म रक्षा करते आये हो, इससे अब भी रक्षा करो; मैं नष्ट होता हूँ। तब अग्नि ने कहा, तू मत डर। फिर मैंने जब अग्नि में प्रवेश किया, तब अग्नि ने कहा कि मेरे वाहन पर सवार होकर मेरे स्थान को चल। फिर अग्निदेव मुझको अपने वाहन तोते पर चढ़ाकर आकाशमार्ग से तुरन्त ले उड़े। जब हम उड़े, तब पीछे से वह शव पृथ्वी पर गिरा। उसके गिरने से सुमेरु जैसे पर्वत भी पाताल को चले गये। वह महाशरीर सैकड़ों सुमेरु के समान गिरा। मन्दराचल, मलयाचल, अस्ताचल आदि जो बड़े-बड़े पर्वत थे, वे भी नीचे को धँस गये। पृथ्वी में गढ़े पड़ गये। उसके शरीर के नीचे जो वृक्ष, मनुष्य, दैत्य, स्थावर, जंगम आये, वे सब नष्ट हो गये। बड़ा उपद्रव उदय हुआ। निदान उसके शरीर से सब दिशा पूर्ण हो गई। उसके अंग ब्रह्माण्ड के भी बाहर निकल गये। हे राजन्, दशरथ ! इस प्रकार भयानक दशा देखकर मैं अपने इष्टदेव अग्नि से

बोला कि हे देव ! यह उपद्रव क्योंकर हुआ ? यह सब क्या है और ऐसा शरीर क्यों पड़ा है ? आगे तो कोई भी ऐसा शरीर नहीं देखा-सुना ? अग्नि ने कहा, तू अभी चुप रह। यह सब वृतान्त मैं तुझसे कहूँगा, पर प्रथम इसको शान्त होने दे। इस प्रकार अग्नि कहते ही थे कि देवता विद्याधर गन्धर्व और सिद्ध आदि जितने स्वर्गवासी थे, वे सब आकर स्थित हुए और विचार करने लगे कि यह उपद्रव प्रलयकाल के बिना ही हुआ है। इसका नाश करने को देवीजी की आराधना करनी चाहिए। हे राजन् ! यों विचारकर वे देवी की स्तुति करने लगे कि हे देवि, शववाहिनी, चण्डिके ! हम तेरी शरण आये हैं, इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाशववृत्तान्तवर्णनन्नाम द्विशताधिकचतुर्विंशतितमस्सर्गः ।। २२४ ।।

विपश्चित् बोले, हे दशरथ ! उन देवताओं ने स्तुति करके शव की ओर जो देखा तो क्या देखते हैं कि सातों द्वीप उसके उदर में समा गये हैं, भुजाओं से सुमेरु आदिक पर्वत ढक गये हैं। उसके दूसरे अंग ब्रह्माण्ड को भी नाँघ गये हैं, साथ ही पाताल को भी गये हैं। निदान उनकी मर्यादा कहीं पाई नहीं जाती थी। एक ही अंग से पृथ्वी छिप गई। यह देखकर विद्याधर, गन्धर्व और सिद्ध आदि सम्पूर्ण नभचर स्तुति करने लगे—हे अम्बे, चण्डिके ! अपने गण को साथ लेकर इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो—हम तेरी शरण आये हैं। हे राजन् ! जब इस प्रकार स्तुति करके देवता आराधना करने लगे, तब चण्डिका आकाशमार्ग से यक्ष, वैताल भैरव आदि अपने गणों को लेकर आईं और जैसे मेघ सब दिशाओं को ढक लेता है, वैसे ही सब ओर से उनके गणों ने आकर आकाश को ढक लिया। चण्डिका ऐसे तेजस्वीरूप को रखे हुए चली आती थीं, मानो अग्नि की नदी चली आती हो। उनके लाल नेत्र, शिर पर पके केश और श्वेत दाँत थे। वह बड़े शस्त्र धारण किये थीं। कई कोटि योजन तक उनका विस्तार था। वह सब दिशा और आकाश अपने शरीर से आच्छादित

किये, कण्ठ में मुण्डों की माला पहिने, मुरदे वाहन पर आरूढ़ थीं। परमात्मपद में उनकी स्थित थी। वह ऐसी महाप्रकाशमान थीं, मानो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि के प्रकाश को भी लज्जित कर रही थीं। वह हाथों में खड्ग, मूसल, ध्वजा, ऊखल आदि नाना प्रकार के शस्त्र धारण किये आकाश में तारागण की नाईं गर्जती हुई गणों सहित इस प्रकार चली आती थीं, मानो समुद्र से निकली साक्षात् बड़वाग्नि चली आती हो।

जब वह निकट आईं, तब देवता फिर प्रार्थना करने लगे कि हे अम्बे ! इसका नाश करो व अपने गणों को आज्ञा दीजिये कि इसका भक्षण करें। हम इसको देखकर बड़े शोक को प्राप्त हुए हैं और तेरी शरण हैं। इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो। हे राजा दशरथ ! जब इस प्रकार देवताओं ने कहा तब चण्डिका ने प्राणवायु को खींचा और शव में जितना रक्त था, वह सब पी गईं। जैसे समुद्र को अगत्स्यजी ने पी लिया था, वैसे ही उन्होंने रक्त पान किया। जब उससे देवी का उदर और अंग सब पूर्ण हो गये और नेत्र लाल हो आये, तब देवी नृत्य करने लगीं। उनके सब गण उस शव को खाने लगे, कई मुख को खाने लगे, कई भुजा को, कई उदर को, कई वक्षःस्थल को, कई टाँगों को और कई चरणों को। इसी प्रकार उसके सब अंगों को गण खाने लगे। कई गण आँते लेकर आकाश में सूर्य के मण्डल को गये। कई गण उस शव के अन्त पाने को उड़े, सो मार्ग ही में मर गये, परन्तु कहीं अन्त न पाया। देवी जो उस शव की ओर देखती थी इससे उसके नेत्रों से अग्नि निकलती थी। उस आग से मांस पकता था और गण भोजन करते थे। मांस पकने के समय जो शरीर से रक्त निकलता था, उससे मन्दराचल और हिमालय पर्वत लाल हो गये-मानो पर्वतों ने भी लाल वस्त्र पहिने हों। रक्त की नदियाँ बहने लगीं। जो बड़े सुन्दर स्थान और दिशाएँ थीं, वे सब भयानक हो गईं। पृथ्वी के सब जीव नष्ट हो गये। पर जो पहाड़ की कन्दरा में जाकर छिप रहे थे, वे बच गये, शेष सब नष्ट हो गये। राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि उसके नीचे प्राणी आकर सब नष्ट हो गये और अंग उसके ऐसे

कहते हो कि ब्रह्माण्ड को भी नाँघ गये। फिर कहते हो कि देवता बच रहे, इसका क्या कारण है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो उसके शरीर और अंग के नीचे आये वे तो नष्ट हो गये, पर मुख और ग्रीवा में कुछ भेद है। तिसमें जो पोल है उसमें और गोदी और टाँग के नीचे पोल में तथा सुमेरु, मन्दराचल, उदयाचल और अस्ताचल पर्वतों की कन्दराओं के पोल में बैठे हुए देवता बच गये और जो अंग के छिद्रों में रहे, वे भी बच रहे और कहने लगे कि बड़ा कष्ट है जो हमारे बैठने के कई स्थान नष्ट हो गये। हाय ! वे वृक्ष कहाँ गये, हमारा बरफ का पर्वत कहाँ गया, उनकी सुन्दरता कहाँ गई, वन और बगीचे कहाँ गये, चन्दन के वृक्ष कहाँ गये और वे जनों के समूह कहाँ गये, जो हमको यज्ञ करके पूजते थे ? वे ऊँचे वृक्ष कहाँ गये, जिनके फूल और टहनी ब्रह्मलोक तक जाती थीं ? वह क्षीरसमुद्र कहाँ गया, जिसके मथने से बड़ा शब्द हुआ था ? उसके पुत्र, अर्थात् उससे उत्पन्न रत्न, कल्पवृक्ष और चन्द्रमा कहाँ गये ? जम्बूद्वीप कहाँ गया, जिसमें जम्बू के रस की नदी बहती थी और सुवर्णवत् जल के भँवर उठते थे ? ईख के रस का समुद्र कहाँ गया ? हा कष्ट ! हा कष्ट ! शक्कर और मिसरी के पर्वत और अप्सराओं के बिचरने के स्थान कहाँ गये ? पृथ्वी कहाँ गई ? वे नन्दनवन के स्थान कहाँ गये, जहाँ हम अप्सराओं के साथ विहार करते थे ? उन सबका अभाव हमको शूल सा चुभता है। जैसे फल को कण्टक चुभते हैं वैसे ही उन वस्तुओं के आभासरूपी कण्टक हमको चुभते हैं। इसी प्रकार वे अति शोकवान् हुए और कहने लगे-हा कष्ट ! हा कष्ट !

इधर विषयों का स्मरण करके देवता शोक करते थे और उधर उस शव के जितने अंग थे, उनको गणों ने भोजन कर लिया और उससे अघा गये। कुछ मेदा का पिण्ड शेष रह गया था, उससे बहुत दुर्गन्ध हुई। उस पिण्ड की पृथ्वी हो गई। जिससे उसका नाम मेदिनी हो गया। मोटे हाड़ों के सुमेरु आदि पर्वत हुए। तब ब्रह्माजी ने देखा कि सब विश्व शून्य सा

हो गया है, तब उन्होंने संकल्प किया कि अब फिर से मैं सृष्टि रचूँगा। निदान पहले की नाईं उन्होंने सृष्टि रची और जगत् का सब व्यवहार उसी प्रकार चलने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वयंमाहात्म्यवृत्तान्त वर्णनंनाम द्विशताधिकपञ्चविंशतितमस्सर्गः ।। २२५ ।।

विपश्चित् बोले, हे दशरथ ! जब यह सब हो रहा था, तब मैंने अपने इष्टदेवता से, जो तोते के वाहन पर सवार थे, प्रश्न किया कि हे महादेव ! सब जगत् के ईश्वर और सब जगत् के भोक्ता ! यह शव कौन था, कहाँ स्थित था और किस प्रकार गिरा ? अग्नि बोले, हे राजन् ! यह अनन्त त्रिलोकी जिसका आभास है, उससे इस शव का वृत्तान्त वर्णन हो सकता है। एक त्रिलोकी से इसका वृत्तान्त नहीं वर्णन हो सकता। हे राजन् ! एक परम आकाश है, जो चिन्मात्र पुरुष सर्वज्ञ, अनामय और अनन्त है। वह आत्मतत्त्व केवल अपने रूप में स्थित है, पर उसका जो आभास संवेदन फुरना है, वही किञ्चन होता है। वह जब किसी स्थान में फुरता है, तब ऐसी भावना होती है कि मैं तेज का अणु हूँ। उस भावना के कारण से वह चित् संवेदन अणु सा हो जाता है। जैसे कोई पुरुष सोया हो। और स्वप्न में अपने को मार्ग में चलता देखता हो, अथवा जैसे तुम स्वप्न में अपने को सोया हुआ देखो, वैसे ही चित्तसंवेदन ने अपने को अणु जाना। जैसे फुरना ब्रह्मा को हुआ है वैसे ही धूल के कण का भी अधिष्ठान में फुरना समान रूप से हुआ। जब उस अणु को शरीर की भावना होती है, तब अपने साथ शरीर देखता है। शरीर के होने से नेत्र आदि इन्द्रियाँ घनी होती हैं, तब यह शरीर अपने को और इन्द्रियों से मिला हुआ जानता है। जब अपनारूप जानकर जीव उनको ग्रहण करके इन्द्रियों से विषय को ग्रहण करता है, तब वही चिद्रूप जीव प्रमाद से अधाराधेयभाव को मानता है। पर अधिष्ठानसत्ता में कुछ हुआ नहीं। वह अद्वैतसत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में प्रमाद से जीव अपने को किसी गृह में बैठे देखता है, वैसे ही यहाँ प्रमाद से

आधाराधेयभाव को देखता है, प्राण और मन अहंकार को धारण करता है और जानता है कि मेरे माता-पिता हैं और मैं अनादि जीव हूँ। अपना शरीर जानकर आगे पाञ्चभौतिक जगत् शरीर को देखता है, तब अपने फुरने के अनुसार अंग होते हैं। इसी प्रकार जो आदि शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व में स्फुरण हुआ तो चित्तकला उपजी। उसने अपने को तेज-अणु जाना। तब उसमें अहंवृत्ति तो अहंकार हुआ, निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि हुई, चेतनारूप चित्त और संकल्पविकल्परूप मन हुआ। फिर तन्मात्रा उपजी, फिर इच्छा द्वारा उसके शरीर और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। तब देखने की इच्छा हुई। उस संवित् में दृश्य भासित हुआ। तब संवित् शक्ति ने प्रमाददोष से अपने को द्वैतरूप जाना। साथ ही उसके अपने माता, पिता और कुल प्रकटे कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है और यह मेरा कुल है। यह चिरकाल से चला आता है।

इसी प्रकार अहंकार सहित एक दैत्य बिचरने लगा। एक कुटी में एक ऋषि बैठा था, उस कुटी की ओर गया। उसकी कुटी चूर्ण करके जब ऋषि के निकट आया, तब ऋषि ने कहा, रे दुष्ट ! तूने यह क्या चेष्टा ग्रहण की है। अब तू मरकर मच्छड़ होगा। हे विपश्चित् ! उस ऋषि के शापरूपी अग्नि से उसका शरीर भस्म हो गया और उसकी निराकार चेतनसंवित् भूताकाशरूप हो गई। फिर आकाश में उसका वायु से संयोग हुआ और उस मौनी ऋषि के शाप की वासना आकर उदय हुई। जैसे समय पाकर पृथ्वी में बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही पञ्चतन्मात्रा उदय हुई, और अपना मच्छड़ का शरीर, जिसकी आयु दो अथवा तीन दिन की होती है, अज्ञान से भासित हुआ। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो जीव जन्म पाते हैं, वे जन्म से जन्मान्तर को चले आते हैं अथवा ब्रह्मा से उपजे होते हैं—यह कहो ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कई जन्म से जन्मान्तर को चले आते हैं और कई ब्रह्मा से उपजे होते हैं। जिनको पूर्ववासना का संसरण होता है, वे वासना के अनुसार शरीर पाते हैं और जन्म से जन्मान्तर पाते चले जाते हैं। और जिनको संस्कार बिना भूत

भासित होते हैं, वे ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं। हे राम ! आदि में सब जीव संस्काररूपी कारण बिना उत्पन्न हुए हैं। पीछे जन्मान्तर होता है। जो संस्कार बिना भूत भासित हो, उसे जानिये कि ब्रह्मा से उपजा है। और जिसको संस्कार से सृष्टि भासित हो; उसे जानिये कि इसका जन्मान्तर है। यह दो प्रकार से भूतों की उत्पत्ति मैंने तुमसे कही है। अब फिर उस मच्छड़ का क्रम सुनो।

हे राम ! जब उसने मच्छड़ का जन्म पाया, तब कमलिनियों में और हरी घास, तृण और पत्तों में मच्छड़ों को साथ लिये रहने लगा। निदान वहाँ एक मृग आया और उसका पैर उस मच्छड़ पर इस प्रकार पड़ा, जैसे किसी पर सुमेरु पर्वत आ पड़े। तब वह मच्छड़ चूर्ण होकर मृतक हो गया। मृतक होने के समय मृग की ओर देखने लगा, इससे मरकर तत्काल ही मृग हुआ और वन में बिचरने लगा। फिर एक काल में उसको बधिक ने देखकर बाण चलाया। उस बाण से वह मृग विंध गया। विंधे हुए घायल मृग ने बधिक की ओर देखा, इसलिए वह मरकर बधिक हुआ और धनुष बाण लेकर मृग और पक्षियों को मारने लगा। एक समय वह वन को गया। वहाँ एक मुनीश्वर को देख उनके निकट जा बैठा। तब मुनीश्वर ने कहा, भाई ! तूने यह क्या पापचेष्टा आरम्भ की है ? इस चेष्टा से तू नरक को जायगा। इससे किसी जीव को दुःख न दे। जिन भोंगों के लिए तू यह चेष्टा करता है, वे बिजली की चमक जैसे क्षणिक हैं। जैसे मेघ में बिजली की चमक होती है और फिर मिट जाती है, वैसे ही ये भोग भी होकर मिट जाते हैं। जैसे कमल के पत्ते पर जल की बूँद ठहरती है, पर उसकी आयु कुछ नहीं होती, क्षण भर में वह गिर पड़ती है, वैसे ही इस शरीर की आयु कुछ नहीं है। जैसे अञ्जलि में डाला जल नहीं ठहरता, वैसे ही जवानी चली जाती है। यौवन क्षणभंगुर और असार है। उसमें भोगना क्या है ? इनसे कभी शान्ति नहीं होती। जो तुझको शान्ति की इच्छा हो तो निर्वाण होने का प्रयत्न कर। तब तू दुःख से मुक्त होगा। अपने हिंसाकर्म को त्याग दे। इसके करने से नरक में जायगा और कभी तुझको शान्ति न प्राप्त

होगी। तू अपने हाथ से अपने पैर पर क्यों कुल्हाड़ी मारता है, अपने नाश के लिए क्यों विष-बीज बोता है ? इस कर्म से तू दुःखरूप संसार में भटकता फिरेगा और शान्ति कभी न होगी। इससे अब तू वही उपाय कर, जिससे संसारसमुद्र के पार हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मच्छरव्याधवर्णनन्नाम
द्विशताधिकषड्विंशतितमस्सर्गः ।। २२६ ।।

अग्नि बोले, हे राजन् ! ऋषीश्वर ने जब इस प्रकार उस बधिक से कहा, तब उसने धनुषबाण डाल दिया और बोला, हे भगवन् ! जिस प्रकार मैं संसारसमुद्र के पार हो जाऊँ, वह उपाय कृपा करके मुझसे कहिये। परन्तु वह उपाय दुःसाध्य न हो और न मृदु हो अर्थात् जो अल्प भी न हो और कठिन भी न हो। ऋषीश्वर बोले, हे बधिक ! मन को एकाग्र करने का नाम शम है। इन्द्रियों के रोकने को दम कहते हैं-वही मौन है। मन को एकाग्र करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान उपजता है। इससे संसारभ्रम निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। अग्नि बोले, हे राजन् ! इस प्रकार जब ऋषीश्वर ने कहा, तब वह बधिक उठ खड़ा हुआ और प्रणाम करके तप करने लगा। इन्द्रियों को उसने संयम में रक्खा और जो अनिच्छित यथाशास्त्र प्राप्त होता उसका भोजन करने लगा। हृदय से सब क्रियाओं की मौनवृत्ति धारण की। जब उसको कुछ काल तप करते व्यतीत हुआ, तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ। वह ऋषीश्वर के निकट आ प्रणाम करके बैठ गया और बोला, हे भगवन् ! बाहर जो दृश्य है, वह हृदय में किस प्रकार प्रवेश करता है और स्वप्न में अन्तर की सृष्टि बाह्यरूप हो कैसे दिखती है ? यह कृपा करके कहो।

ऋषीश्वर बोले, हे बधिक ! तूने यह बड़ा गूढ़ प्रश्न किया है। यही प्रश्न मैंने भी गणपति से किया था और उनके कहने से मैंने जो जाना है, सो सुन। एक समय यही सन्देह दूर करने का उपाय मैंने भी किया था। पद्मासन बाँध, बाहर की इन्द्रियों को रोक मन में लगाया और मन, बुद्धि

आदि को पुर्यष्टका में स्थित किया। फिर पुर्यष्टका को भी शरीर से विरक्त किया, और उसे आकाश में निराधार ठहराया। निदान जब विलक्षण होना चाहता, तब विलक्षण हो जाता और जब शरीर में व्यापा चाहूँ, तब व्याप जाता। हे बधिक ! इस प्रकार जब मैं योगधारण से पूर्ण हुआ, तो एक समय मैंने देखा एक पुरुष मेरी कुटी के पास सो रहा था और उसकी स्वाँस भीतर-बाहर आती-जाती थी। उसको देखकर मैंने यह इच्छा की कि इसके भीतर जाकर कौतुक देखूँ कि क्या अवस्था होती है। ऐसे विचार कर मैंने पद्मासन बाँधा और योग की धारणा करके उसके श्वासमार्ग से भीतर प्रवेश किया। जैसे ऊँट ऊँघता हो और उसके श्वासमार्ग से भीतर सर्प प्रवेश करे, वैसे ही मैंने प्रवेश किया। उसके भीतर अपने-अपने रस को ग्रहण करनेवाली नाड़ियाँ मुझे देख पड़ी। कई वीर्य ग्रहण करनेवाली हैं, कई रक्त और कफ को ग्रहण करती हैं, कई मलमूत्रवाली हैं। अनेक विकार जो उसके भीतर थे, सो सब देखे। इससे मैं अप्रसन्न हुआ कि यह तो महा अपवित्र स्थान है। यहाँ रक्तमज्जा से युक्त महानरक के तुल्य अन्धकार है। फिर और आगे गया तो वहाँ एक कमल देखा, जिसमें उसका संवेदन फुरता था और संवित्‌शक्ति, जो महातेज युक्त हृदयाकाश है, वह भी वहाँ स्थित था। वही त्रिलोकी का आदर्श है, त्रिलोकी में जो पदार्थ हैं, उनका दीपक है और सब पदार्थों की सत्ता है। ऐसी संवित्‌रूपी जीवसत्ता वहाँ स्थित थी। उसमें तद्रूपता को प्राप्त हुआ। फिर मैंने सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, देवता, गन्धर्व आदि नाना प्रकार के स्थावर-जंगम विश्व को देखा। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित सम्पूर्ण सृष्टि को उसके भीतर देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि उसके भीतर सृष्टि क्योंकर भासित हुई।

हे बधिक ! उसने जाग्रत् में उस सृष्टि का अनुभव इन्द्रियों से किया था और भीतर चित्तत्व में उसका संस्कार हुआ था। वही भीतर भासने लगा। भीतर जो भूतसत्ता थी, वह उसके स्वप्न में बाहर सृष्टिरूप बनी और मुझको प्रत्यक्ष भासित होने लगी। जैसे जाग्रत् प्रत्यक्ष अर्थाकार

भासता है, वैसे ही मुझको यह सृष्टि भासित होने लगी। हे बधिक ! इस जाग्रत् सृष्टि और इस सृष्टि में मैंने कुछ भेद न देखा-दोनों तुल्य हैं। चिरपर्यन्त प्रतीत का नाम जाग्रत् है और अल्पकाल की प्रतीत का नाम स्वप्न है। पर स्वरूप से दोनों तुल्य हैं। जो उसके स्वप्न के अनुभव में था, वह मुझको जाग्रत् दिखा और जो मुझको जाग्रत् दिखा, वह उसको स्वप्न दिखा। निद्रादोष से उसको स्वप्न हुआ, सो उसको भी उस काल में जाग्रत्रूप भासित होने लगा, क्योंकि स्वप्न जो स्वप्नरूप है, सो जाग्रत् में स्वप्न है, और स्वप्न में तो जाग्रत् है। वैसे जाग्रत् भी अपने काल में जाग्रत् है, नहीं तो स्वप्नरूप हैं। इसलिए जाग्रत् में भी जो सत्य की प्रतीत है; वही प्रमाद है। इन दोनों में कुछ भेद नहीं, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न दोनों का अधिष्ठान चैतन्यसत्ता परब्रह्म ही है और उसी के प्रमाद से प्राण के साथ सम्बन्ध हुआ है। जब प्राण से चित्तसंवेदन मिलता है, तब उस स्फुरण रूप के जीव, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार आदि नाम होते हैं। वही संवेदन, जो बाह्यरूप हो फुरता है, तब जाग्रत्रूप जगत् होकर भासित होता है। और पाँच ज्ञानइन्द्रियाँ पाँच कर्म-इन्द्रियाँ और अन्तःकरण चतुष्टय ये चौदह अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं-इसका नाम जाग्रत् है। जब चित्तस्पन्द निद्रादोष से अन्तर्मुख फुरता है, तब नाना प्रकार की स्वप्न की सृष्टि देखता है और उस काल में वही जाग्रत्रूप भासित होता है। अधिष्ठान आत्मसत्ता जब संवेदन उसकी ओर फुरती है और बाह्यविषय के स्फुरण से रहित होती है, तब न जाग्रत् भासित होती है और न स्वप्न भासित होता है, केवल निर्विकल्प आत्मसत्ता शेष रहती है।

हे बधिक ! मैंने विचारकर देखा है कि जगत् और कुछ वस्तु नहीं, फुरने ही का नाम जगत् है। जब चित्तसंवेदन स्फुरणरूप होता है, तब जगत् भासता है और जब चित्तसंवेदन फुरने से रहित होती है, तब जगत् की कल्पना मिट जाती है। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि वास्तव में केवल चिन्मात्र है। जगत् कुछ वस्तु नहीं, मिथ्या कल्पनामात्र है। हे बधिक ! जगत्-भावना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो।

अब वही वृत्तान्त फिर सुनो। जब उसके भीतर मैंने स्वप्न और जाग्रत् अवस्था देखी, तब मैंने यह इच्छा की कि सुषुप्ति अवस्था भी देखूँ। और विचार किया कि सुषुप्ति प्रलय का नाम है, जहाँ द्रष्टा, दर्शन दृश्य, तीनों का अभाव हो जाता है। परन्तु जहाँ मैं देखनेवाला हुआ, वहाँ महाप्रलय कैसे होगा और जो मैं जाननेवाला न होऊँ तब सुषुप्ति को कौन जानेगा ? हे बधिक ! तब मैंने विचारकर देखा कि सुषुप्ति और कुछ नहीं। जहाँ चित्त की वृत्ति नहीं फुरती उसी का नाम सुषुप्ति है। ऐसे विचारकर मैंने चित्त को फुरने से रहित किया, तब उसकी सुषुप्ति देखा तो क्या देखा कि न कोई वहाँ अहं और त्वं शब्द है, न शुभ है, न अशुभ है, न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति की कल्पना है। सब कल्पना से रहित केवल चित्तसत्ता मैंने देखी। जो तुम कहो कि तुमने सुषुप्ति निर्विकल्प कैसे देखी तो उसका उत्तर यह है कि अनुभव ज्ञानरूप आत्मसत्ता सर्वदा ज्यों की त्यों है। उसमें जैसा आभास फुरता है वैसा ही ज्ञान होता है। यह जो तुम भी दिन प्रतिदिन देखते हो और सुषुप्ति से उठकर जानते हो कि मैं सुख से सोया था, सो अनुभव से ही देखते हो। वैसे ही मैंने भी वह देखा, जहाँ चित्तसंकल्प कोई नहीं फुरता, केवल निर्विकल्प है, परन्तु सम्यग्बोध से रहित है। उसी अभाव वृत्ति का नाम सुषुप्ति है। फिर मुझको तुरीयावस्था देखने की इच्छा हुई। पर तुरीयावस्था देखना महाकठिन है।

तुरीयावस्था साक्षीभूत वृत्ति का नाम है। वह सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होती है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था की साक्षी और सुषुप्ति की नाईं है। जैसे सुषुप्ति में अहं त्वं आदि कोई कल्पना नहीं होती, वैसे ही तुरीयावास्था में भी नहीं। उसमें ब्रह्म का सम्यग्बोध होता है, पर सुषुप्ति जड़ीभूत तमरूप अविद्या होती है। तुरीयावस्था में जड़ता नहीं होती, सुषुप्ति और तुरीयावस्था में इतना ही भेद होता है। सच्चिदानन्दसाक्षी वृत्ति होती है। सम्यग्बोध का नाम तुरीयपद है। तुरीय इससे भिन्न नहीं। ऐसे निश्चय से मैंने इसको देखा। हे बधिक ! चारों अवस्था मैंने माया अर्थात् स्फुरण सहित भिन्न-भिन्न देखीं, पर आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है।

उसमें न कोई जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न तुरीयावस्था है—इनका भेद, वहाँ नहीं है। आत्मसत्ता सदा अद्वैत है, और ये चारों अवस्थाएँ चित्त-संवेदन में होती हैं। हे बधिक ! ऐसा अनुभव करके मैं बाहर आया। बाहर भी मुझको वैसे ही दिखने लगा तब मैंने कहा कि यह जगत् मुझको उसके भीतर दिखा था, वह बाहर कैसे आया ? तब मैंने फिर उसके भीतर प्रवेश किया। प्रथम जब उसके भीतर मैंने प्रवेश किया था और उसके भीतर सृष्टि देखी थी, तब उसका और मेरा संवेदन मिल गया था, पर जब मैंने अपना संवेदन उससे भिन्न किया, तब दो ब्रह्माण्ड हो गये। एक उसका संवेदन फुरने में और एक मेरे संवेदन में भासित होने लगा, क्योंकि मैंने प्रथम उसकी सृष्टि को देख और अर्थरूप जानकर ग्रहण किया था। उसका संस्कार दृढ़ हो गया। आत्मसत्ता के आश्रय से जैसे संवेदन फुरता गया वैसे ही होकर भासित होने लगा। उसका स्वप्न मुझको जाग्रत् होकर भासित होने लगा-जैसे एक दर्पण में दो प्रतिबिम्ब दिखें, वैसे ही एक अनुभव में मुझे दो सृष्टि दिखने लगी। तब मैंने विचार किया कि सृष्टि संकल्परूप है। संकल्प प्रत्येक जीव का अपना-अपना है और अपने-अपने संकल्प की भिन्न-भिन्न सृष्टि है, इससे अनुभव के आश्रय से जैसा-जैसा संकल्प फुरता है, वैसी-वैसी सृष्टि दिखती है। सृष्टि का कारण और कोई नहीं।

हे बधिक ! आठ निमेष तक मुझको दो सृष्टि दिखती रहीं। फिर मैंने उसके और अपने चित्त की वृत्ति इकट्ठी करके मिलाई तो दोनों तद्रूप हो गई—जैसे जल और दूध मिलकर एकरूप हो जाते हैं। तब दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। जैसे दृष्टि भ्रम से आकाश में दो चन्द्रमा दिखते हैं और भ्रम के न रहने पर दूसरा चन्द्रमा का अभाव हो जाता है, वैसे ही द्वितीय वृत्ति के अभाव से दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। निदान एक ही सृष्टि दिखने लगी, नाना प्रकार के व्यवहार होते दिखे और चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र स्पष्ट भासित होने लगे। कुछ काल के उपरान्त चित्त की वृत्ति सुषुप्ति की ओर आई और स्वप्न की सृष्टि का विस्तार लीन

होने लगा-जैसे सन्ध्या के समय सूर्य की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं। जब वह सृष्टि चित्त में लय होने लगी, तब स्वप्न की सृष्टि मिट गई; सुषुप्ति अवस्था हुई और सब इन्द्रियाँ स्थिर हो गईं। हे बधिक ! सुषुप्ति तब होती है, जब जीव अन्न भोजन करता है और वह संवाही नाड़ी पर आकर स्थित होता है तब जाग्रत्‌वाली नाड़ी ठहर जाती है, उससे प्राण भी ठहर जाते हैं। तब मन भी ठहर जाता है। उसका नाम सुषुप्ति है। जब मन फिर फुरता है, तब जाग्रत्‌अवस्था होती है। इतना सुन राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जब मन प्राणों ही से चलता है, तब मन का अपना रूप तो नहीं हुआ ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! परमार्थ से कहिये तो देह ही नहीं है, तो मन क्या हो ? जैसे स्वप्न में पहाड़ दिखते हैं, वैसे ही यह शरीर दिखता है, क्योंकि सबका आदि—कारण कोई नहीं; इससे जगत् मिथ्याभ्रम है—केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जो तत्त्ववेत्ता हैं, उनको तो ऐसे ही भासित होता है। अज्ञानी के निश्चय को हम नहीं जानते हैं। जैसे सूर्य उलूक के अनुभव को नहीं जानता और उलूक सूर्य के निश्चय को नहीं जानता, वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय भिन्न-भिन्न होता है। शुद्ध चिन्मात्र आकाश में जगत्-भ्रम कुछ नहीं है, पर स्फुरणभाव से जीव अपने चेतन वपु को भूल, ज्ञान बिना ही मनभाव को प्राप्त होता है और तब मन आत्मसत्ता के आश्रित होकर प्राणवायु को अपना आश्रय कल्पना करता है कि यह मेरा प्राण है। हे राम ! फिर जैसे-जैसे मन कल्पना करता है, वैसे-वैसे देह, इन्द्रियाँ और जगत् दिखते हैं। परब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न है। उसमें जैसी-जैसी भावना से मन फुरता है, वैसा ही वैसा रूप भासित होता है। वास्तव में और कुछ नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। मन का फुरना जैसे-जैसे दृढ़ हुआ है, वैसे ही वैसे देह, इन्द्रियाँ और जगत् भासित होने लगा है। जैसे स्वप्न में कल्पनामात्र जगत् दिखता है, वैसे ही इसे जानो। हे राम ! जितने विकल्प उठते हैं, वे सब मन के रचे हुए हैं। जब मन उदय होता है, तब यह

स्फुरण होता है कि यह पदार्थ सत्य है और यह असत्य है। जब चित्तशक्ति का मन से सम्बन्ध होता है, तब प्रथम प्राण उदय होते हैं और प्राण को ग्रहण करके मन कहता है कि मैं जीव हूँ; प्राण ही मेरी गति है, प्राण के बिना मैं कहाँ था ? फिर कहता है कि जब प्राण का वियोग होगा, तब मैं मर जाऊँगा, फिर न रहूँगा। फिर ऐसे कहता है कि मरकर भी मैं जियूँगा। हे राम ! संशयवाले को न इस लोक में सुख है और न परलोक में। जब तक आत्मबोध का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक चित्त भी निर्वाण नहीं होता और विकल्प भी नहीं मिटते।

हे राम ! मन के विस्मरण का उपाय आत्मज्ञान के सिवा कोई नहीं है और मन के शान्त हुए बिना कल्याण भी नहीं होता। दो उपायों से मन शान्त होता है। मन की वृत्ति स्थित करने और प्राणस्पन्द के रोकने से भी मन स्थिर होता है। तब प्राण रुक जाते हैं और प्राण के स्पन्दन को रोकने से भी मन स्थिर होता है। जब प्राण क्षोभ को प्राप्त होते हैं, तब चित्त में भी क्षोभ होता है और तभी जीव आध्यात्मिक और आधिभौतिक तापों की अग्नि से जलता है। मन को स्थिर करने से परमसुख प्राप्त होता है। इस मन की स्थिति दो प्रकार की है—एक ज्ञान की स्थिति, दूसरी अज्ञान की स्थिति। जब प्राणी बहुत अन्न भोजन करता है, तब वह नाड़ी पर जाकर स्थित होता है और प्राण ठहर जाता है। जब प्राण ठहरता है, तब मन भी जड़ीभूत हो जाता है, उसी का नाम सुषुप्ति है। वे नाड़ी कौन हैं, जिन पर अन्न जाकर स्थित होता है ? वे नाड़ी वे ही हैं, जिनके मार्ग से जाग्रत् में प्राण निकलते हैं। जब वासना के साथ वे ही नाड़ी रोकी जाती हैं, तब मन सुषुप्ति हो जाता है। यह अज्ञानी के मन की स्थिति है, क्योंकि उसमें जड़ता है, अतएव वह संसार के लिये शीघ्र ही फिर उठ आता है। जैसे पृथ्वी में बीज समय पाकर अंकुरित होता है, वैसे ही वह संस्कार-वश फिर सुषुप्ति से उठता है। जो ज्ञानवान् सम्यक्दर्शी है, उसका चित्त चेतनता के लिए स्थिर होता है। वह चेतनता दो प्रकार की है—एक तो योगी की होती है, जिससे वह समाधि में मन को स्थिर करता है वह

समाधिनिष्ठ चित्त है; जड़ता नहीं। जैसी सुषुप्ति में जड़ता होती है, वैसी जड़ता वह नहीं है। दूसरे, ज्ञानवान् जीवन्मुक्त के चित्त की वृत्ति सम्यक्ज्ञान से स्थिर होती है, क्योंकि उसका चित्त वासना से रहित है। यही स्थिति है। जिसका चित्त इस प्रकार स्थिर है, उसी पुरुष को शान्ति होती है, और जिसका चित्त वासना सहित है उसको कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती। उसके दुःख भी नहीं मिटते। उसका चित्त निर्वासनिक करने को सम्यक्ज्ञान का कारण यह मेरा शास्त्र ही है। इसके समान और कोई उपाय नहीं। हे राम ! यह जो मोक्ष का उपाय शास्त्र मैंने कहा है, उसके विचार से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होगी। इससे सर्वदा इसी का विचार करना चाहिये। जब इसको भली प्रकार विचारोगे, तब चित्त निर्वासनिक हो जायगा।

अब वही बधिक का प्रसंग सुनो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जब मैंने उस पुरुष के चित्त में प्राणमार्ग से प्रवेश किया, तब देखा, उसके प्राण रोके गये हैं और अन्न से जो जाग्रत् नाड़ी फुरती थी, वह भी रोकी गई है, क्योंकि अन्न पचा न था, इस कारण वह सुषुप्ति में था। उसकी सुषुप्ति में मुझको भी अपना आपा भूल गया। जब कुछ अन्न पचा, तब उसके प्राण जागने लगे और जब प्राण जागने लगे तब चित्त की वृत्ति ने भी कुछ जड़ता को त्यागा। पर सम्पूर्ण जड़ता नहीं गई। प्राण के जगने से चन्द्रमा, सूर्य आदि जो कुछ विश्व है, वह भी जगा। तब मैंने नाना प्रकार के जगत् को देखा और मुझे अपना पूर्वसंस्कार भूल गया। निदान वहाँ मैं भी अपने कुटुम्ब में रहने लगा। साथ ही मुझे अपनी कुटी दिखी और स्त्री, पुत्र, भाई, जन, बान्धव सब दिखे। फिर मेरे देखते-देखते प्रलयकाल के पुष्कर मेघ गर्जने लगे, मूसलाधार जल बरसने लगा और सातों समुद्र उमड़ने लगे। निदान जो कुछ प्रलयकाल के उपद्रव होते हैं, वे सब प्रकट हुए। प्रथम अग्नि लगी। जब अग्नि लग चुकी और सब स्थान जल गये, तब जल का उपद्रव प्रकट हुआ। तब मैंने क्या देखा, कि नगर, ग्राम, पुर, मनुष्य, पशु, पक्षी सब बहते जाते हैं। हाहाकार शब्द के साथ बड़ा क्षोभ

हुआ। मैंने और एक आश्चर्य देखा कि मेरी कुटी भी बही जा रही है, मेरे स्त्री, पुत्र, भाई, जन इत्यादि भी सब जल के प्रवाह में बहे जा रहे हैं। जिस स्थान में हम थे, वह स्थान भी बहा जा रहा था और मैं भी लुढ़कता जाता था। निदान बहते-बहते मुझको ऐसा कष्ट हुआ कि कहा नहीं जा सकता। एक तरंग से तो मैं ऊपर को चला जाता और एक तरंग के साथ नीचे चला जाता। तब मुझे अपना पूर्व शरीर याद आ गया। जितना कुछ जगत् है, वह मुझको सब दिखने लगा। सब मिथ्या रागद्वेष मिट गया और शरीर की सब चेष्टा उसी प्रकार होने लगी। तरंग के साथ कभी ऊपर कभी नीचे आता-जाता था। परन्तु मेरा हृदय शान्त हो गया। उस समय नगर, देश और मण्डल बहते जा रहे थे। त्रिनेत्र सदाशिव और विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, सिद्ध आदि सब बहते जा रहे थे। अष्टदल कमल की पंखड़ी पर बैठे ब्रह्माजी और इन्द्र, कुबेर और विष्णु भी अपनी-अपनी पुरियों सहित बहते जा रहे थे। पहाड़, द्वीप, लोकपाल भी बहते जा रहे थे। सब पातालवासी प्रलय के जल में बहते जा रहे थे। यम भी अपने वाहन सहित बहते जा रहे थे। किसी में ऐसी सामर्थ्य न थी कि किसी को कोई निकाले, क्योंकि आप ही सब बहते जा रहे थे और डूबते और गोते खाते थे। बड़े ऐश्वर्यशाली देवता भी बहे जा रहे थे। जो संसारसुख के लिए यत्न करते हैं, वे महामूर्ख हैं। लोग जिनके लिए यत्न करते हैं, वे सुख और सुख के देनेवाले सब बहते जा रहते थे। वैसे ही सब ऋषीश्वर भी बहते जा रहे थे। हे बधिक ! मैंने इस प्रकार उसके स्वप्न में महाप्रलय होता देखा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हृदयान्तरस्वप्नमहाप्रलयवर्णनन्नाम द्विशताधिकसप्तविंशतितमस्सर्गः ।। २२७ ।।

बधिक ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यह महाप्रलय तुमने कहा कि उसमें ब्रह्मादिक भी बहते जा रहे थे। परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक तो स्वतंत्र ईश्वर हैं, वे परतन्त्र हुए बहते जाते तुमने कैसे देखे ? वे अन्तर्धान क्यों न हुए ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह जो प्रलय हुआ सो क्रम से नहीं

हुआ। जब क्रम से प्रलय होता है, तब ये ईश्वर समाधि से शरीर को अन्तर्धान कर लेते हैं। परन्तु यहाँ तो अन्तर्धान होने से पहले ही जल चढ़ गया। इसका कुछ नियम नहीं; क्योंकि यह जगत् भ्रमरूप है। इसमें क्या आस्था करनी है। स्वप्न में क्या नहीं बनता और स्वप्नभ्रान्ति से विपर्यय भी होते हैं, इसलिए उनको बहते देखा। व्याध ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जब वह स्वप्न भ्रम था तो उसका वर्णन क्यों किया ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक, तुझसे इस समानता का अर्थ कहता हूँ। मैं कह चुका हूँ कि स्थावर जंगम जगत् बहता देखा और साथ ही मैं भी बहता जाता था, जल की लहरें उछलती थीं और उन तरंगों में मैं भी उछलता था, परन्तु मुझको कुछ कष्ट न होता था। निदान मैं बहता बहता एक किनारे पर जा लगा। उसके पास एक पर्वत था, उसकी कन्दरा में पहुँचा। वहाँ मैंने देखा कि जीव बहते हैं और जल भी सूखता जाता है। जल के सूखने से कीचड़ हो गई। किसी जगह जल रहा, उसमें कोई डूबते दिखते थे। कहीं ब्रह्मा के हंस, कहीं यम के वाहन और कहीं विष्णु के वाहन कीचड़ में पहाड़ की नाईं डूबते देख पड़ते थे। कहीं इन्द्र के हाथी और विद्याधर आदि वाहन कीचड़ में धँसे देख पड़े। देवता, सिद्ध, गन्धर्व, लोकपाल भी देखे। इससे मुझे आश्चर्य हुआ।

हे बधिक ! इस प्रकार देखता हुआ जब मैं पहाड़ की कन्दरा में सो गया, तब मुझको अपनी संवित् में स्वप्न आया। उसमें मैंने चन्द्रमा, सूर्य आदि नाना प्रकार के भूत जलते देखे, नगर और पर्वत जलते देखे और जगत् बड़े खेद को प्राप्त हुआ देखा। जब रात्रि हुई तो वहाँ सोया हुआ स्वप्न देखता रहा। दूसरे दिन फिर मैंने उसमें जगत् देखा। सूर्य, चन्द्रमा, देश, नदियाँ, समुद्र, मनुष्य, देवता, पशु पक्षी नाना प्रकार की क्रियाएँ करते देख पड़ने लगे। मैंने अपना सोलह वर्ष का शरीर देखा। मुझे अपने पिता और माता देख पड़े। उनको देख मैंने पिता और माता जाना और उन्होंने मुझको अपना पुत्र जाना। निदान स्त्री, कुटुम्ब, बान्धव समस्त मुझको देख पड़े। मैं बोध से रहित और तृष्णा सहित था, इससे मुझमें अहं-मम का

अभिमान जगा। मैंने एक ग्राम में, जहाँ मेरा गृह था, ईंट और काष्ठ संग्रह करके एक कुटी बनाई। उसके चौफेर बेल बूट लगाकर एक आसन बनाया, जहाँ कमण्डलु और माला पड़ी थी। मैं ब्राह्मण था, मुझको धन कमाने की इच्छा हुई। और जो कुछ ब्राह्मण का आचार व चेष्टा थी, वह भी मैं करता था। बाहर जाकर ईंट और काष्ठ ले आता और आकर कुटी बनाता था। यह चेष्टा मेरी होने लगी। शिष्य और सेवक मेरी पूजा करने लगे। मैं यथायोग्य उनको आशीर्वाद देता था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में मैं चेष्टा करने लगा। मेरे मन में यह विचार उपजा कि यह कर्तव्य है, इसके करने से भला होता है। नदियों और तालाबों में मैं स्नान करता, गौ की टहल करता और अतिथि की पूजा करता था। हे बधिक ! इस प्रकार चेष्टा करता मैं सौ वर्ष तक वहाँ रहा। तब एक समय मेरे घर में एक मुनीश्वर आये। मैंने प्रथम उनको स्नान कराया, फिर भोजन से तृप्त किया और रात्रि के समय शय्या पर शयन कराया। इस प्रकार उनकी सेवा कर रात्रि को हम वार्ता-चर्चा करने लगे। उससे उन्होंने मुझको बड़े पर्वत, कन्दरा और चित्त के मोहनेवाले सुन्दर देश, स्थानों के विषय में नाना प्रकार के संवाद सुनाये। वह कहने लगे कि हे ब्राह्मण ! जितने सुन्दर स्थानों का हाल और समाचार तुमको सुनाये हैं, उन सबमें सार एक चिन्मात्ररूप है। इससे सब चिन्मात्र स्वरूप है। सब जगत् उसका चमत्कार और आभास (किञ्चन) है। उससे कोई वस्तु भिन्न नहीं। इससे हे ब्राह्मण ! उसी सत्ता को ग्रहण करो, जो सबका अनुभव और परमानन्दस्वरूप है। उसी में स्थित हो जाओ।

हे बधिक ! उस मुनीश्वर ने जब इस प्रकार मुझसे कहा, तब पहले ही से मेरा मन योग से निर्मल होने के कारण उनके वचन मेरे चित्त में चुभ गये और मैं अपनी स्वभावसत्ता में जाग उठा। तब मैंने देखा कि सब मेरा संकल्प है, मुझसे भिन्न कोई नहीं; मैं तो मुनीश्वर हूँ और यह स्वप्न आया था। मैंने जागकर देखा कि यह उस पुरुष का स्वप्न था। तब मेरे मन में आया कि किसी प्रकार इसके चित्त से बाहर निकलूँ और अपने

शरीर में प्रवेश करूँ। मैंने फिर विचारा कि यह जगत् तो उस पुरुष का शरीर है। वही पुरुष विराट् है, जिसके स्वप्न में यह जगत् है। परन्तु उस पुरुष को अपने विराट्स्वरूप का प्रमाद है, इससे जैसा हमारा शरीर बना है, उसके स्वप्न में वह भी वैसा एक दूसरा विराट् बन पड़ा है। तो फिर उस विराट् को कैसे जानिये कि उसके चित्त से निकला जाय। हे बधिक ! इस प्रकार विचारकर मैंने पद्मासन बाँधा और योग की धारणा कर उस विराट्स्वरूप के शरीर को देखा। फिर जहाँ चित्त की वृत्ति जगती थी, उसके साथ मिलकर और प्राण के मार्ग से निकलकर मैंने अपनी कुटी को और उसमें अपने शरीर को पद्मासन लगाये देखा। तब मैंने उसमें प्रवेश करके नेत्र खोले तो अपने सामने शिष्य बैठे देखे। वह पुरुष सोया था, उसको भी देखा। एक मूहूर्त बीता, तब मुझे आश्चर्य हुआ कि भ्रम में क्या-क्या चेष्टा देख पड़ती है। यहाँ एक मूहूर्त बीता है और वहाँ मैंने सौ वर्ष का अनुभव किया। बड़ा आश्चर्य है कि भ्रम से क्यों नहीं होता। फिर मेरे मन में आया कि उसके चित्त में प्रवेश करके कुछ और कौतुक भी देखूँ। तब प्राण के मार्ग से उसके चित्त में मैंने फिर प्रवेश किया तो देखा, अगली कल्पना बीत गई है; बान्धव, पुत्र, स्त्री, माता, पिता आदि सब नष्ट हो गये हैं और दूसरा कल्प आ गया है। उसका भी प्रलय होता है बारह सूर्य उदय होकर विश्व जलाने लगे हैं। बड़वाग्नि जलने लगी है। मन्दराचल और अस्ताचल पर्वत जलकर टूक-टूक हो गये हैं। पृथ्वी जर्जर हो गई है। स्थावर-जंगम जीव हाहाकार कर रहे हैं। बिजली चमकती है। तब बड़ा क्षोभ हुआ। हे बधिक ! मैं अग्नि में जा पड़ा। मेरा शरीर भी जलने लगा। परन्तु मुझको कुछ कष्ट न हुआ। जैसे किसी पुरुष को अपने स्वप्न में कष्ट प्राप्त हो और जब जाग उठे तो कुछ कष्ट नहीं होता, वैसे ही अग्नि का कष्ट मुझको कुछ न हुआ। मैं अपने को वही जाग्रत्वाला रूप जानता था। जगत्-प्रलय को भ्रममात्र जानता था। इस कारण मुझको कष्ट न होता था। चेष्टा तो मैं भी उसी प्रकार

देखता और करता था, परन्तु हृदय से ज्यों का त्यों शान्त चित्त था। और लोग अग्नि के क्षोभ से कष्ट पाते थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हृदयान्तर प्रलयाग्निकदाहवर्णनं नाम द्विशताधिकाष्टविंशतितमस्सर्गः ।। २२८ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! प्रलय के क्षोभ में मैं भी भटकता था और जल में बहता था, परन्तु पूर्व का शरीर मुझको विस्मरण न हुआ, इस कारण शरीर का दुःख मुझको स्पर्श न करता था। मैंने विचारा कि यह जगत् तो मिथ्या है, इसमें बिचरने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? यह तो स्वप्नमात्र है। इसमें मैं किस निमित्त खेद पाऊँ—इससे जगत् से बाहर निकलूँ। बधिक ने पूछा, हे मुनीश्वर ! तुमने जो उस स्वप्न में जगत् को देखा, वह जगत् क्या वस्तु था और स्वप्न क्या था ? उसकी संवित् में जगत् था और उस जगत् का उसको ज्ञान था वह प्रमादी था ? तुमने तो जाग्रत् होकर उसका स्वप्न देखा था, उसके हृदय में पहाड़ कहाँ से आया और नदियाँ वृक्ष आदि नाना प्रकार के भूतजाति और पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि विश्व की रचना कहाँ से आई ? वह सब क्या था ? यह मेरा संशय दूर करो। जो तुम कहो कि अपने स्वप्न में तुम भी अपनी सृष्टि देखते हो तो हे भगवन् ! हमको जो स्वप्न देख पड़ता है, उसे हम अपने स्वरूप के प्रमाद से देखते हैं। पर तुमने जाग्रत् होकर देखा, तो कैसे देखा ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! प्रथम जो मैंने देखा था, वह अपने को भूलकर उसके हृदय में जगत् देखा था। और दूसरी बार जो देखा, वह अपने को जानकर जगत् देखा था। वह क्या वस्तु है सुनो। हे बधिक ! जो वस्तु कारण से होती है, वह सत्य होती है और जो कारण बिना दिखती है वह मिथ्या होती है। मुझको जो सृष्टि उसके स्वप्न में दिखी थी, वह कारण बिना थी, क्योंकि कारण दो प्रकार का होता है—एक निमित्त कारण; जैसे घट का कारण कुम्हार होता है और दूसरा समवाय कारण; जैसे घट मृत्तिका का होता है। जो दोनों प्रकार से उत्पन्न करे, वह कारण कहाता है। पर आत्मा तो दोनों प्रकार से जगत्

का कारण नहीं। वह अद्वैत है, इससे निमित्तकारण नहीं। और समवायकारण भी इसलिए नहीं कि अपने स्वरूप से अन्यथाभाव नहीं हुआ। जैसे मृत्तिका के परिणाम से घट होता है, वैसे ही आत्मा का परिणाम जगत् नहीं है। आत्मा अच्युत है। वह जगत् कारण के बिना भासित हुआ था, इससे भ्रममात्र ही था।

हे बधिक ! वस्तु वही होती है, तो जगत् की भ्रान्ति आत्मा में भासित हुई, इसलिए जगत् आत्म-रूप हुआ। जब सृष्टि उपजी न थी, तब अद्वैत आत्मसत्ता थी। उसमें संवेदन जगने से जगत् हुए की नाईं उदय हुआ, सो क्या हुआ—जैसे सूर्य की किरणों में जल दिखता है तो वह किरण ही जलरूप प्रतीत होती है, वैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है। आत्मा ही जगद्रूप होकर भासित होता है। वहाँ न कोई शरीर था न कोई हृदय था। न पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश था और न उत्पत्ति और प्रलय था, न और कोई था। केवल चिन्मात्ररूप ही था। हे बधिक ! ज्ञानदृष्टि से मुझे तो सच्चिदानन्द ही भासित होता है। वह शुद्ध और सब दुःखों से रहित परमानन्द है। जगत् भी वही रूप है। तुम सरीखे को जो जगत् शब्द-अर्थरूप भासित होता है सो आत्मा में कुछ हुआ नहीं, केवल चिन्मात्र सत्ता है। सर्वदा मुझको आत्मरूप ही भासित होता है। जो तू चाहे कि मुझको भी चिन्मात्र ही भासित हो तो ऐसा समझ कि सब कल्पना मन से त्यागने पर उसके पीछे जो शेष रहेगा, वह आत्मसत्ता है, सबका अनुभवरूप वही है। वह प्रत्यक्ष, शुद्ध, सर्वदा स्वभावसत्ता में स्थित और अमर है। तू भी उस स्वभाव में स्थित हो। हे बधिक ! आत्मसत्ता परमसूक्ष्म है; जिसमें आकाश भी स्थूल है। जैसे सूक्ष्म अणु से पर्वत स्थूल होता है, वैसे ही आत्मा से आकाश भी स्थूल है। आत्मा में यही सूक्ष्मता है कि आत्मतत्त्वमात्र है, जिसमें कोई उत्थान नहीं, केवल निर्मल स्वभावसत्ता और निराभास है। उसी में यह जगत् भासित होता है, इससे वही रूप है। जैसे काल में क्षण, पल घड़ी, पहर, दिन, मास, वर्ष और युगसंज्ञा जो होती है सो काल ही है, वैसे ही एक ही आत्मा में अनेक नामरूपवाला जगत्

होता है। जैसे एक बीज में पत्ते, टहनी, फूल, फल, नाम आदि होते हैं, वैसे ही एक आत्मा में अनेक नामरूपवाला जगत्‌ होता है। वह आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु नहीं, सब आत्मस्वरूप है। जो आत्मा से भिन्न भासित हो, उसे भ्रममात्र जानो। जैसे संकल्पपुर होता है वैसे ही यह जगत्‌ है।

हे बधिक ! आत्मा में जगत्‌ कुछ बना नहीं। वही आत्मा तेरा अपना अनुभवरूप और परमशुद्ध है। उसमें न जन्म है, न मृत्यु। वह चिदाकाश अपना आप है। वही तेरा अपना अनुभवरूप शुद्धसत्ता है—उसको नमस्कार है। हे बधिक ! तू उसमें स्थित हो। तब तेरे दुःख नष्ट हो जावेंगे। यह जगत्‌ अज्ञानी को सत्य लगता है, और ज्ञानवान्‌ को सदा आकाशरूप दिखता है। जैसे एक पुरुष सोया हो और एक जागता हो, तो जो सोया है उसको स्वप्न में महल आदि जगत्‌ दिखता है और जो जागता है, उसको आकाशरूप है, वैसे ही अज्ञानी को जगत्‌ दिखता है और ज्ञानवान्‌ को आत्मरूप है। बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! कुछ लोग कहते हैं कि यह जीव कर्म से होता है और कुछ कहते हैं कि कर्म के बिना उत्पन्न होता है। इन दोनों में सत्य क्या है ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! आदि में जो परमात्मा से ब्रह्मादिक उपजे हैं, वे कर्म से नहीं हुए। वे कर्म बिना ही उत्पन्न हुए हैं, उन्हें न कहीं जन्म है और न कर्म है। वे ब्रह्मस्वरूप ही हैं। उनका शरीर भी ज्ञानरूप है। वे और अवस्था को नहीं प्राप्त होते। उनको सर्वदा अधिष्ठान आत्मा में अहंप्रतीति है। हे बधिक ! सृष्टि के आदि में जो ब्रह्मादिक उपजे हैं, वे ब्रह्म से भिन्न नहीं। और जो अनन्त जीव उपजे हैं और जिनका आदि में ही आत्मपद से प्रकट होना हुआ है, वे भी ब्रह्मरूप हैं। ब्रह्म से कुछ भिन्न नहीं। आदि सबका चेतन ब्रह्म स्वयंभू हैं। परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक को अविद्या ने स्पर्श नहीं किया। वे विद्यारूप हैं। दूसरे जीव अविद्यावश प्रमाद करके परतन्त्र हुए हैं। वे कर्म करके कर्म के वश हुए हैं और संसार में शरीर धारण करते हैं। जब उनको आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, तब वे कर्म के बन्धन से मुक्त होकर आत्मपद को पाते हैं।

हे बधिक ! आदि में जो सृष्टि हुई है, वह कर्म के बिना उपजी है। ये जीव पीछे अज्ञान के वश ही कर्म के अनुसार जन्म-मरण देखते हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि आदि में कर्म के बिना उत्पन्न होती है और पीछे कर्म से उत्पन्न होती भासित होती है; वैसे ही यह जगत् है। आदि में जीव कर्म के बिना उपजे हैं और पीछे कर्म के अनुसार जन्म पाते हैं। ब्रह्मादिक के शरीर शुद्ध ज्ञानरूप हैं। ईश्वर में जीवभाव दिखता है, पर उस काल में भी वह ब्रह्मस्वरूप ही है, क्योंकि उन ईश्वरों के कर्म कोई नहीं, केवल आत्मा ही उनको दिखता है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में द्रष्टा ही दृश्यरूप होता है और नाना प्रकार के कर्म दिखते हैं, परन्तु और कुछ हुआ नहीं, वैसे ही जो कुछ जगत् दिखता है, सो सब चिन्मात्रस्वरूप है, और कुछ नहीं सुख-दुःख भी वही भासित होता है, परन्तु अज्ञानी को जब तक जगत् की प्रतीति होती है, तब तक वह कर्मरूपी फाँसी से बँधा हुआ दुःख पाता है। जब स्वरूप में स्थित होगा, तब कर्म के बन्धन से मुक्त होगा। किन्तु वास्तव में न कोई कर्म है, और न किसी को बन्धन है। यह मिथ्या भ्रम है। केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। दूसरा कुछ हो तो मैं कहूँ कि इस कर्म ने इसको बन्धन किया है। यह जगत् आत्मा में ऐसा है, जैसे जल में तरंग होता है, सो भिन्न कुछ नहीं। जल से तरंग उत्पन्न होता है, सो किस कर्म से होता है और क्या उसका रूप है ? जैसे वह जल रूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी आत्मस्वरूप है—आत्मा से इतर कुछ नहीं। जो कुछ कल्पना कीजिये, वह अविद्यामात्र है।

हे बधिक ! जब तक यह संवित् बहिर्मुख जगती है, तब तक जगत् भासित होता है और कर्म होते दिखते हैं। जब संवित् अन्तर्मुख होगी, तब न कोई जगत् रहेगा और न कोई कर्म देख पड़ेगा। तब सब आत्मसत्ता ही भासित होगी। जैसे मुझको सदा आत्मसत्ता भासित होती है, वैसे ही तुमको भी भासित होगी। हे बधिक ! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् आत्मतत्त्व दिखाई देता है, और जो अज्ञानी हैं, उनको प्रमाद से द्वैतरूप भासित होता है। इससे वह पदार्थों को सुखरूप जानकर पाने का यत्न

करता है, सुख से सुखी और दुःख से द्वेष करता है। पर परमानन्द जो आत्मपद है, उसके पाने का यत्न नहीं करता। ज्ञानवान् सदा परमानन्द में स्थित है। उसको सब जगत् ब्रह्मस्वरूप दिखता है। हे बधिक ! सब जगत् जो तुझको दिखता है, वह चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म है। न कोई स्वप्न है, न कोई जाग्रत् है, न कोई कर्म है और न कोई अविद्या है। सब ब्रह्मस्वरूप सदा अपने आप में स्थित है। उसमें और कुछ नहीं। जैसे जल में आवर्त होता है, परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म में जगत् हुए की नाईं भासित होता है, परन्तु ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। तू विचार करके सब जगत् ब्रह्मस्वरूप देख। तब तेरे दुःख मिट जावेंगे। जब तक विचार करके स्वरूप न पावेगा, तब तक दुःख न मिटेगा। जब स्वरूप को पावेगा, तब सब कर्म नष्ट हो जावेंगे। जितना विचार होता है, उतना ही सुख मिलता है। जहाँ विचार उत्पन्न होता है, वहाँ से अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही जहाँ सत्य असत्य का विचार उत्पन्न होता है, वहाँ अविद्या का अभाव हो जाता है। वह फिर संसारचक्र में नहीं फँसता, बल्कि परमपद को प्राप्त होता है। जिस ज्ञानवान् को यह पद प्राप्त हुआ, वह दुखी नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्मनिर्णयो नाम
द्विशताधिकैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २२९ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वह अवश्य उस परमानन्द को प्राप्त होता है, जिसके पाने से इन्द्रियों का आनन्द सूखे तृण सा तुच्छ प्रतीत होता है। वैसा सुख पृथ्वी, आकाश और पाताल में भी कहीं नहीं मिलता, जैसे सुख ज्ञानवान् को प्राप्त होता है। जिसको ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ है, वह किसकी इच्छा करे ? आत्मानन्द तब प्राप्त होता है, जब आत्मज्ञान का अभ्यास होता है। आत्मा शुद्ध और सर्वदा अपने आपमें स्थित है। जो कुछ आगे देख पड़ता है, वह अविद्या का विलास है। जब तू अपने स्वरूप में स्थित होगा, तब तुझको सब ब्रह्म ही भासित होगा। हे बधिक ! पृथ्वी आदि तत्त्व जो देख पड़ते हैं, वे वास्तव में हैं नहीं।

ये जो कुछ होते तो इनका कारण भी कोई होता, पर जब ये ही नहीं हैं, तब इनका कारण किसको कहिये। और जो इनका कारण नहीं तो कार्य किसका कहिये। इसलिए ये भ्रममात्र हैं। विचार करने से जगत् का अभाव हो जाता है और आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों प्रतीत होती है। जैसे किसी को रस्सी में सर्प दिखता हैं, पर जब वह भली प्रकार देखता है, तब सर्प का भ्रम मिट जाता है और ज्यों की त्यों रस्सी ही दिखती है, वैसे ही विचार किये से आत्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे आकाश में संकल्प का कल्पवृक्ष अथवा देवता की प्रतिमा रचकर उससे प्रार्थना करो तो अनुभव से कार्य सिद्ध होता है, वैसे ही जितना जगत् तू देखता है सो सब संकल्पमात्र और अनुभवरूप है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि स्वप्नमात्र है, वैसे ही यह सब विश्व ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है। आदि में परमात्मा से कर्म के बिना जो सृष्टि उपजी है, वह किञ्चन आभासरूप है। फिर आगे जो ब्रह्मा ने रचा है, वह संकल्परूप है, फिर आगे जीव अज्ञान से कर्म करने लगे। तब उन कर्मों से उत्पत्ति होती देख पड़ी है। जैसे स्वप्न में स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र होने पर भी दृढ़ भासती है—जब तक स्वप्न की अवस्था है, तब तक जैसा वहाँ कर्म करेगा, वैसा ही भासित होगा और जब जाग उठे तो न कहीं कर्म है, न जगत् है—वैसे ही यह सब संकल्पमात्र है। ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है।

हे बधिक ! ये जो मनुष्य तुझको दिखते हैं, वे जब मनुष्य ही नहीं तो उनके कर्म मैं तुझसे कैसे कहूँ ? जैसे स्वप्न के निवृत्त होने पर स्वप्न की सृष्टि का अभाव हो जाता है, वैसे ही अविद्या के निवृत्त होने पर अविद्या की सृष्टि का भी अभाव हो जाता है। आत्मसत्ता अद्वैत है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं—वही रूप है। जैसे आकाश और शून्यता, अथवा वायु और स्पन्दन में भेद नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। जब चित्तसंवित् जगती है, तब जगत् होकर भासित होती है, और जब नहीं जगती तब अद्वैत होकर स्थित होती है। पर आत्मसत्ता जगने और न जगने में ज्यों की त्यों है। जन्म-मरण और बढ़ना-घटना मिथ्या है; क्योंकि

दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे किसी ने जल और किसी ने पानी कहा तो दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, वैसे ही आत्मा और जगत् एक ही के नाम हैं, परन्तु अज्ञान से भिन्न भिन्न लगते हैं। जैसे स्वप्न में कार्य दिखते हैं, परन्तु होते नहीं, वैसे ही जाग्रत् में कारण-कार्य दिखते हैं, परन्तु हैं नहीं—वास्तव में आत्मतत्त्व ही है। उस आत्मा में जो अहं-मम रूप चित्त फुरता है और उस उत्थान से आगे जो कुछ स्फुरण होता है, वही जगत् है। उस जगत् में जैसा-जैसा निश्चय होता है, वैसा ही वैसा भासित होने लगता है—इसका नाम नेति है। उसमें देश, काल और पदार्थ की संज्ञा होने लगती है। और कारण-कार्य जो देख पड़ते हैं सो क्या हैं ? केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। कुछ हुआ नहीं, परन्तु हुए की नाईं दिखता है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार का जगत् दिखता है और कारण-कार्य भी दृष्टि देख पड़ता है, परन्तु जागने पर कुछ दृष्टिगत नहीं होता, क्योंकि है ही नहीं, वैसे ही यह जगत् कारण-कार्यरूप दिखता है, परन्तु है नहीं। आत्मा से दिखता है, इसलिए आत्मा ही है। जैसे संकल्प-नगर दिखता है, वैसे ही आत्मा में घन चैतन्य से जगत् दिखता है, सो वही रूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसा आत्मा में निश्चय होता है, वैसा ही प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह सब जगत् संकल्पमात्र है; संकल्प ही जहाँ तहाँ उड़ते फिरते हैं। अनुभवसत्ता ज्यों की त्यों है-संकल्प से ही प्राणी मरकर परलोक देखता है।

बधिक बोला, हे भगवन् ! परलोक में जो यह मर कर जाता है तो उस शरीर का कारण कौन होता है और वह मरता और मारता कौन है ? यह शरीर तो यहीं रहता है, वहाँ भोक्ता शरीर कौन होता है, जिससे जीव सुख-दुःख भोगता है ? जो तुम कहो कि उस शरीर का कारण धर्म-अधर्म होता है तो धर्म-अधर्म तो अमूर्ति है, उससे समूर्ति और साकाररूप क्योंकर उत्पन्न हुआ ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! शुद्ध अधिष्ठान जो आत्मसत्ता है, उसके फुरने की अनेक संज्ञा होती हैं-कर्म, आत्मा, जीव फुरना, धर्म अधर्म आदि नाना प्रकार के उसके नाम हैं। जब

शुद्ध चिन्मात्र में अहं का उत्थान होता है, तब देह की भावना होती है और देह ही भासित होने लगती है। आगे जगत् भासित होता है और स्वरूप के प्रमाद से संकल्परूप जगत् दृढ़ हो जाता है। फिर उसमें जैसा-जैसा फुरता है, वैसा-वैसा ही भासित होता है। हे बधिक ! यह जगत् संकल्पमात्र है, परन्तु स्वरूप के प्रमाद से सत्य दिखता है। प्रमाद से शरीर में अभिमान हो गया है, उससे जीव अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। वासना दृढ़ हो जाने से उसके अनुसार परलोक देखता है। हे बधिक ! वहाँ न कोई परलोक है और न यह लोक है। जैसे मनुष्य एक स्वप्न को छोड़कर दूसरे स्वप्न को देखे, वैसे ही जीव अविदित वासना से इस लोक को त्यागकर परलोक को देखता है। जैसे स्वप्न में निराकार ही साकार शरीर उत्पन्न होता है, वैसे ही परलोक है। पर वास्तव में संकल्प ही पिण्डाकार होकर भासित होता है। जैसी वासना होती है, वैसा ही उसके अनुसार होकर दिखता है। वास्तव में शरीर और पदार्थ सभी आकाशरूप हैं। हे बधिक ! असत्य जन्म-मरण सत्य होकर भासित होता है। जैसा-जैसा फुरना होता है, वैसा ही वैसा भासित होता है-जगत् आभासमात्र है।

जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको आत्मभाव ही सत्य है। उसमें जैसा निश्चय होता है, वैसा भान होता है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातारूप जगत् जो भासित होता है, वह अनुभव से भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न में जो अनेक पदार्थ दिखते हैं, सो अनुभव ही अनेक रूप होकर भासित होता है और प्रलय में सब एक हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानरूपी प्रलय में सब एकरूप हो जाते हैं। जब संवित् जगती है, तब नाना प्रकार का जगत् दिखता है। और जब संवित् लय होती है, तब प्रलय हो जाता है और सब एकरूप हो जाता है। एक चिन्मात्र सत्ता अपने आपमें स्थित है। पृथ्वी आदि पदार्थ उसका चमत्कार है, भिन्न वस्तु कुछ नहीं। आत्मसत्ता निर्विकार है। उसमें निराकार और साकार भी कल्पित है। जो पुरुष दृश्य से मिले चेतन हैं, वे जड़धर्मी हैं। उनको नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं। ज्ञानवान् को

सत्यरूप चिन्मात्र ही भासित होता है। हे बधिक ! यह सब जगत् चिन्मात्र है। जब चित्त संवित् फुरती है, तब स्वप्नरूप जगत् दिखता है और जब चित्तसंवित् स्फुरण से रहित होती है, तब सुषुप्ति होती है। ऐसे ही चित्त संवित् के जगने से सृष्टि होती है और चित्त के स्थिर होने से प्रलय हो जाता है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति आत्मा में कल्पित हैं, वैसे ही आत्मा में कल्पित सृष्टि और प्रलय आभासमात्र है। जगत् कुछ बना नहीं। जगने से जगत् भासित होता है, इससे जगत् भी आत्मरूप है। पञ्चतत्त्व भी आत्मा का नाम है। सदा अद्वैतरूप जगत् आभासमात्र है। जैसे आत्मा में साकार कल्पित है, वैसे ही निराकार भी कल्पित है। जैसे जीव स्वप्न में किसी को साकार और किसी को निराकार जानता है, पर दोनों स्फुरणमात्र हैं। जो फुरने से रहित है, वह आत्मसत्ता है। साकार और निराकार भी वही है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है और निराकार ही साकार होकर भासित होता है।

हे बधिक ! सब जगत् जो तुझको दिखता है, वह चिन्मात्रस्वरूप है, भिन्न कुछ नहीं। परन्तु अज्ञान से नाना प्रकार के कार्य-कारण और जन्म-मरण आदि विकार दिखते हैं। वास्तव में न कोई जन्म है और न मरण। न कोई कार्य है और न कारण। यदि जीव मरता होता तो परलोक भी न देखता और अपने मरने को भी न जानता। जो मरकर परलोक देखता है, वह मरता नहीं। यदि मनुष्य मृतक हो तो पूर्व के संस्कार को न पावे और पूर्वस्मृति उसको न हो। पर तू तो पूर्वसंस्कार से क्रिया में प्रवृत्त होता है। प्रतियोग से तुझे पदार्थों की स्मृति भी हो आती है। फिर कर्मफल भोगता है। लोक में तो पुरुष मृतक नहीं होता, केवल भ्रम से मरण दिखता है और कारण-कार्यरूप पदार्थ दिखते हैं। जब मरकर परलोक देखता है, सुख-दुख भोगता है तो वह शरीर किसी कारण से नहीं बना। जैसे वह शरीर अकारण है, वैसे ही और जो आकार दिखते हैं, वे भी अकारण हैं-इसी से आभासमात्र हैं। जैसे स्वप्न के शरीर से जो नाना प्रकार की क्रियाएँ होती हैं और मनुष्य देश-देशान्तर देखता है, सो सब

मिथ्या हैं, वैसे ही यह जगत् मिथ्या है और मरण भी मिथ्या है जो तू कहे कि जब इसके आभार का अभाव देखता है तब जानता है कि वह मर गया तो हे बधिक ! जब यह पुरुष परदेश जाता है तब भी इसका आकार नहीं दिखाई पड़ता। जैसे दृष्टि के अभाव में असत्य होता है, वैसे ही देह के त्याग में भी इसका असत्यभाव होता है। पर इस पुरुष का अभाव कभी नहीं होता। जो तू कहे कि परदेश गया फिर आ मिलता है, पर शरीर के त्यागने पर फिर नहीं मिलता तो परदेश गया फिर मिलकर बातचीत करता है और मृतक तो कभी चर्चा नहीं करता, तो जिसके पितर प्रीति से बँधे हुए मरते हैं। और जिनकी यथाशास्त्र क्रिया नहीं होती, वे स्वप्न में आ मिलते हैं और बताते हैं कि हमारी क्रिया तुमने नहीं की; हम अमुक स्थान में पड़े हैं या अमुक द्रव्य अमुक स्थान में गड़ा है; तुम निकाल लो। जैसे परदेसी लौटकर मिलते हैं और वार्ता-चर्चा करते हैं, वैसे ही मृतक भी करते हैं, यह सिद्ध है। हे बधिक ! वास्तव में न कोई जगत् है और न कोई मरता है, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और जैसा-जैसा उसमें स्फुरण फुरता है, वैसा ही भासित होता है।

हे बधिक ! अनुभव एक कल्पवृक्ष है, जैसा-जैसा उसमें फुरता है, वैसा ही वैसा भासित होता है। एक संकल्पसिद्ध और एक दृष्टिसिद्ध वस्तु है। जब इनकी दृढ़ भावना होती है, तब ये दोनों सिद्ध होती हैं। जो इन्द्रियों में द्रव पदार्थ है, वे दृष्टिसिद्ध वस्तु कहाते हैं। जो इनकी भावना होती है तो यही प्राप्त होते हैं। और जो अपने मन में आपही मान लीजिये कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र (वर्ण) हूँ, अथवा गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी या सन्यासी (आश्रम) हूँ तो यह संकल्प सिद्ध है। जब तक इनका अध्यास होता है, तब तक आत्मसत्ता की प्राप्ति नहीं होती और जब आत्मसत्ता का अध्यास होता है, तब इन दोनों का अभाव हो जाता है और आत्मा ही प्रत्यक्ष अनुभव से दिखता है। हे बधिक ! जिस वस्तु का अभ्यास होता है, उसकी यदि भावना करे और थककर उसे छोड़े नहीं तो वह अवश्य प्राप्त होती है। पर अभ्यास अथवा अध्यास के बिना कुछ

नहीं सिद्ध होता। जैसे कोई पुरुष कहे कि मैं अमुक देश जाता हूँ तो जब तक उसकी ओर वह चले नहीं, तब तक अनेक उपाय को करने से भी वह देश नहीं प्राप्त होता और जब उसकी ओर चलेगा तब पहुँच जायगा, वैसे ही जब बहुत एकाग्र होकर आत्मा का अभ्यास करेगा, तब उसको आत्मा प्राप्त होगा, अन्यथा आत्मपद को वह न पहुँचेगा। हे बधिक ! जिस पुरुष को जगत् के पदार्थों की इच्छा हो, उसको आत्मपद नहीं प्राप्त होता। जिसको आत्मपद की इच्छा है, उसको वही प्राप्त होगा, जगत् के पदार्थ न भासित होंगे। यदि ऐसी भावना हो कि मेरी देवता की सी मूर्ति हो और उससे मैं स्वर्ग में विचरूँ और एक रूप से भूलोक में मृग होकर भ्रमण करूँ तो दृढ़ अभ्यास से वही हो जाता है; क्योंकि जगत् संकल्पमात्र है। जैसा-जैसा निश्चय होता है, वैसा ही भासित होता है। हे बधिक ! दो रूप की क्या बात है, जो सहस्रमूर्ति की भावना करे तो वही तद्रूप हो जायगा। यह मनुष्य जैसी भावना करता है, वैसा ही हो जाता है। यह अविद्याकृत जगत् भ्रममात्र है इसकी भावना त्यागकर आत्मपद का अभ्यास कर, तब तेरे दुःख मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाशवोपाख्याने निर्णयोपदेशो नाम द्विशताधिकत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३० ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जैसे अगाध समुद्र में अनेक तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में अनेक सृष्टियाँ फुरती हैं। जीव जीव की अपनी अपनी सृष्टि है, परन्तु परस्पर एक दूसरे को अज्ञात है, एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता। जैसे एक ही स्थान में दो पुरुष सोये हों तो उनको अपने-अपने स्वप्न की सृष्टि दिखती है, पर एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता, परस्पर दोनों अज्ञात होते हैं, वैसे ही सब सृष्टि आत्मा में फुरती है; परन्तु एक की सृष्टि को दूसरा जीव नहीं जानता। जो धारणाभ्यासी योगी है, उसको अन्तवाहक शरीर प्रत्यक्ष होता है, और वह दूसरे की सृष्टि को भी जानता है। जैसे एक तालाब का मेढक होता है, एक कूप का मेढक होता है और एक समुद्र का मेढक होता है। सो इनके स्थान तो

भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु जल एक ही है। इससे चाहे जैसा मेढक हो, पर उसको जल जानता है कि मुझमें हैं, वैसे जगत् भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में है, परन्तु आत्मसत्ता के आश्रित है। आदि जो संवेदन उसमें जगा है, वह अन्तवाहक है। जब अन्तवाहक में योगी स्थित होता है, तब और के अन्तवाहक को भी जानता है। इस प्रकार आत्मा के आश्रय से अन्तवाहक में अनन्त सृष्टि फुरती हैं। वे आत्मा का किञ्चन हैं, फुरती भी हैं और मिट भी जाती हैं। संवेदन के जगने से सृष्टि उत्पन्न होती है और संवेदन के ठहरने से मिट जाती है, क्योंकि वह आकाशरूप होती है। जैसे वायु के ठहरने से जल एक रूप हो जाता है और जल के सिवा कुछ नहीं दिखती, वैसे ही संवेदन के फुरने से आत्मा में अनन्त सृष्टि भासित होती है, और संवेदन के ठहरने से सब आत्मरूप हो जाती है। तब आत्मा के सिवा कुछ नहीं भासित होता, क्योंकि उससे इतर प्रमाद से दिखता है और फिर कारण-कार्य भ्रम भासित होता है। प्रथम जो सृष्टि उपजी है, वह कारण-कार्य के क्रम और संस्कार से रहित है। पीछे कारण-कार्य क्रम भासित हुआ। फिर उसका संस्कार हृदय में हुआ। तब संस्कारवश वे भासित होने लगी। जिनको स्वरूप का प्रमाद नहीं हुआ, उनको सदा परब्रह्म का निश्चय रहता है और जगत् अपना संकल्पमात्र भासित होता है। और जिनको स्वरूप का प्रमाद होता है, उनको संस्कारपूर्वक जगत् भासित होता है। पर संस्कार भी कुछ वस्तु नहीं।

हे बधिक ! जब जगत् ही मिथ्या है, तब उसका संस्कार कैसे सत्य हो ? परन्तु ज्ञानवान् को इस प्रकार दिखता है और अज्ञानी को स्पष्ट दिखता है। हे बधिक ! जैसे तुम संकल्प के रचे पदार्थ—स्मृति और स्वप्नसृष्टि को असत् जानते हो, वैसे ही मैं इस जाग्रत्सृष्टि को असत् जानता हूँ। जैसे मृगतृष्णा का जल असत् दिखता है, वैसे ही मुझको यह जगत् असत्य है। तो फिर कारण, कार्य, कर्म-संस्कार मुझको कैसे भासित हो ? अज्ञानी को तीनों दिखते हैं। हे बधिक ! जब चित्तसंवित् बहिर्मुख होती है, तब जगत् दिखता है और जब अन्तर्मुख होती है, तब अपने

स्वरूप को देखती है। जब आत्मतत्त्व का किञ्चन संवेदन फुरता है, तब स्वप्न जगत् होकर भासता है; और जब ठहर जाता है, तब सुषुप्ति-प्रलय हो जाता है। फुरने का नाम सृष्टि की उत्पत्ति और ठहरने का नाम प्रलय है। जिसके आश्रय से सृष्टि का स्फुरण होता है वह शुद्धसत्ता अव्यक्त और निराकार है—वही आकार होकर भासती है। और जो अकारण निराकार है, उसमें अकारण आकार भासित होता है, इससे जानता है, कि वही रूप है और कुछ नहीं। आकार भी निराकार है; दृष्टि ही सृष्टिरूप होकर दिखती है। यह जगत् आभासमात्र है। जैसे समुद्र का आभास तरंग होते हैं, वैसे ही आत्मा का आभास यह जगत् है। आत्मानन्द चिदाकाश और सब जगत् का अपना रूप है। बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! तुम जगत् को अकारण कहते हो तो कारण के बिना यह कैसे उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखता है। और जो कारण से उत्पत्ति कहो तो इसे स्वप्न सा क्यों कहते हो ? स्वप्नसृष्टि तो कारण बिना होती है। इससे यह कहो कि यह सृष्टि कारणसहित है अथवा कारण से रहित अकारण है।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह जगत् आदि में अकारण और आत्मा का आभासमात्र है। आत्मा में इसका अत्यन्ताभाव है। और कुछ पदार्थ बने नहीं। आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। इसलिए चिदाकाश चिन्मात्र है और उसका किञ्चन चेतनता है। जैसे सूर्य की किरणों का आभास जल दिखता है, परन्तु मिथ्या है, वैसे ही आत्मा का किञ्चन चेतन है। वह किञ्चन संवेदन अहंभाव को लेकर जगता गया है और जैसे-जैसे जगता है वैसा ही वैसा जगत् होकर भासित होता है। जो-जो उसमें निश्चय किया है कि यह कर्तव्य है, इसके करने से पाप है, यह करना है, यह नहीं करना है और देश, काल, क्रिया क्रम है, सो यह इसी प्रकार है। यह ऋषि है, यह देवता है, यह मनुष्य है, यह द्वैत है, यह धर्म है, यह कर्म है। इससे इनका बन्धन है; इससे इनका मोक्ष है। हे बधिक ! जो आदि नीति रची है। वह वैसी ही अब तक स्थित है, अन्यथा नहीं होती—उसी में कारण-कार्य क्रम है। प्रथम जो सृष्टि उपजी है, वह

बुद्धिपूर्वक नहीं बनी—आकाशमात्र उपजी है और जैसे उपजी है वैसे ही स्थित है फिर पदार्थ जो एक भाव को त्यागकर और भाव को अंगीकार करते हैं, सो कारण से करते हैं ? कारण बिना नहीं होते। क्योंकि प्रथम सृष्टि अकारण हुई है और पीछे से सृष्टिकाल में कारण-कार्य हुए हैं। परन्तु हे बधिक ! जिन पुरुषों को आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, उनको यह जगत् कारण के बिना ब्रह्मस्वरूप भासित होता है और जिनको आत्मसत्ता का प्रमाद है, उनको कार्य-कारण सत्य भासित होता है। परन्तु आत्मा ब्रह्म निराकार अकारण है उसमें संवेदन के फुरने से अब्रह्मता भासित होती है; निराकार में आकार भासित होता है और अकारण में कारण भासित होता है। जब संवेदन, जो मन का जगना है, वह स्थिर हो जाता है, तब सब जगत् कारण-कार्य सहित दिखता है। पर प्रथम अकारण उपजा है, पीछे से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी; पृथ्वी, जल, तेज, वायु , आकाश पदार्थों की मर्यादा हुई है, और बन्धन व मोक्ष की नीति हुई है। वह ज्यों की त्यों है, जैसे जल शीतल ही है और अग्नि उष्ण ही है। जब जीव आत्मसत्ता में जागता है; तब कारण-कार्य सहित जगत् नहीं दिखता।

स्वप्नसृष्टि प्रथम अकारण भासित होती है और जब दृढ़ हो जाती है, तब कारण से कार्य होता है, वह दृढ़ हो जाता है, जैसे मृत्तिका बिना घट नहीं बनता, पर जाग उठने से सब जगत् आत्मरूप हो जाता है। हे बधिक ! यह जगत् संवेदन में स्थित है। जब तक अहंभाव जगता है, तब तक जगत् है और जब अहंभाव मिटता है तब सब जगत् शून्य आकाश सा हो जाता है। जब तक अहं जगता है, तब तक नाना प्रकार का जगत् दिखता है और जैसी भावना होती है वैसा दिखता है। सब पदार्थ सर्वदा अपनी-अपनी शक्ति में और जैसे आदि नीति हुई है, वैसे ही स्थित हैं। जो जीव जैसी क्रिया का अभ्यास करेगा, उसका वैसा फल पावेगा। जो बन्धन के निमित्त अभ्यास करेगा वह बन्धन पावेगा और जो मोक्ष के निमित्त अभ्यास करेगा वह मोक्ष पावेगा-ऐसी ही आदि नीति हुई है। हे

बधिक ! इस प्रकार किञ्चन होकर मिट जाता है। आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय ऐसे हैं, जैसे हाथी अपनी सूँड़ को फैलावे और खींचे। ऐसे ही चित्तसंवेदन के फैलने से जगत् की उत्पत्ति होती है और निस्पन्द में प्रलय हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कार्यकारणाकारणनिर्णयो नाम द्विशताधिकैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३१ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह सम्पूर्ण जगत् चित्अणु के ओज में है और उस सम्बन्ध के अभ्यास से आत्मा चित्अणु की संज्ञा पाता है। ओज, अन्तःकरण और हृदय, तीनों अभिन्न हैं। चैतन्यसत्ता उसमें स्थित है, जो बाह्यदृष्टि से मृतकवत् है, और उनमें जीवितरूप है और वहाँ बड़े प्रकाश से प्रकाशित होती है। उस सत्ता का पहले चित्त से संयोग हुआ है। फिर चित्त और प्राणकला का संयोग हुआ है। हे बधिक ! जब प्राण क्षोभ को प्राप्त होते हैं, तब चित्त खेद को प्राप्त होता है और जब चित्त को खेद होता है, तब प्राण भी खेद को प्राप्त होता हैं। जब प्राण स्थित होते हैं, तब जीव शान्ति पाता है। जो प्राण स्थित नहीं होते तो जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था भिन्न-भिन्न होती है। हे बधिक ! जब यह पुरुष अन्न भोजन करता है, तब वह अन्न जाग्रत्वाली नाड़ी पर स्थित होता है। तब वह नाड़ी रुक जाती है। उससे सुषुप्ति आती है। जिन नाड़ियों में गई हुई चित्त की वृत्ति जाग्रत् जगत् को देखती है, वे जाग्रत् नाड़ी कहाती हैं। उन पर अन्न जाकर स्थित होता है। चित्तसत्ता चित्त में प्रतिबिम्बित है। यह चित्तनाड़ी उसके तले आ जाती है, तब प्राणवायु भी उस नाड़ी में ठहर जाता है। जब चित्त का स्पन्दन भी ठहर जाता है, तब सुषुप्ति होती है। जो पित्त बहुत होता है तो सूर्य, अग्नि आदि उष्ण पदार्थ स्वप्न में दिखते हैं। जब वह अन्न पचता है और उन नाड़ियों में प्राण जाते हैं, तब स्वप्न अवस्था आती है। जब जल के सोखने की वायु बहती है, तब जीव स्वप्न में उड़ता है। जब कफ बहुत होता है, तब जल को देखता है, नदियाँ

तालाब आदि देखता है और जाकर उनमें डूबता है। जब उष्ण नाड़ी में अन्न-जल पहुँचता है, तब जाग्रत् अवस्था होती है। इसी प्रकार जीव तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जगत् न भीतर है और न बाहर, केवल अद्वैतसत्ता ज्यों की त्यों है। उसके प्रमाद से चित्त की वृत्ति जब बहिर्मुख जगती है, तब जीव जगत् को जाग्रत् देखता है। जब बाहर की इन्द्रियों को त्यागकर भीतर आती है तब भीतर स्वप्न-जगत् देखता है। और जब अपने स्वभाव में स्थित होती है, तब और कल्पना मिट जाती है, सब ब्रह्म ही भासित होता है। इससे सब कल्पना को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिविचारो नाम द्विशताधिकद्वात्रिंशत्तमस्सर्गः।। २३२।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! ये तीनों अवस्था आती और जाती हैं। इनका अनुभव करनेवाली जो सत्ता है, वह आत्मसत्ता है। वह सदा एक रस है। जिस पुरुष को अपने स्वरूप का अनुभव हुआ है, उसको अपना किञ्चन भासित होता है और जिसको प्रमाद है, उसको जगत् दिखता है। यह जगत् चित्त की कल्पना है। जिसको स्वरूप का प्रमाद है, उसको जगत् दिखता है। जब इन्द्रियाँ विषयों के सम्मुख होती हैं, तब जगत् देखती हैं, और उस संकल्प-जगत् को देखकर राग-द्वेषयुक्त होती हैं। फिर इन्द्रियों के विषय पाकर जीव हर्ष-शोक पाता है। हे बधिक ! जिस चित्अणु का इन्द्रियों से सम्बन्ध है, उसको संसार का अभाव नहीं होता। जीव, नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका और श्रोत्र इन्द्रियों से देखता, स्पर्श करता, रस लेता, सूँघता, सुनता और मानता है। तब संसारी होकर दुःख पाता है। जब इनके विषयों को त्यागकर अपने स्वभाव की ओर आता है, तब सब जगत् को आत्मरूप जानकर सुखी होता है। हे बधिक ! चित्त के फुरने का नाम जगत् है और चित्त के स्थिर होने का नाम ब्रह्म है—जगत् और कुछ वस्तु नहीं, इसी का आभास है। चित्त के आश्रित सब नाड़ी हैं। उनमें स्थित होकर जीव

तीनों अवस्थाएँ देखता है, पर वास्तव में जीव चिदाकाश आत्मा है-अज्ञान से जीवसंज्ञा पाई है।

हे बधिक ! ओज धातु जो हृदय है, उसमें चित्‌अणु स्थित होकर दीपक की ज्योति सा प्रकाशता है। उसी के ओज के आश्रित सब नाड़ी हैं। वे अपने-अपने रस को ग्रहण करती हैं। जब प्राणी भोजन करता है और अन्न जाग्रत् नाड़ी में पूर्ण होता है, तब जाग्रत् का अभाव हो जाता है और चित्त की वृत्ति और प्राण आने-जाने से रहित हो जाते हैं—वह नाड़ी मुँद जाती है। फिर जब कफनाड़ी में प्राण जगते हैं, तब स्वप्न दिखता है। हे बधिक ! जब इन्द्रियों को ग्रहण करके चित्त की वृत्ति बाहर निकलती है, तब जाग्रत् जगत् होकर भासित होता है। जब तन्मात्रा को लेकर चित्त की वृत्ति ओज धातु में फुरती है, तब स्वप्न आता है। जब ओज धातु पर अन्न आदि पदार्थ का बोझ पड़ता है, तब सुषुप्ति होती है। जब निद्रा और जाग्रत् का जोर होता है, तब दोनों दिखते हैं, और जब दोनों में से एक का बल अधिक होता है, तब वही जाग्रत् अथवा सुषुप्ति भासित होती है। जब निद्रा से रहित मन्द संकल्प होता है, तब उसको मनोराज्य कहते हैं और जब बाह्य विषयों को त्यागकर चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब स्वप्न होता है। वहाँ जिस सिद्धान्त में जाता है, उसके अनुसार भीतर जगत् दिखता है। कफ के बल से चन्द्रमा, क्षीरसमुद्र, नदियाँ, जल से पूर्ण तालाब, और वृक्ष, फूल, फल, बागीचे, सुन्दर वन, हिमालय, कल्पवृक्ष, तमाल, सुन्दर स्त्रियाँ, बेलें, बावलियाँ इत्यादि सुन्दर और शीतल स्थान देखता है। जब पित्त का बल अधिक होता है, तब सूर्य, अग्नि और सूखे वृक्ष, फल और टास देखता है; सन्ध्याकाल के मेघ की लाली देखता है; वन और दूसरे स्थानों में अग्नि लगी देखता है और पृथ्वी, तपी हुई रेती और मरुस्थल की नदी दिखती है; जल उष्ण लगता है; हिमालय का शिखर भी उष्ण लगता है और नाना उष्ण पदार्थ दिखते हैं। जब वायु का बल अधिक होता है, तब स्वप्न में अधिक वायु देखता है। पाषाण की वर्षा होती दिखती है; अपने को अन्धे

कूप में गिरता देखता है। हाथी-घोड़े उड़ते दिखते हैं। मनुष्य अपने को उड़ता फिरता देखता है; अप्सरा के पीछे दौड़ता है। पहाड़ों की वर्षा होती है, वायु तीक्ष्णवेग से चलती और अन्न आदि पदार्थ चलते दिखते हैं और विपरीत होकर भासित होते हैं।

इस प्रकार जीव वात, पित्त और कफ से स्वप्न में जगत् देखता है और जिसका बल विशेष होता है, वह उस धर्म में देख पड़ता है। वासना के अनुसार जीव न्यूनाधिक राजस, तामस और सात्त्विक पदार्थ देखता है। और जब तीनों इकट्ठे होकर कुपित होते हैं, तब प्रलयकाल देख पड़ता है। हे बधिक ! जब तक वात, पित्त और कफ के अंश के साथ मिली हुई पुर्यष्टका कफ के स्थान में प्रवेश करती है, तब तक समान जल के क्षोभ दिखते हैं। इसी प्रकार वात, पित्त और कफ जिसके स्थान में जाता है और अन्य स्वभाव को लेता है, उसको तब तक समान क्षोभ भासित होता है। जब केवल वात का क्षोभ होता है, तब महाप्रलय, काल के पवन चलते और पहाड़ पर पहाड़ गिरते और भूकम्प आदि क्षोभ होते दिखते हैं। जब कफ का क्षोभ होता है, तब समुद्र उमड़ते हैं। पित्त से अग्नि लगती है और महाप्रलय की नाईं तत्त्व क्षोभ को प्राप्त होते हैं। जब प्राण जाग्रत् नाड़ी में जाते हैं और वह अन्न से पूर्ण होती है, तब संवित् उसके नीचे आ जाती है। जैसे भीत के नीचे मेढक आवे; पत्थर की शिला में कीड़ा आ जावे और काठ की पुतली काठ में हो-जैसे इनमें अवकाश नहीं रहता, वैसे ही और नाड़ी में फुरने का अवकाश नहीं रहता, रुक जाती है। तब इसको सुषुप्ति होती है।

जब कुछ अन्न पचता है, तब चित्संवित् अपने भीतर स्वप्न देखती है। जिसको जिसका विकार विशेष होता है, वह उसी का कार्य देखता है। जब अन्न और जल पचता है, तब जीव फिर जाग्रत् जगत् देखता है; और जब जाग्रत् और स्वप्न दोनों का बल सम होता है, तब दोनों को देखता और अनुभव करता है। हे बधिक ! इसी प्रकार तीनों अवस्था होती और मिट जाती हैं, सो तीनों गुणों से होती हैं। इनका द्रष्टा इनका अनुभव

करनेवाला है। वह माया के गुणों से अतीत और सबकी आत्मा है। यह जगत् और स्वप्न-जगत् संकल्पमात्र है, कुछ बना नहीं। ब्रह्मसत्ता ही किञ्चन करके जगत्‌रूप होकर भासित होती है। परन्तु अज्ञानी उसको जगत् जानते हैं, और जगत् को सत्य जानकर इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष करते हैं। जब बाहर की इन्द्रियाँ सुषुप्ति हो जाती हैं, तब जीव भीतर स्वप्न में भटकता है और उसमें सूर्य, चन्द्रमा, वन, फूल, फल, वृक्ष आदि जगत् देखता है। परन्तु जब स्वरूप का अनुभव होता है, तब सब भटकना मिट जाता है और शान्ति मिलती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम द्विशताधिकत्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३३ ।।

बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! उस पुरुष के हृदय में तुमने जगत् और प्रलय देखा था। उसके बाद क्या किया और क्या अवस्था देखी ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! उसके चित्तस्पन्दन में मैंने देखा कि बड़े-बड़े पहाड़ प्रलय की वायु से सूखे तृण की नाईं उड़ते हैं और पत्थरों की वर्षा होती है। इस प्रकार मैंने प्रलय के क्षोभ को देखा। मेरे देखते-देखते जाग्रत्‌वाली नाड़ी में अन्न स्थित हुआ तो वहाँ जो अन्न के दाने गिरे वे पर्वत जैसे दिखे। चित्तस्पन्दन जो संवित् थी, वह रोकी गई। उसमें स्थित मैं तामस नरक में जा पड़ा—जैसे वहाँ मैं भी जड़ हो गया और मुझको कुछ ज्ञान न रहा। जब कुछ अन्न पचा और कुछ अवकाश हुआ, तब प्राण का स्पन्दन जगा और जैसे निस्पन्द हुई वायु स्पन्दित होकर चले, वैसे ही वहाँ संवित् फुरी, तब सुषुप्ति दृश्य होकर भासित होने लगी-मानो आत्मा द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर भासित होने लगा। परन्तु और कुछ नहीं बना। जैसे अग्नि और उष्णता, जल और द्रवता और मिरच और तीक्ष्णता में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और दृश्य में कुछ भेद नहीं। हे बधिक ! इस प्रकार मैंने जगत् को देखा और सुषुप्ति से जाग्रत् दृश्य उपजा भासित हुआ और मुझको दृष्टि आई-जैसे कुमारी कन्या से सन्तान उपजे ! बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! जो सुषुप्ति आत्मा में दृश्य उपजी, वह सुषुप्ति क्या है ? जिसमें तुम दब

गये थे, वही क्या सुषुप्ति है, जिससे जगत् उपजता है ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जहाँ सब सम्बन्धों का अभाव है, केवल आत्मसत्ता से भिन्न कुछ कहना नहीं बनता, उसका नाम सुषुप्ति है। और उसमें जो स्फुरण हुआ, उसके तीन पर्याय हैं, वे सब सन्मात्र में हैं। जो वस्तु देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है, वह सन्मात्र हैं। उस सन्मात्र में और कुछ बना नहीं; उसके जो पर्याय हैं, वे ही रूप हैं। वही सत्य वस्तु अपने आपमें विराजती है और कदापि अन्यथाभाव को नहीं प्राप्त होती। किञ्चन में भी वही रूप है और अकिञ्चन में भी वही रूप है।

आत्मा का ही नाम सुषुप्ति है और उसी से सब जगत् होता है। जिस सत्ता का नाम सुषुप्ति है, वही स्वप्नदृश्य होकर भासती है—उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे वायु निस्पन्द व स्पन्दन में वही रूप है, वैसे ही आत्मा दोनों अवस्थाओं में एक ही है। हे बधिक ! हम सरीखों की बुद्धि में और कुछ नहीं बना, आत्मा ही सदा ज्यों का त्यों स्थित है। शरीर के आदि में भी और अन्त में भी वही रूप है। उसमें जो किञ्चन द्वारा भासित हुआ है, वह भी वही रूप है। सुषुप्ति अवस्था में मुझको अद्वैत का अनुभव होता है और कहीं फुरना नहीं होता। उसमें जो स्वप्न और जाग्रत् भासित होती है, वह भी वही रूप है और जिसमें फुरती और जिसमें भासती है, उससे भिन्न कुछ नहीं। इससे यह जगत् आत्मा का किञ्चन आत्मरूप है। जब तू जागकर देखेगा, तब तुझको आत्मरूप ही दिखेगा। जैसे स्वप्नपुर और संकल्पनगर का जो अनुभव होता है, वह आकाशरूप है, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है, और शक्ति भी वही है। सर्वशक्ति आत्मा निष्किञ्चन और किञ्चन भी है। शून्य भी वही है, जो वाणी से कहा नहीं जाता। उस अवस्था में ज्ञानी स्थित है। हे बधिक ! ज्ञानवान् को प्रत्यक्ष करके अनुभवरूप ही दिखता है। जैसे स्वप्न में जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न दिखते हैं और उपाधि से अनुभवभेद भासित होता है-वास्तव में कुछ भेद नहीं, वैसे ही जाग्रत् में अज्ञान उपाधि से भेद दिखता है; पर स्वरूप से आत्मा एकरूप है और जब अज्ञान निवृत्त होता

है, तब सब आत्मरूप ही दिखता है।

हे बधिक ! सब जगत् अपना स्वरूप है, परन्तु अज्ञान से भेद होता है। जब आपको जाने, तब द्वैत भेद भी मिट जावे। जैसे किसी पुरुष ने अपनी भुजा पर सिंह की मूर्ति लिखी हो और उसके भय से दौड़ता फिरे और कष्ट पावे तो वह प्रमाद से भयभीत होता है, क्योंकि वह तो अपना ही अंग है। अपने अंग के जानने से भय मिट जाता है। वैसे ही स्वरूप के ज्ञान से जगत्-भय मिट जाता है। जैसे स्वप्न में अज्ञान से नानात्व भासित होता है, पर बना कुछ नहीं, वैसे ही जाग्रत् में नानात्व भासित होता है, परन्तु बना कुछ नहीं। जब मनुष्य, अन्तर्मुख होता है, तब बोध की दृढ़ता हो जाती है। जैसे प्रातःकाल को ज्यों-ज्यों सूर्य की किरणें प्रकट होती हैं, त्यों-त्यों सूर्यमुखी कमल खिलते हैं वैसे ही ज्यों-ज्यों मनुष्य अन्तर्मुख होता है, त्यों-त्यों बोध खिलता है। विषयों से वैराग्य और आत्मा के अभ्यास से बुद्धि अन्तर्मुख होकर आत्मपद की प्राप्ति होती है। तब आत्मा सर्वत्र एकरस दिखता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुषुप्तिवर्णनन्नाम
द्विशताधिकचतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३४ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! तब मैंने उसकी सुषुप्ति से जागकर जगत् को देखा—जैसे कोई पुरुष समुद्र से निकल आवे, जैसे संकल्प सृष्टि प्रकट हो, जैसे आकाश में बादल उठते हैं और वृक्ष से फल निकल आते हैं, वैसे ही उसकी सुषुप्ति से सृष्टि निकल आई—मानों आकाश से उड़ आई व मानो कल्पवृक्ष से चिन्तामणि निकल आई। जैसे शरीर के रोम खड़े हो आते हैं, जैसे गन्धर्वनगर प्रकट होता है, अथवा जैसे पृथ्वी से अंकुर निकल आता है, वैसे ही सृष्टि प्रकट हुई जैसे भीत पर पुतलियाँ लिखी हों और जैसे खंभे में पुतलियाँ हों, वैसे ही मैंने सृष्टि को देखा। जैसे खम्भे में पुतलियाँ निकली नहीं परन्तु शिल्पी कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी, वैसे ही अनहोती सृष्टि आत्मरूप स्तम्भ से निकल आती है। आत्मरूपी मिट्टी से पदार्थरूपी पात्र निकलते हैं, परन्तु यह

आश्चर्य है कि आकाश में चित्र होते हैं, और निराकार चैतन्य आकाश में मनुष्य पुतलियों की कल्पना करता है। हे बधिक ! जैसे आकाश में मकड़ी के समूह निकल आते हैं, वैसे ही शून्याकाश से सृष्टि निकलकर उस पुरुष के हृदय में मुझको स्पष्ट दिखने लगी।

देश, काल, क्रिया और द्रव्य से अकस्मात् सत्यासत्य पदार्थ दिखने लगते हैं और असत्य पदार्थ सत्य भासित होते हैं। जैसे मणि-मंत्र औषधि द्रव्य के बल से असत्य पदार्थ सत्य भासित होने लगते हैं, और सत्य पदार्थ असत्य लगते हैं, वैसे ही अभ्यास के बल से मुझको उस पुरुष के हृदय में सृष्टि दिखने लगी। हे बधिक ! जैसा निश्चय संवित् में दृढ़ होता है, वैसे ही रूप होकर भासित होता है, वास्तव में न कोई पदार्थ है, न भीतर है, न बाहर है, न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। यह सब सृष्टि इसके भीतर ही स्थित है। जीव प्रमाददोष से उसे बाहर से उत्पन्न होते देखता है। जैसे स्वप्न में सब पदार्थ अपने भीतर-बाहर होते दिखते हैं, वैसे ही ये पदार्थ अपने भीतर से बाहर निकलते भासित होते हैं। हे बधिक! यह जगत् जो आकारसंयुक्त दिखता है, सो सब निराकार है, कुछ बना नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अज्ञान से जगत्रूप दिखती है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् सत्य-असत्य कुछ नहीं भासित होता, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने रूप में स्थित दीखती है। और जो अज्ञानी हैं, उनको भिन्न-भिन्न नाम रूप भासित होते हैं, जब चित्त की वृत्ति बाह्य फुरती है, तब उसको जाग्रत् कहते हैं, जब अन्तर में फुरती है, तब उसको स्वप्न कहते हैं। और जब स्थिर होती है, तब उसको सुषुप्ति कहते हैं। तो एक ही चित्तवृत्ति के तीन पर्याय हुए, कुछ वास्तव में नहीं। जगत् के आदि में शुद्ध केवल आत्मसत्ता थी। उसमें जब चित्तसंवित् जगी, तब जगत् रूप दिखने लगी। किसी कारण से जगत् नहीं उपजा। जिसका कारण कोई नहीं, उसको असत्य जानिये-वास्तव में कुछ बना नहीं, सब जगत् शान्तरूप ब्रह्म ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुषुप्तिवर्णनन्नाम
द्विशताधिकपञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३५ ।।

बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! प्रलय के बाद तुमको क्या अनुभव हुआ

था ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! तब मुझको उसके भीतर सृष्टि उपजती देख पड़ी। अपने पुत्र, कलत्र, स्त्री आदि सम्पूर्ण कुटुम्ब देख पड़ा। उसको देखकर मुझमें ममता जगी और पूर्व स्मृति भूल गई। अपनी षोड़शवर्ष की आयु दिखी। मैं गृहस्थाश्रम में स्थित हुआ। तब रागद्वेषसहित मुझको जीव के धर्म फुर आये, क्योंकि मुझको दृढ़ बोध न हुआ था। हे बधिक ! जब दृढ़बोध होता है, तब राग-द्वेषादिक जीव-धर्म चला नहीं सकते और संसार को सत्य जानकर कोई वासना नहीं होती, इस कारण जीव चलायमान नहीं होता। जिसको बोध की दृढ़ता नहीं हुई, उसको जगत् की वासना खींच ले जाती है। हे बधिक ! अब मुझको दृढ़बोध हुआ है। इस वासना को तरना महाकठिन है। यह पिशाचिनी महाबली है। चिरकाल से दृश्य का अभ्यास होने के कारण यह चला ले जाती है। जब सत्‌शास्त्र का विचार और सन्तों का संग जीव को प्राप्त होता है और अभ्यास दृढ़ होता है, तब दृश्य का सद्‌भाव निवृत्त हो जाता है। जब तक यह मोक्ष का उपाय नहीं प्राप्त होता, तब तक यह भ्रम दृढ़ रहता है। जब सन्तों के संग और सत्‌शास्त्रों के विचार से यह विचार उपजता है कि 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है' और इसको विचारकर आत्मपद का दृढ़ अभ्यास होता है, तब दृश्यभ्रम मिट जाता है, क्योंकि असम्यक्‌ज्ञान से जगत् सत् भासित हुआ है। जब सम्यक्‌ज्ञान हुआ, तब जगत् का सद्‌भाव कैसे रहे ? जैसे आकाश में नीलता, बाजीगर की बाजी और रस्सी में सर्प भ्रम से दिखते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से भासित होता है। जब प्राणी अपने स्वरूप में जागता है, तब जगत्‌भ्रम मिट जाता है, पर जब तक जीव स्वरूप में नहीं जागता, तब तक जगत्‌भ्रम नहीं मिटता।

बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! यह तुम सत्य कहते हो कि जगत्‌भ्रम मिटना कठिन है। मैं तुम्हारे मुख से बारम्बार सुनता हूँ और विचारता हूँ, मुझको पद पदार्थ का ज्ञान भी दृढ़ हो गया है। परन्तु संसारभ्रम नष्ट नहीं होता। यह मैं जानता और सुनता हूँ कि सन्तों के संग और सत्‌शास्त्रों

के विचार बिना शान्ति नहीं होती, पर यह संशय मुझको होता है कि तुम जाग्रत् जगत् को स्वप्नवत् कैसे कहते हो ? कई पदार्थ सत्य लगते हैं और कई असत्य लगते हैं। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह सब जगत् पृथ्वी आदिक पदार्थ सत्य दिखते हैं और शश के सींग आदि असत्य दिखते हैं, सो सब मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न में जो सत्य-असत्य पदार्थ दिखते हैं, सो सब असत्य हैं, वैसे ही यह जगत् असत्य है, पर उसमें अल्प और चिरकाल की प्रतीति का भेद है। जाग्रत् चिरकाल की प्रतीति है, उसमें पदार्थ सत्य भासते हैं और स्वप्न अल्पकाल की प्रतीति है। इससे स्वप्न के पदार्थ असत्य दिखते हैं। परन्तु दोनों भ्रमरूप और असत्य हैं, इस कारण मैं तुल्य कहता हूँ। असत्य पदार्थ ही भ्रम से सत्य की नाईं दिखते हैं। यह सब जगत् स्वप्नमात्र है। उसमें सत्य और असत्य किसे कहूँ। जैसे स्वप्न में कई पदार्थ सत्य और कई असत्य भासित होते हैं, पर सभी असत्य है, वैसे ही जाग्रत् में कई पदार्थ सत्य और कई असत्य भासित होते हैं, परन्तु दोनों भ्रममात्र हैं, इसी से असत्य हैं। हे बधिक ! प्रतीति का भेद है, पदार्थ में कुछ भेद नहीं। जिसमें प्रतीति दृढ़ हो रही है, उसको सत्य कहते हैं, और जिसमें प्रतीति दृढ़ नहीं, उसको असत्य कहते हैं। एक ऐसे पदार्थ हैं कि स्वप्न में उनकी भावना दृढ़ हो गई है। वे जाग्रत् में भी प्रत्यक्ष दिखते हैं। मनोराज्य की दृढ़ता जो जाग्रत्रूप हो जाती है, वह भावना ही की दृढ़ता है, और भेद नहीं। जिसमें भावना दृढ़ हो गई है, वह सत्य भासने लगा है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् संकल्पमात्र ही भासता है। संकल्प से भिन्न जगत् का कुछ रूप नहीं, तो उसमें सत्य और असत्य किसे कहूँ ?

सब जगत् भ्रममात्र है। जो ज्ञानवान् हैं, उनको सत्य-असत्य कुछ नहीं। सब ज्ञानरूप ही दिखता है। जैसे जिसको स्वप्न में जाग्रत् की स्मृति आई है, उसको फिर स्वप्न नहीं आता है, वैसे ही जिसको स्वप्न में भी स्वरूप का बोध हुआ है, उसका फिर जन्म नहीं होता। इससे न कोई जाग्रत् है, न कोई स्वप्न है और न कोई नीति है, क्योंकि नीति

भी कुछ और वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं और उनकी मर्यादा नीति भी भासित होती है तो वह नीति किससे है ? सब ज्ञानरूप होती है। वैसे ही जाग्रत् में भी सब ज्ञानरूप है और संवित् के फुरने से नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं। उसमें नीति भी भासित होती है। इससे न कोई जगत् है और न कोई नीति। इसका कारण कोई नहीं। कारण बिना ही जगत् अकस्मात् उपजता और मिट भी जाता है। संवेदन के जगने से जगत् प्रकट होता है और संवेदन के मिटने से मिट जाता है—इससे जगत् संवेदनरूप है। जैसे वायु स्पन्दनरूप होती है, वैसे ही संवेदन ही जगत्रूप होकर दिखता है। जैसे वायु स्पन्दनरूप होती है, तब स्फुरणरूप होकर भासित होती है और निस्पन्द को कोई नहीं जानता, परन्तु वायु को दोनों तुल्य हैं; वैसे ही चित्तसंवेदन के फुरने में जगत् दिखता है और ठहरने में जगत् किञ्चन मिट जाता है—फुरना और ठहरना दोनों उसके किञ्चन हैं, और वह आप दोनों में तुल्य है।

हे बधिक ! नीति भी अज्ञानी को समझाने के लिए कही है। स्वप्न भी असत्य है, यह सब जानते हैं, पर स्वप्न का वृत्तान्त जाग्रत् में सिद्ध होता दिखता है। कोई कहता है कि रात्रि में मुझको स्वप्न हुआ है कि अमुक कार्य इस प्रकार होगा, और जाग्रत् में वैसा ही होता दिखता है। पिता पुत्र से कह जाता है कि मेरी गति करना और अमुक स्थान में द्रव्य गड़ा है, उसे तुम निकाल लो। सो यह उसी प्रकार होता देखा गया है। जो नीति होती तो कोई कार्य सिद्ध न होता, पर वह तो होता है, इससे नीति भी कुछ वस्तु नहीं। आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जाग्रत् उसका नाम है, जिसे आत्मा कहते हैं। जिसको तुम जाग्रत् कहते हो वह कुछ वस्तु नहीं। जाग्रत् मनसहित षट्इन्द्रियों का संवेदन होता है। वह स्वप्न में भी मनसहित षट्इन्द्रियों का संवेदन होता है और उनसे विषयों का ग्रहण होता है। इससे जाग्रत् कुछ वस्तु नहीं। जो अर्थ जाग्रत् में सिद्ध होता है, वह स्वप्न में भी सिद्ध हो तो जाग्रत् कुछ वस्तु न हुई। और जो तू कहे कि

स्वप्न कुछ वस्तु है तो स्वप्न भी कुछ वस्तु नहीं; क्योंकि स्वप्न वहाँ होता है, जहाँ निद्राभ्रम होता है। जगत् केवल शुद्ध चिन्मात्रसत्ता का किञ्चन है। जैसे रत्नों की चमक स्थिर होती है, सो रत्नों से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, रत्न ही उसमें व्यापा है, वैसे ही जाग्रत् व स्वप्न का जगत् आत्मा का चमत्कार है। बोधसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है। वह अनन्त है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जो आत्मा से भिन्न जगत् दिखता है, वह नाशवान् है। आत्मा सदा अविनाशी है। हे बधिक ! जब यह पुरुष शरीर को छोड़ता है, तब परलोक में सुख-दुःख ऐसे भोगता है, जैसे जल में तरंग उठकर मिट जाता है और दूसरी जगह और प्रकार से उठता है, सो जल ही जल है। पहले भी जल था, पीछे भी जल है, तरंग भी जल है और जल ही का विलास इस प्रकार फुरता है। वैसे ही यह शरीर भी अनुभवरूप है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं।

जैसे मनुष्य एक स्वप्न को छोड़कर दूसरा स्वप्न देखता है तो क्या है; अपना ही रूप है, वैसे ही यह जगत् भी आत्मरूप है। हे बधिक ! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये ही चारों वपु हैं जाग्रत् सृष्टि की समष्टिता है, उसका नाम विराट् है। स्वप्न लिंग शरीर की समष्टिता है, उसका नाम हिरण्यगर्भ है। सुषुप्ति शरीर की समष्टिता अव्याकृत माया है और तुरीय सब शरीरों की समष्टिता है। यह चैतन्यरूप आत्मा है। तुरीय साक्षीभूत के जानने को कहते हैं उसकी समष्टितारूप चैतन्य वपु है। चारों शरीर उसके हैं। वह सदा निराकार अचेत चिन्मात्र है। हे बधिक ! ये चारों परमात्मा के शरीर हैं। वह परमात्मा निराकार है। आकार जो उसमें दिखता है, वह भी वही रूप है। आकार कल्पनामात्र है और आत्मा सब कल्पना से रहित है-इससे सब जगत् चिदाकाशरूप है। जैसे पत्थर की शिला में कमल के फूल नहीं लगते—उनका होना असम्भव है, वैसे ही आत्मा में जगत् का होना असम्भव है। हे बधिक ! आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। तू जागकर देख कि सब पदार्थ संकल्पमात्र हैं और जिसमें कल्पित हैं,

वह नामरूप से रहित है। जब तू उसको देखेगा तब सब जगत् आत्मरूप प्रतीत होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वप्ननिर्णयो नाम द्विशताधिकषट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३६ ।।

बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! उस पुरुष के हृदय में जो सृष्टि देखी थी, उसमें तुम किस प्रकार बिचरते थे और क्या देखा था, सो कहो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जब मैंने उसके हृदय में नाना प्रकार का जगत् देखा, तब मैं अपने कुटुम्ब में रहने लगा। पहले की स्मृति भूलकर सोलह वर्ष तक उसी को सत्य जानकर चेष्टा करता रहा। तब मेरे गृह में माननीय उग्रतपा नाम के एक ऋषीश्वर आये। उनका मैंने बहुत आदर किया। उनके चरण धोकर मैंने सिंहासन पर बिठाया और नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों से उनको तृप्त किया। जब उन ऋषि ने भोजन करके विश्राम किया, तब मैंने कहा, हे ऋषीश्वर ! यह मैं जानता हूँ कि तुम परम ज्ञानी हो, क्योंकि अपने रूप आत्मतत्त्व को आप ही जानते हो। जब तुम आये थे, तब थके हुए थे, परन्तु तुममें क्रोध न देख पड़ा, और जब तुमने नाना प्रकार के भोजन किये, तब तुम हर्षित भी नहीं हुए। इस कारण मैंने जाना कि तुम परम बोधवान् हो और तुममें राग-द्वेष कुछ नहीं है। इससे मैं संशययुक्त होकर एक प्रश्न करता हूँ, कृपा करके उसका उत्तर देकर मेरे संशय को दूर कीजिये। हे भगवन् ! इस जगत् में जो दुर्भिक्ष पड़ता है और सब इकट्ठे मर जाते हैं और कष्ट पाते हैं, इसका क्या कारण है ? यह तो मैं जानता हूँ कि जैसे शुभ अथवा अशुभ कर्म जीव करता है, उनका फल पाता है। जैसे धान को बोता है तो समय पाकर फल भी अवश्य आता है; वैसे ही कर्म का फल भी अवश्य प्राप्त होता है। और जिसने कर्म किया है, वही फल भी भोगता है, पर दुर्भिक्ष में इकट्ठा कष्ट क्योंकर प्राप्त होता है ? उग्रतपा बोले, हे साधो ! प्रथम यह सुनो कि जगत् क्या वस्तु है। यह जगत् कारण बिना उत्पन्न हुआ है और जो कारण बिना देख पड़े, उसे भ्रममात्र जानिये। इससे तुम विचारकर

देखो कि 'यह जगत् क्या है' तुम 'कौन हो' 'इसमें क्या है' और 'इसका अन्त कहाँ तक है' ?

हे बधिक ! यह जगत् स्वप्नमात्र है और यह शरीर भी स्वप्न ही है। तू मेरा स्वप्ननर है; मैं तेरा स्वप्ननर हूँ और सब जगत् स्वप्नरूप है। कारण-कार्य कोई नहीं, सब आभासमात्र है। आभास में कुछ और वस्तु नहीं होती। इससे सब जगत् आत्मस्वरूप है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रममात्र होता है, वह सर्प नहीं, रस्सी ही है, वैसे ही सब जगत् चिन्मात्ररूप है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, और उसमें अहं होकर इस प्रकार चेतनता संवेदन फुरता है, तब जगत् आकार का स्मरण होता है, और जैसा-जैसा संकल्प फुरता है, वैसा ही वैसा जगत् दिखता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि और संकल्पनगर नाना प्रकार के दिखते हैं, पर अनुभव से भिन्न नहीं, वैसे ही यह जगत् दिखता है। जिस संवित् में अपना स्वरूप विस्मृत होता है, उसको जगत् कारण कार्यरूप दिखता है—वही जीव है। और जिस संवित् को कर्म की कल्पना स्पर्श करती है, उसको उन कर्मों का फल लगता है। ज्ञानवान् कर्तव्य करता भी दिखता है, परन्तु उसके हृदय में कर्तव्य का अभिमान नहीं स्पर्श करता। जिसके हृदय में कर्तव्य का अभिमान होता है, उसको फल भी होता है।

हे साधो ! यह जो सृष्टि है, उसका एक विराट् पुरुष है। उसी का यह शरीर है। यह विराट् भी अन्य विराट् के संकल्प में है। यह विराट् उस विराट् का रोमाञ्च है। जब विराट्पुरुष के अंग में क्षोभ होता है और जीव की पापवासना उदय होती है, तब वासना और अंग का क्षोभ इकट्ठा होने से उस स्थान में उपद्रव और कष्ट होता है। जैसे वन में बहुत वृक्ष होते हैं और उन पर गाज गिरती है तो उससे सब चूर्ण हो जाते हैं, वैसे ही इकट्ठे पाप से सब इकट्ठे ही मर जाते हैं और इकट्ठे दुर्भिक्ष से कष्ट पाते हैं। जैसे किसी पुरुष के अंग पर मक्खी काटे तो उससे वह अंग काँपता है और उस अंग के काँपने से रोम भी काँपने लग जाते हैं, और जो सर्पादिक जीव कहीं डसते हैं तो सारा शरीर दुखता है और सब

रोम कष्ट पाते हैं, वैसे ही यह जगत् विराट् पुरुष का शरीर है जब किसी नगर में पाप उदय होता है, तब एक रोमरूपी नगर जीव कष्ट पाते हैं। और जो सारे अंगरूपी देश में पाप उदय होता है, तो सर्प के काटने के समान विराट् का सारे शरीर में क्षोभ होता है और उसके शरीर पर रोमरूपी सब जीव कष्ट पाते हैं, आत्मसत्ता केवल अनुभवरूप है। उसके प्रमाद से यह आपदा दृष्टि होती है। यह जगत् कारण से उपजा होता तो सत्य होता। कारण से तो उपजा नहीं, सत्य कैसे हो ? इस जगत् में सत्य प्रतीति करना ही अज्ञान है। हे साधो ! इस आकाश का कारण कोई नहीं, पृथ्वी का कारण कोई नहीं, और अविद्या का कारण भी कोई नहीं। स्वयंभू अकारण है। स्वयंभू उसका नाम है, जो अपने आपसे प्रकट है तो उसका कारण कौन हो ? अग्नि, जल, वायु का कारण भी कहीं नहीं। जो तुम कहो कि सबका कारण आत्मा है तो आत्मा को निमित्तकारण कहोगे या समवायकारण कहोगे ? यदि प्रथम पक्ष निमित्तकारण कहिये तो नहीं बनता; क्योंकि आत्मा अद्वैत है, दूसरी वस्तु कोई नहीं, तब निमित्तकारण कैसे हो ? यदि समवायकारण कहिये तो भी नहीं बनता; क्योंकि समवायकारण आप परिणाम करके कार्य होता है। पर आत्मा अच्युत है और अपने स्वरूप को नहीं त्यागता। वह समवायकारण कैसे हो ? इससे यदि आत्मा में कारण कार्य भाव नहीं तो फिर जगत् किसका कार्य हो ?

हे अंग ! जो कारण से रहित देख पड़े, उसको जानिये कि भ्रममात्र भासित होता है, और जो तू कहे कि कारण बिना पिण्डाकार नहीं होते, कहीं कारण भी होगा, तो हे अंग ! जैसे मनुष्य देह को त्यागता है और परलोक जाकर देखता है तो कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगता है। पर उस शरीर का कारण किसे कहिये ? वह तो कारण से नहीं उपजा, भ्रममात्र है। वैसे यह भी भ्रममात्र जानो। जैसे स्वप्न में जो नाना प्रकार के आकार प्रकट होते हैं, वे किसी कारण से नहीं उपजते, और जैसे आकाश में तरुवर और रंग दिखते हैं, वे भ्रममात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी भ्रममात्र है। जैसे बालक को अनहोता वैताल दिखता है और उससे वह

भयभीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अनहोता स्वरूप के प्रमाद से दिखता है। वास्तव में परमात्मसत्ता ज्यों की त्यों है, वही संवेदन से जगत्रूप होकर दिखती है—उसमें वही रूप है जैसे वायु चलने और ठहरने में एक ही रूप है, परन्तु चलने से प्रतीत होती है और ठहरने से नहीं प्रतीत होती है, वैसे ही चित्तसंवित् फुरने से जगत् के आकार से दिखती है और उसमें नाना प्रकार के शब्द-अर्थ दृष्टिगत होते हैं, और जब फुरने से रहित होती है, तब अपने स्वभाव को देखती हैं। जब संकल्प की दृढ़ता होती है, तब कारणकार्य भासित होने लगते हैं। जिसको कारणकार्य भासित होता है, उसको जगत् सत्य जान पड़ता है, और जिसको कारणकार्य से रहित दिखता है, उसको जगत् आत्मरूप है। जिसको कारणकार्य बुद्धि है, उसको वही सत्य है। वह पुण्य करेगा तो स्वर्ग में सुख पावेगा और पाप करेगा तो नरक के दुःख भोगेगा—इससे उसको पुण्य ही करना भला है। जब जीव के पाप इकट्ठे होते हैं, तब दुर्भिक्ष पड़ता और मृत्यु आती है। जैसे पत्थर की वर्षा हो, वैसे ही वे कष्ट पाते हैं। और जो मेरा निश्चय पूछो तो न पाप है, न पुण्य है, न दुःख है, न सुख है, और न जगत् है। जब स्वरूप के प्रमाद से अहं उदय होता है, तब नाना प्रकार के विकार भासित होते हैं, और जब प्रमाद निवृत्त होता है, तब सब आत्मरूप दिखता है-इससे तुम सब कल्पना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। तब सब संशय मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वप्नविचारो नाम
द्विशताधिकसप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३७ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! इस प्रकार उग्रतपा ऋषीश्वर ने उपदेश किया। उससे मैं अपने स्वभाव में स्थित होकर अकृत्रिमपद को प्राप्त हुआ। उग्रतपा के साथ मानो विष्णु भगवान उपदेश करने आकर बैठे थे, उन्हीं के उपदेश से मैं जागा। जैसे कोई धूल से सना हुआ स्नान से निर्मल हो, वैसे ही मैं शुद्ध हुआ, अपनी पूर्वस्मृति और अवस्था को स्मरणकर और समाधिवाले शरीर और आत्मवपु को भी जानकर यह उग्रतपा तुम्हारे

पास बैठा है। अग्नि बोले, हे राजन् ! जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा, तब बधिक को विस्मय हुआ। वह बोला, हे मुनीश्वर ! बड़ा आश्चर्य है, जो तुम कहते हो कि स्वप्न में तुझको उग्रतपा ने उपदेश किया था और फिर जाग्रत् में कहते हो कि यह बैठा है। यह तुम्हारी बात कैसे मानिये ? जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करे और कहे कि यह प्रत्यक्ष बैठा है, तो जैसे वह स्पष्ट नहीं दिखता, वैसे ही यह तुम्हारा कहना स्पष्ट समझ में नहीं आता। यह अपूर्व बात सुनकर मुझे संशय हुआ है, उसे तुम दूर करो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह बात अवश्य ही आश्चर्य उपजानेवाली है। परन्तु जैसे यह वृत्तान्त हुआ है, वह संक्षेप से तुमसे कहता हूँ, सुनो ! जब उग्रतपा ने मुझको उपदेश किया, तब मैंने कहा, हे भगवन् ! तुम यहाँ विश्राम करो और जिस प्रकार मैं रहता हूँ, वैसे ही तुम भी रहो। तब मैं वहाँ रहने लगा। उनका उपदेश पाकर मैंने विचारा कि यह जगत् मिथ्या है, मेरा शरीर भी मिथ्या है तो इसके सुख के लिए मैं क्यों यत्न करता हूँ ? इन्द्रियाँ तो ऐसी हैं, जैसे सर्प होते हैं। इनको सेवनेवाला संसाररूप बन्धन से कभी मुक्त नहीं होता। मेरे जीने को धिक्कार है। जो इन इन्द्रियों के सुख की कामना करते हैं वे मूर्ख हैं। वे मृग की नाईं मरुस्थल में जलपान करने के लिए दौड़ते और थक जाते हैं, पर तृप्ति कभी न होंगे। मैं अविद्या के कारण सुख के निमित्त यत्न करता था, पर इनसे तृप्ति कभी नहीं होती।

हे बधिक ! ममता के रूप बान्धव ही पैरों की जंजीर और अन्धकूप में गिरने का कारण है। इनसे बँधा हुआ मैं इन्द्रियों के विषयरूपी कूप में गिरा था। अब मैंने विचार किया है कि बन्धन का कारण कुटुम्ब है, उसको मैं त्याग दूँ। फिर विचार किया कि जब तक अविद्या को नष्ट न करूँ, इनके त्याग में भी सुख नहीं प्राप्त होगा। हे बधिक ! ऐसे विचारकर मैं गुरु के पास गया। मन में विचारा कि जगत् भ्रममात्र है और गुरु भी स्वप्नमात्र है, इनसे क्या प्राप्त होगा ? फिर विचारा कि नहीं ये ज्ञानवान् पुरुष हैं और इनको 'अहंभ्रम' का निश्चय है, इससे ये ब्रह्मस्वरूप और कल्याणमूर्ति

हैं। इनसे जाकर प्रश्न करूँ। तब मैंने जाकर उनको प्रणाम किया और कहा, हे भगवन् ! उस अपने शरीर को देख आऊँ और इसके शरीर को भी देखूँ कि कहाँ है। इस जगत् का विराट्पुरुष है। हे बधिक ! जब इस प्रकार मैंने कहा, तब ऋषि ने हँसकर मुझसे कहा, हे ब्राह्मण ! अब वह तेरा शरीर कहाँ है ? वह शरीर तो दूर गया। अब उसे कहाँ देखेगा ? यह तू आपही जानेगा। तब मैंने हाथ जोड़कर ऋषि से कहा, हे ऋषीश्वर ! अब मैं जाता हूँ। मेरे लौटकर आने तक तुम यहीं बैठे रहना। हे बधिक ! ऐसे कहकर मैं आधिभौतिक देह के अभिमान को त्यागकर अन्तवाहक शरीर से उड़ा। आकाशमार्ग में उड़ता-उड़ता थक गया, परन्तु वह शरीर कहीं न पाया। तब मैं फिर ऋषि के पास आया और कहा, हे पूर्वापर और भूत-भविष्य के जाननेवाले ! वे दोनों शरीर कहाँ गये ? न इस सृष्टि के विराट् का शरीर दिखता है, जिसके मार्ग से मैं आया था और न अपना ही शरीर दिखता है ? हे संशयरूपी अन्धकार के नाशकर्ता सूर्य ! आप इसका कारण बताइये।

उग्रतपा बोले, हे कमलनयन, तपरूपी कमल वन के सूर्य ज्ञानरूपी कमल के धारण करनेवाले विष्णु की नाभि और आनन्दरूपी कमल की खान ! तुम सब कुछ जानते हो और आत्मपद में जागे हो। तुम तो योगीश्वर हो। ध्यान करके देखो, जिसमें सब वृत्तान्त तुझको देख पड़े। हे मुनीश्वर ! यह जगत् असत्यरूप है। इसमें कोई वस्तु स्थिर नहीं। विचार कर देखो, जिसमें शरीर की अवस्था तुमको देख पड़े। और जो मुझसे पूछते हो तो मैं कहता हूँ। हे मुनीश्वर ! जिस वन में तुम रहते थे और जहाँ तुम्हारे शरीर थे, उस वन में एक समय अग्नि लगी और सब प्रकार के वृक्ष और बेलें जल गईं। जल भी अग्नि से खौलने लगा और वनचारी पशु-पक्षी सब जल गये और महाकष्ट को प्राप्त हुए। उन्हीं के साथ तुम्हारा शरीर भी जल गया और कुटी भी जल गई। मुनीश्वर बोले, हे भगवन् ! उस अग्नि से जो सम्पूर्ण वन जल गया तो उसका कारण कौन था ? उग्रतपा बोले हे मुनीश्वर ! यह जगत्, जिसमें हम और तुम बैठे हैं,

इसी का विराट् है। जिसके शरीर में तुमने प्रवेश किया था और जिसमें उसका और तुम्हारा समाधिवाला शरीर है, उसका विराट् और है—वह सृष्टि उस विराट् का शरीर है। हे मुनीश्वर ! उस विराट् के शरीर में क्षोभ होने के कारण अग्नि उत्पन्न हुई और शरीर, वृक्ष इत्यादि सब जल गये। इस सृष्टि के विराट् का नाम ब्रह्मा है। उस ब्रह्मा का विराट् और है। उसका विराट् आत्मा है, जो सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें कुछ और नहीं बना। जिस पुरुष को उसका प्रमाद है, उसको उपद्रव और कारण-कार्यरूप पदार्थ भासित होते हैं। उससे वह कर्मों के अनुसार दुःख-सुख भोगता है। और जिसको स्वरूप का साक्षात्कार हुआ है, उसको जगत् आत्मा दिखता है, अर्थात् सब ओर से ब्रह्म भासित होता है।

हे मुनीश्वर ! जब इस प्रकार वन के सब पशु-पक्षी जले, तब तुम्हारी कुटी में भी आग लगी। इससे वह कुटी और तुम्हारा शरीर अग्नि से जल गया। जिसके शरीर में तुमने प्रवेश किया था, वह भी जल गया। तुम्हारा शिष्य और उसका ओज भी जल गया। तुम दोनों की संवित् आकाशरूप हो गई। वह अग्नि भी वन को जलाकर अन्तर्धान हो गई। जैसे अगस्त्य मुनि समुद्र का आचमन करके अन्तर्धान हो गये थे, वैसे ही वह अग्नि भी वन को जलाकर अन्तर्धान हो गई। अब तुम्हारे शरीर की राख भी नहीं रही। जैसे स्वप्नसृष्टि जाग्रत् में नहीं दिखाई देती, वैसे ही तुम्हारे शरीर अदृष्ट हो गये। हे मुनीश्वर ! यह सब जगत् स्वप्नमात्र है। मैं तुम्हारे स्वप्न में हूँ और सब जगत् का अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है। वह सबका अपना रूप है, जगत् उसी का आभास है। जैसे संकल्पसृष्टि, स्वप्ननगर और गन्धर्वनगर असत् होता है, वैसे ही यह जगत् भी है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् तुम्हारे स्वप्न में स्थित है। तुमको चिरकाल की प्रतीति से नाना प्रकार का जाग्रत्रूप कारण-कार्य सत्य होकर भासित होता है। मुनीश्वर बोले, हे भगवन् ! जो यह स्वप्ननगर सत्य हो गया है, तो सभी स्वप्ननगर सत्य होंगे ? उग्रतपा

बोले, हे मुनीश्वर ! प्रथम तुम सत्य को जानो कि सत्य क्या वस्तु है। यह जगत् जो तुमको भासित होता है, वह सभी स्वप्ननगर है। इसमें कोई पदार्थ सत्य नहीं। इस जगत् को तुम समाधिवाले शरीर की अपेक्षा असत्य कहते हो, पर जिसको तुम जाग्रत् शरीर कहते हो उसे किसकी अपेक्षा असत्य कहोगे ? यह तो अदृष्टरूप है, इससे इसको स्वप्न जानो। जिस सत्ता में यह समाधिवाला शरीर भी स्वप्न है, उस सत्ता को जानो, तब तुमको सत्यपद की प्राप्ति होगी। जैसे यह जगत् आत्मसत्ता में आभास जगा है, वैसे ही वह भी है।

तुम जागकर देखो तो इसमें और उसमें कुछ भेद नहीं है। सब जगत् जो दिखता है, वह सब आत्मरूप रत्न का प्रकाश या चमत्कार है। जैसे सूर्य की किरणों में अनहोता ही जल भासित होता है, वैसे ही सब जगत् आत्मा में अनहोता दिखता है, और आत्मा के प्रमाद से सत्य प्रतीत होता है। तुम अपने स्वभाव में स्थित होकर देखो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! उग्रतपा ऋषीश्वर रात्रि के समय इस प्रकार कहते हुए शय्या पर सो गये। जब कुछ काल में जागे, तब मैंने कहा कि हे भगवन् ! और वृत्तान्त मैं फिर पूछूँगा, प्रथम यह संशय दूर करो कि व्याध का गुरु तुमने मुझको किस निमित्त कहा। मैं तो व्याध को जानता भी नहीं ? उग्रतपा बोले, हे दीर्घतपस्वी ! ध्यान करके देखो, तुम तो सब कुछ जानते हो। जैसा वृत्तान्त है, उसको जानोगे। जो मुझसे पूछते हो तो मैं भी कहता हूँ। यह वृत्तान्त तो बड़ा है, पर मैं तुमको संक्षेप से बताता हूँ। हे मुनीश्वर ! तुम्हारे देश में राजा के बान्धव और सब लोग अपना धर्म जब छोड़ देंगे, तब दुर्भिक्ष पड़ेगा और वर्षा न होगी। इससे लोग दुःख पावेंगे और मर-मर जावेंगे। तुम्हारे कुटुम्बी भी मरेंगे और कुटी भी नष्ट हो जायगी। वृक्ष सब फल, फूल से रहित होंगे। केवल तुम और मैं, दोनों वन में रह जावेंगे; क्योंकि हमको सुखदुःख की वासना नहीं है, हम विदितवेद हैं—विदितवेद को दुःख कैसे हो ? हे मुनीश्वर ! कुछ समय तो इस प्रकार चेष्टा होगी। फिर कुटी

के चौफेर फूल, फल, तमालवृक्ष, कल्पतरु, कमल-सरोवर आदि नाना प्रकार की सामग्री होगी। बड़ी सुगन्ध फैलेगी। मोर और कोकिला विराजेंगे और भौंरे कमल पर गुञ्जार करेंगे। निदान ऐसा विलास प्रकट होगा, मानो इन्द्र का नन्दनवन आकर लगा है। ऐसी बहार फिर होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रात्रिसंवादो नाम
द्विशताधिकाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ।। २३८ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! उग्रतपा ऋषीश्वर ने मुझसे फिर कहा कि हे मुनीश्वर ? इस प्रकार वह वन होगा। तब तुम और मैं एक समय तप करने को उठेंगे। वहाँ एक व्याध मृग के पीछे दौड़ता तुम्हारी कुटी के निकट आवेगा। उसको तुम सुन्दर और पवित्र कथा उपदेश करोगे। उसमें स्वप्न का प्रसंग चलेगा ! उस प्रसंग में वह स्वप्न और जाग्रत् का वृत्तान्त पूछेगा। उससे तुम स्वप्न का प्रसंग कहोगे और उस स्वप्न के प्रसंग में परमार्थ का उपदेश करोगे, क्योंकि संत का स्वभाव यही है। तुम मेरे समागम का उपदेश करोगे। तुम्हारे वचनों को सुनकर वह पुरुष विरक्तचित्त होकर तप करेगा। उससे उसका अन्तःकरण निर्मल होगा और वह सत्यपद को प्राप्त होगा। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार होगा, यह मैंने तुमसे संक्षेप से कहा है। तुम भी ध्यान करके देखो। इसी कारण मैंने तुमको व्याध का गुरु कहा है। हे व्याध ! इस प्रकार जब उग्रतपा ने मुझसे कहा, तब मैं सुनकर विस्मित हुआ कि इन्होंने क्या कहा ? बड़ा आश्चर्य है, ईश्वर की नीति जानी नहीं जाती कि क्या होना है। हे बधिक ! इस प्रकार मेरी और उनकी चर्चा हुई। तब रात्रि व्यतीत हो गई और मैंने स्नान करके प्रीति बढ़ाने के निमित्त भली प्रकार उनकी सेवा की, तब वह वहाँ रहने लगे। फिर मैं विचार करने लगा कि यह जगत् क्या है, इसका कारण कौन है और मैं क्या हूँ। तब मैंने विचार किया कि यह जगत् अकारण है, किसी का बनाया नहीं। यह स्वप्नमात्र है। आत्मरूपी चन्द्रमा की जगत्रूपी चाँदनी है; उसी का यह चमत्कार है। वही आत्मसत्ता घट, पट आदि आकार होकर भासित होती है, वास्तव में न कोई कर्म है, न क्रिया है, न

कर्ता है, न मैं हूँ और न जगत् है। जो तू कहे कि क्यों नहीं, सब अर्थ और ग्रहण-त्याग तो सिद्ध होते हैं, तो ग्रहण और त्याग पिण्ड से होता है और पिण्ड तत्त्वों से होता है। सो यह पिण्ड तो न किसी तत्त्व से बना है और न किसी माता-पिता से है। यह तो स्वप्न में प्रकट हुआ है तो इसका कारण किसे कहिये ?

और जो कहिये कि भ्रममात्र है, तो भ्रम का कारण कौन है ? और भ्रान्ति का द्रष्टा कौन है ? जिस शरीर से दिखता था, उसका द्रष्टारूप मैं तो भस्म हो गया। इससे जगत् और कुछ वस्तु नहीं; केवल आदि-अन्त से रहित आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। वही मेरा स्वरूप है। वहाँ यह जगत्रूप होकर भासित होता है, पर केवल ब्रह्मसत्ता स्थिर है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सब पदार्थ आत्मरूप है। जैसे समुद्र तरंगरूप होकर दिखता है, परन्तु कुछ और नहीं होता, वैसे ही आत्मा नाना प्रकार का होकर भासित होता है पर कुछ और नहीं होता, ब्रह्मसत्ता ही निराभास है। आभास भी कुछ हुआ नहीं, केवल चैतन्यसत्ता ऐसे रूप होकर दिखती है। हे बधिक ! इस प्रकार विचारकर मैं विगतज्वर होकर मुनीश्वर के वचनों से पर्वत की नाईं अपने स्वभाव में अटल स्थित हुआ। जो कुछ इष्ट-अनिष्ट पदार्थ प्राप्त होता, उसमें सम रहता था। अभिलाषा से रहित सब अपनी चेष्टाएँ करता था। अपने स्वभाव में स्थित रहता था। हे बधिक ! सुख भोगने के लिए न मुझको जीने की इच्छा है और न मरने की इच्छा है। न जीने में हर्ष है और न मरने में शोक है। मैं सदा आत्मपद में स्थित हूँ। मुझको कुछ संशय नहीं है। सम्पूर्ण संशय स्फुरण में है, सो स्फुरण मुझमें नहीं रहा, इसलिए संसार भी नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रात्रिप्रबोधनं नाम द्विशताधिकैकोन-चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २३९ ।।

मुनीश्वर बोले, हे व्याध ! इस प्रकार जब मैंने निर्णय किया, तब मेरे तीनों ताप नष्ट हो गये। मैं वीतराग होकर निःशंक हुआ। तब मुझको किसी पदार्थ की तृष्णा नहीं रही। मैं निरहंकार हुआ। अनात्मा में जो

आत्मअभिमान था, वह निवृत्त होकर निर्वाण, निराधार और निराधेय हुआ। अपने स्वभाव में आत्मत्व स्थित होकर मैं सर्वात्मा हुआ। हे बधिक ! जो कुछ शरीर का प्रारब्ध है, उसमें मैं यथाशास्त्र बिचरता हूँ; परन्तु कर्तृत्व का अभिमान नहीं है। जगत् मुझको आत्मरूप दिखता है। और तृष्णा करनेवाली मिथ्याबुद्धि का अभाव है। मैं जानता हूँ कि आभास कुछ वस्तु नहीं—चिदाकाश आत्मसत्ता अपने रूप में स्थित है। हे बधिक ! मुनीश्वर का कहा वृत्तान्त सत्य होता गया। तुम मेरे पास आये हो इसलिए जो कुछ उपदेश मैंने किया है; वह परम पावन और सबका सार है। जिस प्रकार जगत् के पदार्थ, तुम और मैं का जो वृत्तान्त है, वह मैंने तुझसे कहा। व्याध ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यदि इस प्रकार है तो तुम, मैं और ब्रह्मादिक भी सब स्वप्न के हुए। और असत्य ही सत्य की नाईं भासित होते हैं। मुनीश्वर बोले, हे व्याध ! तुम, मैं और ब्रह्मा से लेकर तृण तक सब स्वप्न के पदार्थ हैं। यह जगत् का सत्य है, न असत्य और न सत्यासत्य के मध्य है, न अनिर्वचनीय है, क्योंकि अनुभवरूप है। हे व्याध ! जो अनुभव से देखिये तो वही रूप है, और जो अनुभव से भिन्न कहिये तो है ही नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव में फुरती है, और जो अधिष्ठान की ओर देखिये तो वही रूप है। उससे भिन्न कहने में नहीं आता।

हे बधिक ! जैसे कोई नगर देखा है और वह दूर है, तो यदि याद करके देखिये तो दिखता है, परन्तु कुछ बना नहीं, स्मृतिमात्र है। वैसे ही सब पदार्थ संकल्पमात्र हैं, कुछ बने नहीं। अपने स्वभाव में स्थित होकर देख। तू तो बोधवान् है, मिथ्याभ्रम में पड़ा है ? हे व्याध ! मेरे उपदेश से तुझे बिश्राम हुआ कि नहीं हुआ ? मैं जानता हूँ कि परमपद सत्ता में तुमने क्षणभर भी विश्राम नहीं पाया, क्योंकि दृढ़ भावना नहीं हुई। हे बधिक ! परमपद पाने का मार्ग यही है सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों का विचार ही न करे, किन्तु उसमें दृढ़ अभ्यास करे। इस मार्ग के बिना शान्ति नहीं होती। जब दृढ़ अभ्यास हो तब शान्ति हो और चित्त का निर्वाण हो, तब

द्वैत-अद्वैत की कल्पना मिटे। इसी को निर्वाण कहते हैं। जब तक चित्त का निर्वाण नहीं होता, तब तक राग-द्वेष नहीं मिटता, और जब अभ्यास के बल से चित्त का निर्वाण हो जाता है, तब अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मपद, शान्त शिवपद प्राप्त होता है, जो मान और मोह से रहित है, जिसने कुसंग को त्यागा है और किसी के संग से नहीं बँधता, जो अध्यात्मविचार नित्य करता है, जिसकी सब कामनाएँ निवृत्त हुई हैं, जो इष्ट के रागद्वेषरूपी द्वन्द्वों से मुक्त है, जो सुख दुःख में सम है, ऐसा ज्ञानवान् पुरुष अविनाशी आत्मपद को पाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे यथार्थोपदेशो नाम
द्विशताधिकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४० ।।

अग्नि बोले, हे राजा विपश्चित् ! जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तब बधिक को बड़ा आश्चर्य हुआ ! मुनीश्वर के वचन सुनकर वह मूर्तिवत् निश्चल हो गया। जैसे कागज पर मूर्ति लिखी होती है, वैसे ही वह आश्चर्य-चकित हुआ। वह संशय के समुद्र में डूब गया। जैसे चाक पर चढ़ा बर्तन घूमता है, वैसे ही वह संशय में चक्कर खाने लगा। उसने मुनीश्वर का उपदेश सुना, परन्तु अभ्यास के बिना आत्मपद में विश्रान्ति न पाई। हे राजन् ! मुनि के परम वचनों को उसने अंगीकार नहीं किया। जैसे राख में डाली आहुति निरर्थक होती है, वैसे ही मूर्ख को उपदेश करना निरर्थक होता है। मूर्खता से ही वह संशय में रहा और विचारने लगा कि यह संसार अविद्यक है तो मैं इसका अन्त लूँ, जिससे मुझको आत्मपद दिखे। इसलिए तप करूँ। हे राजा विपश्चित् ! इस प्रकार विचारकर वह उठा और तप करने लगा। पवित्र चेष्टा अंगीकार करके उसने व्याध का धर्म त्याग दिया। निदान सहस्र वर्ष तक बड़ा तप किया, परन्तु मन में कामना यही रक्खी कि मेरा शरीर बड़ा हो और दिन-दिन बहुत भोजन बढ़े; मैं अविद्यक संसार का अन्त लूँ कि कहाँ तक चला जाता है; क्योंकि जब अविद्या का अन्त आवेगा, तब आत्मा का दर्शन होगा। सहस्र वर्ष के उपरान्त जब समाधि से उठा तो गुरु के निकट जाकर

प्रणाम किया और बोला, हे भगवन् ! मैंने इतने समय तक तप किया है, परन्तु मुझको शान्ति नहीं हुई। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! तुझको जो मैंने उपदेश दिया था, उसका तूने भली भाँति अभ्यास नहीं किया, इस कारण तुझको शान्ति नहीं हुई।

हे बधिक ! मैंने तेरे हृदय में ज्ञानरूपी अग्नि की चिनगारी डाली थी, परन्तु तूने अभ्यासरूपी पवन से उसे प्रज्वलित न किया, इससे वह ढक गई—जैसे बड़े काष्ठ के नीचे रञ्चक चिनगारी ढक जाती है। हे बधिक ! तू न मूर्ख है और न पण्डित, क्योंकि जो तू पण्डित होता तो आत्मपद में स्थित पाता। जब अविद्या नष्ट होगी और अभ्यास की दृढ़ता होगी, तब ज्ञान और शान्ति का उदय होगा। जो तेरा भविष्य है, वह मैं तुझसे कहता हूँ। हे व्याध ! यही तूने भली प्रकार विचारा है कि संसार अविद्यक है और इसका अन्त लूँ कि कहाँ तक चला जाता है। अब तेरे चित्त में यही निश्चय है और आगे तू यही करेगा कि सौ युग तक उग्र तप करेगा। तब तुझ पर परमेष्ठी ब्रह्मा प्रसन्न होंगे और देवताओं सहित तेरे समीप आकर तुझसे कहेंगे कि कुछ वर माँग। तब तू कहेगा, हे देव ! जगत् अविद्यक है; वह अविद्या किसी और अणु में है। जैसे दर्पण में किसी जगह मलिनता होती है तो उसका नाश होने पर ही दर्पण शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा के किसी कोण में अविद्यारूपी मलिनता है; उसका नाश होने पर चिदात्मा का साक्षात्कार होगा। इसलिए जब अविद्यारूपी जगत् का अन्त देखूँगा, तब मुझको आत्मा भासित होगा। मेरा शरीर घड़ी-घड़ी में योजन तक बढ़ता जावे। जैसे गरुड़ का वेग होता है, वैसे ही मेरा शरीर बढ़ता जाय और मृत्यु भी मेरे वश में हो। शरीर भी आरोग्य रहे और ब्रह्माण्ड खप्पर को मैं नाँघ जाऊँ। जहाँ मेरी इच्छा हो, वहाँ चला जाऊँ और मुझको कोई न रोके। जब मैं संसार का अन्त देखूँगा, तब आत्मा को प्राप्त होऊँगा। हे देव ! इतने वर दो कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो; और कुछ नहीं चाहिए।

हे बधिक ! जब इस प्रकार तू वर माँगेगा, तब ब्रह्माजी कहेंगे कि

ऐसा ही हो। तब तेरा तप से दुर्बल हुआ शरीर फिर चन्द्रमा और सूर्य की नाईं प्रकाशमान होगा और घड़ी-घड़ी में योजनपर्यन्त बढ़ता जावेगा। जैसे गरुण तीक्ष्ण वेग से चलता है, वैसे ही तेरा शरीर वेग से बढ़ता जावेगा। जैसे प्रातःकाल का सूर्य उदय होता है और प्रकाश बढ़ता जाता है, वैसे ही तेरा शरीर बढ़ता जावेगा और चन्द्रमा-सूर्य और अग्नि की नाईं प्रकाशमान होगा। ब्रह्माजी वर देकर अन्तर्धान हो जावेंगे और अपनी ब्रह्मपुरी में पहुँचेंगे। तेरा शरीर प्रलयकाल के समुद्र की नाईं बढ़ता जावेगा। जैसे वायु से सूखे तृण उड़ते हैं, वैसे ही तुझको ब्रह्माण्ड उड़ते दिखेंगे। तब तेरा शरीर बढ़ता-बढ़ता ब्रह्माण्ड खप्पर को भी नाँघ जावेगा। उसके आगे आकाश दिखेगा, फिर ब्रह्माण्ड दिखेगा। आगे फिर ब्रह्माण्ड दिखेगा। इसी प्रकार तू कई ब्रह्माण्ड नाँघता जावेगा, परन्तु तुझको खेद कुछ न होगा। निदान महाआकाश को भी तू ढक लेगा। जहाँ किसी तत्त्व का आवरण आवेगा, उसको तू वर प्राप्त देह से सूक्ष्मता सहित नाँघता जावेगा। हे बधिक ! इसी प्रकार तू कई सृष्टियाँ नाँघ जावेगा, जो इन्द्रजाल सदृश होंगी। जो दीर्घदर्शी हैं, वे इनको असत्य जानते हैं, और जो प्राकृतजन हैं, उनको जगत् सत्य लगता है। ज्ञानवान् को जगत् मिथ्या भासित होता है। उस मिथ्या जगत् को तू नाँघता जावेगा और वहाँ जा पहुँचेगा, जहाँ अनन्तसृष्टि फुरती दिखेंगी। जैसे समुद्र में अनेक तरंग उठते हैं, वैसे ही तुझको सृष्टियाँ उपजती देख पड़ेंगी, परन्तु जिसमें सृष्टि जगती है, उस अधिष्ठान का तुझको ज्ञान न होगा। वहाँ तू देखेगा कि मैं बड़ा उत्कृष्ट हुआ हूँ। जब तुझको ऐसा अभिमान होगा तब उसके साथ ही तप का फल वैराग्य भी उदय होगा। उसी के साथ यह संस्कार तेरे हृदय में जगेगा, जिससे तू उस शरीर का निरादर करेगा और कहेगा कि हा कष्ट ! हा कष्ट ! हे देव ! क्या शरीर तुमने मुझको दिया है।

जगत् का अन्त लेने को मैंने शरीर बढ़ाया था, पर उसका तो अन्त कहीं न आया, क्योंकि अविद्या नष्ट नहीं हुई। अविद्या तब नष्ट होती है, जब ज्ञान होता है और आत्मज्ञान तब होता है, जब सत्शास्त्रों का विचार

और सन्तों का संग होता है। जब संग और सत्‌शास्त्र मुझको प्राप्त हों, तब ज्ञान उपजेगा। यह तो मुझको ऐसा शरीर प्राप्त हुआ है, जिसका बड़ा भार उठाये फिरता हूँ। अनेक सुमेरु पर्वत भी इसके आगे तृण से हल्के हैं। ऐसा भारी मेरा शरीर है। इस शरीर से मैं किसकी संगति करूँ और किस प्रकार शास्त्र श्रवण करूँ ? यह शरीर मुझको दुःखदायी है, इससे इस शरीर का त्याग करूँगा। हे बधिक ! ऐसे विचारकर तू प्राणायाम करेगा और उसकी धारणा से शरीर त्याग देगा। जैसे पक्षी फल को खाकर गुठली को त्याग देता है और जैसे इन्द्र के वज्र से खण्डित हुए पर्वत गिरते हैं, वैसे ही एक सृष्टि-भ्रम में तेरा शरीर गिरेगा। उसके नीचे कई पर्वत, नदियाँ और जीव चूर्ण होंगे। वहाँ बड़ा खेद होगा। तब सब देवता चण्डिका की आराधना करेंगे। तब वह चण्डिका भगवती तेरे शरीर को भक्षण कर जावेगी। तब सृष्टि में फिर कल्याण होगा। इस वन में जो तमाल वृक्ष हैं, उनके नीचे तू तप करेगा। यह मैंने तेरा भविष्य कहा। अब जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर।

व्याध बोला, हे भगवन् ! बड़ा कष्ट है कि मैं इतने खेद को प्राप्त होऊँगा। इससे कोई ऐसा उपाय करो, जिससे यह भावना निवृत्त हो जावे। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जो कुछ होना है, वह कभी अन्यथा नहीं होता—जो कुछ शरीर की प्रारब्ध है, वह अवश्य होती है। जैसे चिल्ले से छूटा बाण तब तक चला जाता है जब तक उसमें वेग होता है, और जब वेग समाप्त हो जाता है, तब वह पृथ्वी पर गिर पड़ता है, अन्यथा नहीं गिरता, वैसे ही जैसा प्रारब्ध का वेग है, वैसा ही होगा। भावी टलने की नहीं। अतः जीव उसमें बायाँ चरण दाहिने और दाहिना बायें नहीं कर सकता—जो होना है, वही होगा। ज्योतिषशास्त्रवाले जो भविष्य दशा पहले कहते हैं, वैसा ही होता है, क्योंकि होनी होती है—जो न हो तो क्यों कहें। इससे भावी मिटती नहीं। हे बधिक ! मैंने तुझको दो मार्ग बताये हैं। जब तक कर्म की कल्पना स्पर्श करती है, तब तक जीव कर्म के बन्धन से नहीं छूटता।

और जो कर्म की कल्पना आत्मा को स्पर्श न करे तो कोई कर्म बन्धन नहीं करता, क्योंकि उसको अद्वैत आत्मा का अनुभव होता है और द्वैतरूप कर्म नहीं दिखाई देते। सब सुख-दुःख आत्मरूप हो जाते हैं। कर्म तब तक बन्धन करते हैं, जब तक आत्मबोध नहीं हुआ। जब आत्मबोध होता है, तब सब कर्म भस्म हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भविष्यत्कथावर्णनन्नाम
द्विशताधिकैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४१ ।।

व्याध बोला, हे भगवन् ! यह जो तुमने मुझसे कहा वह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। शरीर गिरने के उपरान्त मेरी क्या दशा होगी ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जब तेरा शरीर गिरेगा, तब तेरी संवित् प्राणवासना सहित आकाशरूप महासूक्ष्म अणु के समान हो जावेगी। उस संवित् में तुझको फिर नाना प्रकार का जगत् दिखेगा। पृथ्वी, देश, काल, पदार्थ सब भासित होंगे। जैसे सूक्ष्म संवित् में स्वप्न का जगत् भासित होता है, वैसे ही तुझको जगत् भासित होगा। वहाँ तेरी संवित् में यह फुरेगा कि मैं अष्टवसुओं के समान राजा हूँ। मेरे पिता का नाम इन्द्र और माता का नाम प्रद्युम्न की पुत्री बधलेखा है। मेरे पिता मुझको राज्य देकर वन को गये हैं और तप करने लगे हैं। चारों ओर समुद्रपर्यन्त मेरा राज्य है। हे बधिक ! वहाँ तेरा नाम सिद्ध होगा। कई सौ वर्ष तक तू राज्य करेगा और नाना प्रकार के विषयों को भोगेगा। हे बधिक ! विदूरथ नाम का एक राजा पृथ्वी पर होगा। वह तेरे साथ शत्रुता करेगा। तेरी पृथ्वी और सीमा लेने का यत्न करेगा। तब तू मन में विचार करेगा कि मैं बड़ा सिद्ध हूँ, और कई सौ वर्ष मैंने निर्विघ्न भोग भोगे हैं। अब इस विदूरथ नाम के शत्रु का नाश करूँ। हे बधिक ! उसको मारने के लिए तू सेना लेकर चढ़ाई करेगा। वह तेरी चारों प्रकार की सेना नाश को प्राप्त होगी। इस प्रकार हाथी, घोड़े, रथ और प्यादेवाली दोनों ओर की सेना नष्ट होगी। तुम दोनों रथ से उतरकर परस्पर युद्ध करोगे। तुम्हारे भी बहुत शस्त्र लगेंगे और शरीर घायल होगा।

तो भी तू शत्रु के सम्मुख जाकर युद्ध करेगा। अंत में उसकी टाँग काटकर कुल्हाड़े से उसको मारकर अपने घर लौटेगा। सब दिक्पाल तुझसे डरने लगेंगे। तू बड़ा तेजस्वी होगा।

बड़ा आश्चर्य है कि विदूरथ को जीतकर जब तू यमपुरी भेजेगा, तब कहेगा कि हे मन्त्रियों ! इसमें क्या आश्चर्य है ? मेरे भय से तो दिक्पाल भी काँपते हैं। प्रलयकाल के समुद्र और मेघ के समान मेरी सेना है, जिसका ओरछोर नहीं है। मेरे विदूरथ को जीतने में क्या आश्चर्य है ? तब मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! इतनी सेना तुम्हारे साथ है तो क्या हुआ, उस विदूरथ की स्त्री लीला को तुम नहीं जानते। उसने तप करके एक देवी को प्रसन्न किया है, जिसके क्रोध करने से सम्पूर्ण विश्व का नाश हो सकता है। वह माता सरस्वती ज्ञानशक्ति और सब भूतों के हृदय में स्थित है। जैसा उसमें कोई अभ्यास करता है, उसे सरस्वती सिद्ध करती है। हे राजन् ! वह राजा और उसकी स्त्री लीला सरस्वती से मोक्ष माँगते थे कि किसी प्रकार हम संसारबन्धन से मुक्त हों, इस कारण वे मुक्त हुए और तुम्हारी जय हुई। राजा पूछेगा, हे अंग ! जो सरस्वती मेरे हृदय में स्थित है, तो मुझको मुक्त क्यों नहीं करती ? मैं भी तो सदा सरस्वती की उपासना करता हूँ। मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! सरस्वती ही चित्संवित् है। उसमें जैसा निश्चय होता है, वही सिद्ध होता है। हे राजन् ! तुम सदा अपनी जय ही माँगते थे, इससे तुम्हारी जय हुई और वह मुक्ति माँगता था, इससे उसकी मुक्ति हुई। उसका पिछला संस्कार उज्ज्वल था, इससे मुक्त हुआ, और तुम्हारा पिछले जन्म का संस्कार तामसी था, इस कारण तुमको मोक्ष की इच्छा नहीं हुई और शान्ति भी न प्राप्त हुई। आदि परमात्मसत्ता से सब पदार्थ प्रकट हुए हैं। केवल आत्मसत्ता, जो निष्किञ्चन पद है, सदा अपने स्वभाव में स्थित है। उसी में चेतनता (संवेदन) फुरती है। अहं अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' इस भावना का नाम चित्त है। इसी चेतनता ने देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदि दृश्य जगत् की कल्पना की है। उस कल्पना से विश्व चित्त में स्थित है और चित्त ने आत्मा से फुरा कर प्रमाद

से देहादिक की कल्पना की है। राजा पूछेगा, हे साधो ! आत्मा तो निष्किञ्चन और केवल निर्विकार है, उसमें तामसी देह कहाँ से उपजी ? मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! जैसे स्वप्न में प्रमाद से तामसी देह दिखती है, परन्तु होती नहीं, वैसे ही ये आकार भी दिखते है, परन्तु होते नहीं, अज्ञान से भासित होते हैं। इससे तुझको प्रमाद हुआ है, इसी से वासना के अनुसार जन्म पाता फिरा है। इस प्रकार तेरे बहुत जन्म बीते हैं। परन्तु पिछला शरीर जो तूने भोगा है, वह तामस-तामसी था, इस कारण तुझको मोक्ष की इच्छा नहीं हुई।

हे राजन् ! तुम्हारे जो जन्म बीते हैं, उनको मैं जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते। राजा कहेगा, हे निर्मल आत्मा ! तामस-तामसी किसको कहते हैं ? मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! एक सात्त्विक-सात्त्विकी है, दूसरा केवल सात्त्विकी है, तीसरा राजस-राजसी है, एक तामस-तामसी है, और एक केवल तामसी है। इन्हें अलग-अलग सुनो। हे राजन् ! निर्विकल्प अचेत, चिन्मात्र सत्ता से जो संवित् फुरी है, जिसकी अहंप्रतीति अधिष्ठान में रही है, जो निश्चय को नहीं प्राप्त हुए और अनात्मभाव को भी स्पर्श नहीं किया, ऐसे जो ब्रह्मादिक हैं, वे सात्त्विक-सात्त्विकी हैं। जिनको सात्त्विकी पदार्थ भासित होने लगे हैं और स्वरूप का प्रमाद हैं, उनका बुद्धि से स्पर्श हो अथवा न हो, वे केवल सात्त्विकी हैं। जिनकी संवित् का बुद्धि से सम्बन्ध हुआ है और नाना प्रकार के राजसी पदार्थों में सत्य प्रतीति हुई है, जिन्हें राजसकर्मों में दृढ़ अभ्यास है और उसके अनुसार शरीर को धारण करते चले गये, पर स्वरूप की ओर नहीं आये और चिरकाल तक ऐसे ही रहे, वे राजस-राजसी हैं। जिनको बोध में अहंप्रतीति नहीं, स्वरूप का प्रमाद है, जगत् सत्य भासित होता है, राजसी पदार्थों में अधिक प्रीति है और राजसी कर्मों का अभ्यास है, उसके अनुसार जन्म पाते हैं और फिर शीघ्र ही स्वरूप की ओर आते हैं, वे केवल राज़सी हैं, और राजस-राजसी से श्रेष्ठ हैं। जिनको स्वरूप का प्रमाद है और जगत् में सत्य प्रतीति हुई है एवम् उस जगत् के तामस कर्मों

में दृढ़ अभ्यास हुआ है, वे महामूढ़ उसमें चिरकाल तक जन्म पाते चले जाते हैं, यदि दैव-संयोग से कभी मुक्त पुरुष की संगति प्राप्त भी होती है तो उसे छोड़ जाते हैं, वे तामस-तामसी हैं। जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ है और तामसी कर्मों की रुचि है, वे उन कर्मों के अनुसार जन्म पाते हैं। जो हट पड़े और तामसी कर्मों को त्यागकर मोक्षपरायण होते हैं, वे केवल तामसी हैं। पर वे तामस-तामसी से श्रेष्ठ हैं। हे राजन् ! तुम तामस-तामसी थे, इस कारण सरस्वती से तुम अपनी जय ही माँगते रहे और मोक्ष का अभ्यास तुमने नहीं किया।

राजा पूछेगा, हे निर्मलचित्त, मन्त्रिन् ! मैं तामस-तामसी था, इस कारण मोक्ष की इच्छा न की, परन्तु अब मुझसे तुम वही उपाय कहो जिससे मेरा अहंभाव निवृत्त हो और आत्मपद की प्राप्ति हो। मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! निश्चय करके जानो, जो कोई कैसे ही पदार्थ की इच्छा करे, वह पदार्थ अभ्यास से अवश्य प्राप्त होता है। जिसकी भावना करके वह अभ्यास करता है, वह पदार्थ निस्सन्देह प्राप्त होता है। जो जिसका दृढ़ अभ्यास करता है, वह वही रूप हो जाता है। त्रिलोकी में ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो अभ्यास से न मिल सके। जो प्रथम दिन में कोई विकर्म किसी से हुआ हो और अगले दिन शुभ कर्म करे तो वह विकर्म लुप्त हो जाता है और शुभ कर्म ही मुख्य हो जाता है। जब तुम आत्मपद का अभ्यास करोगे, तब तुमको आत्मपद प्राप्त होगा, और तुम्हारा तामस-तामसी भाव निवृत्त हो जावेगा। हे राजन् ! जो पुरुष कोई पदार्थ पाने की इच्छा करता है और हटकर नहीं फिरता तो वह अवश्य उसको पाता है। मनुष्य को देह-इन्द्रियों का अभ्यास दृढ़ हो रहा है, उससे फिर-फिर देह और इन्द्रियाँ ही पाता है। जब उनसे पलटकर आत्मा का अभ्यास करे, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और देह-इन्द्रियों का वियोग हो जावेगा। इसलिए आप भी सदा आत्मपद का अभ्यास करें तो उससे आपको आत्मपद प्राप्त होगा।

इतना कह फिर मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! इस प्रकार जब तू सिद्ध राजा होगा और मन्त्री तुझको उपदेश करेगा, तब तू राज्य को त्यागकर

वन में जायगा और उपदेश करनेवाला मन्त्री दूसरे मन्त्रियों और सेना सहित तुझसे कहेंगे कि तू राज्य कर, परन्तु तेरा चित्त विरक्त होगा और तू राज्य अंगीकार न करेगा। उस वन में किसी सन्त के स्थान में जाकर तू ठहरेगा और परम वैराग्य संपन्न होगा, तब उनकी बातों का और प्रसंग का तुझ पर प्रभाव होगा। यदि सन्तों से कुछ न माँगिये तो भी वे अमृतरूपी वचनों की वर्षा करते हैं—जैसे पुष्पों से बिना माँगे ही सुगन्ध प्राप्त होती है, वैसे ही सन्तजनों से माँगे बिना ही ज्ञान का अमृत प्राप्त होता है। जब मनुष्य सन्तों के अमृत-वचन सुनता है, तब उसके मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि 'मैं कौन हूँ, 'यह जगत् क्या है' और 'जगत् किससे उपजा है' ? निदान तू उनका उपदेश पाकर जानेगा कि मैं अचेत चिन्मात्रस्वरूप हूँ और जगत् मेरा आभास है। चित्त का फुरना ही जगत् का कारण है। वह चित्त ही मुझमें नहीं है, तो जगत् कैसे हो ? जगत् तो मुझ में नहीं है; मैं अपने ही रूप में स्थित हूँ। हे बधिक ! इस प्रकार जब तू मन को सब विषयों से शून्य करके अपने स्वरूप में स्थित होगा, तब परमानन्द निर्वाण पद तुझे प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सिद्धनिर्वाणवर्णनन्नाम
द्विशताधिकद्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४२ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! इस प्रकार जो तेरी भावी थी, वह सब मैंने तुझसे कही। अब जो भला जान पड़े, वह कर। अग्नि बोले, हे राजा विपश्चित् ! मुनीश्वर ने जब बधिक से इस प्रकार कहा, तब उसे आश्चर्य हुआ। वह वहाँ से उठकर मुनीश्वर सहित स्नान करने गया। निदान दोनों तप करने और शास्त्र को बिचारने लगे। कुछ काल के उपरान्त मुनीश्वर का निर्वाण हो गया। केवल बधिक ही यह विचार कर कि किसी प्रकार मेरी अविद्या नष्ट हो, तप करने लगा। हे राजा विपश्चित् ! सौ युग तक जब बधिक ने तप किया, तब ब्रह्माजी देवताओं को साथ लेकर आये और बोले कि कुछ वर माँग। तब बधिक ने कहा कि मेरा शरीर बड़ा हो और मैं अविद्या को देखूँ। हे राजन् ! यद्यपि बधिक ने जाना कि यह वर माँगने

से मेरा भला न होगा, परन्तु दृढ़ भावना के बल से जानकर भी यही वर माँगा कि घड़ी-घड़ी में मेरा शरीर योजन भर बढ़े। ब्रह्माजी ने कहा कि ऐसा ही होगा। ब्रह्माजी यह कहकर जब अन्तर्धान हो गये, तब उसका शरीर बढ़ने लगा। एक घड़ी में एक योजन बढ़ते-बढ़ते कल्पपर्यन्त बढ़ता गया और कई ब्रह्माण्डों तक चला गया। पर जिस ओर को वह देखता था, उस ओर अविद्यारूपी अनन्त सृष्टियाँ उसे दिखती थीं। निदान जब वह चलते-चलते थक गया, तब उसने विचारा कि अविद्या का तो अन्त नहीं आता, इस शरीर को मैं कहाँ तक उठाये फिरूँ ? अब इसका त्याग करूँ, तभी आत्मपद पाऊँगा। हे राजा विपश्चित् ! तब उसने प्राण को ऊपर खींचकर शरीर को त्याग दिया। यह वही शरीर यहाँ आ पड़ा है। जिस ब्रह्माण्ड से यह गिरा है, वह हमारे स्वप्न की सृष्टि है, अर्थात् यह अन्य सृष्टि का था, इस सृष्टि में इसकी स्वप्नवत् प्रतिभा हुई थी, और यहाँ जाग्रत् दृष्टि में आ पड़ा है। पृथ्वी, पहाड़ आदि सबको उसने नाश कर डाला है। जहाँ से यह गिरा है, वहाँ आकाश में तरुवर की नाईं दिखता था और यहाँ इस प्रकार गिरा है, जैसे इन्द्र का वज्र हो।

हे विपश्चितों में श्रेष्ठ ! वही बधिक का महाशव था। जब उसका शरीर गिरा, तब भगवती ने उसका रक्तपान किया, इसलिए उसका नाम रक्ता—भगवती हुआ। उसके शरीर का शेष अंश सो पृथ्वी हुआ। जब चिरकाल व्यतीत हुआ, तब मृत्तिका पृथ्वी हो गई और उस पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ा। ब्रह्माजी ने जो नवीन सृष्टि रची है उस पृथ्वी पर अब कल्याण हुआ है। इससे अब जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ ज़ा और मैं भी अब जाता हूँ। इन्द्र को यज्ञ करना है और उन्होंने मेरा आवाहन किया है, वहाँ मैं जाता हूँ। भास बोले, हे राजा दशरथ ! इस प्रकार मुझसे कहकर अग्नि देवता अन्तर्धान हो गये। जैसे महाश्याम मेघ से दामिनी चमक कर अन्तर्धान हो जाती है, वैसे ही अग्नि जब अन्तर्धान हो गये, तब मैं वहाँ से चला। और एक सृष्टि में गया तो वहाँ और प्रकार के शास्त्र और ही प्रकार के प्राणी देखे। फिर आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ ऐसे प्राणी

देखे, जिनकी टाँगे काठ की और आचरण मनुष्य का था। आगे और सृष्टि में गया तो उसमें लोगों के शरीर तो पाषाण के थे, पर वे दौड़ते और सब व्यवहार करते थे। उसके उपरान्त और सृष्टि में गया। वहाँ शास्त्ररूपी उनकी मूर्ति थी। उसके आगे गया तो वहाँ क्या देखा कि प्राणी बैठे ही रहते हैं और जोर से बातें करते हैं, पर न कुछ खाते हैं और न पीते हैं। हे राजा दशरथ ! इस प्रकार जब मैं चिरकाल तक फिरता रहा, पर अविद्या का अन्त कहीं न आया, तब मैंने विचार किया कि आत्मज्ञानी हो जाऊँ, तब अन्त आवेगा, और किसी प्रकार अन्त न आवेगा। इस प्रकार विचार कर मैं एक वन में गया और ज्ञान की सिद्धि के लिए तप करने लगा। जब कुछ काल तप किया तब चित्त में यह भावना उपजी कि किसी प्रकार सन्तों के निकट जाऊँ तो उनकी संगति से मुझको शान्तिपद प्राप्त होगा।

हे राजन् ! यह विचार कर मैं वहाँ से चला और कल्पवृक्ष के वन में आया। वहाँ एक पुरुष मुझको मिला। उसने कहा, हे साधो ! तू कहाँ जा रहा है, मेरे पास तो आ ? तब मैंने उससे पूछा कि तू कौन है ? उसने कहा कि मैं तेरा तप हूँ, जो तूने किया है। अब तू कुछ वर माँग, वह मैं तुझको दे दूँ। तब मैंने कहा कि हे साधो ! मेरी इच्छा यही है कि मैं आत्मपद को पाऊँ। उसने कहा, हे साधो ! अब तुझे मृग का एक जन्म और पाना है। जब वह तेरा शरीर अग्नि में जलेगा, तब तू मनुष्य का शरीर पावेगा और ज्ञानवानों की सभा में जावेगा। उस सभा में जब तू मनुष्य-शरीर धरेगा, तब तुझे सब जन्मों और कर्मों की स्मृति हो आवेगी और स्वरूप की प्राप्ति होगी। इसलिए तू अब मृगशरीर धारण कर। हे राजा दशरथ ! इस प्रकार जब उसने कहा, तब मैंने सोचा कि मृग होऊँ। मुझे स्वप्नरूप प्रतिभा जगी जिससे मैं मृग हो गया। तुम्हारी सृष्टि में एक पहाड़ की कन्दरा में मैं विचरता था। इतने में उसका राजा शिकार खेलने चला और उसने मुझको देख मेरे पीछे घोड़ा दौड़ाया। आगे-आगे मैं दौड़ता जाता था और पीछे घोड़ा था, पर उसका वेग ऐसा

तीव्र था कि उसने मुझको पकड़ लिया और अपने घर ले आया। तीन दिन उसने मुझे घर में रक्खा, परन्तु मेरी बहुत सुन्दर क्रीड़ा देखी, इस कारण प्रसन्नता से यहाँ ले आया। हे राजा दशरथ ! अब मैंने मृग के शरीर को त्यागकर मनुष्य का शरीर पाया है। तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब तुमसे मैंने कहा।

वाल्मीकिजी बोले, हे अंग ! जब इस प्रकार विपश्चित् कह चुका तब रामजी ने विपश्चित् से प्रश्न किया कि हे विपश्चित् ! वह मृग तो और सृष्टि का था, यहाँ क्योंकर आया ? भास बोले, हे रामजी ! जहाँ वह मिला था वह स्थान भी और सृष्टि का था। एक समय दुर्वासा ऋषीश्वर आकाशमार्ग में ध्यान लगाये बैठें थे कि उसी मार्ग से इन्द्र पृथ्वी पर यज्ञ करने के लिए चले आ रहे थे। दुर्वासा को शव जानकर इन्द्र ने उनको लात से ठुकराया। तब दुर्वासा ने समाधि से उठकर इन्द्र की ओर देखा और शाप दिया कि हे शक्र ! तूने मुझे जानकर भी गर्व करके पैर लगाया, इसलिये तेरे यज्ञ को एक शव नष्ट करेगा और जिस स्थान पर वह गिरेगा, वह पृथ्वी भी नष्ट होगी। इस ऋषि ने जब ऐसे शाप दिया और इन्द्र यज्ञ करने लगे, तब और सृष्टि से वह शव आ गिरा और पृथ्वी चूर्ण हो गई। वह तो उस प्रकार गिरा और मैं तपरूपी मुनीश्वर के वर से मृग होकर तुम्हारी सभा में आया। हे रामजी ! जो स्वप्न की सृष्टि का था, वह जो असत्य होता तो प्रकट न होता और जो सत्य होता तो स्वप्नरूप न होता। हे रामजी ! तुम हमारी स्वप्न की सृष्टि में हो और हम तुम्हारी सृष्टि के स्वप्न में हैं। जैसे स्वप्न पदार्थों का होना हुआ है, वैसे ही शव का और मृग का भी होना हुआ है। जैसे यह सृष्टि है, वैसे ही वह सृष्टि भी है। जो यह सृष्टि सत्य है तो वह भी सत्य है; परन्तु वास्तव में न यह सत्य है और न वह सत्य है। यह भी भ्रममात्र है और वह भी भ्रममात्र है। सत्य वस्तु वही है, जो मनसहित षट्इन्द्रियों से अगम्य है और वह आत्मसत्ता है, जिससे यह सब है और जिसमें सब है। ऐसी परमात्मसत्ता परमसत्ता है और उसमें सब कुछ बनता है। हे रामजी ! जगत् संकल्पमात्र

है, संकल्प का मिलना क्या आश्चर्य है ? छाया और धूप की तरह सत्य और झूठ और ज्ञान और अज्ञान इकट्ठे नहीं होते, परन्तु आत्मा में इकट्ठे होते दीखते हैं।

हे रामजी ! जब मनुष्य शयन करता है, तब अनुभवरूप होता है, फिर स्वप्न में स्वप्न-नगर भासित होता है, छाया और धूप भी भासित होता है और ज्ञान-अज्ञान, सच-झूठ भी भासित होते हैं। जैसे आकाश में विरुद्ध पदार्थ भासित होते हैं, वैसे ही संकल्प से संकल्प मिल जाता है; इसमें क्या आश्चर्य है ? सब जगत् आकाशवत् शून्य निराकार निर्विकार है। निराकार में आकार और निर्विकार में विकार दिखते हैं, यही आश्चर्य है। सब आकार जो दृष्टिगोचर होते हैं, वे वही निराकाररूप हैं; ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। जगत् को असत्य कहते भी नहीं बनता। जो असत्य होता है तो है तो प्रलय होकर पृथ्वी, अप्, तेज और वायु से आकाश फिर प्रकट न होता। पर प्रलय होने के बाद ये फिर उत्पन्न होते हैं, इससे असत्य नहीं हैं। चैतन्यरूप आत्मा का ही स्वभाव है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। हे रामजी ! जब प्रलय होता है, तब सब भूत पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं। इसी से यह सृष्टि आत्मा का आभासमात्र है। ब्रह्मसत्ता में अनन्त जगत् फुरते हैं, पर जीव अपनी-अपनी सृष्टि ही को जानते—हैं। सब जीव ब्रह्मरूपी समुद्र के कण हैं, उनमें से एक सृष्टि को दूसरा नहीं जानता। जैसे सिद्धों की सृष्टि अपने अपने अनुभव में जगती है और जैसे स्वप्न की सृष्टि भिन्न भिन्न होती है, वैसे ही यह अपनी-अपनी सृष्टि अलग है और मिल भी जाती है। आत्मा में सब कुछ बनता है। जो अनादि और आदि, विधि और निषेध, विकार और निर्विकार इकट्ठे नहीं होते, वे आकाश में आत्मसत्ता और स्वप्न में इकट्ठे दिखते हैं। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। जगत् कुछ भिन्न वस्तु नहीं; आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर दिखती है।

हे राम ! चार सत्ता इस जगत् में फुरी हैं—सारधी, गोपती, समान

ब्रह्मसत्ता और अविद्या। इनमें से सारधी और गोपतीसत्ता तो जिज्ञासु की भावना में भासित होती है, समानसत्ता ज्ञानी को भासित होती है और अविद्या अज्ञानी को भासित होती है। ये चारों भी ब्रह्म से भिन्न नहीं, ब्रह्म ही के नाम हैं। ब्रह्मसत्ता स्वभाव चेतनता से ऐसे ही भासित होती है। जैसे वायु फुरने से चलती जान पड़ती है और ठहरने से अचल लगती है, वैसे ही चेतनता (फुरने) से नाना प्रकार के कौतुक उठते हैं और फुरने से रहित चेतन निर्विकल्प हो जाता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं जिसमें सत्य न हो और ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं, जिसमें असत्य न हो—सब समान है। जैसे आकाश के फूल हैं, वैसे ही घट, पटादिक हैं, और जैसे इनके उत्थान का अनुभव होता है, वैसे ही उनका अनुभव होता है। सब पदार्थ सत्ता ही से सत्य भासित होते हैं। सब शब्द अर्थ जो प्रकट हुए हैं वे सब मिट जाते हैं। इससे असत्य हैं और आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है, कभी अन्यथा नहीं होती। जो मरकर न जन्मे तो आनन्द है, क्योंकि मुक्त प्राणी और जो मरकर जन्म लेता है, वह भी अविनाशी हुआ, इसलिए शोक करना व्यर्थ है।

हे रामजी ! जगत् के आदि में भी ब्रह्मसत्ता थी और अन्त में भी वही रहेगी। जब आदि और अन्त में वही है, तब मध्य में भी उसे ही जानिये। इससे सब जगत् आत्मरूप है और सब शब्द अर्थसंयुक्त हैं। सब शब्द और अर्थाकार का अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही है। जिसको यथार्थ अनुभव होता है, उसको ऐसे भासित होता है और जिसको यथार्थ अनुभव नहीं होता, उसको नाना प्रकार का जगत् भासित होता है, पर आत्मा में जगत् कुछ बना नहीं, सब आकाशरूप है और ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। ब्रह्म से भिन्न जो कुछ दिखता है, वह भ्रममात्र और नाशरूप है। सब दृश्य पदार्थ नाशरूप हैं। जिसने उन्हें सत्य जाना, उससे हमको कुछ प्रयोजन नहीं। जो दूसरा कुछ बना नहीं तो मैं क्या कहूँ ? जिसमें ये पदार्थ आभास फुरते हैं, उस अधिष्ठान को देखे तो सब वही रूप भासित होंगे। जो पुरुष स्वभाव में स्थित है, उसको ये वचन सोहते हैं। मैंने अनन्त

से देहादिक की कल्पना की है। राजा पूछेगा, हे साधो ! आत्मा तो निष्किञ्चन और केवल निर्विकार है, उसमें तामसी देह कहाँ से उपजी ? मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! जैसे स्वप्न में प्रमाद से तामसी देह दिखती है, परन्तु होती नहीं, वैसे ही ये आकार भी दिखते है, परन्तु होते नहीं, अज्ञान से भासित होते हैं। इससे तुझको प्रमाद हुआ है, इसी से वासना के अनुसार जन्म पाता फिरा है। इस प्रकार तेरे बहुत जन्म बीते हैं। परन्तु पिछला शरीर जो तूने भोगा है, वह तामस-तामसी था, इस कारण तुझको मोक्ष की इच्छा नहीं हुई।

हे राजन् ! तुम्हारे जो जन्म बीते हैं, उनको मैं जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते। राजा कहेगा, हे निर्मल आत्मा ! तामस-तामसी किसको कहते हैं ? मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! एक सात्त्विक-सात्त्विकी है, दूसरा केवल सात्त्विकी है, तीसरा राजस-राजसी है, एक तामस-तामसी है, और एक केवल तामसी है। इन्हें अलग-अलग सुनो। हे राजन् ! निर्विकल्प अचैत, चिन्मात्र सत्ता से जो संवित् फुरी है, जिसकी अहंप्रतीति अधिष्ठान में रही है, जो निश्चय को नहीं प्राप्त हुए और अनात्मभाव को भी स्पर्श नहीं किया, ऐसे जो ब्रह्मादिक हैं, वे सात्त्विक-सात्त्विकी हैं। जिनको सात्त्विकी पदार्थ भासित होने लगे हैं और स्वरूप का प्रमाद हैं, उनका बुद्धि से स्पर्श हो अथवा न हो, वे केवल सात्त्विकी हैं। जिनकी संवित् का बुद्धि से सम्बन्ध हुआ है और नाना प्रकार के राजसी पदार्थों में सत्य प्रतीति हुई है, जिन्हें राजसकर्मों में दृढ़ अभ्यास है और उसके अनुसार शरीर को धारण करते चले गये, पर स्वरूप की ओर नहीं आये और चिरकाल तक ऐसे ही रहे, वे राजस-राजसी हैं। जिनको बोध में अहंप्रतीति नहीं, स्वरूप का प्रमाद है, जगत् सत्य भासित होता है, राजसी पदार्थों में अधिक प्रीति है और राजसी कर्मों का अभ्यास है, उसके अनुसार जन्म पाते हैं और फिर शीघ्र ही स्वरूप की ओर आते हैं, वे केवल राज़सी हैं, और राजस-राजसी से श्रेष्ठ हैं। जिनको स्वरूप का प्रमाद है और जगत् में सत्य प्रतीति हुई है एवम् उस जगत् के तामस कर्मों

में दृढ़ अभ्यास हुआ है, वे महामूढ़ उसमें चिरकाल तक जन्म पाते चले जाते हैं, यदि दैव-संयोग से कभी मुक्त पुरुष की संगति प्राप्त भी होती है तो उसे छोड़ जाते हैं, वे तामस-तामसी हैं। जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ है और तामसी कर्मों की रुचि है, वे उन कर्मों के अनुसार जन्म पाते हैं। जो हट पड़े और तामसी कर्मों को त्यागकर मोक्षपरायण होते हैं, वे केवल तामसी हैं। पर वे तामस-तामसी से श्रेष्ठ हैं। हे राजन् ! तुम तामस-तामसी थे, इस कारण सरस्वती से तुम अपनी जय ही माँगते रहे और मोक्ष का अभ्यास तुमने नहीं किया।

राजा पूछेगा, हे निर्मलचित्त, मन्त्रिन् ! मैं तामस-तामसी था, इस कारण मोक्ष की इच्छा न की, परन्तु अब मुझसे तुम वही उपाय कहो जिससे मेरा अहंभाव निवृत्त हो और आत्मपद की प्राप्ति हो। मन्त्री कहेगा, हे राजन् ! निश्चय करके जानो, जो कोई कैसे ही पदार्थ की इच्छा करे, वह पदार्थ अभ्यास से अवश्य प्राप्त होता है। जिसकी भावना करके वह अभ्यास करता है, वह पदार्थ निस्सन्देह प्राप्त होता है। जो जिसका दृढ़ अभ्यास करता है, वह वही रूप हो जाता है। त्रिलोकी में ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो अभ्यास से न मिल सके। जो प्रथम दिन में कोई विकर्म किसी से हुआ हो और अगले दिन शुभ कर्म करे तो वह विकर्म लुप्त हो जाता है और शुभ कर्म ही मुख्य हो जाता है। जब तुम आत्मपद का अभ्यास करोगे, तब तुमको आत्मपद प्राप्त होगा, और तुम्हारा तामस-तामसी भाव निवृत्त हो जावेगा। हे राजन् ! जो पुरुष कोई पदार्थ पाने की इच्छा करता है और हटकर नहीं फिरता तो वह अवश्य उसको पाता है। मनुष्य को देह-इन्द्रियों का अभ्यास दृढ़ हो रहा है, उससे फिर-फिर देह और इन्द्रियाँ ही पाता है। जब उनसे पलटकर आत्मा का अभ्यास करे, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और देह-इन्द्रियों का वियोग हो जावेगा। इसलिए आप भी सदा आत्मपद का अभ्यास करें तो उससे आपको आत्मपद प्राप्त होगा।

इतना कह फिर मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! इस प्रकार जब तू सिद्ध राजा होगा और मन्त्री तुझको उपदेश करेगा, तब तू राज्य को त्यागकर

वन में जायगा और उपदेश करनेवाला मन्त्री दूसरे मन्त्रियों और सेना सहित तुझसे कहेंगे कि तू राज्य कर, परन्तु तेरा चित्त विरक्त होगा और तू राज्य अंगीकार न करेगा। उस वन में किसी सन्त के स्थान में जाकर तू ठहरेगा और परम वैराग्य संपन्न होगा, तब उनकी बातों का और प्रसंग का तुझ पर प्रभाव होगा। यदि सन्तों से कुछ न माँगिये तो भी वे अमृतरूपी वचनों की वर्षा करते हैं—जैसे पुष्पों से बिना माँगे ही सुगन्ध प्राप्त होती है, वैसे ही सन्तजनों से माँगे बिना ही ज्ञान का अमृत प्राप्त होता है। जब मनुष्य सन्तों के अमृत-वचन सुनता है, तब उसके मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि 'मैं कौन हूँ, 'यह जगत् क्या है' और 'जगत् किससे उपजा है' ? निदान तू उनका उपदेश पाकर जानेगा कि मैं अचेत चिन्मात्रस्वरूप हूँ और जगत् मेरा आभास है। चित्त का फुरना ही जगत् का कारण है। वह चित्त ही मुझमें नहीं है, तो जगत् कैसे हो ? जगत् तो मुझ में नहीं है; मैं अपने ही रूप में स्थित हूँ। हे बधिक ! इस प्रकार जब तू मन को सब विषयों से शून्य करके अपने स्वरूप में स्थित होगा, तब परमानन्द निर्वाण पद तुझे प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सिद्धनिर्वाणवर्णनन्नाम
द्विशताधिकद्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४२ ।।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! इस प्रकार जो तेरी भावी थी, वह सब मैंने तुझसे कही। अब जो भला जान पड़े, वह कर। अग्नि बोले, हे राजा विपश्चित् ! मुनीश्वर ने जब बधिक से इस प्रकार कहा, तब उसे आश्चर्य हुआ। वह वहाँ से उठकर मुनीश्वर सहित स्नान करने गया। निदान दोनों तप करने और शास्त्र को बिचारने लगे। कुछ काल के उपरान्त मुनीश्वर का निर्वाण हो गया। केवल बधिक ही यह विचार कर कि किसी प्रकार मेरी अविद्या नष्ट हो, तप करने लगा। हे राजा विपश्चित् ! सौ युग तक जब बधिक ने तप किया, तब ब्रह्माजी देवताओं को साथ लेकर आये और बोले कि कुछ वर माँग। तब बधिक ने कहा कि मेरा शरीर बड़ा हो और मैं अविद्या को देखूँ। हे राजन् ! यद्यपि बधिक ने जाना कि यह वर माँगने

से मेरा भला न होगा, परन्तु दृढ़ भावना के बल से जानकर भी यही वर माँगा कि घड़ी-घड़ी में मेरा शरीर योजन भर बढ़े। ब्रह्माजी ने कहा कि ऐसा ही होगा। ब्रह्माजी यह कहकर जब अन्तर्धान हो गये, तब उसका शरीर बढ़ने लगा। एक घड़ी में एक योजन बढ़ते-बढ़ते कल्पपर्यन्त बढ़ता गया और कई ब्रह्माण्डों तक चला गया। पर जिस ओर को वह देखता था, उस ओर अविद्यारूपी अनन्त सृष्टियाँ उसे दिखती थीं। निदान जब वह चलते-चलते थक गया, तब उसने विचारा कि अविद्या का तो अन्त नहीं आता, इस शरीर को मैं कहाँ तक उठाये फिरूँ ? अब इसका त्याग करूँ, तभी आत्मपद पाऊँगा। हे राजा विपश्चित् ! तब उसने प्राण को ऊपर खींचकर शरीर को त्याग दिया। यह वही शरीर यहाँ आ पड़ा है। जिस ब्रह्माण्ड से यह गिरा है, वह हमारे स्वप्न की सृष्टि है, अर्थात् यह अन्य सृष्टि का था, इस सृष्टि में इसकी स्वप्नवत् प्रतिभा हुई थी, और यहाँ जाग्रत् दृष्टि में आ पड़ा है। पृथ्वी, पहाड़ आदि सबको उसने नाश कर डाला है। जहाँ से यह गिरा है, वहाँ आकाश में तरुवर की नाईं दिखता था और यहाँ इस प्रकार गिरा है, जैसे इन्द्र का वज्र हो।

हे विपश्चितों में श्रेष्ठ ! वही बधिक का महाशव था। जब उसका शरीर गिरा, तब भगवती ने उसका रक्तपान किया, इसलिए उसका नाम रक्ता—भगवती हुआ। उसके शरीर का शेष अंश सो पृथ्वी हुआ। जब चिरकाल व्यतीत हुआ, तब मृत्तिका पृथ्वी हो गई और उस पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ा। ब्रह्माजी ने जो नवीन सृष्टि रची है उस पृथ्वी पर अब कल्याण हुआ है। इससे अब जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ ज़ा और मैं भी अब जाता हूँ। इन्द्र को यज्ञ करना है और उन्होंने मेरा आवाहन किया है, वहाँ मैं जाता हूँ। भास बोले, हे राजा दशरथ ! इस प्रकार मुझसे कहकर अग्नि देवता अन्तर्धान हो गये। जैसे महाश्याम मेघ से दामिनी चमक कर अन्तर्धान हो जाती है, वैसे ही अग्नि जब अन्तर्धान हो गये, तब मैं वहाँ से चला। और एक सृष्टि में गया तो वहाँ और प्रकार के शास्त्र और ही प्रकार के प्राणी देखे। फिर आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ ऐसे प्राणी

सृष्टियाँ देखी हैं और उनके भिन्न-भिन्न आचार भी देखे हैं। दशों दिशाओं में मैं फिरा हूँ और बहुत भोग भोगे हैं; बड़ी-बड़ी विभूति पाई और देखी और अनेक प्रकार की चेष्टाएँ की हैं, परन्तु मुझको सब स्वप्न प्रतीत हुआ, क्योंकि सब भोग पदार्थ और कर्म अविद्या के रचे हुए हैं। उसी अविद्या का अन्त लेने को मैं अनेक युग पर्यन्त फिरा, पर अन्त कहीं न पाया। वशिष्ठजी की कृपा से अब मुझको स्वरूप का साक्षात्कार हुआ, अविद्या नष्ट हुई और मैं परमानन्द को प्राप्त हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निवार्णप्रकरणे विपश्चित्र् देशान्तरभ्रम वर्णनंनाम द्विशताधिकत्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४३।।

वाल्मीकिजी बोले, हे साधो ! जब इस प्रकार विपश्चित्र् ने कहा, तब सायंकाल हुआ और सूर्य अन्तर्धान हो गये—मानो विपश्चित्र् का वृत्तान्त देखने को अन्य सृष्टि में गये—और नौबत-नगाड़े बजने लगे, मानो राजा दशरथ की जय-जय करते हैं। उस समय राजा दशरथ ने धन, रत्न और वस्त्राभूषण से राजा विपश्चित्र् का यथायोग्य पूजन किया। दशरथ आदि सब राजाओं ने वशिष्ठजी को प्रणाम किया और परस्पर प्रणाम करके सब सभासद् अपने-अपने स्थानों को गये। सबने स्नान करके यथाक्रम भोजन किया और नियम करके विचार-सहित रात्रि व्यतीत की। जब सूर्य की किरणें उदय हुईं तो फिर अपने-अपने स्थान पर आकर परस्पर नमस्कार करके बैठे। तब वशिष्ठजी पूर्व के प्रसंग को लेकर बोले, हे राम ! यह अविद्या अविद्यमान है। है नहीं, पर भासित होती है, यही आश्चर्य है। जो वस्तु सदा विद्यमान है, वह नहीं भासित होती। अविद्या है नहीं, पर सदा भासित होती है, इसी से इसका नाम अविद्या है। हे राम ! आत्मसत्ता अनुभवरूप है। इसका अनुभव होना अनिश्चित हो रहा है। अविद्याकृत जगत्र् जो कभी कुछ हुआ नहीं वह स्पष्ट होकर भासित होता है-यही अविद्या है। हे राम ! सिद्ध राजा के मन्त्री का उपदेश भी तुमने सुना और विपश्चित्र् का वृत्तान्त भी विपश्चित्र् के मुख से ही सुना। अब इस विपश्चित्र् की अविद्या मेरे आशीर्वाद और यथार्थ वचनों से नष्ट

होती है और अब यह जीवन्मुक्त होकर विचरेगा। मेरे उपदेश से इसकी अविद्या अब नष्ट होती है। अतः जीवन्मुक्त होकर जहाँ-जहाँ इसकी इच्छा हो विचरे। जब जीव आत्मा की ओर आता है, तब अविद्या नष्ट हो जाती है।

आत्मतत्त्व को यथार्थ न जानने ही का नाम अविद्या है, जो आत्मज्ञान से नष्ट हो जाती है। जैसे अन्धकार तब तक रहता है, जब तक सूर्य उदय नहीं हुआ। जब सूर्य उदय होता है, तब अन्धकार नष्ट हो जाता है। वैसे ही अविद्या तब तक अनन्त है, जब तक मनुष्य आत्मा की ओर नहीं आता। पर जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब अविद्या का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अविद्या अविद्यमान है, पर असम्यक्दर्शी को सत्य भासित होती है। जैसे मृगतृष्णा का जल अविद्यमान है, और विचार करने से उसका अभाव हो जाता है, वैसे ही भली प्रकार विचार करने से अविद्या का अभाव हो जाता है। हे राम ! अविद्यारूपी विष की बेलि देखने भर को फूल सहित सुन्दर दिखती है, परन्तु स्पर्श करने से काँटे चुभते हैं और उसके फल भक्षण करने से कष्ट होता है। ये सब इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध देखने भर को सुन्दर लगते हैं। ये ही फूल फल हैं, पर जब इनका स्पर्श करते हैं, तब तृष्णारूपी कण्टक चुभते हैं और इन्द्रियों के भोग भोगने से राग, द्वेष और कष्ट प्राप्त होता है। हे राम! अविद्या भीतर से खोखली है, पर बाहर से बड़े अर्थ से युक्त लगती है। जैसे आकाश में इन्द्रधनुष नानाप्रकार के रंगों सहित दिखता है, परन्तु भीतर से शून्य है—अनहोता ही दिखता है, वैसे ही अविद्या अनहोती ही दिखती है। और जैसे इन्द्रधनुष जलरूप मेघ के आश्रय से रहता है, वैसे ही यह अविद्या जड़ मूर्खों के आश्रय में रहती है। अविद्यारूपी धूल जिसको स्पर्श करती है, उसको ढक लेती है। जब तक अर्थ नहीं जाना, तब तक भासती है और विचार करने से कुछ नहीं निकलता। जैसे सीपी में रूपा दिखता है, पर विचार से उसका अभाव हो जाता है, वैसे ही विचार से अविद्या का भी अभाव हो जाता है। विचार से ही अविद्या नष्ट हो जाती

है। वह चञ्चल है और भासती है।

हे राम ! अविद्यारूपी नदी में तृष्णारूपी जल, इन्द्रियों के विषयरूपी भँवर और रागद्वेषरूपी ग्राह हैं। जो पुरुष इस नदी के प्रवाह में पड़ता है, उसको बड़े कष्ट प्राप्त होते हैं। जो तृष्णारूपी प्रवाह में बहते हैं, उनको अविद्यारूपी नदी का अन्त नहीं मिलता, और जो किनारे के सामने होकर वैराग्य और अभ्यासरूपी नाव पर चढ़कर पार हुए हैं, उनको कोई कष्ट नहीं होता। जो पदार्थ अविद्यारूप हैं, उनमें जो भावना करते हैं, वे मूर्ख हैं। यह सब अविद्या का विलास है। एक ऐसी सृष्टि है, जिसमें सैकड़ों चन्द्रमा, और सहस्रों सूर्य उदय होते हैं। कई ऐसी सृष्टियाँ हैं, जिनमें जीव सदा समताभाव को लिये बिचरते हैं और सदा आनन्दित रहते हैं। कई ऐसी सृष्टि हैं, जिनमें अन्धकार कभी नहीं होता। कई ऐसी सृष्टि हैं, जहाँ प्रकाश और तम जीवों के अधीन हैं, अर्थात् जितना प्रकाश चाहें उतना ही करें। कई ऐसी सृष्टि हैं, जहाँ जीव न मरते हैं, और न बूढ़े होते हैं, सदा एकरस रहते हैं और प्रलयकाल में सब इकट्ठे ही मरते हैं। कहीं ऐसी सृष्टि है, जहाँ स्त्री कोई नहीं। कहीं पहाड़-जैसे जीवों के शरीर हैं। हे राम ! इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड फुरते हैं, सो सब अविद्या का विलास है। जैसे समुद्र में वायु से तरंग उठते हैं, वायु बिना नहीं उठते, वैसे ही परमात्मरूपी समुद्र में जगत् रूपी तरंग अविद्यारूपी वायु के संयोग से उठते हैं और मिट भी जाते हैं।

हे राम ! बड़े-बड़े मणि, मोती, सुवर्ण और धातुमय स्थान; भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य चारों प्रकार के तृप्त करने वाले पदार्थ; घृतमय स्थान; ऊख के रस के समुद्र; माखन, दही और दूध के समुद्र; अमृत के तालाब; बड़े-बड़े कल्प और तमाल वृक्ष आदि सुन्दर स्थान और सुन्दर अप्सरा और बड़े दिव्य वस्त्र आदि जो पदार्थ हैं, वे सब संकल्परूप अविद्या के रचे हुए हैं। जो इनकी तृष्णा करते हैं वे मूर्ख हैं। उनके जीने को धिक्कार है। हे राम ! यह अविद्या का विलास है। विचार करने से कुछ नहीं निकलता। जैसे मरुस्थल में अनहोती नदी भासती है और विचार करने से उसका

अभाव हो जाता है।, वैसे ही आत्मविचार करने से अविद्या के विलासरूप जगत् का अभाव हो जाता है। जिसको आत्मा का प्रमाद है, उसको देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इष्ट-अनिष्ट अनेक प्रकार के पदार्थ दिखते हैं और कारण-कार्य भाव से जगत् भी स्पष्ट दिखता है, पर जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है, उसको सब आत्मा ही दिखता है। हे राम ! एक दृष्ट और दूसरी अदृष्ट सृष्टि है यह जो प्रत्यक्ष दिखती है, वह दृष्ट सृष्टि हैं और जो देखने में नहीं आती वह अदृष्ट सृष्टि है। पर दोनों तुल्य हैं। सिद्ध लोग आकाश में जो सृष्टि रच लेते हैं, वह संकल्पमात्र होती है। उनकी सृष्टि परस्पर अदृष्ट है और अनेक प्रकार की रचना है। उनकी सुवर्ण की पृथ्वी है। वह रत्न और मणियों से जड़ी हुई है। उसमें अनेक प्रकार के पदार्थ हैं अमृत के कुण्ड भरे हुए हैं। उनके अधीन तम और प्रकाश है और अनेक प्रकार की रचना बनी हुई है। वह सब संकल्पमात्र है। इसी प्रकार यह जगत् संकल्पमात्र है। जैसा-जैसा संकल्प होता है, वैसी ही वैसी सृष्टि आत्मा में ही भासित होती है। हे राम ! आत्मारूपी डिब्बे में सृष्टिरूपी अनेक रत्न हैं। जिस पुरुष को आत्मदृष्टि प्राप्त हुई है, उसको सब सृष्टि आत्मरूप है। और जिसको आत्मदृष्टि नहीं प्राप्त हुई है, उसको सब जगत् भिन्न-भिन्न दिखता है। जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही पदार्थ होकर भासित होता है। जो कुछ जगत् दिखता है, वह सब संकल्पमात्र है। जो तुमको ऐसा तीव्र संवेग हो कि आकाश में नगर स्थित हो तो वही दिखने लगे।

हे राम ! जिस ओर मनुष्य दृढ़ निश्चय करता है, वही सिद्ध होता है। जो आत्मा की ओर एकाग्र होता है, तो वही सिद्ध होता है और जो दोनों ओर जाता है तो भटकता है। जो जगत् की सत्यता को छोड़कर आत्मपरायण हो रहे तो तीव्र भावना से मोक्ष प्राप्त होती है। और जो संसार की ओर भावना होती है, तो संसार की प्राप्ति होती है। निदान जैसा अभ्यास करता है, वही सिद्ध होता है। वास्तव में सृष्टि कुछ हुई नहीं, वही रूप है। जैसी-जैसी भावना होती है, उसके अनुसार जगत्

भासित होता है। जिसकी भावना धर्म की ओर होती है और जो सकाम होता है, उसको स्वर्गादिक सुख भासित होते हैं और जिसकी भावना अधर्म में होती है, उसको नरकादिक भासित होते हैं। शुभ कर्मों से शान्ति की आशा हो सकती है। शुभ भी दो प्रकार के हैं—एक से स्वर्गसुख भासित होते हैं और दूसरे को सिद्ध की भावना से सिद्धलोक भासित होते हैं। जिसको अशुभ भावना होती है, उसको नाना प्रकार के नरक दिखते हैं। हे राम ! जब यह संवित् अनात्म में आत्मअभिमान करती है और उनके कर्मों में अपने को कर्ता जानती है, वह पाप करके ऐसे अनेक दुःखों को प्राप्त होती है, जो कहे नहीं जाते—जैसे पहाड़ों में दब जाने से बड़ा कष्ट होता है अथवा अंगारों की वर्षा और अन्धे कूप में गिरने से कष्ट होता है। पर-स्त्री के भोगने से अंगारों में जलना होता है और अग्नि-तप्त लोहे को कण्ठ लगाना पड़ता है। जिस स्त्री ने परपुरुष को भोगा है, वह अन्धे कूपरूप ओखली में खड्गरूपी मूसल से कुटती है। जो देहाभिमानी देवताओं, पितरों और अतिथि को दिये बिना भोजन करता है, उसको भी यम के दूत बड़ा कष्ट देते हैं। खड्ग और बरछी से उसके मांस को काटते और प्रहार करते हैं। वे परलोक में क्षुधा और तृष्णा से कष्ट पाते हैं। जिन नेत्रों से व्यभिचारियों ने पर-स्त्री देखी है, उन पर छुरी का प्रहार होता है। एक वृक्ष है, जिसके पत्ते खड्ग के प्रहार की नाईं लगते हैं। और शूली के ऊपर चढ़ने से लेकर अनेक कष्ट उनको प्राप्त होते हैं। जो शुभकर्म करते हैं, वे स्वर्ग भोगते हैं। इससे जीव जैसे-जैसे कर्म करते हैं, उनके अनुसार जगत् देखते हैं और जिन-जिन भावों का चिन्तन करते शरीर त्यागते हैं, वे उनको प्राप्त होते हैं। केवल वासनामात्र संसार है। जैसा निश्चय होता है वैसा ही भासित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वर्गनरकप्रारब्धवर्णनंनाम
द्विशताधिकचतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४४ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो तुमने मुनीश्वर और बधिक का वृत्तान्त कहा, सो बड़ा आश्चर्यरूप है। यह वृत्तान्त स्वाभाविक हुआ है

अथवा किसी कारण कार्य से हुआ है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे समुद्र से तरंग उठते हैं, वैसे ही ब्रह्म में यह प्रतिभा स्वाभाविक उठती है। और जैसे पवन में फुरना स्वाभाविक होता है वैसे ही आत्मा का चमत्कार जगत् की रचना स्वाभाविक होती है। सो वही रूप है, उससे भिन्न नहीं। चिन्मात्र में जो चेतना जगी है, वह जैसी जगी है, वैसे ही स्थित है। जब तक इससे भिन्न और स्फुरण नहीं होता, तब तक वही रहता है। जिस प्रतिभा से कार्यकारण भासित होती है—जैसे शुद्ध चिदाकाश में स्वप्न की सृष्टि भासित होती है—उसमें साररूप वही है। वही चित्त के चमत्कार से जगता है—जैसे समुद्र में तरंग उठते हैं, सो समुद्ररूप हैं, उससे भिन्न कुछ वस्तु नहीं, वैसे ही सब शब्द अर्थ से युक्त जगत् जो भासता है, वही चिन्मात्र है, भिन्न कुछ वस्तु नहीं, जिनका ऐसा यथार्थ अनुभव हुआ है, उनको जगत् स्वप्नरूप और संकल्पनगर सा दिखता है। पृथ्वी आदि पदार्थ पिण्डाकार नहीं दिखते सब ब्रह्म रूप भासित होता है। हे राम ! जो व्यभिचारी और नाशवान् है, वह अविद्यारूप है, और जो अव्यभिचारी और अविनाशी है वह ब्रह्मसत्ता है। वह ब्रह्मसत्ता ज्ञानसंवित्रूप है और अपने भाव को कदापि नहीं त्यागती। वह अनुभव से सर्वदा प्रकाश पाती है। उसमें अविद्या कैसे हो ? जैसे समुद्र में धूल का अभाव है, वैसे ही आत्मा में अविद्या का अभाव है। जो सब आकार दिखते हैं, वे सब चिदाकाश रूप हैं-जैसे तुम अपने मन में संकल्प रखकर इन्द्र हो बैठो और चेष्टा भी इन्द्र की सी करने लगो, अथवा ध्यान में इन्द्र को रचो और ध्यान से प्रतिभा सिद्ध हो आवे तो जब तक वह संकल्प रहेगा, तब तक वही भासित होगा। जब इन्द्र का संकल्प क्षीण हो जायगा, तब इन्द्र की चेष्टा भी निवृत्त हो जायगी। सो संकल्प से वही चिन्मात्र इन्द्ररूप होकर भासित होता है; वैसे ही यह सब जगत् जो दिखता है, वह सब चिन्मात्ररूप है पर संवेदन द्वारा पिण्डाकार होकर भासित होता है। जब संवेदन जगना निवृत्त होता है, तब सब जगत् आत्मरूप भासित होता है।

ब्रह्मसत्ता तो सदा अपने आप में स्थित है, पर जैसा स्फुरण होता

है, वैसा ही भासता है—सब जगत् उसी का चमत्कार है। जैसे समुद्र में तरंग समुद्ररूप होते हैं, वैसे ही निराकार परमात्मा में जगत् भी आकाशरूप है। भिन्न कुछ नहीं, सब ब्रह्मस्वरूप है। इसका नाम परमबोध है। जब इस बोध की दृढ़ता होती है, तब मोक्ष होता है। जिसको सम्यक्बोध होता है, उसको सब जगत् ब्रह्मस्वरूप अपना ही रूप भासित होता है। जिसको सम्यक्बोध नहीं हुआ, उसको नाना प्रकार का द्वैतरूप जगत् भासित होता है। हे राम ! जिसकी बुद्धि शास्त्रों के अभ्यास से तीक्ष्ण हुई है और वैराग्य के अभ्यास से सम्पन्न और निर्मल है, उसको आत्मपद प्राप्त होता है। जिसकी बुद्धि शास्त्र के अर्थ से निर्मल नहीं हुई, उसको अज्ञान से जगत् भासित होता है। जैसे किसी पुरुष के नेत्र में दोष होता है तो उसको आकाश में दो चन्द्रमा दिखते हैं और भ्रम से तारे दिखते हैं, वैसे ही अज्ञान से जगत् भासित होता है। यह सब जाग्रत् जगत् स्वप्नमात्र है। जब जीव स्वप्न में होता है, तब स्वप्न भी जाग्रत् लगता है, जाग्रत् स्वप्न हो जाता है, जाग्रत् में स्वप्न का अभाव हो जाता है और जाग्रत् सत्य प्रतीत होता है। अल्पकाल का नाम स्वप्न है और दीर्घकाल का नाम जाग्रत् है, पर आत्मा में दोनों तुल्य हैं। जैसे जो दो भाई जोड़े जन्मते हैं, वे नाममात्र के दो होते हैं, वास्तव में एकरूप हैं, वैसे ही जाग्रत् स्वप्न-तुल्य ही हैं। जब पुरुष शरीर को त्यागता है, तब परलोक जाग्रत् हो जाता है और यह जगत् स्वप्नवत् हो जाता है। जैसे जीव स्वप्न से जागकर स्वप्न के पदार्थों को भ्रममात्र जानता है और जाग्रत् को सत् जानता है, वैसे ही जब जीव परलोक को जाता है, तब इस जगत् को स्वप्न जानता है और कहता है कि स्वप्न-सा मैंने देखा था और उसे परलोक सत्य भासित होता है। फिर वहाँ से गिरकर इस लोक में आ पड़ता है, तब इस लोक को सत्य जानता है और जाग्रत् मानता है, तथा उस परलोक को स्वप्नभ्रम मानता है।

हे राम ! जब तक शरीर से सम्बन्ध है, तब तक जीव अनेक बार जाग्रत् देखता है और अनन्त स्वप्न देखता है। हे राम ! जैसे मृत्युपर्यन्त अनेक स्वप्न आते हैं, वैसे ही मोक्षपर्यन्त अनेक जाग्रत्रूप जगत् भासते

हैं। जब जीव भ्रमान्तर में इनकी सत्यता और जाग्रत् में स्वप्न के पदार्थ स्मरण करता है। जैसे सिद्ध प्रबुद्ध होकर अपने जन्म को स्मरण करता है और कहता है कि सब भ्रममात्र थे, वैसे ही यह जीव जब जागेगा, तब कहेगा कि सब भ्रममात्र प्रतिभा मुझको भासित हुई थी। न कोई बँधा है और न कोई मुक्त है, क्योंकि दृश्य अविद्याकृत बन्धन-मोक्ष ऐसा है कि जब चित्त की वृत्ति निर्विकल्प होती है, तब मोक्ष भासित होता है और जब तक वासना का विकल्प सत्य है, तब तक बन्धन प्रतीत होता है। हे राम ! आत्मा में बन्धन या मोक्ष दोनों नहीं हैं, क्योंकि बन्धन हो तो मोक्ष भी हो, पर जब बन्धन ही नहीं तो मोक्ष कैसे हो ? बन्धन और मोक्ष दोनों, चित्तसंवेदन में भासते हैं, इससे चित्त को निर्वाण करो, तब सब कल्पना मिट जावेगी। जितने पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले शब्द हैं; उनको त्यागकर निर्मल ज्ञानमात्र जो आत्मसत्ता है, उसमें स्थित हो रहो। खाना, पीना, बोलना, चलना आदि सब कर्म करो, परन्तु हृदय से परमपद पाने का यत्न करो। हे राम ! प्रथम नेति-नेति करके सब शब्दों का अभाव करो। फिर अभाव का भी अभाव करो। तब उसके पीछे जो शेष रहेगा, वह आत्मसत्ता परम निर्वाणरूप है। उसी में स्थित हो रहो। जो कुछ अपना आचार कर्म है, उसे यथाशास्त्र करके हृदय से सब कल्पनाओं का त्याग करो—इस प्रकार आत्मसत्ता में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणोपदेशो नाम
द्विशताधिकपञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः।। २४५।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब पदार्थ जो दिखते हैं, वे सब चिदाकाश आत्मरूप हैं। ज्ञानवान् को सदा वही भासित होता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। रूप, दृश्य, अवलोक, इन्द्रियाँ और मनस्कार के स्फुरण का नाम संसार है। सो यह भी आत्मरूप है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। जैसे अपनी ही संवित् स्वप्न में रूप, अवलोक और मनस्कार होकर दिखती है। आत्मा से भिन्न

कुछ नहीं, परन्तु अज्ञान से भिन्न-भिन्न भासित होते हैं। जो जागा है, उसको अपना रूप भासित होता है। जैसे अपनी चैतन्यता ही स्वप्नपुर होकर दिखती है, वैसे ही जगत् के पूर्व जो चैतन्यसत्ता थी, वही जगत् रूप होकर भासित होती है। जगत् आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु नहीं, वही स्वरूप है। जैसे जल का स्वभाव द्रवीभूत होता है, इससे तरंगरूप होकर भासित होता है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव चैतन्य है। वही आत्मसत्ता चेतनता से जगत् आकार होकर भासती है। इस प्रकार जानकर परम शान्ति निर्वाणपद में स्थित हो रहो। हे राम ! जगत् कुछ है नहीं, और प्रत्यक्ष भासता है; असत् ही सत् होकर भासित होता है। यही आश्चर्य है कि निष्किञ्चन और किञ्चन की नाईं होकर भासित होता है। आत्मसत्ता सदा अद्वैत और निर्विकार है, परन्तु अज्ञानदृष्टि से नाना प्रकार के विकार भासित होते हैं। जब सब विकारों को निषेध से असत् रूप जानिये, तब सबका अभाव होने पर आत्मसत्ता शेष रहती है। जैसे शून्य स्थान में अनहोता वेताल दिखता है, वैसे ही अज्ञानी को अनहोता जगत् आत्मा में भासित होता है। जो पुरुष स्वभाव में स्थित हैं, उनको जगत् भी अद्वैतरूप आत्मा दिखता है। जब सत्शास्त्रों और सन्तों की संगति होती है और उनके तात्पर्य अर्थ में दृढ़ अभ्यास होता है, तब स्वभावसत्ता में स्थिति होती है।

जिन पदार्थों को पाने के लिए मनुष्य यत्न करता है, वे मायिक पदार्थ बिजली की चमक के समान उदय होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। ये पदार्थ विचार बिना सुन्दर दिखते हैं और इनकी इच्छा मूर्ख करते हैं, क्योंकि उनको जगत् सत्य प्रतीत होता है। ज्ञानवान् को जगत् के पदार्थों की तृष्णा नहीं होती, क्योंकि वह जगत् को मृगतृष्णा की नाईं असत्य जानता है और ब्रह्मभावना में दृढ़ है। अज्ञानी को जगत् की भावना है, इससे ज्ञानी के निश्चय को अज्ञानी नहीं जानता। पर अज्ञानी के निश्चय को ज्ञानी जानता है। जैसे सोये हुए पुरुष को निद्रा-दोष से स्वप्न आता है, और उसमें जगत् दिखता है, पर जाग्रत् पुरुष जो उसके निकट बैठा है, उसको

वह स्वप्न का जगत् नहीं दिखता। वह असत् है, इसलिए उसके निश्चय को स्वप्नवाला नहीं जानता और स्वप्नवाले के निश्चय को वह जाग्रत्‌वाला नहीं जानता। वैसे ही ज्ञानी के निश्चय को अज्ञानी नहीं जानता। मृत्तिका की सेना को बालक सेना मानता है, पर जो जाननेवाले बड़े पुरुष हैं उनको वह सब सेना मृत्तिकारूप दिखती है। जब वह बालक भी भली प्रकार जानने लगता है, तब उसकी दृष्टि में भी सेना और वेताल का अभाव हो जाता है, मृत्तिका ही भासती है। वैसे ही ज्ञानवान् को सब जगत् ब्रह्मरूप ही जान पड़ता है। हे राम ! जब पुरुष को आत्मा का अनुभव होता है, तब जगत् के पदार्थों की इच्छा नहीं रहती। जैसे स्वप्न में किसी को मणि प्राप्त होती है तो वह प्रीति करके उसको रखता है, पर जब जागता है, तब उसे भ्रम जानकर उसकी इच्छा नहीं करता, वैसे ही जब जीव आत्मपद में जागेगा, तब जगत् के पदार्थों की इच्छा न करेगा। जैसे जो कोई मरुस्थल की नदी को असत्य जानता है, वह उसमें जलपान के लिए यत्न नहीं करता, वैसे ही जो जगत् को असत्य जानता है, वह उसके पदार्थों की इच्छा नहीं करता। जिस शरीर के लिए मनुष्य यत्न करता है, वह शरीर भी क्षणभंगुर है। जैसे पत्ते पर जो जल की बूँद स्थित होती है, वह क्षणभंगुर और असार है और पवन लगने से क्षण भर में गिर जाती है, वैसे ही यह शरीर भी नाशवान् है। जैसे धूप से तपा हुआ मृग मरुस्थल की नदी को सत्य जानकर जलपान करने के लिए दौड़ता है और मूर्खता के कारण कष्ट पाता है, परन्तु तृप्त नहीं होता, वैसे ही मूर्ख मनुष्य विषयों और पदार्थों को सत्य जानकर उनके लिए यत्न करता और कष्ट पाता है और कभी तृप्त नहीं होता।

हे राम ! पुरुष अपना मित्र आप ही है और अपना शत्रु भी आप ही है। जब सत्यमार्ग में बिचरता है और अपना उद्धार करता है, तब पुरुष-प्रयत्न से आप ही अपना मित्र होता है, और जब सत्यमार्ग में नहीं बिचरता और पुरुष-प्रयत्न करके अपना उद्धार नहीं करता है, तब वह जन्ममरण-संसार में अपने को डालता है। वह अपना आप ही शत्रु है।

जो यत्न करके उद्धार करता है, वह अपने ऊपर दया करता है। हे राम! जो इन्द्रियों के विषयरूपी कीचड़ में गिरा हुआ है और अपने ऊपर दया नहीं करता, वह महा अज्ञान तम को प्राप्त होता है। जो पुरुष इन्द्रियों को जीतकर आत्मपद में स्थित नहीं होता, उसको शान्ति भी नहीं मिलती। जब बाल-अवस्था होती है, तब शून्यबुद्धि होती है; वृद्धअवस्था में अंग क्षीण हो जाते हैं और यौवन अवस्था में इन्द्रियों को नहीं जीत सकता, तो फिर कब कुछ करेगा ? जो तिर्यक् आदि योनियाँ हैं, वे मृतकवत् हैं। यत्न का समय यौवनअवस्था है, क्योंकि बालअवस्था तो जड़ गुणरूप है और वृद्धअवस्था महानिर्बल सी है। उसमें अपने अंग ही उठाने कठिन हो जाते हैं। तो विचार का क्या फल हुआ-वह तो बालकवत् है। इससे यौवन अवस्था में ही कुछ यत्न हो सकता है। जो इस अवस्था में लम्पट रहा, वह महाअनिष्ट नरक को प्राप्त होगा। हे राम ! विषयों से प्रसन्न न होना। यह शरीर नाशरूप है तो विषय क्यों भोगे ? वेद-शास्त्र सुनकर भी जानता है और अनुभव करके भी जानता है कि यह शरीर नाशवान् है। पर उसी शरीर में सत्य की भावना करके जो विषयों के सेवन का यत्न करता है उससे बड़ा मूर्ख कोई नहीं। वास्तव में वही सच्चा मूर्ख है। इससे जो इन्द्रियों को जीतेगा, वह फिर जन्म न पावेगा। हे राम ! तुम जागो और अपने को अविनाशी और अच्युत परमानन्दरूप जानो। यह जगत् मिथ्या है-इसको त्याग दो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यानाशोपदेशो नाम
द्विशताधिकषट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४६ ।।

श्रीरामजी बोले, हे भगवन् ! तुम सत्य कहते हो कि इन्द्रियों को जीते बिना शान्ति नहीं होती। इससे इन्द्रियों को जीतने का उपाय कहो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस पुरुष को बड़े भोग प्राप्त हुए हैं और उसने इन्द्रियों को जीता नहीं तो वह शोभा नहीं पाता। जो त्रिलोकी का राज्य प्राप्त किया और इन्द्रियाँ न जीतीं तो उसकी कुछ प्रशंसा नहीं। जो बड़ा शूरवीर है, पर उसने इन्द्रियों को नहीं जीता, उसकी भी शोभा कुछ नहीं।

जिसकी बड़ी आयु है, पर उसने इन्द्रियाँ नहीं जीतीं तो उसका वह जीना भी व्यर्थ है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ जीती जाती हैं और आत्मपद प्राप्त होता है, सो सुनो। हे राम ! इस पुरुष का स्वरूप अचिन्त्य चिन्मात्र है। उसमें जो संवित् जगी है, उस ज्ञानसंवित् का अन्तःकरण और दृश्य जगत् से सम्बन्ध हुआ है—उसी का नाम जीव है। जहाँ से चित्त जगता है, वहीं चित्त को स्थिर करो, तब इन्द्रियों का अभाव हो जावेगा। इन्द्रियों का नायक मन है। जब मनरूपी मतवाले हाथी को वैराग्य और अभ्यासरूपी जंजीर से जकड़ कर वश करो, तब तुम्हारी जय होगी और इन्द्रियाँ रोकी जा सकेंगी। जैसे राजा को वश करने से सब सेना भी वश हो जाती है, वैसे ही मन को स्थिर करने से सब इन्द्रियाँ वश हो जावेंगी। हे राम ! जब इन्द्रियों को वश करोगे, तब शुद्ध आत्मसत्ता तुमको भासित होगी। जैसे वर्षाकाल के न रहने पर शरत्काल में शुद्ध निर्मल आकाश दिखता है कुहरे और बादल का अभाव हो जाता है, वैसे ही जब मनरूपी वर्षाकाल और वासनारूपी कुहरे का अभाव हो जायगा, तब पीछे शुद्ध निर्मल आत्मसत्ता ही भासित होगी। हे राम ! ये सब पदार्थ जो जगत् में दिखते हैं, वे असत्य हैं—जैसे मरुस्थल की नदी असत्य होती है—इनमें तृष्णा करना अज्ञान है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्राप्त हों, उनको त्यागकर जब आत्मा की ओर वृत्ति आवे, तब जानिये कि मुझको इन्द्र का पद प्राप्त हुआ है।

विषयों में आसक्त होना ही बड़ी कृपणता है। इनसे उपराम होना ही बड़ी उदारता है। इससे मन को वश करो, जिसमें तुम्हारी जय हो। जैसे ज्येष्ठ-आषाढ़ में पृथ्वी जब तपती है, तब जो पैर में जूता होता है, तो तपन नहीं लगती, वैसे ही अपना मन वश करने से जगत् आत्मरूप हो जाता है। हे राम ! जिस प्रकार जनेन्द्र ने मन को वश किया था, वैसे ही तुम भी मन को वश करो। जिस-जिस ओर मन जावे, उस-उस ओर से उसे रोको। जब दृश्य जगत् की ओर से मन को रोकोगे, तब वृत्ति संवित् ज्ञान की ओर आवेगी। जब संवित् ज्ञान की ओर आई तब तुमको परम उदारता प्राप्त होगी और शुद्ध आत्मसत्ता का अनुभव होगा। तीर्थ, दान

और तप करके संवित् का अनुभव होना कठिन है, परन्तु मन को स्थिर करने से सुगम ही अनुभव की प्राप्ति होती है। मन स्थिर करने का उपाय यही है कि सन्तों की संगति करे और रात-दिन सत्शास्त्रों को विचारे। सर्वदा यही उपाय करने से शीघ्र ही मन स्थिर होता है, और जब मन स्थिर होता है, तब आत्मपद का अनुभव होता है। जिसको आत्मपद प्राप्त हुआ है, वह संसारसमुद्र में नहीं डूबता। चित्तरूपी समुद्र में तृष्णारूपी जल और कामनारूपी लहरें हैं। जिस पुरुष ने शम और संतोष से इन्द्रियाँ जीती हैं, वह चित्तरूप समुद्र में गोते न खायगा। जिसने इन्द्रियों को जीतकर आत्मपद पाया है, उसको नानात्व जगत् फिर नहीं भासित होता। जैसे मरुस्थल की निराकार नदी में लहरें उठती हैं, पर जब निकट जाकर भली प्रकार देखिये तो वह लहरों के साथ बहती नहीं दिखती, वैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है। जब भली प्रकार विचार करके देखिये, तब नानात्व नहीं दिखता, आत्मसत्ता ही किञ्चन करके जगत्रूप होकर भासती है। जैसे जल अपने द्रव स्वभाव से तरंगरूप होकर भासता है, वैसे ही आत्मसत्ता चेतनता से जगत्रूप होकर भासती है।

हे राम ! जब आत्मबोध होता है, तब फिर दृश्यभ्रम नहीं भासता। जैसे साकाररूप नदी का भाव निवृत्त होता है तो फिर बहती है और जो निराकार नदी का सद्भाव निवृत्त होता है तब फिर नदी का सद्भाव होता है। निराकार मृगतृष्णा की नदी जब ज्यों की त्यों जानो तब फिर सत् नहीं होती। हे राम ! वास्तव में न कर्म हैं; न इन्द्रियाँ हैं, न कर्ता है अर्थात् कुछ उपजा नहीं। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की क्रिया और कर्म दिखते हैं, परन्तु सब आकाशरूप हैं, कुछ बनी नहीं, वैसे ही यह भी जानो। आकाशरूप आत्मा में आकाशरूप जगत् स्थित है। जैसे अवयवी और अवयव में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। और जैसे अवयव अवयवी का रूप है, वैसे ही जगत् आत्मा का रूप है। जब आत्मा में स्थित होगी, तब अहं-त्वं आदि शब्दों का अभाव हो जायगा और 'द्वैत' 'अद्वैत' शब्द भी न रहेंगे। 'द्वैत' 'अद्वैत' शब्द भी अज्ञानी को समझाने

के लिए कहे हैं। जो वृद्ध, ज्ञानवान् हैं, वे इन शब्दों पर हँसते और कहते हैं कि अद्वैतमात्र में इन शब्दों का प्रवेश कहाँ है ? जिनको यह अवस्था प्राप्त हुई है, उनको न बन्धन है और न मोक्ष है। हे राम ! सुषुप्ति और तुरीयावस्था में कुछ थोड़ा ही भेद है। सुषुप्ति में अज्ञान और जड़ता रहती है और तुरीयावस्था में अज्ञान और जड़ता रहती है। वह चैतन्य अनुभव सत्तारूप है। स्वप्न में जाग्रत् में भी भेद नहीं है। परन्तु इतना भेद है कि अल्पकाल की अवस्था को स्वप्न और चिरकाल की अवस्था को जाग्रत् कहते हैं।

हे राम ! जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीनों स्वप्न और सुषुप्तिरूप हैं। जाग्रत् और स्वप्न ये उभय स्वप्नरूप हैं; सुषुप्ति अज्ञानरूप है; जाग्रत् तुरीयरूप है, और जाग्रत् कोई नहीं। जिसके जागने से फिर भ्रम प्राप्त हो, उसको जाग्रत् कैसे कहिये ? उसको तो भ्रममात्र जानिये। जिस जागने से फिर भ्रम को प्राप्त हो, उसका नाम जाग्रत् है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय, इन चारों अवस्थाओं में चिन्मात्र घनीभूत हो रहा है। वह चारों को नहीं देखता। ज्ञानवान् प्राण का स्पन्दन रोककर आत्मा की ओर चित्त को लगाते हैं, परस्पर ज्ञानमात्र का निर्णय और चर्चा करते हैं और ज्ञान की ही कथा-कीर्तन करते और उससे प्रसन्न होते हैं। ऐसे नित्य जाग्रत् पुरुष, जो निरन्तर प्रीतिपूर्वक आत्मा को भजते हैं, उनमें आत्मविषयिणी बुद्धि उदय होती है और उससे वे शान्ति को प्राप्त होते हैं। जिनको सदा अध्यात्म का अभ्यास है और उस अभ्यास में जो तत्पर हुए हैं, उनको आत्मपद प्राप्त होता है। जो अज्ञानी हैं, वे रागद्वेष से जलते हैं। जिनको आत्मा का दृढ़ अभ्यास हुआ है, उनको शान्ति और आत्मस्थिति प्राप्त होती है। उन्हें उस स्थित के आगे इन्द्र का राज्य भी सूखे तृण सा-तुच्छ लगता है। सब जगत् उनको आत्मरूप दिखता है। जो अज्ञानी हैं, उनको नाना प्रकार के जगत् दिखते हैं। जैसे सोये हुए पुरुष को स्वप्न की सृष्टि भासती है, वैसे ही जाग्रत् को स्वप्न की सृष्टि भी अपना रूप जान पड़ती है। ज्ञानवान् को सब आत्मरूप दिखता है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं

दिखता। जब आत्म-अभ्यास का बल हो और अनात्मा के अभाव का अभ्यास दृढ़ हो, तब जगत् का अभाव हो जाता है और अद्वैतसत्ता का भान होता है।

हे राम ! मैंने तुमको बहुत उपदेश किया है। जब इसका अभ्यास होगा, तब इसका फल ब्रह्मबोध हो प्राप्त होगा। वह बोध अभ्यास के बिना नहीं प्राप्त होता। जो एक तृण लुप्त करना होता है तो भी कुछ यत्न करना होता है। यह तो त्रिलोकी लुप्त करनी है। हे राम ! जैसे बड़ा भार जिस पर पड़ता है, उससे वह बड़े ही बल से उठता है, बिना बड़े बल नहीं उठता, वैसे ही जीव पर दृश्यरूपी बड़ा भार पड़ा है, जब आत्मरूपी अभ्यास का बड़ा बल हो, तब वह इसको निवृत्त करे, नहीं तो निवृत्त नहीं होता। यह जो मैंने तुमको उपदेश किया है, इसको बारम्बार विचारो। मैंने तो तुमको बहुत प्रकार से और बहुत बार समझाया है। हे राम ! अज्ञानी को ऐसे बहुत कहने से भी कुछ फल नहीं होता। तुमको जो मैंने उपदेश किया है, वह सब शास्त्रों और वेदों का सिद्धान्त है। जिस प्रकार वेद का पाठ करते हैं, उसी प्रकार इसका पाठ कीजिये और विचारिये, इसके रहस्य को हृदय में धारण करिए। तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और अन्य शास्त्र भी इसके अवलोकन से सुगम हो जावेंगे। यदि नित्य इस शास्त्र को श्रद्धासहित सुने और कहे तो अज्ञानी जीव को भी अवश्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। जो एक बार सुनकर कहने लगा है कि एक बार तो सुना है फिर क्या सुनना है, उसकी भ्रान्ति निवृत्त न होगी। जो बारम्बार सुने-विचारे और कहे तो उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। सब शास्त्रों से उत्तम युक्ति की संहिता मैंने कही है जो शीघ्र ही मन में बैठ जाती है। जो पुरुष मेरे शास्त्र के सुनने और कहनेवाले हैं, उनको बोध होता है और दूसरे शास्त्रों का अर्थ भी भली भाँति खुल जाता है। जैसे नमक का अधिकारी व्यञ्जन है। उसमें डाला गया नमक स्वादिष्ट होता है और प्रीति सहित ग्रहण किया जाता है, वैसे ही जो इस शास्त्र के सुनने और कहनेवाले हैं, वे और शास्त्रों का भी सुन्दर अर्थ करेंगे।

हे राम ! किसी और पक्ष को मानकर इसे सुनना त्यागना न चाहिए। जैसे किसी के पिता का खारी कुआँ था और उसके निकट एक मीठे जल का भी कुआँ था, पर वह अपने पिता का कूप मानकर खारी ही जल पीता था और निकट के मीठे जल के कुएँ का त्याग करता था, वैसे ही अपने पक्ष को मानकर मेरे शास्त्र का त्याग न करना। जो ऐसे जानकर मेरे शास्त्र को न सुनेगा, उसको ज्ञान न प्राप्त होगा। जो पुरुष इस शास्त्र में दोष का आरोपण करेगा कि यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं कहा, उसको कभी ज्ञान न प्राप्त होगा—वह आत्महन्ता है, उसके वाक्य न सुनना। जो प्रीतिपूर्वक पूज्य भाव करके श्रद्धा से सुनेगा और विचार कर पाठ करेगा, उसको निर्मल ज्ञान प्राप्त होगा और उसके कर्म भी निर्मल होंगे। इससे यह नित्यप्रति विचारने योग्य है। हे राम ! तुमको मैंने अपने किसी स्वार्थ के लिए उपदेश नहीं किया, केवल दया करके किया है। तुम जो किसी से कहना तो स्वार्थ के बिना दया करके कहना।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इन्द्रिययज्ञवर्णनं नाम
द्विशताधिकसप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मा में जगत् कुछ हुआ नहीं। जब शुद्ध चिन्मात्र में अहं जगता है, तब वही संवेदन जगना जगत्‌रूप भासित होता है। और जब वह अधिष्ठान की ओर देखता है, तब वही संवेदन अधिष्ठानरूप हो जाता है, अपने रूप को त्यागकर अचेत चिन्मात्र होता है। हे राम ! स्फुरण और अस्फुरण दोनों में वही है। परन्तु फुरने से जगत् भासता है। वह जगत् भी कुछ और वस्तु नहीं वही रूप है। जब संवित् संवेदन फुरने से रहित होती है, तब चिन्मात्ररूप हो जाती है। इस कारण ज्ञानवान् को जगत् आत्मरूप भासता है, ब्रह्म से भिन्न नहीं दिखता। जैसे किसी पुरुष का मन और जगह गया होता है तो उसके आगे शब्द होने पर भी वह उसे नहीं सुनाई देता, वह कहता है कि मैंने देखा या सुना कुछ नहीं, क्योंकि जिस ओर चित्त होता है, उसी का अनुभव होता है वैसे ही

जिनका मन आत्मा की ओर लगता है, उनको सब आत्मा ही दिखता है-आत्मा से भिन्न जगत् नहीं प्रतीत होता। पर जिसको आत्मसत्ता का प्रमाद है और जगत् की ओर चित्त है, उसको जगत् ही दिखता है। हे राम ! ज्ञानवान् के निश्चय में ब्रह्म ही है और अज्ञानी के निश्चय में जगत्। तब ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय एक कैसे हो ? जो मनुष्य स्वप्न देख रहा है, उसे स्वप्न का जगत् दिखता है और जाग्रत् को वह जगत् नहीं दिखता। तब उनका एक ही निश्चय कैसे हो ? जगत् के आदि और अन्त दोनों में ब्रह्मसत्ता है और मध्य में भी उसे ही जानो—आत्मसत्ता ही चेतनता से जगत्रूप होकर दिखती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि के आदि में भी ब्रह्मसत्ता होती है; अन्त में भी ब्रह्मसत्ता होती है और मध्य में जो भासित होता है, वह भी वही है-आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। वैसे ही यह जगत् आदि, अन्त और मध्य में भी आत्मा से भिन्न नहीं।

ज्ञानवान् को सदा यही निश्चय है कि जगत् कुछ उपजा नहीं और न उपजेगा, केवल आत्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और सब ब्रह्म ही है। अहं-त्वं आदि अज्ञान से भासित होता है। जैसे स्वप्न में अहं-त्वं आदि का अनुभव होता है तो अहं-त्वं आदि भी कुछ नहीं, सब अनुभवरूप हैं, वैसे ही यह सब जगत् अनुभवरूप है। हे राम ! जैसे एक ही रस फूल, फल, टहनी और वृक्ष होकर दिखता है, रस से भिन्न कुछ नहीं होता, वैसे ही नानात्वरूप जगत् दिखता हैं परन्तु आत्मा से भिन्न नहीं है, जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर अपने-अपने अनुभव से भिन्न नहीं परन्तु स्वरूप के विस्मरण से आकाररूप दिखते हैं, वैसे ही यह जगत् का आकार जो दिखता है, वह ज्ञानरूप से भिन्न नहीं है। सब जगत् आत्मरूप है, परन्तु अज्ञान से भिन्न-भिन्न लगता है। यह सब जगत् अपना आप रूप हैं। जब आत्मरूप है तब ग्राह्य-ग्राहकभाव कैसे हो ? यह मिथ्या भ्रम है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, घट, पट आदिक सब जगत् ब्रह्मरूप है। ज्ञानवान् को सदा यही निश्चय रहता है कि अचेत

चिन्मात्र अपने रूप में स्थित है। ब्रह्मादिक भी कुछ स्फुरित होकर उदय नहीं हुए, ज्यों के त्यों हैं। उत्थान कुछ नहीं हुआ। परन्तु अज्ञानी के निश्चय में नाना प्रकार का जगत् और उत्पत्ति, स्थित, प्रलय, ब्रह्मादिक सब हैं। हे राम ! यह कुछ उपजा नहीं, कारणत्व के अभाव से सदा एकरस आत्मसत्ता ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ।। २४८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अब जाग्रत् और स्वप्न का निर्णय सुनो। जब मनुष्य सो जाता है, तब स्वप्न की सृष्टि देखता है। वह जाग्रत्रूप भासित होती है। और जब स्वप्न निवृत्त होता है, तब फिर यह सृष्टि देखता है तो यही जाग्रत् होकर भासित होती है। यहाँ सोकर स्वप्न में जाग्रत् होती है और वहाँ सोकर यहाँ जाग्रत् होती है। तो स्वप्न जाग्रत् हुआ। जाग्रत् जो वस्तु है वह आत्मसत्ता है। उसमें जागना वही जाग्रत् में जाग्रत् है, और सब स्वप्न-जाग्रत् है। जब मनुष्य यहाँ शयन करता है, तब स्वप्न का जगत् सत्य होकर दिखता है और यह असत्य हो जाता है, और स्वप्न में वहाँ शयन करता है, अर्थात् जब स्वप्न से निवृत्त होता है और जाग्रत् में जागता है, तब वह असत्य हो जाता है, और वह स्वप्न जाग्रत् में स्मरण हो आता है। जब जाग्रत् में सोया और स्वप्न में जागा, तब जाग्रत् स्वप्नभाव को प्राप्त हुई, और जब स्वप्न से उठकर जाग्रत् में आया तब स्वप्नरूप जाग्रत् स्मृति भाव को प्राप्त हुई। जब सब जाग्रत् हुई तो हे राम ! स्वप्न तो कोई न हुआ। इसको सब जगह जाग्रत् हुई। और जाग्रत् तो कोई न हुई, क्योंकि जब जाग्रत् से स्वप्न में गया, तब स्वप्न जाग्रत्रूप हो गया और जाग्रत् स्वप्न हो गई, और जब स्वप्न से जाग्रत् में आया, तब जाग्रत् जाग्रत्रूप हो गई और स्वप्न जाग्रत्-स्वरूप हो गई। तो हुआ यह कि जाग्रत् कोई नहीं, सब स्वप्न और असत्यरूप है।

अपने काल में यह जाग्रत् है और स्वप्नरूप हैं। जब प्राणी यहाँ से

मृतक होता है, तब यह जगत् स्वप्नरूप होता है, स्वप्नरूप परलोक जाग्रत् हो जाता है और जाग्रत् स्मृति प्रत्यक्ष हो जाती है तो उसमें वह नहीं रहता और उसमें वह नहीं रहता। और जाग्रत्, स्वप्न, दोनों में परलोक नहीं रहता। इस जाग्रत् में देखिए तो स्वप्न और परलोक दोनों नहीं दिखते और स्वप्न में इस जाग्रत् और परलोक दोनों का अभाव हो जाता है। तो यह सिद्ध हुआ कि सब स्वप्नमात्र हैं। हे राम ! चिरकाल की प्रतीति को जाग्रत् और अल्पकाल की प्रतीति को स्वप्न कहते हैं। जो आदि स्वप्न हुआ और उसमें दृढ़ अभ्यास हो गया, इससे जाग्रत् होकर भासित होती है; इसलिए जो आकार तुमको सत्य लगते हैं, वे सब निराकार आकाशरूप हैं, कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्न में त्रिलोकी-जगत्भ्रम उदय होता है, परन्तु सब आकाशरूप होता है, वैसे ही यह जगत् के पदार्थ अविद्या से साकार दिखते हैं। ये सब निराकार और आकाशरूप हैं। जब आत्मतत्त्व अधिष्ठान में जागोगे, तब सभी आकाशरूप दिखेंगे। अद्वैत आत्मतत्त्व में जो ग्राह्य-ग्राहकभाव दिखता है, सो मिथ्या कल्पना है, वास्तव में कुछ नहीं। सब जगत् मृगतृष्णा के जलसरीखा मिथ्या है। उसमें ग्रहण और त्याग क्या कीजिये ? इन दोनों की कल्पना को दूर करो। यह हो और यह न हो, इस कल्पना को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो, तब सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकैकोनपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २४९ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राजन् ! इन अर्थों का जो आश्रयभूत है, वह मैं तुमसे कहता हूँ। इस जगत् के आदि में अचेत चिन्मात्र था, उसमें किसी शब्द की प्रवृत्ति न थी-अशब्द पद था। फिर उसमें जागना जगा और उसका आभास जगत् हुआ। उस आभास में जिसका अधिष्ठान की अहंप्रतीति है, उसको जगत् आकाशरूप दिखता है, और वह संसार में नहीं डूबता, क्योंकि उसको अज्ञान का अभाव है। जो डूबता नहीं, वह निकलता भी नहीं; उसके लिए अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान का

भी अभाव है, क्योंकि वह स्वतः ज्ञानस्वरूप है। जिनको अधिष्ठान का प्रमाद हुआ है, उनको दोनों अवस्थाएँ होती हैं। जो ज्ञानवान् है, उसको जगत् आत्मरूप दिखता है और जो ज्ञान से रहित है, उसको भिन्न-भिन्न नामरूपवाला जगत् भासित होता है। हे राम ! आत्मा निराख्यात है। वह चारों आख्यातों रहित निराभाससत्ता है। चारों आख्या उसमें आभास हैं। एक आख्यात, दूसरा विपर्ययाख्यात, तीसरा असत्याख्यात और चौथा आत्माख्यात, ये चार आख्यात हैं। आख्यात ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान 'कि मैं अपने को नहीं जानता,' आख्यात है। अपने को देह-इन्द्रियरूप जानने का नाम विपर्ययाख्यात है। जगत् असत्य जानने का नाम असत्याख्यात है और आत्मा को आत्मा जानने का नाम आत्माख्यात है। ये चारों आख्यात चिन्मात्र आत्मतत्त्व के आभास हैं। आत्मसत्ता निर्विकल्प अचेत चिन्मात्र है। उसमें वाणी की गति ही नहीं है। हे राम ! जगत् भी वही स्वरूप है, और कुछ बना नहीं। वह तत्त्व घनशिला की नाईं अचिन्त्य स्वरूप हैं।

इस पर एक आख्यान है, जो श्रवणों का भूषण है, इसलिए तुमसे कहता हूँ। वह द्वैतदृष्टि का नाशकर, ज्ञानरूपी कमल का विकास करनेवाला सूर्य और परमपावन है। उसे सुनो। हे राम ! एक बड़ी शिला है, जिसका कोटि योजन तक विस्तार है। वह अनन्त है, किसी ओर उसका अन्त नहीं आता, वह शुद्ध, निर्मल और निरासाध है, अर्थात् अणु-अणु से पुष्ट नहीं हुई, अपनी सत्ता से पूर्ण और परम सुन्दर है। जैसे शालग्राम की प्रतिमा सुन्दर होती है, वैसे ही वह सुन्दर है। जैसे शालग्राम पर शंख, चक्र, गदा और पद्म की रेखा होती हैं, वैसे ही उस पर रेखा हैं, और वही रूप है। वह वज्र से भी कठिन, शिला की नाईं निर्विकार और निराकार अचेतन परमार्थ है। यह जो कुछ चेतनता भासित होती है, वही उस पर रेखा है। अनन्त कल्प बीत गये हैं, परन्तु उसका नाश नहीं होता। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये सब भी उस पर रेखा हैं। वह आप पृथ्वी आदि भूतों से रहित और शिलावत् है, और इन रेखाओं

को जीवित की नाईं चेतती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो अचेतन है और शिला की नाईं निर्विकार है, तो उसमें चेतनता कहाँ से आई, जिससे जीवितधर्मा हुई—वह तो अचेतनता थी ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वह तो न चैतन्य है और न जड़ है, शिलारूप है और पत्थर से भी उज्जवल है। यह चेतनता जो तुम कहते हो सो चेतनता स्वभाव से दृष्टिगत् होती है—जैसे जल का स्वभाव द्रव या तरल होना है, वैसे ही चेतनता भी उसका स्वभाव है। जैसे जल में तरंग स्वाभाविक दिखते हैं, वैसे ही इससे चेतनता स्वाभाविक भासित होती है, परन्तु भिन्न कुछ नहीं। वह सदा अपने आप में स्थित है और किसी से जानी नहीं जाती—अब तक किसी ने नहीं जाना।

राम ने पूछा-हे भगवन् ! किसी ने उसे देखा भी है अथवा नहीं देखा, और किसी से वह टूटी है या नहीं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैंने उस शिला को देखा है और तुम भी जो उस शिला को देखने का अभ्यास करोगे, तो देखोगे। वह परम शुद्ध है—उसको मैल कभी नहीं लगता। उसमें न कोई चिन्ह है, न पोल है। वह आदि, मध्य, अन्त से रहित है। न उसे कोई तोड़ सकता है और न वह तोड़ने योग्य है। उससें कोई अन्य हो तो उसको तोड़े। पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, अप, तेज, वायु, आकाश, देवता, दानव, सूर्य और चन्द्रमा आदि ये जितने पदार्थ हैं, वे सब उसी की रेखा हैं और उसके भीतर स्थित हैं। वह शिला महासूक्ष्म निराकार आकाशरूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो वह आदि, मध्य और अन्त से रहित है तो तुमने कैसे देखी ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वह किसी और से जानी नहीं जाती, अपने आप अनुभव से जानी जाती है। मैंने उसे अपने स्वभाव में स्थित होकर देखा है। जैसे खम्भे को उसमें स्थित होकर देखें, वैसे ही मैंने उसमें स्थित होकर देखा है। हम भी उस शिला की रेखा हैं, इससे मैंने उसमें स्थित होकर देखा है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह कौन शिला है और उस पर रेखा कौन है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वह शिला परमात्मा है। मैंने उसे शिलारूप

इसलिए कहा कि यह घन चैतन्यरूप है, उससे इतर कुछ नहीं। वह अचिन्त्यरूप है। उस पर पंचतत्त्व रेखा हैं। वे रेखा भी वही रूप हैं। एक रेखा बड़ी है, जिसमें और रेखा रहती हैं। वह बड़ी रेखा आकाश है, जिसमें और तत्त्व रहते हैं। सब पदार्थ आकाश में हैं, सो सब वही रूप है। तुम भी वही रूप हो और मैं भी वही रूप हूँ। और कुछ हुआ नहीं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सब पदार्थ और कर्म जो भासित होते हैं, वे सब ब्रह्मरूपी शिला की रेखा हैं और कुछ हुआ नहीं। सब काल से ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। नाना प्रकार के व्यवहार भी देखे जाते हैं, परन्तु वही रूप हैं, और कुछ है ही नहीं। वैसे ही वह जानो। घट, पट, पहाड़, कन्दरा, स्थावर, जंगम, जगत् सब आत्मरूप है। आत्मा ही फुरने से ऐसे दिखता है। जैसे जल की लहरें होकर दिखता है वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जगत्रूप होकर दिखती है। और सब पदार्थ पवित्र, अपवित्र, सत्य, असत्य, विद्या, अविद्या, सब आत्मसत्ता ही के नाम हैं। इतर वस्तु कुछ नहीं हैं। ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। हे राम ! सभी घन ब्रह्मरूप है और चिन्मात्र घन ही सबमें व्याप रही है। पर परमार्थसत्ता घन शान्तरूप है और ये सब परमार्थ भी घनरूप हैं, इसलिए संकल्परूपी कलना को त्यागकर उसमें स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिलोपाख्यान समाप्तिर्नाम
द्विशताधिकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो पुरुष स्वभावसत्ता में स्थित हुए हैं, उनको ये चारों आख्यात कहे हैं। जितने और शब्दार्थ हैं, वे शशा के सींग की तरह असत्य हैं। जगत् का निश्चय उनमें नहीं रहता और सब ब्रह्माण्ड उनको आकाश सा दिखता है। आख्यात की कल्पना भी उन्हें कुछ नहीं फुरती। और सब जगत् जो दिखता है, वह निराकार परम चिदाकाशरूप है, परम निर्वाणसत्ता से युक्त दिखता है और उसी से निर्वाण हो जाता है, इसलिए वही स्वरूप है। हे राम ! जब इस प्रकार जानकर तुम उस पद में स्थित होगे, तब बड़ा शब्द करते हुए भी तुम निश्चय से पाषाण-शिलासदृश

मौन रहोगे और देखोगे, खाओगे, पियोगे, सूँघोगे, परन्तु तुम्हारे अपने निश्चय में कुछ न फुरेगा। जैसे पाषाण की शिला फुरना नहीं फुरता, वैसे ही तुम रहोगे-जो पैरों से दौड़ते जाओगे तो भी निश्चय ही चलायमान न होगे। जैसे आकाश और सुमेरु पर्वत अचल है, वैसे ही तुम भी स्थित रहोगे। क्रिया तो सब करोगे, परन्तु हृदय में क्रिया का अभिमान तुमको कुछ न होगा, केवल स्वभावसत्ता में स्थित होंगे। जैसे मूढ़ बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है, सो वह अविचारसिद्धि है और विचार किये से कुछ नहीं रहता, वैसे ही मूर्ख अज्ञानी आत्मा में मिथ्या आकार की कल्पना करते हैं। विचार करने से सब आकाशरूप हैं, कुछ बना नहीं। जैसे मरुस्थल में नदी तब तक दिखती है, जब तक विचार करके नहीं देखता और विचार करने से नदी नहीं रहती वैसे ही यह जगत् विचार करने से नहीं रहता। जगत् चैतन्यरूपी रत्न की चमक है। चैतन्य आत्मा का किञ्चन फुरने से ही जगत्रूप भासित होता है।

रामजी बोले, हे भगवन् ! इस जगत् का कारण मैं स्मृति को मानता हूँ। वह स्मृति अनुभव से होती है और स्मृति से अनुभव होता है। स्मृति और अनुभव परस्पर कारण हैं। जब अनुभव होता है, तब उसको स्मृति भी होती है। तो वह स्मृतिसंस्कार फिर स्वप्न में जगत्रूप हो क्योंकर भासित होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जगत् किसी संस्कार से नहीं उपजा और किसी अनुभव का संस्कार नहीं है। काकतालीय न्याय से अकस्मात् प्रकट हुआ है। हे राम ! यह जगत् आभासमात्र है। आभास का अभाव कभी नहीं होता, क्योंकि वह उसका चमत्कार है। इतर कुछ बना हो तो उसका नाश भी हो, पर आत्मा से भिन्न तो कुछ हुआ ही नहीं, नाश कैसे और किसका हो ? यह जगत् सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं। आत्मसत्ता अपने स्वभाव में स्थित है और जगत् उसका आभास है। हे राम ! तुम जो स्मृति को कारण कहते हो, तो कारण-कार्यभाव आभास वहाँ भासित होते हैं, जहाँ द्वैत है। स्वरूप में तो कुछ कारण-कार्य भाव नहीं है। जैसे स्वप्न के मरुस्थल में जल भासित हुआ तो उसमें जल

माना गया। इसलिए जागकर जब देखा तो उस जल की स्मृति हुई अथवा स्वप्न के व्यवहारकर्ता को स्वप्नान्तर हुआ और उस स्वप्नान्तर में फिर व्यवहार किया।

हे राम ! तुम देखो कि उसकी स्मृति भी असत्य हुई और जो उसने अनुभव किया वह भी असत्य है। वैसे ही यह संसार भी है, कुछ भिन्न नहीं। हे राम ! इसलिए न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न कोई सुषुप्ति है और न तुरीयावस्था है। केवल अद्वैतसत्ता सब उत्थान से रहित चिन्मात्र स्थित है। इसलिए जगत् भी वही रूप है। और यद्यपि क्रिया भी दिखती है तो भी कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्न में कोई नारी आकर गले से लगती है तो उसकी क्रिया कुछ सच नहीं होती, वैसे ही यह क्रिया भी सच नहीं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय शब्दों का अर्थ निश्चय ज्ञानवान् पुरुष को है और ये उसको खरगोश के सींग और आकाश के फल सी असत्य प्रतीति होती हैं। जैसे बन्ध्या का पुत्र और श्याम चन्द्रमा शब्द कहने भर को हैं, इनका अर्थ असत्य है, वैसे ही ज्ञानी के निश्चय में पाँचों अवस्थाओं का होना असंभव है। वह सर्वदा जाग्रत् है। जाग्रत् उसका नाम है, जहाँ अनुभव हो। वह अनुभवसत्ता सदा जाग्रत् रूप है। जैसा पदार्थ आगे आता है, उसी का जीव अनुभव करता है इससे सर्वदा सब कालों में, जाग्रत् है। अथवा सर्वदा स्वप्न है। स्वप्न उसका नाम है, जहाँ पदार्थ विपर्यय (उलटे) दिखते हैं। सो सब पदार्थ विपर्यय ही दिखते हैं। विपर्यय से रहित एक आत्मा है। उसमें जो पदार्थ भासित होते हैं, सो विपर्यय है, इसलिए सब काल में स्वप्न ही है। अथवा सर्वदा सुषुप्ति ही है। सुषुप्ति उसका नाम है, जहाँ अज्ञानवृत्ति हो। मैं अपने वास्तव रूप को भी नहीं जानता इसलिए न जानने से सर्वदा सुषुप्ति। अथवा सर्वदा तुरीयवस्था है। तुरीयावस्था उसका नाम है जो साक्षीभूत सत्ता हो, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था का अनुभव होता है। जो सर्वदा सबको अनुभव करता है, वह प्रत्येक चैतन्य है। इससे सर्वदा तुरीयपद है। अथवा सर्वदा तुरीयातीतपद है। तुरीयातीत उसको कहते हैं, जो अद्वैत सत्ता है, जिसके पास द्वैत कुछ

नहीं। सो सर्वदा अद्वैतसत्ता है। उसमें जगत् का अत्यन्त अभाव है, जैसे मरुस्थल में जल का अभाव है—इसलिए सर्वदा तुरीयातीतपद है। जो मुझसे पूछो तो मुझको तरंग, बुलबुले झाग और भँवर कुछ नहीं भासित होते—सर्वदा चित्समुद्र ही दिखता है। उदय-अस्त से रहित आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। और पृथ्वी आदि तत्त्व जो दिखते हैं, वे भी कुछ उपजे नहीं, आत्मसत्ता का किञ्चन ही इस प्रकार भासित होता है।

जैसे नख और केश उपजते भी हैं और नाश भी हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् उपजता भी है और लीन भी हो जाता है। जैसे नख और केश के उपजने और काटने से शरीर ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही जगत् के उपजने और लीन होने में आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। हे राम ! यह जगत् उपजा नहीं तो उसमें सत्य और असत्य कल्पना और स्मृति क्या कहिये और भीतर और बाहर क्या कहिये ? अद्वैतसत्ता में कुछ कल्पना नहीं बनती। जो तुम कहो कि स्मृति भीतर होती है, परन्तु भीतर से बाहर दिखती है, तो भीतर अनुभव की अपेक्षा से हुई है, वह भी उत्पन्न नहीं हुई। तब मैं भीतर और बाहर क्या कहूँ ? जैसे स्वप्न-सृष्टि भासित होती है सो वह अपना ही अनुभव होता है, और वही सृष्टिरूप दिखता है। वहाँ तो भीतर-बाहर कुछ नहीं है। वैसे ही यह जगत् भीतर-बाहर कुछ नहीं है, सब भ्रमरूप है। जिसको इच्छा कहते हैं, उसे ही स्मृति कहते हैं। विद्या-अविद्या, इष्ट-अनिष्ट आदि सब शब्द सब आत्मा के ही नाम हैं-आत्मा से भिन्न और पदार्थ कुछ नहीं है। हे राम ! जागकर देखो कि सब तुम्हारा ही स्वरूप है। मिथ्या भ्रम को अंगीकार करके भिन्न क्यों देखते हो ? सब शब्द बिना अर्थ के कहीं नहीं है और शब्द-अर्थ का विचार संकल्प से होता है। संकल्प तब उठता है जब चित्त में अहंअभिमान होता है। उस चित्त को आत्मासार में लीन करो। जब चित्त का निर्वाण करोगे तब सब जगत् शान्त हो जायगा। अहं के दर्पण में जगत्रूपी प्रतिबिम्ब पड़ता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं। जब चित्त निर्वाण हो जायगा, तब सब द्वैतकल्पना मिट जायगी। यह जो

मोक्षशास्त्र मैंने तुमसे कहा है, इसके अर्थ पर विचारकर संकल्प को त्यागकर, अपने परमानन्दस्वरूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिअभाववर्णनं नाम द्विशताधिकैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जगत् किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ। जैसे समुद्र में तरंग स्वाभाविक उठते हैं, वैसे ही संवित्सत्ता से आदि-सृष्टि जगी है। और जैसे जल स्वाभाविक द्रवता से तरंगरूप अपनी सत्ता से बढ़ता जाता है, वैसे ही आत्मसत्ता से जगत् का विस्तार होता है। यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। जब चिन्मात्र आत्मसत्ता का आभास बर्हिमुख जगता है, तब अन्तःकरण चतुष्टय होते हैं। उनमें जो निश्चय होता है, उसका नाम नीति है। वह प्रथम अकस्मात् कारण के बिना स्वाभाविक ही जग आया है और आभासमात्र है। जब वह दृढ़ हो गया, तब नीति स्थित हुई। वास्तव में द्वैत कुछ बना नहीं। जो सम्यक्दर्शी पुरुष हैं, उनको सब आत्मा ही दिखता है—जैसे पत्ते, फूल, फल, और टहनी सब वृक्ष हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं। हे राम ! वृक्ष में जो फूल, फल और टहनी होती हैं, सो किसी कारण से बुद्धिपूर्वक बनी नहीं होती ? वैसे ही इस जगत् को भी जानो। जो सम्यक्दर्शी हैं, उनको भिन्न-भिन्न रूप भी पत्ते, टास आदि के विस्तार में एक वृक्ष ही दिखता है। वैसे ही यथार्थ ज्ञानी को सब आत्मा ही दिखता है, और मिथ्यादृष्टिवाले को भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखते हैं। हे राम ! वृक्ष को देखनेवाला भी और होता है, और दृष्टान्त में दूसरा कोई नहीं। चैतन्य आत्मा का आभास ही चैत्य है, वही चैतन्यरूप होकर भासित होता है। उस चैतन्य आभास को असम्यक् दृष्टि से भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखते हैं। जैसे पत्ते, फूल, फल और वृक्ष अपने को भिन्न जानें। और सम्यक्दर्शी सबको आत्मरूप देखता है। ज्ञानी और अज्ञानी सब आत्मरूप हैं-जैसे दीवार पर लिखी पुतलियाँ दीवार से भिन्न नहीं होती, वैसे ही सर्वगत आत्मरूपी दीवार के सब दृश्य चित्र हैं। वे आत्मा से भिन्न नहीं हैं। जैसे

आकाश में शून्यता, फूलों में सुगन्ध, जल में द्रवता, वायु में स्पन्दन और अग्नि में उष्णता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् है। हे राम ! जगत् आत्मा का आभास है, इसलिए वही रूप है। यह जगत् भी अचैत्य चिन्मात्र है।

जो तुम कहो कि अचैत्य चिन्मात्र है तो पृथ्वी, पहाड़ आदि आकार क्यों दिखते हैं ? तो हे राम ! जैसे नित्यप्रति जो तुमको स्वप्न आता है और उस अनुभव आकाश में पृथ्वी आदिक तत्त्व दिखते हैं तो वही चिन्मात्र ही आकार होकर दिखता है, और कुछ नहीं। वैसे ही इसे भी जानो। यह सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह अनुभवरूप है। जैसे चिन्मात्र आत्मा में सृष्टि आभासमात्र है, वैसे ही कारण-कार्य-भाव भी आभास-मात्र है। परन्तु वही रूप है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। ये पदार्थ कार्य-कारण-अभ्यास की दृढ़ता से उपजे लगते हैं, पर आदि-सृष्टि किसी कारण से नहीं उपजी-पीछे कारण से कार्य हुए। यद्यपि कार्य-कारण दिखते हैं तो भी कुछ उपजे नहीं, सदा अद्वैतरूप है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के कार्य-कारण दिखते हैं, परन्तु कुछ हुए नहीं, सदा अद्वैतरूप हैं, वैसे ही जाग्रत् में भी जानो। पदार्थों की स्मृति भी स्वप्न में होती है और अनुभव भी स्वप्न में होता है। जब स्वप्न ही नहीं हुआ तो स्मृति कहाँ है और अनुभव कहाँ है ? न जगत् का अनुभव है न जगत् है। अनुभवसत्ता ही जगत्रूप होकर दिखती है, जो जाग्रत्रूप है। जब उसका अनुभव होगा, तब न स्मृति रहेगी और न जगत् रहेगा। इसलिए हे राम ! जो अनुभवरूप है, उसका अनुभव करो। यह जगत् भ्रमरूप है। जो उपजा नहीं, वह स्वतः सिद्ध है, और जो उपजा है और जिसमें दिखता है, उसे उसी का रूप जानो, भिन्न कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न में जो पदार्थ दिखते हैं, वे उपजे नहीं, परन्तु उपजे दिखते हैं, सो वे अनुभव में उपजे हैं। अनुभव स्वतः सिद्ध है। उसमें जो पदार्थ भासित होते हैं, वे अनुभवरूप हैं और अनुभवरूप ही इस प्रकार होकर दिखता है। वैसे ही ये सब अनुभवरूप हैं-भिन्न कुछ नहीं।

यह सब जगत् आत्मरूप है; इसलिए हे रामजी ! न आत्माकाश

अकारण और आत्मा का आभास है-कारण से कुछ नहीं बना। अनन्त ब्रह्मसत्ता ब्रह्माण्ड में आभास जगते हैं। वे अज्ञानी को कार्य-कारण सहित प्रतीत होते हैं। उसमें नीति हुई है, पर जब जागकर देखोगे, तब सब अद्वैतरूप दिखेगा। न कोई नीति है और न जगत् है। जब तक जीव अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ है, तब तक जो पदार्थ उस सृष्टि में है, वही दिखेगा और जैसा कर्म है, वही भासित होगा। यह जगत् एक स्वप्न है, जिसमें स्वर्गादिक इष्ट पदार्थ और नरकादिक अनिष्ट पदार्थ हैं, और उनके प्राप्त होने का साधन धर्म तथा अधर्म है। धर्म स्वर्ग-सुख का और अधर्म नरकदुःख का साधन है। जब तक अविद्यारूपी निद्रा में जीव सोया हुआ है, तब तक इनको यथार्थ जानता है, पर जब जागेगा, तब सब आत्मरूप होगा। इष्ट-अनिष्ट कोई न रहेगा। यह सब जगत् अनुभवरूप है, और अनुभव सदा जाग्रत् ज्योति है। उसी को जानो। जिन पुरुषों ने इस अनुभव को नहीं जाना, वे उन्मत्त पशु हैं, क्योंकि वे आत्मबोध से शून्य हैं। वे सदा समीपवर्ती आत्मा को नहीं जानते, इससे उन्मत्त हैं, क्योंकि उन्मत्त को भी अपना आपा भूल जाता है। जैसे किसी को पिशाच लगता है, तब उसको अपना स्वरूप भूल जाता है और पिशाच ही देह में बोलता है, वैसे ही जिसको अज्ञानरूपी भूत लगता है, वह उन्मत्त हो जाता है, आत्मस्वरूप को नहीं जानता। वह विपर्यय बुद्धि से देहादिक को आत्मा जानता है और विपर्यय शब्द करता है। जिनको स्वरूप में अहंप्रतीति है, उनको सब जगत् आत्मरूप दिखता है। हे राम ! आदिसृष्टि किसी कारण से बनी होती तो उसके पीछे प्रलयादिक में कुछ शेष रहता, पर वह अत्यन्त अभाव होती है, इसलिए सब जगत् कारण है। जैसे चिन्तामणि से अकारण पदार्थ दिखता है, वैसे ही यह अकारण है। न कहीं संस्कार है और न स्मृति है, सब आत्मा के पर्याय हैं। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इससे सब जगत् को आत्मरूप जानो।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो संस्कार से अनुभव न होता और अनुभव से स्मृति न होती तो इस प्रकार प्रसिद्ध क्यों दिखते हैं ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम्हारा यह संशय भी दूर करता हूँ। जैसे हाथी के बालक को मारने में सिंह को कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, वैसे ही इस संशय का नाश करने में मुझे कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। जैसे सूर्य के उदय होने पर तिमिर का अभाव हो जाता है, वैसे ही मेरे वचनों से तुम्हारा संशय दूर हो जायगा। हे राम ! यह सब जगत् चिन्मात्रस्वरूप है-उससे भिन्न नहीं। जैसे खम्भे में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, परन्तु पुतलियाँ कुछ बनी नहीं, उसके मन में पुतलियों का आकार है, वैसे ही आत्मरूपी खम्भे में चित्तरूपी शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है।

हे राम ! खम्भे में पुतलियाँ निकालते हैं तभी निकलती हैं, परन्तु आत्मा तो अद्वैत और निराकार है, उसमें और कुछ नहीं निकलता। उसमें वाणी की भी गति नहीं। वह चैतन्यमात्र है। अहं के फुरने से वह अपने को चैतन्य जानता है और फिर आगे शब्दों के अर्थ की कल्पना करता है। अपने को शुद्ध अधिष्ठान चैतन्य जानना ही ज्ञान है। ईश्वर, जीव, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देश, काल इत्यादि शब्द और अर्थ स्फुरण ही में हुए हैं-जैसे एक ही समुद्र में द्रवता से आवर्त, तरंग, फेन और बुलबुले आदि नाम होते हैं, वैसे ही सब ब्रह्म ही के नाम हैं, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। वह फुरने से जगत् आकार होकर भासता है और फुरने से रहित होने पर जगत् आकार मिट जाता है। परन्तु फुरने न फुरने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है। जैसे स्पंदन और निस्पंद में वायु ज्यों की त्यों है और सब पदार्थ जो दिखते हैं, वे ब्रह्मस्वरूप हैं। जैसे स्वप्न में अपना ही अनुभव पहाड़, वृक्ष आदि नाना प्रकार का जगत् होकर भासित होता है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जाग्रत् जगत्रूप होकर दिखती है। वही कहीं अन्तवाहक, कहीं आधिभौतिक, कहीं ईश्वर और कहीं जीव आदि होकर भासित होता है, इससे लेकर शब्द-अर्थसंयुक्त जो जीव प्रकट होता गया है, वह ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार स्थित हुई है। जैसे खम्भे में पुतलियाँ खम्भरूप होती है, वैसे ही आत्माकाश

में जगत् आत्मरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे उसमें जगत् आभास है, वैसे ही स्मृति-अनुभव भी आभास है। स्मृति जो संस्कार है उससे जगत् की उत्पत्ति तब कहिये, जब स्मृति आभास न हो। स्मृति-संस्कार भी तो आभास है, फिर वह जगत् का कारण कैसे हो सकती है ? स्मृति भी तब होती है, जब प्रथम जगत् होता है। जब जगत् ही नहीं तो स्मृति कैसे हो ? इससे जगत् आभासमात्र है। इसका कारण कोई नहीं।

हे राम ! स्मृति-संस्कार जगत् का कारण तब हो, जब कुछ जगत् आगे हुआ हो। सो तो कुछ हुआ नहीं। और अनुभव उसका होता है, जो पदार्थ भासित होता है। सो इस जगत् के आदि में कुछ जगत् का अंश न था, फिर अनुभव कैसे कहूँ ? जो अनुभव ही न हुआ तो स्मृति किसको हो और जब स्मृति ही न हुई तो फिर उससे जगत् कैसे कहूँ ? इसलिए हे राम ! आदि-जगत् अकारण अकस्मात् उपजा है। जैसे रत्न की चमक होती है, वैसे ही जगत् है। यह पीछे से कारण-कार्य रूप भासित होता है। इससे हे राम ! जिसका कारण कोई न हो, उसे जानिये कि उपजा नहीं। वह जिसमें दिखता है, वही रूप है। अधिष्ठान से भिन्न कुछ नहीं। सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है। स्मृति भी भ्रम में आभास जगा है और अनुभव भी आभास है। सो ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। और आभास भी कुछ उपजा नहीं, आभास की नाईं जगत् दिखता है-आत्मसत्ता अद्वैत है, जिसमें आभास, स्मृति, अनुभव, जाग्रत् और स्वप्न की कल्पना कुछ नहीं तो क्या है ? ब्रह्म ही है। फुरना जिसे कहते हैं, वह कुछ वस्तु नहीं है। जैसे खम्भे में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, वैसे ही स्पन्दन चैतन्य आत्मा में जगत् की कल्पना करता है। शिल्पी तो आप भिन्न होकर कल्पना करता है और यह चित्तसत्ता ऐसी है कि अपने ही स्वरूप में कल्पना करती है और जगत्रूपी पुतलियाँ देखती है। आत्मा आकाशरूपी खंभा है, उसमें जगत् भी आकाशरूपी पुतलियाँ हैं। जैसे आकाश अपने आकाशभाव में स्थित है, वैसे ही ब्रह्म अपने ब्रह्मभाव में स्थित हैं। जगत् भिन्न भी दिखता है परन्तु अचैत्य चिन्मात्रस्वरूप है, भेदभाव को नहीं प्राप्त हुआ।

और विकारवान् भी दिखता है, परन्तु विकार नहीं हुआ। जैसे स्वप्न में जीव आप ही सब स्पष्ट दिखते हैं, वैसे ही यह जगत् अपने आपमें दिखता है, परन्तु कुछ नहीं है। हे राम ! यही आश्चर्य है कि मैंने अपने अनुभव को प्रकट करके उपदेश किया है; जीव आप भी जानते हैं, स्वप्न में नित्य देखते हैं और सुनते भी हैं, परन्तु निश्चय करके जान नहीं सकते और स्वप्न के पदार्थों को मूर्खता से त्याग नहीं सकते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शालभजनकोपदेशो नाम द्विशताधिकद्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पुरुष इन्द्रियों के इष्ट विषयों को पाकर सुख नहीं मानता और अनिष्ट विषयों को पाकर दुःख नहीं मानता इनके भ्रम से मुक्त है और बड़े भोग प्राप्त हों तो भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता, उसको जीवन्मुक्त जानो। हे राम ! सब शब्द अर्थ जिसको द्वैतरूप नहीं दिखते, उसे तुम जीवन्मुक्त जानो। जिस अविद्यारूपी जाग्रत् में अज्ञानी जागते हैं, उसमें ज्ञानवान् सो रहे हैं और परमार्थरूपी जाग्रत् में अज्ञानी सो रहे हैं। वे नहीं जानते कि परमार्थ क्या है ? परन्तु उसमें जीवन्मुक्त स्थित है। इस कारण ज्ञानवान् इष्ट-अनिष्ट विषयों को पाकर सुखी और दुःखी नहीं होते। उनका चित्त सदा आत्मपद में स्थित है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो पुरुष सुख पाकर सुखी और दुःख से दुःखी नहीं होता, वह तो जड़ हुआ। चैतन्य तो न हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सुख-दुःख तब तक होता है, जब तक चित्त को जगत् का सम्बन्ध होता है। जब चित्त जगत् के सम्बन्ध से रहित चिन्मात्र होता है, तब उपाधिकृत सुख-दुःख नहीं रहते। जो अपने स्वभाव में स्थित पुरुष हैं, वे परम विश्राम को प्राप्त होते हैं और सब कुछ करते हैं, परन्तु स्वरूप से उनको कर्तव्य का उत्थान कुछ नहीं होता, और सदा अद्वैत में निश्चय रहता है। नेत्रों से वे देखते हैं, परन्तु द्वैत की भावना उनको नहीं फुरती। जैसे अत्यन्त उत्तम को सब पदार्थ दिखते हैं, परन्तु सब पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही जिसकी बुद्धि अद्वैत में दृढ़ हुई है, उसे द्वैतरूप पदार्थ

नहीं भासित होते। जिनको द्वैत नहीं दिखता, उनको सुख-दुःख कैसे लगे। उन पुरुषों ने वहाँ विश्राम किया है, जहाँ न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। वे सब द्वैत से रहित अद्वैतरूपी शय्या में विश्राम कर रहे हैं और संसार मार्ग को नाँघ गये हैं।

आत्मा के प्रमाद से जीव को कष्ट होता है। जो अपनी विभूति विद्या को त्यागकर प्रसन्न होता है और फिर संसार के क्रूरमार्ग में कष्ट पाता है, वह मनुष्य नहीं, मानों मृग है। वह संसाररूपी वन में भटकता कष्ट पाता है। जब प्यास से व्याकुल होता है, तब जल की ओर दौड़ता है। पर जहाँ जाता है, वहाँ मरुस्थल की नदी मृगमरीचिका ही दिखती है, जल नहीं प्राप्त होता। तब आगे दौड़ता है और प्यास अधिक बढ़ती जाती है। इस प्रकार दौड़ता-दौड़ता जड़ हो जाता है और दुःखी होकर मर जाता है, परन्तु उसे जल नहीं प्राप्त होता। यह जल, दौड़ना, जड़ता और मरना चारों अलग-अलग सुनो। हे राम ! मन ही मृग है, जो संसाररूपी वन में आ पड़ा है। यह इन्द्रियों के विषयरूपी जलाभास को सत्य जानकर शान्ति के लिए तृष्णारूपी मार्ग में दौड़ता है, पर वे विषय आभासमात्र हैं और उनमें शान्तिरूपी जल नहीं है, इसलिए वह दौड़ता-दौड़ता जब वृद्ध अवस्था में पड़ता है, तब जड़ होकर बड़े कष्ट को प्राप्त होता है, पर शान्तिरूपी जल नहीं पाता, इससे तृप्त भी नहीं होता। हे राम ! मनुष्य मानो मजदूर है, जिसके सिर पर बड़ा भार है। वह अटपटे मार्ग में चला जाता है, जहाँ उसको चोर ने लूट लिया है, इससे दुःखी होता है। हे राम! मनुष्यरूपी मजदूर के शीश पर जन्म का बड़ा भार है। यह संशयरूपी अटपटे मार्ग में खड़ा है। कर्मइन्द्रियों और ज्ञानइन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषय हैं। इनसे रागद्वेषरूपी चोर ने विचाररूपी धन हर लिया है, इससे वह रागद्वेष और तृष्णारूपी अग्नि से जलता है। बड़ा आश्चर्य है कि ज्ञानी लोग ऐसे कुमार्ग को त्यागकर उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है और अन्य आनन्द को त्यागकर परमपद को आनन्द को प्राप्त हुए हैं।

उन मुक्त पुरुषों को संसार का दुःख-सुख व्याप नहीं सकता, क्योंकि

वे परम अद्वैत शुद्ध सत्ता को प्राप्त हुए हैं। वे सबको देखते हैं। ग्रहण-त्यागरूपी अग्नि को त्यागकर उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है और सदा उसी में सोये रहते हैं। वास्तव में सुख से वे ही सोते हैं और उनके भीतर सदा शान्ति रहती है। परन्तु वे जड़ता से रहित हैं और आकाश से भी अधिक सूक्ष्म सत्ता को प्राप्त हुए हैं। जैसे समुद्र में धूल नहीं होती और सूर्य में अंधकार नहीं होता, वैसे ही उनमें इन्द्रियों के इष्ट विषयों की तृष्णा नहीं होती। उन विषयों से रहित होकर उन्होंने विश्राम पाया है। यह आश्चर्य है कि अणु से अणु और महत् से महत् होकर भी वे केवल विश्राम को प्राप्त हुए हैं। हे राम ! जो आत्मसत्ता की ओर से सोये पड़े हैं, उनको दुःख होता हैं। पर ज्ञानवान् द्वैत जगत् की ओर जड़ हुए हैं और अपने स्वरूप में स्थित हैं, इससे उनको दुःख कुछ नहीं। वे जाग्रत् की ओर से सोये हैं। उनका अविद्याकृत जगत् और दृश्य का सम्बन्ध दूर हो गया है। जब वे इस ओर से सोये हैं तो उनको फिर दुःख कैसे हो ?

वे पुरुष सदा अद्वैतरूप हैं। वे अनन्त जगत् के कर्ता हैं और अपने को सदा अकर्ता जानते हैं, ऐसे आश्चर्यपद में उन्होंने विश्राम पाया है। जगत् के समूहसत्ता समान में स्थित होकर उन्होंने विश्राम पाया है, यह आश्चर्य है। वे सब क्रिया करते हैं, परन्तु सदा अक्रियपद में स्थित हैं और सम्पूर्ण पदार्थों को स्वप्नवत् जानकर सुषुप्त हुए हैं। वे आकाश से भी अधिक सूक्ष्म हैं, क्योंकि आत्मसत्ता में विश्राम पाया है। वह आत्मसत्ता आकाश को भी व्याप रही है; उसी को आत्मवत् जानकर वे स्थित हुए हैं। जो परम स्वच्छ पद है, उसमें सब शब्द अर्थ आकाशरूप हो जाते हैं और आकाश भी आकाश हो जाता है। उस पद में उन्होंने विश्राम किया है, यही आश्चर्य है। नेत्र उनके खुले हुए हैं, पर सुषुप्ति में स्थित हैं। ऐसी सुषुप्ति है कि उनका दृग और दृश्यभाव दूर हो गया है। वे जगत् के प्रकाश से रहित और परम प्रकाशरूप हैं। हे राम ! वे बाहर के भोग्य पदार्थों से रहित है और आत्मा में स्थित हैं। प्रकट में वे सोते हैं, पर सुषुप्ति में

जागते हैं और जाग्रत् से उनको सुषुप्ति है। उस सुषुप्ति से वे सोये हैं और कर्म करते हैं, परन्तु कर्ताकारणभाव से रहित हैं। क्रोध भी करते हैं। परन्तु क्रोध के स्फुरण से रहित हैं। सब ओर से प्रकाशवान् निर्भय होकर विश्राम करते हैं। कामना करते भी दिखते हैं, परन्तु तृष्णा से रहित हैं और निस्संकल्प पद में स्थित हुए हैं। यह आश्चर्य है कि जिस क्रिया की ओर वे देखते हैं, उसी ओर उनको शान्ति दिखती है, क्योंकि एक मित्र उनके साथ रहता है। इससे कोई दुःख उनके निकट नहीं आता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तलक्षणवर्णनं नाम
द्विशताधिकत्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५३ ।।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! वह मित्र कौन है ? ज्ञानी का कोई कर्म मित्र है अथवा आत्मा में विश्राम का नाम मित्र है; यह संक्षेप में मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! निष्काम कर्म ही वह अपना मित्र है अर्थात् अपना ही प्रयत्न उनका मित्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, ये तीनों ताप सदा अज्ञानी को जलाते हैं पर ज्ञानी को नहीं। जो बड़ा कष्ट और बहुत कोप भी उनको स्पर्श नहीं करता। जैसे कमल को जल नहीं स्पर्श करता, वैसे ही ज्ञानी को कष्ट नहीं स्पर्श करता, क्योंकि वह मित्र उसके साथ रहता है। जैसे बालक का मित्र बालक होता है, सो बड़े होने पर भी उसका हितू होता है, वैसे ही चिरकाल से ज्ञानवान् ने जो अभ्यास किया है, वही उसका मित्र होकर साथ देता है और दुष्ट क्रिया की ओर उसे नहीं प्रवृत्त होने देता, शुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करता है। जैसे पिता पुत्र को अशुभ की ओर से बरजकर शुभ की ओर लगाता है, वैसे ही विचाररूपी मित्र उसको तृष्णा से बर्जन करता है और आत्मा की ओर लगाता है। वह राग-द्वेषरूपी अग्नि से निकालकर समतारूपी शीतलता उसे देता है। ऐसा विचाररूपी उसका मित्र उसे सब दुःख क्लेशादिक से उबार ले जाता है-जैसे मल्लाह नदी के पार ले जाता है।

हे राम ! विचाररूपी मित्र बहुत सुन्दर है, शान्तरूप है। वह सब मल को जलानेवाली अग्नि है। जैसे अग्नि सुवर्ण के मैल को जलाकर उसे

निर्मल बनाती है, वैसे ही विचाररूपी अग्नि राग-द्वेषरूपी मल को जलाती है। जब विचाररूपी मित्र आता है, तब स्वाभाविक चेष्टा निर्मल हो जाती है और वह वेदोक्त मार्ग में विचरता है। तब सब कोई उसको देखकर प्रसन्न होते हैं और दया, कोमलता, अमान और अक्रोध आदि गुण उसे प्राप्त होते हैं। जैसे तिलों में तेल, फूल में सुगन्ध और अग्नि में गर्मी रहती है, वैसे ही विचार में शुभ आचार रहते हैं। विचाररूपी मित्र शूर है। जो कोई शत्रु होता है, उसको वह पहले मारता है और अज्ञानरूपी शत्रु का नाश करता है-जैसे सूर्य तम का नाश करता है। फिर वह दीपक के प्रकाश-सा साथ होता है, विषयभोगरूपी अन्धे कूप में गिरने नहीं देता और सब ओर से रक्षा करता है। जिस ओर वह पुरुष जाता है, उस ओर सबको प्रसन्नता होती है। हे राम ! उसकी वाणी कोमल, मधुर और स्निग्ध होती है। वह उदाराशय क्षोभ से रहित होकर लोगों का उपकार करता है, और वाणी से सबको प्रसन्न रखता है। वह सौहार्द, शान्ति और परमार्थ का कारण है। हे राम ! वचन तो उसके प्रसन्नता के लिए होते हैं और वह आप भी सदा प्रसन्न रहता है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने भर्ता को सदा प्रसन्न रखती है, वैसे ही विचाररूपी मित्र उसको सदा प्रसन्न रखता है और शुभ आचार में चलाता है। दान, तप, यज्ञादिक शुभ कर्म वह आप भी करता है और लोगों से भी कराता है। जब अन्तःकरण में विवेकरूपी मन्त्री आता है तब वह वहाँ अपने परिवार को भी साथ ले आता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! उसका परिवार कौन है ? उसका स्वरूप और क्या आचार है ? संक्षेप में कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! स्नान, दान, तपस्या और ध्यान, ये चारों उसके बेटे हैं। स्नान यह है कि सदा पवित्र रहे। यथायोग्य और यथाशक्ति दान करे, यह दान है। बाहर की वृत्ति को भीतर स्थित करने का नाम तप और आत्मा में चित्तवृत्ति लगाने का नाम ध्यान है। ये चारों उसके बेटे हैं। ये आत्मदर्शी हैं, परन्तु वृत्ति को सदा स्वाभाविक अन्तर्मुख करके व्यवहार करते हैं। मुदिता उसकी स्त्री

है—सदा प्रसन्न रहने का नाम मुदिता है—जो वंदनीय है। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा की रेखा को देखकर सब प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं, वैसे ही उसको देखकर सब प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं। मुदितारूपी स्त्री के साथ करुणा और दया नाम की एक सहेली रहती है। समतारूपी द्वारपालनी सम्मुख खड़ी रहती है। जब विवेक राजा अन्तःपुर में आता है, तब वह सम्मुख होकर सब स्थान दिखाती है और सदा साथ रहती है। जिस ओर राजा देखता है, उस ओर समता ही देख पड़ती है, जो आनन्द उपजानेवाली है। वह धैर्य और धर्म नाम के दो पुत्र साथ लेकर पुरी में विचरती है और जिस ओर राजा भेजता है, उस ओर उन्हें लिए फिरती है।

जब राजा सवार होकर चलता है, तब वह भी समतारूपी वाहन पर चढ़कर राजा के साथ जाती है। जब राजा विषयरूपी पाँचों शत्रुओं से लड़ाई करता है, तब धैर्य और संतोष मन्त्री मन्त्र देते हैं और विचाररूपी बाण से उनको नष्ट करते हैं। हे राम ! विचार सदा उसके संग रहता है और सब कार्य करता है। यह चेष्टा उसकी स्वाभाविक होती है। वह आप सदा अमान रहता है। उसको कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान नहीं फुरता। जैसे कागज पर लिखी मूर्ति अभिमान से रहित होती है, वैसे ही वह भी अभिमान से रहित है और परमार्थनिरूपण से रहित निरर्थक वचन नहीं बोलता, जैसे पत्थर कुछ नहीं कहता-सुनता। जिस क्रिया का शास्त्रों और लोगों ने निषेध किया है, उसे नहीं करता। जैसे शव कुछ क्रिया नहीं करता, वैसे ही उसको क्रिया का उत्थान नहीं होता। जहाँ ज्ञानियों और जिज्ञासुओं की सभा होती है, वहाँ वह शेषनाग और बृहस्पति की तरह परमार्थ का निरूपण करता है। सावधानता इत्यादि शुद्ध क्रियाएँ उसमें स्वाभाविक होती हैं, जैसे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में प्रकाश स्वाभाविक होता है, वैसे ही उसमें शुभ क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तिबाह्यलक्षणव्यवहारवर्णनं नाम द्विशताधिकचतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जगत् वास्तव में ज्ञानस्वरूप और आत्मसत्ता का चमत्कार है। और कुछ बना नहीं, ब्रह्मसत्ता ही फुरने से इस प्रकार होकर भासित होता है। इसका कारण भी कोई नहीं। जब महाप्रलय था, तब शब्द-अर्थ द्वैत कुछ न था। उस अद्वैतसत्ता से जगत् प्रकट हुआ है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, वह बीज भी जगत् का कोई न था, तो किस कारण से वह उत्पन्न हुआ और तो कोई कारण न था, इससे अब भी जगत् को महाप्रलयरूप जानो। हे राम ! न कोई पृथ्वी आदि तत्त्व है, न जगत् है, न आभास है और न सृष्टि है। जैसे आकाश के फूलों में सुगन्ध नहीं होती, वैसे ही इनका होना भी नहीं है। केवल स्वच्छ ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। रूप इन्द्रियाँ और मन भी ब्रह्मस्वरूप है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव है और मन ही नाना प्रकार का जगत् और इन्द्रियाँ होकर दिखता है, और कुछ नहीं है वैसे ही यह जगत् भी वही रूप है। हे राम ! सब जगत् आत्मरूप है। जैसे कारण बिना आकाश में दूसरा चन्द्रमा दिखता है, सो वास्तव में है नहीं, वैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है, और जिसमें यह आभास प्रकट हुआ है, वह अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है। ये सब पदार्थ जो तुमको दिखते हैं, उन्हें ब्रह्मस्वरूप जानो। जैसे मनोराज्य की सृष्टि अपने अनुभव में होती है और उसका स्वरूप अनुभव से भिन्न नहीं होता, वैसे ही सृष्टि के आदि में जो अनुभव होता है, वह अनुभवरूप है। और कुछ उपजा नहीं-वही अनुभवसत्ता इस प्रकार भासित होती है।

हे राम ! देश से देशान्तर को जो संवित् प्राप्त होती है, उसमें जो अनुभव हैं वही तुम्हारा स्वरूप है, और सब आभासमात्र है। जाग्रत् देश को त्यागकर जो स्वप्न शरीर के साथ नहीं मिला, और जाग्रत् स्वप्नदेश के मध्य में जो ब्रह्मसत्ता है, वही तुम्हारा स्वरूप है। वह प्रकाशरूप और अपने आपमें स्थित है। जाग्रत् जगत् जो दिखता है, वह भी उसी का स्वभाव है। जैसे रत्नों का स्वभाव चमकना है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जल का स्वभाव द्रव है और पवन का स्वभाव चलना है, वैसे ही ब्रह्म

का स्वभाव जगत् है। जैसे सूर्य की किरणों में जल दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। हे राम ! यह आश्चर्य है कि अज्ञानी सत्य को असत्य और असत्य को सत्य जानते हैं। जो अनुभवसत्ता है, उसको छिपाते हैं और खरगोश के सींग सरीखे जगत् को प्रत्यक्ष जानते हैं। वे मूर्ख हैं। सबका प्रकाशक आत्मसत्ता है। जिसको तुम सूर्य देखते हो, वही परमदेव सूर्य होकर दिखता है। चन्द्रमा और अग्नि उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। निदान सबका प्रकाश और तेजसत्ता वही है। जैसे सूर्य की किरणों में सूक्ष्म अणु होते हैं, वैसे ही आत्मसत्ता में सूर्यादिक दिखते हैं। जिनको साकार और निराकार कहते हो, वह सब खरगोश के सींग से हैं। ज्ञानवान् को ऐसे ही दिखता है कि जगत् कुछ उपजा नहीं, तो मैं क्या कहूँ ? जहाँ सब शब्दों का अभाव हो जाता है और उसके पीछे चिन्मात्रसत्ता शेष रहती है, वहाँ शून्य का भी अभाव हो जाता है।

हे राम ! जिनको तुम जीता कहते हो, उनमें जीता भी कोई नहीं और जो जीता नहीं तो मरा कैसे हो ? जो कहिये जीता है तो जैसे जीता है, वैसे ही मृतक है। मृतक और जीते में कुछ भेद नहीं। इसलिए सब शब्दों से रहित और सबका अधिष्ठान वही सत्ता है। उसमें नानात्व दिखता भी है, परन्तु हुआ कुछ नहीं। पर्वत जो स्थूल दिख आते हैं, वे अणुमात्र भी नहीं–जैसे स्वप्न में पृथ्वी आदि तत्त्व दिखते हैं, परन्तु कुछ हुए नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और उसी में जगत् दिखता है। हे राम ! जो परमार्थसत्ता से जगत् प्रकट हुआ, वह तो और कुछ न हुआ। इसलिए वही सत्ता जगत्रूप होकर भासित होती है। कोई कहते हैं कि आत्मा में है और कोई कहते हैं कि आत्मा में कुछ नहीं है, पर आत्मा में दोनों शब्दों का अभाव है, बल्कि अभाव का भी अभाव है। यह भी तुम्हारे जानने के लिए कहता हूँ। वह तो स्वस्थ और परम शान्तरूप है। उसमें और तुममें कुछ भेद नहीं है। वह परिपूर्ण, अच्युत, अनन्त और अद्वैत है। वही जगत्रूप होकर दिखता है। जैसे कोई पुरुष शयन करता है तो सुषुप्ति में अद्वैतरूप हो जाता है, फिर सुषुप्ति से स्वप्न

फुर आता है और फिर सुषुप्ति में वह लीन हो जाता है, तो उपजा क्या और लीन क्या हुआ ? स्वप्न के आदि में भी अद्वैतसत्ता थी, अन्त में भी वही रही। मध्य में जो कुछ दिखा, वह भी वही रूप हुआ, आत्मा से भिन्न तो कुछ न हुआ। इसलिए सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है-ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। हे राम ! मुझको तो सदा अनुभवरूप जगत् दिखता है। मैं नहीं जानता कि अज्ञानी को क्या दिखता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि से जो जागा है, उसको अद्वैत अपना रूप दिखता है, वैसे ही तुरीयावस्था में दिखता है। तुरीय और जाग्रत् में भेद कुछ नहीं, जाग्रत् ही तुरीय का नाम है और जाग्रत् तुरीयरूप है। बल्कि यह भी क्या कहना है, सभी अवस्थाएँ तुरीयरूप हैं।

तुरीय जाग्रत्सत्ता का नाम है। जो अनुभव की साक्षी ज्योति है, वह जाग्रत् में भी साक्षीरूप है, स्वप्न में भी साक्षीरूप है और सुषुप्ति में भी साक्षीरूप है। इसलिए सब तुरीयरूप है। परन्तु जिसको स्वरूप का अनुभव हुआ है, उस ज्ञानवान् को ऐसे ही दिखता है और अज्ञानी को भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ दिखती हैं। हे राम ! एक पदार्थ का वृत्ति ने त्याग किया, पर वह दूसरे पदार्थ में नहीं लगी। वह जो मध्य में अनुभव ज्योति है, उसको तुम आत्मसत्ता जानो और उसमें जो फिर कुछ भासित हुआ उसे भी वही रूप जानो। जैसे जाग्रत् को त्यागकर स्वप्न का आदि साक्षी अनुभवमात्र होता है और उस सत्ता में स्वप्न का शरीर पदार्थ भासित होते हैं, वे भी आत्मरूप हैं। वैसे ही जो कुछ जाग्रत् शरीर और पदार्थ दिखते हैं वे आत्मरूप हैं। जब तुम ऐसे जानोगे, तब तुमको कोई दुःख स्पर्श न करेगा। जैसे स्वप्न की सृष्टि में अपने स्वरूप की स्मृति आने से दुःख भी सुख होता है और बोलना-चालना, खाना, पीना, देना, लेना आदि शब्द और अर्थ और द्वैतरूप युद्ध-कर्म सब अद्वैत अपने आप हो जाते हैं, और जीव व्यवहार भी सब करता है, परन्तु उसके अपने निश्चय में कुछ नहीं फुरता, वैसे ही जो पुरुष अपने स्वरूप में जागे हैं; उनको सब जगत् आत्मरूप ही दिखता है। जैसे अग्नि में उष्णता और बरफ में शीतलता

स्वाभाविक है, वैसे ही ज्ञानवान् की आत्मदृष्टि भी स्वाभाविक है। और लोगों को यह दृष्टि यत्न से प्राप्त होती है, पर ज्ञानवान् को स्वाभाविक होती है। जिसको तुम इच्छा कहते हो, वह ज्ञानवान् को सब भ्रमरूप है और अनिच्छा भी ब्रह्मरूप भासित होती है। ज्ञानवान् को आत्मानन्द प्राप्त हुआ है। वह अपने स्वभाव में सदा स्थित है, इससे उसको कोई कल्पना नहीं उठती और वह विद्यमान निवारण दृष्टि लेकर स्थित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्वैतैकताऽभाववर्णनं नाम द्विशताधिकपञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे स्वप्न में जो पृथ्वी आदि पदार्थ दिखते है, वे अविद्यमान हैं-कुछ हैं नहीं, वैसे ही पितामह आदि ब्रह्मा को भी आकाशरूप जानो। वह भी कुछ हैं नहीं, अर्थात् आत्मसत्ता से भिन्न हुए नहीं। जैसे समुद्र में तरंग और बुलबुले स्वाभाविक हैं, और तरंग शब्द कहना भी उनको नहीं बनता, वे तो जलरूप हैं, वैसे ही जिनको तुम ब्रह्माजी कहते हो, वह और कोई नहीं, आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। ब्रह्माजी हीं विराट् हैं। जैसे पत्ते, फूल, फल और टास वृक्ष के अंग हैं, वैसे ही सब भूत उस विराट् के अंग हैं। जब (विराट्) ब्रह्मा ही आकाशरूप हैं, तब उनके अंग जगत् की वार्ता क्या कहिये ? हे राम! विराट् के न प्राण है, न आकार है, न इन्द्रियाँ हैं, न मन है, न बुद्धि है और न इच्छा है। केवल अद्वैत चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है। जब विराट् ही नहीं, तब जगत् कैसे हो ? जो तुम कहो कि आकाशरूप के अंग कैसे दिखते हैं, तो हे राम ! जैसे स्वप्न में बड़े पहाड़ प्रत्यक्ष दिखते हैं, परन्तु कुछ बने नहीं, आकाशरूप हैं, वैसे ही आदि-विराट् भी कुछ बना नहीं, आकाशरूप है। तब उसके अंग मैं आकाररूप कैसे कहूँ ? सब आकार संकल्पपुर की नाईं कल्पित हैं। एक आत्मसत्ता ही सर्वदा ज्यों की त्यों स्थित है। उसमें स्मृति और अनुभव क्या कहिये ? अनुभव और स्मृति भी उसी का आभास है। जैसे समुद्र में तरंग आभास होते हैं, वैसे ही आत्मा में अनुभव और स्मृति भी आभास है। स्मृति भी उसकी होती है,

जिसका प्रथम अनुभव होता है। सो अनुभव भी जगत् में होता है। पर जहाँ जगत् ही न उपजा हो तो अनुभव और स्मृति उसको कैसे हो ?

इसलिए न अनुभव है और न स्मृति है। इस कल्पना को त्याग दो। जहाँ पृथ्वी होती है, वहाँ धूल भी होती है। पर जहाँ पृथ्वी से रहित आकाश ही हो, वहाँ धूल कैसे उड़े ? इसी प्रकार जहाँ पदार्थ होते हैं, वहाँ स्मृति और अनुभव भी होता है, और जहाँ पदार्थ ही नहीं तो स्मृति और अनुभव कैसे हो ? इससे दोनों का अभाव है। राम ने पूछा, हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ ? स्मृति का अनुभव तो प्रत्यक्ष होता है। प्रथम पदार्थ का अनुभव होता है, पीछे उसकी स्मृति होती है और स्मृति संस्कार से फिर अनुभव होता है। तब ऐसे ही ब्रह्मादिक का क्यों नहीं होता ? ये तो प्रत्यक्ष भासित होते हैं ? तुम कैसे इनका अभाव कहते हो ? और अभाव में विशेषता क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! स्मृति से अनुभव वहाँ होता है, जहाँ कार्य-कारण भाव होता है। ब्रह्मा से लेकर काष्ठपर्यन्त सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह सब आकाशरूप है। कुछ बना नहीं और अविद्यामान ही भ्रम से विद्यमान प्रतीत होता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल का आभास अविद्यामान है, पर भ्रम से जल दिखता है, वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासित होता है। स्मृति उसकी होती है, जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव होता है। जो कहिये कि भ्रमादिक स्मृति संस्कार से उपजी है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो ज्ञानवान् स्मृति से नहीं होता, तब उनका स्मृति कारण कैसे कहिये ? और दूसरे यह कि इस जगत् के आदि में कोई जगत् न था, जिसकी स्मृति मानिये। इस जगत् के आदि में केवल अद्वितीय आत्मसत्ता थी। उसमें स्मृति क्या और अनुभव क्या ? इसलिए ब्रह्मादिक और जगत् किसी कारण-कार्यभाव से नहीं उपजे। अकारण हैं।

हे राम ! प्रथम तो तुम यह देखो कि ज्ञानी को जगत् नहीं भासित होता, तब स्मृति किसको कहिये ? उसको तो केवल ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे सूर्य को रात्रि की स्मृति नहीं होती, वैसे ही ज्ञानी को जगत् की स्मृति नहीं होती। मेरे निश्चय में तो यह है कि जगत् न हुआ है और

न आगे होगा, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। वह अद्वैत है, और उसी का सब आभास है। जो आभास को सत्य जानते हो तो स्मृति को भी सत्य जानो। और जो आभास को असत्य जानते हो, तो स्मृति को भी असत्य जानो। जैसे स्वप्न में सृष्टि का आभास होता है। और उसमें अनुभव और स्मृति होती है, पर जागने से सृष्टि के अनुभव और स्मृति का अभाव हो जाता है, वैसे ही अद्वैत परमात्मसत्ता के जाग्रत् में अनुभव और स्मृति का अभाव है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जैसे कोई पुरुष मरुस्थल में भ्रम से नदी देखता है, और उसे सत्य जानकर उसकी स्मृति करता है, पर वह नदी तो कुछ नहीं है। जब नदी ही असत्य है तो उसकी स्मृति कैसे सत्य हो, वैसे ही अज्ञानी के निश्चय में जो जगत् भासित हुआ है, वह जगत् ही जब असत्य है तो उसकी स्मृति और अनुभव कैसे हो? ज्ञानवान् के निश्चय में ऐसे ही भासित होता है।

हे राम ! स्मृति पदार्थ की होती है। पर पदार्थ कोई नहीं, सब ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। और जैसा-जैसा उनमें फुरना होता है, वैसे ही होकर वे भासित होते हैं। परन्तु और कुछ वस्तु नहीं। जैसे वायु चलता भी है और ठहरता भी है, पर चलने और ठहरने में वायु को कुछ भेद नहीं, वैसे ही ज्ञानवान् को जगत् के फुरने या न फुरने में ब्रह्मसत्ता अभेद भासती है और कारण-कार्य नहीं भासित होता है। जैसे पत्ते, टहनी, फूल और फल, सब वृक्ष के अंग हैं, वैसे ही जगत् आत्मा के अंग हैं। आत्मा में प्रकट होते हैं और फिर आत्मा में ही लीन भी हो जाते हैं। भिन्न कुछ नहीं। जब चित्त में स्वभाव जगता है, तब जगत् होकर भासित होता है। कुछ आरम्भ और परिणाम से नहीं होता-आभासमात्र है।

जैसे घट-पट आदि आत्मा का आभास है, वैसे ही स्मृति भी आभास है। स्मृति भी जगत् में उदय हुई है। जब जगत् ही असत्य है तो स्मृति कैसे सत्य हो ? जो यथार्थदर्शी हैं, उनको सब ब्रह्मरूप दिखता है। मुझको न कुछ मोक्ष का उपाय दिखता है और न इसका कोई अधिकारी दिखता है। मेरे निश्चय में अद्वैत ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे नट

स्वाँग भरता है, पर सब स्वाँगों को आभासमात्र जानता है, किसी को सत्य नहीं जानता, पर उससे भिन्न कुछ होता नहीं, वैसे ही मुझको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। अज्ञानी के निश्चय को हम नहीं जानते। जिस प्रकार उसके लिए जगत् शब्द है, उसके उस निश्चय को कोई नहीं जानता। मेरे निश्चय में सब चिन्मात्र है। अज्ञानी को जगत् द्वैतरूप दिखता है और उसे विपर्यय भावना होती है और ज्ञानवान् को चिन्मात्र से भिन्न कुछ नहीं भासित होती। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने अनुभव में स्थित होती है और सबका अधिष्ठान अनुभवसत्ता है, परन्तु निद्रादोष से भिन्न-भिन्न भासित होती है, वैसे ही अज्ञानी को जगत् भिन्न-भिन्न लगता है। पर जो जागे हुए ज्ञानवान् हैं, उनको भिन्न कुछ नहीं भासित होता। उनको न अविद्या, न मूर्खता और न मोह भासित होता है। उन्हें सब अपना रूप ब्रह्मस्वरूप ही दिखता है। जहाँ कुछ दूसरी वस्तु नहीं बनी, वहाँ स्मृति और अनुभव किसका कहिये ? यह सभी कलना मिथ्या है।

हे राम ! सब अर्थों का जो अर्थभूत है, सो ब्रह्म है। उसी में सब पदार्थ कल्पित हैं। स्मृति और अनुभव मन में होता है। वह मन आत्मा में ऐसे हैं, जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है। तो उसमें स्मृति और अनुभव क्या कहिये ? सब कल्पित है। पृथ्वी आदिक तत्त्व आत्मा में कुछ बने नहीं। ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है—ज्ञानवान् को सदा ऐसे ही भासित होता है। आभास भी आत्मा में आभास है और कारण-कार्यभाव कभी नहीं भासित होता। जैसे सूर्य को अन्धकार कभी नहीं दिखता, वैसे ही ज्ञानवान् को कारण-कार्यभाव नहीं दिखाई देता। जैसे स्वप्न के आदि में अद्वैतसत्ता होती है और उसमें अकारण स्वप्न की सृष्टि जग जाती है, वैसे ही अद्वैतसत्ता में अकारण आदि सृष्टि प्रकट हुई है। न पृथ्वी है और न कोई दूसरा पदार्थ है, सब चिदाकाशरूप है, और कुछ बना नहीं तो आभासमात्र जगत् में स्मृति की कल्पना कैसे हो ?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्मृतिअभाव जगत् परमाकाश वर्णनन्नामद्विशताधिक षट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५६ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जिसमें सब अनुभव होता है, उसके देह में अहंप्रत्यय किस प्रकार होता है ? वह तो सर्वात्मा है। उस सर्वात्मा को एक देह में अहंप्रत्यय क्योंकर होता है, और काष्ठ, पाषाण, पर्वत और चेतनता का अनुभव किस प्रकार हो गया है ? वह तो अद्भुत स्वरूप है। उसमें जड़ और चैतन्य, ये दोनों भेद कैसे हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे शरीर में हाथ आदि अपने अंग हैं और उन सब अंगों में एक शरीर का भाव व्यापा हुआ है, पर जो उन अंगों में एक अंग को पकड़कर कहे कौन है, तब प्राणी उसका नाम कहता है; तो तुम देखो कि उस एक अंग को भिन्न कहा, परन्तु सब अंगों में उसकी आत्मा का तो नाश नहीं हो जाता है; वैसे ही आत्मा अनुभवरूप है तो भी एक अंग में उसकी आत्मता होते हुए सर्वात्मता खण्डित नहीं हो जाती। जैसे पत्ते, फूल, फल और टहनी आदि सब अंगों में एक ही वृक्ष व्यापा हुआ है परन्तु जो एक टहनी अथवा पत्ते को पकड़कर कहता है कि यह वृक्ष है, तो उसके एक अंग में वृक्षभावना कहने से वृक्ष का सर्वात्मभाव नष्ट नहीं होता, वैसे ही सर्वात्मा का एक देह में अहंभाव सिद्ध होता है। जड़ और चैतन्य, दोनों भाव एक ही ने धारण किये हैं और एक ही के दोनों स्वरूप हैं।

जैसे एक ही शरीर में दोनों सिद्ध होते हैं, तथा हाथ, पाँव आदि जड़ हैं और नेत्र इसके द्रष्टा चेतन हैं, सो एक ही शरीर दोनों हैं और दोनों एक ही शरीर के स्वरूप हैं, वैसे ही एक आत्मा ने दोनों धारण किये हैं और एक ही के स्वरूप हैं। जैसे वृक्ष अपने अंग को रखता है और वृक्ष स्वभाव को भी रखता है, वैसे ही सर्वात्मा सबको धारण करता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि को अनुभव ही धारण करता है और सब क्रियाओं को भी धारण करता है, वैसे ही आत्मसत्ता सब जगत् और जगत् की सब क्रिया को धारण करती है, क्योंकि वह सर्वात्मा है और जो सर्वात्मा है वह क्यों न धारण करे ? जैसे एक ही समुद्र में अनेक तरंग उठते हैं, परन्तु सभी समुद्र के आश्रित हैं और वही रूप हैं, वैसे ही सब जीव परमात्मा में प्रकट होते हैं। परमात्मा के आश्रित हैं और वही रूप हैं। जैसे तरंग अपने को

जाने कि मैं जल ही हूँ तो उसकी तरंग संज्ञा जाती रहती है, जलरूप ही दिखता है, वैसे ही जीव जब परमात्मा से अपने को अभिन्न जाने, जाने कि 'मैं आत्मा ही हूँ' तब उसके जीवत्वभाव का अभाव हो जाता है, परमात्मा ही दीखता है।

हे राम ! जैसे जल में द्रवता से तरंग उठते हैं, परन्तु तरंग जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, वैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन से आदि-ब्रह्मा उपजे हैं और उन्होंने इस जगत् की मनोराज्य से कल्पना की है। वह आकाशरूप निराकार हैं, और कुछ बना नहीं। जो विराट् ही आकाशरूप हुआ तो उसका शरीर कैसे साकार हो। वह भी निराकार है जैसे अपना अनुभव स्वप्न में पर्वत, नदियाँ, जड़ और चैतन्य होकर दिखता है, वैसे ही सब जगत् जो दिखता है, वह भी आत्मरूप है। हे राम ! जैसे एक निद्रा के दो स्वरूप हैं—स्वप्न और सुषुप्ति, वैसे ही एक ही आत्मा ने जड़ और चैतन्य, दो स्वरूप धारण किये हैं। जगत् आत्मा में कुछ बना नहीं, यह आभासरूप हैं, और आत्मसत्ता ही अपने किञ्चन द्वारा जगत्रूप होकर दिखाई देती है। जैसे आकाश में घन शून्यता के कारण नीलता दिखती है, सो वह अविचारसिद्ध है—नीलता कुछ बनी नहीं, वैसे ही आत्मा में घन चैतन्यता से जगत् दिखता है, परन्तु जगत् का आकार कुछ बना नहीं, सर्वदा आत्मा अद्वैत निराकार है।

अनन्त सृष्टि आत्मा में आभासरूप उपज कर लीन हो जाती है, और आत्मा ज्यों की त्यों है। जैसे समुद्र में तरंग उपजकर लीन हो जाते हैं, परन्तु जलरूप हैं, वैसे ही परब्रह्म में सृष्टि परब्रह्मरूप है। हे राम ! यह जगत् विराट् का शरीर है। महाकाश उसका शीश है। दशों दिशा उसकी भुजा हैं। पृथ्वी उसके चरण हैं। पातालरूप तली हैं। मध्यलोक अन्तरिक्ष उदर है। सब जीव उसकी रोमावली हैं और सब पदार्थ विराट् के अंग हैं। वह विराट् आकाशरूप है। जैसे विराट् ब्रह्माजी आकाशरूप हैं, वैसे ही उनका जगत् भी आकाशरूप है। इससे सब जगत् विराट्रूप है। वह ब्रह्म ही है, और कुछ बना नहीं। चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं। मुझसे और

तुमसे लेकर सब शब्दों का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म मैं हूँ। जिसमें दूसरा बना नहीं, सदा मैं अपने ही आपमें स्थित हूँ। हे राम ! शून्यवादी पांचरात्रिक, शैव, शक्ति आदि जो शास्त्र हैं, उन सबका अधिष्ठान ब्रह्मरूप है, और सबका साररूप वही सर्वात्मारूप है। जैसा किसी को निश्चय होता है, वैसा ही उसको वह सर्वरूप होकर फल देता है और कुछ बना नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकता नाम
द्विशताधिकसप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५७ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस जगत् के आदि में शुद्ध ब्रह्मसत्ता थी। उसमें जो जगत् का आभास फुरा है, उसको भी तुम वही स्वरूप जानो। जैसे स्वप्न में आदि-अनुभव आकाश होता है, और उसमें स्वप्न की सृष्टि प्रकट होती है, सो वह अनुभवरूप है, भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है, भिन्न नहीं। जैसे समुद्र द्रवता से तरंगरूप होकर दिखता है, वैसे ही चैतन्य ब्रह्म जगत्रूप होकर भासित होता है। सो यह जगत् भी वही रूप है। हे राम ! वास्तव में कोई दुःख नहीं है। दुःख और सुख अज्ञान से प्रतीत होते हैं। जैसे एक निद्रा में दो वृत्तियाँ दिखती हैं-एक स्वप्नवृत्ति और दूसरी सुषुप्तिवृत्ति; वैसे ही अज्ञानी की दो वृत्तियाँ होती हैं-सुख की और दुःख की। किन्तु ज्ञानवान् ब्रह्मरूप है। जैसे कोई पुरुष स्वप्न से जाग उठता है तो उसको स्वप्न की सृष्टि असत्रूप दिखती है, वैसे ही ज्ञानवान् को यह सृष्टि असत्य दिखती है। जैसे जिसने मरुस्थल की नदी के जल का अत्यन्ताभाव जाना है, वह जलपान की इच्छा नहीं करता, वैसे ही सम्यक्दर्शी पुरुष जगत् को असत्य जानता है, इसलिए वह जगत् के पदार्थों की इच्छा भी नहीं करता। जो असम्यक्दर्शी हैं, उनको जगत् सत्य प्रतीत होता है और वे किसी पदार्थ को ग्रहण करते हैं और किसी का त्याग करते हैं।

हे राम ! परमात्मा ईश्वर है। उसमें जगत् इसी प्रकार है, जैसे समुद्र में तरंग होते हैं। जैसे समुद्र और तरंग में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। जो तुम कहो कि अविद्या ही जगत् का कारण है

तो अविद्या जगत् का कारण तब कहलाती, जब वह जगत् से प्रथम सिद्ध होती है, पर अविद्या तो अविद्यमान है। जैसे परमात्मा में जगत् आभासमात्र है, वैसे ही अविद्या भी आभासमात्र है। जो आप ही आभासमात्र हो, उसे जगत् का कारण कैसे कहिये ? जगत् आभास और अविद्या का आभास इकट्ठा ही जगा है। जैसे स्वप्न में सृष्टि दिखती है और उसमें घट-घटादि पदार्थ दिखते हैं। वे किसी कुम्हार ने मृत्तिका लेकर तो नहीं बनाये। जैसे घट उपजा है, वैसे ही कुम्हार और मृत्तिका भी उपजे हैं। जैसे इन सबका भासित होना इकट्ठा ही होता है, वैसे ही जगत् और अविद्या एक साथ ही उपजे हैं। अविद्या पहले तो सिद्ध नहीं होती, तब उसको जगत् का कारण कैसे मानिये ? हे राम ! परमात्मा से जगत् और अविद्या एक साथ ही आभासमात्र उपजे हैं, पर वह आभास कुछ वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। न कहीं अविद्या है, न जगत् है। आत्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों स्थित है। हे राम ! निर्विकल्प में जगत् का अत्यन्ताभाव होता है, तब निर्विकल्प कैसे हो ? जब निर्विकल्प होता है, तब जड़ता आती है और जब विकल्प उठता है, तब संसार उदय होता है। जब ध्यान लगाता है, तब ध्याता, ध्यान और ध्येय त्रिपुटी हो जाती है। इस प्रकार तो निर्विकल्पता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि निर्विकल्प से भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। निर्विकल्प वह है, जहाँ चित्त की वृत्ति न फुरे। पर तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ भी अभाव वृत्ति सुषुप्ति सी रहती है। सुषुप्तरूप जड़ात्मक है। सविकल्प सुषुप्ति में भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए सम्यक् बोध का नाम निर्विकल्प है।

जिसको सम्यक्बोध निर्विकल्पता से जगत् का अत्यन्ताभाव हुआ है, वह जीवन्मुक्त है। वही निर्विकल्प पद कहलाता है और वही परम जड़ता है, जहाँ जगत् का होना असम्भव है। हे राम ! निर्विकल्प और सविकल्प स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ये दोनों मन की वृत्तियाँ हैं। जैसे एक निद्रा की वृत्ति स्वप्न और सुषुप्तिरूप है, वैसे ही यह निर्विकल्प और सविकल्प मन की वृत्ति है। निर्विकल्प सुषुप्तिरूप और पत्थर सदृश है और

सविकल्प स्वप्नसदृश चञ्चलरूप है। निर्विकल्प में भी अभाववृत्ति रहती है, इससे उससे भी मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तब होती है, जब दृश्य का अत्यन्ताभाव होता है। हे राम ! जहाँ आत्म-अनुभव में आकाश से इतर उत्थान नहीं होता—उसका नाम अत्यन्त सुषुप्ति निर्विकल्पता है। हे राम! ऐसे होकर तुम चेष्टा करोगे, तो भी तुमको कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान न होगा। आत्मा को अद्वैत और जगत् का अत्यन्ताभाव जानने ही का नाम बोध है। जब बोध और ध्यान की दृढ़ता हो, उसका नाम परमपद है। उसी का नाम निर्वाण है और उसी को मोक्ष भी कहते हैं। जो पद किञ्चन और अकिञ्चन है और सर्वदा अपने आपमें स्थित है, उसमें न नानात्व कहना है, न अनाना शब्द है। न सविकल्प है, न निर्विकल्प है। वह न सत्य है, न असत्य है। न एक है और न दो। उसमें सब शब्दों का अन्त है और किसी शब्द से वाणी प्रवृत्त नहीं होती। उसी सत्ता को प्राप्त होने का उपाय मैं कहता हूँ।

हे राम ! यह मोक्ष का उपाय ग्रन्थ जो मैंने तुमसे कहा है, इसको विचारना। जो पुरुष अर्धप्रबुद्ध और पदपदार्थ जानने वाला है, उसको यदि मोक्ष की इच्छा है तो वह इस ग्रन्थ को विचारता है, शुभ आचार करके बुद्धि को निर्मल करता है और अशुभ क्रिया का त्याग करता है। तब उसको शीघ्र आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे राम ! जो मोक्ष का उपाय शास्त्र के विचार से प्राप्त होता है, वह तीर्थ-स्नान, तप और दान से नहीं प्राप्त होता। तप, दानादिक करके स्वर्ग प्राप्त होता है, मोक्ष नहीं मिलता। मोक्षपद अध्यात्मशास्त्र के अर्थ के अभ्यास से ही प्राप्त होता है। यह जगत् आभासमात्र है। वही ब्रह्मसत्ता जगत्‌रूप होकर भासित होती है। जैसे जल ही तरंगरूप होकर दिखता है और वायु ही स्पन्दनरूप है, वैसे ही ब्रह्म जगत्‌रूप होकर भासित होता है। जैसे स्पन्दन और निस्स्पन्द में वायु ज्यों की त्यों है, परन्तु स्पन्दन होता है, तब भासित होती है, और निस्स्पन्द होती है तब नहीं भासित होती, वैसे ही ब्रह्म में संवेदन फुरता है तब जगत् होकर भासित होता है और जब निर्वेदन होता है और अन्तर्मुख अधिष्ठान

की ओर आता है, तब जगत् समेटा जाता है। परन्तु संवेदन के फुरने में भी वही है और न फुरने में भी वही है।

इसलिए हे राम ! सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म से इतर कुछ नहीं बना। और जो इतर भासित होता है उसे भ्रममात्र ही जानना। जब आत्मपद का अभ्यास होता है, तब भ्रान्ति शान्त हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मपद के अभ्यास से भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। यद्यपि नाना प्रकार की सृष्टि दिखती है, परन्तु कुछ हुई नहीं। जैसे स्वप्न में सृष्टि दिखती है, परन्तु कुछ बनी नहीं, वही अनुभवरूप आत्मसत्ता सृष्टि आकार होकर दिखती है, वैसे ही यह जगत् सब अनुभवरूप है। जैसे रत्न और रत्न की चमक में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। हे राम ! तुम निश्चय करके स्वभाव को देखो, तो भ्रम मिट जावेगा। सृष्टि, स्थिति और प्रलय, सब उसी की संज्ञा हैं, दूसरी वस्तु कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मगीतापरमनिर्वाण वर्णनन्नाम द्विशताधिकाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ।। २५८।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये सब आकार जो तुमको दिखते हैं, संवेदनरूप हैं, कुछ बने नहीं। सृष्टि के आदि में भी अद्वैतसत्ता थी, अन्त में भी वही रहती है और मध्य में जो आकार दिखते हैं, उन्हें भी वही रूप जानो। जैसे स्वप्न की सृष्टि के आदि में जो शुद्ध संवित् होती है और उसमें आकार प्रकट होता है, वह भी अनुभवरूप है, और कुछ नहीं बना, आत्मसत्ता ही पिण्डाकार होकर भासित होती है, और जितने पदार्थ दिखते हैं, सो आकाशरूप आभासमात्र हैं। आत्मसत्ता सदा शुद्ध है, परन्तु अज्ञान से अशुद्ध की नाईं लगती है; विकार से रहित है, परन्तु विकारसहित लगती है; अनाना है परन्तु नाना की नाईं दिखती है और आकार से रहित है परन्तु आकार-सहित प्रतीत होती है, जैसे स्वप्न की सृष्टि अपना अनुभवरूप होती है, परन्तु स्वरूप के प्रमाद से नाना प्रकार की भिन्न-भिन्न भासित होती है और जागने पर एक आत्मरूप हो जाती है, वैसे ही यह

सृष्टि भी अज्ञान से नाना प्रकार की भासित होती है और ज्ञान से एकरूप भासित होती है। विद्यमान लगती है, पर उसे असत्य ही जानो। आत्मसत्ता सदा शुद्धरूप, शान्त और अनन्त है। उसमें देश, काल और पदार्थ आभासमात्र हैं।

जो तुम कहो कि आभासमात्र है तो अर्थाकार क्यों होते हैं ? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न में कोई नारी गले से लगती है और उसमें प्रत्यक्ष राग और विषयरस होता है, सो वह आभासमात्र होता है, वैसे ही जाग्रत् में विषय, क्षुधा को अन्न, तृषा को जल और भी सब ऐसे ही होते हैं, और सब पदार्थ प्रत्यक्ष लगते हैं, पर जो इनका कारण विचारिये तो कारण कोई नहीं मिलता। जिसका कोई कारण न मिले, उसे आभासमात्र जानिये। हे राम ! यह जगत् बुद्धिपूर्वक नहीं बना। आदि में जो आभास जगा है, वह बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ। उसमें जब जगत् का संकल्प दृढ़ हुआ है, तब कारण से कार्य भासित होने लगा। परन्तु जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ है, उनको कारण से कार्य दिखने लगे। पर जो आत्मस्वभाव में स्थित हैं, उनको सब जगत् आत्मस्वरूप है। हे राम ! कारण से कार्य तब हो, जब पदार्थ भी कुछ वस्तु हो। जैसे पिता की संज्ञा तब होती है, जब पुत्र होता है, और जो पुत्र ही न हो तो पिता कैसे कहिये! वैसे ही कारण तब कहिये जब कार्य हो। जो कार्य जगत् ही कुछ नहीं, तो कारण कैसे कहिये ?

हे राम ! कारण और कार्य अज्ञानी के निश्चय में होते हैं। जैसे चरखे पर बालक घूमता है तो उसको सब पृथ्वी घूमती लगती है वैसे ही अज्ञानी को मोह दृष्टि से कारण-कार्यभाव दिखता है, पर ज्ञानी को कारण-कार्य भाव नहीं भासित होता। स्मृति को भी जगत् का कारण तब कहिये, जब स्मृति जगत् से पहले हो। पर स्मृति अनुभव भी जगत् में ही उपजे हैं। ये भी आभासमात्र हैं। परन्तु जिनको प्रतीत हुए हैं उनको वैसे ही हैं। हे राम ! स्मृति, संस्कार और अनुभव, ये तीनों आभासमात्र हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासित होता है, वैसे ही आत्मा में तीनों

भासित होते हैं। इसलिए इस कलना को त्यागकर जगत् को आभासमात्र जानो। जैसे स्वप्न में घट दिखते हैं, पर उनका कारण मृत्तिका को कहिये तो नहीं बनता, क्योंकि घट और मृत्तिका का आभास इकट्ठा जगा है, इसलिए वे आभासमात्र हुए। उनमें कारण किसे कहिये और कार्य किसे कहिये। वैसे ही स्मृति, संस्कार, अनुभव और जगत् सब इकट्ठे प्रगटे हैं, इनमें कारण किसे कहिये और कार्य किसे कहिये ? इसलिए सब जगत् आभासमात्र है।

हे राम ! यह सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह आत्मसत्ता का आभास है; आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। जैसे नेत्र का खोलना और मूँदना होता है, वैसे ही परमात्मा में जगत् की उत्पत्ति और प्रलय होता है। जब चित्तसंवेदन फुरता है, तब जगत्रूप दिखता है और जब फुरने से रहित होता है, तब जगत् का आभास मिट जाता है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय में आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जैसे खुलना और मूँदना नेत्रों का स्वभाव है, वैसे ही फुरना और न फुरना संवेदन के स्वभाव हैं। जैसे चलना और ठहर जाना दोनों वायु के स्वभाव हैं, जब चलती है तब जान पड़ती है और जब नहीं चलती तब नहीं जान पड़ती। चलने में वायु की तीन संज्ञा होती हैं-एक मन्द-मन्द चलती है अथवा बहुत चलती है, दूसरी का शीतल अथवा उष्ण स्पर्श होती है और तीसरी सुगन्ध अथवा दुर्गन्धयुक्त होती है। ये तीनों संज्ञा फुरने में होती हैं। पर जब फुरने से रहित होती है, तब तीनों संज्ञा मिट जाती हैं। जैसे एक ही अनुभव में स्वप्न और सुषुप्ति की कल्पना होती है। स्वप्न में जगत् ही भासित होता है और सुषुप्ति में नहीं भासित होता, परन्तु दोनों में अनुभव एक ही है-वैसे ही संवित् के फुरने से जगत् भासित होता है और ठहरने में अच्युतरूप हो जाता है। पर आत्मसत्ता ज्यों की त्यों एकरूप है। इसलिए जो कुछ जगत् दिखता है, वह आत्मा से भिन्न नहीं, वही रूप है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, तीनों आत्मा के आभास हैं—उनमें आस्था न करना।

हे राम ! मैंने इस परम सिद्धान्त का तुमको उपदेश किया है। जिन युक्तियों से कहा है, वैसी कोई नहीं कहेगा। अज्ञानी को संसाररूपी बड़ी भ्रान्ति उदय हुई है, परन्तु जो मेरे शास्त्र को बारम्बार विचारेगा, उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। दिन के दो भाग करे। आधे दिन तक मेरा शास्त्र विचारे और आधा दिन अपने आचार में व्यतीत करें। जो आधे दिन इस शास्त्र का विचार न कर सके तो एक पहर ही विचारे। जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार निवृत्त होता है, वैसे ही उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। जो मेरे वचनों को वृथा जानकर उनकी निन्दा करेगा, उसको आत्मपद की प्राप्त न होगी, क्योंकि उसने शास्त्र के तत्त्व को नहीं जाना। जीव का यह कर्तव्य है कि प्रथम और शास्त्रों को विचार ले, फिर पीछे से इसको विचारे, जिसमें उसे इस शास्त्र की महिमा ज्ञात हो। हे राम ! यह मोक्षोपाय शास्त्र आत्मबोध का परम कारण है यदि जीव पदपदार्थों का जानने वाला हो और इस शास्त्र को बारम्बार विचारे तो उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। जो सम्पूर्ण ग्रन्थ के आशय को न समझ सके तो थोड़ा-थोड़ा बाँचे और विचारे तो उसको सब समझ पड़ेगा।

हे राम ! यदि मनुष्य कुछ भी पदार्थ जानता है तो इसके विचारने और पढ़ने से बुद्धिमान हो जाता है और इस शास्त्र में उसे प्रीति होती है। इसको विचारने वाले की बुद्धि और शास्त्रों की ओर नहीं जाती, इससे यह विचारने योग्य है। जो पुरुष आत्मविचार से रहित है, उसका जीवन वृथा है। जिनको यह तत्त्व विचार है, उनको सब पदार्थ आत्मरूप हो जाते हैं। जो एक साँस भी आत्मविचार से रहित होती है, वह वृथा जाती है। मनुष्य की ऐसी एक साँस के समान सम्पूर्ण पृथ्वी का धन भी नहीं है। यदि एक साँस निष्फल जाय तो फिर माँगे नहीं मिलती। ऐसी साँस को जो वृथा गँवाते हैं, उनको तुम पशु जानो। हे राम ! आयु बिजली की चमक के समान है। जैसे बिजली की चमक तुरन्त मिट जाती है, वैसे ही आयु नष्ट हो जाती है। ऐसे शरीर को पाकर जो सुख की तृष्णा करते हैं, वे महामूर्ख हैं। हे राम ! यह सम्पूर्ण जगत्‌ आभासमात्र है। सत्य लगता है तो भी

इसको असत्य जानो जैसे स्वप्न की सृष्टि में कोई मृतक होता है, उसके बान्धव रुदन करते हैं और इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, परन्तु हुआ कुछ नहीं, सब भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस जगत् को भ्रममात्र जानो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थगीतावर्णनं नाम
द्विशताधिकैकोनषष्टितमस्सर्गः ।। २५९ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जगत् तो अनेक और असंख्य हुए हैं और आगे होंगे, पर उन जगतों की कथाओं से आपने मुझे उपदेश करके क्यों न जगाया ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये जो जगज्जाल के समूह हैं, उनमें जो पदार्थ हैं, वे सब शब्द-अर्थ से रहित हैं। और जब शब्द-अर्थ से रहित हुए तो कुछ न हुए। इसलिए व्यर्थ कहने का क्या प्रयोजन है। हे राम ! जब तुम विदितवेद और निर्मल त्रिकालदर्शी होगे, तब इन जगतों को स्वयं जानोगे। मैंने पहले भी तुमसे बहुत बार कहा है। बारम्बार वही वर्णन करने में पुनरुक्ति दोष होता है। परन्तु समझाने के लिए मैंने ऐसा किया है। जैसे एक सृष्टि को जाना, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टियों को जानो। जैसे अन्न के ढेर से एक मुट्ठी भर को देखकर जान लिया जाता है कि सब दाने ऐसे ही हैं, वैसे ही एक ही सृष्टि का यथार्थ स्वरूप जाना तो सब सृष्टियों को भी जान लिया। हे राम ! यह सब जगत् किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ। जिसमें कारण बिना पदार्थ भासित हो, उसे जानिये कि वही रूप है। सृष्टि के आदि में भी वही सत्ता थी; अन्त में भी वही होगी और मध्य में जो कुछ दिखता है, उसे भी वही रूप जानिये। स्वप्न के आदि में भी अपना निर्मल अनुभव होता है, स्वप्न के निवृत्त होने पर भी वही रहता है और स्वप्न के बीच जो पदार्थ भासित होता है, उसे भी वही जानिये। और वस्तु कुछ नहीं, अनुभवसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। जब तुम विदितवेद होगे, तब सब जगत् तुमको अपना रूप भासित होगा। हे राम! एक-एक अणु में अनेक सृष्टियाँ हैं। वे सब आकाशरूप हैं, कुछ हुई नहीं। इस पर एक आख्यान कहता हूँ, उसे सुनो। एक समय मैंने ब्रह्माजी को एकान्त में पाकर प्रश्न किया कि हे भगवन् ! ये

सृष्टियाँ कितनी हैं और किसमें हैं।

तब पितामह ने कहा, हे मुनीश्वर ! सब जगतों के सब शब्द-अर्थ ब्रह्मरूप हैं, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं। जो अज्ञानी हैं, उनको नाना प्रकार का जगत् दिखता है, और जो ज्ञानवान् हैं, उनको सब जगत् आत्मरूप भासित होता है। जिस प्रकार जगत् हुआ है, वह भी सुनो। हे राम ! ब्रह्मरूपी आकाश के सूक्ष्म अणु में स्फुरण हुआ कि 'अहमस्मि' (मैं हूँ)। तब उस अणु ने अपने को जीव जाना। जैसे अपने स्वप्न में अपने को जीव जाने और सर्वात्मा हो, वैसे ही चित् अणु सर्वात्मा अहंकार को अंगीकार करके अपने को जीव जानने लगा। उसमें जो निश्चय हो गया, वही बुद्धि हुई। जैसे वायु में स्फुरण होता है, वैसे ही उसमें संकल्प-विकल्परूपी स्फुरण हुआ। उसका नाम मन हुआ। तब मन के साथ मिलकर चित्अणु ने देह को चेता और अपने में देह और इन्द्रियाँ भासित होने लगीं। उसने अपने साथ शरीर देखा कि यह शरीर मेरा है। जैसे स्वप्न में अपने साथ कोई शरीर को देखे और बड़ा स्थूल देख पड़े, वैसे ही उसने अपने साथ स्थूल शरीर देखा। जैसे स्वप्न में सूक्ष्म अनुभव से बड़े पर्वत दिखते हैं, वैसे ही सूक्ष्म अणु से स्थूल विराट् शरीर भासित होने लगा। फिर देश-काल की कल्पना की, तब नाना प्रकार के स्थावर-जगंम प्राणी और विराट् भासित होने लगा। जैसे स्वप्न में दिखनेवाले देश, काल और पदार्थ कुछ नहीं हैं वैसे ही देश-काल पदार्थ भासित हुए, परन्तु हैं कुछ नहीं। जब चित्तसंवित् बहिर्मुख जगती है, तब नाना प्रकार का जगत् दिखता है, और जब अन्तर्मुख होती है, तब अवाच्यरूप हो जाती है। जैसे वायु चलने और ठहरने में एकरूप होती है, वैसे ही फुरने और न फुरने में संवित् एक तथा अभेद है।

हे राम ! सब जगत् आकाश में आकाशरूप अपने आपमें स्थित है और अणु-अणु प्रति सर्वदा सृष्टि है। परन्तु सब आभासमात्र है। जो चैत्य सम्बन्धी होकर जीव सृष्टि का अन्त ले तो सृष्टि अनन्त है। इसका अन्त कहीं नहीं आता। यह सृष्टि अविद्यारूप है। वह अविद्या ही चैत्य है। जब

जीव अविद्यासम्बन्धी होकर जगतों का अन्त देखेगा, तब अन्त कहीं न आवेगा। किन्तु संसरण का नाम संसार है। जब स्वरूप में स्थित होगे, तब सब जगत् ब्रह्मरूप हो जावेगा और जगत् की कल्पना कुछ न भासित होगी। हे राम ! इस जगत् के आदि में भी अद्वैतसत्ता थी, अन्त में भी अद्वैतसत्ता रहेगी और मध्य में जो कुछ दिखता है, उसको भी वही रूप जानो, और कुछ बना नहीं। यह जगत् अकारण है, अधिष्ठानसत्ता के अज्ञान से भासित होता है। इसी का नाम जगत् और इसी का नाम अविद्या है। अधिष्ठान को जानने का नाम विद्या है। हे राम ! न कोई अविद्या है और न जगत् है, ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। चाहे जगत् कहो और चाहे ब्रह्म कहो, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम
द्विशताधिकषष्टितमस्सर्गः ।। २६० ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह मैंने जाना कि जगत् अकारण है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर होता है, वैसे ही यह जगत् है। पर जो अकारण ही है तो अब यहाँ सब पदार्थ कारण से उपजते क्यों देख पड़ते हैं ? कारण बिना तो नहीं होते, फिर ये क्यों भासित होते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ब्रह्मसत्ता सर्वात्म है। उसमें जैसे निश्चय होता है, वैसा ही होकर दिखता है। पर क्या दिखता है ? अपना अनुभव ही ऐसे होकर दिखता है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही नाना प्रकार के पदार्थ होकर दिखता है, परन्तु उपजा कुछ नहीं, सब पदार्थ आकाशरूप हैं, वैसे ही यह जगत् कुछ उपजा नहीं, कारण से रहित आकाशरूप है। हे राम ! आदि सृष्टि अकारण हुई है; पीछे से सृष्टि में आभासरूप मन ने जैसा-जैसा निश्चय किया है, वैसा ही दिखता है, क्योंकि मन सर्वशक्तिरूप है। आदि-सृष्टि जो उपजती है, वह अकारणरूप है। पीछे से सृष्टिकाल में कारण-कार्यरूप हुए हैं। जैसे स्वप्न-सृष्टि आदि कारण बिना होती है और पीछे से कारण-कार्य दिखते हैं, पर वास्तव में न कोई आकाश है, न शून्य है, न अशून्य है, न सत्य है, न असत्य है, न असत्य सत्य के मध्य है, न नित्य है, न

अनित्य है, न परम है, न अपरम है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है। द्वैत कुछ नहीं, सब भ्रम है। हे राम ! ज्ञानवान् को सब शब्द और अर्थ ब्रह्मरूप भासित होते हैं। मुझको तो कारण-कार्य-भाव की कल्पना कुछ नहीं। जैसे सूर्य में अन्धकार का अभाव है, वैसे ही ज्ञानवान् के लिए कारण-कार्य का अभाव है। जो सब आत्मा ही है तो कारण या कार्य किसको कहिये ?

राम ने कहा, हे भगवन् ! मैं ज्ञानी की बात पूछता हूँ। उनको कारणकार्यभाव किस कारण नहीं भासित होता ? जो कारण-कार्य नहीं तो मृत्तिका और कुम्हार आदि द्वारा घटादिक क्योंकर उत्पन्न होते देख पड़ते हैं ? बताइए ज्ञानवान् को अकारण कैसे दिखता है और अज्ञानी को सकारण क्योंकर भासित होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! न कोई कारण है, न कार्य है और न कोई अज्ञानी है। मैं तुमसे क्या कहूँ ? जो ज्ञानवान् पुरुष है, उनके निश्चय में जगत् की कोई कल्पना नहीं फुरती। उनके निश्चय में तो जगत् है ही नहीं। तब ज्ञानी और अज्ञानी क्या ? हे राम ! आकाश में वृक्ष ही नहीं तो उसका वर्णन क्या कीजिये ! जैसे हिमालय पर्वत में अग्नि का कण नहीं पाया जाता, वैसे ही ज्ञानी के निश्चय में जगत् नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानी, कारण और कार्य, ये शब्द जगत् में होते हैं। पर जब जगत् ही नहीं उपजा तो कारण, कार्य, ज्ञानी और अज्ञानी तुमसे क्या कहूँ ? जैसे स्वप्न की सृष्टि सुषुप्ति में लीन हो जाती है और वहाँ शब्द और अर्थ कोई नहीं फुरता, वैसे ही ज्ञानवान् के निश्चय में जगत् ही नहीं फुरता हे राम ! मुझको तो सब ब्रह्म ही भासित होता है। मुझको कुछ कहना नहीं। परन्तु तुमने पूछा है, इसलिए अज्ञानी के निश्चय को अंगीकार करके कुछ कहता हूँ।

हे राम ! यह जगत् अकारण और आभासमात्र है; किसी आरम्भ और परिणाम से नहीं हुआ। जब पदार्थों का कारण विचारिये तो सबका अधिष्ठान ब्रह्म ही निकलता है। वह अद्वैत, अच्युत और सब इच्छाओं से रहित है। तब उसको कारण कैसे कहिये ? इससे जाना जाता है कि जगत् आभासमात्र है। और कुछ वस्तु नहीं, आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित

होती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अकारण होती है और उसमें अनेक पदार्थ दिखते हैं, पर उसका कारण विचारिये तो सबका अधिष्ठान अनुभव ही निकलता है। उसमें आरम्भ और परिणाम कुछ नहीं हुआ। सृष्टि अनुभवरूप भासित होती है। जो पुरुष स्वप्न देख रहा है, उसको स्वरूप के प्रमाद से कारण, कार्य, जगत् और पुण्य, पाप सब यथार्थ लगते हैं, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् दिखता है। हे राम ! आदि सृष्टि अकारण हुई है। पीछे सृष्टिकाल में कारण-कार्यरूप भासित होते हैं। जिसको अपना वास्तव स्वरूप स्मरण है, उसको अकारण दिखती है और जिस अज्ञानी को अपने वास्तव स्वरूप का प्रमाद है उसको कारण-कार्यरूप सृष्टि भासित होती है। हे राम ! वास्तव में एक ही अनुभव आत्मसत्ता है, परन्तु जैसा-जैसा अनुभव में संकल्प दृढ़ होता है, उसी की सिद्धि होती है, और जिसका तीव्र संवेग होता है, वही होकर दिखता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि कल्पवृक्ष के पदार्थ संकल्प की तीव्रता से प्रत्यक्ष होते हैं। तो उन्हें किसका कार्य कहिये ? यदि जगत् किसी कारण से उत्पन्न होता तो महाप्रलय में भी कुछ शेष रहता—जैसे अग्नि के पीछे राख रह जाती है, पर जगत् के पीछे तो कुछ नहीं रहता। जैसे स्वप्न की सृष्टि जागने पर कुछ नहीं रहती, वैसे ही महाप्रलय में जगत् का शेष कुछ नहीं रहता। इससे जाना जाता है कि यह जगत् आभासमात्र है।

जैसे ध्यान में ध्याता पुरुष किसी आकार को रचता है तो उसका कारण कोई नहीं होता, वह तो आकाशरूप है और अनुभवसत्ता ही फुरने से इस प्रकार होकर भासित होती है—आकार तो कोई नहीं, और जैसे गन्धर्वनगर कारण से रहित दिखता है, वैसे ही यह जगत् कारण बिना प्रकट हुआ है। न कोई पृथ्वी है, न कोई जल है। न तेज, वायु और आकाश है। सब आकाशरूप है। परन्तु संकल्प की दृढ़ता से पिण्डाकार भासित होते हैं। हे राम ! जब मनुष्य मर जाता है, तब शरीर यहीं भस्म हो जाता है, फिर जीव परलोक में अपने साथ शरीर देखता है और उस शरीर से स्वर्ग-नरक में सुख-दुःख भोगता है, तो उसका कारण कौन है ? उसका कारण कोई नहीं पाया जाता। केवल चेतनता में संकल्परूप वासना जो दृढ़ हुई है, उसी

के अनुसार शरीर भासित होता है और स्वर्ग-नरक में दुःख-सुख भासित होते हैं। और तो कुछ वस्तु नहीं। सब पदार्थ संकल्प के रचे हुए हैं। वे सब आत्मरूप हैं। जैसे आकाश, व्योम और शून्य एक ही वस्तु के नाम हैं, वैसे ही कोई जगत् कहो और कोई ब्रह्म कहो, इनमें भेद नहीं। फुरने का नाम जगत् है और न फुरने का नाम ब्रह्म है। जैसे वायु के चलने और ठहरने में भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म को संवेदन के फुरने और न फुरने में कुछ भेद नहीं। जो सम्यक्‌दर्शी हैं, उनको सब जगत् ब्रह्मस्वरूप दिखता है, इस कारण दोष किसी में नहीं रहता। और जो बड़ा कष्ट प्राप्त होता है। तो भी उन्हें खेद नहीं होता।

जैसे कोई पुरुष स्वप्न में युद्ध करता है और उसको अपना जाग्रत् स्वरूप स्मरण हो आता है, तो वह स्वप्न को स्वप्न जानता हुआ युद्ध करता है तो भी दुःख नहीं होता, वैसे ही जो पुरुष परमपद में जागा है, उसकी सब क्रियाएँ होती हैं, परन्तु वह अपने को अक्रिय जानता है। हे राम ! ज्ञानवान् की सब चेष्टाएँ होती हैं, परन्तु उसके निश्चय में क्रिया का अभिमान नहीं होता। जैसे नट सब स्वाँग भरता है, परन्तु अपने को स्वाँग से अलग और स्वाँग की क्रिया को असत्य जानता है, क्योंकि उसको अपना स्वरूप स्मरण रहता है, वैसे ही ज्ञानवान् सब क्रियाओं को असत्य जानता है। हे राम ! ये सब पदार्थ अजातजात हैं—उपजे नहीं। जैसे स्वप्न में पदार्थ दिखते हैं, परन्तु उपजे नहीं, अपना अनुभव ही इस प्रकार दिखता है, वैसे ही ये जगत् के पदार्थ भी अनुभवरूप जानो। हे राम ! बहुत शास्त्र और वेद मैं तुमको किसलिए सुनाऊँ और किसलिए पढ़ूँ ? वेदान्त शास्त्रों का सिद्धान्त यही है कि वासना से रहित हो। इसी का नाम मोक्ष है। वासनासहित का नाम बन्धन है। वासना किसकी कीजिए ? यह सब सृष्टि तो अकारण भ्रममात्र है। इसमें क्या आस्था बढ़ाइये ? ये विषय तो स्वप्न के पर्वत हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मगीतावर्णनन्नाम
द्विशताधिकैकषष्टितमस्सर्गः ।। २६१ ।।

श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन् ! सब जगतों में तीन प्रकार के पदार्थ हैं—एक अप्रत्यक्ष पदार्थ, दूसरे प्रत्यक्ष पदार्थ और तीसरे मध्यभावी। जैसे वायु अप्रत्यक्ष है, क्योंकि रूप से रहित है, परन्तु स्पर्श से प्रतीत होती है, इसलिये मध्यभावी प्रत्यक्ष है। अप्रत्यक्ष वह जो किसी को मिले नहीं। ऐसी यह संवित् अप्रत्यक्ष है। हे मुनीश्वर ! चन्द्रमा के मण्डल में भी यह संवेदन जाता है और फिर गिरता है और चित्त से चन्द्रमा को देखता है और फिर आता है, इससे जाना कि यह निराकार है; जो साकार होता तो चन्द्रमारूप हो जाता, फिर लौटकर न आता। जैसे जल में डाला हुआ जल फिर नहीं निकलता। इस कारण जानता हूँ कि यह अप्रत्यक्ष अर्थात् निराकार है। हे मुनीश्वर ! अज्ञानी का आशय लेकर मैं पूछता हूँ कि इस शरीर में जो प्राण आते-जाते हैं, वे कैसे आते-जाते हैं ? जो तुम कहो कि संवित्, जो ज्ञानशक्ति है, इस शरीर और प्राण को लिये फिरती है-जैसे मजदूर भार को लिये फिरता है—तो ऐसे कहना ठीक नहीं, क्योंकि संवित् अप्रत्यक्ष निराकार है। अप्रत्यक्ष साकार से नहीं मिलता। तब वह चेष्टा क्योंकर करे ? जो कहो कि निराकार संवित् ही चेष्टा कराती है, तो पुरुष की संवित् चाहती है कि पर्वत नृत्य करे, पर वह तो इसका चलाया नहीं चलता। और कहते हैं कि ये पदार्थ उठ आवें, परन्तु वे तो नहीं उठते, क्योंकि पदार्थ साकार हैं और वृत्ति निराकार है। इसका क्या उत्तर है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस शरीर में एक नाड़ी है। जब वह अवकाशरूपी होती है, तब उसमें से प्राणवायु निकलता है और जब संकोचरूप होती है, तब प्राणवायु भीतर आता है। जैसे लोहार की धौंकनी होती है, वैसे ही इसके भीतर पुरुषबल है, उसमें चेष्टा होती है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! धौंकनी भी तब चलती है जब उसके साथ बल का स्पर्श होता है, और स्पर्श तब होता है, जब प्रत्यक्ष वस्तु होती है। पर चेतनता तो निराकार है। उसको स्पर्श क्योंकर कहिये ? जो तुम कहो कि उसकी इच्छा ही से स्पर्श होता है, तो हे मुनीश्वर ! मैं चाहता हूँ कि मेरे सम्मुख जो वृक्ष है, वह गिर पड़े, पर वह तो नहीं गिरता, क्योंकि

इच्छा निराकार है। जो साकार से स्पर्श हो तब उसकी शक्ति से गिर पड़े। यदि इच्छा से ही चेष्टा होती है तो कर्मइन्द्रियाँ किसलिए हैं ? इच्छा ही से जगत् की चेष्टा हो ? यह भी संशय है कि एक के बहुत क्योंकर हो जाते हैं और बहुत का एक क्योंकर हो जाता है ? एक चैतन्य है, पर जब प्राण निकल जाते हैं, तब पाषाण और वृक्ष की नाईं जड़ हो जाता है। आत्मा तो सर्वव्यापी है, वह जड़ कैसे हो जाता है ? कोई पाषाण और वृक्षरूप जड़ है और कोई चेतन है। यह भेद एक आत्मा में कैसे हुआ ! वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम्हारे संशयरूपी वृक्षों को मैं वचनरूपी कुल्हाड़े से काटता हूँ। जिनको तुम प्रत्यक्ष साकार कहते हो, सो उनमें आकार कोई नहीं; सब निराकार हैं। वह शुद्ध आत्मा अद्वैतसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है—ये आकार कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्ननगर में जो आकार दिखते हैं, वे सब आकाश रूप निराकार हैं। वैसे ही ये आकार भी जो तुमको दिखते हैं, सब निराकार हैं। स्वप्न में जो पर्वत दिखते हैं, वे किसके आश्रय होते हैं और देहादिक दिखते हैं, वे किसके आश्रय हैं ? इसलिए वे कुछ बने नहीं, अनुभवसत्ता ही आकाररूप हो दिखती है। वैसे इसे भी जानो कि आकार कोई नहीं।

हे राम ! जब इन पदार्थों का कारण विचारिये तो कारण कोई नहीं निकलता, इसी से जाना जाता है कि आभासमात्र हैं, बने कुछ नहीं। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। आत्मसत्ता अद्वैत और परमशुद्ध है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं, तो मैं आकार क्या कहूँ और निराकार क्या कहूँ ? पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भी द्वैत कुछ नहीं, शुद्ध आत्मसत्ता ही इस प्रकार दिखती है। जैसे संकल्प के रचे पदार्थ अनुभवरूप होते हैं, वैसे ही ये सब पदार्थ अनुभवरूप हैं-अनुभव से भिन्न कुछ नहीं। इस पर एक आख्यान कहता हूँ। उसे मन लगाकर सुनो। हे राम ! पहले भी मैंने तुमसे कहा है, और अब भी प्रसंगवश कहता हूँ। एक समय एक सृष्टि में एक इन्द्र ब्राह्मण था जो मानो ब्रह्मा ही था। उसके दस पुत्र हुए, जो मानो दशों दिशा थे। कुछ काल में वह ब्राह्मण मृतक हुआ।

उसकी स्त्री पतिव्रता थी, इसलिए उसके प्राण भी छूट गये जैसे दिन के पीछे संध्या आ जाती है। तब उन पुत्रों ने यथाशास्त्रक्रम से उनकी क्रिया की और फिर एक पहाड़ की कन्दरा में पहुँचे और विचारने लगे कि किसी प्रकार हम ऊँचे पद को पावें। हे राम ! पहले मैंने तुमको सुनाया है कि प्रथम उन्होंने मण्डलेश्वर, चक्रवर्ती राजा और इन्द्रादिक के पद को पाने का विचार किया। फिर बड़े भाई ने निर्णय करके यही कहा कि सबसे ऊँचा ब्रह्माजी का पद है, जिनकी यह सब सृष्टि रची हुई है, इसलिए हम दसों ब्रह्मा हों। ऐसे विचार करके वे दसों पद्मासन लगाकर बैठे और यह निश्चय किया कि हम चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, और सब सृष्टि हमारी रची है। निदान वे ऐसे निश्चय हो गये, मानो पुतलियाँ लिखी हुई हैं। उन्हें खान-पान छोड़े मास, वर्ष और युग वर्ष व्यतीत हो गये, पर वे ज्यों के त्यों रहे, चलायमान न हुए। जैसे जल नीची जगह में जाता है, ऊँचे को नहीं जाता, वैसे ही उन्होंने अपना निश्चय न त्यागा और दृढ़ रहे। जब कुछ काल व्यतीत हुआ, तब उनके शरीर गिर पड़े और उनको पक्षी खा गये, पर उनकी जो ब्रह्मा की वासना से युक्त संवित् थी, उस वासना से दसों ब्रह्मा हो गये, और उनकी देश, काल, पदार्थ और नीति सहित दस ही सृष्टियाँ हो गईं। जैसे हमारी सृष्टि है, वैसे ही वे सृष्टियाँ हुईं।

हे राम ! वे सृष्टियाँ क्या हुई, आत्मा ही वस्तु हुई और तो कुछ नहीं; कुछ और हो तो कहूँ। इससे सृष्टि का और रूप कुछ नहीं, अपना अनुभव ही सृष्टिरूप भासित होता है और जो कुछ पदार्थ भासित होते हैं वे सब आत्मरूप हैं। हे राम ! जैसे हम ब्रह्म के संकल्प में रचे गये हैं, वैसे ही उन्होंने भी रच लिये, और वे भी इस प्रकार स्थित हो गये। इससे सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जो किसी कारण से जगत् बना होता तो जाना जाता कि कुछ हुआ है, पर इसका कारण कोई नहीं पाया जाता, इससे यह जगत् संकल्पमात्र और आभासमात्र है। इससे कहता हूँ कि सब ब्रह्म ही है, और कुछ वस्तु नहीं। पाषाण वृक्ष, जड़-चेतन जो कुछ पदार्थ दिखते हैं, वे सब ब्रह्मस्वरूप हैं। उससे भिन्न कुछ नहीं। हे राम ! महाभूत जो वृक्ष, पृथ्वी,

आकाश, पहाड़ आदि हैं, ये सब चिदाकाशरूप हैं-चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं। जैसे इन्द्र के पुत्र एक से अनेक हो गये, वैसे ही यह सृष्टि भी एक से अनेक हुई है और प्रलय में अनेक से एक हो जाती है। जैसे एक तुम स्वप्न में अनेक हो जाते हो और सुषुप्ति में अनेक से एक हो जाते हो, वैसे ही यह जगत् भी है। यह अकारण है। यदि इसे सकारण भी मानिये तो आत्मारूपी कुम्हार है, संकल्प चक्र है और अनुभव-चैतन्यरूपी घट उससे उपजते हैं। आभास भी वही है, कुछ दूसरी वस्तु नहीं। यह सब जगत् वही रूप है। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों को अपने अनुभव ही से सृष्टि प्रकट हो आई, और वह अनुभवरूप ही में दिखने लगीं, इससे और कुछ न हुई, वैसे ही इस सृष्टि को भी जानो।

हे राम ! घट, वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब चैतन्यरूप है—चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही घट, पहाड़, नदियाँ और पदार्थ होकर दिखता है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् अनुभव से भिन्न नहीं—ज्ञानी को सदा यही निश्चय रहता है। अब एक-अनेक का उत्तर सुनो। हे राम ! जैसे मनोराज्य में एक से अनेक हो जाते हैं और अनेक से एक हो जाता है, एवम् चैतन्य से जड़ हो जाता है, पर जड़ कोई पदार्थ नहीं भासित होता। सब पदार्थ चैतन्यरूप हैं। जहाँ अन्तःकरण प्रकट होता है वह चैतन्य भासित होता है, और जहाँ अन्तःकरण नहीं मिलता, वह जड़ दिखता है—चैतन्य का आभास अन्तःकरण में मिलता है, पर जब पुर्यष्टका निकल जाती है, तब जड़ दिखता है। यह अज्ञानी की दृष्टि कही है। पर मुझसे पूछा तो जिनको जड़ कहते हैं, जिनको चेतन कहते हैं, जिनको पहाड़, वृक्ष, पृथ्वी कहते हैं, वे सब ब्रह्मरूप हैं—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में कितने ही जड़ और कितने ही चेतन पदार्थ दिखते हैं, और नाना प्रकार के पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखते हैं, पर सब आत्मरूप हैं, भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मरूप है। इच्छा, अनिच्छा सब ब्रह्मरूप हैं। सब नामरूप आत्मा के हैं, और दूसरी

वस्तु कुछ नहीं। शून्य, अशून्य, सत्य, असत्य, सब आत्मा के नाम हैं-आत्मा से भिन्न कुछ नहीं।

हे राम ! मूर्ख जिसको जड़ कहते हैं, वह जड़ नहीं है। सब चैतन्यरूप हैं। सृष्टिकाल में जड़ ही हैं। वे संवेदन् में जड़रूप होकर रचित हुए हैं; वे चैतन्य में रचे हैं। जिसको अपने वास्तव स्वरूप का प्रमाद होता है, उसको ये जड़-चैतन्य भिन्न-भिन्न दिखते हैं, पर जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको एक ब्रह्मसत्ता ही दिखती है। हे राम ! यह जो मैंने तुमको उपदेश किया है, वह बारम्बार विचारने योग्य है। जो कोई इसको नित्य विचारता रहेगा, उसके दोष घटते जावेंगे और हृदय शुद्ध होगा। जो ब्रह्मविद्या को त्यागकर जगत् की ओर चित्त लगावेगा, उसके दोष बढ़ते जावेंगे। हे राम ! ज्यों-ज्यों जीव को ब्रह्मविचार उदय होता जावेगा, त्यों-त्यों दुःख नष्ट होते जावेंगे, जैसे ज्यों-ज्यों दिन का उदय होता है त्यों-त्यों तम नष्ट होता जाता है। विचार के त्यागने से दुःख बढ़ते जाते हैं। जो महापापी हैं, उनके पाप मेरे शास्त्र का अभ्यास न करने देंगे। उनको यह जगत् वज्रसार की नाईं दिखता है और संसारभ्रम कभी निवृत्त नहीं होता। मैं, तुम आदि यह सब जगत् आकाशरूप हैं। भाव-अभाव आदि सब शब्द ब्रह्मसत्ता के नाम हैं, जो परमशुद्ध, निरामय, अद्वैत और सदा अपने ही आपमें स्थित है। जितने पदार्थ उसमें भासित होते हैं, वे ऐसे हैं, जैसे शिला में शिल्पी जिन पुतलियों की कल्पना करता है, वे सब शिल्पी के चित्त में होती हैं। वैसे ही जगत् के पदार्थों की प्रतिभा जो सब मन में है, वह उसी का किञ्चनरूप है, कुछ भिन्न वस्तु नहीं। वह सदा अपने आपमें स्थित है और परम मौनरूप है। उसमें विकल्प कोई नहीं प्रवेश कर सकता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इन्द्राख्यानवर्णनं नाम
द्विशताधिकद्विषष्टितमस्सर्गः ।। २६२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब लोक चिन्मात्र हैं, इसी से शान्त और अद्वैतरूप हैं। अज्ञानी को भिन्न-भिन्न जगत् दिखता है और ज्ञानी को

सब निराकार और आकाशरूप है। आकार कुछ बने नहीं। आत्मसत्ता निराकार है, और वही परमशुद्धसत्ता इस प्रकार दिखती है। वह शान्तरूप, अनन्त और चिन्मात्र है। इन्द्रियाँ भी ज्ञानरूप हैं और हाड़, मांस, रुधिर, हाथ, पैर, शिर आदि सम्पूर्ण शरीर भी ज्ञानमात्र है-ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं-चिन्मात्र ही इस प्रकार भासित होता है। जैसे स्वप्न में शरीरादिक और पहाड़, नदियाँ और वृक्ष जो दिखते हैं, वे अपना ही अनुभव हैं, कुछ और नहीं बना, वैसे ही यह सब जगत् अनुभवरूप है। यह कारण से रहित कार्य दिखता है। तुम अपने अनुभव में जागकर देखो कि सब अनुभवरूप है। आकाश में आकाश भी आकाशरूप है। सत्य में सत्य है, भाव में भाव है। अभाव में अभाव है। सब आत्मरूप है, भिन्न कुछ नहीं। जो तुम कहो कि वस्तु कारण ही से उत्पन्न होती है सो सत्य होती है, परन्तु जगत् का कारण कहीं नहीं मिलता, इससे यह मिथ्या है, तो कारण भी इसका तब कहिये, जब यह कुछ वस्तु हो और कार्य भी तब कहिये, जब इसका कारण, सत्य हो। हे राम ! ब्रह्मसत्ता तो न किसी का समवाय कारण है और न किसी का निमित्त कारण। वह तो केवल अच्युत है। इसी से समवाय कारण नहीं। और अद्वैत है, इससे निमित्त कारण भी नहीं। वह तो सब इच्छाओं से रहित है। उसको किसका कारण कहिये ? और जब कारण नहीं, तो कार्य किसका हो ? इससे सब जगत् जो दिखता है, वह आभासमात्र है-उसी ब्रह्मसत्ता का नाम जगत् है।

जैसे निद्रा एक है, और उसके दो स्वरूप हैं-एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति। स्फुरणरूप का नाम स्वप्नस्फुरण है और न फुरने के रूप का नाम सुषुप्ति है। वैसे ही चैतन्य के भी दो स्वरूप हैं-स्फुरणरूप चैतन्य का नाम जगत् है और न फुरनेवाले रूप का नाम ब्रह्म है। जैसे एक ही वायु के चलना और ठहरना, दो पर्याय हैं-जब चलती है तब देखने में आती है और जब ठहरती है, तब अलक्ष्य हो जाती है और शब्द का विषय नहीं होती, वैसे ही स्फुरण-रहित ब्रह्मसत्ता में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। जब फुरती है, तब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, त्रिपुटीरूप होकर भासित होती है

और एक से अनेक रूप होकर भासित होती है, अनेक से एक रूप हैं। जैसे एक ही जल, नदी, नाला, तालाब आदि भिन्न-भिन्न संज्ञा पाता है और जब समुद्र में मिलता है तब एकरूप दिखता है, एवम् जैसे एक ही काल के दिन, मास, वर्ष, युग, कल्प, घड़ी मुहूर्त आदिक बहुत नाम होते हैं, परन्तु काल तो एक ही है; एक मृत्तिका की सेना के हाथी, घोड़े आदि बहुत नाम होते हैं, परन्तु मृत्तिका तो एक ही है; एक वृक्ष के फूल, फल, टास, पत्ते आदि भिन्न-भिन्न नाम होते हैं, परन्तु वृक्ष तो एक ही है, एक जल के तरंग बुलबुले, आवर्त, फेन आदि नाम होते हैं, परन्तु जल तो एक ही है; वैसे ही परमात्मा में जगत् अनेक नाम-रूप पाता है, परन्तु सदा एक ही रूप है। जैसे स्वप्न में एक ही अद्वैत अनुभवसत्ता होती है और उसमें भिन्न-भिन्न नामरूप भासित होते हैं, पर जब जागता है, तब अद्वैतरूप होता है, वैसे ही यह जगत् भी भिन्न-भिन्न नाम रूप से भासित होता है, परन्तु आत्मसत्ता एक ही है। हे राम ! जब तुम उसमें जागोगे, तब तुमको सब अपना अनुभव ही भासित होगा, जो केवल आत्मतत्त्वमात्र और अनन्य अनुभवरूप है। आत्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी जल के कण हैं, जैसे आकाश में नक्षत्र निकलते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् प्रकट होते हैं। तारे तो आकाश से भिन्न हैं, परन्तु जगत् आत्मा से भिन्न नहीं-जैसे जल से बूँद अभिन्न है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकत्रिषष्टितमस्सर्गः ।। २६३ ।।

श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् ! अन्धकार में जो पदार्थ होता है, वह ज्यों का त्यों क्यों नहीं दिखता, पर जब सूर्य का प्रकाश होता है, तब ज्यों का त्यों दिखता है, इसलिए कहता हूँ कि संशयरूपी तम के कारण जगत् ज्यों का त्यों नहीं दिखता। पर तुम्हारे वचनरूपी सूर्य के प्रकाश से जो पदार्थ सत्य है, उसे सम्यक्ज्ञान से जानूँगा। हे भगवन् ! पहले का एक इतिहास है, उसमें मुझको संशय है, उसे दूर कीजिये। एक समय मैं अध्ययनशाला में विपश्चित् पण्डित से अध्ययन करता था। वहाँ बहुत

ब्राह्मण बैठे थे कि एक ब्राह्मण विदितवेद, बहुत सुन्दर, वेदान्त सांख्य आदि शास्त्रों के अर्थ का ज्ञाता, बड़ा तपस्वी और ब्रह्म तेज से युक्त मानो दुर्वासा ब्राह्मण है-सभा में आकर परस्पर नमस्कार करके आसन पर बैठा। हम सबने उसको प्रणाम किया। उस समय वेदान्त, सांख्य, योग आदि शास्त्रों की चर्चा चल रही थी। परन्तु उसे देखकर सब चुप हो गये। तब मैं उससे बोला कि हे ब्राह्मण ! तुम बड़ी दूर से आये हो। तुमने किस परमार्थ के निमित्त इतना कष्ट उठाया और तुम कहाँ से आते हो, सो कहो। ब्राह्मण बोला, हे भगवन् ! जो कुछ वृत्तान्त है, सो मैं कहता हूँ। हे राम ! विदेहनगर का मैं ब्राह्मण हूँ-वहाँ मैंने जन्म लिया था। कुन्द के श्वेत फूलों के समान मेरे दाँत हैं, इस कारण मेरे माता-पिता ने मेरा नाम कुन्ददन्त रक्खा है। विदेह राजा जनक के नगर से मैं आया हूँ। वह नगर आकाश के स्वर्ग का प्रतिबिम्ब सा है। वहाँ रहनेवाले शान्तिमान् और निर्मल हैं। वहाँ मैं विद्या पढ़ने लगा। मेरा मन उद्विग्न हुआ कि यह संसार महाक्रूर बन्धन है, इसलिए किसी प्रकार इस बन्धन से छूटूँ।

हे राम ! ऐसा वैराग्य मुझको उत्पन्न हुआ कि किसी प्रकार शान्ति न हुई। तब मैं वहाँ से निकला और जो-जो शुभ स्थान थे, वहाँ विचरने लगा। सन्तों और ऋषियों के स्थान, ठाकुरद्वारे और तीर्थ आदि जो-जो पवित्र स्थान थे, उनका दर्शन किया। वहाँ से आते हुए एक पर्वत मिला। उस पर मैं चढ़ गया और एक उत्तम स्थान पर चिरकाल तक तप किया। फिर वहाँ से एकान्त के लिए चला तो आगे एक आश्चर्य देखा। वही कहता हूँ। हे राम ! मैं वहाँ से चला जाता था कि बड़ा श्याम वन दिखलाई दिया, जो मानों आकाश ही था। वह शून्य और तमरूप था। उस वन में एक वृक्ष मुझको देख पड़ा, जिसके कोमल पत्ते और सुन्दर टहनियाँ थीं। उसमें एक पुरुष लटकता था, जिसके पाँव में मूँज का रस्सा बँधा था। वह वृक्ष से बँधा हुआ था। उसका शीश नीचे, चरण ऊपर और दोनों हाथ छाती पर पड़े हुए थे। तब मैंने विचार किया कि यह मृतक होगा, इसको देखूँ। जब मैं निकट गया, तब उसमें श्वास आती-जाती देखी। उसका

शरीर युवा था। वह हृदय से सबका ज्ञाता और शीत, उष्ण, अँधेरी और वर्षा को सह रहा था। हे राम ! तब मैंने जाना कि यह तपस्वी है और इसकी शूरवीरता बड़ी है। निदान मैं उसके निकट बैठ गया, और उसके चरण जो बँधे हुए थे, उनको कुछ ढीला किया। फिर उससे मैंने कहा, हे साधु ! ऐसी कठिन क्रूर तपस्या तुम किसलिए करते हो ? अपना वृत्तान्त मुझसे कहो। उसने नेत्र खोल के कहा, हे साधु ! यह तप मैं अपनी किसी कामना के लिए करता हूँ, पर वह ऐसी कामना है कि जो तुम उसे सुनोगे तो हँसोगे।

हे राम ! जब इस प्रकार उसने कहा, तब मैंने कहा हे साधु ! मैं हँसी न करूँगा, तू अपना वृत्तान्त कह। जो कुछ तेरा कार्य हो, वह कह, मैं कर दूँगा। जब मैंने इस प्रकार बारम्बार कहा, तब उसने कहा कि मन को उद्वेग से रहित करके सुनो, मैं कहता हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ और मथुरा में मेरा जन्म हुआ है। वहाँ जब मेरी बाल अवस्था व्यतीत हुई और यौवन अवस्था का प्रारम्भ हुआ, तब मैंने वेदों और शास्त्रों को भली प्रकार जाना। पर एक वासना मुझे उदय हुई कि सबसे बड़ा सुख राजा भोगता है, इसलिए मैं राजा होकर सुख भोगूँ कि क्या सुख है, क्योंकि और सुख मैंने भोगे हैं। फिर विचार किया कि राज्य का सुख तो तब भोग सकता हूँ, जब राजा होऊँ, पर राजा क्योंकर हो जाऊँ ? राजा तब होता है जब तप करता है। इससे तप करूँ। हे साधु ! ऐसे विचारकर मैं तप करने लगा हूँ। द्वादशवर्ष मुझे तप करते व्यतीत हुए हैं, और आगे भी करूँगा। जब तक सप्तद्वीप का राज्य मुझको नहीं प्राप्त होता, तब तक मैं तप करूँगा। मैंने यही निश्चय किया है कि या तो मेरा शरीर ही नष्ट होगा अथवा सप्तद्वीप का राज्य ही मुझको प्राप्त होगा। यही मेरा निश्चय है, सो मैंने तुमसे कहा। अब जहाँ जाने की तुमको इच्छा हो, वहाँ जाओ। हे राम ! इस प्रकार कहकर उस तपस्वी ने फिर नेत्र मूँदकर चित्त स्थित करने को समाधि लगाई और इन्द्रियों से विषयों को त्याग कर मन निश्चल किया। तब मैंने उससे कहा कि हे मुनीश्वर ! मैं भी तुम्हारे पास बैठा हूँ, जब तक

तुम्हें वर की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मैं तुम्हारी सेवा-टहल करूँगा। मुझे तुम्हारे ऊपर दया आई है।

हे राम ! इस प्रकार उससे कहकर मैं उद्वेग से रहित छः महीने तक उसके पास बैठा रहा और उसकी रक्षा करता रहा। जब धूप आवे तो छाया करता था, आँधी और वर्षा में अपने शरीर को कष्ट देकर भी उसे बचाता था। निदान छः महीने बीते, तब सूर्य के मण्डल से एक पुरुष निकला, जो बड़ा तेजस्वी—जैसे विष्णु भगवान् का तेज था। वह मेरे निकट आया। उसे देखकर मैंने मन, वाणी और शरीर, तीनों से उसकी पूजा की। तब उस पुरुष ने कहा, हे तपस्वी ! अब इस तप को त्याग और जो कुछ इच्छा हो सो माँग। तेरी इच्छा तो यही है कि मैं सप्तद्वीपों का राजा होऊँ। सो तू सप्तद्वीप पृथ्वी का राजा और जन्म में होगा और सप्त सहस्रवर्ष तक राज्य करेगा। परन्तु यह और शरीर से होगा। हे राम ! इस प्रकार कहकर वह पुरुष सूर्य के मण्डल में अन्तर्धान हो गया। जैसे समुद्र से तरंग निकलकर लय हो जावे, वैसे ही वह लीन हुआ। तब मैंने उससे कहा, हे ब्राह्मण ! अब तुम क्यों कष्ट सहते हो ? जिस लिए तुम तप करते थे वह वर तो तुमको प्राप्त हुआ-अब क्यों कष्ट सहते हो ? हे राम ! जब इस प्रकार मैंने कहा कि सूर्य के मण्डल से निकलकर एक बड़ा तेजस्वी पुरुष तुमको वर दे गया है, तब उसने नेत्र खोल दिये। मैंने उसके चरणों से रस्सी खोल दी। उसका तेज उस समय बड़ा हो गया और उसके शरीर की कान्ति प्रकाशयुक्त हुई।

उस स्थान के निकट एक जल से रहित तालाब था, वह उसके पुण्य से जल पूर्ण हो गया। उसमें हम दोनों ने स्नान किया और मन्त्र पाठ करके संध्या की। फिर हम दोनों वृक्ष के नीचे आये। जो वृक्ष फल से रहित थे, वे उसकी पुण्यवासना से फल से पूर्ण हो गये। निदान उन फलों को हमने खाया और तीन दिन तक वहाँ रहकर फिर चले। तब वह बोला, हे साधु ! हम देश को जाते हैं। जब तक शरीर है; तब तक शरीर के स्वभाव भी हैं। फिर आगे एक वन आया, जिसमें बहुत सुन्दर फूल, फल

और बूटे लगे हुए थे और उन पर भौंरे विचरते थे, जल के प्रवाह बहते थे। कोयल, तोते, बगले आदि पक्षियों से युक्त वृक्ष हमने देखे। आगे फिर ताड़ के वृक्ष बहुत देखे। जो जो स्थान आये, उन्हें हम नाँघते गये। हे राम! इसी प्रकार हम राजसी, तामसी और सात्त्विकी, तीनों गुणों के रचे स्थानों को नाँघते-नाँघते मथुरानगर के मार्ग पर आये, जो सीधा था। पर उसको छोड़कर वह टेढ़े मार्ग को चला। तब मैंने कहा, हे साधु ! सीधे मार्ग को छोड़कर तू टेढ़े मार्ग से क्यों चलता है ? उसने कहा, हे साधु ! चला आ, इस मार्ग में भगवती गौरी का स्थान है। उनका दर्शन करते चलें। मेरे और सात भाई जो गौरी के स्थान पर इसी कामना को लेकर तप करते थे, उनकी भी सुध लें। हे राम ! जब हम उस मार्ग के सम्मुख चले, तब आगे एक महाशून्य वन आया, जो मानो शून्य आकाश था। वहाँ बड़ा अंधकार था। वहाँ वृक्ष, पशु, पक्षी और मनुष्य कोई न दिखता था। उस वन में पहुँचकर उसने मुझसे कहा, हे ब्राह्मण ! इस स्थान में मैं आगे छः मास रहा हूँ। मेरे सात भाई और थे। उन्होंने भी यही कामना करके देवी का तप आरम्भ किया था। चलो देखें। वह महापवित्र स्थान है, जिसके दर्शन से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। तब मैंने कहा, चलिये, पवित्र स्थान को अवश्य देखना चाहिए। हे राम ! ऐसे विचार कर हम चले और जाते-जाते मरुस्थल की तपी हुई पृथ्वी पर जा निकले। तब वह ब्राह्मण यह देखकर गिर पड़ा और कहने लगा कि "हा कष्ट-कष्ट ! हम कहाँ आ पड़े !" तब तो मुझको भी भ्रम हुआ कि यह क्या हुआ।

निदान वह फिर उठा। दोनों आगे गये तो एक वृक्ष हमको देख पड़ा। उसके नीचे एक तपस्वी ध्यान में बैठा था। हम उसके निकट गये और कहा, हे मुनीश्वर ! जागो, जागो। जब हमने बहुत बार कहा, तब उसने नेत्र खोलकर हमको देखा और कहा, तुम कौन हो ? ऐसे कहकर फिर कहा—बहुत आश्चर्य है कि यहाँ गौरी का स्थान था, वह कहाँ गया ? वृक्ष, बावलियाँ, कमल और सुन्दर स्थान और बड़े ऋषीश्वर और मुनीश्वरों के स्थान थे, वे कहाँ गये ? हे साधु ! यह क्या आश्चर्य हुआ,

सो तुम कहो ? तब हमने कहा, हे मुनीश्वर ! हम नहीं जानते, हम तो अभी आये हैं। इसको तो तुम्हीं जानो। तब उसने कहा—बड़ा आश्चर्य है। हे राम ! ऐसे कहकर वह फिर ध्यान में स्थित हो गया और व्यतीत वृत्तान्त को ध्यान करके देखने लगा। एक मुहूर्त पर्यन्त देखकर उसने फिर नेत्र खोलकर कहा कि बड़ा आश्चर्य हुआ है। तब हमने कहा, हे भगवन् ! जो कुछ वृत्तान्त हुआ है, सो कृपा करके हमसे कहो। तब तपस्वी ने कहा, हे साधु ! एक समय वागीश्वरी भवानी इस वन में आईं और उन्होंने रहने का एक स्थान बनाया, जिसमें वह शिव का अर्धशरीर गौरी रही। उस स्थान के निकट बहुत सुन्दर कल्पवृक्ष, तमालवृक्ष, कदम्बवृक्ष इत्यादि बहुत वृक्ष लगाये, कमलफूल आदि सब ऋतुओं के फूल लगाये और बावलियाँ और बगीचे अति रमणीय रचे, जिन पर कोयल, भौंरे, तोते, मोर, बगले आदि पक्षी विश्राम और शब्द करने लगे। उसके निकट इन्द्र के नन्दनवन सदृश ऋषीश्वरों, मुनीश्वरों और तपस्वियों की कुटियाँ थीं। निकट में गाँव की बस्ती बहुत हुई। हे साधु ! यहाँ आठ ब्राह्मण तप के लिए आये थे और वे छः महीने यहीं रहे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मगीतागौर्युद्यानवर्णनं नाम द्विशताधिकचतुःषष्टितमस्सर्गः ।। २६४ ।।

कदम्ब बोले, हे साधु ! मुझसे पूछो तो अपना वृत्तान्त मैं कहता हूँ। मैं मालव देश का राजा था और खेद से रहित मैंने चिरकाल तक विषयभोग भोगे। तब मुझको यह विचार आया कि यह संसार स्वप्नमात्र है। और इसको सत्य जानना मूर्खता है। इतनी मेरी आयु बीती, पर मैंने सुकृत कुछ न किया। ये विषयभोग आपातरमणीय और नाशवान् हैं। इनको मैं चिरकाल तक भोगता रहा हूँ, पर मुझको शान्ति न प्राप्त हुई—तृष्णा बढ़ती गई—इससे वही उपाय करूँ, जिससे मुझको शान्ति मिले और फिर दुखी न होऊँ। हे साधु ! जब यह विचार मुझको उदय हुआ, तब मैंने वैराग्य धारणकर राज्य की लक्ष्मी त्याग की और ऋषि और मुनियों के स्थान देखता इस कदम्बवृक्ष के नीचे आया। यहाँ आठ भाई

ब्राह्मण आये थे। उनमें से एक यह तो इसी पर्वत पर तप करने लगा था; दूसरा स्वामिकार्त्तिक के पर्वत पर तप करने गया; तीसरा काशी में तप करने लगा और चौथा हिमालय पर तप करने गया। चार भाई तो इस प्रकार चारों स्थानों को गये और चार भाई यहीं तप करने लगे। उन सबकी यही कामना थी कि हम पृथ्वी के सातों द्वीपों के राजा हों। हे साधु ! इसको तो सूर्य ने वर दिया है, और बाकी जो सात थे, उन्होंने वागीश्वरी भवानी का इष्ट करके तप किया। जब वह प्रसन्न हुईं और बोली कि वर माँगो, तब उन्होंने कहा कि हम सप्तद्वीप पृथ्वी के राजा हों।

निदान उन सातों ने एक ही वर माँगा। उनको वर देकर परमेश्वरी अन्तर्धान हो गईं। उन्होंने यह भी वर माँगा था कि यहाँ के निवासियों का स्थान भी हमारे पास हो। हे साधु ! इस वर को पाकर वे वहाँ से चले और अपने घर गये। वागीश्वरी वहाँ बारह वर्ष तक रहकर फिर उनकी मर्यादा थापने के लिए यहाँ से अन्तर्धान हो गईं, और यहाँ के निवासी भी सब जाते रहे। वागीश्वरी के जाने से यह स्थान शून्य हो गया। एक यह कदम्ब का वृक्ष रह गया है और मैं ध्यान में स्थित रहा हूँ। यह कदम्ब का वृक्ष वागीश्वरी ने अपने हाथ से लगाया था, इस कारण यह नष्ट नहीं हुआ और जर्जर भी नहीं हुआ। हे साधु ! और सब जीव यहाँ आकर अदृष्ट हो गये, इस कारण सब शुभ आचार न रहे। उन आठों भाइयों में सात आगे गये हैं और एक यह बैठा है। इसको भी घर जाना है। वहाँ सब इकट्ठे होंगे, जैसे अष्टवसु ब्रह्मपुरी में एकत्र हों।

हे साधु ! जब वे घर से तप करने के लिए निकले, तब उनकी स्त्रियों ने विचार किया कि हमारे भर्ता तो तप करने गये हैं, हम भी जाकर तप करें। इसलिए उन आठों ने तप आरम्भ किया और सौ सौ चन्द्रायणव्रत किये। तब उनका शरीर जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी जेठ आषाढ़ में कृश हो जाती है, वैसा ही हो गया। एक तो भर्ता का वियोग, दूसरे तप से वे कृश हो गईं। तब पार्वती वागीश्वरी प्रसन्न हुईं और बोलीं कि कुछ वर माँगो। जैसे मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होकर बोलता है, वैसे

ही वे प्रसन्न होकर बोलीं, हे देवताओं की ईश्वरी ! हम यह वर माँगती हूँ कि हमारे भर्ता अमर हों और जैसे तुम्हारा और शिव का संयोग है, वैसे ही हमारा और उनका हो। तब भवानी ने कहा, हे सुभद्रे ! इस शरीर से तो कोई अमर नहीं होता। आदि में जो सृष्टि हुई है, उसमें नीति हुई है कि शरीर से कोई अमर न रहेगा। जितना कुछ जगत् देखती हो, वह सब नाशवान् है। कोई पदार्थ स्थिर नहीं रहता। इसलिए और कुछ वर माँगो। तब ब्राह्मणियों ने कहा, हे देवि ! अच्छा, जो हमारे भर्ता मरें तो उनके जीव हमारे घर में रहें और उनकी संवित् बाहर न जाय, तब वागीश्वरी ने कहा, ऐसा ही होगा। उनके जीव तुम्हारे ही घर में रहेंगे और उनको जो लोकान्तर भासित होगा, उसके साथ ही तुम भी उनकी स्त्री होकर रहोगी। ऐसे कहकर वागीश्वरी अन्तर्धान हो गईं। कुन्ददन्त बोले, हे राम ! यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। तब मैंने कहा, हे मुनीश्वर ! यह तो तुमने बड़े आश्चर्य की कथा सुनाई कि आठों भाइयों ने एक ही वर पाया। उनको एक पृथ्वी में सातों द्वीपों का राज्य क्योंकर प्राप्त होगा ? हे राम ! जब इस प्रकार उससे मैंने पूछा, तब कदम्बतपा ने कहा, हे साधु ! यह क्या आश्चर्य है, और आश्चर्य सुनो।

हे ब्राह्मण ! जब ये आठों भाई तप के लिए घर से निकले तब इनके पिता-माता ने भी विचार किया कि हमारे पुत्र तो तप करने गये हैं, इसलिए हम भी उनके लिए जाकर तप करें, और उनकी स्त्रियों को अपने साथ लेकर तीर्थ और ठाकुरद्वारे दिखाते फिरें। निदान उन्होंने भी बैठकर तप किया और चन्द्रायणव्रत करके देवी को प्रसन्न किया। देवी से वर लेकर जब वे अपने घर को आने लगे, तब एक स्थान में दुर्वासा ऋषीश्वर बैठे थे, जिनके दुर्बल अंग और विभूति लगी थी और जटा खुली हुई थी। उनको देखकर वे पास से ही चले गये, पर उन्हें नमस्कार न किया। तब उन्होंने कहा, हे ब्राह्मण ! तुम क्यों दुष्ट स्वभाव से हमारे पास से चले गये और हमको नमस्कार भी न किया ? अब तुम्हारा वर निवृत्त होगा। जो

वर तुमको प्राप्त हुआ है वह न फलेगा, उसके विपरीत हो जावेगा। तब उन्होंने कहा, हे मुनीश्वर ! यह तुम कैसे कहते हो ? हमारे ऊपर क्षमा करो। ये ऐसे ही कह रहे थे कि वह अन्तर्धान हो गये और ब्राह्मण अपने घर में आये और शोकग्रस्त हुए। हे ब्राह्मण ! देखो, जब तक आत्मबोध से शून्य है, तब तक अनेक दुःख उपजेंगे; कई प्रकार के आश्चर्य भासित होंगे और सन्देह दूर न होगा। जब आत्मबोध होगा, तब कोई आश्चर्य न भासित होगा। हे ब्राह्मण ! यह सब चिदाकाश में मायामात्र ही रचना बनती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्राह्मणकथावर्णनं नाम
द्विशताधिकपञ्चषष्टितमस्सर्गः ।। २६५ ।।

कुन्ददन्त ने कहा, हे भगवन् ! मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ है। मुझे एक संशय उत्पन्न हुआ है, उसे निवृत्त कीजिये। तुमने कहा कि एक द्वीप में आठों इकट्ठे सप्तद्वीप के राजा होंगे। पर सातों द्वीप तो एक ही हैं, और राज्य करनेवाले आठ हैं, ये कैसे राज्य करेंगे ? और इन्होंने वर और शाप दोनों पाये हैं, ये इकट्ठे क्योंकर होंगे ? जैसे धूप और छाया, दिन और रात्रि इकट्ठे होने कठिन हैं, वैसे ही वर और शाप एक होने कठिन हैं। कदम्बतपा बोले, हे साधु ! जो कुछ इनका भविष्य है, वह मैं कहता हूँ। जब कुछ काल गृहस्थी में व्यतीत होगा, तब इनके शरीर छूट जावेंगे, और इनको कुटुम्बी जला देंगे। इनकी पुर्यष्टका अनुभव से मिली हुई है, इस कारण एक मूहूर्त तक इनको जड़ीभूत सुषुप्ति होगी। उसके बाद चेतनता जग आवेगी। तब शंख, चक्र, गदा, पद्म सहित चतुर्भुज विष्णु का रूप रखकर वरदान आवेंगे, और त्रिनेत्र, हाथ में त्रिशूल लिये और भृकुटी चढ़ाये क्रोधित सदाशिव का रूप धारण कर शाप आवेंगे।

वर कहेंगे कि हे शाप ! तुम क्यों आये हो ? अब तो हमारा समय है। जैसे एक ऋतु के समय में दूसरी ऋतु नहीं आती, वैसे ही तुम न आओ। तब शाप कहेंगे, हे वर ! तुम क्यों आये हो, अब तो हमारा समय है। जैसे एक ऋतु के होते दूसरी का आना नहीं होता, वैसे ही तुम्हारा

आना ठीक नहीं। तब वर कहेंगे, हे शाप ! तुम्हारा कर्ता ऋषि मनुष्य है, और हमारा कर्ता देवता। मनुष्य के देवता पूजनीय हैं, क्योंकि बड़े हैं, इससे तुम जाओ। जब इस प्रकार वर कहेंगे, तब शाप क्रोधित होंगे और मारने के लिए त्रिशूल हाथ में उठावेंगे, तब वर कहेंगे, हे शाप ! यदि तुम और हम लड़ेंगे तो पीछे किसी बड़े न्यायकर्ता के पास जावेंगे, जो हमारा न्याय चुका देगा। इससे प्रथम ही क्यों न जावें, तब शाप कहेंगे, हे वर ! जो कोई युक्तिसहित वचन कहता है, उसे सब कोई मानते हैं। तुमने अच्छा कहा, चलो। ऐसे चर्चा करके दोनों ब्रह्मपुरी में जावेंगे और ब्रह्माजी को प्रणाम करेंगे। फिर सब वृत्तान्त कहकर कहेंगे, हे देव ! हमारा न्याय करो। उन ब्राह्मणों को वर स्पर्श करे अथवा शाप स्पर्श करे ? तब ब्रह्माजी कहेंगे, हे साधु ! जिसका अभ्यास उनके भीतर दृढ़ हो, वह प्रवेश करे। तब वर के स्थान शाप जाकर ढूढ़ेंगे और शाप के स्थान वर जाकर ढूढ़ेंगे और ढूँढ़कर शाप आकर कहेंगे, हे स्वामी ! हमारी हार हुई और वरों की जय हुई, क्योंकि उनके भीतर वर ही स्थित हैं। जिसका अभ्यास हृदय में स्थित है, उसी की जय होती है। सो इनके भीतर वज्रसार की नाईं वर स्थित हैं। हे स्वामी ! हमारा आधिभौतिक शरीर कोई नहीं; हम तो संकल्परूप हैं। जिस संकल्प की दृढ़ता होती है, वही उदय होता है। वर का दातार्ता भी ज्ञानमात्र होता है; वर को लेता भी वही ज्ञानरूप है और वर को ग्रहण करनेवाला जानता है कि यह हमारा स्वामी है। उस संकल्प से वर का कर्ता देवता जानता है कि मैंने वर दिया है और ग्रहण करनेवाला जानता है कि मैंने वर लिया है। हे ईश्वर ! उसका जो वररूप संकल्प है, वह उसके निश्चय में दृढ़ हो जाता है। जिस संकल्प की संवित् से एकता होती है, वही प्रकट होती है। इसी प्रकार शाप भी है। परन्तु न कोई वर है, न शाप है। दोनों संकल्परूप हैं। जैसा संकल्प का अनुभव आकाश में दृढ़ होता है, वही भासित होता है। वर देने वाला भी अनुभवसत्ता है, और लेनेवाला भी आत्मसत्ता है। वही सत्ता वररूप होती है और वही सत्ता शापरूप होती है।

जिस संकल्प की दृढ़ता होती है, उसी का अनुभव होता है। हे स्वामी ! यह तुमसे सुना हुआ हम कहते हैं कि जीव को कोई बाहर का कर्म फलदायक नहीं होता, जो कुछ भीतर सार होता है, वही फल होता है। इनके भीतर तो वर का संकल्प दृढ़ है, और हमारा नहीं है। अब आपको हमारा नमस्कार है—अब हम जाते हैं।

हे कुन्ददन्त ! इस प्रकार शाप आधिभौतिक शरीर त्यागकर अन्तवाहक शरीर से अन्तर्धान हो जावेंगे। जैसे आकाश में भ्रम से तरुवर दिखें और सम्यक्ज्ञान से अन्तर्धान हो जावें, वैसे ही शाप अन्तर्धान हो जावेंगे। तब ब्रह्माजी कहेंगे, हे वर ! तुम शीघ्र उनके पास जाओ। तब वह वर और दूसरा वर, जो उनकी स्त्रियों ने पाया था कि उनकी पुर्यष्टका अन्तःपुर में रहे, फिर पूछेंगे, कि हे भगवन् ! हमको क्या आज्ञा है ? हमको तो उनको उसी मन्दिर में रखना है, उनको सप्तद्वीप पृथ्वी का राज्य भी भोगना है और दिग्विजय करना है। यह कैसे होगा ? तब ब्रह्माजी कहेंगे, हे साधु ! यह क्या है ? जो उन्हें सप्तद्वीप की पृथ्वी का राज्य करना है तो उनका तुम्हारे साथ कुछ विरोध नहीं। तुमको उसी मन्दिर में उनकी पुर्यष्टका रखनी है और वहीं राज्य भोग कराना है, इसलिए जो कुछ तुम्हारा स्वभाव है, वही करना। कुन्ददन्त ने पूछा, हे भगवन् ! इससे तो हमको यह बड़ा संशय उत्पन्न हुआ कि उसी मन्दिर में आठों भाई सप्तद्वीप पृथ्वी का राज्य कैसे करेंगे ? इतनी पृथ्वी उस मन्दिर में क्योंकर समायगी, यही आश्चर्य है ? जैसे कोई कहे कि कमल के फूल की कली में हाथी शयन करे, या उसमें हाथियों की पंक्ति है तो यह आश्चर्य होगा, वैसे ही यह भी आश्चर्य की बात है। ब्राह्मण बोले, हे साधु ! आकाश ब्रह्मरूपी है। उसके अणु का जो सूक्ष्म अणु है, उसमें जो स्वप्न जगा है, वह हमारा जगत् है। यदि स्वप्न में यह सृष्टि समा रही है, तो उस मन्दिर में उसका समाना क्या आश्चर्य है ?

हे साधु ! यह सब जगत् स्वप्नमात्र है, और अहंत्वं आदिक सब

जगत् स्वप्ननिद्रा में फुरता है। आत्मसत्ता सदा अद्वैत, परमशान्त और अनन्त है। उसमें जगत् आभासमात्र है, जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही सूक्ष्म से सूक्ष्म होता है, और उसमें त्रिलोकी भासित होती है। यदि सूक्ष्म संवित् में त्रिलोकी भासित होती है तो मन्दिर में उसका भासित होना क्या आश्चर्य है ? हे साधु ! जब यह पुरुष मर जाता है, तब इसकी सूक्ष्म पुर्यष्टका जड़ हो जाती है, और उसमें फिर त्रिलोकी जग आती है। तुम देखो कि यदि सूक्ष्म ही में भासित होती है और जो परमसूक्ष्म में सृष्टि बन जाती है तो मन्दिर में ऐसा होना क्या आश्चर्य है। हे साधु ! यह सब जगत् जो दिखता है, वह आत्मा में स्थित हैं, और उसका किञ्चन इस प्रकार भासित होता है। अब तुम जाओ, उनको राज्य भोग कराओ। हे कुन्ददन्त! जब इस प्रकार ब्रह्माजी कहेंगे, तब वर नमस्कार करके आधिभौतिक शरीर त्याग देंगे और अन्तवाहक शरीर से उनके हृदय में स्थित होंगे। जैसे एक शत्रु को दूर करके दूसरा स्थित हो वैसे ही शाप को दूर करके उनके हृदय में वर आकर स्थित हुए। तब उनको त्रिलोकी भासित होने लगी और पुर्यष्टका को अन्तःपुर में वर ने रोक छोड़ा। जैसे बाँध जल को रोकता है, वैसे ही उनकी पुर्यष्टका को वर ने रोका। हे कुन्ददन्त ! इस प्रकार उनको अपने अन्तःकरण में सृष्टि भासित हुई, और उन्होंने जाना कि हम सातों द्वीप के राजा हुए हैं। इस प्रकार आठों उस अन्तःपुर में सातों द्वीप पृथ्वी के राजा हुए, परन्तु परस्पर अज्ञात रहे। एक सप्तद्वीप का राजा हुआ और जम्बूद्वीप में जो उज्जैननगर है, वह उसकी राजधानी हुईं। दूसरा कुशद्वीप में रहने लगा। तीसरा क्रौंचद्वीप में रहने लगा। चौथा शाकद्वीप का राजा हुआ और उससे हरकारे कहने लगे कि पाताल के नाग बड़े दुष्ट हैं, उनको किसी प्रकार जीतो। तब वह समुद्र के मार्ग से पाताल में नागों को जीतने जावेगा और एक द्वीप में अपनी स्त्री से शान्त हो जावेगा। पाँचवाँ शाल्मलिद्वीप में स्थित होगा, जहाँ बड़ी प्रकाशयुक्त स्वर्ण की पृथ्वी है। वहाँ एक पर्वत होगा। उसके ऊपर एक तालाब होगा, जिसमें वह विद्याधरों के साथ क्रीड़ा करता फिरेगा। फिर दिग्विजय कर आवेगा।

उसकी प्रजा बड़ी धर्मात्मा और मानसी पीड़ा से रहित होगी। छठा गोमेदक नाम द्वीप में होगा। पुष्करद्वीपवाले से उसका युद्ध होगा। सातवाँ पुष्करद्वीप का राजा होगा जो गोमेदकवाले राजा से युद्ध करेगा। आठवाँ लोकालोक पर्वत का राजा होगा। हे कुन्ददन्त ! इस प्रकार वे अपने अन्तःपुर में सृष्टि देखेंगे और राज्य भोगेंगे; परन्तु उनकी सृष्टि परस्पर अदृश्य होगी। सबकी राजधानी भी मैंने तुमसे कही कि एक की जम्बूद्वीप के उज्जैननगर में, दूसरे की कुशद्वीप में, तीसरे की क्रौंचद्वीप में चौथे की शाकद्वीप में, पाँचवें की शाल्मलिद्वीप में, छठे की गोमेदकद्वीप में, सातवें की पुष्करद्वीप में और आठवें की लोकालोक पर्वत की स्वर्णमय पृथ्वी में होगी। हे साधु ! इस प्रकार उनका भविष्य होगा। वह सब मैंने तुमसे कहा। हृदय में जैसा निश्चय होता है, वैसा ही फल होता है। बाहर कैसी ही क्रिया करो और भीतर सत्ता नहीं, तो वह फलदायक नहीं होती, जैसे नट स्वाँग बनाकर चेष्टा करता है, परन्तु उसके भीतर उसका सद्भाव नहीं होता, इससे वह फलदायक नहीं होता। हे साधु ! हृदय में जैसा निश्चय होता है, वही वरदायक होता है, इसलिए परमार्थ का निश्चय करना चाहिए।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्राह्मणभविष्यवर्णनन्नाम
द्विशताधिकषट्षष्टितमस्सर्गः ।। २६६ ।।

कुन्ददन्त बोले, हे मुनीश्वर ! मुझको बड़ा संशय है कि उसी अन्तःपुर में अपने-अपने द्वीपों का राज्य वे क्योंकर करेंगे ? कदम्बतपा बोले, हे साधु ! यह सब जगत्, जो तुमको दिखता है, वह कुछ बना नही; शुद्ध चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है। उनको जो अन्तःपुर में अपनी-अपनी सृष्टि भासित होती, उसका क्या रूप होगा ? उनका जो अपना अनुभव है, वही सृष्टिरूप हो भासित होगा, आप ही सृष्टिरूप और आप ही राजा होंगे। यह जो कुछ जगत् तुमको दिखता है, वह भी परब्रह्म है, भिन्न कुछ नहीं। जैसे समुद्र में तरंग स्वाभाविक उठते हैं, वे जलरूप ही हैं और लीन होते हैं तो भी जलरूप ही हैं, जल से भिन्न नहीं। न कुछ उपजता है, न मिटता है। वैसे ही ब्रह्म में जगत् न उपजता है और न लीन

होता है। परब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। इससे वे ब्राह्मण भी अजरूप अपने आपको फुरने से जगत्‌रूप देखेंगे। हे साधु ! जब सुषुप्ति होती है, तब आप ही अद्वैत अनुभव होता है और फिर उसमें स्वप्न की सृष्टि प्रकट होती है। पर वही सुषुप्तिरूप है। वैसे ही परम सुषुप्तिरूप आत्मा है। जहाँ सुषुप्ति लीन हो जाती है और उसमें यह जगत् प्रकट होता है, सो सब वही रूप हैं। आधारआधेय से रहित ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। हे साधु ! जैसे एक ही मन्दिर में बहुत पुरुष शयन करें तो उनको अपने-अपने स्वप्न की सृष्टि दिखती है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, वैसे ही उनको अपनी-अपनी सृष्टि दिखेगी। तो इसमें आश्चर्य क्या है ? जो कुछ जगत् दिखता है, वह ब्रह्म में है, और ब्रह्मरूप ही अपने आपमें स्थित है।

कुन्ददन्त बोले, हे भगवन् ! आत्मसत्ता तो एक और केवल है—बल्कि उसको एक भी नहीं कह सकते—वह परम शान्तरूप, शिवपद और अद्वैतरूप है। तब नाना प्रकार की क्यों भासित होती है ? यह तो स्वभावसिद्ध है, तब नाना होकर वास्तव क्यों लगती है ? कदम्बतपा बोले, हे साधु ! यह सब शान्तरूप और चैतन्य आकाश है। नाना प्रकार की जो भासित होती है, सो और कोई नहीं, आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न सृष्टि दिखती है, सो कुछ बनी नहीं, अपना अनुभव ही सृष्टिरूप होकर दिखता है, वैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है। हे साधो ! सृष्टि के आदि में अद्वैत आत्मसत्ता थी, उसमें जो जगत् प्रकट हुआ, उसे भी तुम वही रूप जानो। जैसे समुद्र ही तरंगरूप होकर दिखता है, वैसे ही आत्मसत्ता सृष्टिरूप होकर भासित होती है। जैसे कोई खम्भे से रहित स्थान में सोया हो, उसको बहुत खम्भों से युक्त मन्दिर देख पड़े तो वहाँ बना तो कुछ नहीं,अनुभव आकाश ही खम्भरूप होकर दिखता है, वैसे ही जो कुछ जगत् तुमको दिखता है, वह अपना अनुभवरूप जानो। जैसे आकाश में शून्यता, अग्नि में उष्णता और बरफ में शीतलता है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। चाहे कोई जगत् कहो अथवा ब्रह्म कहो, ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं है। जैसे वृक्ष और तरु एक ही वस्तु के नाम हैं, वैसे

ही ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु के दो नाम हैं। इन्द्रियों और मन से अतीत आत्मा को ही जगत् जानो। और जो इन तीनों का विषय है, वह भी आत्मा को जानो। दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। नानारूप जो दिखता है, वह नानात्व नहीं हुआ—दूसरा नहीं दिखता। जैसे स्वप्न में बड़े आरम्भ दिखते हैं। और सेना तथा नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं, परन्तु कुछ हुए नहीं, वैसे ही यह जगत् नाना प्रकार दिखता है, परन्तु कुछ हुआ नहीं सब चिदाकाशरूप है। जैसे एक निद्रा की दो वृत्तियाँ हैं-एक स्वप्न और दूसरी सुषुप्ति-स्वप्न में नानात्व भासित होता है और सुषुप्ति में एक सत्ता होती है, वैसे ही चित्तसंवित् के फुरने में नानात्व दिखता है और न फुरने में एक है।

हे साधो ! वह तो सब काल में एकरूप है, परन्तु प्रमाद से भेद दिखता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपना ही अनुभवरूप है, परन्तु प्रमाद से भिन्न-भिन्न दिखती है, वैसे ही यह जगत् है। हमको तो सर्वदा वही भासित होता है। जैसे पत्ते, फूल, फल और टहनी एक ही वृक्ष के नाम हैं—जो वृक्ष का ज्ञाता है, उसको सब वृक्षरूप ही दिखते हैं—वैसे ही सब नामरूपों से हमको आत्मा ही दिखता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। आदि स्फुरण में जैसा निश्चय हुआ है, वह और निश्चय पर्यन्त वैसा ही रहता है। यह सब विश्व संकल्परूप है और संकल्प का अधिष्ठान ब्रह्म है—ब्रह्म ही संकल्परूप होकर भासित होता है। संकल्प से जगत् दिखता है, सो सब ब्रह्मरूप है। ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं—एक ही वस्तु के दो नाम हैं। जैसे वृक्ष और तरु दोनों एक वस्तु के दो नाम हैं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् दोनों एक चैतन्य के नाम हैं। हे साधो ! जो वाणी से अकथ है उसको ब्रह्म जानो और जो शब्द व वाणी में आता है, उसको भी तुम ब्रह्म जानो—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जो ज्ञानवान् है, उसको सब ब्रह्म ही दिखता है, पर अज्ञानी को नानात्व भासित होता है। जब अध्यात्म का अभ्यास करोगे, तब सब जगत् ब्रह्मरूप ही दिखेगा-इसी का नाम बोध है। हे साधो ! जगत् नाना प्रकार का होकर दिखाई देता है,

तो भी नानात्व कुछ नहीं। जैसे समुद्र में द्रवता से नाना प्रकार के तरंग बुलबुले और भँवर दिखते हैं, परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं वैसे ही जो पदार्थ दिखते हैं, वे सब आत्मरूप हैं। और जितने जीव बोलते दिखते हैं वे भी महा मौनरूप हैं, कुछ बने नहीं। चित्त के फुरने से नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं, परन्तु आत्मा से भिन्न कुछ नहीं—वही चिदाकाश ज्यों का त्यों स्थित है। जो कुछ आत्मा से भिन्न विद्यमान दिखता है, उसको अविद्यमान जानो। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि जितना जगत् भासित होता है वह सब स्वप्न का विलास है। जैसे नेत्रदोष से आकाश में तरुवर दिखते हैं, वैसे ही भ्रमदृष्टि से आत्मा में जगत् दिखता है—कुछ बना नहीं। जैसे सुषुप्ति में पुरुष सोया होता है, उसको फुरना नहीं फुरता और फिर उसी सुषुप्ति से स्वप्न की सृष्टि उपज आती है, सो वह बनी कुछ नहीं, वही सुषुप्तिरूप है, पर स्वप्न में स्थित पुरुष को सत्य लगता है, और जो अनुभव में जागा है उसको सुषुप्तिरूप है, वैसे ही इस जगत् को जानो।

आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जब जागकर देखोगे, तब सब चिन्मात्र ही भासित होगा, जो शान्तरूप, अनन्त और सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें जो जगत् दिखता है, वह सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं। सत्य इस कारण से नहीं कि आभासमात्र और नाशवान् है और असत्य इस कारण नहीं कि प्रकट दिखता है। पर वास्तव में आत्मसत्ता से भिन्न नहीं है। भाव, अभाव, सुख, दुःख, उदय, अस्त सब वही आत्मसत्ता इस प्रकार भासित होती है। जैसे एक ही निद्रा के स्वप्न और सुषुप्ति दो पर्याय हैं, वैसे ही जगत् और आत्मा, दोनों एक ही सत्ता के पर्याय हैं। जैसे एक ही वायु स्पन्दन और निस्पन्द दो रूप होती है, वैसे ही आत्मसत्ता के दोनों रूप हैं। जब संवेदन नहीं फुरता, तब अनिर्वचनीय होती है और जब अहंभाव को लेकर फुरती है, तब संकल्परूपी सृष्टि बन जाती है—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तत्त्व, नक्षत्र, चक्र, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, जल का नीचे चलना, अग्नि का ऊपर जाना, तारागण का प्रकाशमान होना आदि। पृथ्वी-स्थित भूत आदि स्थावर जंगमरूप सृष्टि अपने स्वभाव

सहित भासित होती है और शुभ-अशुभ कर्म होते हैं। उनमें सुख-दुःख फल की नीति होती है। परन्तु आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। जैसे तू मनोराज्य से स्वप्ननगर कल्पित कर ले और उसमें अनेक प्रकार की चेष्टा करे, तो जब तक संकल्प होता है, तब तक वही सृष्टि स्थित होती है और संकल्प मिट जाने पर सृष्टि लय हो जाती है। तो और वस्तु कुछ न हुई, तेरा अनुभव ही सृष्टिरूप होकर स्थित हुआ। वैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है, और कुछ नहीं।

कुन्ददन्त ने पूछा, हे तपस्वी ! संकल्प तो पूर्वस्मृति को लेकर फुरता है। ब्रह्मा में मनोराज्य संकल्प की सृष्टि किस संस्कार को लेकर फुरती है? यह संशय मेरा निवृत्त करो। कदम्बतपा बोले, हे साधु ! यह सम्पूर्ण सृष्टि किसी संस्कार से नहीं उत्पन्न हुई, भ्रम से भासित होती है। जैसे स्वप्न में यदि मनुष्य अपने को मृतक हुआ जानता है, तब उसको पूर्व के संस्कार की स्मृति तो नहीं होती, वह अपूर्व ही लगती है, वैसे ही ये पदार्थ जो तुझको दिखते हैं, सो अपूर्व हैं, किसी स्मृति से नहीं हुए। स्मृति और अनुभव तो जगत् ही में उत्पन्न हुए हैं, पर जब जगत् का फुरना न था तब स्मृति और अनुभव भी न थे। जब जगत् प्रगटा, तब ये भी प्रगटे हैं, इससे सम्पूर्ण जगत् अपूर्व है और भ्रम से भासित होता है। जैसे स्वप्न में मरा व्यक्ति किसी कुल में अपना जन्म देखे और उसको ऐसे जान पड़े कि कुल चिरकाल से चला आता है, पर जब जाग उठे, तब पूर्व जन्म किसको कहे और स्मृति किसकी करे ? न कहीं जन्म रहता है और न कुल रहता है। वैसे ही ज्ञानवान् को यह जगत् आकाशरूप दिखता है। तब मैं तुझको पूर्व की स्मृति क्या कहूँ ? हे ब्राह्मण ! और कुछ बना नहीं, आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है। जिससे यह सब जगत् हुआ है, जिसमें यह सब है और जो सब है, वही सर्वात्मा है। जो वही है तो दूसरा किसको कहूँ ? इससे यह जानकर तुम विचारो, तब सब दुःख तुम्हारे नष्ट होंगे। हे साधु ! कर्ता, कर्म, करण संप्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक ब्रह्मरूप हैं। कर्ता कर्म के करनेवाले को कहते हैं। कर्म करने की

संज्ञा है। कारण क्रिया का साधक है। सम्प्रदान जिस निमित्त हो। अपादान जिससे लय कीजिये और अधिकरण जिसमें कीजिये।

हे साधु ! ये छः कारक ब्रह्मरूप हैं। विश्व का कर्ता भी ब्रह्म है; विश्वकर्मा भी ब्रह्म है; विश्व का साधक भी ब्रह्म है; जिसके निमित्त यह विश्व है, वह भी ब्रह्म है और जिसमें यह विश्व होता है वह भी ब्रह्म है। ऐसे सर्वात्मा को नमस्कार है। उस सर्वात्मा को ऐसे जानना ही उसकी परम पूजा है। ऐसे ही तुम भी पूजन करो। हे साधु ! अब तुम जाओ और अपने मनोवाञ्छित में विचरो। तुम्हारे बान्धव तुम्हारी राह देखते होंगे। उनके पास जावो—जैसे कमल के पास भ्रमर जाते हैं-और मैं भी समाधि में स्थित होता हूँ। जो कुछ गुह्य बात है वह भी मैं कहता हूँ। जिससे कोई सुख पाता है, वही करता है। मुझको तो जगत् दुःखदायक देख पड़ता है, इस कारण मैं समाधि में लगता हूँ। हे साधु ! यद्यपि मुझे सब अवस्था तुल्य हैं; तो भी चित्त की वृत्ति जो संसार के कष्ट से दुःखित होकर आत्मपद में स्थित हुई है, उस स्थिति के सुख के संस्कार से वह फिर उसी ओर दौड़ती है। अब तुम जाओ मैं समाधि में स्थित होता हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कुन्ददन्तोपदेशो नाम
द्विशताधिकसप्तषष्टितमस्सर्गः ।। २६७ ।।

कुन्ददन्त बोले, हे राम ! इस प्रकार कहकर वह फिर समाधि में लगा और मन तथा इन्द्रियों की क्रिया से रहित हुआ-मानो कागज पर मूर्ति लिखी हो। तब फिर हम उसे बहुत जगाते रहे और बड़े शब्द किये, परन्तु वह न जागा। निदान हम वहाँ से चले और उस ब्राह्मण के घर आये तो उसके घर में बड़ा उत्साह हुआ। यथासमय क्रम से वे सातों भाई मर गये, पर आठवाँ मेरा मित्र जीता रहा। वह भी कुछ दिन में मृतक हो गया। तब मुझे बहुत शोक हुआ कि मेरा प्रियतम भी मर गया, अब मैं क्या करूँ। हे राम ! तब मैंने विचार किया कि फिर मैं कदम्बतपा के पास जाऊँ तो मेरा दुःख नष्ट होगा। निदान मैं वहाँ गया और तीन मास पर्यन्त उसके पास रहा। उसको मैं जगाता रहा, परन्तु वह न जागा। पर जब तीन मास

हो चुके, तब वह जागा। मैंने उसको प्रणाम करके कहा, हे मुनीश्वर ! वे तो अपने-अपने राज्य को भोगने लगे और मैं अकेला कष्ट पा रहा हूँ। इससे मेरा दुःख तुम नष्ट करो-मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। कदम्बतपा बोले, हे साधु ! मेरे उपदेश से तुझको स्वरूप का साक्षात्कार न होगा; क्योंकि तुझको अभ्यास नहीं है। अभ्यास के बिना स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। इससे मेरा कहना भी व्यर्थ होगा। मैं दुःख नष्ट होने का एक उपाय तुझसे कहता हूँ, उससे तू मेरे समान दुःख से रहित होकर अनन्त आत्मा होगा। हे साधु ! अयोध्यानगरी के राजा दशरथ के गृह में रामजी पुत्र हुए हैं, जिनको वशिष्ठजी बड़ी सभा में मोक्ष उपाय का उपदेश करेंगे। वहाँ तू जा तो तुझको भी स्वरूप की प्राप्ति होगी—संशय मत कर। हे राम ! जब इस प्रकार उस तपस्वी ने मुझसे कहा, तब मैं वहाँ से चलकर तुम्हारे पास आया हूँ। जो कुछ तुमने पूछा था सो सब वृत्तान्त मैंने कहा और जो कुछ देखा था वह भी कहा। राम बोले, हे वशिष्ठजी ! जो वृत्तान्त मैंने उससे सुना था, वह प्रभु के आगे कहा। वह कुन्ददन्त भी आपके पास बैठा है। अब इससे पूछिये कि स्वरूप की प्राप्ति हुई अथवा नहीं हुई।

वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब इस प्रकार राम ने कहा, तब मुनिशार्दूल वशिष्ठजी कुन्ददन्त की ओर कृपादृष्टि करके बोले, हे ब्राह्मण ! यह जो मैंने मोक्ष का उपाय सम्पूर्ण कहा है, उसको सुनकर तूने क्या जाना ? कुन्ददन्त बोले, हे सब संशयों के निवृत्त करनेवाले ! तुम्हारे वचनरूपी प्रकाश से मेरे अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश हुआ है। जो कुछ जानने योग्य पद है वह मैंने जाना और जो कुछ पाने योग्य था वह मैंने पाया। अब मैं अपने स्वभाव में स्थित हुआ हूँ और मुझको कोई कल्पना नहीं रही। मैं अनन्त आत्मा, नित्य, शुद्ध, अच्युत, परमानन्द स्वरूप हूँ—सब जगत् मेरा ही स्वरूप है। हे भगवन् ! अन्तःपुर में इतनी सृष्टि के समा जाने का जो संशय मुझे था, वह तुम्हारे वचनों से दूर हुआ और अब एक-एक राई में मुझको

ब्रह्माण्ड भासित होते हैं और आत्मत्वभाव से दिखाई देते हैं। जैसे अनेक दर्पणों में अपना मुख ही दिखता है, वैसे ही मुझको सब ओर अपना आप ही भासता है। हे भगवन्! तुम्हारे वचन मैंने आदि से अन्त तक सब सुने हैं, जो परम पावन, सार का परमसार और आत्मबोध का कारण हैं उनको विचारने से मेरी भ्रान्ति निवृत्त हो गई। अब मैं अपने आप में स्थित हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कुन्ददन्तविश्रामप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकाष्टषष्टितमस्सर्गः।। २६८ ।।

वाल्मीकिजी बोले, जब इस प्रकार कुन्ददन्त ने कहा, तब वशिष्ठजी परमपद पाने का कारण परम उचित वचन फिर कहने लगे कि हे राम! अब कुन्ददन्त ने आत्म-अनुभव में विश्राम पाया है। इसको अब हस्तामलकवत् अपना आप अनुभवरूप जगत् भासित हो रहा है। आत्मा ही दृश्यरूप होकर दिखता है आत्मा ही द्रष्टारूप है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं। अपना अनुभव ही जगत्रूप होकर दिखता है। वह अनुभव आकाश-सम शान्तरूप, अनन्त और अखण्ड सदा ज्यों का त्यों है। हे साधु! वह नानारूप दिखता है परन्तु नाना नहीं है। वह सदा ज्यों का त्यों अचैत्य चिन्मात्र परमशून्य है, जिसमें शून्य भी शून्य हो जाता है। और चेत दृश्यरूप स्फुरण से रहित है, इसी कारण परमशून्य है। बोलता दिखता है, परन्तु परममौन है। हे राम! उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न में पहाड़ दिखते हैं, सो न सत्य हैं और न असत्य वैसे ही यह जगत् सत्य-असत्य से विलक्षण है, क्योंकि कुछ बना नहीं—जो कुछ दिखता है सो आत्मा है। जैसे रत्नों का प्रकाश चमक होती है, वैसे ही आत्मा का प्रकाश जगत् है। और जैसे समुद्र द्रवता से तरंगरूप होकर दिखता है, वैसे ही ब्रह्म संवेदन से जगत्रूप होकर भासित होता है। आदि में जो स्पन्दन फुर आई है, वही जगत्रूप होकर स्थित है। पर आत्मा कार्य-कारण भाव से रहित है। जिसको प्रमाद है, उसको यह कार्य-कारणभाव सहित भासित होता है और उसके लिए वैसा ही है। पर जो सत्य जानकर पाप करते हैं,

उनके बड़े पाप उदय होते हैं। वे पहले स्थावररूप होकर फिर जंगम मनुष्य होते हैं। हे राम ! इस प्रकार यह ज्ञानसंवित् चैत्यसम्बन्धी होकर नाना प्रकार के रूप धारण करती है और प्रमाद से भिन्न-भिन्न भासित होती है, परन्तु स्वरूप से कुछ और नहीं होती, सदा अखण्डरूप है। जब तक प्रमाद होता है, तब तक जगत् का आदि और अन्त नहीं दिखता, जब प्रमाद से जागता है तब सब कल्पना मिट जाती है।

हे राम ! यह सब जगत् जो दिखता है, वह कुछ बना नहीं, वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जब जाग्रत् अवस्था का अभाव होता है और सुषुप्ति आती है तब उसमें न शुभ की कल्पना रहती है और न अशुभ की। उदय-अस्त की कल्पना से रहित केवल अद्वैतसत्ता रहती है। और जब फिर उसमें चैतन्य फुरता है तब फिर स्वप्न की सृष्टि भासित होती है। कहीं स्थावर जंगम सृष्टि दिखती है। जिसमें संवेदन फुरता भासित होता है, वह जंगम कहाता है, और जिसमें संवेदन का फुरना नहीं भासित होता वह स्थावर कहाता है। परन्तु और कुछ नहीं, वही अद्वैत अनुभवसत्ता स्थावर-जंगम होकर भासित होती है। वैसे ही आत्मा का अनुभव यह जगत् भासित होता है। हे राम ! सृष्टि के आदि में परम सुषुप्तिसत्ता थी। उसमें संवेदन फुरने से जगत् प्रकट हुआ। यह वही संवेदनरूप जगत् है और जिस आत्मसत्ता में प्रकट हुआ है वही रूप है, भिन्न कुछ नहीं। जैसे हाथ, पाँव, नख, केशादिक सब अंग शरीररूप हैं, वैसे ही यह स्थावरजंगम सृष्टि परमात्मा के अंग हस्त पदादिक हैं। रोम सृष्टि और नख केशादिक स्थावर सृष्टि सब आत्मरूप है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं बनी। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभवरूप और संकल्पपुर की रची सृष्टि संकल्परूप होती है, वैसे ही यह सृष्टि अनुभवरूप है, और किसी कारण से नहीं उपजी-इससे ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म के सूक्ष्म अणु में सृष्टि उपजी है, सो उसका क्या रूप है ? ब्रह्म ही सृष्टि है और सृष्टि ही ब्रह्म है-ब्रह्म और जगत् में भेद कुछ नहीं। परन्तु अज्ञाननिद्रा से भिन्न-भिन्न भासित होता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! निद्रा का कितना प्रमाण है और कितने काल तक वह रहती है ? सूक्ष्म अणु में सृष्टि कैसी उपजी है और कैसे स्थित है ? अणु में उसकी क्यों संज्ञा है और अनन्त क्योंकर है ? देवता असुरादिकरूप जिसे प्राप्त हुआ है वह चित्त क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अज्ञान-निद्रा अपने काल में तो अनादि है और नहीं जानी जाती कि कब हुई है और अन्त भी नहीं जाना जाता कि कब तक रहेगी। अज्ञानकाल में तो इसका आदि-अन्त प्रमाण कुछ नहीं भासित होता, पर बोध में इसका अत्यन्ताभाव दीखता है। चित्तसत्ता की जो अनन्तता पूछो तो वह तो अद्वैत चिन्मात्र आत्मसमुद्र है। उसमें सूक्ष्मभाव 'अहंमस्मि' की जो संवित् फुरती है, उसका नाम चित्त है। उस चित्त ही में आगे चलकर जगत् होता है। शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन चित्त फुरता है। उसमें यह जगत् है। वही चित्सत्ता देवता, असुर और जंगमरूप होकर भासित होती है। वही नाग, पिशाच, कीटादिक स्थावर-जंगमरूप दिखता है। वास्तव में चैतन्यसत्ता ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। सब चिदाकाशरूप है, फुरने से नाना प्रकार का दिखता है।

हे राम ! परम शुद्ध चित्अणु से मिलकर चित्त अनेक ब्रह्माण्ड धारण करता है और उस सूक्ष्म अणु में अनन्त ब्रह्माण्ड फुरते हैं, परन्तु वे उससे भिन्न नहीं है। जैसे एक पुरुष शयन करता है तो उसको स्वप्न में अनेक जीव दिखते हैं और उन जीवों में अपने-अपने स्वप्न की सृष्टि फुरती है। तब अनेक सृष्टियाँ हो जाती हैं, वैसे ही सूक्ष्म चित्अणु में अनन्त सृष्टियाँ फुरती है, परन्तु आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं बना। जैसे सूर्य की किरणों में अनन्त सूक्ष्म त्रसरेणु होते हैं, वैसे ही परमात्मसूर्य के चित्अणु सूक्ष्म हैं। इस त्रसरेणु से भी सूक्ष्म चित्अणु में जीवों को अपनी-अपनी अनन्त सृष्टियाँ फुरती हैं। हे राम ! जब तक चित्त फुरता रहता है, तब तक सृष्टियों का अन्त नहीं आता। असंख्य जगत् भ्रम आगे देखे हैं और असंख्य ही आगे देखेंगे। जब चित्त फुरने से रहित होता है, तब जगत् की कल्पना मिट जाती है। जैसे स्वप्न में सृष्टि दिखती है और बड़े व्यवहार होते हैं, पर जब प्राणी जाग

उठता है, तब स्वप्न की सृष्टि व्यवहार की कल्पना मिट जाती है और अपना अद्वैत आप ही भासित होता है, वैसे ही चित्त के ठहरने से सब भ्रम मिट जाता है। हे राम ! सूक्ष्म चित्अणु की भी संज्ञा तब हुई है, जब इसको चित्त का सम्बन्ध हुआ है। जब चित्त को अपने स्वभाव में स्थित करोगे, तब द्वैतकल्पना और सूक्ष्म स्थूलभाव मिट जावेंगे। इसकी सूक्ष्म संज्ञा अविद्यक भाव से है, जो इन्द्रियों का विषय नहीं। इससे अणुता है। यह जीव सूक्ष्म अणु में भी व्यापा हुआ है, इससे सूक्ष्म अणु कहाता है। और अनन्तता इस कारण है कि सबको धारण कर रहा है।

हे राम ! यह जगत् अभावमात्र है। जैसे मरुस्थल में जलाभास होता है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। जब यह जगत् ही नहीं है, तो इसका कारण किसे कहिये ? आदि-सृष्टि बिना कारण के उपजी है और फिर उसमें कारण-कार्य भासित होने लगे हैं, सो आभास की दृढ़ता से ऐसा हुआ है। जैसे बिना कारण के स्वप्न में आदि-सृष्टि बीज, वृक्ष, कुम्हार, मिट्टी और घट इकट्ठे प्रकट हो आते हैं। जब उस स्वप्न की दृढ़ता हो जाती है, तब कारण और कार्य भासित होते हैं, परन्तु जो सोया पड़ा है, उसको दृढ़ रूप से भासित होते हैं, वैसे ही अज्ञानी को जगत् का कार्य-कारण दृढ़ भासित होता है और ज्ञानवान् को सब अपना रूप ही दिखता है। जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न की सृष्टि अपना रूप ही दिखती है कि मैं ही था और कुछ न था, वैसे ही ज्ञानवान् को सब जगत् आकाशरूप दिखता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष, नदी आदि सब स्थावर-जंगम जगत् आकाशरूप है और संवेदन के फुरने से देख पड़ता है, वास्तव में भिन्न कुछ नहीं है। हे राम ! यह जगत् चित्त में स्थित है। जैसे किसी पुरुष ने खम्भे में पुतलियों की कल्पना की तो उन पुतलियों के दो रूप होते हैं, एक शिल्पी के चित्त में फुरती हैं सो आकाशरूप हैं और एक खम्भें में कल्पित हैं, वे स्तम्भरूप हैं, पर शिल्पी के चित्त में नृत्य करती हैं। हे राम ! और तो कुछ नहीं बना, सब स्तंभरूप हैं और शिल्पी के चित्त में कल्पनामात्र हैं। वैसे

ही चित्तरूपी शिल्पी की जगत्‌रूपी पुतलियाँ कल्पना मात्र हैं। पर आत्मरूपी खम्भा ज्यों का त्यों है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे पट के ऊपर मूर्ति लिखी हो तो उस मूर्ति का रूप पट ही है—पट से भिन्न कुछ नहीं—वह पट ही मूर्तिरूप दिखता है, वैसे ही यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं—आत्मा ही जगत्‌रूप होकर भासित होता है। आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं—जैसे ब्रह्म आकाशरूप है वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है। जगत् आधार है और उसमें ब्रह्म बसनेवाला है। वैसे ही ब्रह्म आधार है और उसमें जगत् बसनेवाला है।

हे राम ! जगत् में जितने विद्या और अविद्यारूप समूह हैं, वे सब संकल्प से रचित हैं और वास्तव में सब आत्मरूप हैं। समता, सत्ता और निर्विकारता आदि और इनसे विपरीत अविद्यारूप सब एक ही रूप हैं। सब एक ही में फुरते हैं और एक ही रूप हैं। जैसे अनुभवरूप स्वप्न-जगत् अनुभव में स्थित होता है सो सब आत्मरूप होता है, वैसे ही यह सब जगत् ब्रह्मरूप है-ब्रह्म से भिन्न न कुछ वर की कल्पना है और न शाप की कल्पना है। ब्रह्मसत्ता निर्विकार अपने आपमें स्थित है। उसमें न कारण है, न कार्य। जैसे तालाब, नदी और मेघ जल ही होते हैं, वैसे ही सब ब्रह्मरूप है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! वर और शाप के कर्ता तो परिच्छिन्न हैं और कारण बिना तो कार्य नहीं बनता। तब तुम कैसे कहते हो कि कारण-कार्य कोई नहीं? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शुद्ध आत्मसत्ता चिदाकाश का किञ्चन जगत् होता है। जैसे समुद्र में तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मसत्ता में जगत् प्रकट होते हैं। और जैसे तरंग जल रूप होते हैं, वैसे ही जगत् आत्मरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे आदि में परमात्मा से सृष्टि का स्फुरण हुआ है, वैसे ही स्थित है अन्यथा नहीं होता। सब जगत् संकल्प है। अनेक प्रकार की वासना संवेदन में फुरती हैं, पर जिनको स्वरूप का विस्मरण हुआ है, उनको यह जगत् सत्यरूप दिखता है। जो उनको विचार उत्पन्न हो तो वही काम है, जिस काल में विचार उत्पन्न होता है और उसी काल में अज्ञाननिद्रा का अभाव होता है। हे राम ! जब विचार अभ्यास करके मन

तद्रूप होता है, तब यथाभूत दर्शन होता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपना ही रूप भासित होता है, क्योंकि वह अपने आपमें स्थित है। सबके अधिष्ठान आत्मसत्ता में अहंप्रतीति होती है, इस कारण अपने आपमें सृष्टि भासित होती है। जैसे स्पन्दन फुरते हैं, वैसे ही उनकी सिद्धि होती है। पहले निरावरण-दृष्टि होती है, निरावरण-दृष्टि से सब संकल्प सिद्ध होते हैं, क्योंकि यह सब जगत् आत्मा में संकल्प का रचा हुआ है और उसमें इसको अहंप्रत्यय हुआ है। हे राम! जो यह संकल्प उठता है कि यह कार्य ऐसे हो तो वह वैसे ही होता है।

हे राम ! शुद्ध संवेदन में जैसा संकल्प होता है, वही होकर भासित होता है। यह जगत् संकल्परूप ही है, संकल्प से भिन्न नहीं। इसलिए वर और शाप का और कोई कारण नहीं; वर और शाप भी संकल्परूप हैं। उस संकल्प से जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे किसी समवायकारण से तो नहीं उत्पन्न हुए, संकल्प ही से हुए हैं, इससे सब अकारण हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र में तरंग उठते हैं तो कारण और कार्य मैं तुमसे क्या कहूँ ? सब जगत् ब्रह्मरूप है। द्वैत और एक की कल्पना कुछ नहीं। हे राम ! मुझको सदा ब्रह्मसत्ता ही दिखती है, कार्य कारण कोई नहीं दिखता। जैसे स्वप्न में किसी के घर पुत्र हुआ और वह बड़े उत्साह को प्राप्त हुआ, पर जब जाग्रत् का संस्कार चित्त में आया, तब उसका पिता ही उपजा नहीं, तो पुत्र कैसे कहिये ? तब तो सब अपने आपही हो जाता है, न कोई कारण दिखता है और न कार्य दिखता है। जो स्वप्न में सोया है, उसको जैसे दिखता है, वैसे ही यह भी है। जैसे वर और शाप का आसरा संकल्प है और संकल्प ही वर और शाप होकर भासित होता है और अकारण ही होता है। जिसको शुद्ध संवेदन से एकता हुई है, वह निवारण है और उसमें जैसे फुरने का आभास फुरता है, वैसा ही सिद्ध होता है। राम ने पूछा; हे भगवन् ! एक ऐसे हैं, जिनको आवरण है और उनका संकल्प जैसा फुरता है-वर दें अथवा शाप दें-वैसा ही हो जाता है। स्वरूप का साक्षात्कार उनको नहीं हुआ, पर शुभ कर्म उनमें प्रत्यक्ष मिलते हैं। तो शुभ कर्म ही

वर और शाप के कारण हुए; तुम कैसे कहते हो कि निरावरण पुरुष का संकल्प सिद्ध होता है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शुद्ध चिन्मात्र सत्ता ही चित् धातु कहाती है। उस चित्‌धातु में जो आभास फुरता है, वही संवेदन कहाता है। वह संवेदन जब फुरता है, तब जीव जानता है कि 'मैं ब्रह्मा हूँ'। तो संवेदन ने ही अपने को जगत् का पितामह जाना और उसी ने आगे मनोराज्य की कल्पना की। तब पञ्चभूतों का ज्ञान हुआ कि शून्यरूप आकाश है, स्पन्दनरूप वायु है, उष्णरूप अग्नि है, द्रवतारूप जल है और कठोररूप पृथ्वी है। फिर उसी से देश और काल की कल्पना हुई। स्थावर-जंगम पदार्थ की कल्पना से वेद शास्त्र, धर्म, अधर्म का स्फुरण हुआ, जिससे यह निश्चय हुआ कि यह तपस्वी है और इसने तप किया है, इसके कहने से वर हो। पर स्वरूप के साक्षात्कार से रहित होने पर भी उसका कहा होना उसके तप का फल है। आदि में संकल्प ऐसे हुआ है तो वर और शाप का कर्ता तपस्वी नहीं, उसका अधिष्ठान वही संवेदन है, जिससे आदि संकल्प उपजा है। हे राम ! वर और शाप संकल्परूप हैं, संकल्प संवेदन से फुरा है और संवेदन आत्मा का आभास है, तो मैं कारण और कार्य क्या कहूँ? और जगत् क्या कहूँ ? आत्मा का आभास संवेदन ब्रह्मा है, जिसने आगे संकल्पपुर की सृष्टि रची है। हम-तुम आदि सब उसके संकल्प में हैं। वह ब्रह्मा निराकार, निराधार और निरालम्ब स्थित है। किसी आकार को नहीं प्राप्त हुआ, इससे उसका विश्व भी वही रूप जानो।

हे राम ! जैसे उसका स्पन्दन हुआ है, वैसे ही वह स्थित है; अन्यथा नहीं होता। जो वही विपर्यय करे तो हो अन्यथा नहीं हो सकता। अग्नि में उष्णता, वायु में स्पन्दन इत्यादि जो गुणधर्म हैं, वे अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं और मुझको सब ब्रह्मरूप हैं। जैसे शरीर में हाड़-मांस से भिन्न कुछ नहीं होता, वैसे ही मुझको ब्रह्म से भिन्न नहीं भासित होता। जैसे घट में मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं होता और काष्ठ की पुतली की काष्ठ से भिन्न चेष्टा नहीं होती, वैसे ही जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं होता। हे

राम ! यह सब जगत् जो तुमको भासता है, ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही फुरने से नाना प्रकार जगत् के रूप में भासित होता है। जैसे समुद्र अपनी द्रवता से तरंग, बुलबुले, फेन आदि होकर भासित होता है, वैसे ही ब्रह्मसंवेदन से जगत्रूप होकर दिखता है, पर ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। जैसे पर्वत से जल गिरता है, सो कण होकर दिखता है, और जब गिरकर ठहर जाता है, तब समुद्ररूप होता है, परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं होता,तैसे ही जब चित्त फुरता है, तब नाना प्रकार का जगत् भासित होता है और जब ठहर जाता है, तब सब जगत् एक अद्वैतरूप दिखता है, पर ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं होता। ब्रह्म ही स्थावर जंगमरूप दिखता है। जहाँ पुर्यष्टका का सम्बन्ध नहीं दिखता, वह अजंगम या स्थावर कहाता है, और जहाँ पुर्यण्टका का सम्बन्ध होता है, वह जंगमरूप दिखता है, परन्तु आत्मा में दोनों तुल्य हैं। जैसे एक ही हाथ की अँगुली है, जिसको उष्णता अथवा शीतलता का संयोग होता है, वह फुरने लगती है और जिसको शीत-उष्ण का संयोग नहीं होता वह नहीं फुरती, वैसे ही जिस आकार को पुर्यष्टका का संयोग है, वह फुरता है और चेतनता दिखती है, और जिसको पुर्यष्टका का संयोग नहीं होता, उसमें जड़ता भासित होती है। जड़ भी दो प्रकार के हैं-एक को पुर्यष्टका का संयोग है और जड़ है, और दूसरे को पुर्यष्टका का संयोग नहीं है और जड़ है।

वृक्ष और पर्वतों को पुर्यष्टका का संयोग है, परन्तु घनसुषुप्ति जड़ता में स्थित हैं, इस कारण जड़ भासित होते हैं और मृत्तिका पुर्यष्टका से रहित है, इस कारण जड़ है, परन्तु वास्तव में स्थावर, जंगम; इष्ट; अनिष्ट; वर; शाप; देश; काल; पदार्थ; सभी ब्रह्मरूप हैं, और ब्रह्मसत्ता ही ऐसे स्थित हुई है, जैसे अपने अनुभव में संकल्पनगर नाना प्रकार का दिखता है, परन्तु संकल्परूप है—संकल्प से भिन्न कुछ नहीं। जैसे मृत्तिका की सेना अनेक प्रकार की होती है, परन्तु मृत्तिकारूप है—मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही सब अर्थ धारण करने वाली चैतन्यधातु नाना प्रकार के आकार को प्राप्त होती है, परन्तु चेतनता से भिन्न कुछ नहीं होती।

हे राम ! धातु उसको कहते हैं, जो अर्थ को धारण करे। जितने पदार्थ तुमको दिखते हैं, वे सब अर्थरूप हैं और वस्तुरूप जो धातु है, वह आत्मसत्ता है। उसने दो अर्थ धारण किये हैं-एक स्वप्न-अर्थ और दूसरा बोध-अर्थ-स्वप्न-अर्थ में तो नानात्व भासित होता है और बोध-अर्थ में एक अद्वैत सत्ता भासित होती है। जैसे एक ही धातु मिलने और बिछुड़ने से दो अर्थ रखती है, सो वे परस्पर प्रतियोगी शब्द हैं, परन्तु एक ही ने धारण किये हैं, वैसे ही स्वप्न और बोध-अर्थ, इन दोनों को आत्मसत्ता ने धारण किया है। जैसे तरंग और बुलबुले जलरूप हैं, वैसे ही जगत् ब्रह्मरूप है। जो ज्ञानवान् हैं, उनको सब ब्रह्मरूप दिखता है और अज्ञानी को नानात्व भासित होता है। इससे तुम स्वभाव में निश्चय रखकर देखो, सब ब्रह्मरूप है-भिन्न कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकैकोनसप्ततितमस्सर्गः ।। २६९ ।।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो सब ब्रह्म ही है तो नीति क्या है और नाना प्रकार के पदार्थ क्यों भासित होते हैं ? तुम कहते हो कि जगत् संकल्प से रचित है तो हे भगवन् ! ये जो असंख्यरूप पदार्थ हैं, उनकी संज्ञा की नहीं जाती, तब इन पदार्थों में से एक-एक का स्वभाव अचलरूप होकर कैसे स्थित है ? सब देवताओं में सूर्य का प्रकाश क्यों अधिक है और एक ही सूर्य में दिन और रात्रि छोटे बड़े क्यों होते हैं, यह विचित्रता क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शुद्ध चिन्मात्रसत्ता में अकस्मात् जो आभास फुरा है, उस आभास का नाम नीति है। यह सृष्टि भी आभासमात्र है, किसी कारण से नहीं उपजी जिसके आश्रय से आभास फुरता है, वही वस्तु अधिष्ठान होती है। इससे सब जगत् ब्रह्मरूप है और चिन्मात्रसत्ता अपने आप में स्थित है। वह न उदय होती है और न अस्त होती है। वह परिणाम से रहित सदा अद्वैतरूप स्थित है, उसमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। तीनों अवस्था आभासमात्र हैं। पर चैतन्यसत्ता में इनसे द्वैत नहीं बना। ये तीनों इसी का स्वभाव और प्रकाशरूप हैं-इससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे

आकाश और शून्यता, वायु और निस्पन्द, अग्नि और उष्णता और कपूर और सुगन्ध में भेद नहीं है, वैसे ही जाग्रत् आदि जगत् और ब्रह्म में भेद नहीं है। हे राम ! शुद्ध चिन्मात्र में जो चित्तभाव हुआ है, उसमें चैतन्य आभास फुरा है, और उसमें जैसा संकल्प फुरा है, वैसे ही स्थित हुआ है कि यह इस प्रकार हो और इतने काल रहे। उसी संकल्प निश्चय का नाम नीति है।

जैसे आदि संकल्प दृढ़ हुआ है, वैसे ही अब तक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश अपने-अपने भाव में स्थित हैं और अपने स्वभाव को नहीं त्यागते। जब तक उनकी नीति है, तब तक वे वैसे ही जगत् सत्ता में स्थित हैं। हे राम ! इसका नाम नीति है। जैसे आदि-संकल्प रक्खा है, वैसे ही स्थित है। वह वास्तव में आभासरूप है। अकस्मात् यह आभास फुरा है, सो किसी सूक्ष्म अणु में प्रकट हुआ है। जैसे समुद्र के किसी स्थान में तरंग, बुलबुले आदि उठते हैं, सम्पूर्ण समुद्र में नहीं उठते, वैसे ही जहाँ संवेदन रूप जैसा स्फुरण होता है, वैसे ही स्थित होता है। यही नीति है। जैसे तरंग और बुलबुले समुद्र से भिन्न नहीं है। वैसे ही नीति आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे द्रवता से समुद्र में तरंग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में संवेदन से नीति और जगत् जो फुरते हैं, वे वही रूप हैं-आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे किसी ने कहा कि चन्द्रमा का प्रकाश है तो चन्द्रमा और प्रकाश में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। यह विश्व आत्मा का स्वभाव है। जैसे एक ही काल की, दिन, पक्ष, वार, मास, वर्ष, युग, कल्प इत्यादि बहुत संज्ञाएँ हैं परन्तु काल एक ही है, वैसे ही जगत् के भिन्न-भिन्न नाम हैं, सो सब ब्रह्म ही हैं। हे राम ! जब संवेदन चित्तरूप होता है, तब प्रथम शब्द तन्मात्रा जगती है और उससे आकाश उपजता है, जिसका स्वभाव शून्यता है। फिर जब उसने स्पर्शतन्मात्रा को चेता, तब उससे इसमें वायु उपजा। वायु का स्पन्दन स्वभाव है। फिर रूप-तन्मात्रा को चेता, तब उससे अग्नि प्रकट हुई, जिसका स्वभाव उष्ण है। फिर रसतन्मात्रा को चेता, तब उससे जल प्रकट हुआ, जिसका स्वभाव द्रव है। फिर गन्ध-तन्मात्रा को चेता, तब उससे पृथ्वी प्रकट हुई,

जिसका स्वभाव स्थिर है। इस प्रकार पंचभूत उपजे। हे राम ! आदि में जो शब्द-तन्मात्र उपजी है, वह जितने शब्दसमूह हैं, उनका बीज है। सब उसी से उत्पन्न हुए हैं, पदार्थ, वाक्य, वेद, शास्त्र, पुराण सब उसी से उपजे हैं। इसी प्रकार पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश का जो कार्य है, वही उन सबका बीज-तन्मात्रा है। उस तन्मात्रा का बीज वह संवित्सत्ता है।

हे राम ! अब इन तत्त्वों की खानि सुनो। पृथ्वी अणु भी होती है और एकदला भी होती है। पृथ्वी तो एक है और अणु भी वही है। वैसे ही सब तत्त्वों को समझ देखना। पृथ्वी की खानि भू-पीठ है, जो सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करती है। जल की खानि समुद्र है, जो सब पदार्थों में रसरूप होकर स्थित है। अग्नि का तेज जो प्रकाश है, उसकी समष्टि सूर्य है। सब स्पन्दनों की समष्टि पवन है और सम्पूर्ण शून्य पदार्थों की खानि आकाश है। इस प्रकार ये पाँचों तत्त्व संकल्प से उपजे हैं। जैसे बीज से अंकुर उपजता है, वैसे ही ये तत्त्व संकल्प से उपजे हैं। संकल्प संवेदन से उपजा है और संवेदन आत्मा का आभास है। वह अद्वैत, अच्युत, निर्विकल्प और सर्वदा अपने आपमें स्थित है। उसी के आश्रय से संवेदन आभास उपजा है। फिर संवेदन से संकल्प उपजा है और संकल्प से जगत् बन गया है। जैसे समुद्र में तरंग उठते हैं और लीन होते हैं, वैसे ही संकल्प से जगत् उपजा है और फिर संकल्प ही में लीन होता है। जैसे तरंग जलरूप हैं, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश सब चैतन्यरूप हैं। सब पदार्थ जो देखे सुने जाते हैं और नहीं देखे सुने जाते, वे सब चैतन्यरूप हैं। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। वही आत्मा इस प्रकार होता है। स्वप्न में अपना अनुभव ही पदार्थ होकर दिखता है, परन्तु कुछ बना नहीं। नाना प्रकार का दिखता है, तो भी नाना नहीं है, वैसे ही जगत् नाना प्रकार का दिखता है, तो भी कुछ बना नहीं।

जैसे एक निद्रा के दो रूप हैं-एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति-जब फुरना होता है तब स्वप्न की सृष्टि दिखती है और जब फुरना निवृत्त हो जाता है, तब सुषुप्ति होती है, और जैसे वायु के दो रूप हैं; जब स्पन्दन

होता है, तब भासित होती है और जब निस्पन्द होती है तब नहीं भासित होती, वैसे ही जब संवेदन फुरता है, तब जगत् दिखता है और जब नहीं फुरता, तब जगत् भी नहीं दिखता—इसी का नाम महाप्रलय है-पर दोनों आत्मा के आभास हैं। हे राम ! संकल्परूप ब्रह्मा ने आत्मा में आकाश, पृथ्वी, नक्षत्र, चक्र इत्यादि क्रम से रचे हैं। जैसे बालक अपने में संकल्प रचे, वैसे ही ब्रह्मा ने रचा है। उसने एक भूगोल रचा है, जिस पर नक्षत्रचक्र रचा है और उस चक्र के दो भाग किये हैं, जो अन्योन्य सम्मुख स्थित हैं। जब सूर्य उसके सम्मुख होता है, तब दिन और रात्रि का प्रणाम साठ घड़ी होता है। जब सूर्य उस नक्षत्रचक्र के ऊपर की ओर उदय होता है, तब दिन बड़े होते हैं और जब नीचे की ओर उदय होता है, तब दिन छोटे हो जाते हैं। निदान ज्यों-ज्यों सूर्य क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर उदय होता है, त्यों-त्यों दिन छोटे होते जाते हैं और रात्रि बढ़ती जाती है। और जब छः मास के उपरान्त पौष त्रयोदशी से सूर्य क्रमशः ऊपर को उदय होता है, तब दिन बढ़ता जाता है। आषाढ़ की द्वादशी से लेकर पौष की त्रयोदशी तक रात्रि बढ़ती है और दिन घटता है, और फिर रात्रि घटती जाती है और दिन बढ़ता जाता है। जब सूर्य उस चक्र के मध्य में उदय होता है, तब दिन और रात्रि समान हो जाते हैं। परन्तु संवेदनरूप ब्रह्मा का सब संकल्प विलास है। जैसे शिल्पी शिला में पुतलियों की कल्पना करता और चेष्टा करता है, पर बना कुछ नहीं, शिला ही अपने घनस्वभाव में स्थित होती है, वैसे ही चित्तरूपी शिल्पी आत्मारूपी शिला में जगत्रूपी पुतलियों की कल्पना करता है, परन्तु बना कुछ नहीं। ब्रह्मसत्ता ही सदा अपने आपमें स्थित है।

संवेदन फुरने से जब उसे रूप देखने की इच्छा होती है, तब चक्षुइन्द्रिय बन जाती है, जो रूप को ग्रहण करती है। जब स्पर्श की इच्छा होती है, तब त्वचा इन्द्रिय बन जाती है, जो स्पर्श को ग्रहण करती है। जब गन्ध की इच्छा होती है, तब घ्राण इन्द्रिय बनकर गन्ध ग्रहण करती है। जब शब्द सुनने की इच्छा होती है, तब श्रवण इन्द्रिय बन जाती है, जो

शब्द आदि विषयों को ग्रहण करती है। जब रस की इच्छा होती है, तब रसना इन्द्रिय प्रकट होकर स्वाद ग्रहण करती है। जब वही संवेदन चेतता है तब अपने साथ वायु को देखता है और उस वायु में प्राण फुरते देखता है। हे राम ! देखना, सुनना, रस लेना, स्पर्श करना, बोलना और गन्ध लेना आदि जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती गईं, वह देश है। इन्द्रियाँ जिस विषय को ग्रहण करने लगती हैं, वे पदार्थ हैं और जिस समय ग्रहण करने लगती हैं वह काल है। इस प्रकार देश, काल और पदार्थ हुए हैं। फिर क्रम से शुभ अशुभ कर्म भासित होने लगे। हे राम ! इस प्रकार संवेदन ने फुरकर जगत् को रचा है और वह शरीर को रचकर इष्ट-अनिष्ट को ग्रहण करता है। जो तुम कहो कि इन्द्रियाँ तो भिन्न-भिन्न हैं और अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं, फिर सब इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट इस जीव को कैसे होते हैं, तो इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा सुनो।

हे राम ! जैसे तुम एक हो और माला के दाने बहुत हैं, पर सबका आश्रय सूत्र है, वैसे ही अहंकाररूपी सूत्र में सब इन्द्रियरूपी दाने हैं। इस कारण अहंकाररूप जीव इन्द्रियों के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होता है। इन्द्रियाँ आप ही से कार्य करने को समर्थ नहीं होतीं अहंकार (जीव) की सत्ता से चेष्टा करती हैं। जैसे शंख में आपसे बजने की सामर्थ्य नहीं, पर जब पुरुष बजाता है तो शब्द करता है वैसे ही इन्द्रियों की चेष्टा अहंकार और जीव से होती है। हे राम ! वास्तव में न कोई इन्द्रियाँ हैं, न इनके विषय हैं और न मन का फुरना है, सब आभासमात्र है। जब संवेदन फुरता है, तब इतनी संज्ञा धारण करता है और जब संवेदन निर्वाण होता है तब सब कल्पना मिट जाती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवसंसारवर्णनं नाम
द्विशताधिकसप्ततितमस्सर्गः।। २७०।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह सम्पूर्ण कल्पना का क्रम मैंने तुमसे कहा है। जितना कुछ जगत् देखते हो, सो संवेदनरूप है। शुद्ध चिन्मात्र सत्ता के आदि आभास और चेतनता के लक्षण चित्त अहं 'अस्मि' का नाम

संवेदन है। उसके इतने पर्याय हुए हैं—कोई उसे ब्रह्मा कहते हैं, कोई विष्णु कहते हैं, कोई प्रजापति कहते हैं और कोई शिव आदि नाम लेते हैं। उस संवेदन ने आगे संकल्प से विश्व रचा, जो अकारण है, किसी कारण से नहीं बनी। काकतालीयन्याय से अकस्मात् आभास उपजा है और साकार दिखता है, परन्तु अन्तवाहक है। व्यवहार सहित दिखता है, परन्तु अव्यवहार है। हे राम ! अन्तवाहकरूप संवेदन ने आगे जो विश्व रचा है, वह भी अन्तवाहकरूप है, परन्तु अज्ञानी को संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिकरूप दिखता है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर संकल्प से भिन्न नहीं और संकल्प की दृढ़ता से ही आकाररूप पहाड़, नदियाँ, घट, पट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दिखते हैं, परन्तु बने तो कुछ नहीं, शून्यरूप हैं, वैसे ही यह जगत् शून्यरूप निराकार है। हे राम ! आदि अन्तवाहकरूप संवेदन ही बहिर्मुख फुरने से देश, काल, पदार्थरूप होकर स्थित हुआ है। जब बहिर्मुख फुरना मिट जाता है, तब जगत् आभास भी मिट जाता है। जैसे स्वप्न का आभास जगत् तब तक दिखता है, जब तक प्राणी निद्रा में सोया होता है, पर जब जागता है तब स्वप्न का जगत् मिट जाता है। और एक अद्वैतरूप अपना आप ही भासित होता है, वैसे ही यह जगत् अज्ञान के निवृत्त होने पर लीन हो जाता है। सब जगत् निराकार है, पर संकल्प की दृढ़ता से आकार दिखते हैं।

हे राम ! वेदन में जो संकल्प फुरता है, वही अन्तःकरण चतुष्टय होकर भासित होता है। पदार्थों के चिंतन से इसका नाम चित्त है, संकल्प-विकल्प के संसरण से इसका नाम मन है, ज्यों का त्यों निश्चय करने से इसका नाम बुद्धि है और वासना के समूह मिलने से इसे पुर्यष्टका कहते हैं। पर सब संकल्पमात्र हैं और उनसे उपजा जगत् भी संकल्परूप है। जैसे इन्द्रजाल की बाजी और स्वप्न का नगर संकल्प की दृढ़ता से पिण्डाकार भासित होते हैं, परन्तु सब आकाशरूप शून्य हैं, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है—आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है। जो तुम कहो कि दिखता क्यों है ? तो जिसमें दिखता है, उसे वही रूप जानो। देश,

काल, नदी, पहाड़, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, दैत्य, ब्रह्मा से लेकर कीटपर्यन्त जो स्थावर-जंगमरूप जगत् दिखता है सो सब ब्रह्मरूप है। वेद, शास्त्र, जगत्, कर्म, स्वर्ग, तीर्थ इत्यादि जो पदार्थ हैं, वे भी सब ब्रह्मरूप हैं। वही निराकार अद्वैत ब्रह्मसत्ता संवेदन से जगत्रूप भासित होती है। जैसे स्वप्न में अपना ही अनुभव सृष्टिरूप भासित होता है, वैसे ही अपना ही अनुभव यह जगत् होकर भासित होता है। जैसे समुद्र द्रवता से तरंग होकर भासित होता है, पर जल ही जल है, वैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन से जो जगत् आभास फुरता है, वह ब्रह्म ही ब्रह्म है, भिन्न कुछ नहीं। हे राम ! जो कुछ तुमको दिखता है, सो सब अपने आपमें स्थित अच्युत और अनन्तरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वब्रह्मरूपप्रतिपादनंनाम
द्विशताधिकैकसप्ततितमस्सर्गः ।। २७१ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब द्रष्टा दृश्यरूप को चेतता है, तब विश्व होता है। वह विश्व अन्तवाहकरूप है। निराकार संकल्प को अन्तवाहक कहते हैं। जब दृश्य में अहंभाव से चेतनता रहती है, तब अन्तवाहक से आधिभौतिक शरीर हो जाता है। आदि में जो ब्रह्मा नाम का संवेदन फुरा है, वह अन्तवाहक शरीर हुआ है। जब उसने बारम्बार अपने शरीर को देखा, तब वह भी आधिभौतिक चतुर्मुख हो गया। उसने ओंकार का उच्चारण करके वेद और वेद से क्रम को रचा। और संकल्प से विश्व को रचा। जैसे कोई बालक मन में बगीचा रचे और उसमें नाना प्रकार के वृक्ष, फल, फूल, टास और पत्ते रचे, वैसे ही ब्रह्मा ने जगत् को रचा और अन्तवाहक जीव उपजे। जब जीवों को शरीर में दृढ़ अभ्यास हुआ, तब वे अन्तवाहक से आधिभौतिक हो गये। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ब्रह्मसत्ता तो निराकार था, उसको शरीर का संयोग कैसे हुआ ? उससे आधिभौतिकता कैसे हो गई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! न कोई शरीर है और न किसी को शरीर का संयोग हुआ है। केवल अद्वैत आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। उसमें जो चैतन्य संवेदन उपजा है, वही संवेदन दृश्य

को चेतता रहता है। वही जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है।

जब संकल्प की दृढ़ता हुई, तब उसे अपने साथ शरीर और आकार दिखने लगे। परन्तु सब आकाश ही हैं—कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि को उपजी कहिये तो उपजी नहीं, और उसका कारण भी कोई नहीं, केवल आकाशरूप है, और कोई पदार्थ उपजा नहीं, परन्तु स्वरूप के विस्मरण से आकार भासित होते हैं, वैसे ही यह शरीर और जगत् जो दिखता है, वह केवल आभासमात्र है और असंभावना की दृढ़ता से प्रत्यक्ष भासित होता है। जब स्वरूप का विचार करके देखोगे तब शान्त हो जाओगे। हे राम ! अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न के पदार्थ अविद्यमान होते हैं और विद्यमान दिखते हैं पर जागने पर विद्यमान हो जाते हैं, वैसे ही यह जगत् अविचारसिद्ध है, विचार से शान्त हो जाता है। जब विचार करके देखोगे तब सब आत्मा ही भासित होगा। हे राम ! आत्मसत्ता अव्यभिचारी है, अर्थात् सत्तामात्र है, उसका अभाव कभी नहीं होता। वह अच्युत है अर्थात् सदा ज्यों की त्यों है। अपने भाव को कभी नहीं त्यागती। इसलिए जो उससे भिन्न दिखे, उसे भ्रममात्र जानो। हे राम! विचार करके जब दृश्यभ्रम शान्त होता है, तब मोक्ष प्राप्त होता है। आत्मसत्ता ज्ञानरूप, निराकार और सदा अपने आपमें स्थित है। जब सम्यक्‌ज्ञान का बोध होता है, तब जगत् का भ्रम नष्ट हो जाता है। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! सम्यक्‌ज्ञान और बोध किसको कहते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अनुभव ही बोध कहाता है, और उसका ज्यों-का-त्यों जानना सम्यक्‌ज्ञान है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! केवल बोध और केवल ज्ञान किसको कहते हैं।

वशिष्ठजी बोले, हे राघव ! दृश्य से रहित चिन्मात्र को तुम केवल बोध जानो-उसमें वाणी की गति नहीं है। इसी प्रकार अचेत चिन्मात्र सत्ता को ज्यों का त्यों जानना ही केवल ज्ञान है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! केवल बोध अचेत चिन्मात्र है तो उसमें जगत्‌भ्रम क्यों भासित होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! चिन्मात्र जो द्रष्टारूप है, उसमें जब संवेदन चेतना फुरती है, तब वही चेतना चैत्यरूप दृश्य हों भासित होती है। जैसे

स्पन्दन से रहित वायु अलक्ष्यरूप होती है और जब स्पन्दनरूप होती है, तब स्पर्श से भासित होती है, वैसे ही संवेदन से जो दृश्य दिखता है, वह वही संवेदन दृश्य होकर भासित होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो द्रष्टा दृश्यरूप भासित होता है तो दृश्य बाहर क्यों भासित होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसी कारण इसे भ्रम कहा है कि यह अपने भीतर है और बाहर भासित होता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने ही भीतर होती है, पर वास्तव में न भीतर है और न बाहर, आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है, वैसे ही यह भी ज्यों का त्यों स्थित है, भीतर और बाहर भ्रम से भासित होती है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और दृश्य भ्रम से भासित होती है तो खरगोश की सींग भी भ्रममात्र हैं, वे क्यों नहीं दिखते और अहं और त्वं क्यों दिखते हैं ? प्राणियों की चेष्टा तो प्रत्यक्ष दिखती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अहं त्वं आदिक जगत् भी कल्पनामात्र है। जैसे खरगोश के सींग कल्पनामात्र हैं और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से दिखता है, वैसे ही यह जगत् भी भ्रममात्र है। जैसे मृगतृष्णा का जल और संकल्पनगर भ्रममात्र है, वैसे ही यह जगत् भ्रममात्र है, किसी कारण से नहीं उपजा। जैसे स्वप्न में खरगोश के सींग नहीं दिखते हैं और जगत् दिखता है, वैसे ही यह भ्रम है।

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! हम भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में जगत् की स्मृति अनुभव से जानते है, और कारण-कार्यभाव पाते हैं, तब आप उसको भ्रममात्र कैसे कहते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं यह कहता हूँ कि जो कारण से कार्य होता है, वह सत्य होता है। तुम कहो कि जगत् का कारण क्या है अर्थात् जैसे बीज से वट होता है, वैसे ही इसका कारण कौन है ? राम बोले, हे भगवन् ! जगत् सूक्ष्म अणु से उपजता है और लीन भी सूक्ष्मतत्त्व के अणु में ही होता है। वशिष्ठजी ने पूछा, हे राम ! सूक्ष्म अणु किस में रहते हैं ? राम बोले, हे मुनीश्वर ! महाप्रलय में शुद्ध चिन्मात्र सत्ता शेष रहती है और उसी में अणु रहते हैं। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! महाप्रलय किसको कहते हैं ? जहाँ सर्व शब्द

और अर्थ का अभाव है, उसका नाम महाप्रलय है। वहाँ तो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता रहती है, जिसमें वाणी की गति नहीं तो उसमें सूक्ष्म अणु कैसे हों और कारण-कार्यभाव कैसे हो ?

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो शुद्ध चिन्मात्रसत्ता ही रहती है तो उसमें जगत् कैसे निकल आता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! विश्व यदि उपजा हो तो मैं तुमसे कहूँ कि इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति होती है। पर जब जगत् उपजा ही नहीं तो इसकी उत्पत्ति कैसे कहूँ ? जब चिन्मात्र में चेतना जगती है, तब अहं त्वं आदिक जगत् भासित होता है। अतः स्फुरण ही रूप है। कुछ उपजा नहीं-वही रूप है। हे राम ! ज्ञान का दृश्य-भ्रम से मिलाप ही बन्धन का कारण है। उसका अभाव मोक्ष है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञान के होने पर जगत् का अभाव कैसे होता है ? यह तो दृढ़ हो रहा है, इसकी शान्ति कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सम्यक्ज्ञान से जो बोध होता है, उस बोध से दृश्य का सम्बन्ध निवृत्त होता है। वह बोध निराकार और शांति रूप है, उसी से जीव मोक्ष में प्रवृत्त होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! बोध तो केवल रूप है। सम्यक्ज्ञान किसको कहते हैं, जिससे यह जीव बन्धन से मुक्त होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस ज्ञान से ज्ञेय दृश्य का संयोग नहीं होता, उसको ज्ञानी अविनाशी रूप कहते हैं। जब ज्ञेय का अभाव होता है, तब सम्यक्ज्ञान कहाता है। जगत् ज्ञेय अविचारसिद्ध है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञान से ज्ञेय भिन्न है अथवा अभिन्न, और ज्ञान क्योंकर उत्पन्न होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बोधमात्र का नाम ज्ञान है। ज्ञान और ज्ञेय उससे भिन्न नहीं है। जैसे वायु से वायु का चलना भिन्न नहीं है। राम ने पूछा कि हे भूत, भविष्यत् और वर्तमान के जाननेवाले ! जो खरगोश के सींग की नाईं ज्ञेय असत्य है तो भिन्न होकर क्यों भासित होता है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बाह्य जगत् ज्ञेय भ्रान्ति से दिखता है। उसका सद्भाव नहीं है। भीतर जगत् है, न बाहर जगत् है। यह अर्थ से रहित भासित होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! अहं त्वं आदि तो प्रत्यक्ष

दिखते हैं और इनका अर्थ सहित अनुभव होता है। तुम कैसे इनका अभाव कहते हो ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह सब जगत् विराट् पुरुष का शरीर है। जब वह आदि-विराट् ही उपजा नहीं, तो और की उत्पत्ति कैसे कहिये ? राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जगत् का सद्भाव तो तीनों कालों में पाया जाता है, पर तुम कहते हो कि उपजा ही नहीं। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे स्वप्न में जगत् के सब पदार्थ प्रत्यक्ष दिखते हैं, पर कुछ उपजे नहीं। जैसे मृगतृष्णा का जल आकाश में द्वितीय चन्द्रमा और संकल्पनगर भ्रम से दिखता है, वैसे ही अहं त्वं आदि जगत् भ्रम से दिखता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! अहं त्वं आदि जगत् दृढ़ भासित होता है, तब कैसे जानिये कि उपजा नहीं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पदार्थ कारण से उपजता है, निश्चय सत्य जाना जाता है। जब महाप्रलय होता है, तब कारणकार्य कुछ नहीं रहता, सब शान्तरूप होता है, और फिर उस महाप्रलय से जगत् प्रकट होता है। इसी से जाना जाता है कि सब आभासमात्र है। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जब महाप्रलय होता है, तब अज और अविनाशी सत्ता शेष रहती है। इससे जाना जाता है कि वही जगत् का कारण है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसा कारण होता है, वैसा ही उसका कार्य होता है, उससे उल्टा नहीं होता। जो आत्मसत्ता अद्वैत और आकाशरूप है तो जगत् भी वही रूप है। जैसे घट से पट नहीं उपजता, वैसे ही और कुछ नहीं उपजता।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जब महाप्रलय होता है, तब जगत् सूक्ष्मरूप होकर स्थित होता है, और उसी से फिर प्रवृत्ति होती है। वशिष्ठजी बोले, हे निष्पाप राम ! महाप्रलय में जो तुमने सृष्टि का अनुभव किया, वह कैसी होती है ? राम बोले, हे भगवन् ! ज्ञप्तिरूप सत्ता ही वहाँ स्थित होती है और तुम जैसों ने अनुभव भी किया है कि वह चिदाकाशरूप है। सत्य और असत्य शब्द से नहीं कहा जाता। वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहु ! जो ऐसे हुआ तो भी जगत् तो ज्ञप्तिरूप हुआ-इसलिए वह जन्म-मरण से रहित शुद्ध ज्ञानरूप है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम

कहते हो कि जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, भ्रममात्र है, तो वह भ्रम कहाँ से आया ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जगत् चित् के फुरने से भासित होता है। जैसे-जैसे चित्त फुरता है, वैसे ही वैसे यह भी भासित होता है। इसका और कोई कारण नहीं है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो यह चित्त के फुरने से दिखता है, तो यह परस्पर विरुद्ध कैसे दिखता है कि अग्नि को जल नष्ट करता है और जल को अग्नि नष्ट करती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो द्रष्टा पुरुष है, वह दृश्यभाव को नहीं प्राप्त होता। और ऐसी कुछ वस्तु नहीं, भानरूप आत्मा ही चैतन्यघन सर्वरूप होकर भासित होता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! चिन्मात्रतत्त्व आदि-अन्त से रहित है। और जब वह जगत् को चिताता है, तब होता है, पर तो भी तो वह कुछ हुआ। जगत्रूप चैत्य को असंभव कैसे कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! इसका कारण कोई नहीं, इससे चैत्य असंभव है। चैतन्य सदा मुक्त और अवाच्यपद है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो इस प्रकार है तो जगत् और तत्त्व कैसे प्रकट होते हैं, और अहं त्वं आदिक द्वैत कहाँ से आये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कारण के अभाव से यह जगत् कुछ आदि से उपजा नहीं, सब शान्तरूप है। और नाना जो भासित होता है, सो भ्रममात्र है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! सर्वदा प्रकाशरूप निर्मलतत्त्व निरुल्लेख और अचलरूप है। उसमें भ्रान्ति कैसे है और किसको है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! निश्चय करके जानो कि कारण के अभाव से भ्रान्ति कुछ वस्तु नहीं। अहं त्वं आदिक सब एक अनामय सत्ता स्थित है। राम ने पूछा, हे ब्राह्मण ! मुझे भ्रम हो रहा है, इससे इस विषय में और अधिक प्रश्न करना नहीं जानता और अत्यन्त प्रबुद्ध भी नहीं, तो अब क्या पूछूँ ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह प्रश्न करो कि कारण बिना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? जब विचार करके कारण का अभाव जानोगे, तब परम स्वभाव अशब्द पद में विश्रान्ति पाओगे।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! मैं यह जानता हूँ कि कारण के अभाव से जगत् कुछ उपजा नहीं, परन्तु चैत्य का फुरना भ्रम कैसे हुआ ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कारण के अभाव से सर्वत्र शान्तिरूप है। भ्रम भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं। जब तक आत्मपद में अभ्यास नहीं होता, तब तक भ्रम भासित होता है और शान्ति नहीं होती। पर जब अभ्यास करके केवल तत्त्व में विश्रान्ति पाओगे, तब भ्रम मिट जायगा। राम ने पूछा, हे भगवन् ! अभ्यास और अनभ्यास कैसे होता है, और एक अद्वैत में अभ्यास अनभ्यास की भ्रान्ति कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अनन्ततत्त्व में शान्ति भी कुछ वस्तु नहीं और जो आभास शान्ति दिखती है, वह महाचिद्घन अविनाशरूप है। राम ने पूछा, हे ब्राह्मण ! उपदेश और उपदेश के अधिकारी, ये जो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, वे सर्वात्मा में कैसे भासित होते हैं। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! उपदेश और उपदेश के योग्य, ये शब्द भी ब्रह्म में कल्पित हैं। शुद्ध बोध में बन्धन और मोक्ष दोनों का अभाव है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो आदि में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ तो देश, काल, क्रिया और द्रव्य के भेद कैसे दिखते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! देश, काल, क्रिया और द्रव्य के जो भेद हैं, सो संवेदन दृश्य में है, और अज्ञानमात्र भासित होते हैं-अज्ञानमात्र से कुछ भिन्न नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! बोध को दृश्य की प्राप्ति कैसे हुई ? जहाँ द्वैत और एकता का अभाव है, वहाँ दृश्य भ्रम कैसे है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बोध को दृश्य की प्राप्ति और द्वैत-एक का भ्रम मूर्खों का विषय है; हम जैसों का विषय नहीं है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! अनन्ततत्त्व तो केवल बोधरूप है, तब अहं त्वं हमारे मन में कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! शुद्ध बोधसत्ता में जो बोध का जानना है, वह अहं त्वं द्वारा कहाता है। जैसे पवन में स्फुरण है वैसे ही उसमें चेतना जगती है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जैसे निर्मल अचल समुद्र में तरंग और बुलबुले उठते हैं, सो वे कुछ जल से भिन्न नहीं होते, वैसे ही बोध में बोधसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। वह अपने आपमें स्थित है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो यह बात है तो किसका किसको दुःख हो? एक अनन्ततत्त्व अपने आपमें स्थित और पूर्ण है। राम ने पूछा, हे

भगवन् ! जो वह एक और निर्मल है तो अहं त्वं आदिक कलना कहाँ से आई और दृढ़ हुई, जिससे जीव उसे भोक्ता की नाईं भोगता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ज्ञेय जो चित्सत्ता है उसको जानना बन्धन नहीं है, क्योंकि ज्ञान ही सब अर्थरूप होकर स्थित हुआ है। तब बन्धन और मोक्ष कैसे हो ?

राम ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञप्ति बाह्य अर्थ को देखती है-जैसे आकाश में नीलता और स्वप्न में पदार्थ असत्यरूप होकर भी सत्य प्रतीत होते हैं, वैसे ही यह बाह्य अर्थ भी असत्य ही सत्य से लगते हैं। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कारण से रहित जो बाह्य अर्थ भासित होते हैं सो भ्रममात्र हैं—भिन्न कुछ नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न के पदार्थों के दुःख-सुख होते हैं—चाहे वे सत्य हों अथवा असत्य-वैसे ही इस जगत् में सुख-दुःख होता है, परन्तु इसकी निवृत्त का उपाय कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो जगत् स्वप्न की नाईं है तो यह सब पिण्डाकार भ्रममात्र से दिखता है। सब अर्थ शान्तरूप है, नानात्व कुछ नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! स्वप्न और जाग्रत् में पिण्डाकार और पर-अपररूप कैसे उत्पन्न और कैसे शान्त होते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! पहले अपर का विचार कीजिये—जगत् आदि में क्या रूप था और अन्त में क्या रूप होता है। जब ऐसा विचार होगा, तब शान्ति हो जायगी। जैसे स्वप्न में स्थूल पदार्थ पिण्डरूप दिखते हैं, वे सब आकाशरूप हैं, वैसे ही जाग्रत्पदार्थ भी आकाशरूप हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जब भिन्नभाव की भावना प्राप्त होती है, तब जीव जगत् को कैसे देखता है और संस्कार भ्रम कैसे शान्त होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो निर्वासनिक पुरुष है, उसके हृदय से जगत् का सद्भाव उठ जाता है जैसे संकल्प नगर और कागज की मूर्ति असत् दिखती है, वैसे ही उसको जगत् असत् भासित होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जब वासना से रहित पिण्डभाव शान्त होने पर जीव जगत् को स्वप्नवत् जानता है, तब उसके उपरान्त क्या अवस्था होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जीव जब जगत्

को संकल्परूप जानता है तब वासना निर्वाण हो जाती है और पञ्चतत्त्वों का क्रम उपजना और विनष्ट होना लीन हो जाता है। तब केवल परमतत्त्व दिखता है और सब आकाशरूप हो जाता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! अनेक जन्मों की वासना दृढ़ हो रही है और अनेक शाखाओं से फैली है, इसलिए संसार का कारण घोर वासना ही है। वह कैसे शान्त होती है? वशिष्ठजी बोले हे राम ! जब यथा—भूतार्थज्ञान होता है, तब आत्मा में भ्रान्तिरूप स्थित हुआ जगत् शान्त होता है। जब पिण्डाकार पदार्थों का अभाव हो जाता है, तब कर्मरूप दृश्यचक्र भी शान्त हो जाता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही आत्मतत्त्व के बोध से सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जब पिण्डग्रहण और कर्मरूप दृश्यचक्र निवृत्त हुआ, तब फिर क्या प्राप्त होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब पिण्डग्रहण भ्रम शान्त हो जाता है, तब जीव निर्मल होकर क्षोभ से रहित होता है, जगत् की आस्था शान्त हो जाती है और चित्त परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह बालक के संकल्पवत् कैसे स्थित है ? जो संकल्परूप है तो इसके जो पदार्थ हैं, उनके नष्ट होने पर इसको दुःख क्यों प्राप्त होता है और इस जगत् की आस्था कैसे शान्त होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पदार्थ संकल्प से उत्पन्न हुआ है, उसके नष्ट करने में दुःख नहीं होता। और जो पूर्वापर विचार करके इसे चित्त से रचा जानिये तो भ्रम शान्त हो जाता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! चित्त कैसा है और उससे संसार को कैसे रचा जानिये ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! चित्तसत्ता जो चैत्योन्मुख जगती है उसी को संकल्परूप चित्त कहते हैं। उससे रहित सत् के विचारने से वासना शान्त हो जाती है। राम बोले, हे ब्रह्मन् ! चैत्य से रहित चित्त कैसे होता है और चित्त से उदय हुआ जगत् निर्वाण कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! चित्त कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, अनहोता ही द्वैत भासित होता है—कुछ है नहीं। रामजी बोले, हे भगवन् ! जगत् तो प्रत्यक्ष दिखता है। जो उपजा

ही नहीं तो इसका अनुभव कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अज्ञानी को जो जगत् दिखता है, वह सत्य नहीं है और ज्ञानवान् को जो दिखता है, वह अनिर्वचनीयसत्ता अद्वैतरूप है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! अज्ञानी को तीनों जगत् कैसे दिखते हैं और ज्ञानवान् को कैसे दिखते हैं, जो कहे नहीं जा सकते ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अज्ञानी को द्वैत सघन दृढ़ भासित होता है, और ज्ञानवान् को सघन द्वैत नहीं भासित होता, क्योंकि आदि में तो उपजा नहीं, अद्वैत आत्मतत्त्व अवाच्यपद हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो आदि में उपजा नहीं तो अनुभव भी न हो, पर यह तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसे असत्य कैसे कहिये ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! असत्य ही सत्य की नाईं होकर भासित होता है-इसी से कारण-रहित भासित होता है। जैसे स्वप्न में पदार्थ का अनुभव होता है, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं, वैसे ही यह असत्य ही अनुभव होता है। रामजी बोले, हे भगवन् ! स्वप्न में संकल्प से जो दृश्य का अनुभव होता है, वह जाग्रत् के संस्कारों से होता है, और कुछ नहीं है। वशिष्ठजी ने पूछा, हे राम ! स्वप्न और संकल्प संस्कार से होता है, सो वह जाग्रत् के संस्कार से कैसे होता है ? वही रूप है अथवा जाग्रत् से अन्य है ? राम बोले, हे भगवन् ! स्वप्न के पदार्थ और मनोराज्य जाग्रत् के संस्काररूप भ्रम से जाग्रत् की नाईं भासित होते हैं। वशिष्ठजी ने कहा, हे राम ! जो स्वप्न में जाग्रत् संस्कार से जगत् जाग्रत् की नाईं भासित होता है, जैसे स्वप्न में किसी का घर लुट गया अथवा जल के प्रवाह में बह गया-तो जाग्रत् में तो कुछ हुआ नहीं, क्योंकि प्रातःकाल उठकर देखता है, तब ज्यों का त्यों दिखता है-ऐसे ही संसार भी कुछ न हुआ। सब कल्पनामात्र जानना। राम बोले, हे भगवन् ! अब मैंने जाना कि यह सब ब्रह्म ही है, न कोई देह है, न जगत् है, न उदय है और न अस्त है। सर्वदा सब प्रकार वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। उससे भिन्न जो कुछ भासित होता है, सो भ्रममात्र है। और भ्रम भी कुछ वस्तु नहीं, सब चिदाकाश ब्रह्मरूप है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ दिखता है, सब

ब्रह्म ही का प्रकाश है। वही अपने आपमें प्रकाशित होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! सर्ग के आदि में देह-चित्त आदिक कैसे फुर आये हैं और आत्मा का प्रकाशरूप जगत् कैसे हैं ? प्रकाश भी उसका होता है, जो साकार होता है, परब्रह्म तो निराकार है, उसका प्रकाश कैसे कहिये ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब ब्रह्मरूप है। प्रकाश और प्रकाशक का भेद भी कुछ नहीं, और दूसरी वस्तु भी कुछ नहीं, वही अपने आपमें स्थित है-इसी से उसको स्वप्रकाश कहा है। सूर्य आदि का प्रकाश त्रिपुटी से भासित होता है सो वह भी उसके आश्रित होकर प्रकाश पाता है, और उसके प्रकाश का आधारभूत कहाता है, जिसके आश्रय से सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है। आत्मसत्ता अद्वैत और विज्ञानघन है। उसमें जो चित्तसंवेदन जगा है, वही जगत्रूप होकर स्थित हुआ है। आत्मसत्ता और जगत् में कुछ भेद नहीं है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं है, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है-वही इस प्रकार हुए की नाईं स्थित हुआ है। हे राम ! निराकार ही स्वप्नवत् साकाररूप होकर भासित होता है। इस जगत् के आदि में अद्वैत चिन्मात्रसत्ता थी। उसी से जो नाना प्रकार का जगत् देख पड़ा, वह वही रूप हुआ। और कारण तो कोई नहीं है। जैसे स्वप्न के आदि में अद्वैतसत्ता निराकार है, और उससे जो सूर्यादिक पदार्थ प्रकट होते हैं, वे भी वही रूप हुए, पर प्रकट दिखते भी हैं, वैसे ही इस जगत् को भी अकारण और निराकार जानो। हे राम ! न कोई जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है, सब आभासमात्र है-वही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। मुझको तो वही सदा विज्ञानघन आत्मसत्ता भासित होती है। जैसे दर्पण में अपना मुख दिखता है, वैसे ही मुझको अपना रूप भासित होता है, पर अज्ञानी को भ्रान्तिरूप जगत् दिखता है। जैसे वृक्ष के ठूठ में दूर से भ्रान्ति वश पुरुष दिखता है, वैसे ही अज्ञानी को जगत् दिखता है।

हे राम ! न कोई द्रष्टा है और न कोई दृश्य है। द्रष्टा तो तब कहिये जो दृश्य हो, और दृश्य तब कहिये जो द्रष्टा हो। जो दृश्य नहीं तो द्रष्टा

किसका, और जो द्रष्टा ही नहीं तो दृश्य किसका ? इसलिए यह समझो कि निर्विकार ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। यद्यपि आकार भी दिखते हैं, तो भी वह निराकार है-आत्मसत्ता ही संवेदन से आकाररूप होकर भासित होती है। जैसे खम्भे में चितेरा पुतलियों की कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ खम्भें में निकलेंगी तो उसको वे खोदे बिना ही प्रत्यक्ष दिखती हैं, वैसे ही खोदे बिना ही ब्रह्मरूपी खम्भे में मनरूपी चितेरा ये पुतलियाँ देखता है। अतएव हुआ कुछ नहीं। हे राम ! इन मेरे वचनों को तुम स्वप्न और संकल्प से दृष्टान्त देखो कि अनुभवरूप ही आकार होकर भासित होता है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं। इस मेरे वचनरूपी उपदेश को हृदय में धारण करो और अज्ञानियों के वचनों को त्याग दो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्यावादबोधोपदेशो नाम
द्विशताधिकद्विसप्ततितमस्सर्गः ।।२७२।।

राम बोले, हे भगवन् ! बड़ा आश्चर्य है कि मैं अज्ञान से जगत् को देखता था। जगत् तो कुछ वस्तु नहीं, सब ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। यह जगत् भ्रम से भासित होता है। अब मैंने जाना कि यह जगत् वास्तव में न पहले था और न आगे होगा। सब शान्त निरालम्ब विज्ञानघनसत्ता है। और भ्रान्ति भी कुछ वस्तु नहीं, निर्विकार शान्तरूप ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है जैसे स्वर्ग, परलोक, स्वप्न और संकल्पपुर के आदि में अद्वैतचिन्मात्रासत्ता होती है और उसका आभास संवेदन स्पन्दन फुरता है तो अनेक पदार्थों सहित जगत् भासित हो आता है, सो वह अनुभवरूप है, उससे भिन्न कुछ सत् नहीं, वैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है। हे प्रभो! अब मैंने तुम्हारी कृपा से ऐसे निश्चय किया है कि जगत् अविचार सिद्ध है। विचार करने से निवृत्त हो जाता। जैसे खरगोश के सींग और आकाश के फूल असत् होते हैं, वैसे ही जगत् असत् है। बड़ा आश्चर्य है कि असत्‌रूप अविद्या ने जगत् को मोहित किया था। अब मैंने जाना कि अविद्या कुछ वस्तु नहीं, अपनी, कल्पना ही अपने को बन्धन करती है। जैसे अपनी परछाहीं में बालक भूत की कल्पना करता है और आप ही

डरता है, वैसे ही अपनी कल्पना ही अविद्यारूप भासित होती है। पर जब तक विचार नहीं होता तभी तक भासित होती है, विचार करने से उसका अत्यन्त अभाव हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प दिखता है और रस्सी के ज्ञान से सर्प का अत्यन्त अभाव हो जाता है। जैसे किसी स्थान में भ्रम से मनुष्य भासित होता है, वैसे ही आत्मा में भ्रम से अविद्यारूप जगत् भासित होता है। जैसे आकाश के फूल और खरगोश के सींग कुछ वस्तु नहीं, वैसे ही अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न में बन्धया का पुत्र दिखे तो भी भ्रममात्र है। और स्वप्न में अपने मरने का अनुभव हो, वह भी भ्रम है, वैसे ही अविद्यारूप जगत् दिखता है तो भी असत्य है, प्रमाणरूप नहीं। प्रमाण उसे कहते हैं, जो यथार्थ ज्ञान का साधक हो, पर यह जो प्रत्यक्ष प्रमाण यथार्थ नहीं, क्योंकि वस्तुरूप आत्मा है, वह ज्यों का त्यों नहीं दिखता। सीपी में रूपे के समान उलटा भासित होता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है, तो भी असत्रूप है—इसे प्रमाणरूप क्योंकर जानें।

हे भगवन् ! यह जगत् और कुछ वस्तु नहीं, केवल कल्पनामात्र है। जैसे-जैसे आत्मा में संकल्प दृढ़ होता है, वैसे ही वैसे जगत् भासित होता है। जैसे जो पुरुष स्वर्ग में बैठा हो, उसके हृदय में यदि कोई चिन्ता उपजे, तो उसको स्वर्ग भी नरकरूप हो जाता है, क्योंकि भावना नरक की हो जाती है। हे भगवन् ! यह जगत् केवल वासनामात्र है। आत्मा में जगत् कुछ आरम्भ-परिणाम से नहीं बना, यह जगत् केवल चित्त में है। जैसे पत्थर की शिला में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, सो जैसी कल्पना है वैसी ही भासित होती हैं-शिला से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही आत्मा में चित्त ने जगत् के पदार्थ रचे हैं। जैसी-जैसी भावना करता है, वैसी ही वैसी यह देखता है। आत्मा में जगत् न हुआ है और न आगे होगा। ब्रह्मसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है। वह स्वच्छ, अद्वैत, परम मौनरूप तथा द्वैत और एक की कल्पना से रहित है और मुनीश्वरों से सेवनीय है। ऐसा

पद मैंने पाया है, अब मैं अपने आपमें स्थित और सब दुःखों से रहित हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रान्तिवर्णनं नाम द्विशताधिकत्रिसप्ततितमस्सर्गः ।। २७३ ।।

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! आदि, अन्त और मध्य से रहित जो पद है और जिसको जानना मुनियों के लिए कठिन है, वह पद मैंने पाया है। एक और द्वैत की कल्पना जो शास्त्रों और वेदों में कही है, वह मेरी मिट गई है। अब मैं परमशान्त होकर निश्शंक हुआ हूँ। मुझको कोई दुःख नहीं रहा। सब जगत् मुझे आत्मरूप ही दिखता है। हे भगवन् ! अब मैंने जाना कि न कोई अविद्या है, न विद्या है, न सुख है और न दुःख है। मैं सर्वदा अपने आत्मपद में स्थित हूँ। मैंने पाने योग्य पद पाया है, जो पहले भी प्राप्त था। जो कहते हैं कि हम उस पद को नहीं जानते, उनको भी वह प्राप्त है, परन्तु वे अज्ञान से नहीं जानते। वह पद और किसी उपाय से नहीं जाना जा सकता, अपने आप जाना जाता है। यह भी नहीं है कि किसी साधन से जनाइये और जानने योग्य और हो। वह तो आप ही बोधरूप है। न कोई भ्रान्ति है, न जगत् है। सब आत्मा ही है। हे मुनीश्वर! अज्ञान और ज्ञान भी ऐसे हैं, जैसे स्वप्न की सृष्टि हो। जैसे उसमें अन्धकार दिखता है, उसका तब नाश होता है, जब सूर्य उदय हो। जब स्वप्न से जाग उठे, तब न अन्धकार रहता है और न प्रकाश ही रहता है। वैसे ही आत्मपद में जागने से ज्ञान और अज्ञान, दोनों का अभाव हो जाता है और द्वितीय की कल्पना मिट जाती है। जब संवेदन फुरता है, तब जगत् भासित होता है, परन्तु जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। जैसे शिला का भीतर जड़ीभूत होता है, वैसे ही आत्मा का रूप जगत् है। जैसे जल और तरंग में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् अभिन्न रूप है।

हे मुनीश्वर ! जिस पुरुष को इस प्रकार आत्मा में अहंप्रतीति हुई

है, वह कार्यकर्ता दिखता है, तो भी निश्चय ही कुछ नहीं करता, और अशान्तरूप दिखता है, तो भी सदा शान्तरूप है। हे मुनीश्वर ! अज्ञान मध्याह्न का सूर्य है और जगत् की सत्यता दिन है। जगत् के भाव-अभाव पदार्थ उसका प्रकाश हैं और तृष्णा मरुस्थल है, जिसमें अज्ञानी जीव पथिक हैं। उनको यह दिन और मार्ग निवृत्त नहीं होता। जो ज्ञानवान् स्वभाव में स्थित हैं, उनको न संसार का सत्यतारूपी दिन भासित होता है और न तृष्णारूपी मरुस्थल दिखता है। वे संसार की ओर से सो रहे हैं। ऐसी अद्वैतसत्ता उनको प्राप्त हुई है, जहाँ सत्य और असत्य, दोनों नहीं हैं, इस कारण उन्हें जगत् की कलना नहीं भासित होती। हे मुनीश्वर ! अब मैं जागा हूँ और सब जगत् मुझको अपना ही दिखता है। मैं निर्वाणरूप, निराकार, निरिच्छ और स्वभावसत्तारूप हूँ ? अब मुझको कोई दुःख नहीं। हे मुनीश्वर ! उस पद को मैंने पाया है, जिसके पाने से तृष्णा कभी नहीं उपजती। जैसे पाषाण की शिला में प्राण नहीं जगते, वैसे ही मुझमें तृष्णा नहीं जगती। मुझको सब आत्मरूप ही भासित होता है। यह जो जीव है, उसमें जीवत्व कुछ नहीं है। जीवत्व भ्रान्ति सिद्ध है। सब आत्मस्वरूप है। मुझको तो निरालम्ब सत्ता अपनी ही भासित होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रांतिवर्णनं नाम
द्विशताधिकचतुःसप्ततितमस्सर्गः ।। २७४ ।।

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! आत्मा में अनन्तसृष्टि उपजती हैं। जैसे मेघ की बूँदों की गिनती नहीं होती, वैसे ही परमात्मा में सृष्टियों की गिनती नहीं हो सकती। जैसे एक रत्न की असंख्य किरणें होती हैं वैसे ही परमात्मा में असंख्य सृष्टियाँ हैं; कई परस्पर मिलती और कई नहीं मिलती हैं; परन्तु स्वरूप से सब एकरूप हैं। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं तो उनमें कई नूतन भिन्न-भिन्न और ही प्रकार की उठती हैं, कई परस्पर सदृश ज्ञात होती हैं और कई नहीं होतीं, और जैसे एक ही ज्वाला के बहुत दीपक होते हैं, उनमें कोई अन्योन्य परस्पर मिलते हैं और नहीं भी मिलते; पर स्वरूप से सब एकरूप है, वैसे ही आत्मा में अनन्त जगत् फुरते हैं,

परन्तु सब परस्पर एकरूप हैं। यदि नाना प्रकार का जगत् देख पड़ा तो उसमें वही रूप हुआ, और कोई कारण तो नहीं है ? जैसे शून्य के आदि में निराकार सत्ता होती है और उसी से सूर्यादिक पदार्थ प्रकट होते हैं, सो वे भी वही रूप प्रकट भासित भी होते हैं, परन्तु निराकार होते हैं, वैसे ही यह जगत् भी अकारण निराकार है। हे मुनीश्वर ! अब मैंने ज्यों का त्यों जाना है। जैसे स्वप्न में मरे हुए बोलते हैं, जीते हुए मृतक देख पड़ते हैं, और सब पदार्थ विपरीत भासित होते हैं, परन्तु जब जाग उठे तब सब ज्यों के त्यों दिखते हैं, वैसे ही मैं जाग उठा हूँ, अब मुझको विपर्यय नहीं भासित होता-यथाभूतार्थ मुझको अब सब आत्मा ही भासित होता है। हे मुनीश्वर ! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे परमसमाधि में स्थित हैं। उनको उत्थान कदापि नहीं होता, अर्थात् स्वरूप से भिन्न नहीं भासित होता। वे व्यवहार करते दिखते हैं, परन्तु व्यवहार से रहित हैं, क्योंकि उनको कुछ अभिलाषा नहीं रहती। वे बिना अभिलाषा चेष्टा करते हैं, पर उनको हृदय से कुछ कर्तृत्व का अभिमान नहीं फुरता। इसी का नाम परम समाधि है। जब बोध की प्राप्ति होती है, तब कोई तृष्णा नहीं रहती, और सब पदार्थ नीरस हो जाते हैं, क्योंकि आत्मपद परमानन्दरूप और तृष्णा से रहित है। उसी का नाम मोक्ष और निर्वाण है, जिसमें उत्थान कोई नहीं।

हे मुनीश्वर ! आत्मानन्द ऐसा पद है, जिसके आनन्द की ओर ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि सभी ज्ञानवानों की वृत्ति सदा दौड़ती है, संसार के पदार्थों की ओर नहीं दौड़ती। जिस पुरुष को शान्त-शीतल स्थान प्राप्त हुआ है, वह फिर ज्येष्ठ-आषाढ़ की धूप नहीं चाहता कि मरुस्थल में दौड़े। वैसे ही ज्ञानवान् की वृत्ति अन्य किसी आनन्द की ओर नहीं जाती। हे मुनीश्वर ! मैंने निश्चय किया है कि तृष्णा का-सा ताप कोई नहीं, और अतृष्णा की-सी शान्ति कोई नहीं है। यदि कोई पुरुष परमेश्वर्य को प्राप्त हुआ हो, पर उसके हृदय में तृष्णा जलती हो तो वह कृपण, दरिद्री और आपदा का घर है। औरे जो निर्धन दिखता हो, परन्तु उसके हृदय में तृष्णा न हो तो वह परमेश्वर्य से सम्पन्न और परम सम्पदा की खान है। बड़ा

पण्डित हो परन्तु तृष्णा सहित हो, उसे परम मूर्ख जानिये। उसको बोध की प्राप्ति कदापि न होगी। जैसे चित्र की अग्नि शीत को नहीं दूर करती, वैसे ही उसकी मूर्खता को पण्डित भी नष्ट नहीं कर सकता। हे मुनीश्वर! सहस्रों में कोई बिरला पुरुष तृष्णा से रहित होता है। जैसे पिंजड़े में पड़ा सिंह पिंजड़े को तोड़कर निकले, वैसे कोई बिरला ही तृष्णा के जाल को तोड़कर निकल पाता है। जो पण्डित स्वरूप का विचार कर वितृष्ण नहीं होता और अतीत होकर वितृष्ण नहीं होता तो वे पण्डित और अतीत, दोनों मूर्ख हैं। ज्यों-ज्यों तृष्णा को घटावेगा, त्यों-त्यों जाग्रत्‌रूप बोध उदय होगा। जैसे ज्यों-ज्यों रात्रि क्षीण होती है , त्यों-त्यों दिन का प्रकाश होता है और ज्यों-ज्यों रात्रि की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों दिन क्षीण होता है, वैसे ही ज्यों-ज्यों तृष्णा बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों बोध की प्राप्ति कठिन होगी और ज्यों-ज्यों तृष्णा घटती जायगी, त्यों-त्यों बोध की प्राप्ति सुगम होगी। हे मुनीश्वर ! अब मैं उस पद को प्राप्त हुआ हूँ, जो अच्युत, निराकार और द्वैत था। एक की कलना से रहित है। उस पद को मैंने आत्मरूप जाना है और अब मैं निश्शंक हुआ हूँ। जिस पद के पाने से कोई इच्छा नहीं रहती, वही परमानन्दरूप आत्मपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रान्तिवर्णनं नाम द्विशताधिकपञ्चसप्ततितमस्सर्गः ।। २७५।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बड़ा कल्याण हुआ, जो तुम आत्मज्ञान पाकर जागे हो। ऐसे परम पावन वचन तुमने कहे हैं, जिनको सुनने से पाप का नाश होता है। ये वचन अज्ञानरूपी अन्धकार के नाशक सूर्य हैं और तन-मन के ताप का नाश करने वाली चन्द्रमा की किरणें हैं। हे राम! जो पुरुष अपने स्वभाव में स्थित है, उनकी व्यवहार और समाधि में एक ही दशा होती है। वे अनेक प्रकार की चेष्टा करते भी देख पड़ते हैं, परन्तु उनके निश्चय में कर्तृत्व का अभिमान नहीं जगता। वे सदा परमध्यान में स्थित है। जैसे पत्थर की शिला में स्पन्दन नहीं जगता, वैसे ही उनको कुछ कर्तृत्व बुद्धि नहीं उपजती, क्योंकि उनके हृदय में देहाभिमान नहीं रहा है

और वे चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हुए हैं। वह आत्मपद परम शान्तरूप और द्वैत-कलना से रहित, एक है। ऐसा जो पद है, उसे ज्ञानवान् आत्मज्ञान से जानता है। इसी को निर्वाण और इसी को मोक्ष कहते हैं। हे राम ! ऐसा जो पद है, उसमें मैं सदा स्थित हूँ। ब्रह्मा, विष्णु आदि जो ज्ञानवान् हैं, वे भी उसी पद में स्थित हैं। वे नाना प्रकार की चेष्टा करते भी दिखते हैं, परन्तु सदा शान्तरूप हैं। उनको क्रिया और समाधि में एक ही आत्मपद का निश्चय रहता है। जैसे वायु स्पन्दन और निस्पन्द में एक ही है और जल और तरंग ठहरने में एक ही है, वैसे ही ज्ञानी दोनों में सम है। जैसे आकाश और शून्यता में भेद नहीं वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा से मुझको कोई कलना नहीं फुरती। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से लेकर तृण तक जो कुछ जगत् है, वह सब मुझको आकाशरूप भासित होता है। सर्वदा सब प्रकार में अपने आपमें स्थित, अच्युत और अद्वैतरूप हूँ। मुझमें जगत् की कलना कोई नहीं। चित्तसंवेदन द्वारा मैं ही जगत्रूप भासित होता हूँ, पर स्वरूप से कभी चलायमान नहीं होता। मैं अचैत्य चिन्मात्रस्वरूप हूँ। अपने से भिन्न मुझको कुछ नहीं भासित होता। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं जानता हूँ कि तुम जागे हो, परन्तु अपने दृढ़बोध के लिए मुझसे फिर प्रश्न करो कि "यह जगत् है नहीं तो दिखता क्या है ?" राम बोले, हे भगवन् ! मैं तुमसे तो तब पूछूँ जो मुझको जगत् का आकार दिखता हो। मुझको तो जगत् कुछ दिखता ही नहीं। जैसे संकल्प का अभाव होने पर संकल्प की चेष्टा भी नहीं भासित होती; जैसे बाजीगर की माया का अभाव होने पर बाजी नहीं रहती; अथवा स्वप्न के अभाव होने पर स्वप्न की सृष्टि नहीं दिखती और भविष्यत्कथा के पुरुष नहीं भासित होते; वैसे ही मुझको जगत् नहीं दिखता; तब फिर मैं किसका संशय उठाऊँ ? आदि में जो संवेदन फुरा है, वह विराट् पुरुष होकर स्थित हुआ है, और उसी ने आगे देश, काल, पदार्थ, स्थावर-जंगम जगत् को रचा है-उसी के समष्टि शरीर का नाम

विराट् है। जैसे स्वप्न का पर्वत हो, वैसे ही यह विराट् पुरुष आकाशरूप है। जब वह आप ही आकाशरूप है, तब उसका रचा जगत् मैं क्यों पूछूँ? जैसे स्वप्न की मृत्तिका आकाशरूप है, अर्थात् जो उपजी ही अनउपजी है, तो उसके पात्रों को मैं क्यों पूछूँ ? इसलिए न कोई विराट् है और न उसका जगत् है, मिथ्या ही विराट् है और मिथ्या ही उसकी चेष्टा है। केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। न कोई जगत् है और न कोई उसका विराट् है। जैसे स्वप्न का पर्वत आभासमात्र होता है, वैसे ही यह जगत् आकार दिखता है।

जैसे बीज से वृक्ष होता है, वैसे ही ब्रह्म से जगत् प्रकट हुआ है। बल्कि, यह भी कैसे कहिये ? बीज तो साकार होता है और उसमें वृक्ष का सद्भाव रहता है, जो परिणाम से वृक्ष होता है, पर आत्मा ऐसे कैसे हो ? वह तो निराकार है और उसमें जगत् नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार, अद्वैत और निर्वेद है। उसको जगत् का कारण कैसे कहिये ? न कोई जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। ये अवस्थाएँ भी आकाशमात्र हैं। आत्मा परिणाम भाव को नहीं प्राप्त होता। वह तो सदा अपने आपमें स्थित है। हे मुनीश्वर ! मैं, तुम, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सब आकाशरूप हैं और अब मुझको सब आत्मा ही भासित होता है। हे मुनीश्वर ! एक सविकल्पज्ञान है और दूसरा निर्विकल्पज्ञान। सो वह आकाश सदृश अचैत्य चिन्मात्र है। जो दृश्य के सम्बन्ध से रहित है, उसे आकाश-सा निर्मल जानो। वही निर्विकल्पज्ञान है। जिनको यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, वे महापुरुष हैं, उनको मेरा नमस्कार है। और जिनको दृश्य का संयोग है, वे सविकल्प ज्ञानी हैं। वे संसारी हैं और उनको विषमता सहित जगत् भिन्न-भिन्न दिखता है। परन्तु तो भी भिन्न कुछ नहीं है। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरंग उठते हैं, वे सभी जल-स्वरूप होते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न जीव और उनका ज्ञान है। तो भी मुझको अपना ही रूप भासित होता है।

जैसे अवयवी को सब अंग अपने ही लगते हैं, वैसे ही सब जगत्

मुझको अपना ही केवल अद्वैतरूप भासित होता है, और जगत् की कोई कलना नहीं फुरती। जैसे स्वप्न से जागे को स्वप्न की सृष्टि नहीं फुरती, कल्पना से रहित आप ही अद्वैत भासित होता है, वैसे ही मुझको जगत् कल्पना से रहित अपना ही आप भासित होता है। हे मुनीश्वर ! निगम आदि जो शास्त्र में उनका उल्लंघन कर मैंने ये वचन कहे हैं, परन्तु जो मेरे हृदय में है वही कहा है। जो कुछ हृदय में होता है, वही बाहर वाणी से कहा जाता है। जैसे जो बीज बोया है, उसी का अंकुर निकलता है, बीज के बिना अंकुर नहीं निकलता, वैसे ही जो कुछ मेरे हृदय में है, वही वाणी से कहता हूँ। यह विद्या सब प्रमाणों से सिद्ध है। हे मुनीश्वर ! जिसको यह दशा प्राप्त है, वही इसे जानता है और कोई नहीं जान सकता। जैसे जिसने मद्यपान किया है, वही उन्मत्तता को जानता है, और कोई नहीं जान सकता, वैसे ही जो ज्ञानवान् है, वही आत्मरस को जानता है, और कोई नहीं जानता। उस आत्मरस के पाने से फिर कोई कल्पना नहीं रहती। हे मुनीश्वर ! मैं आत्मा, अजन्मा, अविनाशी और परमशान्तरूप हूँ। उभय-एक की कल्पना से रहित, अ-चेत, चिन्मात्र हूँ। जगत्रूप हुए की तरह भी मैं भासित होता हूँ, पर निराभास हूँ। मुझमें आभास की कोई वस्तु नहीं; क्योंकि निराकार हूँ। इस प्रकार मैंने अपने को यथार्थ चिन्मात्र जाना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रान्तिवर्णनं नाम
द्विशताधिकषट्सप्ततितमस्सर्गः ।। २७६ ।।

वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! इस प्रकार कहकर रामचन्द्र एक मुहूर्तभर चुप हो गये, अर्थात् उन्होंने परमात्मपद में विश्रान्ति पाई, उनकी इन्द्रियों की और मन की वृत्ति का आत्मपद में उपशम हुआ। उसके उपरान्त जान बूझकर कमलनयन राम ने लीला के लिए यों प्रश्न किया—हे संशयरूपी मेघ के नाशक शरत्काल ! मुझको एक हलका सा संशय हुआ है, उसे दूर करो। हे मुनीश्वर ! आत्मपद अव्यक्त और अचिन्त्य है, अर्थात् इन्द्रियों का और मन का विषय नहीं है। वह मन के

चिन्तन में भी नहीं आता। जो बड़े महापुरुष हैं, वे भी उसे वाणी से कह नहीं सकते। तो ऐसा अ-चेत चिन्मात्र आत्मतत्त्व शास्त्र से कैसे जाना जा सकता है ? शास्त्र तो अविच्छेद प्रतियोगी करके कहते हैं, सो वह सविकल्प है। पर सविकल्प से निर्विकल्प पद कैसे जाना जाता है ? उसे फिर गुरु और शास्त्र से कैसे जानिये ? विकल्परूप शास्त्र हैं। उनमें भी सार अर्थ मिलता है। परन्तु विकल्प परिच्छेद प्रतियोगी जो उसके साथ हैं, उनसे सर्वात्मा क्योंकर जानिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वह न गुरु और शास्त्र से जाना जाता है और न गुरु और शास्त्र के बिना भी जाना जाता है। हे राम ! नाना प्रकार के जो विकल्परूप शास्त्र हैं, उनसे निर्विकल्परूप कैसे जानता है, सो यह भी सुनो। हे राम ! व्यवधान देश के किटक-जाति के कुछ लोग थे, जो गृहस्थी में रहते थे। निदान एक समय उन पर आपदा पड़ी और वे चिन्ता से दुर्बल होने लगे। उन्हें भोजन भी नहीं जुरता। जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी ज्येष्ठ-आषाढ़ की धूप से सूख जाती है, जैसे जल से निकला कमल सूख जाता है, वैसे ही किटक सम्पदारूपी जल से निकलकर आपदारूपी धूप से सूख गये। तब उन्होंने विचार किया कि किसी प्रकार हमारा पेट भरे, इसलिए हम वन में जाकर लकड़ी चुने, जिससे हमारा कष्ट दूर हो।

हे राम ! यों विचार कर वे वन में गये और लकड़ियाँ ले आये। इसी प्रकार वे लकड़ियाँ ले आते और बाजार में बेचकर पेट भरते थे। जब कुछ काल व्यतीत हुआ, तब उनमें से किसी एक ने चन्दन की लकड़ी पहचानी और उनसे विशेष द्रव्य पाया। इसी प्रकार एक को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रत्न प्राप्त हुए। इस प्रकार उनको विशेष ऐश्वर्य प्राप्त हुआ, इसलिए उन्होंने लकड़ी बेचना छोड़ दिया। वे फिर यह सोचकर और स्थान ढूँढ़ने लगे कि रत्न से भी विशेष कुछ फायदा मिले। वन की पृथ्वी को खोदते-खोदते उनको चिन्तामणि मिली, इसलिए वे बड़े ऐश्वर्यशाली हो गये। जैसे ब्रह्मा, इन्द्रादिक हैं, वैसे ही हो गये। हे राम ! जिन्होंने उद्यम करके वन का सेवन किया था, उनको बड़ा सुख प्राप्त हुआ। लकड़ियाँ उठाते-उठाते उनका

उदर पूर्ण हुआ और दुःख निवृत्त हुआ। जिनको चन्दन की लकड़ी प्राप्त हुई, उनका उदर पूर्ण होने से और भी सन्ताप मिटे। और जिनको चिन्तामणि प्राप्त हुई, उनके सब सन्ताप मिट गये और वे परमेश्वर्यमान् हुए। परन्तु सबको वन से प्राप्त हुआ और जो वन के निकट उद्यम करने न गये, घर ही बैठे रहे, उन्होंने दुःखित होकर प्राणों को त्याग दिया, परन्तु सुख न पाया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिन्तामणिप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकसप्तसप्ततितमस्सर्गः ।। २७७ ।।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो तुमने किटक का वृत्तान्त कहा उसका तात्पर्य मैंने कुछ न जाना। वे किटक कौन-कौन थे; वह वन क्या था और आपदा क्या थी, सो कृपा करके प्रकट कहो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये सब जीव जो तुम देखते हो, वे किटक हैं। उन पर अज्ञानरूपी आपदा पड़ी है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापों की चिन्ता से वे जलते हैं। आध्यात्मिक काम-क्रोधादिक मानस दुःख हैं। वात, पित्त, कफ आदिक आधिभौतिक देह के दुःख हैं। और आधिदैविक वे दुःख हैं, जो ग्रहों से अनिच्छित प्राप्त हैं। हे राम ! उनमें प्रयत्न करके जो जीव शास्त्ररूपी वन में गये वे सुखी हुए और जो अर्थी सुख के निमित्त शास्त्ररूपी वन को सेवते हैं, उनको सत्य कर्मरूपी लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे नरकरूपी उदरपूर्ति का जो दुःख था, वह निवृत्त होता है और वे स्वर्गरूपी सुख पाते हैं। फिर शास्त्ररूपी वन का सेवन करते-करते उपासनारूपी चन्दनवृक्ष प्राप्त होता है, उससे और दुःख भी निवृत्त होते हैं और वे विशेष सुख पाते हैं। जब जीव अपने इष्टदेव की सेवा करता है, तब स्वर्गादिक विशेष सुख पाता है और अपने स्थान को प्राप्त होता है। फिर जब शास्त्ररूपी वन को ढूँढता है, तब विचाररूपी रत्नविशेष पाता है। जब सत्य-असत्य का विचार प्राप्त होता है, तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। यह जो सुख प्राप्त होता है, वह शास्त्र से ही होता है। जैसे चन्दन और लकड़ियाँ आदि पदार्थ वन में प्रकट थे और चिन्तामणि गुप्त थी, वैसे ही

और शास्त्रों में धर्म, अर्थ और काम प्रकट है, पर ज्ञानरूपी चिन्तामणि गुप्त है। जब जीव दूसरे शास्त्ररूपी वन को वैराग्य और अभ्यासरूपी यत्न से खोजे, तब आत्मज्ञानरूपी चिन्तामणि पाता है।

हे राम ! वन में ही उसने चिन्तामणि पाई थी, क्योंकि वहाँ चिन्तामणि का वन था। परन्तु जब अभ्यास किया था, तब पाई थी और उसी वन में पाई थी। वैसे ही गुरु और शास्त्र का भी जब मिट्टी के खोदने के समान अभ्यास करता है, तब आप ही चिन्तामणि सदृश आत्मप्रकाश होता है। जैसे मिट्टी के खोदने से चिन्तामणि का प्रकाश नहीं उपजता, क्योंकि चिन्तामणि तो पहले ही प्रकाशरूप थी, खोदने से केवल आवरण दूर हुआ, तब आप ही निकल आई, वैसे ही गुरु और शास्त्रों के वचन के अभ्यास से अन्तःकरण जब शुद्ध होता है, तब आत्मसत्ता स्वतः प्रकट होती है। गुरु और शास्त्र हृदय की मलिनता दूर करते हैं, और जब मलिनता दूर होती है, तब आत्मसत्ता स्वाभाविक प्रकाशित होती है। इससे गुरु और शास्त्रों से मलिनता दूर होती है परन्तु इनकी कल्पना भी द्वैत में होती है। वह कल्पना द्वैत संसार का नाश करने वाली है। परमार्थ की अपेक्षा शास्त्र और गुरु भी द्वैत कल्पना है, और अज्ञानी की अपेक्षा गुरु और शास्त्र कृतार्थ करते है और इनके अभ्यास से जीव आत्मपद पाता है। प्रथम अज्ञानी शास्त्र का भोग के निमित्त सेवन करते हैं और शास्त्र में भोग का अर्थ जानते है, जैसे लकड़ियों के लिये वे किटक वन का सेवन करते थे। शास्त्र में सब कुछ हैं। जैसा जिसको रुचि के अनुसार अभ्यास होता है वैसे ही पदार्थ उसको उससे प्राप्त होते हैं। शास्त्र एक ही है, परन्तु पदार्थों में भेद है। जैसे पौंड़े के रस से गुड़, शकर और मिसरी बनती है, वैसे ही शास्त्र एक है, उसमें पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। जिस-जिस अर्थ के पाने के लिये कोई यत्न करेगा, उसी को पावेगा। शास्त्र में भोग भी हैं और मोक्ष भी हैं। अज्ञानी भोग के निमित्त यत्न करते हैं, परन्तु वे भी धन्य है, क्योंकि शास्त्र का तो सेवन करने लगे। उन्हें क़भी किसी काल में आत्मपदरूपी चिन्तामणि भी प्राप्त होगी। परन्तु आत्मपद पाने के लिये ही शास्त्र श्रवण

करना चाहिये। सुन-सुनकर अभ्यास द्वारा आत्मपद प्राप्त होगा। आत्मपद पाने पर सब ओर समभाव होगा। जैसे सूर्य के उदय होने पर सब ओर प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही ज़ब सब ओर समता प्रकाशित होगी, तब सुषुप्ति की सी स्थित होगी, अर्थात् द्वैत और एक की कलना भी शान्त हो जायगी और अनुभव अद्वैत में जाग्रत् होगी। परन्तु यह संतों के संग और शास्त्रों के विचार अभ्यास द्वारा होगा। जो जन संसारसमुद्र से पार करनेवाले परोपकारी हों, वे ही सन्तजन हैं। उनके संग से आत्मपद प्राप्त होगा।

हे राम ! गुरु और शास्त्र नेति-नेति कहकर जानते हैं अर्थात् अनात्मधर्म का निषेध करके आत्मतत्त्व शेष रखते हैं। जब अनात्मधर्म का त्याग करोंगे, तब आत्मतत्त्व शेष रहेगा। उसको जान लोगे तो उसके जानने पर और कुछ जानना नहीं रह जायगा। उसके जानने में यत्न भी कुछ नहीं। केवल आवरण दूर करने के लिये यत्न है। जैसे सूर्य के आगे बादल आता है तो सूर्य नहीं दिखता, इसलिये बादलों को दूर करने का यत्न करना चाहिये, सूर्य के प्रकाश के निमित्त यत्न नहीं चाहिये। जब बादल दूर होते हैं, तब स्वाभाविक ही सूर्य प्रकाशित होता है। वैसे ही गुरु और शास्त्र के यत्न से जब अहंकाररूपी आवरण दूर होते हैं, तब सुप्रकाश आत्मा चमकता है। सात्त्विकगुणी जो गुरु और शास्त्र हैं उनसे जब रज और तमगुणों का अभाव होता है, तब परम अनुभव ज्योति आत्मा अकस्मात् प्रकाशित होता है। जब वह प्रकाश हुआ, तब उससे जीव उन्मत्त हो जाता है और अद्वैतरूपी संसार की कल्पना नहीं रहती। जैसे सुन्दर स्त्री को देखकर कामी पुरुष उन्मत्त हो जाता है, और संसार की सुरति भूल जाती है, वैसे ही ज्ञानी आत्मपद को पाकर उन्मत्त होता है और संसार की सुरति उसे भूल जाती है। वह परम ऐश्वर्यवान् होता है। उसका साधन केवल शास्त्र का विचार है उनके सेवन से चिन्तामणि पाने का जो दृष्टान्त कहा है, उसे इस प्रकार जान लेना।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे गुरुशास्त्रोपमानवर्णनं नाम द्विशताधिकाष्टसप्ततितमस्सर्गः ।। २७८ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह सम्पूर्ण सिद्धान्त मैंने तुमसे विस्तारपूर्वक कहा है। इसको सुनने और बारम्बार विचारने से मूढ़ भी निरावरण होंगे। फिर उत्तम पुरुष के निरावरण होने में क्या आश्चर्य है ? हे राम ! यह मैं भी जानता हूँ कि तुम विदितवेद हुए हो। प्रथम मैंने उत्पत्तिप्रकरण में तुमसे कहा है कि जगत् की उत्पत्ति चित्तसंवेदन से हुई है। फिर स्थितिप्रकरण में कहा है कि जगत् की स्थिति इस प्रकार हुई है। उत्पत्ति यह कि चित्तसंवेदन के फुरने से जगत् उपजा है और संवेदन फुरने की दृढ़ता से ही उसकी स्थिति हुई है। उसके उपरान्त उपशमप्रकरण में कहा है कि मन इस प्रकार स्फुरण रहित होता है। जब चित्त का उपशम हुआ, तब परम कल्याण हुआ। मन के फुरने का नाम संसार है। जब मन का उपशम हो जाता है, तब संसार की कल्पना मिट जाती है। यह सब विस्तारपूर्वक कहा है। परन्तु अब जानता हूँ कि तुम बोधवान् हुए हो। हे राम ! मैंने तुमसे पहले भी आत्मज्ञान का उपाय कहा है और जिनको ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके लक्षण भी कहे हैं। अब फिर भी संक्षेप से कहता हूँ। प्रथम बालअवस्था में सन्तजनों का संग करना और सत्शास्त्रों को विचारना चाहिए। इस शुभ आचार से, अभ्यास द्वारा, जब आत्मपद की प्राप्ति होती है, तब समता होती है और मनुष्य सबका सुहृद् हो जाता है। सौहार्द परमानन्द का जनक है और जननी की तरह सदा संग रहता है। जैसे सुन्दर पुरुष को देखकर उसकी स्त्री प्रसन्न होती है और उसके लिए प्राण का देना भी स्वीकार करती है, पर उस पुरुष को नहीं त्यागती, वैसे ही जिस ज्ञानवान् पुरुष की ब्रह्म लक्ष्मी से सुन्दर कान्ति है, उसको समता, मुदिता और सुहृदतारूपी स्त्री नहीं त्यागती; सदा उसके हृदयरूपी कण्ठ में लगी रहती है और वह पुरुष सदा प्रसन्न रहता है।

हे राम ! जिसको देवताओं का राज्य प्राप्त होता है वह भी ऐसा प्रसन्न नहीं होता और जिसको सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं, वह भी ऐसा प्रसन्न नहीं होता, जैसा ज्ञानवान् प्रसन्न होता है। हे राम ! समता तो द्विधारूपी अन्धकार का नाशक सूर्य है। वह तीनों तापरूपी उष्णता का

नाश करने को पूर्णमासी का चन्द्रमा है। सुहृदता और समता सौभाग्यरूपी जल का नीचा स्थान है। जैसे जल नीचे स्थान में स्वाभाविक ही चला जाता है, वैसे ही सुहृदता में सौभाग्य स्वाभाविक होता है। जैसे चन्द्रमा की किरणों के अमृत से चकोर तृप्त होता है, वैसे ही आत्मारूपी चन्द्रमा की समता और सुहृदतारूपी किरणों को पाकर ब्रह्मादिक चकोर तृप्त होकर आनन्दित होते और जीते हैं। हे राम ! वह ज्ञानवान् ऐसी कान्ति से पूर्ण है, जो कभी क्षीण नहीं होती। पूर्णमासी के चन्द्रमा में भी उपाधि दिखती है, परन्तु ज्ञानवान् के मुख में वैसी भी उपाधि नहीं। जैसी उत्तम चिन्तामणि की कान्ति होती है, वैसी ही ज्ञानवान् की कान्ति होती है, जो रागद्वेष से कभी क्षीण नहीं होती । वह सदा प्रसन्न रहता है। हे राम ! समता ही मानों सौभाग्यरूपी कमल की खानि है। समदृष्टि पुरुष ऐसे आनन्द के लिए जगत् में विचरता है और प्राकृत आचार को करता है। वह भोजन करता है, ग्रहण करता है, या कुछ लेता-देता है। सब लोग उसके कर्तृत्व की स्तुति करते हैं। हे राम ! ऐसा पुरुष ब्रह्मादिक का भी पूजनीय है। सभी उसका मान करते हैं, सब उसके दर्शन की इच्छा करते हैं और दर्शन करके प्रसन्न होते हैं।

जैसे सूर्य के उदय होने पर सूर्यमुखी कमल खिल आते हैं और सब हुलास को प्राप्त होते हैं, वैसे ही उसका दर्शन करके सब आह्लादित होते हैं। वह शुभ आचार ही करता है। जो कुछ अन्यथा भी कर बैठता है तो भी लोग उसकी निन्दा नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि यह समदर्शी है। समता से वह सबका सुहृद होता है शत्रु भी उसके मित्र हो जाते हैं। जिनमें समताभाव उदय हुआ है, उनको अग्नि जला नहीं सकती; जल नहीं डुबा सकता और वायु नहीं सुखा सकती। वह जैसी इच्छा करे वैसी ही सिद्धि होती है। हे राम ! जिसको समता प्राप्त हुई है, वह पुरुष निरुपम हो जाता है, और उसको कोई संसार की उपमा नहीं दे सकता। जिसको समता नहीं प्राप्त हुई, वह सबके संग सुहृदता का अभ्यास करे तो जो उसका शत्रु हो वह भी मित्र हो जाता है, क्योंकि अभ्यास की दृढ़ता से

शत्रु भी मित्र दिखने लगते हैं। जो सबमें समता का अभ्यास करता है, वही दृढ़ होता है और समताभाव से कभी चलायमान नहीं होता। हे राम! एक राजा था, उसने अपने शरीर का मांस काटकर भूखे को दिया, परन्तु समता से चलायमान न हुआ; ज्यों का त्यों रहा। एक पुरुष को उसकी पुत्री अति प्यारी थी। उसने उसे किसी को दिया, जिसने शत्रु को दे दी, परन्तु वह ज्यों का त्यों रहा। एक और राजा था, जिसकी स्त्री अति प्यारी थी। पर उसने उसका कुछ व्यभिचार सुना और मार डाला, परन्तु समतारूप धर्म को न त्यागा।

हे राम ! जब राजा के घर में मंगल उत्सव होता है, तब वह अपने नगर को भूषणों और वस्त्रों से सजाता और प्रसन्न होता है। यही अवस्था राजा जनक की देखी थी। एक समय उन्होंने सब स्थानों को अति प्रज्वलित अग्नि से जलते देखा, पर अपने समताभाव से चलायमान न हुए। एक और राजा था। उसने राज्य भी और को दे दिया और आप राज्य बिना विचरता रहा। परन्तु समताभाव से चलायमान न हुआ। हे राम ! एक दैत्य था, उसको देवताओं का राज्य मिला और फिर नष्ट भी हो गया, परन्तु दोनों भावों में वह सम ही रहा। एक बालक था, उसने चन्द्रमा को लड्डू जानकर फूँक मारी, परन्तु वह ज्यों का त्यों रहा। हे राम! इसी प्रकार मैंने अनेक देखे हैं, जिनको सम्यक् आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है और वे सुख-दुःख से चलायमान नहीं हुए। हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी का प्रारब्धभोग तुल्य है। परन्तु अज्ञानी रागद्वेष से तपता है, और ज्ञानी दृढ़ समझ के कारण संतप्त नहीं होता। सब अवस्थाओं में उसको समभाव होता है। जो फल आत्मपद का साक्षात् होने से प्राप्त होता है, वह तप, तीर्थ, दान और यज्ञ से भी नहीं प्राप्त होता। जब अपना विचार उत्पन्न होता है, तब सब भ्रान्ति निवृत्त हो जाती हैं और सब जगत् आत्मरूप ही दिखता है। इसी दृष्टि को लिये हुए ज्ञानी प्राकृत आचार में विचरते हैं, परन्तु निश्चय में सदा निर्गुण हैं। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! ऐसी अद्वैतदृष्टिनिष्ठा जिनको प्राप्त हुई है, उनको कर्म करने से क्या प्रयोजन

है ? वे त्याग क्यों नहीं करते ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पुरुष अद्वैतनिष्ठ हैं, उनके हृदय से त्याग-ग्रहण की भ्रान्ति चली जाती है। वे उस भ्रम से रहित होकर प्रारब्ध के अनुसार चेष्टा करते हैं। हे राम ! जो कुछ स्वाभाविक क्रिया उनकी होती है, उसका त्याग वे नहीं करते। उसमें उनको ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे आचार करते हैं-और को ग्रहण नहीं करते और उसका त्याग नहीं करते।

हे राम ! जिनको गृहस्थी में ज्ञान प्राप्त हुआ है, वे गृहस्थी ही में रहते हैं और उसका त्याग नहीं करते—जैसे मैं हूँ। जिनको राज्य में ज्ञान प्राप्त हुआ है, वे राज्य ही में रहे हैं—जैसे तुम हो। जो ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त हुआ है तो वे ब्राह्मण ही के कर्मों में निष्ठ रहे हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ज़िस वर्णाश्रम में किसी को ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह ही कर्म करता है। हे राम ! कुछ ज्ञानवान् गृहस्थी ही में रहे हैं, कुछ राज्य ही करते हैं, कुछ संन्यासी हो रहे हैं, कुछ वन में बिचरते फिरते हैं, कुछ पर्वत कन्दरा में ध्यानावस्थित हो रहे हैं, कुछ नगरों में रहते रहे हैं, कुछ मथुरा, केदारनाथ, प्रयाग, जगन्नाथ, इत्यादि तीर्थों में रहे हैं, कुछ देवता का पूजन, कुछ कर्म, कुछ तीर्थ और अग्निहोत्र करते हैं और कुछ मेरी तरह जप करते हैं। कुछ अस्ताचल पर्वत में, कुछ उदयाचल पर्वत में और कुछ मन्दराचल, हिमाचल इत्यादि पर्वतों में बिचरते रहे हैं। कुछ शास्त्रविहित कर्म करते रहे हैं, कुछ अवधूत हो रहे हैं; कुछ भिक्षा माँग-माँग भोजन करते रहे हैं, कुछ कठोर वचन बोलते रहे हैं, कुछ अज्ञानी की तरह विचरते रहे हैं और कुछ विद्याध्ययन इत्यादि नाना प्रकार की चेष्टा करते रहे हैं, क्योंकि उनको ये चेष्टाएँ स्वाभाविक प्राप्त हुई हैं। ये यत्न से कुछ नहीं करते। हे राम ! वे शुभकर्म करें अथवा अशुभकर्म करें, परन्तु कोई क्रिया उनका बन्धन नहीं करती। पर जो अज्ञानी हैं वे जैसे कर्म करेंगे, वैसे ही फल को भोगेंगे। जो पुण्यकर्म करेंगे तो स्वर्गसुख भोगेंगे, और पाप से नरक-दुःख भोगेंगे। जो कामना से रहित शुभकर्म करेगा, उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा। वह संतों के संग और सत्शास्त्रों से शुद्ध होगा।

हे राम ! जो अर्धप्रबुद्ध हैं, वे जो पाप करने लग जावें और आत्म-अभ्यास त्याग दें तो वे दोनों मार्गों से भ्रष्ट हो जाते हैं—न स्वर्ग को जाते हैं और न आत्मपद को प्राप्त होते हैं। तप, दान, तीर्थादि के सेवन से भी आत्मपद नहीं प्राप्त होता। जब विचार उपजता है और आत्मपद का अभ्यास होता है, तभी आत्मपद मिलता है, और जब आत्मपद प्राप्त होता है, तब मनुष्य निश्शंक हो जाता है। चेष्टाव्यवहार करता भी दिखता है, पर उसका चित्त शान्त हो जाता है। जैसे ताँबे को जब पारस का स्पर्श कराइए, तब वह सुवर्ण हो जाता है। आकार उसका वैसा ही रहता है, परन्तु ताँबे के भाव का अभाव हो जाता है। वैसे ही जब चित्त को आत्मपद का स्पर्श होता है, तब चित्त शान्त हो जाता है। परन्तु चेष्टा उसी प्रकार होती है और जगत् की सत्यता नष्ट हो जाती है। हे राम ! अब तुम जागे हो और निश्शंक हुए हो। तुम्हारा रागद्वेष नष्ट हो गया है। तुम निर्विकार आत्मपद को प्राप्त हुए हो। जन्म, मृत्यु, बढ़ना, घटना, युवा और वृद्ध होना, इन सब विकारों से रहित आत्मपद को तुमने पाया है। सबका अधिष्ठान परम शुद्ध चैतन्य तुमको प्राप्त हुआ है। हे राम ! जो कुछ मुझको कहना था, वह तुमसे मैंने कहा। यह सार का सार आत्मपद है। जो कुछ जानने योग्य था, वह तुमने जाना। इसके उपरान्त न कुछ कहना रहा और न कुछ जानना रहा—यहीं तक कहना और जानना है। अब तुम निश्शंक होकर बिचरो। तुमको कोई संशय नहीं रहा। तुमने क्षय और अतिशय से रहित पद पाया है, अर्थात् तुमने अविनाशी और सबसे उत्तम पद पाया है।

वाल्मीकिजी बोले, हे साधु ! मुनि शार्दूल वशिष्ठजी जब इस प्रकार कहकर चुप हो रहे, तब सब सभा जो बैठी थी, वह परम निर्विकल्प पद में स्थित हो गई। जैसे वायु से रहित कमल फूल पर भौंरे स्थिर होते हैं, वैसे चित्तरूपी भ्रमर आत्मपदरूपी कमल के रस को लेते हुए स्थिर हो रहे। सबके सब ब्रह्म को जानकर ब्रह्मरूप हुए और ब्रह्म ही में स्थित हुए। जितने मृग निकट थे, वे भी तृण का खाना छोड़कर अचल हो गये। दूसरे

पशु-पक्षी भी सुनकर निस्पन्द हो रहे। स्त्रियाँ जो बालकों संयुक्त चपल थीं, वे सुनकर जड़वत् हो गईं। पहले जीवन्मुक्त सिद्धों के गण मोक्ष का उपाय सुनने को आये थे उन्होंने और देवता तथा सिद्धों ने तमाल, कदम्ब, पारिजात, कल्पवृक्ष इत्यादि दिव्य वृक्षों के फूलों की वर्षा की। नगाड़े, भेरी और शंख बजने लगे। सब लोग वशिष्ठजी की स्तुति करने लगे। निदान बड़ा कोलाहल हुआ, जिससे दशों दिशा पूर्ण हो गईं, ऊपर से देवताओं और सिद्धों के नगाड़ों के शब्द हुए, जिनसे पर्वत गूँज उठे और दिव्य फूलों की ऐसी सुगन्ध फैली, मानों पवन भी प्रसन्न हुआ है। तब सिद्धों ने कहा, हे वशिष्ठजी ! हमने भी अनेक मोक्ष के उपाय सुने और उच्चार कहे हैं, परन्तु जैसा तुमने कहा है, वैसा न पहले सुना है, न गाया है और न कहा है। जो तुम्हारे मुखारविन्द से श्रवण किया है, उससे हम परम सिद्धान्त को जान गये हैं। इसके श्रवण से पशु , पक्षी और मृग भी कृतार्थ हुए हैं, फिर मनुष्यों का क्या कहना। वे तो कृतार्थ ही हुए हैं। निष्पाप ज्ञान पाकर वे अवश्य मुक्त होंगे।

वाल्मीकिजी बोले, हे साधु ! ऐसे कहकर उन्होंने फिर फूलों की वर्षा की और वशिष्ठजी के चन्दन का लेप किया। जब इस प्रकार वे पूजा कर चुके, तब और जो लोग निकट बैठे थे, वे परम विस्मय को प्राप्त हुए कि ऐसा परम उपदेश वशिष्ठजी ने किया। तब राजा दशरथ उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर वशिष्ठजी को नमस्कार करके बोले, हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा से हम छः ऐश्वर्यों से सम्पन्न हुए हैं। हे भगवन् ! तुमने सम्पूर्ण शास्त्र सुनाया है, जिसको सुनकर हम पूजनीय हुए हैं। इसलिए हे देव ! हम तुम्हारा पूजन किस सामग्री से करें ? ऐसा कोई पदार्थ पृथ्वी, आकाश और देवताओं के लोकों में भी नहीं दिखता, जो तुम्हारी पूजा के योग्य हो-सब पदार्थ कल्पित हैं। और जो सत्य पदार्थ से पूजा करें तो सत्य तुमहीं से पाया है। इससे ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो तुम्हारी पूजा के योग्य हो। तथापि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार हम पूजन करते हैं। तुम क्रोध न करना और हँसी भी न करना। हे मुनीश्वर ! मैं राजा दशरथ,

अपने अन्तःपुर की सब स्त्रियाँ अपने चारों पुत्र, अपने सम्पूर्ण राज्य और सम्पूर्ण प्रजासहित जो कुछ मैंने लोक में यश पाया और परलोक के निमित्त पुण्य किया है, वह सब तुम्हारे चरणों में अर्पण करता हूँ। हे साधु ! इस प्रकार कहकर राजा दशरथ वशिष्ठजी के चरणों पर गिर पड़े।

तब वशिष्ठजी बोले, हे राजन् ! तुम धन्य हो। जिनको ऐसी श्रद्धा है। परन्तु हम तो ब्राह्मण हैं। हमको राज्य क्या करना है, और हम राज्य का व्यवहार क्या जानें। कभी ब्राह्मण ने राज्य किया है ? राजा तो क्षत्रिय ही होते हैं। इसलिए तुमहीं राज्य कर सकोगे। यह जो तुम्हारा शरीर है, उसे मैं अपना ही जानता हूँ। और इन तुम्हारे चारों पुत्रों को मैं पहले ही से अपने जानता हूँ। मैं तो तुम्हारे प्रणाम से ही सन्तुष्ट हूँ। यह राज्य का प्रसाद मैंने तुमको ही दिया। फिर वाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा, तब राजा दशरथ ने फिर कहा कि हे स्वामी ! तुम्हारे योग्य कोई पदार्थ नहीं है। तुम ब्रह्माण्ड के ईश्वर हो। बल्कि तुमसे ऐसे वचन कहते भी मुझको लज्जा आती है। परन्तु योग्यता के निमित्त तुम्हारे आगे विनती की है कि मैंने मोक्ष-उपाय शास्त्र तुमसे श्रवण किया है, इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार तुम्हारा पूजन करूँ। तब वशिष्ठजी ने कहा, बैठो, और राजा बैठ गये। फिर राम ने निरभिमान होकर कहा, हे संशयरूपी तिमिर के नाशक सूर्य ! तुम्हारा पूजन हम किस वस्तु से करें? घर में कोई पदार्थ अपना नहीं है। हे गुरुजी ! मेरे पास और कुछ नहीं है, केवल एक नमस्कार ही है। ऐसे कहकर वे चरणों पर गिरे। उनके नेत्रों से जल बहने लगा। वे बार-बार उठते और आत्मानन्द-प्राप्ति के उत्साह से फिर गिर पड़ते थे। निदान जब वशिष्ठजी ने कहा कि बैठ जाओ तब रामजी भी बैठ गये। फिर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, राजर्षि और ब्रह्मर्षि आदि सब अर्घ्य-पाद्य से पूजन करने लगे। सबने फूलों की वर्षा की, जिससे वशिष्ठजी का शरीर ढक गया। जब वशिष्ठजी ने हाथ से फूल हटाये, तब मुख देख-पड़ने लगा। जैसे बादलों के दूर होने पर चन्द्रमा दिखता है, वैसे

ही मुख दिखने लगा। फिर वशिष्ठजी ने व्यास, वामदेव, विश्वामित्र, नारद, भृगु, अत्रि इत्यादि जो मुनि बैठे थे, उनसे कहा, हे साधु ! जो कुछ मैंने सिद्धान्त के वचन कहे हैं, इनमें न्यून या अधिक जो कुछ हो, वह अब तुम कहो। जैसे जैसा स्वर्ण होता है, वैसा ही अग्नि में दिखाई देता है, वैसे ही तुम कहो। तब सबने कहा, हे मुनीश्वर ! ये तुमने परम सारांश वचन कहे हैं। जो तुम्हारे कथन को न्यून या अधिक जानकर उनकी निन्दा करेगा, वह महापतित होगा। ये वचन परमपद देनेवाले हैं। हे मुनीश्वर ! हमारे हृदय में भी जो कुछ जन्म-जन्मान्तर का मैल था, वह नष्ट हो गया। हम तो पूर्ण ज्ञानवान् थे, परन्तु पूर्वजन्म जो लिये हैं, उनकी स्मृति हमारे चित्त में थी कि अमुक जन्म हमने इस प्रकार पाया था और अमुक जन्म इस प्रकार पाया था, वह सब स्मृति अब नष्ट हुई है। जैसे अग्नि में डाला सुवर्ण शुद्ध होता है, वैसे ही तुम्हारे वचनों से हमारा स्मृतिरूप मल नष्ट हुआ है। अब हम जानते हैं कि न कोई जन्म था और न हमने कोई जन्म पाया है—हम अपने ही आपमें स्थित हैं। हे मुनीश्वर ! तुम सम्पूर्ण विश्व के गुरु और ज्ञान-अवतार हो, इसलिए तुमको हमारा नमस्कार है। राजा दशरथ भी धन्य हैं जिनके संयोग से हमने मोक्ष उपाय सुना है। और यह रामजी, साक्षात् विष्णु भगवान् हैं।

इतना कह फिर वाल्मीकिजी बोले, कि इसी प्रकार ऋषीश्वर और मुनीश्वर वशिष्ठजी को परमगुरु जानकर स्तुति करने लगे। रामजी को विष्णु भगवान् जानकर उनकी भी स्तुति की और राजा दशरथ की भी स्तुति की, जिनके घर में विष्णु भगवान् ने अवतार लिया। फिर वशिष्ठजी की अर्घ्य पाद्य से पूजा करने लगे। आकाश के सिद्ध बोले, हे वशिष्ठजी! तुमको हमारा नमस्कार है। तुम गुरु के भी गुरु हो। हे प्रभो ! जो कुछ तुमने उपदेश किया है और जो कुछ उसमें युक्ति कही है, वह अर्थात् ऐसे वचन वागीश्वरी भी कदाचित् न कह सकें। तुमको बारम्बार नमस्कार है। और चतुर्द्वीप पृथ्वी के शासक राजा दशरथ को भी नमस्कार है, जिनके

प्रसंग से हमने ज्ञान और युक्ति सुनी। राम विष्णु भगवान् नारायण हैं। ये चारों भाई परमात्मा हैं। इनको हमारा प्रणाम है। ये चारों भाई ईश्वर हैं। इन पर विष्णु भगवान् की दया है। ये जीवन्मुक्त अवस्था धारणकर बैठे हैं। वशिष्ठजी परमगुरु हैं और विश्वामित्र तप की मूर्ति हैं। वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब सिद्ध कह चुके, तब वे फूलों की वर्षा करने लगे। जैसे हिमालय पर्वत पर बरफ की वर्षा होती है और वह बरफ से परिपूर्ण हो जाता है, वैसे ही वशिष्ठजी पुष्पों से लद गये। आकाशचारी जो ब्रह्मलोक के वासी थे, उन्होंने भी उन पर पुष्पों की वर्षा की। सभा में जो ब्रह्मर्षि आदि बैठे थे, उनका भी यथायोग्य पूजन किया। इस प्रकार जब सिद्ध पूजन कर चुके, तब कई ध्याननिष्ठ हो रहे सबके चित्त शरत्काल के आकाशसदृश निर्मल हो गये और वे अपने स्वभाव में स्थित हुए। जैसे स्वप्न की सृष्टि का कौतुक देखकर कोई जाग उठे और हँसे, तैसे ही वे हँसने लगे।

तब वशिष्ठजी ने राम से कहा, हे रघुवंशरूपी आकाश के चन्द्रमा! तुम अब किस दशा में स्थित हो और क्या जानते हो ? राम बोले, हे भगवन् ! सब धर्मज्ञान के समुद्र ! तुम्हारी कृपा से मैं अब अपने रूप में स्थित हूँ , और कोई कल्पना मुझे नहीं रही अब मैं परम शान्ति पा गया हूँ। मुझको शेष विशेष कोई नहीं दिखता, केवल अपना रूप ही पूर्ण दिखता है—अब मुझको कोई संशय नहीं रहा, और इच्छा भी कुछ नहीं रही। मैंने अब परम निर्विकल्प पद पाया है और कोई कल्पना मुझे नहीं फुरती। जैसे नील, पीत आदि उपाधि से रहित स्फटिक प्रकाश पाता है, तैसे ही मैं निरुपाधि स्थित हूँ , और संकल्प-विकल्प उपाधि का अभाव हो गया है। अब मैं परम शुद्ध हो गया हूँ , मेरा चित्त शान्त हो गया है। मेरी चेष्टा पूर्ववत् होगी, पर निश्चय में कुछ न उत्थान होगा। जैसे शिला में प्राण नहीं जगते, वैसे ही मुझको द्वैत कल्पना कुछ नहीं फुरती। हे मुनीश्वर ! अब मुझको सब आकाशरूप दिखता है। शान्तरूप होकर परम निर्वाण हूँ। भिन्नभाव से जगत् मुझको कुछ नहीं भासित होता—सब अपना रूप ही

दिखता है। अब जो कुछ तुम कहो, वही करूँ। अब मुझको कोई शोक नहीं रहा। राज्य करना, भोजन, छादन, बैठना, चलना, पान करना आदि कर्म जैसे तुम कहो, वैसे ही करूँ। तुम्हारे प्रसाद से मुझको सब समान हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रामप्रकटीकरणं नाम
द्विशताधिकैकोनाशीतितमस्सर्गः ।। २७९ ।।

वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब रामजी ने ऐसे कहा, तब वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बड़ा कल्याण और प्रसन्नता की बात जो तुम अपने आपमें स्थित हुए हो। अब तुमने यथार्थ जाना है। अब और जो कुछ सुनने की इच्छा हो, सो कहो। राम बोले, हे संशयरूपी अन्धकार के नाशक सूर्य और संशयरूपी वृक्षों के नाशक कुठार ! अब तुम्हारे प्रसाद से मैं परमविश्रान्ति को प्राप्त हुआ हूँ और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की कलना से रहित हूँ। जाग्रत् जगत् भी मुझको सुषुप्ति-सा भासित होता है। और कुछ श्रवण करने की मुझे इच्छा नहीं रही। अब परमध्यान मुझको प्राप्त हुआ है, अर्थात् आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं दिखती। मैं आत्मा, अज, अविनाशी, शान्तरूप और अनन्त, सदा अपने आपमें स्थित हूँ। ऐसे मुझको मेरा नमस्कार है अब प्रलयकाल का पवन चले, समुद्र उमड़े और नाना प्रकार के क्षोभ हों तो भी मेरा चित्त स्वरूप से चलायमान न होगा। जो त्रिलोकी का राज्य मुझे प्राप्त हो, तो भी मेरे चित्त में हर्ष न उपजेगा। मैं सत्तासमान में स्थित हूँ।

वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब इस प्रकार राम ने कहा, तब मध्याह्न का सूर्य सिर पर आ गया। राजा जो रत्न और मणियों के भूषण पहिनकर बैठे थे, उन मणियों की कान्ति किरणों से अति विशेष हुई और सूर्य के साथ एक हो गई-मानों ऐसे वचन सुनकर नृत्य करती हो। तब वशिष्ठजी ने कहा, हे राम ! अब हम जाते हैं, क्योंकि मध्याह्न की उपासना का समय है। अगर कुछ तुम्हें पूछना हो वह कल फिर पूछना।

तब राजा दशरथ पुत्रोंसहित उठ खड़े हुए और वशिष्ठजी का बहुत पूजन किया। जो ऋषीश्वर, मुनीश्वर और ब्राह्मण थे, उनका भी यथायोग्य

पूजन किया और मोती और हीरों की माला, मोहरें, रुपये, घोड़े, गऊ, वस्त्र भूषण आदि जो ऐश्वर्य की सामग्री हैं, वह अर्पण की। जो विरक्त संन्यासी थे, उनको प्रणाम करके प्रसन्न किया, और जो राजर्षि थे, उनका भी पूजन किया। तब वशिष्ठजी उठ खड़े हुए। परस्पर सबने नमस्कार किया और मध्याह्न के नौबत-नगाड़े बजने लगे। सब श्रोता उठकर विचरने लगे। कोई चले जाते थे और कोई शीश हिलाते, कोई हाथ की उँगली नचाते, नेत्रों की भौंहें मटकाते परस्पर चर्चा करते जाते थे। इस प्रकार सब अपने स्थानों को गये। वशिष्ठजी सन्ध्या-उपासना करने लगे। दूसरे दिन जब श्रोता विचारपूर्वक रात्रि को व्यतीतकर सूर्य की किरणों के निकलते ही आ पहुँचे। गगनचारी, सप्तलोक के रहनेवाले, ऋषि और देवता, भूमिवासी राजर्षि, ब्रह्मर्षि और जो श्रोता थे, वे सब आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। सबने परस्पर नमस्कार किया।

तब रामजी हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए और बोले हे भगवन् ! अब जो कुछ मुझको सुनना और जानना रहा है, वह तुम ही कृपा करके कहो। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ सुनने योग्य था, वह तुमने सुन लिया है। अब तुम कृतकृत्य हुए हो और सब रघुवंशियों का कुल तुमने तारा है। जो आगे होंगे, उन सबको भी तुमने कृतकृत्य कर दिया है। अब तुम परमपद को प्राप्त हुए हो। अब जो कुछ तुमको पूछने की इच्छा हो, वह भी पूछ लो। हे राम ! जो सत्तासमान में स्थित हुए हो तो विश्वामित्र के साथ जाकर इनका कार्य करो और जो कुछ पूछने की इच्छा हो, वह पूछ लो। राम ने पूछा, हे भगवन् ! पहले मैं अपने को इस देह से युक्त परिच्छिन्नरूप देखता था, पर अब अपने से भिन्न मुझे कुछ नहीं दिखता—सब अपना ही रूप दिखता है। हे मुनीश्वर ! अब इस शरीर से मुझको कुछ प्रयोजन नहीं रहा। जैसे फूल से सुगन्ध लेकर पवन चला जाता है और फूल से उसका प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही इस देह में जो कुछ सार था, वह पाकर मैं अपने में स्थित हूँ। शरीर से मुझको कुछ प्रयोजन नहीं रहा। अब राज्य भोगने से कुछ सुख-दुःख नहीं है इन्द्रियों

के इष्ट अनिष्ट में मुझको कुछ हर्ष-शोक नहीं है। मैं अब सबसे उत्तमपद को प्राप्त हुआ हूँ। मैं सब कलना से रहित अविनाशी, अव्यक्तरूप सब से निरन्तर सदा अपने आपमें स्थित और निराकार और निर्विकार हूँ। जो कुछ पाने योग्य था, वह मैंने पा लिया है, और जो कुछ सुनने योग्य था, वह सुना है, और जो कुछ तुमको कहना था, वह कहा है। अब तुम्हारी वाणी सफल हुई है। जैसे कोई रोगी को औषधि देता है तो उस औषधि से उसका रोग चला जाता है और उसका कल्याण होता है, वैसे ही तुम्हारी वाणी से मेरा संशयरूप रोग गया है। मैं अपने ज्ञान से तृप्त हुआ हूँ। अब निःशंक होकर अपने रूप में स्थित हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनं नाम द्विशता-
धिकाशीतितमस्सर्गः ।। २८० ।।

वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहु राम ! तुम मेरे परम वचन सुनो। दृढ़ अभ्यास के लिए मैं फिर कहता हूँ। जैसे शीशे को ज्यों-ज्यों मार्जन करते हैं त्यों-त्यों उज्जवल होता है, वैसे ही बारम्बार सुनने से अभ्यास दृढ़ होता है। जितना कुछ जगत् दिखता है, वह सब चिदानन्दस्वरूप है। भासित भी वही वस्तु होती है, जो पहले भानरूप होती है। वह भानरूप चेतन है। इससे जो पदार्थ भासित होते हैं, वे सब चेतनरूप हैं। और जो भिन्न-भिन्न पदार्थ द्वैत की कल्पना से भासित होते हैं, वे भी वास्तव में भानरूप चेतन हैं। जैसे जो कुछ उच्चारण करते हैं, वह सब शब्द है, पर शब्दरूप एक है, पर अर्थ से भिन्न-भिन्न भासित होते हैं। जब अर्थ की कल्पना त्याग दीजिए, तब यही शब्द है, और जो अर्थ कीजिये कि यह जल है, यह पृथ्वी है, यह अग्नि है इत्यादि अनेक शब्द और अर्थ होते हैं। पर अर्थ-रहित शब्द एक ही है। वैसे ही यह सब चेतन है, पर चित्त की कल्पना से भिन्न-भिन्न पदार्थ भासित होते हैं, और कुछ वस्तु नहीं। और जो भासित होता है, वह उसी का आभास है। हे राम ! आभास भी अधिष्ठानसत्ता भासित होती है। ज्ञान में भेद है, पर स्वरूप ज्ञान में भी भेद नहीं, जिससे अर्थ भासित होते हैं। ज्ञानरूप अनुभवसत्ता है। इसमें जिस अर्थ का

आभास होता है, उसी को जीव जानता है। जैसे एक ही रस्सी है, उसमें सर्प का भ्रम करे तो सर्प तो कुछ नहीं, वह रस्सी ही है, वैसे ही अर्थ-भेद ग्रहण कीजिये तो भेद है, नहीं तो ज्ञान ही है। सब पदार्थ जो दिखते हैं, वे सब ज्ञानरूप ही हैं, और कुछ बना नहीं। हे राम ! स्वप्न का दृष्टान्त मैंने तुमको जताने के लिए कहा है, वास्तव में स्वप्न भी कोई नहीं। अद्वैतसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे समुद्र सदा जलरूप है, पर द्रवता से तरंग बुलबुले दिखते हैं, सो वे नानारूप नहीं, पर जल ही नाना भासित होता है। वैसे ही सब जगत् अनानारूप है, पर नानारूप भासित होता है। तुम अपने स्वप्न को विचारकर देखो कि तुम्हारा अनुभव ही नाना प्रकार का होकर भासित होता है, परन्तु कुछ हुआ नहीं, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी तुम्हारा अपना ही रूप है, दूसरा कुछ नहीं, सदा निराकार, निर्विकार और आकाशरूप आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो अद्वैतसत्ता निराकार, निर्विकार और सदा अपने आपमें स्थित है तो पृथ्वी कहाँ से उपजी है, जल कैसे उपजा है और अग्नि, वायु, आकाश, पुण्य, पाप इत्यादिक कल्पना चिदाकाश में कैसे उपजी है ? मेरे दृढ़बोध के लिए कहिए। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अच्छा यह तुम कहो कि स्वप्न में पृथ्वी कहाँ से उपज आती है और जल, वायु, अग्नि, आकाश, पाप, पुण्य, देश, काल, पदार्थ कहाँ से उपजते हैं ? रामजी बोले, हे मुनीश्वर ! स्वप्न में जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, देश, काल, पदार्थ दिखते हैं, वे सब आत्मरूप होते हैं। आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों होती है, वह तत्त्ववेत्ताओं को ज्यों की त्यों भासित होती है। पर जो असम्यक्दर्शी हैं, उनको भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखते हैं। भासित होना दोनों का समान होता है, परन्तु जिसकी वृत्ति यथाभूत अर्थ को ग्रहण करती है, उसको ज्यों की त्यों आत्मसत्ता दिखती है, पर जिसकी वृत्ति यथाभूत अर्थ नहीं ग्रहण करती, उसको वही वस्तु और रूप होकर दिखती है। हे मुनीश्वर ! जगत् कुछ बना नहीं; वही आत्मसत्ता स्थित है। जब कठोररूप का संवेदन फुरता है, तब पृथ्वी और पहाड़ के रूप में भासित

होती है। जब द्रवता का स्पन्दन फुरता है, तब जलरूप दिखता है। जब उष्णरूप का संवेदन फुरता है, तब अग्नि भासित होती है इसी प्रकार वायु, आकाश आदिक पदार्थों में जैसे फुरना होता है, वैसे ही दिखता है। जैसे जल तरंगरूप दिखता है, परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं, जल ही रूप है, वैसे ही आत्मसत्ता जगत्‌रूप दिखती है, पर वही रूप है। जगत् कुछ वस्तु नहीं। ये सब गुण और क्रिया आकाश में हैं, वास्तव में कुछ नहीं, क्योंकि कारणरहित असत्यरूप है। यह अहं त्वं आदि सब जगत् आकाशरूप है, कुछ बना नहीं। आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। और कोई आधार नहीं है। अद्वैतसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। और नानारूप भासित होती है। जब चित्त संवेदन फुरता है, तब पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, पदार्थ, देश, काल होकर भासित होता है। कहीं सब आत्मा का ज्ञान फुरता है और कहीं परिच्छिन्नता भासित होती है, परन्तु वास्तव में कुछ बना नहीं, वही वस्तु है। जैसे उसमें फुरना होता है, वैसे ही होकर भासित होता है। अनुभवसत्ता परम आकाशरूप है, जिसमें आकाश भी आकाशरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिदाकाशजगदेकताप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकैकाशीतितमस्सर्गः ।। २८१ ।।

रामजी बोले, हे भगवन् ! अब यह प्रश्न है कि जो जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद नहीं और परम आकाशरूप है तो उस सत्ता का जाग्रत् और स्वप्न के शरीर से कैसे संयोग है। वह तो निरवयव और निराकार है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये सब आकार जो तुमको दिखते हैं, वे सब आकाशरूप हैं और आकाश में आकाश ही स्थित है। सर्ग के आदि में आकार का अभाव था। वही अब भी जानो कि उपजा कोई नहीं, परम आकाशसत्ता अपने आपमें स्थित है। जब उस अद्वैतसत्ता चिन्मात्र में चित्त किञ्चन होता है; तब वही सत्ता आकार की नाईं दिखती है, परन्तु कुछ हुआ नहीं, आकाश ही रूप है। जैसे जीव स्वप्न में शरीरों का अनुभव करता है, पर वे कुछ आकार तो नहीं होते, केवल आकाशरूप होते हैं, वैसे ही यह जगत् भी निराकार हैं, परन्तु फुरने से आकार होकर भासित होता

है। जिन तत्त्वों से शरीर होता है; वे तत्त्व ही नहीं उपजे तो शरीर की उत्पत्ति कैसे कहूँ ? हे राम ! और जगत् कुछ उपजा नहीं, ब्रह्म ही किञ्चन से जगत्रूप भासता है। जैसे जल और द्रवता में भेद नहीं, और जैसे आकाश और शून्यता में भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं है। संवेदन में अर्थसंकेत है। जब संवेदन न फुरे, तब अर्थसंकेत न हो। भिन्न-भिन्न वस्तु एक ही सत्ता के नाम हैं। भिन्न-भिन्न नाम तब भासित होते हैं, जब वेदन जगता है, नहीं तो शब्द कल्पित जल के तुल्य है—वास्तव में वस्तु से भेद नहीं है। जैसे वायु और स्पन्दन में भेद नहीं है। स्पन्दन भासित होती है, निस्पन्द नहीं, परन्तु दोनों वायु के ही रूप हैं, वैसे ही स्पन्दन से ब्रह्म में किञ्चन जगत् दिखता है और जब संवेदन नहीं फुरता तब जगत् नहीं भासित होता। परन्तु दोनों रूप ब्रह्म के ही हैं। ब्रह्म और जगत् में कुछ नहीं है। जैसे एक निद्रा के दो रूप होते हैं—एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति—परन्तु दोनों एक निद्रा के ही पर्याय हैं वैसे ही जगत् का होना और न भासित होना एक ही ब्रह्म की दोनों संज्ञा हैं। चाहे ब्रह्म कहो और चाहे जगत् कहो, ब्रह्म और जगत् में भेद कुछ नहीं, ब्रह्म ही जगत्रूप होकर भासित होता है।

जैसे निर्मल अनुभव से स्वप्न में शिला प्रकट होती है, पर वह शिला तो स्वप्न में कुछ उपजी नहीं, अपना अनुभव ही शिलारूप दिखता है, वैसे ही ये सब आकार जो दिखते हैं, वे आकाशरूप हैं और आत्मसत्ता ही आकाशरूप जगत् होकर दिखती है। जगत् कुछ उपजा नहीं और न सत्य है, न असत्य है, न आता है, न जाता है, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! पहले तुमने मुझसे अनेक सृष्टियाँ कही हैं। कई जल में, कई अग्नि में, कई पृथ्वी में, कई वायु में, कई पहाड़ और पत्थरों में और कई आकाश में पक्षी सी इत्यादि नाना प्रकार की सृष्टियाँ तुमने कही हैं। अब यह प्रश्न है कि हमारी सृष्टि किससे उत्पन्न हुई है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तुम तो वही प्रश्न करते

हो, जो अपूर्व होता है, जो पहले देखा-सुना न हो और जगत् में जाना भी न हो। इस जगत् की उत्पत्ति वेदपुराण तो यों ही कहते हैं और लोक में भी प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा से हुई है, पर वास्तव में चिदाकाशरूप है, कुछ उपजी नहीं। ये दोनों प्रकार मैंने तुमसे कहे हैं। पर उनको तुम जानकर भी प्रश्न करते हो, इसलिए तुम्हारा प्रश्न ही नहीं बनता। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यह सृष्टि कितनी है, कहाँ तक चली जाती है और कितने काल तक रहेगी ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जितनी सृष्टि तुम जानते हो, वह है नहीं-ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है-और सृष्टियाँ बहुत है, परन्तु वास्तव में कुछ हुई नहीं। वे आदि, अन्त और मध्य से रहित हैं। वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। ये जितनी सृष्टियाँ हैं, सो आभासमात्र हैं। ब्रह्म आदि, अन्त और मध्य से रहित है, उसका आभास भी वैसा ही है।

जैसे जितना वृक्ष होता है उतनी ही छाया होती है, वैसे ही ब्रह्म का आभास सृष्टि है और वास्तव में पूछो तो आभास भी कोई नहीं, ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है और वही अपने को जगत्रूप देखता है—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न के पुर में पर्वत, नदी आयुध आदि नाना प्रकार के व्यवहार के रूप रखकर आत्मसत्ता ही स्थित होती है, और कुछ नहीं बना, और जैसे संकल्पनगर दिखता है, वैसे ही इस जगत् को भी जानो, क्योंकि और कुछ बना नहीं, आत्मसत्ता ही जगत्रूप होकर भासित होती है। जगत् यदि किसी कारण से उपजा होता तो सत् होता है। पर इसका कारण कोई नहीं पाया जाता, इसलिए असत् है। इसका न कोई निमित्तकारण और न समवायकारण पाया जाता है। हे राम! जो किसी कारण से न उपजा हो और दिखे, उसको स्वप्नपुर सदृश आकाशमात्र जानो। जिसमें आभास भासित होता है, वह अधिष्ठान सत्ता है। जैसे रस्सी में सर्प दिखता है, वह सर्प नहीं, रस्सी ही सर्परूप होकर दिखती है, वैसे ही जगत् का अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता सत्य है और शुद्ध, निर्दुःख, अच्युत, विज्ञान सदा अपने आपमें स्थित है। वही सत्ता जगत्रूप

होकर दिखती है। जैसे जल ही तरंगरूप होकर दिखता है, वैसे ही ब्रह्म ही जगत्‌रूप होकर दिखता है। हे राम ! यह जगत् ब्रह्म का हृदय है, अर्थात् उसी का स्वभाव है। ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। ज्ञानी को सर्वदा ऐसे ही दिखता है। जैसे स्वप्न से जागकर सब अपना रूप ही भासित होता है, वैसे ही यह जगत् अपना रूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदभाववर्णनं नाम
द्विशताधिकद्व्यशीतितमस्सर्गः ।। २८२ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस जगत् का कारण कोई नहीं। जब जगत् ही नहीं तो कारण कैसे हो, और कारण नहीं तो जगत् कैसे हो ? इससे सब ब्रह्म ही है। इसी विषय पर एक उपाख्यान है, उसे सुनो। हे राम ! कुशद्वीप के पूर्व और पश्चिम दिशा के बीच सुवर्ण की ऐलवती नगरी महा उज्ज्वलरूप है। उसमें बड़े-बड़े ऊँचे खम्भे बने हैं, मानो पृथ्वी और आकाश को उन्होंने ही भर दिया है। उस नगरी का एक प्राक्पति राजा था। एक समय मैं आकाशमार्ग से शीघ्र वेग से उसके घर में आया। उसने भली प्रकार अर्घ्य-पाद्य से प्रीतिपूर्वक मेरा पूजन किया और सिंहासन पर बैठाया। फिर मुझसे एक महाप्रश्न किया, जिस प्रश्न से बड़ा और कठिन कोई प्रश्न नहीं हो सकता। राजा बोले, हे भगवन् ! तुम संशयरूपी तम के नाशक सूर्य हो। मुझको एक संशय है, उसे दूर करो। हे मुनीश्वर ! प्रथम तो यह प्रश्न है कि जब महाप्रलय होता है तब कार्य कारण और सब शब्द की कल्पना का अभाव हो जाता है। उसके बाद महाआकाशसत्ता शेष रहती है, जिसमें वाणी की भी गति नहीं। वह अवाच्य पद है। तब उससे फिर सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है ? वहाँ उपादानकारण और निमित्तकारण तो कोई नहीं रहता, तब सृष्टि कैसे होती है ? श्रुति और पुराणों में सुनता हूँ कि महाप्रलय से फिर सृष्टि उत्पन्न होती है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जम्बूद्वीप में कोई मृतक हुआ अथवा किसी और ठौर गया हुआ मृतक हुआ, तो उसका वह शरीर तो वहीं भस्म हो

जाता है, पर वह परलोक में पुण्य-पाप का फल सुख-दुःख भोगता है। तो जिस शरीर से भोगता है, उस शरीर का कारण तो कोई नहीं हुआ ? जो तुम कहो कि पुण्य और पाप ही उस शरीर का कारण हैं, तो पुण्य-पाप तो आप ही निराकार हैं। उनसे साररूप शरीर कैसे उपजे ? जो तुम कहो कि परलोक कोई नहीं और पुण्य-पाप भी कुछ नहीं, तो श्रुति और पुराणों के वचनों से विरोध होता है, क्योंकि वे सभी वर्णन करते हैं कि जीव मरकर परलोक जाता है और जैसे कर्म किये हैं वैसा ही फल भोगता है। जिस शरीर से कर्मफल भोगता है, उसका कारण तो कोई नहीं है ? और न कोई पिता है, न माता है। फिर वह शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? तीसरा प्रश्न यह है कि जब यह जीव परलोक में जाता है तो उसके लिए दान-पुण्य करता है। तो उस दान-पुण्य का फल उसको कैसे प्राप्त होता है ? चतुर्थ प्रश्न यह है कि महाप्रलय के पश्चात् जो ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है, उसका नाम स्वयंभू कैसे हुआ ? जो महाप्रलय में न उपजा हो और अपने आप ही उपजे, वह स्वयंभू कहाता है। पर महाप्रलय में तो केवल 'अद्वैत' शेष रहा था। उससे जो उत्पन्न हुआ, उसे स्वयंभू कैसे कहिये ? जो कहो कि स्वयंभू अपने आपसे उपजता है, तो अपना आप ही आत्मा है, जो सबका अपना आप है। अब क्यों नहीं उससे ब्रह्मा उत्पन्न होता है ?

पाँचवाँ प्रश्न यह है कि एक पुरुष था, मान लीजिए, जिसका एक मित्र और एक शत्रु था। उन दोनों ने प्रयागक्षेत्र में जाकर करवट* ली। मित्र ने यह वाञ्छा की कि मेरा मित्र चिरकाल जीता रहे और चिरंजीवी हो और शत्रु ने यह संकल्प किया कि मेरा शत्रु इसी समय मर जावे। हे मुनीश्वर ! एक ही समय में दो फल कैसे हो ? छठा प्रश्न यह है कि सहस्रों मनुष्य ध्यान लगाये बैठे हैं कि हम इसी आकाश के चन्द्रमा हों। तो एक ही आकाश में सहस्रों चन्द्रमा कैसे होंगे। सप्तम प्रश्न यह है कि सहस्रों पुरुष यह ध्यान लगाये बैठे हैं कि एक सुन्दर स्त्री जो बैठी है, वह

* काशी-कर्वट-किसी कामना की पूर्ति के लिए प्राण त्याग को कर्वट लेना कहा जाता था।

हमको मिले; पर वह स्त्री पतिव्रता है। उसके सहस्र भर्ता एक काल में कैसे होंगे ? अष्टम प्रश्न यह है कि एक पुरुष था, उसको किसी ने वर दिया कि तुम जाकर मृतक हो और सप्तद्वीप का राज्य करो, और किसी ने शाप दिया कि तेरा जीव अपने ही घर में रहेगा और मरने पर बाहर न जायगा। तो ये दोनों बातें एक ही काल में कैसे होंगी ? नवम प्रश्न यह है कि एक काष्ठ का खम्भा था, उसको एक ने कहा कि यह सुवर्ण का हो जायगा और वह सुवर्ण का हो गया; तो सुवर्ण कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका कारण कोई न था—कारण बिना कार्य कैसे उत्पन्न हुआ ? जैसा अन्न का बीज बोते हैं, वैसा ही अन्न उत्पन्न होता है, और अन्न नहीं उगता। तो काष्ठ से स्वर्ण कैसे उत्पन्न हुआ ? जो कहो, संकल्प से उपजा, तो हम भी संकल्प करते हैं कि अमुक कार्य ऐसे हो, पर वह क्यों नहीं होता ? इसलिए जाना जाता है कि संकल्प से भी कुछ उत्पन्न नहीं होता। हे मुनीश्वर ! जिस प्रकार यह वृत्तान्त है सो कहो। एक कहते हैं कि पहले असत् ही था। तो असत् से जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई ? यह मुझको संशय है, इसको दूर करो। जो कोई सन्त के निकट आता है तो सत्संग निष्फल नहीं जाता इसलिए कृपा करके कहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रश्नवर्णनं नाम
द्विशताधिकत्र्यशीतितमस्सर्गः ।। २८३ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार उसने मुझसे अपने संशयों का समूह कहा, तब मैंने उससे कहा, हे राजन् ! ये सब संशय जो तुझको हैं, उन्हें मैं दूर करूँगा, जैसे सारे अन्धकार को सूर्य नष्ट करते हैं। हे राजन् ! यह सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह ब्रह्मरूप है और सदा अपने आपमें स्थित है। जब उसमें चित्त फुरता है तब वहाँ चित्त संवेदन जगत्रूप होकर दिखता है। इससे जो कुछ आकार दिखते हैं, वे सब चिन्मात्ररूप हैं। न कोई कार्य है और न कारण। और जो तुम प्रत्यक्ष प्रमाण से संशय करो कि सब चिन्मात्ररूप है तो जब यह शरीर मृतक हो जाता है, तब चेतता क्यों नहीं; चाहिए कि उस काल में भी उसमें ज्ञान

हो। हे राजन् ! इसका उत्तर यह है कि जब जाग्रत् का अन्त होता है, पर स्वप्न नहीं आता, तब शुद्ध चिन्मात्र रहता है। फिर जब उसमें स्वप्न की सृष्टि दिखती है तो उस सृष्टि में कई चेतन दिखते हैं, कई मृतक दिखते हैं, कई जड़ दिखते हैं और स्थावरजंगम नाना प्रकार की सृष्टि दिखती हैं। परन्तु वह और कुछ नहीं, वही चिन्मात्र स्वरूप है, जो अनुभवरूप हो भासित होता है। कहीं चेतन बोलते और चलते दिखते हैं, परन्तु है वही। जो चेतनता न होती तो कैसे दिखते ? जिससे भासित होते हैं, उसी से सब चेतन हैं। वैसे ही इस जगत् में भी कहीं प्राणी बोलते, चलते दिखते हैं और कहीं शव दिखते हैं, परन्तु सब वही चिन्मात्रसत्ता है। जैसा-जैसा संकल्प उसमें उठता है, वैसा ही दिखता है।

हे राजन् ! जैसे प्रथम प्रलय से सृष्टि उत्पन्न हुई थी, वैसे ही उत्पन्न होती है। यह सृष्टि किसी का कार्य नहीं, और किसी का कारण भी नहीं-बिना कारण उपजी भासित होती है। हे राजन् ! जो महाप्रलय में शेष रहता है, वह चिन्मात्र है। उस चिन्मात्रसत्ता से जो प्रथम शुद्ध संवेदन उपजा है, वह विराट्रूप ब्रह्मा होकर स्थित हुआ, और उसी ने जगत् की कल्पना की है। उसमें उसने नीति रची है कि यह पदार्थ इस प्रकार हो, वैसा ही चित्तसंवेदन में दृढ़ होकर भासित हुआ है। उसी का नाम जगत् है। वही आत्मसत्ता किंचनरूप होकर जगत्रूप दिखती है। हे राजन् ! जैसे तुम्हारे संकल्प और स्वप्न की सृष्टि का आदि शुद्ध आत्मसत्ता थी और वही फुरने से पदार्थरूप होकर भासित होती है, वैसे ही इसे भी जानो। पर वास्तव में न कोई कार्य है और न कोई कारण। जैसे स्वप्न की सृष्टि अकारण होती है, वैसे ही यह जगत् भी अकारण और आदि-अन्त के विचार से रहित है। जो वर्तमान प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं, उनको कार्य और कारण प्रत्यक्ष दिखते हैं और उनके वचन भी निरर्थक हैं। जैसे अन्धे कूप के मेढक शब्द करते हैं, वैसे ही वे भी निरर्थक प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्यकारण के संबंध में वाद करते हैं। उनको हमारे वचन सुनने का अधिकार नहीं और हमारे लिए भी उनके वचन सुनने के योग्य नहीं हैं।

हे राजन् ! जिस शास्त्र के सुनने और जिस गुरु के मिलने से सम्पूर्ण संशय निवृत्त न हों, उस शास्त्र और गुरु का कहना भी अन्धकूप के मेढक की टरटर जैसा व्यर्थ है। जो परमार्थसत्ता से विमुख हैं, उनको यह भ्रम अपने में भासित होता है। ऐसे लोग शरीर के मृतक होने पर अपने को मरता जानते हैं और फिर वासना के अनुसार शरीर उपजता और जीता है, तब मानते हैं कि अब हम उपजे हैं। फिर अपने पुण्य-पाप कर्मों का अनुभव करते हैं। जैसे स्वप्न में कोई अपने साथ शरीर देखता है, वैसे ही परलोक में जीव को अपने साथ शरीर भासित हो आता है। वैसे ही यह शरीर भी भासित हो आया है। कोई इसका कारण नहीं है। यह न पञ्चभौतिक है, न इसका शरीर है और न किसी कारण से प्राणी उपजे हैं। अपनी ही कल्पना आकाररूप होकर दिखती है। आकार कोई और नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है, और जैसा संकल्प उसमें दृढ़ होता है, वैसा पदार्थ प्रकट होता है। हे राजन् ! जो तू इस जगत् को सत्य मानता है तो सब कुछ सिद्ध होता है। शरीर भी है, परलोक भी है और नरक-स्वर्ग भी है। जैसा यह लोक है, वैसा ही परलोक है। जो यह लोक निश्चय में सत्य है तो वह लोक भी सत्य होकर भासित होगा, और प्राणी जैसा कर्म करेगा, वैसा ही फल भोगेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रश्नोत्तरवर्णनं नाम
द्विशताधिकचतुरशीतितमस्सर्गः ।। २८४ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राजन् ! यह सब जगत् जो तुझको दिखता है, वह केवल संकल्पमात्र है। जैसे कोई बालक अपने मन में वृक्ष और उसमें फूल, फल और टास की कल्पना करे, सो संकल्पमात्र है, वैसे ही यह जगत् भी संवेदनरूपी ब्रह्मा ने कल्पित किया है और उसके मन में फुरता है। अतएव संकल्परूप है। जैसे उसने संकल्प किया है, वैसे ही स्थित है और जैसे उसमें क्रम रचा है कि इस प्रकार यह पदार्थ होगा वह वैसे ही स्थित है। देश, काल, पदार्थ भी वैसे ही स्थित हैं। इसका नाम नीति या नियति है। हे राजन् ! तूने प्रश्न किया था कि जो पुरुष अरूप है और

दूर है, यदि उसके लिए किसी ने दिया तो उसको कैसे पहुँचता है और अरूप और स्वरूप का कैसे संयोग है ? इसका उत्तर यह है कि जो कोई शुद्ध संवेदन पुरुष है, उसको सब पदार्थ निकट भासित होते हैं, और जो कोई पुरुष मनोराज्य की कल्पना करता है और उसमें बड़ा देश रचता है, वह दूर से दूर मार्ग है, तो जो उस देश के वासी हैं, उनको अपने देश की अपेक्षा दूसरा देश दूर से दूर है, परन्तु जिसका मनोराज्य है, उसको तो सब निकट है और अपना ही रूप है। इस प्रकार जो शुद्धसंवेदनरूप है, उसके लिए जो कोई देता है—चाहे ईश्वर के लिए और चाहे देवता के लिए-उसको निकट से निकट सब अपने में भासित होता है। आदि नियति इसी प्रकार हुई है कि शुद्धसंवेदन को सब अपने निकट से निकट ही भासित होता है, क्योंकि सब संकल्प है, और जैसी रचना संकल्प में रचती है, वैसी ही होती है-संकल्प में क्या नहीं होता खम्भे का प्रश्न जो तुमने किया है कि काष्ठ का था सुवर्ण का कैसे हो गया, उसका उत्तर भी सुनो।

हे राजन् ! आदि जो संवेदनरूप ब्रह्मा है उसने अपने मनोराज्य में नियति की है कि तपादिक से वर और शाप सिद्ध होता है। उसके कहे से जो काष्ठ का खम्भा स्वर्ण का हो गया तो तू विचारकर देख कि किस कारण से काष्ठ का खम्भा सुवर्ण हुआ। वह केवल संकल्पमात्र है जो संकल्प से भिन्न कुछ होता तो काष्ठ सुवर्ण न होता। यह सब विश्व संकल्परूप है, जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही दिखता है। जैसे तू अपने मनोराज्य में संकल्प करता है कि यह ऐसे रहे और जो उससे और प्रकार करे तो भी हो जाय, वह होता है, वैसे ही वर और शाप भी और प्रकार हो जाते हैं। न और कोई जगत् है, न कार्य है। और न कारण है। वही आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जैसा संकल्प जिसमें फुरता है, वैसा ही भासित होता है। तू पूछता है कि असत् से फिर जगत् कैसे उत्पन्न होता है। इसका उत्तर यह है कि जो आप ही न हो उसमें जगत् कैसे प्रकटे ? हे राजन् ! असत् इसी का नाम है। जगत् असत् था, इसलिए श्रुति ने उसे असत् कहा। आदि असत् था, इसलिए जगत् की असत्यता कही है। पर आत्मा तो असत्य नहीं होता।

सबका शेषभूत आत्मा है। जब उसमें संवेदन फुरता है तब ब्रह्म अलक्ष्यरूप हो जाता है। परन्तु उस संवेदन के फुरने और मिटने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है। उसका अभाव नहीं होता—जैसे जल में तरंग उपजता है और फिर लीन हो जाता है, परन्तु उसके उपजने और मिटने में जल ज्यों का त्यों है और तरंग उसके आभास जगते हैं। जैसे तू मनोराज्य से एक नगर की कल्पना करे और फिर वह संकल्प छोड़ दे, तब संकल्परूप नगर का अभाव हो जाता है, परन्तु वह सदा अविनाशी रहता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि उपजती है और लीन भी हो जाती है, परन्तु अधिष्ठान ज्यों का त्यों है, और जैसे रत्नों का प्रकाश उठता है और लीन भी हो जाता है परन्तु रत्न ज्यों का त्यों होता है, वैसे ही आत्मा विश्व के भाव-अभाव में ज्यों का त्यों रहता है; पर उसका आभास जगत् उपजता-मिटता दिखता है। उपजता है तब उत्पत्ति दिखती है, और जब मिटता है तब प्रलय हो जाता है। परन्तु ये दोनों केवल आभास हैं। जैसे वायु फुरती है तब दिखती है और ठहर जाती है तब नहीं दिखती; परन्तु वायु एक है, वैसे ही आत्मा एक ही है। फुरने का नाम उत्पत्ति है और न फुरने का नाम जगत् का प्रलय है। सो सब किंचनरूप हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्वितीय प्रश्नोत्तरवर्णनं नाम द्विशताधिकपञ्चाशीतितमस्सर्गः ।। २८५ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राजन् ! तूने प्रयाग के जो दो पुरुषों का प्रश्न किया है, उसका उत्तर सुन। जो उसका शत्रु बन गया था, वह तो उसका पाप था और जो उसका मित्र बन गया था वह उसका पुण्य था। प्रयागतीर्थ धर्मक्षेत्र था। हे राजन् ! पापरूप वासना के अनुसार मृत्यु दिखती है, पर पुण्यरूपी मित्र पापरूपी शत्रु को रोकता है। और पुण्यरूपी तीर्थ के बल से हृदय से अल्प पाप वेग से भागता भासित होता है। जब मृत्यु आती है, तब वह अपने को मरता जानता है और भाईजन कुटुम्बी रुदन करते हैं। पर जब अपनी ओर देखता है तब जानता है कि मैं तो मरा नहीं। जब मृतक सर्ग की ओर देखता है, तब अपने को मरा जानता है और

भाई-परिजन रुदन करते हैं। इस प्रकार उसको मरना दिखता है और यह देखता है कि भाई-परिजन उसे जलाने चले हैं; उन्होंने अग्नि में मुझको डाला है और मैं जलता हूँ। जब फिर पुण्य की ओर देखता है, तब जानता है कि मैं मरा नहीं, जीता हूँ। और जब फिर पाप की ओर देखता है, तब जानता है कि मैं मरा हूँ और मुझको यमदूत ले चले हैं; यह परलोक है और यहाँ मैं सुख-दुःख भोगता हूँ। जब फिर पुण्य की ओर देखता है, तब जानता है कि मैं मरा नहीं, जीता हूँ; ये मेरे भाईबंधु बैठे हैं और वहाँ मेरा व्यवहार चेष्टा है। पुरुष इस प्रकार दोनों अवस्थाओं को देखता है। जैसे संकल्पपुर और स्वप्ननगर में उभय अवस्था देखे। एक ही पुरुष नाना प्रकार की चेष्टा देखता है। कहीं अपने को जीता देखता है, कहीं मृतक देखता है; कहीं व्यवहार देखता है और कहीं निर्व्यापार इत्यादि। ये नाना प्रकार की चेष्टाएँ एक ही पुरुष में होती हैं। वैसे ही एक पुरुष को पुण्य-पाप की वासना से जीना-मरना दिखता है।

हे राजन् ! यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र है। जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही रूप भासित होता है। परलोक जाना भी अपनी वासना के अनुसार भासित होता है। पुत्र-बान्धव भी उसकी पुण्य-पाप-वासना में स्थित हैं। वे जो कुछ इसके लिए करते हैं, उनसे यह सुख, दुःख, नरक, स्वर्ग भोगता है। पर वास्तव में कोई बान्धव और पुत्र नहीं है। उसकी वासना ही नाना प्रकार के आकार रखकर स्थित हुई है। हे राजन् ! सहस्र चन्द्रमा के विषय में तूने जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर सुन। सहस्र जीव भी इसी आकाश में स्थित होते हैं और अपनी-अपनी वासना से कलासंयुक्त चन्द्रमा होकर विराजते हैं; परन्तु एक को दूसरा नहीं जानता, परस्पर अज्ञात हैं-जो अन्तवाहक दृष्टि से देखे, उसको दिखते हैं। हे राजन् ! जो कोई ऐसी भावना करे कि मैं उनके मण्डल को प्राप्त होऊँ तो तत्काल ही पहुँच जाता है। जैसे एक ही घर में बहुत मनुष्य सोये हों तो उनको अपने-अपने स्वप्न की सृष्टि दिखती है और वह अन्योन्य विलक्षण होती है—एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता, वैसे ही एक आकाश में

सहस्र चन्द्रमा बनते हैं। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के दस पुत्र दस ब्रह्मा हो बैठे थे, वैसे ही जिस रूप की कोई तीव्र भावना करता है, वही हो जाता है। जो कोई भावना करे कि हम इसी मन्दिर में सप्तद्वीप का राज्य करें, तो वैसा ही हो जाता है; क्योंकि अनुभव एक कल्पवृक्ष है, उसमें जैसी तीव्र भावना होती है, वैसी ही होकर दिखती है।

वर के बल से उस पुरुष को सप्तद्वीप का राज्य प्राप्त हुआ और शाप के कारण उसका जीव उसी घर में रहकर द्वीप का राज्य करता रहा। जैसे स्वप्न में राज्य करते हैं, वैसे ही अपने घर में अपना संवेदन ही सृष्टिरूप होकर भासित होता है। इसी प्रकार जो एक स्त्री की भावना करके सहस्र पुरुष ध्यान लगाये बैठे थे कि हम उसके भर्ता हों, वैसा भी हो जाता है। हे राजन् ! उनकी जो तीव्र भावना है, वही स्त्री का रूप रखकर उनको प्राप्त होगी। वे जानेंगे कि वही स्त्री हमको प्राप्त हुई है। यह जगत् केवल संकल्पमात्र है, संकल्प से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। सब चिदाकाशरूप है, अपने ही अनुभव से प्रकट होता है। जैसे संकल्प उसमें फुरता है, वैसा ही होता दिखता है। पृथ्वी, जल, तेज आदि तत्व कोई नहीं, आत्मसत्ता ही इस प्रकार स्थित है। वह परम शान्त, निराकार, निर्विकार और अद्वैतरूप है। राजा बोले, हे मुनीश्वर ! जगत् के आदि में जो आत्मसत्ता थी, वह किस आकार की देह में स्थित थी ? देह बिना तो सत्ता स्थित नहीं होती। जैसे आधार बिना दीपक नहीं रहता, आधार होता है तो उसमें जगता है, वैसे ही आत्मसत्ता किसमें स्थित थी ? वशिष्ठजी ने कहा, हे राजन् ! जितने आकार तुझको दिखते हैं और जिनको देखकर तूने प्रश्न उठाया है, वे हैं नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जिन तत्त्वों से बना शरीर दिखता है, वे भी मृगतृष्णा के जल सदृश हैं। जैसे रस्सी में सर्प, सीपी में रूपा, आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रममात्र है-क्योंकि इनका अत्यन्त अभाव है-वैसे ही ये भूतों (तत्त्वों) के आकार ब्रह्म में भ्रम से दिखते हैं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। तूने पूछा था कि जो स्वयंभू अपने आपसे उपजता है तो अब क्यों नहीं उपजता, सो हे राजन्!

उसके सदृश कई उत्पन्न होते हैं। पर वास्तव में कुछ उपजा नहीं। नाना प्रकार का भासित होता है, परन्तु नाना प्रकार नहीं हुआ। जैसे स्वप्न में सदा तू देखता है कि अद्वैत अपने आप ही नानारूप होकर दिखता है और पर्वत पर दौड़ता फिरता है, तो वह किस शरीर से दौड़ता है और क्या रूप होता है ? जैसे वह पर्वत और शरीर आकाशरूप होता है और भ्रम से पिण्डाकार दिखता है, वैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है, भ्रम से पिण्डाकार दिखता है।

हे राजन् ! तू अपने स्वभाव में स्थित होकर देख कि यह सब जगत् तेरा अनुभव आकाश है। स्वप्न का दृष्टान्त भी मैंने तेरे चेतने के लिए कहा है। स्वप्न भी कुछ नहीं, सदा आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जब उसमें आभास संवेदन फुरता है, तब वही जगत्रूप हो भासती है और जब आभास संकल्प मिट जाता है तब प्रलयकाल भासता है ? वास्तव में न कोई उत्पन्न होता है और न प्रलय होता है। आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है। जैसे एक निद्रा के दो रूप होते हैं-एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति, पर जाग्रत् में ये दोनों आकाशमात्र होती हैं, वैसे ही आभास की दो संज्ञा होती हैं—एक जगत् और दूसरी महाप्रलय। पर आत्मरूपी जाग्रत् में दोनों का अभाव हो जाता है। हे राजन् ! तू स्वरूप में जागकर और कलना को त्यागकर देख कि सब आत्मरूप है-और कुछ नहीं। हे राम ! इस प्रकार मैं राजा से कहकर उठ खड़ा हुआ। तब उसने भली प्रकार प्रीतिसंयुक्त मेरा पूजन किया। जब वह पूजन कर चुका, तब मैं जिस कार्य के लिए आया था, वह कार्य करके स्वर्ग को चला गया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राजप्रश्नोत्तर समाप्ति वर्णनं नाम द्विशताधिकषड्शीतितमस्सर्गः ।। २८६ ।।

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह सब जगत् चिदाकाशरूप है, दूसरा कुछ बना नहीं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि सब चिदाकाश है, बना कुछ नहीं, तो सिद्ध, साधु, विद्याधर, लोकपाल, देवता इत्यादि जो दिखते हैं, वे कुछ बने क्यों नहीं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये जो सिद्ध,

साधु, विद्याधर, देवता, लोक और लोकपाल हैं, वे वास्तव में कुछ उपजे नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। ये जो प्रत्यक्ष दिखते हैं सो शुद्ध संकल्प से रचे हुए हैं। परन्तु वास्तव में कुछ बने नहीं, भ्रम से इनकी सत्यता भासित होती है। जैसे मृगतृष्णा में नदी, रस्सी में सर्प, सीपी में रूपा और संकल्पनगर असत् है, वैसे ही आत्मा में यह जगत् है। हे राम! जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की रचना दिखती है, परन्तु कुछ हुआ नहीं, वैसे ही यह जगत् है। जो पुरुष इसको देखकर सत्य मानता है, वह असम्यक्‌दर्शी है। जो आत्मा को देखता है, वही देखता है और वही सम्यक्‌दर्शी है। हे राम ! ये लोक और लोकपाल जगत्सत्ता में ज्यों के त्यों हैं, और जैसे स्थित हैं वैसे ही हैं, परन्तु परमार्थ से कुछ उपजे नहीं, अनुभवसत्ता ही संवेदन से दृश्यरूप होकर भासित होती है और द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर भासित होता है। परन्तु स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं हुआ। जैसे आकाश और शून्यता, अग्नि और उष्णता में भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं है। हे राम ! अब एक और वृत्तान्त तुम सुनो। स्वप्न में जैसे अब हम हैं, वैसे ही एक आगे भी चित्तप्रतिमा हुई थी।

पहले एक कल्प में तुम और हम हुए थे। तुम मेरे शिष्य थे और मैं तुम्हारा गुरु था। तुमने एक वन में मुझसे प्रश्न किया था कि हे भगवन्! एक मुझको संशय है उसे मिटाओ। महाप्रलय में नष्ट क्या होता है और अविनाशी क्या रहता है? तब मैंने कहा था, हे तात ! जितना शेष विशेषरूप जगत् है, वह सब नष्ट हो जाती है-जैसे स्वप्न का नगर सुषुप्ति में लीन हो जाता है और निर्विशेष ब्रह्मसत्ता शेष रहती है। क्रिया, काल, कर्म, आकाश, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, पहाड़, नदियाँ आदि जो कुछ जगत् क्रिया, काल और द्रव्य से युक्त है, वह सब नष्ट हो जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र ये जो कार्य के कारण हैं, उनका नाम भी नहीं रहता। चैतन्य का लक्षणरूप संवेदनशक्ति भी नहीं रहती, केवल अचेत चिन्मात्र एक चिदाकाश ही शेष रहता है। शिष्य बोला, हे मुनीश्वर ! जो वस्तु सत्य होती है, उसका नाश नहीं होता, और जो असत्य होती है वह आभासरूप

है, पर यह जगत् तो विद्यमान दिखता है, वह महाप्रलय में कहाँ जायगा? गुरु बोले, हे तात ! जो सत्य है उसका नाश कभी नहीं होता और जो असत्य हैं उसका भाव नहीं है, इसलिए जितना कुछ जगत् तुझको दिखता है, सो सब भ्रममात्र है। इसमें कोई वस्तु भी सत्य नहीं दिखती है। परन्तु जैसे मृगतृष्णा का जल नहीं होता और दूसरा चन्द्रमा व आकाश में तरुवर भ्रममात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी जो दिखता है, वह भ्रममात्र है। जैसे स्वप्न का नगर प्रत्यक्ष भी दिखता है, परन्तु भ्रममात्र है, वैसे ही यह जगत् भी भ्रमरूप जानो।

हे तात ! आत्मसत्ता सर्वदा सर्वत्र अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् का और जाग्रत् में स्वप्न का अभाव होता है तो सृष्टि कहाँ जाती है ? जैसे जाग्रत् में स्वप्न की सृष्टि का अभाव हो जाता है, वैसे ही महाप्रलय में इसका अभाव हो जाता है। शिष्य बोला, हे भगवन् ! यह जो दिखता है सो क्या है और जो नहीं दिखता सो क्या है ? इसका रूप क्या है और यह चिदाकाश से कैसे हुआ है ? गुरु बोले, हे शिष्य ! जब शुद्ध चिदाकाश में किञ्चन संवेदन फुरता है, तब जगत्रूप होकर दिखता है, इससे इसका रूप भी चिदाकाश ही है-चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं। सृष्टि और प्रलय दोनों उसी के रूप हैं। जब संवेदन फुरता है, तब सृष्टि दिखती है और जब नहीं फुरती, तब प्रलयरूप भासित होती है, पर दोनों ही उसके रूप हैं। जैसे एक ही वपु में दो स्वरूप हैं-दन्तों से शुक्ल लगता है और केशों से कृष्ण लगता है, वैसे ही आत्मा में सर्ग और प्रलय दो रूप होते हैं। पर दोनों आत्मरूप हैं। जैसे एक ही निद्रा की दो अवस्थाएँ होती हैं-एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति, पर जाग्रत् में दोनों नहीं होतीं, वैसे ही निद्रारूप संवेदन में सर्ग और प्रलय भासित होता है, पर जाग्रत्रूप आत्मा में दोनों का अभाव है। हे तात ! जो कुछ तुमको दिखता है वह सब चिदाकाशरूप है-और कुछ नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही जगत्रूप दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। शिष्य बोला, हे भगवन् ! जो इसी प्रकार है कि द्रष्टा ही

दृश्यरूप होकर भासता है तो और जगत् तो कुछ न हुआ, सब वही है।

गुरु बोले, हे तात ! यही बात है। जगत् कुछ वस्तु नहीं, चिदाकाश ही जगत्रूप होकर दिखता है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है, और कुछ नहीं, क्योंकि सब उसी का किञ्चन है। सबमें सर्वदा सब प्रकार वही सृष्टि होकर फुरती है। किसी में किसी समय किसी प्रकार कुछ हुआ नहीं, आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जो कुछ जगत् दिखता है उसे वही रूप जानो। जिसको तू सर्ग और प्रलय कहता है, वह सब आत्मसत्ता के नाम हैं। वही सबमें सर्वदा सब प्रकार स्थित है। एक ही परमदेव घट-पटरूप हुआ है। पर्वत, पट, जल, तृण, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, स्थावर, जंगम, अस्ति, नास्ति, शून्य, अशून्य, क्रिया, काल, मूर्ति, अमूर्ति, बन्धन और मोक्ष आदि सब शब्द अर्थ से जो पदार्थ सिद्ध होते हैं, वे सब आत्मरूप हैं। सबमें सर्वदा सब प्रकार आत्मा ही है। और जिसमें सर्वदा सब प्रकार नहीं, वह भी आत्मा ही है, जो सदा ज्यों का त्यों ही है। जैसे स्वप्न में जो कुछ दिखता है, वह सब आत्मसत्ता ही है, और दूसरा कुछ बना नहीं। हे तात ! तृण ही कर्ता है, तृण ही भोक्ता है और तृण ही सर्वेश्वर है। घट कर्ता है, घट भोक्ता है और घट ही सर्वेश्वर है। पट कर्ता है, पट भोक्ता है और पट ही परमेश्वर है। नर कर्ता है, नर भोक्ता है और नर ही सबका ईश्वर है।

इसी प्रकार एक-एक वस्तु नाम से जो वस्तु है, वह कर्ता, भोक्ता और सर्व ब्रह्मरूप है। ब्रह्मा से लेकर तृण तक जो कुछ जगत् दिखता है, सो सब आत्मरूप है। क्षय, उदय, भीतर, बाहर, कर्ता, भोक्ता सब विज्ञानमात्र ईश्वर है। कर्ता-भोक्ता वही है। और न कर्ता है, न भोक्ता भी वही है। विधि भी वही है और निषेध भी वही है। शुद्ध दृष्टि से सब चिदात्मा ही भासित होता है, जो सब दुःखों से रहित है। जिनको आत्मदृष्टि नहीं प्राप्त हुई, उनको भिन्न-भिन्न जगत् दिखता है, जो अनुभव से भिन्न नहीं है। ऐसे जानकर अपने स्वरूप में स्थित रहो। हे राम ! इस प्रकार मैंने तुमसे कहा था, परन्तु उससे तुमको अभ्यास की

न्यूनता से बोध न हुआ, इसलिए वही संस्कार अब तुमको प्राप्त हुआ है और इसी कारण अब तुम जागे हो। हे राम ! अब तुम अपने स्वरूप में स्थित होकर कृतकृत्य हुए हो, इसलिए अपनी राजलक्ष्मी को भोगो; प्रजा का पालन करो और हृदय से आकाश सम निर्लिप्त रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पूर्वरामकथावर्णनंनाम
द्विशताधिकसप्ताशीतितमस्सर्गः ।। २८७ ।।

वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब वशिष्ठजी इस प्रकार राम से कह चुके, तब आकाश में स्थित सिद्ध और देवता फूलों की वर्षा करने लगे-मानो मेघ बरफ की वर्षा करते हों, अथवा आकाश कम्पायमान हुआ हो, उससे तारे गिरते हों। जब वे पुष्पों की वर्षा कर चुके, तब राजा दशरथ उठ खड़े हुए और अर्घ्य-पाद्य दे, पूजन कर हाथ जोड़ कहने लगे-हे मुनीश्वर ! बड़ा कल्याण और हर्ष हुआ, जो तुम्हारे प्रसाद से मैं आत्मपद को पाकर कृतकृत्य हुआ। चित्त का वियोग हुआ है, इससे दृश्य फुरने का भी अभाव हुआ है, और मैं अचित्त, चिन्मात्र हूँ। अब मैं परमपद को पा गया हूँ और मेरे सब सन्ताप मिट गये हैं। संसाररूपी अन्धमार्ग से थका हुआ मैं अब विश्राम को प्राप्त हुआ हूँ। अब मैं पहाड़ की तरह अचल हूँ। सब आपदा से तर गया हूँ। जो कुछ जानना था, वह जान गया हूँ। हे मुनीश्वर ! तुमने बहुत युक्ति से दृष्टान्त देकर जगाया है। अर्थात् शून्य के दृष्टान्त, सीपी में रूपा, मृगतृष्णा का जल, रस्सी में सर्प, आकाश में दूसरा चन्द्रमा और नाव पर नदी के किनारों का चलते दिखना, जल में तरंग, स्वर्ण में भूषण, वायु का फुरना, गन्धर्वनगर, संकल्पपुर आदि दृष्टान्त कहे हैं, जिनसे मैंने तुम्हारी कृपा से यह जान लिया कि आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं।

वाल्मीकिजी बोले, जब इस प्रकार दशरथ कह चुके, तब राम उठे और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे कि हे मुनीश्वर ! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया। अब मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूँ। मुझको किसी में न राग है, न द्वेष। मैं परमशान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। न अब मुझे

कुछ करने से अर्थ है और न करने में कुछ अनर्थ है। मैं परमशान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! तुम्हारे वचनों को स्मरण कर मैं आश्चर्य को प्राप्त होकर हर्षित होता हूँ। मेरे सब सन्देह नष्ट हो गये हैं। अब मुझको और कुछ नहीं दिखता, सब ब्रह्म ही दिखता है। लक्ष्मण बोले, हे भगवन् ! मैं सन्तों के वचन इकट्ठे करता रहा था, और सब जो मेरे पुण्य थे, वे अब इकट्ठे हुए थे, जिन सबका फल अब उदय हुआ है। तुम्हारी कृपा से अब मैं सब संशयों से रहित होकर परम पद को प्राप्त हुआ हूँ। तुम्हारे वचन चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल हैं, किन्तु उनसे भी अधिक हैं। इनसे मैंने परम शान्ति पाई है और मेरे सब दुःख सन्ताप नष्ट हो गये हैं। शत्रुघ्न बोले, हे मुनीश्वर ! जगत् और मृत्यु का जो भय था, वह तुमने दूर कर दिया और अपने अमृतरूपी वचनों का सुधापान कराया है। अब मेरे सब संशय नष्ट हो गये और मैं आत्मपद को प्राप्त हुआ हूँ। हमारे जो चिरकाल के पुण्य थे, उनका फल आज पाया।

विश्वामित्र बोले, हे मुनीश्वर ! सब तीर्थों के स्नान और दूसरे कर्मों से भी मनुष्य ऐसा पवित्र नहीं होता जैसे तुम्हारे वचनों से मैं पवित्र हुआ हूँ। आज मेरे कान पवित्र हुए। नारदजी बोले, हे मुनीश्वर ! ऐसा मोक्ष का उपाय मैंने देवताओं और सिद्धों के स्थान में भी नहीं सुना। ब्रह्मा के मुख से भी नहीं सुना, जैसा कि तुमने उपदेश किया है। इसके श्रवण करने से फिर संशय नहीं रहता। फिर दशरथ बोले, हे मुनीश्वर ! आत्मज्ञान जैसी सम्पदा कोई नहीं है। तुमने यह परम सम्पदा हमको दी है, जिसके पाने से फिर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रही। अब तो हम अपने स्वभाव में स्थित हुए हैं, और सम्पूर्ण कर्म हमको छोड़ गये हैं। हमारे बहुत जन्मों के पुण्य इकट्ठे हुए थे, उनके फल से ये तुम्हारे पावन वचन सुने हैं। रामजी बोले, हे मुनीश्वर ! बड़ा हर्ष हुआ कि यह सर्वसम्पदा का अधिष्ठान मुझे प्राप्त हुआ और सब आपदाओं का अन्त हुआ। ज्ञान से रहित जो अज्ञानी हैं, वे बड़े अभागे हैं। जो आत्मपद को त्यागकर अनात्मपदार्थ की ओर दौड़ते हैं, वे भी यत्न करके प्राप्त होते हैं, पर उनसे विमुख होने पर ही आत्मपद

प्राप्त होता है। उसी आत्मपद को पाकर मैं शान्तियुक्त और हर्षशोक से रहित हुआ हूँ। मैंने अचलपद पाया है। मैं अब अजित अविनाशी सदा अपने आपमें स्थित हूँ। तुम्हारी कृपा से आपको ऐसा जानता हूँ।

लक्ष्मण बोले, हे मुनीश्वर ! सहस्र सूर्य एकत्र उदय होकर भी हृदय के तम को दूर नहीं कर सकते, पर वह तम तुमने दूर किया है। सहस्र चन्द्रमा इकट्ठे उदय हों तो भी हृदय की तपन निवृत्त नहीं कर सकते, पर तुमने सम्पूर्ण तपन निवृत्त की है। हम निःसंताप पद को प्राप्त हुए हैं। वाल्मीकिजी बोले, हे साधु ! जब इस प्रकार सब कह चुके, तब वशिष्ठजी ने कहा—हे राम ! इस मोक्ष उपाय-कथा को सुनकर सब ब्राह्मणों का यथायोग्य पूजन और दान करो। जो इतर जीव हैं, वे भी यथायोग्य यथाशक्ति पूजन करते हैं, तुम तो राजा हो। जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा, तब राजा दशरथ ने उठकर सहस्र मथुरावासी विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन कराया, दक्षिणा, वस्त्र, भूषण, घोड़े, गाँव आदि दिये, यथायोग्य पूजन किया। निदान बड़ा उत्साह हुआ। अंगना नृत्य करने लगीं और नगाड़े, शहनाई आदि बाजे बजने लगे, चक्रवर्ती राजा दशरथ ने बड़ा उत्सव किया। इस प्रकार सात दिन तक ब्राह्मणों, अतिथियों और निर्धनों को द्रव्य देकर राजा ने पूजन किया और अन्न और वस्त्र आदि देकर सबको प्रसन्न किया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे उत्साह वर्णनंनाम
द्विशताधिकाष्टाशीतितमस्सर्गः ।। २८८ ।।

वाल्मीकिजी बोले कि हे भरद्वाज ! इस प्रकार वशिष्ठ मुनि के वचन सुनकर सब रघुवंशी कृतकृत्य हुए। जैसे रामजी सुनकर संशयरहित जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं वैसे ही तुम भी विचरो। यह मोक्ष-उपाय ऐसा है कि जो अज्ञानी श्रवण करे तो वह भी परमपद को प्राप्त हो। तुम्हारी क्या बात है, तुम तो पहले से भी बुद्धिमान् हो। जिस प्रकार मुझसे ब्रह्माजी ने कहा था, वह मैंने तुमको सुना दिया। जैसे रामचन्द्र आदि कुमार और दशरथ आदि राजा जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं, वैसे ही तुम भी बिचरो।

उनमें मोह भी दिखता था, पर वे स्वरूप से चलायमान नहीं हुए। ज्ञान जैसा सुख और कोई नहीं, और अज्ञान जैसा दुःख भी कोई नहीं। इससे अधिक क्या कहिये। यह जो मोक्ष-उपाय मैंने तुमसे कहा वह परमपावन है। यह संसारसमुद्र से पार करनेवाला है, दुःखरूपी अन्धकार का नाशक सूर्य है और सुखरूपी कमल की खानि का तालाब है। जो पुरुष इसका बारम्बार विचार करेगा, वह यदि महामूर्ख हो तो भी शान्तपद को प्राप्त होगा। जो कोई इस मोक्ष-उपाय को पढ़ेगा, कहेगा, सुनेगा, लिखेगा, अथवा लिखकर पुस्तक देगा, उसके हृदय में जो कामना होगी, वह पूर्ण होगी। वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होगा और राजसूययज्ञ का फल पावेगा। फिर विचारकर ज्ञान पाकर मुक्त होगा।

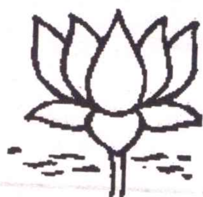
हे अंग ! यह मोक्ष उपाय बड़ा शास्त्र है। इसमें बड़ी कथा है और नाना प्रकार की युक्तियाँ हैं। जिन कथाओं और युक्तियों से वशिष्ठजी ने राम को जगाया था, वे मैंने तुझको सुनाई हैं। अपने उपदेश से उन्होंने उनको जीवन्मुक्त किया था और कहा था कि तुम राजलक्ष्मी भोगो। वही मैंने भी तुमसे कहा है कि जीवन्मुक्त होकर अपने तपकर्म में सावधान हो रहो, और आत्मसत्ता में निश्चय रखना। जिस उपदेश से रघुवंशी कृतकृत्य हुए, वह मैंने तुमसे ज्यों का त्यों कहा है। इस निश्चय को रखकर कृतकृत्य हो जाओ। इसमें जितने इतिहास और कथा हैं, उनके भिन्न-भिन्न नाम सुनो। वैराग्यप्रकरण में राम के सम्पूर्ण प्रश्न हैं। मुमुक्षुप्रकरण में शुकनिर्वाण ही कहा है। उत्पत्तिप्रकरण में ये आठ आख्यान कहे हैं-एक आकाशज का, दूसरा लीला का, तीसरा सूची का, चतुर्थ इन्द्र-ब्राह्मण के पुत्रों का, पञ्चम कृत्रिम इन्द्र और अहल्या का, छठा चित्तोपाख्यान, सप्तम वाल्मीकि की कथा और अष्टम साम्बर का आख्यान। स्थितिप्रकरण में चार आख्यान हैं-एक भृगु के पुत्र का, दूसरा दामव्याल और कट का, तीसरा भीम, भास, दट का और चतुर्थ दासुर का। उपशमप्रकरण में एकादश आख्यान कहे हैं—एक जनक की सिद्धगीता, दूसरा पुण्यपावन, तीसरा बलि को विज्ञान की प्राप्ति का वृत्तान्त, चतुर्थ प्रह्लादविश्रान्ति, पञ्चम गाधि का

वृत्तान्त, छठा उद्दालकनिर्वाण, सप्तम स्वर्गनिश्चय, अष्टम परिधनिश्चय, नवम भास, दशम विलाससंवाद और एकादश वीतव। निर्वाणप्रकरण में २७ आख्यान कहे हैं-भुशुण्डि और वशिष्ठ का, महेश और वशिष्ठ का, शिलाकोश का, उपदेश अर्जुनगीता, स्वप्नसत्यरुद्र, वैताल का, भगीरथ का, गंगा अवतरण, शिखरध्वज का, बृहस्पतिकचप्रबोध, मिथ्यापुरुष का, श्रृंगी गण का, इक्ष्वाकुनिर्वाण, मृगव्याध-दृष्टान्त, बलबृहस्पति, मंकीनिर्वाण, विद्याधर का, हिरणोपाख्यान, आख्यानोपाख्यान, विपश्चित् की कथा, शिवि का, शिला का, इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों का, कुन्ददन्त का, महाप्रश्न उत्तरवाक्य, शिष्य-गुरु-महोत्सव और ग्रंथप्रशंसाफल, चतुष्टयप्रकरणों में सब पचास आख्यान वर्णन किये गये हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे महारामायणे वशिष्ठरामचन्द्रसंवादे निर्वाणप्रकरणे मोक्षोपायवर्णनं नाम द्विशताधिकैकोननवतितमस्सर्गः ।। २८९ ।।

श्रीयोगवशिष्ठ के निर्वाणप्रकरण का उत्तरार्द्ध समाप्त।

इति।





श्रीमती स्मिता पटवर्धन, प्रबन्ध संचालक

द्वारा 1, त्रिलोकनाथ रोड, हजरतगंज, लखनऊ में प्रकाशित एवं लक्ष्मी ऑफसेट में मुद्रित।

फोन नं0 : 0522-2623315

राजकुमार बुकडिपो (प्राइवेट) लिमिटेड

लखनऊ

